स्वामी श्रद्धानन्द
एक विलक्षण व्यक्तित्व

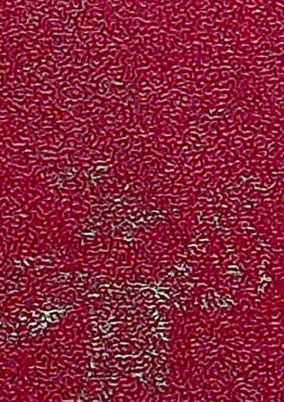

[illegible]

[illegible]

९५·६
२:५

D6614

१५·५
२:५

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
विषय संख्या.................. आगत नं० D6614
लेखक..................................
शीर्षक..................................
....

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या
23 JAN 1993			
	16		

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें ।

D6614

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या १५·६ / २:५ आगत संख्या D6614

पुस्तक—वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित २० वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा १० पैसे के हिसाब से विलम्ब—दण्ड लगेगा।

23 JAN 1993
A-31716

11 FEB 1993
A-20618

24 MAY 1994
G-93914

2 JAN 1996
I-176/26/14

G. K. U. LIBRARY
12 DEC 1991
E-

10 JUL 1995

3 APR 2002
P99/197/21

D6614

स्वामी श्रद्धानन्दः एक विलक्षण व्यक्तित्व

DONATION

15.6,2:5
D6614

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

प्रबंध-सम्पादक
डॉ० निरूपण विद्यालंकार

सम्पादक
डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार

प्राप्तिस्थान
साहित्य भण्डार, मेरठ

प्रकाशक :
आर्य साहित्य प्रकाशन समिति
अध्यक्ष :
डॉ० निरूपण विद्यालंकार,
७० पर्णकुटी नेहरू रोड, मेरठ

प्रथम संस्करण : १९८६

मूल्य : दो सौ रुपये

१५.६
२:५

मुद्रक :
साहित्यकार प्रेस,
मेरठ ।

उपोद्घात

सत्तर वर्ष पूर्व १९१६ ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अवसर पर लखनऊ में मैंने दूर से महात्मा मुंशीराम के दर्शन किए थे। १९१४–१५ में महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रीका से भारत आये थे और जनता में गाँधी जी के प्रति लोकप्रियता बढ़ रही थी। नरमदल के नेता कांग्रेस से अलग हो गए थे और उन्होंने अपनी ऑल इण्डिया लिबरल फैडरेशन संघटित करना आरम्भ कर दिया था। गरमदल के व्यक्तियों के हृदय सम्राट् लोकमान्य तिलक थे। ८ अप्रैल १९१५ को गुरुकुल कांगड़ी में महात्मा मुंशीराम के आश्रम में मिस्टर गाँधी आये और "महात्मा" गाँधी बन कर के वहाँ से निकले। १९१६ ई० की कांग्रेस में मैंने गाँधी जी और मुंशीराम दोनों को राष्ट्रभाषा हिन्दी सम्बन्धी एक समारोह में देखा था। दोनों की वेषभूषा की रूपरेखा बराबर मेरी आँखों के सामने बनी रही। महात्मा मुंशीराम जी की भव्य दाढ़ी, सुदृढ़ शरीर और गले के नीचे पीत वस्त्र, और गाँधी जी की काठियावाड़ी पगड़ी, अंगरखा और नगे पैर।

मैं १९१८ ई० में प्रयाग आ गया। आर्यकुमार सभा के उत्सव पर स्वामी श्रद्धानन्द आये थे और तब मैंने उन्हें निकट से देखा—इलाहाबाद की नयी सड़क के दुमंजिले मकान में वे ठहराये गये थे।

२६ दिसम्बर १९१९ को अमृतसर कांग्रेस में स्वामी श्रद्धानन्द स्वागताध्यक्ष थे और पं० मोतीलाल नेहरू अध्यक्ष। किम्वदन्ती है कि दोनों ने एक-दूसरे को पहचाना—दोनों सहपाठी थे—कहाँ बनारस, इलाहाबाद, आगरा या बरेली में——मैं नहीं जानता (१८५९ में मुंशीराम जी की प्रारम्भिक शिक्षा बरेली में हुई, १८७३ में उच्च शिक्षा क्वीन्स कालेज बनारस में, १८८० और पुनः १८८८ में कानूनी शिक्षा लाहौर में)। श्रद्धानन्द जी नाम तो संन्यास के बाद पड़ा। संन्यास १२ अप्रैल १९१७ को मायापुर (कनखल) में लिया था। मैं १९१५–१६ में इन्द्र विद्यावाचस्पति और पौराणिकों के शास्त्रार्थों की बातें सुना करता था, क्योंकि १९१२–१६ तक सनातन धर्म सभाओं की बड़ी धूम थी——ये सनातन धर्म सभाएँ धीरे-धीरे निष्क्रिय हो गयीं।

१९२५ ई० में मथुरा में जो महर्षि दयानन्द जन्म शताब्दी मनायी गयी थी उसके अध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द थे—तब तक उनका स्वास्थ्य गिर चुका था और महात्मा नारायण स्वामी जी वस्तुतः उस समारोह के कार्यकर्त्ता अध्यक्ष थे। आनन्द भवन में होने वाली कांग्रेस की बैठकों में १९२२ ई० के बाद भी स्वामी जी इलाहाबाद कतिपय बार आये। १९२१ ई० के अप्रैल मास में पं० मोतीलाल जी की पुत्री विजयलक्ष्मी के विवाह में भी स्वामी श्रद्धानन्द जी सम्मिलित हुए थे। पर मोपला काण्ड (मालाबार) के बाद श्रद्धानन्द जी कांग्रेस से धीरे-धीरे अलग हो

गये और हिन्दू सम्प्रदायवाद के जाल में फँस गये । मेरी अपनी सम्मति है कि यदि वे राष्ट्रीय कांग्रेस में ही रहते तो राष्ट्र की भी अधिक सेवा कर सकते थे और आर्यसमाज 'हिन्दुत्व' और सम्प्रदायवाद दोनों से बचा रहता ।

स्वामी दयानन्द ने मृत्यु के समय आर्यसमाज का नेतृत्व किसी व्यक्ति के हाथ में नहीं छोड़ा था । ईश्वर के भरोसे मानों वे चल दिये । १८८३ ई० के बाद स्वयं ही आर्यसमाज में 'व्यक्तियों' का प्रादुर्भाव हुआ । इन व्यक्तियों में श्रद्धानन्द का व्यक्तित्व सर्वशिरोमणि है । १८८३ से १९२६ तक का मुंशीराम—श्रद्धानन्द का इतिहास ही आर्यसमाज का इतिहास है । इस युग के अन्य लोगों में महात्मा हंसराज, पं० गुरुदत्त, पं० लेखराम, लाला लाजपतराय, स्वामी दर्शनानन्द और स्वामी नित्यानन्द का भी अभूतपूर्व व्यक्तित्व था ।

स्वामी श्रद्धानन्द ने इस शती के प्रथम पाद में भारत के इतिहास में मार्मिक भूमिका निभायी । आर्यसमाज में दयानन्द के बाद श्रद्धानन्द-सा दूसरा व्यक्ति देखने में नहीं आ रहा । मैंने उनका १९२४ ई० में प्रकाशित 'कल्याण-मार्ग का पथिक' पढ़ा, मेरे पास उनका और आचार्य रामदेव जी द्वारा सम्पादित 'द आर्यसमाज एण्ड इट्स डिटैक्टर्स-ए विण्डिकेशन' अब तक है । 'दु.खी दिल की पुरदर्द दास्तान' मैंने नहीं पढ़ी । सबसे अधिक बातें तो मुझे जॉर्डन्स की पुस्तक से मालूम हुईं ।

सम्प्रति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक डॉ० निरूपण विद्यालंकार तथा डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार '**स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व**' नाम से यह पुस्तक प्रस्तुत की है, जो अपने आप में अनूठी है । इसका लेखन, सामग्री-संकलन तथा सम्पादन अत्यन्त आत्मीयता की दृष्टि से किया गया है । इसकी सामग्री नये ढंग से सज्जित है ।

गुरुकुल के अनगिनत स्नातकों के कुलगुरु महात्मा मुंशीराम थे, न कि श्रद्धानन्द । मुंशीराम और श्रद्धानन्द तो दो अलग व्यक्तित्व हैं । मुंशीराम के रूप में वे महात्मा थे, गाँधी के अत्यन्त निकट, गुरुकुल प्रणाली के उन्नायक, शिक्षा के क्षेत्र में अनन्य प्रयोगी तथा टैगोर की समकक्षता के शिक्षाशास्त्री । दूसरा उनका स्वरूप स्वामी श्रद्धानन्द का रहा ---सम्प्रदायवादिता मिश्रित राष्ट्र-उलझनों में फंसे हुए—कभी मालवीय के साथ, कभी महासभा के साथ, कभी उनसे दूर भागते हुए अत्यन्त विवादास्पद व्यक्तित्व, कभी-कभी निर्वाचनों की उलझनों में फस जाने वाले व्यक्ति । विवादों में फंस जाने पर भी उनके सामने एक आलोक था---महर्षि दयानन्द का । उसका उन्हें पुरस्कार मिला—२३ दिसम्बर को सायंकाल ४ बजे दिल्ली में अब्दुल रशीद की गोलियों से बलिदान । वे सदा के लिए अमर हो गए । अंग्रेजों की संगीनों के सामने छाती खोलकर खड़ा होने वाला वीर राष्ट्रभक्त संन्यासी श्रद्धानन्द का एक यह तेजस्वी रूप था । लेखराम की पंक्ति में खड़ा कर देने वाला ऋषि दयानन्द का असीम भक्त अमरशहीद श्रद्धानन्द ।

ऐसे महामानव के चरित्र के विविध रूपों का चित्रण इस पुस्तक में आपको पढ़ने को मिलेगा । इस वैविध्यपूर्ण कृति के लिए डॉ० निरूपण विद्यालंकार तथा डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार को बहुत-बहुत साधुवाद, बधाई और स्नेह सहित आशीर्वाद ।

नई दिल्ली
स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती
१३ अप्रैल १९८६

कल्याण-पथ-प्रदर्शक

महर्षि दयानन्द सरस्वती

ओ३म्

किंचित्प्रास्ताविकम्

गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार में अध्ययन करते हुये तथा गुरुकुल से स्नातक होने के पश्चात् मुझे ऐसे अनेक स्नातक कुलबन्धुओं के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है जिनको कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द जी के श्री चरणों में बैठकर अध्ययन करने का एवं उनका वात्सल्य प्राप्त करने का सुअवसर मिला था। गुरुकुल काङ्गड़ी में प्रतिवर्ष स्वामी श्रद्धानन्द जी की कुल-स्मृति में मनाये जाने वाले **श्रद्धानन्द सप्ताह** पर २३ दिसम्बर को **श्रद्धानन्द-बलिदान पर्व** सोत्साह एवं सश्रद्ध मनाया जाता था, जिसमें स्वामी श्रद्धानन्द जी के व्यक्तित्व को लेकर अनेक प्रकार के संस्मरण सुनने को मिलते थे, जिन्हें सुनकर पुरातन गुरुकुल काङ्गड़ी की स्मृति पुन: नवीन हो जाया करती थी।

सन् १९५६ में मेरठ कालिज, मेरठ में संस्कृत अध्यापक होकर आने के पश्चात् मैं आर्यसमाज सदर, मेरठ का नियमित सदस्य हो गया। आर्यसमाज सदर, मेरठ द्वारा प्रतिवर्ष २३ दिसम्बर को मनाये जाने वाले **श्रद्धानन्द-बलिदान पर्व** पर मुझे प्रमुख वक्ता होने का सौभाग्य प्राप्त होता था, क्योंकि मैं उन द्वारा सन् १९०२ में संस्थापित कुरुकुल काङ्गड़ी का स्नातक था। समय बीतता गया और आर्यसमाज सदर के इतिहास में एक दिन ऐसा भी आया कि आर्यसमाज सदर की अन्तरङ्ग सभा ने यह निश्चय किया कि प्राचीन वैदिक संस्कृति के प्रति बालक-बालिकाओं की आस्था और विश्वास उत्पन्न करने के लिये ऋषि दयानन्द प्रणीत शिक्षा-प्रणाली को आधार बनाकर एक विद्यालय की स्थापना की जाये। पर्याप्त विचार-मन्थन के उपरान्त अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी की पुण्य स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिये "**श्रद्धानन्द शिशु विहार**" नामक संस्था की स्थापना की गई। संस्था चल पड़ी।

अखिल भारतीय स्नातक मण्डल का मैं अनेक वर्षों तक मन्त्री रहा। मन्त्री होने के नाते मुझे प्राय: अपने अग्रज तथा अनुज सभी कुलबन्धुओं के साथ सम्पर्क में आना पड़ा। श्री भाई सत्यदेव जी विद्यालंकार (एन० ३१, ग्रेटर कैलाश, नई दिल्ली) हम सभी स्नातकों के केन्द्रबिन्दु थे और हैं। परिणामत: जिस किसी भी स्नातक का असामयिक देहावसान होता कि श्री भाई सत्यदेव जी का मेरे पास पत्र आ जाता कि निरूपण, अमुक स्नातक का देहावसान हो गया है, एक शोक सन्देश स्नातकों की ओर से भेज दो। मैं वैसा ही करता। शोक विषयक पत्र भेजते हुये मेरे मन में यह प्रश्न अनायास उठा करता कि शनै: शनै: एक-एक स्नातक बन्धु हमारे मध्य में से चलता चला जा रहा है और मुझे ऐसा अनुभव होता कि स्वामी श्रद्धानन्द जी के संस्मरण को सुनाने वाले स्नातक बन्धु नि:शेष होते चले जा रहे हैं।

क्यों न एक स्वामी श्रद्धानन्द जी के संस्मरणों से सम्बन्धित एक **"श्रद्धानन्द-संस्मरण स्मारिका"** प्रकाशित की जाये, जिनमें उन स्नातकों और व्यक्तियों के संस्मरण हों, जिन्होंने स्वामी श्रद्धानन्द जी के श्रीचरणों में बैठकर अध्ययन किया है या उनके सहयोगी के रूप में कार्य किया है। मैंने अपना यह विचार श्री भाई सत्यदेव जी के सन्मुख रखा। उन्होंने मेरे इस विचार को सराहा ही नहीं अपितु मुझे अनुप्राणित भी किया कि मैं अपने इस विचार को क्रियात्मक रूप भी दे डालूं। अस्तु

बात आई-गई हो गई। सन् १९८१ में, मैं इसे अपना सौभाग्य ही कहूँगा कि, मुझे **"श्रद्धानन्द शिशु विहार"** का प्रशासक आर्यसमाज सदर, मेरठ की अन्तरंग सभा ने बना दिया। मैं **"श्रद्धानन्द शिशु विहार"** का कार्य देखने लगा। एक बार मैं कुमायूँ विश्वविद्यालय, नैनीताल की Research Degree Commitee में सम्मिलित होकर नैनीताल से मेरठ आ रहा था। मार्ग में हलद्वानी से आगे फूल बाग (पन्तनगर) पड़ता है। यहाँ पन्तनगर विश्वविद्यालय में डा० रामनाथ जी वेदालङ्कार के सुयोग्य पुत्र डा० विनोदचन्द्र विद्यालङ्कार कार्यरत हैं। सोचा कि चलो, इनसे भी मिलता चलूं। यह मेरा सौभाग्य ही था कि मुझे यहाँ डा० रामनाथ जी वेदालङ्कार भी मिल गये।

रात्रि-भोजन के पश्चात् संस्कृत एवं वैदिक वाङ्मय में विभिन्न विषयों को लेकर किये जाने वाले शोध के विषयों पर चर्चा करते हुये गुरुकुल काङ्गड़ी की तत्कालीन वर्तमान परिस्थिति पर विचार विमर्श हुआ। इसी प्रसङ्ग में मैंने प्रो० रामनाथ जी के सन्मुख **'श्रद्धानन्द संस्मरण स्मारिका'** की अपनी योजनाभी रखी। उनको मेरा यह विचार रुचिकर लगा और उन्होंने मुझे इस कार्य को कर डालने के लिये कहा। डा० विनोदचन्द्र विद्यालङ्कार, जो डा० रामनाथ जी के सुपुत्र हैं, नें इस गुरुतर भार को अपने ऊपर ले लिया। डा० रामनाथ के निर्देशन में हम दोन ने **"श्रद्धानन्द संस्मरण स्मारिका"** की रूपरेखा बनाई और मैं डा० विनोदचन्द्र विद्यालङ्कार के घर से इस दृढ़ निश्चय के साथ मेरठ के लिये चल पड़ा कि इस कार्य को सम्पन्न करना है।

मैंने मेरठ आकर आर्य समाज सदर, मेरठ के पदाधिकारियों और अन्तरंग के सामने **"श्रद्धानन्द संस्मरण स्मारिका"** का अपना विचार रखा। उन्होंने मेरे इस विचार की पुष्टि कर दी। डा० विनोदचन्द्र विद्यालंकार ने इस पुस्तक के प्रणयन का कार्य बड़े मनोयोग से प्रारम्भ कर दिया। यह है इस **"श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व"** नामक पुस्तक की कहानी। अस्तु

डा० विनोदचन्द्र विद्यालंकार ने बड़े परिश्रम से तीन वर्ष के अन्दर इस पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करके मेरे पास भेज दी। मैंने इस पुस्तक के प्रकाशन के लिये श्री रतिराम जी शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ से निवेदन किया, जिन्होंने बड़ी प्रसन्नता से इसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। मैंने डा० भूपेशचन्द्र जी सक्सेना तथा डा० विजेन्द्र कुमार शर्मा के साथ प्रेस में जाकर

कागज भी तय कर दिया और श्री राजकिशोर शर्मा, जो श्री रतिराम शास्त्री के ज्येष्ठ पुत्र हैं, को पुस्तक छापने को कह भी दिया। परन्तु 'श्रेयांसि 'बहुविघ्नानि'' के अनुसार सारी तैयारी हो जाने के पश्चात् भी पुस्तक का छपना प्रारम्भ नहीं हुआ क्योंकि परमेश्वर को यही अभीष्ट था।

सितम्बर १९८५ को श्री सत्यकाम वर्मा के गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति बनकर आने के पश्चात् मैंने उनसे "**श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व**" पुस्तक के प्रकाशन के लिये अनुदान देने के लिये निवेदन किया। उन्होंने इस पुस्तक की मुझसे पाण्डुलिपि लेकर देखी और उन्होंने कुछ अन्य आधिकारिक विद्वानों को भी दिखाया। देखकर उन्होंने सहर्ष एवं सोत्साह १०००० रु० की धनराशि अनुदान के रूप में दी। इसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

"**स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व**" आपके हाथों में है। इस विषय में मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि इस पुस्तक के निर्माण में मेरा अपना कहने के लिये कुछ भी नहीं है, दूसरों का है। जो कुछ भी है, आज स्वामी श्रद्धानन्द जी से सम्बन्धित स्मृति-पुष्पों को एकत्र कर पुस्तक के रूप में गुलदस्ते को सजाकर आर्य जनता के हाथों में समर्पित कर रहा हूँ। यदि यह गुलदस्ता किसी के भी नयनों को अपनी ओर आकृष्ट कर सका, किसी के भी मन को हर सका तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा।

त्वदीय वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

७०, पर्ण कुटी
नेहरू रोड, मेरठ।
४ अप्रैल १९८६

—डा० निरूपण विद्यालङ्कार

आमुख

आदि काल से ही भारत में जब-जब राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में ह्रास हुआ और सुधार या क्रान्ति की आवश्यकता हुई तब-तब इस धरा पर किसी न किसी महान् आत्मा का अवतरण हुआ। राम, कृष्ण, गौतम बुद्ध, रामकृष्ण-परमहंस, विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द आदि कुछ ऐसे ही महापुरुष हैं। महर्षि दयानन्द का जन्म ऐसे समय में हुआ जब चहुँ ओर अज्ञान व अविद्या का साम्राज्य था, भारतीय समाज तरह-तरह की कुरीतियों एवं मिथ्या अन्धविश्वासों से आबद्ध था तथा प्राचीन भारतीय सभ्यता, संस्कृति, धर्म एवं समाज की उन्नति की ओर किसी का ध्यान नहीं था। महर्षि ने आकर समाज और देश के सर्वतोमुखी विकास का सतत प्रयास किया; धर्म, समाज, राजनीति और शिक्षा के क्षेत्र में एक अद्‌भुत क्रान्ति को जन्म दिया; भारतवासियों को स्व-राज्य, स्व-संस्कृति, स्व-भाषा एवं स्वाधीनता का मूल मन्त्र दिया; समाज में व्याप्त बाल-विवाह, सतीप्रथा, बेमेल विवाह आदि कुरीतियों का प्रबल विरोध किया तथा आर्यसमाज की स्थापना की। महर्षि के महाप्रयाण के बाद जिन लोगों ने उनके द्वारा शुरु किये गये कार्यों को आगे बढ़ाने का बीड़ा उठाया उनमें प्रमुख थे : पं० लेखराम, पं० गुरुदत्त तथा महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द)।

मुंशीराम ने युवावस्था में उत्तर प्रदेश के बरेली नगर में महर्षि दयानन्द के दर्शन किये, उनके उपदेश सुने, उनसे शंका-समाधान किया और नास्तिकता से आस्तिकता की ओर बढ़ गये। उन्होंने जालन्धर में आकर वकालत शुरु की, 'वकालत और सच्चाई का मेल दुस्तर है' यह अनुभूति होते ही सदा-सदा के लिए वकालत को ठुकरा दिया। शनैः शनैः उनका आर्यसमाज की ओर रुझान हुआ, आर्यसमाज में विधिवत् प्रवेश किया, अपने आपको आर्यसमाज एवं वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार और महर्षि दयानन्द के संदेश को जन-जन तक पहुँचाने के लिए समर्पित कर दिया। इसी समय से वकील मुंशीराम महात्मा मुंशीराम हो गये।

महात्मा मुंशीराम ही ऐसे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने भारत में मैकाले की प्रचलित शिक्षापद्धति के स्थान पर ऋषि-अनुमोदित गुरुकुल शिक्षाप्रणाली को प्रतिष्ठापित करने तथा मातृभाषा हिन्दी के माध्यम से शिक्षा देने का एक क्रान्तिकारी स्वप्न लिया और ब्रिटिश शासन-काल में ही अपने अथक प्रयासों एवं दृढ़ संकल्प से गुरुकुल स्थापित करके उसे विकसित रूप प्रदान किया, उसके लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया, अनेक कठिनाइयों के बावजूद दिन-रात उसके विकास के लिए तत्पर रहे तथा अपने इस अद्‌भुत परीक्षण की सफलता से न केवल भारतीयों को, वरन् विदेशियों के भी आदर-पात्र बन गये।

महात्मा मुंशीराम का अब तक का जीवन मात्र आर्यसमाज और गुरुकुल के लिए ही समर्पित था, परन्तु अब वे समस्त बन्धनों से मुक्त हो संन्यासाश्रम में प्रवेश कर मानव-कल्याण के कार्यों में लग जाना चाहते थे। आर्य जनता और परिवार-जनों ने उनकी इस इच्छा का प्रबल विरोध किया, पर धुन के धनी महात्मा मुंशीराम ने किसी की एक न सुनी और संन्यास ले लिया; महात्मा मुंशीराम से स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी बन गये और निकल पड़े भिक्षुक का बाना पहन मानव-मात्र की सेवा के व्यापक क्षेत्र में। उनमें **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। उनकी दृष्टि में हिन्दू-मुस्लिम सिख-ईसाई, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र, बौद्ध-जैन आदि सभी समान थे। देश के किसी भी कोने में रहने वाले किसी भी जाति या धर्म या संप्रदाय के व्यक्तियों को कोई कष्ट हो और उसकी भनक उन्हें लग जाये तो वे अपने स्वास्थ्य आदि की परवाह किये बिना तत्काल वहाँ दौड़ पड़ते थे। चाहे वे गढ़वाल के दुर्भिक्ष पीड़ित हों, चाहे धौलपुर के समाज मन्दिर को गिराने से विक्षुब्ध आर्य जनता हो, चाहे दिल्ली के अन्याय पीड़ित मुसलमान हों, चाहे गुरु के बाग में धर्म-युद्ध में लगे सिख हों या सदैव से पददलित दक्षिण की अस्पृश्य जनता हो, सभी के लिए उन्होंने अपने मन में एक-सा दर्द अनुभव किया।

स्वामी श्रद्धानन्द जी को देश की स्वाधीनता, अखण्डता और राष्ट्रीयता में भी अटूट विश्वास था। स्वाधीनता के लिए वे आजीवन लड़े। 'असहयोग की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि का भविष्य निर्भर है' यह मान कर महात्मा गाँधी द्वारा घोषित असहयोग-आन्दोल में कूद पड़े, सत्याग्रह समिति के उपप्रधान मनोनीत हुए, दिल्ली में रोलेट-ऐक्ट-विरोधी सत्याग्रह का सफलतापूर्वक नेतृत्व किया। यही नहीं, जलियांवाला बाग काण्ड के तत्काल बाद अमृतसर में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष मनोनीत हुए और अनेक विघ्न बाधाओं के बावजूद उसे सफल बनाया।

स्वामी जी का विश्वास था कि वर्ण, जाति, धर्म, एवं संप्रदायपरक भेदभाव बने रहने से हिन्दू समाज चरम उत्कर्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए वे देश में सदियों से प्रचलित अस्पृश्यता, जात-पात एवं रूढ़िवादिता को निर्मूल करके समस्त भारतवासियों को भ्रातृत्व, प्रेम एवं एकता के सूत्र में बांधना चाहते थे। प्रारम्भ में उनका प्रयास था कि कांग्रेस समिति ही इस कार्य को अपने हाथ में ले ले, पर जब उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली तो वे कांग्रेस से पृथक् हो गये और स्वयं ही अस्पृश्यता-निवारण, दलितोद्धार एवं शुद्धि आन्दोलन शुरु कर दिये, इनके लिए समितियाँ गठित कीं, इनका सफलतापूर्वक संचालन किया और अन्त में उन्हीं के लिए बलिदान-पथ के अनुगामी बन गये।

इस प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द जी ने जीवन भर जनता के कल्याण के लिए धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में कार्य करते हुए महत्ता की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लिया तथा भारतीय एवं विदेशी नेताओं, शिक्षाशास्त्रियों और जन-मानस के हृदय-सम्राट् बन गये।

ऐसे महनीय व्यक्तित्व के धनी स्वामी श्रद्धानन्द जी के सम्बन्ध में छोटे-बड़े कई जीवन-चरित्र और 'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से उनकी एक आत्मकथा प्रकाशित हो चुकी है। परन्तु उनके सम्बन्ध में ऐसा कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसमें उनके जीवन से संम्बन्धित संस्मरण भी संगृहीत हों। इस अभाव को काफी समय से अनुभव किया जा रहा था। सुप्रसिद्ध साहित्यकार स्वर्गीय पंडित सत्यदेव विद्यालङ्कार ने स्वामी जी का विस्तृत जीवन-चरित्र लिखते समय इसके प्रकाशन की योजना भी बनाई थी, पर उनकी यह योजना किन्हीं कारणों से साकार न हो सकी। कुछ वर्ष पूर्व गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक एवं आचार्य डा० निरूपण विद्यालंकार के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द जी को निकट से जानने वाले व्यक्तियों एवं उनके वात्सल्यभागी स्नातकों की संख्या उत्तरोत्तर कम होती जा रही है और जो थोड़े से वयोवृद्ध ये बचे हैं वे भी शनैः शनैः जाते जा रहे हैं, अतः शीघ्र ही एक ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित किया जाना चाहिए जिसमें स्वामी जी के जीवन से संबन्धित संस्मरण संकलित किये जायें। अपना यह विचार उन्होंने मेरे समक्ष प्रकट किया और इसे मूर्त रूप देने का दायित्व भी मुझे ही सौंप दिया।

मैंने इस ग्रन्थ की विस्तृत रूपरेखा तैयार की और कार्य प्रारम्भ कर दिया। प्रथम चरण में स्वामी जी के समकालीन उन व्यक्तियों (गुरुकुल के पुराने स्नातकों, स्वामी जी के सहयोगियों आदि) से अपने-अपने संस्मरण भेजने का अनुरोध किया, जिनके पते ज्ञात थे। इसके साथ ही सभी आर्य पत्र-पत्रिकाओं में एतद्विषयक सूचना प्रकाशित करवायी। इसके उत्तर में कुछ ने तत्काल मेरे अनुरोध को पूरा किया, कुछ ने स्मरण-पत्र भेजने के बाद और कुछ ऐसे भी रहे जिन्होंने पूर्णतः मौन साध लिया। दूसरी ओर मैंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, स्मारिकाओं, विभिन्न लेखकों द्वारा रचित स्वामी जी के जीवन-चरित्रों, स्वामी जी की आतमकथा, अन्य महापुरुषों एवं साहित्यकारों की आत्मकथाओं तथा संस्मरण-संकलनों में से स्वामी जी विषयक संस्मरणों को एकत्र करने का कार्य आरम्भ कर दिया। इसके लिए मैंने लगभग २५ हजार पृष्ठों की खोजबीन की और उनमें से उपयोगी सामग्री एकत्र की। तदनन्तर इस प्रकार प्राप्त सामग्री को संपादित करके इस पुस्तक के योग्य बनाया तथा कुछ सामग्री स्वयं तय्यार की। इस सपूर्ण प्रक्रिया को पूरा होने में लगभग दो वर्ष का समय लग गया। जब योजना का प्रारूप तय्यार किया जा रहा था उस समय अनुमान था कि यह पुस्तक संक्षिप्त-सी ही बन पायेगी और थोड़े-से समय में तय्यार हो जायेगी। परन्तु ज्यों-ज्यों सामग्री एकत्र होती गई, इसकी व्यापकता का आभास होता गया। अब भी यह अनुभव होता है कि अभी इसमें कुछ और सामग्री भी जोड़ी जा सकती है, किन्तु विस्तार-भय से और समय की कमी के कारण हमें इस लोभ का संवरण करना पड़ रहा है।

इस संपूर्ण अध्यवसाय का ही परिणाम स्वामी श्रद्धानन्द के व्यक्तित्व के विविध पक्षों को उजागर करने वाला यह ग्रन्थ है। इसे आठ खण्डों में विभाजित

किया गया है। 'जीवन गरिमा' नामक **प्रथम खण्ड** में स्वामी जी का संक्षिप्त जीवन-वृत्त, उनकी कालक्रमानुसार जीवन-झाकी, वंशावली, साहित्य सेवा, उनके कुटुम्बिजन तथा उनके उत्कृष्ट स्मारक गुरुकुल कांगड़ी का विस्तृत परिचय दिया गया है। **द्वितीय** तथा **तृतीय खण्ड** में संस्मरणों का संकलन है। संस्मरण-माला (एक) उन लोगों के संस्मरण-सुमनों से गूंथी गई है जो आज भी हमारे बीच में हैं और संस्मरण-माला (दो) के लेखक दिवंगत हो चुके हैं, जिनके संस्मरण-पुष्पों का चयन विविध-स्रोतों से किया गया है। **चतुर्थ खण्ड** में 'लेख-माला' के अन्तर्गत प्रथम सात लेख स्वामी जी के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर हैं तथा अंतिम दो लेखों में से एक में पंजाब निवासी मुंशीराम की गुरुकुल भक्ति की तथा दूसरे में गुरुकुल के ब्रह्मचारियों द्वारा गढ़वाल के एक गांव में भूत-बाधा-हरण की सच्ची कहानियां (जो स्वामी श्रद्धानन्द जी ने 'सद्धर्म प्रचारक' में प्रकाशित की थीं) हैं। **पंचम खण्ड** में महात्मा मुंशीराम/स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा अपने कनिष्ठ पुत्र इन्द्र, पोषिता कन्या सुमित्रा, श्री गुरुदत्त, तत्कालीन सभाप्रधान लाला रामकृष्ण, महात्मा गांधी और श्री भवानीदयाल संन्यासी को संबोधित पत्र; स्वामी जी का गांधी जी और कांग्रेस के महामन्त्री से पत्रव्यवहार तथा स्वामी जी के नाम गांधी जी के पत्र प्रस्तुत किये गये हैं। **छठे खण्ड** 'स्वामी श्रद्धानन्द की लेखनी से' में स्वामी जी द्वारा महर्षि दयानन्द के चरणों में अर्पित श्रद्धाञ्जलि तथा स्वामी जी की आपबीती कतिपय महत्त्वपूर्ण घटनाओं के अतिरिक्त उनकी लेखनी से लेख-रूप में निःसृत वे विचार उद्धृत किये गये हैं जिनका आज के सन्दर्भ में भी उतना ही महत्त्व है जितना उस समय था जब वे लिखे गये थे। **सातवें खण्ड** में विभिन्न अवसरों पर देश-विदेश के नेताओं, विद्वानों, शिक्षाशास्त्रियों एवं साहित्यसेवियों द्वारा स्वामी जी के बारे में प्रकट किये गये उद्गार हैं। **आठवें खण्ड** 'काव्य-कुसुमाञ्जलि' में कुछ कवियों ने अपनी काव्यमय श्रद्धाञ्जलियां अर्पित की हैं। इसके बाद **परिशिष्ट** में स्वामी जी पर प्रकाशित साहित्य का विवरण, संस्मरण लेखकों का संक्षिप्त परिचय तथा ग्रन्थ के प्रणयन में प्रयुक्त सन्दर्भ-साहित्य की सूची दी गई है।

ग्रन्थ के अन्त में स्वामी जी के विभिन्न अवसरों के, उनके कुछ कुटुम्बिजनों के, दीक्षारम्भ से दीक्षान्त तक कुलपिता की गोद में रहने वाले तथा अन्य वात्सल्यभागी कुलपुत्रों के, कुछ सहयोगियों आदि के कुछ चित्र भी दिये गये हैं। इच्छा तो थी कि स्वामी जी और उनके परिवार से सम्बन्धित चित्र अधिक से अधिक दिये जायें, पर प्रयास करने पर भी हम उसमें सफल नहीं हो पाये।

इस ग्रन्थ में प्रधानता संस्मरणों को ही दी गई है, अन्य विषय अंग रूप में इस उद्देश्य से सम्मिलित किये गये हैं, ताकि पाठकों को स्वामी जी के आन्तरिक एवं बाह्य व्यक्तित्व, विशिष्ट गुणों तथा प्रकट एवं अप्रच्छन्न प्रवृत्तियों की अधिक गहरी थाह मिल सके। वस्तुतः इनमें से प्रत्येक पर एक-एक स्वतन्त्र कृति की रचना हो सकती है। स्वामी जी की पुस्तकें, लेख, भाषण एवं पत्राचार राष्ट्र की अमूल्य निधि

हैं। उनके पत्राचार का महत्त्व तो इसी से पुष्ट होता है कि उनके और दीनबन्धु एण्ड्रूज के बीच हुये पत्रव्यवहार से प्रेरणा ग्रहण करके एक विदेशी विद्वान् श्री टिंकर ह्यूज ने श्री एण्ड्रूज के सम्बन्ध में "Ordeal of Love" नाम से एक पुस्तक लिखी है। वयोवृद्ध साहित्यकार पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी बरसों से प्रेरित कर रहे हैं कि इन पत्रों का विस्तृत भूमिका के साथ हिन्दी रूपान्तरण प्रकाशित करवाया जाये। स्वर्गीय पं० सत्यदेव विद्यालंकार भी स्वामी जी के लेखों, भाषणों आदि को संकलित करके प्रकाशित करवाना चाहते थे। परन्तु यह कार्य अभी तक नहीं हो पाया है। सामग्री-संकलन के दौरान हमने पाया कि स्वामी जी की अधिकांश कृतियाँ अलभ्य होती जा रही हैं और शीघ्र ही एक ऐसी स्थिति आ सकती है जब वे सभी स्रोत अनुपलब्ध हो जायें जिनमें से कुलपिता के लेख, भाषण आदि संकलित किये जा सकते हैं। यह स्थिति अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण और स्वामी जी के प्रति आर्य-जनों की घोर उपेक्षावृत्ति का परिचायक होगी। इस स्थिति की कल्पना-मात्र ने ही हमें झकझोर दिया है। अतः हमारी योजना है कि हम श्रद्धेय कुलपिता के लेखों/भाषणों पत्राचार आदि को संकलित एवं संपादित करके ग्रन्थ रूप में प्रकाशित करवायें। परन्तु श्रम-साध्य एवं अर्थ-साध्य यह योजना साकार तभी हो सकेगी जब आर्यसमाज की शिरोमणि संस्थाओं, गुरुकुलों के संचालकों, आर्य-नेताओं, गुरुकुल के स्नातक-बन्धुओं, प्रबुद्ध प्रकाशकों, आर्य-श्रेष्ठियों तथा आर्यजनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त होगा। आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि सबके सहयोग से यह योजना अवश्य क्रियान्वित होगी।

आभार

इस पावन-अनुष्ठान में मुझे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अनेक लोगों का सहयोग प्राप्त हुआ है। उनमें सर्वप्रथम मैं आदरणीय भाई डॉ० निरूपण विद्यालंकार के प्रति आभार प्रकट करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने मुझे इस ग्रन्थ के प्रणयन के द्वारा कुलपिता के श्रीचरणों में श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने का सुयोग प्रदान किया तथा जिनके द्वारा पग-पग पर प्रदत्त प्रोत्साहन, मार्गदर्शन और सहयोग तथा प्रकाशन के लिये की गई अर्थ-व्यवस्था से ही यह कार्य पूरा हो सका है आर्यसमाज सदर, मेरठ के प्रधान श्री वेदप्रकाश गर्ग, मन्त्री श्री शांतिप्रकाश मित्तल, अन्य पदाधिकारी एवं अंतरंग-सदस्य, विशेषकर श्री रघुनन्दन स्वरूप गोयल और डॉ० भूपेशचन्द्र सक्सेना तथा श्रद्धानन्द शिशुविहार मेरठ की प्रबन्ध-समिति के सदस्य विशेष धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ को तय्यार करने के लिये प्रारम्भिक आर्थिक सहायता दी। इसके साथ ही हम गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० सत्यकाम वर्मा के अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए विश्वविद्यालय की ओर से दस हजार रुपये का अनुदान प्रदान किया।

स्वामी श्रद्धानन्द की वात्सल्यमयी गोद में बैठ कर विद्या-मधु का पान करने वाले वयोवृद्ध स्नातकों, स्वामी जी के कुछ निकट सम्बन्धियों, विविध क्षेत्रों में उनके

साथ कार्य करने वाले आर्य-जनों तथा किसी न किसी रूप में उनके सम्पर्क में आये अन्य व्यक्तियों ने मेरे अनुरोध पर अपनी-अपनी संस्मरण-सामग्री और लेख भेजकर इस यज्ञ की पूर्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इनका तो मैं आभारी हूँ ही; उन सबके प्रति भी श्रद्धा-नत हूँ जो आज हमारे बीच नहीं हैं, पर उनकी संस्मरण-सामग्री का उपयोग हमने इस ग्रन्थ में किया है।

ग्रन्थ-निर्माण के दौरान प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्तण्ड, पं० दीनानाथ सिद्धान्तालंकार, पं० धर्मपाल विद्यालंकार, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार विद्यामार्तण्ड सदृश वयोवृद्ध स्नातक-बन्धुओं तथा मेरे पूज्य पिता डॉ० रामनाथ वेदालंकार की सतत प्रेरणा, शुभकामनायें और आशीर्वाद इस कार्य को आगे बढ़ाने में मेरा उत्साहवर्धन करती रही हैं। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के आदिकालीन कार्यकर्ता एवं 'सार्वदेशिक' साप्ताहिक के सहसंपादक श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक अनवरत अपना बहुमूल्य सहयोग प्रदान करते रहे, परन्तु दुर्भाग्य से श्री पाठक जी आज हमारे बीच नहीं हैं। स्वामी जी के पौत्र श्री जयन्त वाचस्पति (श्री पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति के सुपुत्र) तथा दौहित्र श्री पं० सत्यकाम विद्यालंकार ने समय-समय पर वाँछित सूचनाएँ और सामग्री भिजवाने का कष्ट किया। आर्य-युवक श्री रणसिंह आर्य ने दिल्ली और कानपुर में अनेक सुधीजनों से व्यक्तिगत संपर्क कर के उनके संस्मरण एवं अन्य सामग्री भिजवायी। एतदर्थ हम इन सब के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

सामग्री-संकलन-काल में हमें गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में संगृहीत विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के जिन पुराने अंकों एवं अन्य संदर्भ-साहित्य की आवश्यकता पड़ी उसे जुटाने में वहाँ के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री जगदीश प्रसाद विद्यालंकार से उल्लेखनीय सहायता प्राप्त हुई। श्री राजाराम जिज्ञासु (स्वाध्याय संस्थान, बदायूँ) तथा श्री इन्दुलाल पटेल (वेद मन्दिर सायला, सुरेन्द्रनगर, गुजरात) ने समाचार-पत्रों में प्रकाशित सूचना पढ़कर मुझसे स्वयं सम्पर्क किया और अपने निजी पुस्तकालय में से कुछ अलभ्य श्रद्धानन्द विशेषांक सुलभ कराने का कष्ट किया। इस सहयोग के लिये मैं इनका आभारी हूँ।

प्रेस-पाण्डुलिपि तैयार करते समय तथा अन्य अवसरों पर आवश्यकतानुसार टाइपिंग आदि कार्य के दायित्व का निर्वाह श्री उमेशचन्द्र पाण्डे तथा श्री गिरीशचन्द्र जोशी ने जिस निष्ठा के साथ किया उसे भुला सकना सम्भव नहीं है। इसे पुस्तक रूप में मुद्रित कर पाठकों तक पहुँचाने का श्रेय साहित्य भण्डार मेरठ के स्वामी श्री रतिराम शास्त्री और उनके पुत्रद्वय श्री राजकिशोर शर्मा और श्री सतीशचन्द्र कौशिक को है। इनका मैं हृदय से आभार मानता हूँ।

इसके अतिरिक्त मैं उन सबका भी आभारी हूँ, जिनका नामोल्लेख यहाँ नहीं हो पाया है, पर जिन्होंने इस यज्ञ में किसी न किसी रूप में अपनी आहुति दी है।

अब यह कृति आपके हाथों में है। इसके गुण-दोषों का निर्णय भी आपको ही करना है। प्रयास पूरा-पूरा किया गया है कि पाठकों को अधिक से अधिक उपयोगी एवं संग्रहणीय सामग्री उपलब्ध करायी जा सके। फिर भी, अपने इस प्रयास में हमें कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है, इसका निर्णय सुविज्ञ पाठक ही करेंगे। यदि यह स्मारिका नयी पीढ़ी के लिये प्रेरणादायक एवं उद्बोधक बन सकी तो हम अपने परिश्रम को सार्थक मानेंगे।

अन्त में, कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द जी के प्रति अपनी भावभीनी प्रणामाञ्जलि निवेदित करते हुये हम उनके जीवन सुमनों को पिरो कर तय्यार की गई यह ग्रन्थ-माला उन्हीं के पावन चरणों में समर्पित करते हैं।

१/११६ फूलबाग
पंतनगर (नैनीताल)
१५ मार्च १९८६

सम्पादक
विनोदचन्द्र विद्यालंकार

विषय-क्रम

प्राक्कथन	डॉ० निरूपण विद्यालंकार	
आमुख	डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार	

प्रणति

जयति स परिव्राट्परिवृढः	वैद्य रणजीतराय देसाई	३
धर्मवीरो महात्मा श्रद्धानन्दः	श्री धर्मदेव विद्यामार्तण्ड	६

[१] जीवन-गरिमा

संक्षिप्त जीवन-गाथा	११
जीवन-झांकी (कालक्रमानुसार)	१९
वंशावली	२४
साहित्य-सेवा	२५
कुटुम्बिजन : एक परिचय	२८
✓ उत्कृष्ट स्मारक गुरुकुल कांगड़ी	३४

[२] संस्मरण-माला : एक

स्वामी श्रद्धानन्द के सान्निध्य में	श्री धर्मपाल विद्यालंकार	५३
अतीत की स्मृतियाँ	प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार	६८
कुछ अविस्मरणीय स्मृतियाँ	पं० दीनानाथ सिद्धान्तालंकार	७५
स्वामी श्रद्धानन्द महापुरुष थे	वैद्य धर्मदत्त विद्यालंकार	९८
मेरे नाना स्वामी श्रद्धानन्द	पं० सत्यकाम विद्यालंकार	१००
गुरुकुल के वे स्मरणीय दिन	पं० देशबन्धु विद्यालंकार	१०३
✓ कतिपय उद्बोधक संस्मरण	पं० सोमदत्त विद्यालंकार	१०७
भूली-बिसरी यादें	श्री ओमप्रकाश विद्यालंकार	११८
✓ शिष्यवत्सल स्वामी श्रद्धानन्द	पं० सत्यदेव विद्यालंकार	१२६
शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी	स्वामी ओमानन्द सरस्वती	१२८
मेरे ज्योतिस्तम्भ	श्री संतराम बी० ए०	१३०
महात्मा मुंशीराम के दर्शन	श्री अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार	१३४
✓ स्वामी श्रद्धानन्द जी के समय का गुरुकुल	डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार	१३९
दिव्य गुणों के आगार	श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक	१४६
महाशूर स्वामी श्रद्धानन्द	पं० आत्मानन्द विद्यालंकार	१५६
मेरे आचार्यप्रवर	श्री नारायणदत्त विद्यालंकार	१५९

एक स्मृति	श्रीमति स्वर्णलता	१६१
स्मृति के झरोखे से	डॉ० इन्द्रसेन जेतली	१६४
कुलपिता से अंतिम भेंट	डॉ० धर्मानन्द केसरवानी	१६६
पुण्यभूमि एवं महात्मा जी का प्रथम दर्शन	वैद्य निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार	१६८
श्रद्धेय गुरुवर के चरणों में बिताये सुदिन	पं० जनार्दनदेव विद्यालंकार	१७३
धीरवर श्रद्धानन्द	पं० भद्रसेन विद्यालंकार	१७५
कुछ झांकियाँ	डॉ० रामनाथ वेदालंकार	१७७
मेरे गुरुकुल-प्रवेश के प्रेरणा-स्रोत	श्री मनोहर विद्यालंकार	१८२
करुणा के सागर स्वामी श्रद्धानन्द	प्रो० हरिदत्त वेदालंकार	१८५
मेरे प्रेरणा-स्रोत	पं० आनन्दप्रिय	१८७
वात्सल्य के प्रतिरूप	श्री प्रेमचन्द्र शास्त्री	१८९
पितृ-तुल्य स्वामी श्रद्धानन्द	डॉ० युद्धवीरसिंह	१९३
महामानव स्वामी श्रद्धानन्द	स्वामी भीष्म जी महाराज	१९५
मैं उनका ऋणी हूँ	पं० भगवत्त वेदालंकार	१९७
सच्चा मानव	श्री सुरेशचन्द्र वेदालंकार	२०१
युवक हृदय-सम्राट् श्रद्धानन्द	श्री राजर्षि रणजयसिंह	२०३
स्वामी श्रद्धानन्द	डॉ० मुंशीराम शर्मा "सोम"	२०५
शुद्धि आन्दोलन के प्रणेता श्रद्धानं	पं० देवव्रत धर्मेन्दु	२०८
अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्द और ब्रह्मचर्य	आचार्य बृहस्पति शास्त्री	२१०
स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन की कुछ बातें	श्री शिवदयालु	२१३
आत्मिक बल के धनी	श्री प्रह्लाददत्त वैद्य	२१५
शूरता की शान स्वामी श्रद्धानन्द	प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु	२१९
याद आता है वह दिन	श्री बनारसीदास आर्य	२२९
कतिपय स्मृतियाँ	श्री विद्यारत्न	२३०
अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द	श्री चन्द्रकेतु शर्मा	२३२
कुछ प्रेरक प्रसंग	श्रीमती दीप्ति	२३८
मानव धर्म के अनुयायी	श्री भगवानदेव शर्मा	२४७

[३] संस्मरण माला : दो

मेरे धर्मपिता स्वामी श्रद्धानन्द	आचार्य रामदेव	२५१
मेरे पिता	श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति	२६३
मेरे धर्मबन्धु स्वामी श्रद्धानन्द	महात्मा गांधी	२७६
वह भव्यमूर्ति	पं० विष्णुमित्र	२८०
दिव्य पुरुष स्वामी श्रद्धानन्द	आचार्य नरदेव शास्त्री	२८२
वे कुल-पिता थे	श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार	२८७

उदारचेता स्वामी श्रद्धानन्द	आचार्य अभयदेव विद्यालंकार	२८९
स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज-कुछ संस्मरण	डॉ० ब्रह्मानन्द विद्यालंकार	२९३
राष्ट्रीय शिक्षा के पौधघर में	श्री जयचन्द्र विद्यालंकार	२९८
आदर्श आचार्य स्वामी श्रद्धानन्द	स्वामी धर्मानन्द सरस्वती	३०१
ऋषि-प्रेम में छलकी हुई आँखें	श्री बुद्धदेव विद्यालंकार	३०५
कुछ संस्मरण	श्री देवराज विद्यावाचस्पति	३०७
महात्मा गांधी, मुंशीराम और गुरुकुल	श्री सत्यदेव विद्यालंकार	३१२
महात्मा मुंशीराम जी और गुरुकुल की स्मृतियाँ	श्री राम्जे मैकडानल्ड	३१६
एक स्मृति	श्री जयदेव शर्मा विद्यालंकार	३२०
चाचा मुंशीराम	संत निहालसिंह	३२१
पावन स्मृतियाँ	श्री जनमेजय विद्यालंकार	३२६
स्वामी जी की पुण्य स्मृति	श्री रुचिराम साहनी	३२९
आकर्षक व्यक्तित्व	श्री घनश्यामसिंह गुप्त	३३२
स्वामी श्रद्धानन्द की याद में	प्रो० सुधाकर एम० ए०	३३३
स्वामी श्रद्धानन्द जी और मैं	श्री गंगाप्रसाद जी.	३३५
अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द	श्री महाशय कृष्ण	३३९
वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि	महात्मा नारायण स्वामी	३४२
आर्य जाति के उद्धारक	रायसाहब रामविलास शारदा	३४८
महान् शिक्षाविज्ञ	आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य	३४९
श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी	श्री वेदानन्द तीर्थ	३५२
गुरुकुल-प्रवास की अमिट स्मृतियाँ	पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	३५५
महात्मा मुंशीराम से मेरा परिचय	राजा महेन्द्रप्रताप	३६०
अविस्मरणीय संस्मरण	पं० ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य	३६२
हुतात्मा की अंतिम कामना	श्री स्वामी चिदानन्द जी	३६३
एक सुन्दर स्मृति	पं० रामचन्द्र देहलवी	३६५
महात्मा मुंशीराम जी	स्वामी सत्यानन्द जी	३६७
युगपुरुष स्वामी श्रद्धानन्द	डॉ० अविनाशचन्द्र बोस	३६९
मेरे संस्मरण	आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री	३७२
महासान्य अमर श्रद्धानन्द	डॉ० सत्यपाल	३७४
उत्तर के सुमेरू स्वामी श्रद्धानन्द	आचार्य चतुरसेन शास्त्री	३७७
एक संस्मरण	पं शंकरदेव विद्यालंकार	३८१
एक महान् क्रांतिकारी आदर्श नेता	श्री रामनारायण यादवेन्दु	३८४
प्राचीन भारत के उदात्त आदर्श	प्रो० एस० आर० शर्मा	३८७
जीवन का एक पृष्ठ	श्री प्रेमचन्द बी० ए०	३८९

[४] लेख-माला

स्वामी श्रद्धानन्द का कला-प्रेम	श्री धारेश्वर	३६३
एण्ड्रूज और मुंशीराम : पत्रों के झरोखे से	डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार	३६६
महर्षि दयानन्द सपूत स्वामी श्रद्धानन्द	श्री धर्मदेव वेदवाचस्पति एम०ए०	४०५
कुलभूमि पर स्वामी श्रद्धानन्द का अन्तिम दृष्टिपात	श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार	४०९
मुंशीराम नास्तिक से आस्तिक कैसे बने	श्री यशपाल आर्यबंधु	४१२
अमर संन्यासी श्रद्धानन्द	श्री अमीरचन्द खन्ना	४१६
स्वामी श्रद्धानन्द का हत्यारा कौन ?	पं० गंगाराम	४२०
गुरुकुल-भक्त मुंशीराम	प्रो० महेशचरण सिन्हा	४२३
ब्रह्मचारियों द्वारा भूतबाधा-हरण	डॉ० सुखदेव	४३०

[५] पत्राचार

महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द के पत्र)	४३७
कनिष्ठ पुत्र इन्द्र के नाम	४३७
श्री गुरुदत्त एवं पोषिता कन्या सुमित्रा के नाम	४४६
लाला रामकृष्ण के नाम	४४९
महात्मा गाँधी के नाम	४५०
श्री भवानीदयाल संन्यासी के नाम	४५६
श्रद्धानन्द-गाँधी-पत्राचार	४५९
(क) सत्याग्रह के सम्बन्ध में	४५९
(ख) खिलाफत के प्रश्न	४६३
कांग्रेस के महामन्त्री से पत्रव्यवहार	४६९
अछूतोद्धार के प्रश्न पर	४६९
गांधी जी के पत्र महात्मा जी के नाम	४७६

[६] स्वामी श्रद्धानन्द की लेखनी से

ऋषि दयानन्द के चरणों में	४८७
आपबीती	४८८
गुरुकुल का आदर्श	५०६
मेरे कुछ असिद्ध स्वप्न	५१२
आर्य युवको, नेता नहीं, सेवक बनो	५२०
क्या तुम मर्यादा पुरुषोत्तम राम के वंशज हो ?	५२३
अस्पृश्यता प्रगति में बाधक है	५२६
पुत्रो, सदाचारी बनो	५३१
ऋषि के ज्ञान-तत्त्व को हृदयंगम करो	५३३
शुद्धि एवं हिन्दू संगठन	५३५

जीवन हिन्दी

[७] भाव-प्रसून

✓ सर जेम्स मेस्टन ५४१
✓ लाला लाजपतराय ५४२
पं० मोतीलाल नेहरू ,,
✓ मौलाना मुहम्मद अली ,,
✓ पं० मदनमोहन मालवीय ५४३
✓ महात्मा गाँधी ५४४
श्री गणेशशंकर विद्यार्थी ५४४
✓ श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ५४५
✓ सरदार बल्लभ भाई पटेल ५४५
भाई परमानन्द ५४५
लाला हरदयाल ५४६
प्रोफेसर सुधाकर ५४७
पं० नेकीराम शर्मा ५४७
श्री जुगुलकिशोर बिड़ला ५४७
पं० दीनदयाल शर्मा ५४८
✓ श्री प्रेमचन्द्र बी० ए० ५४८
श्री काका कालेलकर ५४८
श्री महाशय कृष्ण ५४९
श्री हरिभाऊ उपाध्याय ५४९
श्री जमनालाल बजाज ५४९
श्री सी० एफ० एण्ड्रूज ५४९
✓ महात्मा आनन्द स्वामी ५५०
✓ डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ५५१
✓ पं० जवाहरलाल नेहरू ५५१
✓ श्रीमती सरोजिनी नायडू ५५१
श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ५५२
श्री श्रीप्रकाश ५५२
श्री विनायक दामोदर सावरकर ५५२
श्रीमती उमा नेहरु ५५३
श्री टी० एल० वासवानी ५५३
श्री माधव श्री हरि अणे ५५३
श्री गणेश वासुदेव मावलंकर ५५४
✓ श्री गोविन्द बल्लभ पंत ५५४

✓ पं० हरिशंकर शर्मा ५५४
श्री हरीबिलास शारदा ५५५
पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ५५६
लाल रामगोपाल शालवाले ५५६
वेद पथिक धर्मवीर आर्य झंडादारी ५५७
✓ श्री अक्षयकुमार जैन ५५७
✓ श्री विष्णु प्रभाकर ५५७
[८] काव्य-कुसुमाञ्जलि ५५९
कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द के प्रति — श्री बुद्धदेव विद्यालंकार ५६१
✓ ओ पासवाँ शहीद — ✓ श्री प्रियव्रत विद्यालंकार ५६२
स्वामी का स्वामी से मिलाप — श्री नारायणप्रसाद बेताब ५६३
श्रद्धाञ्जलि — श्री हीरालाल सूद ५६४
परिशिष्ट ५६९
स्वामी श्रद्धानन्द जी पर प्रकाशित साहित्य ५७१
संस्मरण-लेखक ५७४
सन्दर्भ-साहित्य ५९५

प्रणतिः

जयति स परिव्राट्परिवृढः

—वैद्य रणजितराय देसाई

परं पाराधीन्यं द्रढयितुमनोभिः प्रणिहिता
प्रतीच्या शिक्षा या कुटिलमतिभिश्चाङ्गलजनैः ।
अनिष्टं तन्मूलं दृशमुपगतं यस्य सपदि
यतिः श्रद्धानन्दो जयति स परिव्राट्परिवृढः ॥१॥

कुटिल बुद्धि ब्रिटिश शासकों ने भारत में अपने प्रभुत्व को सुदृढ़ बनाने के हेतु जिस पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का सूत्रपात किया, उसके अनिष्ट परिणामों को जिनकी पैनी दृष्टि ने तत्काल भाँप लिया, उन पूजनीयतम परिव्राजकशिरोमणि स्वामी श्रद्धानन्द जी को हमारे शत-शत प्रणाम ।

अनर्थं तं विघ्नाननतिगणयन् यो बहुविधान्
निराकर्त्तुं मेने बहु गुरुकुलस्थापनविधिम् ।
स्वकौ पुत्रौ प्रावेशयदथ पुरोदाहरणतो
यतिः श्रद्धानन्दो जयति स परिव्राट्परिवृढः ॥२॥

पाश्चात्य शिक्षा—प्रणाली के अनिष्टों को जानकर जो निष्क्रिय न बैठे रहे, परन्तु उनका प्रतीकार करने के निमित्त जिन्होंने गुरुकुलों के रूप में प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के प्रवर्तन का मार्ग अपनाया । सर्वप्रथम गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना कर लोकसंग्रहार्थ (उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये) ही नहीं, इस पद्धति के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा होने के कारण भी अपने दोनों पुत्रों को गुरुकुल में प्रविष्ट कराया उन परिव्राजकाचार्य यतिवर स्वामी श्री श्रद्धानन्द जी महाराज के पावन चरणों में हमारे सहस्रशः प्रणाम ।

महर्षेरादेशात्त्रिविधनियमान् यो गुरुकुले-
ऽन्वगच्छत् कौमारं व्रतमथ निवासं च विजने ।
विधां प्राच्यार्वाच्यां सकलमपि हिन्द्यां च पठनं
यतिः श्रद्धानन्दो जयति स परिव्राट्परिवृढः ॥३॥

आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती के आदेशों अथच पद-पद्धति का अनुसरण करते हुये जिनने गुरुकुलों में तीन विशिष्टताओं को अग्र स्थान दिया । तथाहि:-ब्रह्मचर्य का पालन एवं तदर्थ वसति से दूर आश्रमों में निवास,

पाठ्यक्रम में प्राचीन-अर्वाचीन उभय पद्धतियों के सदंशों का सुभग संयोग एवं शिक्षा का माध्यम आदि से अन्त तक आर्यभाषा हिन्दी को बनाना—तीनों अपूर्व तत्कालीन प्रखर शिक्षणशास्त्रियों की भी बुद्धि के लिये अगम्य, ऐसे महर्षिकल्प स्वामी श्रद्धानन्द जी के चरणारविन्दों में असंख्य प्रणतियाँ।

महो पित्र्या पुण्या परमपवमानाऽथ जननी-
वदाराध्या येषां हिमगिरिसमुद्रान्तरगता।
उदीतांस्तानार्यानयत विधातुं प्रतिपलं
यतिः श्रद्धानन्दो जयति स परिव्राट्परिवृढः ॥४॥

जो जन पूर्व तथा पश्चिम समुद्र एवं हिमगिरि के अन्तराल में स्थित भारत भूमि को अपनी तथा अपने पितृ-पितामहों की पुण्य, परम पावन और जननी के सदृश आराधनीय भूमि मानते हैं उन आर्यों को उन्नति पथ पर पहुँचाने तथा निरन्तर प्रगतिमान् करने के लिये आजीवन उत्तरोत्तर प्रयास जिनने किये उन तपोमूर्ति स्वामी श्री श्रद्धानन्द जी महाराज के परम पावन पादपद्मों में अगणित अभिवादन।

बलाढ्यत्वं जातेर्भवति दलितोद्धारकरणा-
त्तथा शुद्ध्यारम्भादिति कृतधियाऽचेष्टततमाम्।
अहासीदन्तेऽसूनपि तृणकणीकृत्य बलिवद्
यतिः श्रद्धानन्दो जयति स परिव्राट्परिवृढः ॥५॥

आर्यजाति को संगठन और उत्तम बलवृद्धि, वास्तविक अर्थों में दलितों के उद्धार तथा भूतकाल में किन्हीं कारणों से जिनके पूर्वजों ने धर्मान्तिर कर लिया था उन्हें पुनः स्वजाति और स्वधर्म में लाने से (शुद्धि द्वारा) ही पूर्णतया सिद्ध हो सकती है, यह दृढ़ निश्चय कर जिनने दलितोद्धार तथा शुद्धि आन्दोलन को अपने जीवन का चरम लक्ष्य बनाया, इतना ही नहीं, यह कार्य करते-करते ही अन्त में तृणवत् अपने प्राणों की आहुति तक दे दी उन राष्ट्र के यथार्थ नायक, यतिवर्य स्वामी श्री श्रद्धानन्द जी महाराज के चरण युगल में अनन्त नमस्कार।

स्वराज्यार्थे युद्धेऽप्यसकृदसृजद्यो निजतनुं
स्थितोऽनावृत्योरो रिपुहृतकशस्त्रस्य पुरतः।
समाश्वस्ताऽतङ्केऽजनि यदनु पञ्जाबजनता
यतिः श्रद्धानन्दो जयति स परिव्राट्परिवृढः ॥६॥

स्वाधीनता संग्राम भी जब-जब लड़ा गया, तब-तब जिनने सर्वात्मना उसमें भाग लिया, ऐसे ही एक प्रसंग में राज्य सैनिक की खुली किर्च को झेलने के लिये जिनने निर्भय होकर अपनी छाती खोल दी एवं जिनके पीछे रहकर ही पंजाब की

आतंकित जनता ने आश्वासन पाया, शौर्य की प्रतिमा वे स्वामी श्रद्धानन्द हमारे अक्षय अभिनन्दन स्वीकारें ।

तनुः शालप्रांशुर्विपुलमथ वक्षःस्थलमदो
दृढौ दीर्घौं बाहू त्वगपि ननु सान्ध्यारुणसमा ।
स्थितः स्वीयाकृत्येतरजनसहस्रं परिभवन्
यतिः श्रद्धानन्दो जयति स परिव्राट्परिवृढः ।।७।।

वह उत्तुंग देहयष्टि, वह विशाल वक्षःस्थल, वे परिपुष्ट तथा बलिष्ठ बाहु, त्वचा की वह सन्ध्यारुणवर्ण आभा—अपने इस असामान्य देहसौष्ठव के कारण सहस्रों के समुदाय में भी जो दृष्टि को हठात् आकृष्ट किया करते थे उन कुलपिता स्वामी श्री श्रद्धानन्द जी महाराज को हमारे शत-शत वन्दन ।

धर्मवीरो महात्मा श्रद्धानन्दः

—श्री धर्मदेवो विद्यामार्तण्डः

येषां जीवितमेव सर्वमभवल्लोकोपकारेऽर्पितं,
दातुं वैदिकशिक्षणं गुरुकुलं, संस्थापितं यैः शुभम् ।
अस्पृश्यत्वनिवारणार्थमनिशं, यत्नः कृतो यैः सदा,
श्रद्धानन्दमहोदयान् गुरुवरान् वन्देऽतिभक्त्या युतः ॥१॥

जिनका समस्त जीवन लोकोपकार के लिये अर्पित था, वैदिक शिक्षा देने के लिय जिन्होंने गुरुकुल स्थापित किया, अस्पृश्यता दूर करने का जिन्होंने दिन-रात प्रबल प्रयत्न किया, ऐसे गुरुवर्य स्वामी श्रद्धानन्द जी को अतिभक्ति से मैं नमस्कार करता हूँ ।

येषां निर्भयता हि लोकविदिताऽऽसीदद्वितीया ध्रुवं,
सेनायाः पुरतोऽप्यनावृतमुरो निर्भीकसंन्यासिभिः ।
शुद्ध्यान्दोलनचालकान् धृतिधरान्, तानत्युदाराशयान्,
श्रद्धानन्दमहोदयान् गुरुवरान्, वन्देऽतिभक्त्या युतः ॥२॥

जिनकी निर्भयता लोकविदित थी, जिन निर्भीक संन्यासी ने गुरखों की सेना के सामने नंगी छाती तान ली, अति उदार विचार वाले, शुद्धि आन्दोलन के प्रवर्तक, धैर्यधारी महात्मा श्रद्धानन्द जी को अति भक्ति से मैं नमस्कार करता हूँ ।

ऐक्यं स्थापयितुं जनेषु सततं, हृद्योगजं शाश्वतं,
यत्नो यैर्विहितो दिवानिशमिह, प्रीत्यन्वितेनात्मना ।
धर्मार्थं बलिदानतोऽमरपदं, ये धर्मवीरा गताः,
श्रद्धानन्दमहोदयान् गुरुवरान् वन्देऽतिभक्त्या युतः ॥३॥

लोगों में हृदय के मेल से उत्पन्न स्थिर एकता स्थापित करने के लिये, प्रीति भरे अन्तरात्मा से जिन्होंने रात-दिन महान् प्रयत्न किया, जिस धर्मवीर ने धर्म पर बलिदान के कारण अमर पद पाया, ऐसे गुरुवर स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज को अति भक्ति से मैं नमस्कार करता हूँ ।

श्रद्धाया जगदीश्वरे यतिवराः ये मूर्तिमन्तोऽभवन्,
सत्यस्याविरतं व्रतं हितकरं, यैः सार्वभौमं धृतम् ।
भक्ति ये दधिरे ध्रुवां ध्रुवतमे, ब्रह्मण्यनन्तेऽव्यये,
श्रद्धानन्दमहोदयान् गुरुवरान् वन्देऽतिभक्त्या युतः ॥४॥

जो यतिवर भगवान् में अत्यन्त श्रद्धालु थे, जिन्होंने सत्य पर चलने का सार्वभौम व्रत धारण किया हुआ था । अनन्त, अविनाशी, निर्विकार ब्रह्म में जो

अगाध भक्ति रखते थे, ऐसे गुरुवर स्वामी श्रद्धानन्द जी को मैं अति भक्ति से नमस्कार करता हूँ ।

विशुद्धा धर्मज्ञाः, सकलमलहीना बलभृतः,
अहिंसायाः पुण्यं, व्रतमिह धृतं यैर्यतिवरैः ।
श्वपाके सद्विप्रे, शुनि करिणि नित्यं समदृशो,
गुरून् श्रद्धानन्दान् सविनयमहं नौमि सततम् ।।५।।

जो विशुद्ध धर्मज्ञानी थे, बलवान्, निर्मल थे, जिस यतिवर ने अहिंसा के पुण्य व्रत को धारण किया था, जो चाण्डाल तथा ब्राह्मण, कुत्ते तथा हाथी सबमें समदृष्टि रखते थे, ऐसे गुरु स्वामी श्रद्धानन्द जी को लगातार मैं विनयपूर्वक नमस्कार करता हूँ ।

सुताः सर्वे तुल्याः, जगति हि यतस्ते भगवतः,
ततः प्रीत्या प्रेक्ष्या भुवि खलु समस्ता असुभृतः ।
इतीमं सद्बोधं, ददत इह नित्यं हितकरं,
गुरून् श्रद्धानन्दान्, सविनयमहं नौमि सततम् ।।६।।

भगवान् की सृष्टि के सब लोग भगवान् के पुत्र होने के कारण बराबर हैं, इसलिये समस्त प्राणधारियों के साथ प्रीतिपूर्वक व्यवहार करना चाहिये । इसप्रकार जो सदा लोगों को उत्तम हितकारी उपदेश देते, ऐसे गुरु श्रद्धानन्द जी को मैं विनयपूर्वक सदा नमस्कार करता हूँ ।

भक्तश्रेष्ठः, परजनहिते, सर्वदा दत्तचित्तः,
श्रद्धां शुद्धां विमलहृदये, मातरं मन्यमानः ।
शिक्षां हृद्यां, शुभगुरुकुले, सन्ददानो वटुभ्यः,
श्रद्धानन्दो गुरुजनवरः, सर्वदा वन्दनीयः ।।७।।

जो भक्त श्रेष्ठ और परोपकारी थे, श्रद्धा को अपने हृदय में माता के समान मानते थे, हृदयग्राहिणी शिक्षा को जो उत्तम गुरुकुल में विद्यार्थियों को दिया करते थे, ऐसे गुरुवर स्वामी श्रद्धानन्द जी सर्वदा वन्दनीय हैं ।

निर्भीको यः, सरलहृदयः, सत्यवाक् स्पष्टवक्ता,
देवे भक्तिं, परमविमलाम् आदधानोऽविकम्पाम् ।
शुद्धिद्वारा, सकलमनुजान्, दीक्षमाणः सुधर्मे,
श्रद्धानन्दो गुरुजनवरोऽसौ सदा वन्दनीयः ।।८।।

जो निर्भय सरल हृदय, सत्यवादी और स्पष्ट वक्ता थे, जो परमात्मा में निश्चल भक्ति रखते थे, शुद्धि द्वारा जो सब मनुष्यों को उत्तम धर्म की दीक्षा देते थे, ऐसे गुरुवर स्वामी श्रद्धानन्द जी सर्वदा पूजनीय हैं ।

दत्वा तन्वो, मुदितमनसा, यो बलिं धर्मवेदौ,
प्राप्तो लोके, ह्यमरपदवीं, त्यागशीलो महात्मा ।
आसीत्सर्वं, विमलचरितं, यस्य सद्यज्ञरूपं,
श्रद्धानन्दो गुरुजनवरोऽसौ सदा वन्दनीयः ।।९।।

जिन त्यागी महात्मा ने प्रसन्न मन से धर्मवेदी पर बलिदान दिया और अमर धर्मवीर की पदवी पाई, जिनका सारा पवित्र चरित्र यज्ञरूप था, ऐसे गुरुवर स्वामी श्रद्धानन्द जी पूजनीय हैं।

अन्यायं यः सकलमहसा, रोद्‌धु कामः प्रयेते,
सत्याहिंसाबलयुत इहान्यायिभिर्योद्धुकामः।
काराकष्टं वयसि चरमे, यः समोदं विषेहे,
श्रद्धानन्दो गुरुजनवरोऽसौ सदा वन्दनीयः ॥१०॥

जिन्होंने अन्याय को प्रबल तेज से रोकने का प्रयत्न किया, अहिंसाबल से अन्यायियों से युद्ध किया, जिन्होंने वृद्धावस्था में भी कारागृह के कष्टों को प्रसन्नता पूर्वक सहन किया, ऐसे गुरुवर स्वामी श्रद्धानन्द जी सदा पूजनीय हैं।

ये ते नित्यं, दलितपतितान्, मानवानुद्दिधीर्षुः,
पूतान् सर्वान् श्रुतिवचनतः, पावनः संचिकीर्षुः।
अस्पृश्यत्वं, समसममनाः, दूरयन् जातिभेदं,
श्रद्धानन्दो गुरुजनवरोऽसौ सदा वन्दनीयः ॥११॥

जिन्होंने दलितों और पतितों को उठाने का सदा प्रयत्न किया, सबको वेद-शास्त्रों के वचन सुना कर पवित्र करने का संकल्प किया, सबमें समानता का भाव मन में धारण करके अस्पृश्यता और जाति-भेद को दूर किया, ऐसे गुरुवर स्वामी श्रद्धानन्द जी सदा वन्दनीय हैं।

देवेन्द्रं तं, भुवनपितरं, प्रार्थयामो महेशं,
दद्याच्छक्ति, यतिपथि सदा, निर्भयत्वेन गन्तुम्।
श्रद्धां शुद्धां, सकलमनुजानां मनस्स्वत्र दध्याद्,
भूयाद् येनाखिलजनगणादर्शभूतः समाजः ॥१२॥

हम उस देवेन्द्र जगत्पति परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि वह हमें शक्ति दे जिससे उस यति के बताये मार्ग पर निर्भयता से चल सकें। वह कृपालु सब मनुष्यों में शुद्ध श्रद्धा को धारण कराये, जिससे हमारा समाज सब मनुष्यों के लिये आदर्शभूत हो।

●

जीवन-गरिमा

संक्षिप्त जीवन-गाथा

> वर्तमान काल का कोई कलाकार यदि भगवान् ईसा की मूर्ति बनाने के लिये कोई जीवित मॉडल लेना चाहे तो मैं इस भव्य मूर्ति की ओर इशारा करूँगा। यदि कोई मध्यकालीन चित्रकार सेंट पीटर के चित्र के लिये नमूना मांगे, तो मैं उसे जीवित मूर्ति के दर्शन करने की प्रेरणा करूंगा।
>
> —**रैम्जे मेकडानल्ड**

भारत के आधुनिक इतिहास में महात्मा मुंशीराम का स्थान बड़े महत्व का है। वह जहाँ आर्यसमाज के कर्णधार थे, वहाँ साथ ही देश के नेताओं में भी उन्हें प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था। समाज-सुधार, दलितोद्धार, राष्ट्रीय भावना का विकास, स्वराज्य के लिये संघर्ष आदि सभी के लिये उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किये; पर गुरुकुल शिक्षा-पद्धति की पुनः स्थापना उनका एक ऐसा कार्य है, जो भारत के सास्कृतिक इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा।

महात्मा मुंशीराम का जन्म जालन्धर जिले के तलवन ग्राम में सन् १८५६ में हुआ था। उनके पिता का नाम नानकचन्द था। वह संयुक्तप्रान्त (उत्तरप्रदेश) में पुलिस इंस्पेक्टर व कोतवाल के पदों पर रहे थे। ब्रिटिश शासन के उस काल में पुलिस अफसरों को न धन की कमी होती थी और न शक्ति की। लाला नानकचन्द का जीवन भोग-विलासमय था और उनमें वे अनेक दोष भी विद्यमान थे जो धन और शक्ति की प्रचुरता से लोगों में उत्पन्न हो जाते हैं। फिर भी वह तुलसीकृत रामायण के भक्त थे और पूजा-पाठ में भी समय लगाया करते थे।

मुंशीराम जी की शिक्षा वाराणसी के सरकारी स्कूल और इलाहाबाद के म्योर सेण्ट्रल कॉलिज में हुई। विद्यार्थी जीवन में वह इन्द्रियों पर संयम नहीं रख सके। उनका परिवार सम्पन्न था और पिता बड़े सरकारी अफसर थे। जिन शिक्षणालयों में वह शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, उनका वातावरण भौतिकवाद और पाश्चात्य संस्कृति का था। मुंशीराम जी इनसे प्रभावित हुये। काशी और प्रयाग में हिन्दु धर्म के जिस स्वरूप के वह सम्पर्क में आये, वह सत्य सनातन वैदिक धर्म नहीं था। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव के कारण मुंशीराम जी को हिन्दु धर्म के प्रति अनास्था होने लगी, और परमेश्वर की सत्ता पर भी वह सन्देह करने लगे। पर वह देर तक इस दशा में नहीं रहे। सन् १८७९ में महर्षि दयानन्द सरस्वती के साथ उनका सम्पर्क हुआ, जिसके परिणामस्वरूप उनका जीवन पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गया। सन् १८७९ में जब वैदिक धर्म का प्रचार करते हुये महर्षि बरेली गये, मुंशीराम जी के पिता लाला नानकचन्द वहाँ कोतवाल थे। वह भी महर्षि के व्याख्यान सुनने के लिये जाया करते थे और उनसे बहुत प्रभावित होते थे। एक दिन उन्होंने अपने पुत्र से कहा—एक दण्डी स्वामी आये हुये हैं, बड़े विद्वान् और

योगी हैं, उनकी बातें सुनकर तुम्हारे मन के संशय दूर हो जायेंगे, कल मेरे साथ चलकर उनका व्याख्यान सुनना। महर्षि के व्याख्यान को सुनकर मुंशीराम के मन पर जो प्रभाव पड़ा, उसे उन्होंने इन शब्दों में प्रकट किया है—**"मैंने बड़े-बड़े वक्ताओं के व्याख्यान सुने हैं. परन्तु जो ओज महर्षि की वाणी में था, वह अन्य कहीं नहीं पाया। उनके भाषण से श्रोताओं को जो प्रकाश मिलता है वैसा प्रकाश किसी अन्य वक्ता की वाणी से नहीं मिला।"**

महर्षि के सम्पर्क में आने से मुंशीराम जी की सोयी हुई आत्मा जाग उठी, उनकी अश्रद्धा अगाध श्रद्धा में परिवर्तित हो गई और जीवन के अन्तिम क्षण तक महर्षि उनके लिये प्रकाश-स्तम्भ बने रहे। महर्षि के मन्तव्यों और आदर्शों को क्रियान्वित करना ही उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया।

महर्षि दयानन्द के दर्शन से दो वर्ष पूर्व सन् १८७७ में मुंशीराम जी का विवाह जालन्धर के राय सालिगराम जी की पुत्री शिवदेवी के साथ हो गया था। उनकी पत्नी द्विरागमन होने के बाद भी अभी तक पितृगृह में रह रही थीं। अब पिता जी के आदेशानुसार मुंशीराम जी पत्नी को विदा करवा कर बरेली ले आये। शिवदेवी जी पतिव्रता एवं सेवापरायणा देवी थीं। मुंशीराम जी के जीवन-निर्माण में जहाँ एक ओर महर्षि दयानन्द के प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं व्याख्यानों का प्रभाव हुआ, वहीं दूसरी ओर पत्नी शिवदेवी जी की निष्ठापूर्ण सेवा एवं पतिभक्ति ने भी अपना असर दिखाया। शिवदेवी जी का नियम था कि वे दोपहर का भोजन तो पति के पीछे ही कर लेती थीं, पर रात्रि का भोजन पति को कराने के बाद ही किया करतीं। यदि कभी उन्हें आने में देर हो जाती तो वे अपना और मुंशीराम जी का भोजन अपने कमरे में लाकर रख लेतीं और मुंशीराम जी के आने पर उन्हें अंगीठी पर गरम करके भोजन करातीं और पीछे स्वयं खातीं। एक बार की बात है, मुंशीराम जी रात्रि ८ बजे घर लौट रहे थे। रास्ते में उनके एक मित्र मिल गये। वे आग्रहपूर्वक उन्हें (मुंशीराम जी को) अपने घर ले गये और शराब का जाम भर कर पेश किया। मुंशीराम जी उन दिनों शराब के शौकीन तो थे ही, मना करते करते चार-पाँच पैग पी गये। शराब काफी नशीली थी, पीते ही असर मालूम पड़ा। इसके बाद मित्रों के साथ शराब के नशे में ही वेश्या के घर जा पहुँचे। कोतवाल साहब के पुत्र को आया देख सभी वेश्यायें सम्मान पूर्वक हाथ जोड़ कर खड़ी हो गईं और मुजरा सजाया गया। इसी समय एकाएक मुंशीराम जी के मन में इस सबके प्रति घृणा उत्पन्न हो गई और वे 'नापाक, नापाक' कहकर नीचे उतर आये और अपने घर लौट आये। बैठक में आकर तकिये पर जा गिरे और नौकर ने जूते उतार दिये। उठ कर ऊपर जाना चाहा, पर खड़े होने की हिम्मत ही नहीं हुई। एक वृद्ध पहाड़ी भृत्य ने सहारा देकर ऊपर पहुँचाया। छत पर पहुँचते ही नित्यप्रति की भाँति मुंशीराम जी ने दरवाजे बन्द कर लिये और बरामदे के पास पहुँचे ही थे कि वमन होने लगा। इससे आगे का वृत्त मुंशीराम जी के ही शब्दों में—"उसी

समय एक नाजुक छोटी अंगुलियों वाला हाथ सिर पर पहुँच गया और मैंने खुल कर वमन किया। अब शिवदेवी के हाथों में मैं बालकवत् था। कुल्ला करा, मेरा मुँह पौंछ ऊपर का अँगरखा, जो खराब हो गया था, बैठे बैठे ही फेंक दिया और मुझे आश्रय देकर अन्दर ले गयी। वहाँ पलंग पर लेटा कर मुझ पर चादर डाल दी और साथ बैठ कर माथा और सिर दबाने लगीं। मुझे उस समय का करुणा और शुद्ध प्रेम से भरा मुख कभी नहीं भूलेगा। मैंने अनुभव किया, मानों मातृशक्ति की छत्रच्छाया के नीचे निश्चिन्त लेट गया हूँ। पथरायी हुई आँखें बन्द हो गयीं और मैं गहरी नींद सो गया। रात का शायद एक बजा था जब मेरी आँख खुली। वह चौदह-पन्द्रह वर्ष की बालिका पैर दबा रही थी। मैंने पानी माँगा। आश्रय देकर उठाने लगी, परन्तु मैं उठ खड़ा हुआ। गरम दूध अंगीठी पर से उतार और उसमें मिश्री डाल कर मेरे मुँह को लगा दिया। दूध पीने पर होश आया। ······मैंने उठ कर और पास बैठा कर कहा—'देवी! तुम बराबर जागती रहीं और भोजन तक नहीं किया। अब भोजन करो।' उत्तर ने मुझे व्याकुल कर दिया। परन्तु उस व्याकुलता में भी आशा की झलक थी। शिवदेवी ने कहा—'आपके भोजन किये बिना मैं कैसे खाती। अब भोजन करने में क्या रुचि है?' उस समय की दशा का वर्णन लेखनी द्वारा नहीं हो सकता। मैंने अपनी गिरावट की दोनों कहानियाँ सुना कर देवी से क्षमा की प्रार्थना की, परन्तु वहाँ उनकी माता का उपदेश काम कर रहा था—'आप मेरे स्वामी हो, यह सब कुछ सुना कर मुझ पर पाप क्यों चढ़ाते हो? मुझे तो यह शिक्षा मिली है कि मैं आपकी नित्य सेवा करूँ।' उस रात बिना भोजन किये दोनों सो गये और दूसरे दिन से मेरे लिये जीवन ही बदल गया। वैदिक आदर्श से गिर कर भी जो सतीत्व धर्म का पालन पौराणिक समय में आर्य-महिलाओं ने किया है, उसीके प्रताप से भारत भूमि रसातल को नहीं पहुँची और उसमें पुनरुत्थान की शक्ति अब तक विद्यमान है, यह मेरा निज का अनुभव है।"

भारतीय आदर्श नारी के स्नेहपूर्ण पातिव्रत्य और औदार्य का एक अन्य दृष्टान्त उस समय उपस्थित हुआ जब बरेली छावनी के पारसी मद्य-विक्रेता का लगभग तीन सौ रुपये का बिल आ पहुँचा। कुछ दिन तो मुंशीराम जी उसे टालते ही रहे, पर बिल के भुगतान की चिन्ता उन्हें मन ही मन परेशान कर रही थी। पत्नी शिवदेवी ने चिन्ता को भाँप लिया और चिन्ता का कारण पूछा। मुंशीराम जी ने सब कुछ स्पष्ट रूप से कह दिया। सुनते ही शिवदेवी जी ने तत्काल अपने हाथ के सोने के कड़े उतार कर पति को दे दिये। मुंशीराम जी यह देख कर हक्के-बक्के रह गये और कहा—"देवी! यह कैसे हो सकता है? तुम्हें आभूषित करने के स्थान में तुम्हें आभूषणों से रहित करने का पाप कैसे लूँ?" शिवदेवी ने दूसरी जोड़ी दिखा कर कहा—'एक जोड़ी पिता ने और दूसरी श्वसुर महोदय ने दी थी। इनमें से एक जोड़ी व्यर्थ पड़ी है। यह मेरा माल है और जब तन भी आपका है तो इसके लेने में क्यों संकोच है। आपकी चिन्ता दूर करने का यह

मँहगा सौदा नहीं।" इस घटना ने मुंशीराम जी के जीवन को एक नया मोड़ दिया। उन्होंने यह अनुभव किया कि पतिव्रता देवी पति की स्वास्थ्य-रक्षा के समय माता, विपत्ति के समय भगिनी और उसे सन्तान-सुख पहुँचाने के लिये धर्मपत्नी का रूप धारण करती है। ✓

अब मुंशीराम जी के पिता जी ने सोचा कि उनका पुत्र पढ़ने के योग्य तो रहा नहीं, अत: उसे किसी काम पर लगा देना चाहिये। मुंशीराम जी को भी आजीविका की चिन्ता थी। अत: उन्होंने पिता जी के पूछने पर तहसीलदारी परीक्षा देकर उस महकमे में काम करने के बारे में अपनी सहमति दे दी। पिता जी उन्हें बरेली के कमिश्नर एडवर्ड के पास ले गये, जिसने मुंशीराम जी का रौल तहसीलदारी के लिये भेज दिया। इसके साथ ही एडवर्ड महोदय के प्रयत्न से मुंशीराम जी को बरेली में तीन महीने के लिये नायब तहसीलदार की नौकरी मिल गयी थी। पर वह इतने स्वाभिमानी थे कि इस सर्विस में देर तक नहीं रह सके। वह लाहौर गये और वहाँ उन्होंने वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। वकील के पेशे में उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई और उनकी गिनती जालन्धर के अच्छे सफल वकीलों में की जाने लगी।

जब वह लाहौर में वकालत पढ़ रहे थे, आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग में भी जाने लगे थे। उन दिनों लाहौर में आर्यसमाज बहुत सक्रिय था। मुंशीराम जी उसके सदस्य बन गये और उसके कार्यकलाप में उत्साह के साथ हाथ बँटाने लगे। वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण कर वह जालन्धर चले गये और वहीं वकालत करने लगे। जालन्धर में भी तब तक आर्यसमाज की स्थापना हो चुकी थी। उन्हें समाज का प्रधान चुन लिया गया। उस समय पंजाब में आर्यसमाज का नेतृत्व युवकों के ही हाथों में था। लाहौर के लाला साईंदास, लाला हंसराज, पं० गुरुदत्त और लाला लाजपतराय आदि सब आर्य नेता युवक ही थे। जो स्थिति इन युवकों की लाहौर में थी, वही लाला मुंशीराम की जालन्धर में थी। जालन्धर मे मुंशीराम जी के मुख्य सहयोगी लाला देवराज थे। इन दोनों के कर्तृत्त्व के कारण जालन्धर भी लाहौर के समान आर्यसमाज का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। वकालत करते हुये भी मुंशीराम जी आर्यसमाज के कार्यों के लिये पर्याप्त समय निकाल लेते थे। वह प्राय: प्रभातफेरी निकालते, रात को नगर के विविध मुहल्लों में सत्यार्थप्रकाश की कथा करते और रविवार को देहातों में प्रचार के लिये जाया करते। कन्याओं की शिक्षा के लिये उन्होंने लाला देवराज से मिलकर कन्या पाठशाला स्थापित की, जो आगे चलकर कन्या महाविद्यालय के नाम से एक महान् शिक्षण-संस्था के रूप में विकसित हो गयी। मुंशीराम जी ने शुद्धि के कार्य पर भी ध्यान दिया, जिसके कारण पौराणिक लोग उनके बहुत विरुद्ध हो गये। पर विरोध की परवाह न कर वह शुद्धि का कार्य उत्साहपूर्वक करते रहे। उनका निजी जीवन आर्य मान्यताओं के अनुरूप था। माँस-

भक्षण, धू म्रपान, ताश आदि का उन्होंने परित्याग कर दिया था। वह प्रतिदिन संध्या हवन करते और वेदों के स्वाध्याय में भी समय लगाते।

अगस्त १८९१ में मुंशीराम जी की पत्नी शिवदेवी जी का स्वर्गवास हो गया था। उस समय उनके बच्चों की आयु दो वर्ष से दस वर्ष तक की थी। लोगों ने पुर्नविवाह के लिये उन पर बहुत जोर दिया। उनकी आयु भी अभी अधिक नहीं थी। वह केवल ३५ वर्ष के थे। पर वह पुर्नविवाह के लिये तैयार नहीं हुये। नाबालिग बच्चों के पालन-पोषण के विषय में उन्होंने कहा—'मैं अब तक इन बच्चों का पिता था, अब माता की कमी भी मैं ही पूरी करूँगा।'

१९वीं शताब्दी के अन्त में कुछ लोगों के हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि ऋषि दयानन्द के शिक्षा सम्बन्धी आदर्शों एवं मन्तव्यों के अनुसार गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को क्रियान्वित करने के लिये एक शिक्षण–संस्था की स्थापना की जानी चाहिये। इस आन्दोलन के प्रवर्तक एवं प्रमुख नेता लाला मुंशीराम थे। इसीलिये इस शिक्षण-संस्था की योजना बनाने, उसे आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब से स्वीकृत करवाने, उसके लिये धन एकत्रित करने, आरण्यक प्रदेश में उसे स्थापित करने और विकसित करने का कार्य लाला मुंशीराम जी को ही सौंपा गया, जिसे उन्होंने बखूबी निभाया। इसमें सन्देह नहीं कि महात्मा मुंशीराम बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में एक ऐसी संस्था को स्थापित करने में सफल हुये थे, जिसका स्वरूप प्राचीन भारत के भारद्वाज, कण्व और शौनक ऋषियों के आश्रमों के सदृश था, जिसकी शिक्षा में प्राच्य और पाश्चात्य तथा प्राचीन और अर्वाचीन तत्वों का सुन्दर समन्वय था और जिसका वातावरण देशभक्तिपूर्ण और राष्ट्रीय था। महात्मा गाँधी के शब्दों में **"गुरुकुल सच्चे अर्थों में पूर्णतः राष्ट्रीय संस्था है। आर्यसमाज का सर्वश्रेष्ठ कार्य गुरुकुल का संचालन है। मुझे मालूम है कि इसकी शक्ति का स्रोत महात्मा मुंशीराम जी का महान् व्यक्तितत्व है। सरकारी सहायता के बिना इन्होंने इतनी विशाल संस्था को सफलतापूर्वक चलाया, यह उनके ही वीरतापूर्ण जीवन के कारण सम्भव हो सका।"**

[illegible] सेवा

गुरुकुल काँगड़ी के लिये अपना सब समय और शक्ति लगाते हुये महात्मा मुंशीराम ने व्यापक क्षेत्र में आर्यसमाज के प्रति अपने कर्तव्य की उपेक्षा नहीं की। ब्रिटिश सरकार आर्यसमाज को राजद्रोही संगठन समझती थी। अपने धर्म, संस्कृति तथा देश के प्रति प्रेम की जो भावना आर्यसमाज द्वारा जनता में प्रादुर्भूत की जा रही थी, भारत के अतीत गौरव का स्वर्णिम चित्र प्रस्तुत कर लोगों को पुनः अपनी मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने तथा विश्व में पहले के समान मूर्धन्य स्थान प्राप्त कराने के लिये जो प्रेरणा दी जा रही थी, अंग्रेज शासकों का उससे चौकन्ना हो जाना स्वाभाविक ही था। इसीलिये सन् १९०५ में पटियाला के ८४ आर्यसमाजियों को गिरफ्तार कर उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। अन्यत्र भी सरकार ने आर्यसमाज के प्रति अपना कोप प्रदर्शित किया और लाला लाजपतराय सदृश आर्य

नेता को कैद कर माण्डले भेज दिया गया। इस विकट परिस्थिति में महात्मा मुंशीराम ने गिरफ्तार आर्यसमाजियों की पैरवी करने और उन्हें छुड़वाने के लिये जो प्रयत्न किया, वह आर्यसमाज के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखे जाने योग्य है। उन्हींके प्रयत्न का यह परिणाम हुआ कि पटियाला में आर्यसमाजियों पर से राजद्रोह का मुकदमा उठा लिया गया।

महात्मा मुंशीराम पंजाब में उत्पन्न हुये थे। प्रारम्भ में उन्होंने उर्दू की शिक्षा प्राप्त की थी। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से प्रभावित होकर वह आर्यभाषा (हिन्दी) के प्रबल समर्थक हो गये और उन्होंने उसमें उत्कृष्ट प्रकार की योग्यता भी प्राप्त कर ली। हिन्दी की पत्रकारिता में उन्हें उच्च स्थान प्राप्त था। उनका साप्ताहिक पत्र **"सद्धर्म प्रचारक"** पहले उर्दू में था, पर उन्होंने उसे हिन्दी में कर दिया। वह स्वयं उसमें लेख लिखा करते थे। उनकी हिन्दी शुद्ध व परिमार्जित होती थी। **"श्रद्धा"** नाम से उन्होंने एक अन्य साप्ताहिक पत्र भी हिन्दी में निकाला था। हिन्दी में उन्होंने कई ग्रन्थ भी लिखे। **"आर्यसिद्धान्त व्याख्यान माला"** के अन्तर्गत उन्होंने एक दर्जन पुस्तिकायें लिखीं, जिनमें आर्यसमाज के सिद्धान्तों का सुबोध भाषा में प्रतिपादन किया गया है। **"कल्याणमार्ग का पथिक"** नाम से उन्होंने अपना जो आत्मचरित लिखा, वह हिन्दी साहित्य की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखता है। महात्मा जी वकील थे, उन्होंने एक पुस्तिका ज्युरिसप्रूडेन्स (न्याय विज्ञान) विषय पर भी हिन्दी में लिखी थी, जो इस विषय पर हिन्दी की प्रथम पुस्तक थी। सन् १९१९ में कांग्रेस का जो अधिवेशन अमृतसर में हुआ था, उसकी स्वागत-समिति के अध्यक्ष पद से जो भाषण उन्होंने दिया था, वह भी हिन्दी में था जो इस राष्ट्रीय संस्था के लिये एक नयी बात थी। हिन्दी की इन्हीं सेवाओं के कारण उन्हें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भागलपुर अधिवेशन का सभापति निर्वाचित किया गया था।

महात्मा मुंशीराम जी को जात-पाँत पर विश्वास नहीं था। वे स्वयं खत्री थे, पर उन्होंने अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाह जात-पाँत के बन्धन से मुक्त होकर किये थे। उन्होंने अपनी दूसरी पुत्री अमृतकला का विवाह डॉ० सुखदेव के साथ किया था, जो जाति के अरोड़ा थे। उस क्षेत्र का यह पहला अन्तर्जातीय विवाह था। खत्री बिरादरी द्वारा इसका उग्र विरोध किया गया और उन्हें जाति से बहिष्कृत करने की धमकी भी दी गयी, पर महात्मा जी अपने मन्तव्य पर अटल रहे। अपने पुत्रों हरिश्चन्द्र और इन्द्र का विवाह भी उन्होंने भिन्न जातियों में किया। हरिश्चन्द्र जी की पत्नी अरोड़ा थीं और इन्द्र जी की ब्राह्मण। उन्हींके विचारों का अनुसरण कर पौत्र जयन्त वाचस्पति ने भी माथुर कन्या से विवाह किया है।

अप्रैल १९१७ में महात्मा जी संन्यासाश्रम में प्रवेश कर स्वामी श्रद्धानन्द बन गये। इसके बाद से उनका कार्य क्षेत्र केवल गुरुकुल तक सीमित नहीं

रहा, वरन् बहुत व्यापक हो गया। महात्मा गाँधी के साथ मिल कर देश के सत्याग्रह एवं असहयोग आन्दोलनों में सक्रिय भाग लिया। 'सत्याग्रह-प्रतिज्ञा-पत्र' पर सर्वप्रथम हस्ताक्षर स्वामी जी ने किये। उन्होंने दिल्ली में रोलेट ऐक्ट के विरोध में प्रबल आन्दोलन किया और ३० मार्च १९१९ को दिल्ली में जो अभूतपूर्व हड़ताल एवं जनसभा हुई, उसकी सफलता का सर्वाधिक श्रेय स्वामी जी को ही है। अप्रैल १९१९ में जिस समय अमृतसर में जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड और पंजाब के अनेक नगरों में लगे फौजी कानूनों के कारण पंजाब की जनता आतंकित थी और देश के चोटी के नेता जेल में थे, उस समय अमृतसर में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष के दायित्व को सम्भालने के लिये आगे आने वाले स्वामी श्रद्धानन्द ही थे। इस अधिवेशन में उन्होंने अपना स्वागत-भाषण वेदमन्त्रों के उच्चारण के साथ हिन्दी में पढ़ा था, और उसमें अछूत समस्या का सामाजिक एवं धार्मिक स्तर पर समाधान करने पर बल दिया था।

स्वामी जी का जीवन किसी एक विशेष वर्ग, सम्प्रदाय, जाति के लिये न होकर सम्पूर्ण मानव-जाति के लिये था। वे हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, सभी धर्मावलम्बियों के प्रति समभाव एवं उदार दृष्टिकोण रखते थे तथा उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मान कर उसमें सम्मिलित होते थे। स्वामी जी के ही शब्दों में, "गुरुकुल में रहते हुये मैंने सब विचारों के सभ्य पुरुषों का उदारता के साथ स्वागत किया। तीर्थ जी (शंकराचार्य श्री भारतीकृष्ण तीर्थ) स्वयं मानते हैं कि गुरुकुल में वह अपनी पूजा करते रहे। मुसलमान भाइयों ने गुरुकुल में अपनी पांच वक्त नमाज आनन्द से अदा की। ईसाई पादरियों को अपने धर्म के अनुसार उपासना की खुली छुट्टी थी। वह सब हमारे उपासना मन्दिर में आकर सम्मिलित होते थे। मैं जिस सम्प्रदाय के धर्म मन्दिर में जाता हूँ, उनकी मर्यादा से भी बढ़ कर उन मन्दिरों का मान करता हूँ। पुरानी मुसलमानी मजारों में, जहाँ मुसलमान स्वयं जूता पहिने चले जाते हैं, मैं वहाँ नंगे पैर जाता हूँ। मुसलमान और ईसाई जब भौतिक शरीर को गाड़ने जा रहे हों, तब सवारी खड़ी कर उतर जाता हूँ।" अपनी इसी भावना के कारण उन्होंने मुस्लिम समुदाय द्वारा चलाये जा रहे खिलाफत-आन्दोलन में भी भाग लिया था और कुछ समय खिलाफत-समिति के उपाध्यक्ष भी रहे। जामा मस्जिद के मिम्बर से ऐतिहासिक भाषण देकर हिन्दु-मुस्लिम एकता स्थापित करने की अपील की। सन् १९२३ में पंजाब की नाभा रियासत के जेतां शहर में सिखों द्वारा ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध चलाये गये सत्याग्रह का (अस्वस्थ रहते हुये भी) नेतृत्व किया और ६ मास की जेलयात्रा की। इसीप्रकार अमृतसर के निकट गुरु-का-बाग सत्याग्रह में भी सक्रिय भाग लिया और उसके संचालन का दायित्व भी अपने हाथ में ले लिया।

इसके अतिरिक्त स्वामी जी शुद्धि और संगठन के कार्य में भी सबसे आगे

आये । आगरा में हिन्दू-शुद्धि-सभा की स्थापना की । सर्वप्रथम उन्होंने मलकाने राजपूतों को स्वधर्म में वापिस लेकर इस महान् कार्य का शुभारम्भ किया । एक-एक दिन में डेढ़-डेढ़, दो-दो हजार मलकाने शुद्ध किये गये । हजारों की संख्या में उन भूले जाट मुसलमानों को शुद्ध करके पुनः हिन्दू-धर्म में दीक्षित किया गया, जिन्हें जबरदस्ती मुसलमान बनाया गया था । इसके साथ ही अन्य अनेक मुसलमानों को उनकी इच्छा से शुद्ध करके वैदिक धर्म में प्रविष्ट किया गया । इस प्रकार स्वामी श्रद्धानन्द जी ने शुद्धि आन्दोलनों में निष्ठापूर्वक भाग लिया । वे इसके माध्यम से जिस समन्वित समाज का निर्माण करना चाहते थे, जीवन-पर्यन्त उसीके लिये प्रयत्नशील रहे । अन्त में इसी कारण से विपक्षियों के कोपभाजन बने और अपनी यह मनोकामना व्यक्त करते हुये २३ दिसम्बर १९२६ को अमरपद को प्राप्त हुये कि **"मैं फिर भारत में जन्म लेकर शुद्धि द्वारा देश और जाति की सेवा करूँ ।"**

जीवन-झांकी

(कालक्रमानुसार)

सन् १८५६	फरवरी (फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशी संवत् १९१३) को तलवन ग्राम (जालन्धर) में श्री नानकचन्द जी क्षत्रिय के घर जन्म। पंडित द्वारा दिया गया जन्म का नाम बृहस्पति तथा प्रचलित नाम मुंशीराम।
सन् १८५९	बरेली में प्रारंभिक शिक्षा प्रारम्भ।
सन् १८६६	काशी में (संवत् १९२३ के आरम्भ में) यज्ञोपवीत संस्कार संपन्न।
सन् १८७३	दिसम्बर (पौष संवत् १९३०) में क्वींस कालिज बनारस में उच्च शिक्षा के लिये प्रवेश।
सन् १८७५	दिसम्बर (पौष संवत् १९३२) को बनारस में अंधविश्वास के जीवन की समाप्ति।
सन् १८७७	जालन्धर के प्रसिद्ध साहूकार और तहसीलदार श्री राय शालिग्राम की पुत्री शिवदेवी जी से विवाह।
सन् १८७९	अगस्त (१४ श्रावण संवत् १९३६) को बरेली के टाउन हाल में महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रथम दर्शन।
सन् १८८०	दिसम्बर (पौष) में कानून की परीक्षा की तैयारी के लिये लाहौर प्रस्थान तथा कानून की कक्षाओं में प्रवेश।
सन् १८८१	पुत्री वेदकुमारी का जन्म।
सन् १८८४	माघ संवत् १९४१ रविवार के दिन 'सत्यार्थप्रकाश' से प्रभावित होकर आर्यसमाज का सभासद् बनने का निर्णय।
सन् १८८६	१. मार्च में जालन्धर में सनातनधर्मी पंडित श्यामदास के साथ शास्त्रार्थ। २. २६ जून (१२ आषाढ़ संवत् १९४३) को तलवन ग्राम में पिता श्री नानकचन्द जी का स्वर्गवास। ३. आर्यसमाज के सक्रिय सदस्य तथा जालन्धर की आर्यसमाज के प्रधान निर्वाचित।
सन् १८८७	(१) जून-जुलाई में पंडित दीनदयालु जी से मुठभेड़। (२) अगस्त में बम्बई की प्रथम यात्रा (सपत्नीक)। (३) २७ नवम्बर रविवार को प्रातः १० बजे प्रथम पुत्र हरिश्चन्द्र का जन्म।
सन् १८८८	(१) फरवरी में वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की। तत्पश्चात् १८ फरवरी को जालन्धर आकर वकालत प्रारम्भ।

	(२) मई में नेशनल पोलिटिकल कांग्रेस के साथ सम्बन्ध स्थापित ।
सन् १८८९	(१) १९ फरवरी को **'सद्धर्म-प्रचारक'** (उर्दू) का प्रकाशन आरम्भ । (२) ९ नवम्बर को द्वितीय पुत्र इन्द्र का जन्म ।
सन् १८९०	जालन्धर में लाला देवराज जी के साथ मिलकर कन्या विद्यालय की स्थापना ।
सन् १८९१	(१) जनवरी में मियां शिवसिंह की ओर से मुकदमे की पैरवी के लिए सुकेत-यात्रा । (२) ३१ अगस्त (१५ भाद्रपद संवत् १९४८) को पत्नी का स्वर्गवास ।
सन् १८९२	**आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब** के प्रधान निर्वाचित ।
सन् १८९८	(१) अगस्त में गुरुकुल खोलने तथा उसके लिये ३० हजार रुपया एकत्र करने का संकल्प । (२) अक्तूबर से **'आर्य मुसाफिर'** नाम से उर्दू पत्र का संचालन एवं संपादन । (३) २६ से ३० नवम्बर तक वच्छोवाली आर्यसमाज में श्री गोपीनाथ के साथ **'वेद किन ग्रन्थों का नाम है'** विषय पर शास्त्रार्थ ।
सन् १९००	८ अप्रैल को गुरुकुल के लिये ३० हजार रुपये एकत्र करने की भीष्म प्रतिज्ञा ४० हजार रुपये एकत्र करके पूर्ण की ।
सन् १९०१	नवम्बर में पुत्री अमृतकला का डॉ० सुखदेव जी के साथ जातिबंधन तोड़ कर विवाह कराया ।
सन् १९०२	(१) २ मार्च को कांगड़ी ग्राम में गुरुकुल कांगड़ी की **स्थापना** । (२) १९ दिसम्बर को प्रेस और 'सद्धर्म प्रचारक' हरिद्वार ले आया गया ।
सन् १९०३	१० से १३ मार्च तक गुरुकुल का प्रथम वार्षिकोत्सव सम्पन्न ।
सन् १९०७	१ मार्च को **'सद्धर्म प्रचारक'** को हिन्दी में निकालना शुरू किया ।
सन् १९०९	(१) १३ फरवरी को मुलतान में गुरुकुल की स्थापना । (२) अप्रैल में **सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा** के प्रथम प्रधान निर्वाचित ।
सन् १९११	फरवरी में श्री सी० एफ० ऐण्ड्रूज से प्रथम परिचय ।
सन् १९१२	अप्रैल (१ वैशाख संवत् १९६९) में गुरुकुल कुरुक्षेत्र की स्थापना ।
सन् १९१३	(१) २२-२३ आश्विन संवत् १९७० को दिल्ली में अखिल भारतवर्षीय आर्यकुमार सम्मेलन के चौथे अधिवेशन के सभापति ।

९५.६
२:५
D6614

(२) ६ दिसम्बर को भागलपुर में आयोजित हिन्दी साहित्य सम्मेलन के चौथे अधिवेशन का सभापतित्व ।

(३) गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ की स्थापना ।

(४) लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन से गुरुकुल-आगमन पर प्रथम भेंट ।

सन् १९१५ (१) ८ अप्रैल को गुरुकुल में महात्मा गाँधी से प्रथम भेंट तथा अभिनन्दन समारोह में उन्हें 'मिस्टर गाँधी' के बजाय '**महात्मा गाँधी**' कह कर सम्बोधित किया ।

(२) रोहतक जिले में मटिण्डू गाँव में गुरुकुल की स्थापना ।

सन् १९१६ २१ अक्टूबर को वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड का गुरुकुल में आगमन तथा महात्मा जी द्वारा स्वागत ।

सन् १९१७ (१) ११ अप्रैल को गुरुकुल से विदाई ।

(२) १२ अप्रैल को मायापुर वाटिका (कनखल) में संन्यास-आश्रम में प्रवेश तथा स्वामी श्रद्धानन्द नाम ग्रहण ।

सन् १९१८ (१) धौलपुर (राजस्थान) में आर्यसमाज मन्दिर का कुछ भाग गिराने के विरोध में सत्याग्रह ।

(२) ३ मई को गढ़वाल के दुर्भिक्ष पीड़ितों के लिये सहायता-कार्य हेतु प्रस्थान ।

सन् १९१९ (१) ७ मार्च को दिल्ली में सत्याग्रह की तैय्यारी के लिये आयोजित प्रथम सार्वजनिक सभा में पहला राजनीतिक भाषण ।

(२) ३० मार्च को 'रॉलेट एक्ट' के विरोध में दिल्ली में निकले जलूस का नेतृत्व तथा घण्टाघर के सामने गोरों की संगीनों का सामना ।

(३) ४ अप्रैल को जामा मस्जिद के मिम्बर से ऐतिहासिक भाषण ।

(४) आश्विन बदी द्वादशी संवत् १९७६ को लुधियाना जिले में गुरुकुल रायकोट की स्थापना ।

(५) २६ दिसम्बर को अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष के रूप में भाषण ।

(४) २ मई को महात्मा गाँधी से मतभेद के कारण सत्याग्रह-कमेटी से त्यागपत्र ।

सन् १९२० (१) ११ फरवरी को दो वर्ष के लिये पुनः गुरुकुल में पदार्पण ।

(२) गुरुकुल से 'श्रद्धा' साप्ताहिक का प्रकाशन ।

(३) २२ अक्टूबर को गुरुकुल के स्थिर कोष हेतु चन्दा एकत्र करने के लिये बर्मा की यात्रा ।

(४) नागपुर-कांग्रेस में अछूतोद्धार का कार्यक्रम प्रस्तुत ।

सन् १९२१ (१) अप्रैल में पं० मोतीलाल नेहरू की सुपुत्री के विवाह में सम्मिलित होने के लिये इलाहाबाद-गमन।

(२) अक्टूबर में गुरुकुल से पुनः प्रस्थान।

(३) ३ से ५ नवम्बर को दिल्ली में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में सम्मिलित।

(४) ७–८ नवम्बर को हिन्दुओं की एक कांफ्रैंस द्वारा असहयोग आन्दोलन के लिये संगठित उपसमिति के सभापति मनोनीत।

सन् १९२२ १० सितम्बर को गुरु का बाग सत्याग्रह में शामिल होने लिये अमृतसर आगमन तथा २६ अक्टूबर को इसी कारण 'मियां वाली' जेल की यात्रा।

सन् १९२३ (१) कांग्रेस के कार्य से अलग।

(२) १३ फरवरी को आगरा में भारतीय हिन्दू शुद्धि-सभा की स्थापना।

(३) १३ अप्रैल को दिल्ली से प्रो० इन्द्र के संपादकत्व में दैनिक 'अर्जुन' का प्रकाशन।

(४) जुलाई में 'हिन्दू महासभा' में प्रवेश।

(५) १८ से २६ अगस्त तक काशी में हिन्दु महासभा के अधिवेशन में सम्मिलित तथा हिन्दू संगठन का कार्य प्रारम्भ।

(६) ८ नवम्बर को दिल्ली में कन्या गुरुकुल की स्थापना (इसी को बाद में देहरादून लाया गया)।

सन् १९२४ (१) महात्मा गांधी के व्यक्तिगत निमंत्रण पर बेलगांव-कांग्रेस में दर्शक के रूप में सम्मिलित।

(२) १८ फरवरी को गुरुकुल सूपा की स्थापना।

(३) २५ अप्रैल को मद्रास की प्रथम धर्म-यात्रा के लिये प्रस्थान।

(४) २–३ मई को पूना में व्याख्यान और महाराष्ट्र-प्रान्तीय-राष्ट्रीय-शिक्षण परिषद् का सभापतित्त्व।

(५) ९ मई को कालीकट-वायकोम में दलित जातियों द्वारा अपने लिये मन्दिरों के आसपास की सार्वजनिक सड़कों पर आवागमन की रोक के विरोध में किये जाने वाले सत्याग्रह में सहयोग।

(६) २० मई को मद्रास के गोखले हॉल में व्याख्यान।

सन् १९२५ (१) मार्च में मथुरा में श्रीमद्दयानन्द-जन्म-शताब्दी का नेतृत्व।

(२) २४ जून को हिन्दू महासमा से त्याग-पत्र।

(३) ८ जुलाई से १४ अगस्त तक आर्यसमाज के संगठन को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से पंजाब का विस्तृत दौरा।

(४) ३० अक्टूबर से ३० नवम्बर तक दक्षिण भारत की दूसरी धर्मयात्रा।

(५) ३० अक्टूबर से १ नवम्बर तक नवसारी (गुजरात) में स्थानीय दयानन्द-जन्म-शताब्दी में सम्मिलित ।

सन् १९२६ (१) मार्च के दूसरे सप्ताह में दिल्ली में आयोजित हिन्दू-सभा-कान्फ्रैंस में सम्मिलित तथा विषय-नियामक-समिति में प्रस्तुत ‘महासभा के टिकट पर कौंसिलों के लिये उम्मीदवार खड़े करने’ विषयक प्रस्ताव का स्पष्ट विरोध किया ।

(२) २५ मार्च को असगरी बेगम (शांतिदेवी) की बच्चों सहित शुद्धि ।

(३) १ अप्रैल से साप्ताहिक ‘लिबरेटर’ (अंग्रेजी) का प्रकाशन प्रारम्भ ।

(४) २३ दिसम्बर को सायंकाल ४ बजे दिल्ली में अब्दुलरशीद की गोलियों से बलिदान ।

लाला मुंशीराम जी की वंशावली

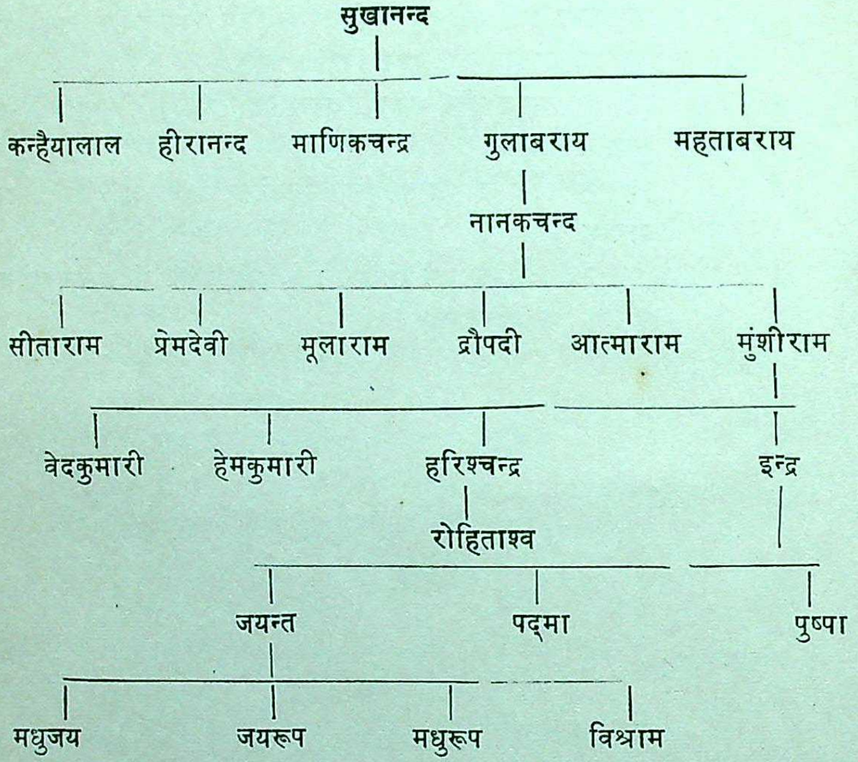
सुखानन्द
कन्हैयालाल
हीरानन्द
माणिकचन्द्र
गुलाबराय
महताबराय
नानकचन्द
सीताराम
प्रेमदेवी
मूलाराम
द्रौपदी
आत्माराम
मुंशीराम
वेदकुमारी
हेमकुमारी
हरिश्चन्द्र
इन्द्र
रोहिताश्व
जयन्त
पद्मा
पुष्पा
मधुजय
जयरूप
मधुरूप
विश्राम

साहित्य-सेवा

✓ स्वामी श्रद्धानन्द जी (संन्यास से पूर्व महात्मा मुंशीराम जी) ने वैदिक धर्म और आर्यसमाज का प्रचार-प्रसार करने तथा जनसामान्य तक अपने क्रान्तिकारी एवं सुधारवादी विचारों को पहुँचाने के उद्देश्य से हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी भाषा में छोटी-बड़ी कई पुस्तकों की रचना की और उन्हें स्वयं ही प्रकाशित भी करवाया। इसके अतिरिक्त उन्होंने कतिपय साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किये। प्रारम्भिक वर्षों में उन्होंने जो कुछ लिखा वह प्रायः उर्दू भाषा में ही था, परन्तु गुरुकुल की स्थापना के बाद उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी में लिखना आरम्भ कर दिया और हिन्दी वाङ्मय की श्रीवृद्धि की। उनकी कृतियों का विवरण (पुस्तक का नाम, प्रकाशन वर्ष एवं प्रकाशन स्थान) नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

हिन्दी-पुस्तकें

१. आर्य संगीतमाला, १९००, जालन्धर
२. ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार (प्रथम भाग), १९१०, गुरुकुल कांगड़ी, पृष्ठ ४७२
३. वेदानुकूल संक्षिप्त मनुस्मृति, १९११, गुरुकुल कांगड़ी
४. पारसीमत और वैदिक धर्म १९१६, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, कांगड़ी, पृष्ठ ४०
५. मातृभाषा का उद्धार, १९१६, सद्धर्म प्रचारक यंत्रालय दिल्ली, पृष्ठ ३९
६. वेद और आर्यसमाज, १९१६, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, कांगड़ी, पृष्ठ ४०
७. आर्यों की नित्यकर्मपद्धति, १९१६, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, कांगड़ी
८. पञ्च महायज्ञ विधि, १९१६, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, कांगड़ी
९. विस्तार पूर्वक सन्ध्या-विधि (लाला ज्वालासहाय की उर्दू पुस्तक का हिन्दी अनुवाद), १९१६, दिल्ली
१०. आचार, अनाचार और छूतछात, १९१६, दिल्ली
११. ईसाई पक्षपात और आर्यसमाज, १९१६, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, कांगड़ी
१२. उत्तराखण्ड की महिमा अर्थात् गढ़वाल प्राचीन और अर्वाचीन (जिसके साथ कुरुक्षेत्र माहात्म्य भी लगा दिया गया है), १९१७, दिल्ली
१३. मानव धर्मशास्त्र तथा शासनपद्धति, १९१७, प्रचारक पुस्तक भण्डार, शामपुर, कांगड़ी

१४. आदिम सत्यार्थप्रकाश और आर्यसमाज के सिद्धान्त, १९१७, सद्धर्म प्रचारक यंत्रालय, दिल्ली, पृष्ठ १०४

१५. जाति के दीनों को मत त्यागो, १९१९, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, दिल्ली, पृष्ठ ७६

१६. गढ़वाल में १९७५ विक्रमी का दुर्भिक्ष और उसके निवारणार्थ गुरुकुल दल का कार्य, १९१९, विजय प्रेस, दिल्ली, पृष्ठ ७५

१७. बन्दीघर के विचित्र अनुभव (गुरु का बाग सत्याग्रह के सम्बन्ध में अपनी जेलयात्रा का रोचक वर्णन), १९२३, सद्धर्म प्रचारक यन्त्रालय, दिल्ली

१८. कल्याणमार्ग का पथिक (आत्मकथा), १९२४, ज्ञानमण्डल कार्यालय, काशी, पृष्ठ २१५

१९. हिन्दुओ सावधान, तुम्हारे धर्म-दुर्ग पर रात्रि में छिप कर धावा बोला गया, १९२४, दिल्ली

२०. वर्तमान मुख्य समस्या, अछूतपन के कलंक को दूर करो, १९२४, दिल्ली

२१. आर्य पथिक लेखराम, १९२५, गोविन्दराम हासानन्द, कलकत्ता

२२. मुक्ति-सोपान, १९२५, लाहौर

२३. आर्यों के नित्यकर्म, राजपाल एण्ड सन्स, लाहौर

२४. धर्मोपदेश (स्वामी जी के उपदेशों एवं व्याख्यानों का संग्रह), तीन खण्डों में, संपादक लाला लब्भूराम नय्यड़, गुरुकुल कांगड़ी

उर्दू-पुस्तकें

१. वर्णव्यवस्था, १८९१, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर, पृष्ठ ६७

२. एक मांस प्रचारक महापुरुष की गुप्तलीला का प्रकाश, १८९५, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर, पृष्ठ ६२

३. क्षात्र धर्म पालन का गैर मामूली वाक्य, १८९५, जालन्धर

४. यज्ञ का पहला अङ्ग (स्वस्तिवाचन और शान्तिप्रकरण का उर्दू अनुवाद), १८९७, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर, पृष्ठ ३८

५. उपदेशमञ्जरी, १८९८, जालन्धर

६. आर्यसमाज के खानाजाद दुश्मन (सद्धर्म प्रचारक में छपे लेखों का संग्रह), १८९८, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर, पृष्ठ २७२

७. सुबह-ओ-मीद (वेदों के विभिन्न टीकाकारों और स्वामी दयानन्द की भाष्य शैली और वेदों की महत्ता का विवेचन), १८९८, लाहौर

८. पुराणों की नापाक तालीम से बचो, १८९९, जालन्धर

९. सद्धर्मप्रचारक पर पहला लायबल केस, १९०१, जालन्धर

१०. महात्मा मुंशीराम के सात लेक्चरों का मजमूआ, १९०४, लाहौर, पृष्ठ ११०

११. दुःखी दिल की पुरदर्द दास्तान, १९०६, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर, पृष्ठ ५४
१२. मेरी जिन्दगी के नशेबोफराज (स्वामी जी की आत्मकथा), १९११, जालन्धर
१३. हिन्दु मुस्लिम इत्तहाद की कहानी, १९२४, तेज प्रेस, दिल्ली, पृष्ठ ४८
१४. अन्धा एतकाद और खुफिया जिहाद, १९२४, तेज प्रेस, दिल्ली, पृष्ठ १४४
१५. मुहम्मदी साजश का इन्कशाफ, १९२४, तेज प्रेस, दिल्ली, पृष्ठ ९६
१६. अच्छूतोद्धार एक फोरी मसला
१७. मेरा आखिरी मश्वरा
१८. दाइये इस्लाम या तबाहिये इस्लाम

अंग्रेजी-पुस्तकें

१. द फ्यूचर ऑफ आर्यसमाज—ए फोरकास्ट, १८९३, लाहौर
२. द आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स-ए विण्डीकेशन, १९१०, गुरुकुल कांगड़ी
३. हिन्दू संगठन-सेवियर ऑफ द डाईंग रेस, १९२६, दिल्ली
४. इनसाइड कांग्रेस (स्वामी जी के १ अप्रैल से २८ अक्टूबर १९२६ के बीच 'लिबरेटर' में प्रकाशित २६ लेखों का संग्रह), १९४६, फिनिक्स पब्लिकेशन बम्बई; पुनर्मुद्रण १९८४, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली

पत्र-पत्रिकाएँ

१. सद्धर्म प्रचारक, उर्दू, १९ फरवरी १८८९ से २८ फरवरी १९०७ तक, जालन्धर
२. सद्धर्मप्रचारक, हिन्दी, १ मार्च १९०७ से १९१५ तक, गुरुकुल कांगड़ी
३. श्रद्धा, हिन्दी, १९२०–२१, दिल्ली
४. लिबरेटर. अंग्रेजी, १९२६, दिल्ली

कुटुम्बिजन : एक परिचय

लाला नानकचन्द—पिता। ये धार्मिक प्रवृत्ति के, ईश्वरपरायण तथा कट्टर पौराणिक थे, पर बाद में अपने पुत्र मुंशीराम की प्रेरणा एवं सत्यार्थप्रकाश के श्रवण-मात्र से विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया। गदर के दिनों में इन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की बहुत सहायता की, जिसके परिणामस्वरूप सरकार ने उन्हें क्रमशः सूबेदार मेजर और पुलिस इन्सपेक्टर के पदों पर पदोन्नत कर दिया था। इनका कार्यक्षेत्र प्रमुख रूप से उत्तरप्रदेश (बरेली, वाराणसी, बलिया, बदायूँ आदि) ही रहा। इनके चार पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं, जिनमें मुंशीराम सबसे छोटे थे। इनका निधन तलवन (जालन्धर) में हुआ था

शिवदेवी—पत्नी। जालन्धर के सुप्रसिद्ध रईस और साहूकार राय सालिगराम जी की सुपुत्री तथा रायजादा भक्तराम और कन्या महाविद्यालय जालन्धर के संचालक लाला देवराज जी की बहिन थीं। लाला मुंशीराम के साथ इनका विवाह सन् १८७८ में संपन्न हुआ था। ये पतिपरायण और सती-साध्वी देवी थीं। इनके स्नेहमय पातिव्रत्य और औदार्य ने मुंशीराम जी के जीवन को सन्मार्ग की ओर प्रेरित किया। इनका निधन सन् १८९१ में तलवन में हो गया था।

हरिश्चन्द्र विद्यालंकार—ज्येष्ठ पुत्र। इनका जन्म सन् १८८७ में जालन्धर में हुआ था। इनकी शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल में संपन्न हुई और स्नातक बनने के बाद लगभग एक वर्ष तक गुरुकुल में ही **तुलनात्मक धर्म व साहित्य** के उपाध्याय रहे और तत्पश्चात् दिल्ली में 'सद्धर्म प्रचारक' और 'विजय' के संपादक बने। इनका विवाह जातपात तोड़कर सुभद्रा जी के साथ हुआ था। सन् १९१४ में राजा महेन्द्रप्रताप के साथ यूरोप गये और अमेरिका में भारतीय गदर पार्टी के सक्रिय संयोजक बने। इन्होंने **संस्कृत प्रवेशिका** (प्रथम भाग) की रचना की और वाल्मीकि-रामायण का डच भाषा में अनुवाद किया। छात्रावस्था से ही इन्हें पत्रकारिता व मौलिक लेखन के प्रति विशेष रुचि थी तथा ये प्रभावशाली वक्ता और स्वतंत्र विचारक थे। इनका विदेश में ही निधन हो गया।

इन्द्र विद्यावाचस्पति—कनिष्ठ पुत्र। इनका जन्म ९ नवम्बर १८८९ को जालन्धर में हुआ था। गुरुकुल से वेदालंकार और विद्यावाचस्पति की उपाधियाँ प्राप्त करके वहीं संस्कृत साहित्य, तुलनात्मक आर्यसिद्धान्त व इतिहास के उपाध्याय नियुक्त हो गये। सन् १९१७ में गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के मुख्याधिष्ठाता, सन् १९२० में गुरुकुल कांगड़ी के सहायक मुख्याधिष्ठाता तथा सन् १९३४ से १९६० तक वहीं के मुख्याधिष्ठाता एवं कुलपति रहे। इन्हें पत्रकारिता के प्रति विशेष रुचि थी और ये

बाल्यावस्था से हस्तलिखित पत्रिकायें निकाला करते थे। ये 'दैनिक सद्धर्म प्रचारक' 'विजय' साप्ताहिक, 'सत्यवादी' साप्ताहिक और 'नवराष्ट्र' के प्रकाशक व संपादक तथा 'जनसत्ता' के संपादक रहे। ये अनेक सभा-समितियों के प्रमुख सक्रिय कार्यकर्ता और पदाधिकारी भी रहे, जिनमें से कुछ ये हैं—हिन्दू पब्लिसिटी ट्रस्ट दिल्ली के मंत्री (१९२२ में), आर्य सम्मेलन की स्वागत समिति के प्रधान (१९२७ में), दिल्ली स्वदेशी संघ के प्रधान, अस्पृश्यता निवारक लीग के महामंत्री, दलितोद्धार सभा के मंत्री (१९३२ में), जिला व प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी दिल्ली के प्रधान (१९३५ में), दिल्ली कांग्रेस कनवेंशन के स्वागताध्यक्ष (१९३५ में), सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मंत्री (१९४३ में), दिल्ली म्यूनिसिपल कमेटी के सदस्य (१९४७ में), आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के मंत्री एवं प्रधान, अ० भा० हिन्दी पत्रकार संघ के प्रधान आदि विशिष्ट सेवाओं के कारण सन् १९५२ में राष्ट्रपति द्वारा राज्यसभा का सदस्य मनोनीत किया गया। इन्होंने एक दर्जन से अधिक पुस्तकों की रचना की, जो सर्वाधिक लोकप्रिय हुईं। प्रमुख रचनायें हैं—ऐतिहासिक मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण (दो खण्ड), भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त, भारत के स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, आर्यसमाज का इतिहास (तीन भाग), संस्कृत साहित्य का अनुशीलन, अपराधी कौन, शाह आलम की आँखें, जमींदार, सरला की भाभी, सरला, आत्मबलिदान, गुलाम कादिर, जीवन की झाकियाँ (३ भाग), पंडित जवाहरलाल नेहरु, मेरे पिता, मैं इनका ऋणी हूँ, मेरे पत्रकारिता सम्बन्धी अनुभव, ईशोपनिषद्भाष्य, वक्तृत्वकला की प्रगति, भारतैतिह्यम् आदि। सन् १९११ में जब आप महाविद्यालय के छात्र थे, सम्राट् जार्ज पंचम के राज्याभिषेक के अवसर पर 'सद्धर्म प्रचारक' का विशेषांक संपादित किया, जिसे स्वयं महात्मा गाँधी ने दरबार में प्रस्तुत किया था। इन्होंने स्वाधीनता-आन्दोलन के सिलसिले में तीन बार (सन् १९२७, १९३० और १९३२ में) जेलयात्रा भी की। कई बार ब्रिटिश सरकार के कोपभाजन होने के कारण अपने पत्र बंद करने पड़े, पर भयभीत होकर किसी प्रकार का समझौता नहीं किया। २३ अगस्त १९६० को दिल्ली में इनका निधन हो गया।

चन्द्रवती देवी—पुत्रवधू; श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति की पत्नी। इनका जन्म सन् १९०४ में हुआ था। इन्होंने सन् १९३२–३४ में सविनय अवज्ञा आंदोलन में सक्रिय भाग लिया और १५ सितम्बर १९३२ को इन्हें पाँच महीने का कारावास हुआ।

वेदकुमारी—सबसे बड़ी पुत्री। इनका जन्म सन् १८८१ में तलवन (जालन्धर) में हुआ था। इनका विवाह श्री धनीराम थापर के साथ सम्पन्न हुआ था। पिता और भाइयों की भाँति इन्होंने भी स्वतन्त्रता-संग्राम में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन (१९३०, १९३२–३४), वैयक्तिक सत्याग्रह (१९४१) और भारत छोड़ो आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया, जिसके कारण उन्हें २८ अगस्त १९३० को तीन महीने के, २ जुलाई १९३२ को साढ़े सात महीने के और १९४१ में डेढ़ वर्ष के कारावास का दण्ड दिया गया। सन् १९३१ में इन्होंने शराब बन्दी सत्याग्रह में गिरफ्तारी दी। सन् १९४२ में उन्हें डेढ़ वर्ष के लिये कारावास में रखा

गया। सन् १९४६ में वे कस्तूरबा नारी शिक्षा केन्द्र महरौली (दिल्ली) की अध्यक्षा रहीं और इसकी प्रगति में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इनका निधन सन् १९६५ में हुआ था।

अमृतकला—दूसरी पुत्री। इनका पूर्व-नाम हेमकुमारी था। इनका शुभ-विवाह डॉ० सुखदेव जी के साथ हुआ था। विवाह के बाद दो वर्ष के अन्दर ही इनका स्वर्गवास हो गया।

डॉ० सुखदेव—छोटे दामाद। इनका जन्म सन् १८७२ में हुआ था। इनके पिता श्री गोविन्दराम जी थे। इनका अमृतकला जी के साथ जात-पात-बन्धन रहित विवाह हुआ था। इन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन (१९३०, १९३२–३४), वैयक्तिक सत्याग्रह (१९४१) और भारत छोड़ो आन्दोलन (१९४२) में सक्रिय भाग लिया। ये पहले सरकारी सेवा में थे, पर बाद में इसे छोड़कर गुरुकुल कांगड़ी में चिकित्सक के रूप में कार्य करने लगे और १५ वर्ष गुरुकुल की सेवा की। सन् १९२१ में प्रथम दलितोद्धार सभा का संयोजन किया तथा निराश्रित महिलाओं के लिये 'वनिता विश्राम आश्रम' की स्थापना की। सन् १९३० में नमक कानून तोड़ने पर इन्हें १ वर्ष का कारावास हुआ। सन् १९३३ में कलकत्ता में सरकार को चकमा देकर कांग्रेस अध्यक्ष बन कर राष्ट्रपति की भूमिका निबाही थी और फलस्वरूप लाठियाँ खाई थीं। सन् १९४२ के आन्दोलन में पाँच बार गिरफ्तारी दी। सन् १९४५ में इन्होंने गाँधी धर्मार्थ औषधालय, बदरपुर की स्थापना की। ये सच्चे समाज सुधारक, सुयोग्य चिकित्सक तथा सुप्रसिद्ध स्वतन्त्रता सेनानी थे। इनका निधन ७ मार्च १९६० को ९२ वर्ष की आयु में हुआ।

रोहिताश्व—पौत्र। श्री हरिश्चन्द्र विद्यालंकार के एकमात्र पुत्र थे। अविवाहित थे। इनका रायल एयर फोर्स में सन् १९४३ के महायुद्ध में फ्रांस में वायु दुर्घटना में निधन हो गया था।

जयन्त विद्यावाचस्पति : पौत्र। श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति के पुत्र। सन् १९१९ से १९४२ तक 'वीर अर्जुन' साप्ताहिक के सम्पादक रहे। सन् १९४० में व्यक्तिगत सत्याग्रह में एक वर्ष का कारावास हुआ। सन् १९४२ में दिल्ली, पंजाब तथा सीमा-प्रान्त में क्रान्तिकारी दलों का संगठन बनाया तथा एक वर्ष राजनीतिक भगोड़ा रहने के बाद मार्च १९४३ में लाहौर में गिरफ्तार हो गये, सवा तीन महीने कारागार में तथा सवा दो वर्ष नजरबन्द रहे। सन् १९५५ से १९७५ तक दिल्ली नगर निगम और भारतीय खाद्य निगम में कैमरामैन के रूप में कार्य किया। आजकल स्वतन्त्र लेखन तथा फोटोग्राफी में व्यस्त हैं। लगभग १५ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी पत्नी उमा भी लेखिका हैं और 'मधुरानी' के नाम से पत्र-पत्रिकाओं में लिखती हैं।

पुष्पा विद्यालंकृता : पौत्री; श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति की पुत्री। इनका जन्म

२२ जून १९२५ को दिल्ली में हुआ था। कन्या गुरुकुल देहरादून से सन् १९४४ में विद्यालंकृता करने के बाद आगरा से बी० ए० किया। कई शिक्षा-संस्थाओं में मुख्याध्यापिका रहीं। गुरुकुल की विद्यासभा और सीनेट की अनेक वर्षों तक सदस्य रहीं। कहानी एवं उपन्यास-लेखन में इनकी विशेष अभिरुचि है। इस समय पीलीभीत में निजी कृषि-फार्म का संचालन कर रही हैं।

सत्यकाम विद्यालंकार : दौहित्र, श्रीमती वेदकुमारी जी के ज्येष्ठ पुत्र। इनका जन्म सन् १९०५ में लाहौर में हुआ था। सन् १९२५ में गुरुकुल से विद्यालंकार उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् 'वीर अर्जुन' दैनिक (१९२६ में), 'नवयुग' (१९३१ में), 'आपबीती', 'धर्मयुग' (१९५०–६०) तथा 'नवनीत' हिन्दी डाइजेस्ट (१९६१–७१) के सम्पादक रहे। इस समय स्वतन्त्र लेखन में व्यस्त हैं। सफल पत्रकार, हिन्दी के ख्याति-प्राप्त लेखक व कवि हैं। अनेक कृतियों की रचना की है, जिनमें प्रमुख हैं : चरित्र निर्माण, जीवन साथी, सोमा, मुक्ता, चेयरमैन, देवता का दान, राष्ट्र-पुरुष, मानसिक शक्ति, वैदिक वन्दना गीत, आठ सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, सफलता के सूत्र, जीवन रश्मि, शिवाजी, सरदार पटेल, देश-देशान्तर, ईरान आदि। वेदों का अंग्रेजी में अनुवाद कर रहे हैं। सन् १९२६ में 'अर्जुन' में सरकार की दृष्टि में आपत्तिजनक लेख व समाचार छापने के कारण जेलयात्रा करनी पड़ी।

सत्यवती : दौहित्री, वेदकुमारी जी की बड़ी पुत्री। इनका जन्म सन् १९०६ में हुआ था। ये दिल्ली की प्रथम महिला सत्याग्रही थीं। महात्मा गाँधी जी इन्हें 'तूफानी' कहते थे। इन्होंने महिलाओं में राजनीतिक जागृति पैदा करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। ये कांग्रेस युवा सेना की संयोजिका तथा दिल्ली कांग्रेस समाजवादी दल के संस्थापकों में प्रमुख थीं। इन्होंने सविनय अवज्ञा आदोलन (१९३०,१९३२–३४), वैयक्तिक सत्याग्रह (१९४०) और भारत छोड़ो आंदोलन (१९४२) में सक्रिय भाग लिया। परिणामतः सन् १९३० में दिल्ली कचहरी पर झण्डा फहराने पर गिरफ्तार हुईं और ६ महीने जेल में रहीं। सन् १९३२ में असहयोग आंदोलन में भाग लेने के कारण गिरफ्तार हुईं और पहले ७$\frac{1}{2}$ महीने की सजा हुई और रिहा होते ही पुनः डेढ़ वर्ष का कारावास हुआ। तत्पश्चात् सन् १९४० में एक वर्ष और सन् १९४२ में एक वर्ष से अधिक के लिये बंदी बनाया गया। सन् १९४२ में वे अपने पुत्र कृष्णकुमार और पुत्री के साथ जेल गईं। उसी समय जेल-भवन पर झण्डा फहराया। सन् १९४५ में प्रतिबन्धों का उल्लंघन करने के कारण पुनः जेल जाना पड़ा। वहीं अस्वस्थता के कारण चिकित्सालय में प्रविष्ट कराया गया और कुछ ही समय बाद २१ अक्टूबर १९४५ को उनका स्वर्गवास हो गया। अंग्रेज सरकार ने इन्हें कुल मिला कर १३ बार गिरफ्तार किया।

उषादेवी : दौहित्री, वेदकुमारी जी की दूसरी पुत्री। सन् १९३१ में असहयोग आंदोलन में भाग लेने के कारण इन्हें जेल-यात्रा करनी पड़ी। १९४२ में भारत

छोड़ो आदोलन में दिल्ली और पंजाब के क्रांतिकारियों का संगठन बनाया तथा राजनीतिक पीड़ितों की सेवा की। सन् १९४७ में देश के विभाजन के समय आतंकित मुस्लिम महिलाओं को अपने घर आश्रय दिया और उन्हें सुरक्षित स्थानों पर पहुँचाया। शरणार्थियों को दवाई एवं कंबल आदि उपलब्ध न होने पर केन्द्रीय स्वास्थ्यमंत्री राजकुमारी अमृतकौर से संघर्ष किया और गाँधी जी द्वारा मध्यस्थता करने पर मामले का निपटारा हुआ। सन् १९४८ में इनका स्वर्गवास हो गया।

कौशल्या लाल : दौहित्री, वेदकुमारी जी की तीसरी पुत्री। इनका जन्म सन् १९१३ में हुआ था। अपनी अन्य बहिनों की भाँति इन्होंने भी स्वतंत्रता-आन्दोलन में भाग लिया। इन्हें विभिन्न आन्दोलनों के सिलसिले में ९ जनवरी १९३१ को छः महीने की, ८ जुलाई १९३२ को ७½ महीने की और १९ अगस्त १९४२ को छः महीने की जेलयात्रा भी करनी पड़ी। इनका विवाह श्री चमनलाल जर्नलिस्ट से हुआ था।

स्वर्णलता : दौहित्री, वेदकुमारी जी की चौथी पुत्री। अपनी बहिन सत्यवती जी के साथ सन् १९३० से १९३५ तक सभी राजनीतिक आन्दोलनों में सक्रिय रूप से भाग लिया, पर अल्पायु होने के कारण इन्हें गिरफ्तार नहीं किया गया। आजकल स्वतंत्र लेखन और स्वाध्याय में व्यस्त हैं।

बलभद्र विद्यालंकार : दौहित्री सत्यवती के पति। सन् १९१६ में गुरुकुल से विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् वहीं गणित एवं विज्ञान के अध्यापक नियुक्त हो गये। कुछ समय तक बिड़ला मिल के रंगाई विभाग में भी कार्य किया तथा दिल्ली में स्वतंत्र व्यवसाय भी चलाया। देश और समाज की सेवा में विशेष अभिरुचि लेते हैं।

अर्जुनदेव विद्यालंकार : दौहित्री उषादेवी के पति। इनका जन्म २१ जनवरी १९०० में अमीपुर (लायलपुर) में हुआ। १९२१ में गुरुकुल से विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त करने के बाद कई वर्षों तक स्वतंत्र व्यवसाय किया। गुरुकुल कुरुक्षेत्र के अवैतनिक मुख्याधिष्ठाता रहे। अनेक वर्षों तक गुरुकुल फार्मेसी के व्यवसायाध्यक्ष पद पर कार्य किया। आर्यसमाज और गुरुकुलों की सेवा उनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य था। इनका निधन २९ मार्च १९८३ को वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर में हुआ।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार : दौहित्री स्वर्णलता के पति। इनका जन्म ४ दिसम्बर १९०४ को कोट अद्दू (पाकिस्तान) में हुआ था। सन् १९२६ में गुरुकुल का स्नातक बनने के बाद इतिहास में अनुसंधान किया और 'ज्योति' के सह संपादक (१९२६-३०) रहे, लाहौर से दैनिक 'जन्मभूमि' का प्रकाशन व संपादन किया और विश्व साहित्य ग्रन्थमाला का संगठन, संचालन व संपादन (१९३२-४७) किया। १९४८ से १९५४ तक भारत सरकार के विदेशी मामलों के मासिक पत्र 'विश्वदर्शन' के तथा १९५५ से १९६३ तक 'आजकल' मासिक के संपादक रहे। इसके बाद से स्वतंत्र लेखन में व्यस्त। इन्होंने अनेक कहानी संग्रह और नाटक लिखे हैं। इनके अतिरिक्त ज्ञान-

विज्ञान की अनेक पुस्तकों की रचना की है। इनकी प्रमुख रचनायें हैं—चन्द्रकला, भय का राज्य, अमावस, तीन दिन, वापसी, पहला नास्तिक, गहरे अन्धेरे में, मेरी प्रिय कहानियाँ (सभी कहानी संग्रह), अशोक, रेवा, न्याय की राह, हिन्दुस्तान जाकर कहना, शिव सती, गौरीशंकर (सभी नाटक), आजकल, आज का मानव समाज, वच्चन, उत्कीर्ण पथ चिह्न, स्वीडन, चौथी दुनियाँ और उसके आसपास आदि। नेहरू जी के ३० भाषणों का और सरदार पटेल की 'भारत की एकता का निर्माण' का संपादन भी किया। इसके अलावा विदेशी लेखकों की कुछ पुस्तकों का अनुवाद भी किया है। इन्होंने विभिन्न देशों के जनजीवन, चिन्तन तथा आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करने के लिये स्वीडन, रूस, इंगलैंड, जर्मनी, फ्रांस, आस्ट्रिया, डेनमार्क, हॉलैण्ड, फिनलैण्ड का भ्रमण किया है। लेखन एवं संपादन के अतिरिक्त समाज-सेवा संबंधी कार्यों में भी इनकी विशेष रुचि थी। लाहौर में हिन्दी की प्रमुख संस्था 'हिन्दी समाज' के संगठनकर्ता एवं संचालक ये ही थे। १९४५ में महात्मा गाँधी ने 'भारतीय साहित्य परिषद्' की कार्यसमिति में इन्हें पंजाब का प्रतिनिधि मनोनीत किया था। इनके सभी कहानी-संग्रह और नाटक विभिन्न संस्थाओं एवं सरकारों द्वारा पुरस्कृत हो चुके हैं। इन्हें दिल्ली राज्य द्वारा १९७३ के सर्वश्रेष्ठ लेखक के पुरस्कार, सोवियत लैण्ड के १९७४ के नेहरू एवार्ड तथा पंजाब सरकार द्वारा १९७५-७६ के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी लेखक के रूप में सम्मानित किया जा चुका है।

धर्मवीर विद्यालंकार : पौत्री पुष्पा के पति। इनका जन्म १५ अगस्त १९२० को मुलतान में हुआ था। १९४१ में गुरुकुल का स्नातक बनने के बाद गुरुकुल कुरुक्षेत्र में विज्ञान के शिक्षक (१९४१) रहे। १९४४-५१ के दौरान पंजाब नेशनल बैंक में कार्यरत रहे। इसके बाद से पीलीभीत में स्वतंत्र कृषि-कार्य में लगे हुये हैं। दो-तीन वर्ष गुरुकुल में सहायक मुख्याधिष्ठाता के पद पर कार्य किया। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक महाविद्यालय टँकारा में आचार्य हैं। सेवाग्राम वर्धा में पशुपालन व कृषि का अध्ययन किया है। कांग्रेस और आर्यसमाज की गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लिया। पीलीभीत में आर्यसमाज अशोकनगर की स्थापना की और उसके मन्त्री व प्रधान रहे हैं। जिला उपप्रतिनिधि सभा पीलीभीत के कई वर्ष तक प्रधान रहे हैं। फोटोग्राफी, लेखन आदि में विशेष अभिरुचि है। इन्होंने कृषि में विज्ञान का महत्त्व' नामक पुस्तक भी लिखी है।

स्वामी श्रद्धानन्द का उत्कृष्ट स्मारक
गुरुकुल कांगड़ी

[स्वामी जी का देहान्त हुआ ही नहीं हैं। देहान्त तो तब होगा जब हम उनकी सच्ची देह को मिटाने की कोशिश करेंगे अगर्चे कि सच्ची बात तो यह है कि हमारी कोशिश से भी उनकी देह का नाश होने का नहीं हैं। जब तक यह गुरुकुल कायम है, जब तक एक भी स्नातक गुरुकुल की सेवा करता है तब तक स्वामी जी जीते ही हैं। स्वामी जी का शरीर तो किसी दिन गिरने को था ही। पर स्वामी जी का सबसे बड़ा काम तो गुरुकुल है। उन्होंने अपनी सारी शक्ति इसमें लगा दी थी, इसे पैदा करने में उन्होंने अधिक से अधिक तपश्चर्या की थी।]—**महात्मा गांधी**]

महर्षि दयानन्द के निर्वाण के बाद उनके कुछ अनुयायियों—जिसमें पण्डित गुरुदत्त और लाला जीवनदास भी सम्मिलित थे— ने ८ नवम्बर १९८३ को लाहौर में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन करके यह प्रस्ताव पारित किया कि महर्षि द्वारा बताई गई शिक्षा प्रणाली को मूर्तरूप देने के उद्देश्य से उनके स्मारक के रूप में ऐंग्लो वैदिक स्कूलों एवं महाविद्यालयों की स्थापना की जाये। इस प्रस्ताव के पारित हो जाने के बाद दयानन्द ऐंग्लो वैदिक स्कूलों एवं कॉलिजों की स्थापना के निमित्त आवश्यक धनराशि, स्थान आदि की व्यवस्था के लिये सर्वविध प्रयास किये जाने लगे और सब प्रकार की तैयारी हो जाने पर १ जून, १९८६ को लाहौर में पहले दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक स्कूल की स्थापना कर दी गई। उस समय जब कि पंजाब में हिन्दी और संस्कृत को पूर्ण उपेक्षा की भावना से देखा जाता था और स्कूलों में हिन्दी की शिक्षा का यदि कहीं प्रबन्ध था भी तो वह अत्यन्त गौण था, इस स्कूल में हिन्दी, और संस्कृत प्रारम्भ से ही अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाई जाती थी और इसके विद्यार्थियों को वैदिक धर्म और आर्यसमाज के निकट संपर्क में आने का सुअवसर प्राप्त होता था। परन्तु शीघ्र ही डी० ए० वी० संस्था के संचालकों में वहाँ की शिक्षा-नीति के बारे में प्रबल मतभेद शुरु हो गया। कुछ लोग—जिनमें लाला लाजपतराय, लाला लालचन्द और महात्मा हंसराज भी शामिल थे—यह नहीं मानते थे कि इस संस्था की स्थापना केवल संस्कृत, हिन्दी एवं वैदिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के लिये ही की गई है, वरन् उनके मत में इसे एक ऐसी शिक्षण-संस्था के रूप में विकसित किया जाना चाहिये जिसमें हिन्दी, संस्कृत आदि के साथ-साथ उस समय के सरकारी व क्रिश्चियन शिक्षणालयों में प्रचलित आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की भी व्यापक शिक्षा दी जाये, जबकि लाला रलाराम और लाला मुंशीराम आदि आर्यनेता डी० ए० वी० कालिज को संस्कृत तथा वेद-वेदांगों के अध्ययन-अध्यापन का केन्द्र बनाने के पक्षपाती थे। दोनों पक्षधरों में एतद्विषयक मतभेद दिन-प्रतिदिन बढ़ते चले गये, परिणामतः लाला मुंशीराम और उनके

सहयोगियों ने प्राचीन गुरुकुल शिक्षाप्रणाली को पुनर्जीवित करने के लिये गुरुकुल की स्थापना हेतु सन् १८९६ में आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। लाला मुंशीराम ने अपने पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' के माध्यम से इसके लिये प्रबल आन्दोलन किया और उसने 'संतान को आर्य क्यों-कर बना सकते हो ?' शीर्षक लेखमाला प्रकाशित करके गुरुकुल के सम्बन्ध में एक सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित योजना प्रस्तुत की। 'आर्य पत्रिका' एवं अन्य आर्यपत्रों ने भी इस योजना का जोरदार शब्दों में समर्थन किया तथा गुरुकुल की स्थापना विषयक विचार ने मूर्तरूप धारण करना आरम्भ कर दिया और लाला मुंशीराम जी की अपील पर एतद्विषयक प्रस्ताव आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के समक्ष प्रस्तुत किया गया। सभा ने अपने २६ नवम्बर १८९८ के अधिवेशन में इस प्रस्ताव को स्वीकृति प्रदान कर दी और उसकी योजना तैयार करने का कार्य लाला जी को सौंप दिया। लाला जी ने योजना तो तैय्यार कर दी, पर धन के बिना गुरुकुल खोलना संभव कैसे होता ? अतः धन एकत्रित करने का कार्य भी उन्होंने अपने ऊपर ले लिया और अगस्त १८९८ के सद्धर्म प्रचारक में उन्होंने यह घोषणा की कि जब तक वे गुरुकुल के लिये ३० हजार रुपया एकत्रित नहीं कर लेंगे तब तक घर में पैर नहीं रखेंगे और वे २६ अगस्त १८९९ को धन एकत्र करने निकल पड़े। यह १९वीं सदी के अंतिम दिनों की बात है, जब किसी सार्वजनिक कार्य के लिये तीस हजार रुपये की राशि एकत्र करना अत्यन्त कठिन ही नहीं, प्रत्युत असम्भव सा ही समझा जाता था। पर लाला मुंशीराम जी के अटल विश्वास, हार्दिक धर्म-प्रेम, अदम्य उत्साह और अनुपम कार्यक्षमता ने इस असम्भव को सम्भव कर दिखाया और ८ अप्रैल १९०० को जब वे घर वापिस आये तो लगभग ४० हजार रुपया जमा कर चुके थे

धन-संग्रह के बाद अब विचारणीय विषय यह था कि गुरुकुल कहाँ खुले, कौन सा स्थान उसके लिये उपयुक्त रहेगा। इसके सम्बन्ध में भी आर्य जनता के सम्मुख अनेक विचार थे। श्रीगोविन्दपुर के लाला विशनदास ने कहा कि यदि गुरुकुल गुरदासपुर जिले में खोला जाता है तो वे १००० रुपया देने को तैयार हैं। श्री मोहनलाल ने अपने गाँव में भूमि और ५० रुपया वार्षिक देने का वचन दिया। लूनमियानी के लाला ज्वालासहाय ने अपनी कुछ भूमि दी। परन्तु लाला मुंशीराम जी की दृष्टि में ये स्थान गुरुकुल के लिये उपयुक्त नहीं थे। वे कोई ऐसा स्थान चाहते थे जहाँ नदियों का संगम और पर्वतों की उपत्यकायें हों। वे किसी ऐसे स्थान की ही तलाश में थे। उनकी दृष्टि रह-रह कर हिमालय के दामन में गङ्गा के तट पर जाती थी। वे कई बार वहाँ गये और कुछ ऐसे स्थान देखे भी थे जो गुरुकुल के लिये उपयुक्त हो सकते थे। पर उपयुक्त स्थान का अंतिम रूप से निर्णय करने में कुछ समय लगने की संभावना थी। इसके साथ ही इस नये ढंग की शिक्षण-संस्था के लिये लोगों में इतना उत्साह उत्पन्न हो गया था कि वे उसे शीघ्र ही स्थापित हुआ देखना चाहते थे। अतः फिलहाल गुजरांवाला में ही इसे स्थापित करने का निश्चय किया गया।

गुजरांवाला में एक वैदिक पाठशाला तो पहले से ही विद्यमान थी, उसके साथ ही १६ मई, १६०० को गुरुकुल की स्थापना कर दी गई और पहली श्रेणी भी पृथक् रूप से खोल दी गई। भक्त आनन्दस्वरूप की वाटिका में पाँच कमरों का निर्माण कर उससे आश्रम का काम लिया गया। महात्मा मुंशीराम जी ने अपने दोनों पुत्र—हरिश्चन्द्र और इन्द्रचन्द्र—गुरुकुल में प्रविष्ट कराये। उनके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रतिष्ठित कुलों के २० बालक इस गुरुकुल में प्रविष्ट हुये। वैदिक पाठशाला में पं० गंगादत्त संस्कृत के अध्यापक का कार्य करते थे। उन्हें पाठशाला से बदल कर गुरुकुल का मुख्याध्यापक नियुक्त किया गया। उनके साथ पं० विष्णुमित्र, महाशय भक्तराम तथा मास्टर सुन्दरसिंह की अध्यापक के रूप में नियुक्ति कर दी गई। दो वर्ष तक गुरुकुल गुजरांवाला में ही रहा।

चूंकि लाला मुंशीराम जी गुरुकुल को गंगातट पर ही स्थापित करना चाहते थे, इसलिये वे इसके लिये उपयुक्त स्थान की तलाश में तत्पर थे। अन्त में उन्हें अपने इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त हो गई। हरिद्वार के सामने गंगा के पूर्वी तट पर स्थित कांगड़ी गांव के एक जमींदर मुंशी अमनसिंह जी—जो बड़े त्यागी, धर्मपरायण और सत्यनिष्ठ थे—ने आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब को यह सूचना दी कि उन्होंने गुरुकुल की स्थापना के लिये अपनी कुल सम्पत्ति कांगड़ी गांव (लगभग १४०० बीघे भूमि सहित) सभा को दान में देने का संकल्प किया है। २२ अक्टूबर १६०१ को सभा ने मुंशी जी के दान को धन्यवाद पूर्वक स्वीकार कर लिया और २१- २४ मार्च १६०२ को कांगड़ी गाँव में गुरुकुल का उद्घाटनोत्सव करने का निश्चय किया। इसी के साथ ही लाला मुंशीराम जी आवश्यक भवन आदि बनवाने तथा अन्य व्यवस्था करने के लिये कनखल पहुँच गये। कांगड़ी गाँव के दक्षिण में गङ्गा के तट पर स्थित घने एवं दुर्गम जंगल को साफ कराके वहाँ झोपड़ियाँ बनवा लीं और यह निर्णय किया कि मार्च १६०२ के प्रथम सप्ताह में ही ब्रह्मचारियों और अध्यापकों को गुजरांवाला से इस स्थान पर ले आया जाये।

२ मार्च १६०२ को गुजरांवाला से ब्रह्मचारियों एवं अध्यापकों के पहुँचने के साथ ही कांगड़ी में गुरुकुल की स्थापना हो गई। औपचारिक उद्घाटन-उत्सव पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार २१-२४ मार्च को होली की छुट्टियों में मनाया गया, जिसमें बिना किसी निमंत्रणादि के ५०० के लगभग नर-नारी गुरुकुल पहुँच गये थे और उत्सव खूब धूमधाम से संपन्न हुआ।

गुजरांवाला से लगभग १५ ब्रह्मचारी गुरुकुल आये थे, पर उत्सव के चौथे दिन (२४ मार्च १६०२ को) जब वेदारम्भ संस्कार हुआ तो इनकी संख्या बढ़ कर ४५ हो गई थी। इसके बाद ब्रह्मचारियों की संख्या निरन्तर बढ़ती रही। पाँचवें साल के अन्त में ब्रह्मचारियों की संख्या बढ़कर १८७ हो गई। पहले लोगों का विचार था कि कौन माता-पिता अपने गोद के लालों को अपने से पृथक् किसी जंगल में १४ वर्ष के लिये पढ़ने को भेजेगा, पर अनुभव ने इस आशंका को निर्मूल कर दिया।

गुरुकुल की शिक्षा के प्रति आर्य जनता का आकर्षण तेजी से बढ़ता जा रहा था। प्रतिवर्ष सैकड़ों प्रार्थनापत्र अपने बालकों को गुरुकुल में दाखिल कराने के लिये आने लगे। सबको प्रविष्ट करना सम्भव नहीं था, क्योंकि रुपये की कमी थी और ब्रह्मचारियों के निवास के लिये प्रबन्ध पर्याप्त नहीं था। परिणामतः ब्रह्मचारियों का प्रवेश चुनाव द्वारा किया जाने लगा और बहुत से माता-पिताओं को निराश होकर गुरुकुल से लौटना पड़ता था। सन् १९१० के फरवरी मास में १३० के लगभग बालक प्रवेश के लिये आये थे, जिनमें से केवल २५ को ही प्रविष्ट किया जा सका। यही स्थिति अन्य वर्षों में भी रहती थी।

आन्तरिक प्रबन्ध और व्यवस्था की दृष्टि से भी गुरुकुल निरन्तर उन्नति कर रहा था। धीरे-धीरे फूँस की झोपड़ियों का स्थान ईंट की इमारतें ले रहीं थी। चार वर्ष के अन्दर २५००० रुपये की लागत से २२ पढ़ने के कमरे और ब्रह्मचारियों के निवास के लिये पृथक् आश्रम बना लिया गया था। इसके अतिरिक्त भोजन-भण्डार, अस्पताल, यज्ञशाला, धर्मशाला और अध्यापकों के निवास के लिये भी मकान बन गये थे। दो कुएँ भी तैयार हो गये थे। पर गुरुकुल के संचालक इतने से संतुष्ट नहीं थे। वे पाँच लाख की लागत से ६०० विद्यार्थियों के निवास तथा पढ़ने योग्य पक्की सुन्दर इमारत बनवाने का स्वप्न ले रहे थे। पटियाला स्टेट के मुख्य इंजीनियर लाला गङ्गाराम से उन्होंने उत्कृष्ट इमारत का नक्शा तैयार कराया और उसके लिये धन की अपील भी की गई थी। सन् १९०८ में कालेज की पक्की इमारत बननी आरम्भ हो गई थी, पर ब्रह्मचारियों के निवास के लिये आश्रम, विद्यालय-विभाग की पढ़ाई के कमरे और अन्य अनेक भवन काफी समय तक कच्चे ही रहे।

गुरुकुल के पहले आचार्य पं० गङ्गादत्त जी थे। महात्मा मुंशीराम जी उस समय मुख्याधिष्ठाता थे। पं० गंगादत्त जी व्याकरण के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनके साथ पं० काशीनाथ शास्त्री, पं० भीमसेन शर्मा, पं० दौलतराम शास्त्री, आचार्य पद्मसिंह शर्मा, पं० विष्णुमित्र आदि अनेक विद्वान् अध्यापन कार्य करते थे। अंग्रेजी तथा गणित आदि मा० गोवर्धन बी० ए०, मा० विनायक साठे आदि पढ़ाते थे। भोजन-भंडार का प्रबन्ध जालन्धर के लाला शालिग्राम जी के हाथ में था। लाला जी गुरुकुल के अनन्य भक्त थे। उन्होंने अपना तन-मन-धन गुरुकुल के लिये अर्पित कर रखा था। इन सभी महानुभावों के सहयोग से गुरुकुल दिन दुगुनी रात चौगुनी उन्नति करता रहा।

सन् १९०६ तक गुरुकुल में सात श्रेणियाँ हो चुकी थीं, जिनमें प्रधानतया संस्कृत साहित्य और व्याकरण की तथा सामान्य रूप से अंग्रेजी, भूगोल, गणित, वस्तुपाठ आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। सातवीं से ऊपर की कक्षाओं के खुलने पर यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि गणित, विज्ञान आदि आधुनिक विषयों की पढ़ाई की क्या व्यवस्था की जाये। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने गुरुकुल की जो प्रथम नियमावली स्वीकृत की थी उसमें इस बात का स्पष्ट उल्लेख था कि इस संस्था में

संस्कृत, वेद-वेदांग और शास्त्रों का शिक्षा के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा एवं आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के अध्यापन की भी व्यवस्था की जायेगी। अब इसे क्रियात्मक रूप देने की समस्या थी, पर इसके समाधान में भी कठिनाई नहीं आई। मास्टर रामदेव जी, डा० चिरंजीव भारद्वाज, मास्टर गोवर्धन जी आदि अनेक ऐसे व्यक्ति गुरुकुल में आ गये जिनमें इन विषयों को पढ़ाने की समुचित योग्यता थी। मास्टर रामदेव जी प्रशिक्षित ग्रेजुएट थे और जालन्धर के स्कूल में सफल हेडमास्टर रह चुके थे। उनका मत था कि आधुनिक विज्ञान शिक्षा का अनिवार्य अंग है और गुरुकुल में भी उसके शिक्षण की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। साथ ही वे शिक्षा सम्बन्धी नियन्त्रण के भी पक्षपाती थे। वे चाहते थे कि गुरुकुल में पढ़ाई का नियमित समय-विभाग बने और सब कार्य व्यवस्थित रूप से हों। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि शुरु से ही गुरुकुल को एक पुराने ढंग की पाठशाला बनाना अभिप्रेत नहीं था। परन्तु आचार्य गंगादत्त जी इस विचार के प्रबल विरोधी थे और वे मास्टर रामदेव जी से संघर्ष करते रहे, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। परिणामतः उन्होंने गुरुकुल से त्याग पत्र दे दिया और पं० भीमसेन शर्मा आदि अपने सहयोगियों के साथ गुरुकुल छोड़कर चले गये।

आचार्य गंगादत्त जी के चले जाने पर महात्मा मुंशीराम जी ही गुरुकुल के आचार्य नियुक्त हुये। शिक्षा विषयक प्रबन्ध में उनके मुख्य सहायक मास्टर रामदेव जी थे, जो उस समय मुख्याध्यापक के पद पर नियुक्त थे। गणित, भौतिकी एवं रसायन आदि विषय मास्टर गोवर्धन जी और श्री विनायक गणेश साठे पढ़ाते थे और अंग्रेजी का शिक्षण मास्टर रामदेव जी स्वयं करते थे।

सन् १९०७ में गुरुकुल में महाविद्यालय विभाग भी प्रारम्भ कर दिया गया। महाविद्यालय में चार कक्षाएँ (११ वीं से १४वीं तक) रखी गईं। इस वर्ष तक तीन ब्रह्मचारियों को गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करते हुये ९ वर्ष हो गये थे और अब उन्हें अधिकारी परीक्षा उत्तीर्ण करके महाविद्यालय की प्रथम कक्षा में प्रवेश पाना था। ये थे—इन्द्रचन्द्र, हरिश्चन्द्र और जयचन्द्र। महाविद्यालय-विभाग खुलते ही ये तीनों इसमें प्रविष्ट हो गये।

महाविद्यालय खुलने के साथ ही मास्टर रामदेव जी उपाचार्य के पद पर नियुक्त हो गये थे और उनके स्थान पर मुख्याध्यापक मास्टर गोवर्धन जी बना दिये गये। इसके साथ ही अनेक उच्चकोटि के विद्वानों को प्राध्यापक पद पर नियुक्त किया गया, जिनमें श्री घनश्यामसिंह गुप्त, श्री बालकृष्ण, श्री महेशचरण सिन्हा, श्री सेवाराम, श्री काशीनाथ शास्त्री और पंडित शिवशंकर काव्यतीर्थ के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी विद्वानों के सहयोग से गुरुकुल में शिक्षा का स्तर निरन्तर ऊँचा उठता गया। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि गुरुकुल के महाविद्यालय-विभाग में सभी विषयों की शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही था, यहाँ तक कि भौतिक विज्ञान,

अर्थशास्त्र, रसायन, गणित, इतिहास, वनस्पति विज्ञान, पाश्चात्यदर्शन आदि आधुनिक विषय हिन्दी में ही पढ़ाये जाते थे जो अन्य शिक्षा संस्थाओं में उस समय अंग्रेजी माध्यम से ही पढ़ाये जाते थे। इसके लिये गुरुकुल ने इन विषयों की आवश्यक पाठ्यपुस्तकें भी अपने विद्वान् प्राध्यापकों से तैयार करवाईं।

सन् १६०७ में महाविद्यालय में प्रविष्ट तीन ब्रह्मचारियों में से एक जयचन्द्र बीच में ही गुरुकुल से चले गये थे, शेष दो ब्रह्मचारी हरिश्चन्द्र और इन्द्रचन्द्र अपनी शिक्षा पूर्ण कर स्नातक हुये। इन्हें सन् १६१२ के वार्षिकोत्सव के अवसर पर आयोजित दीक्षान्त-ममारोह में क्रमशः विद्यालंकार और वेदालंकार की उपाधि प्रदान की गई। यद्यपि इन उपाधियों को सरकारी मान्यता प्राप्त नहीं थी, तथापि आर्य जनता की दृष्टि में इनका अपना ही महत्व था।

इस समय तक (सन् १६१२ तक) गुरुकुल ने एक अच्छे फलते-फूलते वृक्ष का रूप धारण कर लिया था। ब्रह्मचारियों की संख्या भी ४५ से बढ़कर ३०० तक पहुँच गई थी। झोपड़ियाँ भवनों का स्थान लेती जा रही थीं। विद्यालय के छात्रों के निवास के लिये आश्रम का विस्तार कर लिया गया था, पढ़ाई के लिये पृथक् भवन बन गये थे, महाविद्यालय के लिये पक्की एवं भव्य इमारत लगभग तैयार हो चुकी थी, बड़े ब्रह्मचारियों के लिये छात्रावास भी पृथक् बन गया था। परिवारगृह, चिकित्सालय, व्यायामशाला, गोशाला आदि भी तैयार हो चुके थे। इसप्रकार १० वर्ष पूर्व की झाड़-झंखाड़ से युक्त वन्य-भूमि ने एक बस्ती का रूप धारण कर लिया था, जहाँ ब्रह्मचारी, शिक्षक, कर्मचारी आदि सब मिला कर लगभग १००० व्यक्ति निवास कर रहे थे।

इसके अतिरिक्त गुरुकुल ने साहित्य-सृजन एवं प्रकाशन का कार्य भी शुरू कर दिया था। सन् १६०७ में श्री रामदेव जी के संपादकत्व में "वैदिक मैगजीन" का सम्पादन शुरू कर दिया गया, महात्मा मुंशीराम जी का 'सद्धर्म प्रचारक' भी यहीं से निकलने लगा। 'सद्धर्म प्रचारक प्रेस' भी जालन्धर से गुरुकुल ले आया गया और गुरुकुल की सभी सामग्री इसी प्रेस में छपने लगी।

गुरुकुल की लोकप्रियता निरन्तर बढ़ रही थी। न केवल भारतीय वरन् अनेक विदेशी नेता एवं शिक्षाविद् भी गुरुकुल की ओर आकृष्ट हुये और वहाँ आकर उसकी शिक्षा-प्रणाली का अध्ययन किया। यहाँ पधारने वाले विदेशियों में अमेरिका के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री श्री मायरन फिलिप्स, ब्रिटिश ट्रेड यूनियन आन्दोलन के प्रसिद्ध नेता श्री सिडनी वैब, लेबर पार्टी के प्रसिद्ध नेता और ग्रेट ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री रेम्जे मैक्डानल्ड, संयुक्तप्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर श्री सर जेम्स मेस्टन तथा भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल और वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड प्रमुख हैं। ये सभी इस अद्वितीय शिक्षासंस्था को देखकर अत्यन्त प्रभावित हुये।

महात्मा मुंशीराम जी के संरक्षण में गुरुकुल निरन्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर

हो रहा था । इसी बीच सन् १९१७ में महात्मा जी ने संन्यासाश्रम में प्रवेश करने का निर्णय किया और अपने इस निर्णय की सूचना आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के अधिकारियों को दे दी । उस समय गुरुकुल कांगड़ी में ब्रह्मचारियों की कुल संख्या ३४० (२७६ विद्यालय-विभाग में और ६४ महाविद्यालय-विभाग में) थी । मुंशीराम जी के संन्यास लेकर गुरुकुल से चले जाने पर सभा ने लाला रामकृष्ण जी (जो सभा के प्रधान भी थे) को गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता तथा श्री रामदेव जी को आचार्य पद पर नियुक्त कर दिया । गुरुकुल का यह प्रबन्ध सन् १९२० तक रहा । इस अवधि में गुरुकुल की अच्छी उन्नति हुई, पर आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के अधिकारी चाहते थे कि गुरुकुल पर स्वामी श्रद्धानन्द जी की छत्रच्छाया बनी रहे और वे बार-बार उनसे गुरुकुल को सम्भालने का अनुरोध कर रहे थे । यद्यपि स्वामी जी ने राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण कर लिया था और राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय भाग ले रहे थे, तथापि वे सभा के अधिकारियों के अनुरोध को अधिक समय तक नहीं टाल सके और ११ फरवरी १९२० को उन्होंने गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता और आचार्य के रूप में वहाँ का कार्यभार ग्रहण कर लिया । चूँकि स्वामी जी गुरुकुल को एक बहु-उद्देश्यीय विश्वविद्यालय के रूप में विकसित करना चाहते थे, इसलिये उन्होंने आने से पूर्व सभा के अधिकारियों के समक्ष कुछ महत्वपूर्ण शर्तें रखीं, जिनका गुरुकुल के भावी विकास से सीधा सम्बन्ध था । वे शर्तें इसप्रकार थीं : (१) गुरुकुल की प्रबन्ध-व्यवस्था तथा पाठविधि में जो भी परिवर्तन परीक्षण के लिये किये जायें, उनमें दो वर्ष तक सभा कोई हस्तक्षेप नहीं करे, (२) गुरुकुल के धन को पृथक् सूद पर रखा जाये, (३) गुरुकुल के प्रिंटिंग प्रेस के लिये दस हजार रुपये स्वीकृत किये जायें, (४) गुरुकुल में कृषि उद्योग और व्यापार की शिक्षा के लिये पृथक् विभाग व महाविद्यालय खोलने की स्पष्ट अनुमति दी जाये । आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने स्वामी जी की उक्त शर्तों तथा अन्य आर्य नेताओं (जिनका गुरुकुल के स्वरूप, प्रयोजन और उद्देश्य के सम्बन्ध में स्वामी जी से प्रबल मतभेद था) के दृष्टिकोणों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करते हुये अपनी २२ मार्च १९२१ की बैठक में एक प्रस्ताव पारित किया, जिसका कुछ अंश इसप्रकार है : "शिक्षा सम्बन्धी क्षमता को बढ़ाने के लिये आवश्यक प्रतीत होता है कि वर्तमान गुरुकुल को एक ऐसे विश्वविद्यालय के रूप में परिणत किया जाये, जिसमें भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा दी जा सके । इसलिये निश्चय हुआ कि इस विश्वविद्यालय के साथ निम्नलिखित महाविद्यालय सम्बन्धित होंगे—(क) वेद महाविद्यालय, (ख) साधारण महाविद्यालय, (ग) आयुर्वेदिक महाविद्यालय, (घ) कृषि महाविद्यालय, (ङ) व्यवसाय महाविद्यालय । ……।"

विश्वविद्यालय

इस प्रस्ताव के साथ ही गुरुकुल ने विश्वविद्यालय का रूप प्राप्त कर लिया । स्वामी श्रद्धानन्द जी ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया और वे उसे कार्य रूप में परिणत करना चाहते थे । पर इसी समय देश में असहयोग आन्दोलन शुरू हो गया, जिसमें

भाग लेने की उत्कट अभिलाषा ने स्वामी जी को अधिक समय तक गुरुकुल में नहीं रुकने दिया। फलतः ३० जून १९२१ को उन्होंने गुरुकुल से विदा ले ली।

विदा —

स्वामी जी के चले जाने पर पण्डित विश्वम्भरनाथ जी उनके स्थान पर गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता और स्वामी सत्यानन्द जी आचार्य नियुक्त हुये। श्री रामदेव जी पहले से ही उपाचार्य के रूप में शिक्षा की व्यवस्था देख रहे थे। सन् १९२४ में स्वामी सत्यानन्द जी के त्यागपत्र देने पर श्री रामदेव जी आचार्य और पं० विश्वनाथ जी विद्यालंकार उपाचार्य बनाये गये। इस काल में पं० विश्वम्भरनाथ जी और आचार्य रामदेव जी के कुशल नेतृत्व में गुरुकुल निरन्तर प्रगति कर रहा था और आंतरिक प्रबन्ध और व्यवस्था में भी अत्यधिक सुधार हो रहा था। सन् १९२३ में शिक्षा विषयक प्रबन्ध के लिये शिक्षापटल का गठन किया गया। शिक्षापटल का प्रथम मन्त्री (रजिस्ट्रार) पं० महानन्द जी सिद्धान्तालंकार को नियुक्त किया गया। शिक्षापटल के बन जाने से गुरुकुल में शिक्षा विषयक क्षमता को बढ़ाने में बहुत सहायता मिली।

सन् १९२४ तक गुरुकुल कांगड़ी काफी हद तक व्यवस्थित हो चुका था, आर्थिक व्यवस्था भी सुधर गई थी। पर अकस्मात् एक ऐसी दैवी विपत्ति आई कि सब करा-धरा रह गया। सितम्बर १९२४ में गंगा नदी में आई भयङ्कर बाढ़ से गुरुकुल के महाविद्यालय की पक्की इमारत को छोड़कर शेष सभी इमारतें नष्ट हो गईं। यद्यपि ग्रीष्मावकाश के कारण अधिकांश ब्रह्मचारी, कर्मचारी और अध्यापक गुरुकुल-परिसर में नहीं थे, परन्तु जो वहाँ रह गये थे उनकी प्राणरक्षा बड़ी कठिनता से हो पाई। इस दशा में अब यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि गुरुकुल को पूर्व स्थान पर ही पुनः स्थापित किया जाये या कहीं अन्यत्र ले जाया जाये। इस विषय में काफी मत-मतान्तर थे। स्वामी श्रद्धानन्द जी का मत था कि कांगड़ी ग्राम के उत्तर में विद्यमान शिवालिक की उपत्यका के साथ लगा विस्तृत मैदान गुरुकुल के लिये उपयुक्त है, परन्तु अन्य बहुसंख्यक सभासदों के मत में गुरुकुल को कहीं अन्यत्र सुरक्षित स्थान पर ले जाना चाहिये। अंततः यही निश्चय हुआ कि गंगा के पश्चिमी तट पर किसी उपयुक्त स्थान पर गुरुकुल स्थानान्तरित कर दिया जाये और जब तक नये स्थान की व्यवस्था न हो तब तक विद्यालय-विभाग मायापुर-वाटिका में और महाविद्यालय-विभाग पुण्यभूमि में ही चलाया जाये। गुरुकुल के स्थान-परिवर्तन सम्बन्धी निर्णय से स्वामी जी को जो मर्मान्तिक दुःख हुआ उसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता है।

पं० विश्वम्भरनाथ जी के अनथक प्रयत्न से शीघ्र ही कनखल-ज्वालापुर मार्ग के दक्षिण में (जहाँ इस समय गुरुकुल विद्यमान है) भूमि क्रय कर ली गई और भवन-निर्माण का कार्य शुरू करवा दिया गया।

दिसम्बर सन् १९२६ में स्वामी जी का बलिदान हुआ और सन् १९२७ में गुरुकुल स्थापना की रजत जयन्ती मनाई गई, जिसमें महात्मा गांधी, मदनमोहन

मालवीय, बाबू राजेन्द्रप्रसाद अनेक गणमान्य नेता एवं शिक्षाविद् पधारे थे। यह पहला अवसर था जब कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द गुरुकुल के उत्सव पर उपस्थित नहीं थे। सभी को उनका अभाव खल रहा था और आनन्दपूर्ण समारोह के अवसर पर भी सबके हृदय गम्भीर वेदना से आकुल थे। पर विधाता की करनी के आगे किसी का वश नहीं होता।

रजतजयन्ती समारोह सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाने के बाद पं० विश्वम्भरनाथ जी ने मुख्याधिष्ठाता पद से स्वेच्छापूर्वक त्यागपत्र दे दिया। उनके स्थान पर अब आचार्य रामदेव जी को मुख्याधिष्ठाता भी नियुक्त किया गया। आचार्य जी सन् १९२७ से १९३३ तक मुख्याधिष्ठाता रहे और इस अवधि में उन्होंने भवन-निर्माण के लिये प्रचुर धनराशि दान के रूप में एकत्र की।

सन् १९२९ के अन्त तक नई भूमि में पर्याप्त इमारतें बन गईं थीं, अतः अप्रैल १९३० में गुरुकुल को अपने नये परिसर में ले जाया गया। कुछ ही वर्षों के परिश्रम से इस नई भूमि पर फिर वही गुरुकुल रूपी फुलवारी लहलहाने लगी जो दुर्दैव ने कुछ समय पूर्व ध्वस्त कर दी थी।

सन् १९३० में महात्मा गाँधी के नेतृत्व में सत्याग्रह आन्दोलन की शुरूआत हुई, जिसमें अन्य देशवासियों की भाँति गुरुकुल के विद्यार्थियों ने भी इस आन्दोलन में भाग लिया। सन् १९३२ में आचार्य रामदेव जी भी सत्याग्रह में कार्य करने के लिए गुरुकुल से चले गये। उनके चले जाने पर किसी व्यक्ति विशेष को मुख्याधिष्ठाता नियुक्त करने के बजाये गुरुकुल के प्रबन्ध के लिये तीन व्यक्तियों—श्री देवराज जी सेठो, पं० चमूपति जी और पं० देवशर्मा जी—की एक समिति बना दी गई, जो तीनों व्यक्तियों में विचार-वैविध्य के कारण एक वर्ष भी सफलतापूर्वक काम नहीं कर सकी। इस समस्या का समाधान तभी हुआ जब पं० देवशर्मा जी और देवराज जी सेठी त्यागपत्र देकर गुरुकुल से बाहर चले गये तथा पं० चमूपति जी को ही आचार्य और मुख्याधिष्ठाता दोनों पदों का कार्यभार सौंप दिया गया। पं० चमूपति जी ने अप्रैल १९३५ तक बड़ी योग्यता के साथ गुरुकुल का संचालन किया।

सन् १९३५ में इस बात के लिये प्रबल आन्दोलन हुआ कि विश्वविद्यालय बन जाने के कारण गुरुकुल में विद्यासभा की भी स्थापना की जानी चाहिये। परिणामतः आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के १९३५ के वार्षिक अधिवेशन में विद्यासभा का गठन कर दिया गया। पं० चमूपति जी ने अप्रैल में गुरुकुल से त्यागपत्र दे दिया था, अतः नवगठित विद्यासभा ने उनके स्थान पर पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार को मुख्याधिष्ठाता और पं० देवशर्मा विद्यालंकार को आचार्य नियुक्त कर दिया। पं० देवशर्मा जी दो वर्ष तक आचार्य पद पर कार्य करने के बाद संन्यास-आश्रम में प्रवेश लेकर स्वामी अभयदेव बन गये। पं० सत्यव्रत जी सन् १९४२ तक गुरुकुल की चहुँमुखी प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान करते रहे और अपने

कार्यकाल में उन्होंने गुरुकुल को पर्याप्त रूप से आत्मनिर्भर बना दिया था। स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण सन् १९४२ में उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। अब विद्या सभा ने पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति को नया मुख्याधिष्ठाता मनोनीत किया और यह व्यवस्था भी कर दी कि उनके अधिकतर बाहर रहने के कारण गुरुकुल की आन्तरिक प्रवन्ध-व्यवस्था का कार्य भी आचार्य के हाथों में दे दिया जाये जो मुख्याधिष्ठाता के निर्देशन में शिक्षा के अतिरिक्त प्रवन्ध-कार्य भी संभालेंगे। तदनुसार आचार्य अभयदेव जी गुरुकुल का सम्पूर्ण प्रवन्ध एवं संचालन भी करने लगे। पर आचार्य अभयदेव जी ने इस नई स्थिति में देर तक कार्य नहीं किया और नवम्बर १९४२ में अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। उनके स्थान पर पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार आचार्य बनाये गये, पर केवल ६-७ महीने कार्य करने के बाद मई १९४३ में उन्होंने भी त्यागपत्र दे दिया। अब आचार्य पद के लिये किसी अन्य सुयोग्य व्यक्ति की खोज शुरू हुई और अगस्त १९४३ में पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति को गुरुकुल का आचार्य नियुक्त कर दिया गया। पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति और आचार्य प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति के परस्पर सहयोग एवं पुरुषार्थ से गुरुकुल का कार्य सन्तोषजनक ढङ्ग से चलने लगा और विश्वविद्यालय अनवरत प्रगति के पथ पर बढ़ने लगा।

अगस्त १९४७ को भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ ही अनुभव किया जाने लगा कि गुरुकुल की उपाधियों को भारत सरकार, प्रान्तीय सरकारों और विभिन्न विश्वविद्यालयों से मान्यता दिलवाई जाये, ताकि गुरुकुल के स्नातकों को भावी उन्नति में किसीप्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़। गुरुकुल के अधिकारियो की ओर से इसके लिये प्रयास किये गये और उनमें पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई। अब गुरुकुल की 'अलंकार' उपाधि को बी० ए० के समकक्ष मान लिया गया था, परिणामतः गुरुकुल के स्नातकों के लिये लोक-सेवा आयोगों द्वारा ली जाने वाली परीक्षायें तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों की एम० ए० परीक्षा देने का मार्ग खुल गया था।

पर गुरुकुल के अधिकारी केवल इतने से ही संतुष्ट नहीं थे, अब उनकी आकांक्षा थी कि गुरुकुल को चार्टर्ड यूनिवर्सिटी बनवाने का प्रयत्न किया जाये ताकि गुरुकुल का और अधिक विकास हो सके। गुरुकुल की विद्यासभा द्वारा १० जनवरी १९४८ को इस संबंध में एक प्रस्ताव भी स्वीकार किया, जिसमें यह कहा गया था कि गुरुकुल को एक चार्टर्ड विश्वविद्यालय बनाने के लिये सभी आवश्यक प्रयत्न यथासंभव शीघ्र किये जायें, पर यह ध्यान रखा जाये कि गुरुकुल के अपने मौलिक सिद्धान्त और आदर्श ज्यों के त्यों अक्षुण्ण बने रहें। इस दिशा में आवश्यक प्रयत्न किये भी गये, पर इनमें सफलता नहीं मिली। इतना लाभ जरूर हुआ कि भारत सरकार और उत्तरप्रदेश सरकार से गुरुकुल को पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त होने लगी, जिससे विभिन्न दिशाओं में उसका विकास हो सका।

गुरुकुल में आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना सन् १९२२ में ही की जा

थी। देश के स्वतन्त्र होने के बाद से गुरुकुल की अन्य उपाधियों की भाँति आयर्वेदालंकार को भी सरकारी मान्यता प्राप्त हुई और आयुर्वेदालंकार उत्तीर्ण स्नातकों का आयुर्वेद चिकित्सा के लिये पंजीकरण होने लगा। सन् १९५२ में इस आयुर्वेद कालेज में उत्तरप्रदेश इंडियन मेडिसन बोर्ड की निर्धारित पाठविधि लागू कर दी गई और उत्तीर्ण छात्रों को आयुर्वेदालंकार के स्थान पर सरकार की ए० एम० बी० एस० की उपाधि दी जाने लगी। इस समय से आयुर्वेद महाविद्यालय एक तरह से सरकारी नियंत्रण में आ गया।

स्वामी श्रद्धानन्द जी के गुरुकुल में कृषि विद्यालय खोलने विषयक स्वप्न को सन् १९५५ में कृषि विद्यालय स्थापित करके साकार किया गया। यह विद्यालय उत्तरदेश सरकार के शतप्रतिशत अनुदान से चलता था, इसका पाठ्यक्रम भी उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा निर्धारित था और दो वर्ष तक अध्ययन करने के बाद यहाँ के छात्रों को कृषि का सरकारी डिप्लोमा दिया जाता था। यह विद्यालय गुरुकुल का अंग केवल इसी अर्थ में था कि यह गुरुकुल परिसर में स्थित था और इसके प्रबंध-मंडल में गुरुकुल के पदाधिकारी भी सम्मिलित थे। गुरुकुल के अधिकारियों का यह विचार था कि कालान्तर में इसी विद्यालय को विकसित करके कृषि महाविद्यालय के रूप में परिवर्तित कर दिया जायेगा, पर उनका यह विचार मूर्तरूप न ले सका। बल्कि कुछ वर्ष बाद 'कृषि विद्यालय' को भी गुरुकुल से हटा लिया गया।

गुरुकुल में प्रारम्भ से ही अलंकार कक्षाओं में वैकल्पिक विषय के रूप में रसायनशास्त्र (केमिस्ट्री) पढ़ाने की व्यवस्था थी। अब गुरुकुल के चहुंमुखी विकास की दृष्टि से यह अनुभव किया जाने लगा कि गुरुकुल में एक पृथक् विज्ञान महाविद्यालय खोला जाये। परिणामत: विद्यासभा के १६ दिसम्बर १९५६ के अधिवेशन में यह निश्चय किया गया कि विज्ञान की उत्कृष्ट शिक्षा देने के लिये एक विज्ञान महाविद्यालय की भी स्थापना कर दी जाये। तदनुसार प्रथम चरण के रूप में उत्तरप्रदेश माध्यमिक शिक्षा परिषद् की एफ. एस. सी-कक्षायें शुरु कर दी गईं। इसके बाद सन् १९५७ से बी० एस-सी० की कक्षायें भी खोल दी गईं, जिन्हें उस समय तक के लिये आगरा विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कर दिया गया, जब तक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग गुरुकुल काँगड़ी को यूनिवर्सिटी नहीं मान लेता।

लगभग ५० वर्ष तक गुरुकुल कांगड़ी एक ऐसी शिक्षण संस्था के रूप में विकसित किया जा रहा था, जिसमें सरकार का कोई दखल नहीं था, महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित शिक्षा विषयक सिद्धान्तों एवं मन्तव्यो को क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया जाता था और जहाँ के शिक्षक एवं छात्र गुरुकुलीय आदर्शों एवं नियमों में पूर्ण आस्था एवं विश्वास रखते थे। पर सन् १९५० के बाद से इस संस्था के स्वरूप में शनै.-शनैः परिवर्तन होने शुरु हो गये। गुरुकुल-परिसर में अब उपर्युक्त चार विद्यालय महाविद्यालय-आयुर्वेद महाविद्यालय, इन्टरमीडिएट कालेज, कृषि विद्यालय और विज्ञान महाविद्यालय- ऐसे थे जो अन्य सरकारी बोर्डों और विश्वविद्यालयों के नियंत्रण में थे। इनके छात्रों के लिये छात्रावास में निवास की कोई अनिवार्यता

चुकी थी और इसमें शिक्षा प्राप्त स्नातकों को आयुर्वेदालंकार की उपाधि दी जाती नहीं थी, वेशभूषा पर भी कोई नियंत्रण नहीं रह गया था और न ही उनकी प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल प्रणाली से हुई थी। एक समय ऐसा आया जब वेद और साधारण महाविद्यालयों (जिन्हें गुरुकुल का प्राण माना जाता था) के प्रवेश के नियमों को भी शिथिल कर दिया गया, जिसके परिणामस्वरूप गुरुकुल के इन महाविद्यालयों में ऐसे विद्यार्थियों को भी प्रविष्ट किये जाने का प्रावधान हो गया, जिनकी प्रारंभिक शिक्षा गुरुकुल पद्धति से न हुई हो यानी जिन्होंने बाहर से हाईस्कूल, मध्यमा, विशारद आदि कोई भी परीक्षा उत्तीर्ण कर रखी हो। साथ ही, इन महाविद्यालयों में प्रविष्ट ब्रह्मचारियों के लिये भी छात्रावास में रहना अनिवार्य नहीं रह गया।

वस्तुतः इसी समय से गुरुकुल अपने लक्ष्यों एवं आदर्शों से उत्तरोत्तर विमुख होता गया और संस्थापक के रूप में 'स्वामी श्रद्धानन्द का नाम जुडे रहने पर भी वास्तविक अर्थों में वह किसी भी तरह से स्वामी श्रद्धानन्द के सपनों का गुरुकुल' नहीं रहा।

इसके बाद १९ जून १९६२ का दिन आया। गुरुकुल के इतिहास में एक नये युग का शुभारंभ हुआ। उस दिन भारत सरकार के विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने एक नोटिफिकेशन द्वारा गुरुकुल कागड़ी विश्वविद्यालय को यूनिवर्सिटी की स्थिति की संस्था (Deemed to be University) के रूप में मान्यता प्रदान कर दी। इसके साथ ही विश्वविद्यालय विभाग (वेद महाविद्यालय और साधारण महाविद्यालय) के संदर्भ में गुरुकुल की स्वायत्तता समाप्त हो गई। उसके प्रबन्ध में भी सरकार का दखल हो गया और विश्वविद्यालय विभाग का पूरा खर्च विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से प्राप्त होने लगा।

गुरुकुल में अलंकार कक्षायें तो पहले से चल ही रही थीं। अब यूनिवर्सिटी की स्थिति प्राप्त हो जाने पर सर्वप्रथम वेद, संस्कृत साहित्य, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति, भारतीय दर्शन, अंग्रेजी, हिन्दी, गणित एवं मनोविज्ञान-इन आठ विषयों में स्नातकोत्तर स्तर की कक्षायें चलाने की अनुमति प्रदान की गई थी। सन् १९७१ में आयोग ने गुरुकुल में विज्ञान-संकाय खोलने की भी अनुमति दे दी, जिसके अंतर्गत स्नातक स्तर पर भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, प्राणिविज्ञान, गणित और वनस्पतिशास्त्र की पढ़ाई शुरू कर दी गई। कुछ समय बाद गुरुकुल में परम्परागत विश्वविद्यालयों की भाँति संस्कृत, हिन्दी और प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति में पी-एच० डी० उपाधि के लिये शोधकार्य की भी व्यवस्था हो गई।

वस्तुतः गुरुकुल को यूनिवर्सिटी की स्थिति प्रदान करने में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को यह वांछित नहीं था कि गुरुकुल में केवल उन्हीं विषयों के अध्ययन की व्यवस्था हो जो अन्य विश्वविद्यलयों या महाविद्यालयों में पढ़ाये जाते हैं, उसको यह अभिप्रेत था कि इस संस्था को वैदिक वाङ्मय एवं संस्कृत साहित्य के अध्ययन, अनुशीलन तथा अनुसन्धान का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बनाया जाये और यहाँ इन्हीं

विषयों की उच्चतम शिक्षा की व्यवस्था हो। परन्तु अभी तक इस रूप में गुरुकुल का समुचित विकास करने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इस स्थिति से आयोग के अधिकारी संतुष्ट नहीं थे। अतः उन्होंने गुरुकुल की प्रगति के पुनरीक्षण के लिये ६ सितम्बर १९७२ को एक तीन सदस्यीय कमेटी का गठन किया। इस कमेटी ने १३ नवम्बर १९७३ को गुरुकुल जाकर वहाँ की गतिविधियों का सूक्ष्म निरीक्षण किया और अपनी रिपोर्ट आयोग के समक्ष प्रस्तुत कर दी। कमेटी के सदस्य गुरुकुल के वेद और कला महाविद्यालय में छात्रों और प्राध्यायकों के अनुपात (३:१) को देख कर आश्चर्यचकित रह गये तथा उन्होंने गुरुकुल से असंतोष व्यक्त करते हुये अपनी रिपोर्ट में यही विचार दोहराया कि गुरुकुल को संस्कृत साहित्य एवं वैदिक वाङ्मय के अध्ययन एवं शोध का उच्चतम केन्द्र बनाने का प्रयास किया जाना चाहिये, जो कि आयोग को अभीष्ट था। आयोग ने इस रिपोर्ट पर विचार कर २३ अक्टूबर १९७४ को उसकी एक प्रति गुरुकुल के अधिकारियों के पास आवश्यक कार्यवाही हेतु भेज दी। जिस समय यह रिपोर्ट गुरुकुल पहुँची उस समय डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार कुलपति तथा डॉ० रामनाथ वेदालंकार उपकुलपति (प्रो-वाइस चांसलर) थे, जब कि जिस समय आयोग की कमेटी गुरुकुल में आई थी उस समय श्री रघुवीर सिंह शास्त्री कुलपति थे। रिपोर्ट आने पर गुरुकुल के इन नये अधिकारियों ने प्राध्यापकों एवं कुछ अन्य लोगों के सहयोग से एक प्रतिवेदन तैय्यार कराया तथा गुरुकुल को संस्कृत, वेदशास्त्र एवं प्राचीन भारतीय ज्ञान के अध्ययन-अध्यापन एवं शोध का केन्द्र बनाने के संबंध में एक योजना आयोग के समक्ष प्रस्तुत की। साथ ही आयोग के अधिकारियों को आश्वस्त करने का भी प्रयास किया गया। आयोग के अधिकारी काफी हद तक आश्वस्त भी हो गये और उन्होंने रिपोर्ट में दिये गये सुझावों को क्रियान्वित करने के लिये कुछ समय देना स्वीकार भी कर लिया, पर किन्हीं परिस्थितियों के कारण शोध-केन्द्र बनाने की योजना को लागू नहीं किया जा सका। यदि अब भी इस दिशा में ठोस प्रयत्न किये जायें और विद्वानों से सहयोग प्राप्त किया जाये तो गुरुकुल वेद-शास्त्रों के अनुशीलन एवं शोध का एक ऐसा केन्द्र बन सकता है जिसकी ओर न केवल भारतीय वरन् विश्व भर के विद्वान् आकृष्ट होने लगेंगे। संभव है कि इससे गुरुकुल के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द जी का स्वप्न भी कुछ अंश तक पूरा हो सके।

गुरुकुल की राष्ट्र को देन

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के सम्मुख गुरुकुल की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य जहाँ एक ओर अंग्रेजों द्वारा प्रचलित शिक्षाप्रणाली के विरोध में राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से शिक्षा देने वाली एक नई प्रणाली का सूत्रपात करना था, वहाँ दूसरी ओर गुरुकुलीय शिक्षा के माध्यम से ऐसे नागरिक तैयार करना भी था जो राष्ट्रप्रेम की भावना से ओतप्रोत, चरित्रवान् तथा वैदिक धर्म, आर्य संस्कृति एवं भारतीत सभ्यता के रंग में रंगे हुये हों। निःसंदेह, गुरुकुल ने कुलपिता के इस स्वप्न को साकार करने में काफी हद तक सफलता प्राप्त की। वस्तुतः राष्ट्रीय शिक्षणालय के रूप में गुरुकुल कांगड़ी को जितनी ख्याति प्राप्त हुई उतनी अन्य किसी शिक्षा

संस्था को नहीं मिली। गुरुकुल से प्रारम्भ से ही गुरुकुलीय परंपरा में पले-पढ़े जो 'अलंकार' निकले उनमें भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार, समाज-सुधार तथा राष्ट्र, जाति एवं समाज की अहर्निश सेवा की तड़प थी और आज भी है। इसी का सुपरिणाम है कि उन्होंने अपने रचनात्मक कार्यों द्वारा राष्ट्रीय नव-निर्माण, सामाजिक, धार्मिक व साहित्यिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान करके राष्ट्र की अभूतपूर्व सेवा की है।

गुरुकुल के छात्रों एवं दीक्षित स्नातकों ने राष्ट्रीय आंदोलनों एवं स्वतंत्रता-संग्राम में उल्लेखनीय कार्य किया है। जब कभी महात्मा गाँधी के नेतृत्व में सत्याग्रह-संग्राम में नवयुवकों की पुकार हुई तो गुरुकुल के छात्र एवं स्नातक अग्रणी रहे। सन् १९३० के सत्याग्रह-आंदोलन में अपने प्राणों को न्यौछावर करने वाले सर्वमित्र और सत्यभूषण नामक नवयुवक यहीं के छात्र थे। १९३० के नमक-सत्याग्रह, १९३० और १९३२ के सविनय अवज्ञा आंदोलनों तथा १९४२ के भारत छोड़ो आंदोलन में गुरुकुल के छात्र व स्नातक किसी से पीछे नहीं रहे। सर्वश्री देवशर्मा विद्यालंकार, चन्द्रमणि विद्यालंकार, भीमसेन विद्यालंकार. कृष्णस्वरूप, विद्यालंकार दीनदयालु शास्त्री, धर्मवीर आयुर्वेदालंकार, भूदेव विद्यालकार, धर्मवीर, वेदालंकार सत्यव्रत सिद्धांतालंकार, सत्यदेव विद्यालंकार, गौतमदेव विद्यालंकार, पूर्णचन्द्र विद्यालंकार, वासुदेव विद्यालंकार, रामेश्वर सिद्धांतालंकार, सुभाष वेदालंकार, अमरनाथ विद्यालंकार, विद्यासागर विद्यालंकार, चन्द्रगुप्त आयुर्वेदालंकार, हरिदत्त आयुर्वेदालंकार, गुरुदत्त आयुर्वेदालंकार आदि ने इन आंदोलनों में सक्रिय भाग लिया और जेलयात्रा भी की। श्री हरिश्चन्द्र विद्यालंकार को क्रान्तिकारी विचारधारा और श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति को राष्ट्रप्रेम की भावना अपने पिता महात्मा मुंशीराम से मानों विरासत में ही मिली थी। श्री अमरनाथ विद्यालंकार, श्री विनायकराव विद्यालंकार, श्री शंकरदेव वेदालंकार, श्री दीनदयालु शास्त्री अपने राज्यों की मन्त्री-परिषदों के सदस्य रहे तथा श्री पूर्णचन्द्र विद्यालंकार, श्री केशवचन्द्र सिंह आयुर्वेदालंकार, श्री विद्याकिशोर विद्यालंकार, डॉ० प्रशान्त कुमार वेदालंकार आदि विधान सभा और विधानपरिषद् के सदस्य निर्वाचित हुये। श्री देवशर्मा विद्यालंकार महात्मा गाँधी के रचनात्मक कार्यों के लिये अनवरत प्रयत्नशील रहे। श्री कृष्णस्वरूप विद्यालंकार इस्लामनगर (बदायूं) में नगर-कांग्रेस के अध्यक्ष एवं मंत्री रहे। श्री दीनानाथ सिद्धान्तालंकार, श्री सुरेन्द्रनाथ विद्यालंकार और श्री सत्यपाल सिद्धान्तालंकार ने महान् क्रांतिकारी भगतसिंह के निकट सम्पर्क में आकर उनके क्रान्तिकारी कार्यों में हाथ बँटाया। श्री रामेश्वर सिद्धांतालंकार ने गाँधी सेवा संघ और कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्ता के रूप में कई बार राष्ट्रीय आंदोलनों में भाग लेकर जेलयात्रा की।

आर्यसमाज तथा वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के कार्य में भी गुरुकुल के स्नातकों का योगदान उल्लेखनीय है। गुरुकुल के विभिन्न स्नातकों ने आर्य प्रतिनिधि सभाओं के माध्यम से अपने-अपने प्रांत में सामाजिक एवं धार्मिक जागृति उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया। श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, श्री युधिष्ठिर विद्यालंकार (स्वामी व्रतानन्द जी), श्री यशपाल सिद्धान्तालंकार, श्री धर्मदेव विद्यामार्तण्ड,

श्री भीमसेन विद्यालंकार, श्री धर्मवीर वेदालंकार, श्री गुरुदत्त सिद्धान्तालंकार, श्री चन्द्रगुप्त वेदालंकार, श्री विनायकराव विद्यालंकार, श्री देवेश्वर जी सिद्धान्तालंकार प्रभृति कितने ही स्नातकों ने अपने-अपने समय में आर्यसमाज के संगठन को सुदृढ़ करने, आर्यजगत् का सही नेतृत्व करने तथा वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार करने में अच्छी ख्याति प्राप्त की है। श्री प्रियव्रत वेदवाचस्पति, श्री नारायणदत्त विद्यालंकार, श्री हरिशरण सिद्धान्तालंकार, श्री दीनानाथ सिद्धान्तालंकार श्री समरसिंह वेदालंकार, डॉ० रामनाथ वेदालंकार, श्री धर्मवीर विद्यालंकार, श्री क्षितीश वेदालंकार, श्री अशोक वेदालंकार, श्री सुभाष विद्यालंकार, श्री रामप्रसाद वेदालंकार, श्री प्रकाशचन्द्र वेदालंकार, श्री सत्यभूषण वेदालंकार, श्री मनोहर विद्यालंकार, आदि आज भी वेद-प्रचार में संलग्न हैं और अपने विद्वत्तापूर्ण भाषणों के लिये विख्यात हैं। पं० धर्मपाल विद्यालंकार डॉ० हरिप्रकाश आयुर्वेदालंकार, श्री सत्यदेव विद्यालंकार, श्री मनोहर विद्यालंकार, श्री विद्यासागर विद्यालंकार डॉ० निरूपण विद्यालंकार, श्री प्रकाशवीर विद्यालंकार, डॉ० विजयवीर विद्यालंकार, श्री पं० सत्यदेव विद्यालंकार आदि स्नातक आर्यसमाज के संगठन को सशक्त बनाने में लगे हुये हैं। इसके साथ ही विदेशों में आर्यसमाज के प्रचार के लिये श्री अमीचन्द्र विद्यालंकार, श्री सत्यपाल सिद्धान्तालंकार, श्री ईश्वरदत्त विद्यालंकार, श्री सत्यदेव वेदालंकार भारद्वाज, श्री धर्मेन्द्रनाथ वेदालंकार, श्री देवनाथ विद्यालंकार, श्री नरदेव वेदालंकार, डॉ० दिलीप वेदालंकार, श्री श्यामसुन्दर स्नातक आयुर्वेदालंकार ने महान् उद्यम किया है।

गुरुकुल स्थापित करने में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का एक प्रमुख उद्देश्य वैदिक साहित्य का अनुशीलन कराना, और वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये उच्चकोटि के लेखक तैयार करना था। भारतवर्ष में जिस समय गुरुकुल शिक्षाप्रणाली का पुनरुज्जीवन हुआ था उस समय वेदों के अध्यापनार्थ वैदिक पंडित नगण्य थे, किन्तु अब गुरुकुलों के प्रयत्न से वेद-वेदाङ्ग के पंडितों की कमी नहीं है। गुरुकुल के अनेक स्नातक अत्यन्त परिश्रम, निष्ठा तथा विद्वत्ता के साथ वेदों पर कार्य कर रहे हैं और उत्तम कोटि के वैदिक साहित्य का सृजन कर रहे हैं। प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति, पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार, पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार, पं० देवराज विद्यावाचस्पति, पं० बुद्धदेव विद्यालंकार, पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, पं० अभयदेव विद्यालंकार, पं० यशपाल सिद्धान्तालंकार की वेद विषयक शोधपूर्ण कृतियों से कौन अनभिज्ञ है। पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति, प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, डॉ० रामनाथ वेदालंकार, पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार, पं० मनमोहन विद्यासागर वेदालंकार, पं० सत्यकाम विद्यालंकार, पं तडित्कांत वेदालंकार, डॉ० सत्यकाम वर्मा आयुर्वेदालंकार, पं० भगवद्दत्त वेदालंकार आदि स्नातक गवेषणापूर्ण वैदिक ग्रन्थों के प्रणयन में लगे हुये हैं और इनकी अनेक कृतियाँ प्रकाशित भी हो चुकी हैं।

गुरुकुल के 'अलंकारों' ने न केवल वैदिक साहित्य के वरन् संस्कृत साहित्य के विकास में भी योगदान किया है। उन्होंने संस्कृत भाषा में मौलिक एवं टीका-ग्रन्थों की रचना की है। पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार की 'संस्कृत प्रवेशिक', पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति का 'भारतैतिह्यम्', पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड की 'महापुरुषकीर्तनम्' और 'महिलामणिकीर्तनम्', पं० वागीश्वर विद्यालंकार कृत 'साहित्य सुधा संग्रह', 'छात्रकौतुकम्', 'विदूषकपरिषद्' और 'वैदिक साहित्य सौदामिनी', श्री हरिवंश वेदालंकार कोछड़ी क 'वैताल पंचविंशति', श्री जनमेजय विद्यालंकार की 'अभिनव-काव्यम्', श्री आनन्दवर्धन विद्यालंकार की 'संवादमाला' एवं 'कुसुमलक्ष्मीः', श्री मदनमोहन विद्यालंकार की 'चारु चरितावलि' आदि मौलिक कृतियाँ संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि हैं। डॉ० मनोहरलाल विद्यालंकार, प्रो० वेदप्रकाश वेदालंकार, डॉ० सुभाषचन्द्र वेदालंकार, डॉ० निरूपण विद्यालंकार, डॉ० कृष्णकुमार आयुर्वेदालंकार, डॉ० सत्यकाम वर्मा आदि ने संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवियों के दुरुह ग्रन्थों की छात्रोपयोगी टीकायें तैयार की हैं। पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, प्रो० वागीश्वर विद्यालंकार, पं० सत्यकाम विद्यालंकार, श्री निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार, श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार, श्री उदयवीर 'विराज' विद्यालंकार, तथा श्री प्रताप विद्यालंकार ने संस्कृत के नाटकों, कथासंग्रहों एवं काव्यों के सुबोध एवं प्रांजल भाषा में हिन्दी रूपान्तर किये हैं, ताकि संस्कृत न जानने वाले भी इनका रसास्वादन सरलता से कर सकें।

गुरुकुल ने राष्ट्र को अनेक साहित्यकार, कवि एवं उपन्यासकार भी दिये हैं। पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, श्री विद्यानिधि सिद्धान्तालंकार, पं० सत्यकाम विद्यालंकार, श्री उदयवीर 'विराज' विद्यालंकार आदि ख्यातिप्राप्त कहानी लेखक और उपन्यासकार हैं। पं० बुद्धदेव विद्यालंकार, पं० वंशीधर विद्यालंकार, पं० सत्यकाम विद्यालंकार, श्री सत्यभूषण 'योगी' वेदालंकार, श्री आनन्दवर्धन विद्यालंकार आदि कितने ही स्नातकों ने हिन्दी के काव्य-साहित्य में वृद्धि की है। दर्शन, व्याकरण, साहित्यालोचन, इतिहास, जीवन-चरित्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद आदि विषयों पर उच्चकोटि के ग्रन्थों का प्रणयन करने वाले स्नातकों की संख्या बहुत ही अधिक है। इनमें श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, श्री प्राणनाथ विद्यालंकार, श्री अमरनाथ विद्यालंकार, पं० जयचन्द्र विद्यालंकार, पं० विनायकराव विद्यालंकार, श्री भूदेव विद्यालंकार, श्री अत्रिदेव विद्यालंकार, श्री धर्मदत्त विद्यालंकार, श्री विद्याधर विद्यालंकार, श्री कृष्णस्वरूप विद्यालंकार, श्री महामुनि विद्यालंकार, प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, श्री दीनानाथ सिद्धांतालंकार, श्री जयदेव विद्यालंकार, श्री सत्यदेव विद्यालंकार, पं० भीमसेन विद्यालंकार, डॉ० इन्द्रसेन जेतली आयुर्वेदालंकार, श्री विद्यानिधि सिद्धान्तालंकार, वैद्य निरंजनदेव, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री नारायणदत्त सिद्धान्तालंकार, डॉ० रणजीतराय आयुर्वेदालंकार, पं० सत्यकाम विद्यालंकार, पं० कृष्णचन्द्र विद्यालंकार, श्री धनराज विद्यालंकार, श्री शंकरदेव विद्यालंकार, श्री ब्रह्मदत्त शर्मा आयुर्वेदालंकार, श्री अवनीन्द्र

विद्यालंकार, डॉ० वीरेन्द्र विद्यावाचस्पति, श्री नित्यानन्द वेदालंकार, श्री सत्यपाल विद्यालंकार, श्री पृथ्वीसिंह मेहता, डॉ० ऋषिदेव वेदालंकार, श्री चन्द्रगुप्त वेदालंकार, प्रो० हरिदत्त वेदालंकार, श्री रामेश बेदी आयुर्वेदालंकार, डॉ० अरविन्द कुमार देसाई वेदालंकार, श्री क्षितीश वेदालंकार, श्री विद्यासागर वेदालंकार, श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति, श्री नवरत्न विद्यालंकार, श्री सत्यभूषण वेदालंकार, श्री श्यामसुन्दर स्नातक आयुर्वेदालंकार, डॉ० योगेश्वरदेव आयुर्वेदालंकार, डॉ० जयकृष्ण विद्यालंकार, डॉ० सत्यकाम वर्मा आयुर्वेदालंकार, डॉ० देवेन्द्र कुमार विद्यालंकार, श्री शंकरदेव वेदालंकार, डॉ० भगत सिंह वेदालंकार, श्री चन्द्रभानु वेदालंकार, डॉ० ओमप्रकाश वेदालंकार, डॉ० सुरेशकुमार विद्यालंकार, श्री विजयकुमार विद्यालंकार, डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार, श्री जगन्नाथ विद्यालंकार, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

कुछ स्नातकों को उनकी कृतियों पर विभिन्न संस्थाओं एवं प्रान्तीय सरकारों द्वारा पुरस्कृत एवं सम्मानित भी किया जा चुका है। पुरस्कृत लेखक हैं : प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, श्री धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, श्री सत्यदेव विद्यालंकार, श्री निधि सिद्धान्तालंकार, श्री सत्यकाम विद्यालंकार, श्री रामेश बेदी आयुर्वेदालंकार, श्री उदयवीर 'विराज' विद्यालंकार, डॉ० रामनाथ वेदालंकार, डॉ० निरूपण विद्यालंकार, श्री भगवद्दत्त वेदालंकार, श्री विजयकुमार विद्यालंकार, वैद्य धर्मदत्त विद्यालंकार, श्री विद्याधर विद्यालंकार, वैद्य रणजीतराय आयुर्वेदालंकार आदि।

हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में गुरुकुल के स्नातकों का प्रतिष्ठित स्थान है। यदि यह कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि बीसवीं शताब्दी के मध्य भाग तक हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ पत्रकारों में गुरुकुल के स्नातकों की संख्या सर्वाधिक थी। प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति को तो दिल्ली में हिन्दी-पत्रकारिता का जनक माना जाता है। श्री सत्यदेव विद्यालंकार, पं० भीमसेन विद्यालंकार, श्री रामगोपाल विद्यालंकार, पं० सत्यकाम विद्यालंकार, श्री अवनीन्द्र विद्यालंकार, श्री कृष्णचन्द्र विद्यालंकार, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, श्री दीनानाथ सिद्धान्तालंकार, श्री निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार, श्री परम वेदालंकार, श्री आनन्द विद्यालंकार, श्री अमृतपाल वेदालंकार, श्री कृष्णचन्द्र वेदालंकार, श्री धीरेन्द्रकुमार वेदालंकार, श्री क्षितीश वेदालंकार, श्री नरेन्द्र विद्यावाचस्पति, श्री विद्यासागर विद्यालंकार, श्री सूर्यदेव वेदालंकार, श्री सुभाषचन्द्र वेदालंकार, श्री दत्तात्रेय विद्यालंकार, श्री ब्रह्मदत्त विद्यालंकार, श्री नारायणदत्त विद्यालंकार, श्री सच्चिदानन्द विद्यालंकार, डॉ० देवेन्द्रकुमार विद्यालंकार, शिवकुमार विद्यालंकार, श्री जगदीश आयुर्वेदालंकार, श्री रवीन्द्र आयुर्वेदालंकार, श्री विद्यारत्न वेदालंकार, श्री गुरुदत्त वेदालंकार, श्री यशपाल वेदालंकार, श्री सुरेशचन्द्र वेदालंकार, श्री उदयवीर 'विराज', विद्यालंकार डॉ० जयकृष्ण विद्यालंकार, श्री भगवद्दत्त वेदालंकार, श्री धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, श्री वंशीधर विद्यालंकार आदि कितने ही नाम हैं जिन्हें हिन्दी-पत्रकारिता के इतिहास में सदा प्रतिष्ठा के साथ स्मरण किया जायेगा।

संस्मरणमाला : एक

स्वामी श्रद्धानन्द के सान्निध्य में

—श्री धर्मपाल विद्यालंकार

(प्रस्तुत संस्मरणों के लेखक उन चन्द सौभाग्यशाली व्यक्तियों में से हैं जिन्हें अपने संकल्प के अनुसार स्वामी श्रद्धानन्द जी के सान्निध्य में रहने, उनके साथ कार्य करने, उनसे विभिन्न विषयों पर विचार-विनिमय करने तथा सुख-दुःख को सुनने-सुनाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। गुरुकुल में वे स्वामी जी के शिष्य थे और स्नातक बनने के बाद सन् १९२२ से बलिदान-पर्यन्त उनके निजी मंत्री के रूप में सदा छाया रूप में उनके साथ बने रहे तथा धर्म-भाव से उनकी सेवा करते रहे। इस अवधि में स्वामी जी को उन्होंने जितना निकट से देखा, उतना शायद ही अन्य किसी ने देखा होगा। आइए, पण्डित जी द्वारा प्रस्तुत संस्मरणों के माध्यम से हम भी उस महापुरुष की जीवन-झाँकी के कुछ अनावृत चित्रों का दर्शन करें।)

महापुरुषों के पद-चिह्न जिस कल्याण मार्ग की प्रेरणा देते हैं, उसका अनुसरण मानव-कल्याण की एकमात्र दिशा होती है। समय-परिवर्तन हो जाने पर भी उनका इतिहास मौलिक आधार पर उन्नति एवं प्रगति का कारण होता है। ऐसे ही एक महापुरुष स्फूर्तिदायक महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) की जीवनगाथा अंकित करना उपयोगी है। उनके जीवन को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। यौवन-काल की उच्छृंखलता व उतार-चढ़ाव। इस काल में नास्तिक मुंशीराम का सन् १८७९ में बरेली में ऋषि दयानन्द से साक्षात्कार हुआ, जिससे मुंशीराम जी का जीवन स्रोत कल्याण-मार्ग की ओर धीरे-धीरे प्रवाहित होने लगा, जो उनके जीवन की आत्माहुति के कठिन मार्ग की कहानी है। उनका जीवन निर्भयता, वीरता और साहस से भरा हुआ है।

ऋषि दयानन्द का स्वर्गवास १८८३ ई० में हुआ। पं० गुरुदत्त जी आदि लाहौर से ऋषि के स्वर्गारोहण के समय अजमेर पहुँचे थे। ऋषि दयानन्द की मृत्यु के बाद उनकी स्मृति में 'दयानन्द विद्यालय' स्थापित किया गया। आर्यसमाज ने अन्य सार्वजनिक सुधार-कार्यों के साथ प्राचीन आर्य जाति की संस्कृति की रक्षा के लिए 'शिक्षा-प्रचार' की ओर विशेष ध्यान दिया। पंजाब और उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज का प्रचार तीव्रता से हो रहा था। लाहौर आर्यसमाज का केन्द्र था, जहाँ श्री साईंदास जी और लाला देवराज जी से मुंशीराम जी का सम्पर्क हुआ। 'सत्यार्थप्रकाश' को पढ़ने से उनके जीवन में भारी परिवर्तन हुआ और वे १८८५ ई० में आर्यसमाज में प्रविष्ट हो गये। उनके पिता की मृत्यु १८८६ ई० में और धर्म-पत्नी की मृत्यु १८९१ ई० में हो जाने के बाद वे अपने जीवन को सच्चे अर्थों में आर्य

बनाने का प्रयत्न करने लगे तथा अपना सारा समय वैदिक धर्मप्रचार में देने लगे। लाहौर के समान जालन्धर भी आर्यसमाज की गतिविधि का केन्द्र हो गया और आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान हो जाने से मुंशीराम जी 'प्रधान जी' कहलाने लगे।

महात्मा मुंशीराम जी के जीवन का दूसरा भाग वानप्रस्थ आश्रम से प्रारम्भ होता है। सत्यार्थप्रकाश में वर्णित आचार्य-कुल व गुरुकुल ने बालकों की शिक्षा के लिये गुरुकुल प्रणाली की ओर उनका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया। दयानन्द-विद्यालय की पाठविधि से पं० गुरुदत्त जी आदि संतुष्ट न थे। १८९० ई० में मुंशीराम जी ने 'सद्धर्म प्रचारक' नामक एक साप्ताहिक पत्र प्रारम्भ किया और सन् १९०० में आर्य प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल की स्थापना का निश्चय किया और उसके लिये धन एकत्र करने एवं स्थान आदि ढूँढने का दायित्व मुंशीराम जी को सौंपा गया। मुंशीराम जी ने तब तक के लिये गृह-परित्याग करने का निश्चय कर लिया जब तक आवश्यक धन एकत्र न हो जाये। सारी व्यवस्था हो जाने पर उन्होंने ही काँगड़ी ग्राम में १९०२ ई० में गुरुकुल की स्थापना की।

देश के शिक्षाशास्त्रियों और आर्य जनता का इस नवीन परीक्षण की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। शिक्षाक्षेत्र में हलचल मच गई। गुरुकुल के लिये जीवन-दान कर देने पर मुंशीराम जी 'महात्मा' कहलाने लगे और महात्मा मुंशीराम जी 'जिज्ञासु' के नाम से प्रसिद्ध हुये।

हमें स्वप्न में भी कल्पना न थी कि हमारा जीवन प्रवाह एक ऐसे स्वनाम-धन्य महापुरुष महात्मा मुंशीराम जी के निकटतम सम्पर्क में आ जायेगा—हम उनका शिष्यत्व ग्रहण करेंगे, उनका स्नेह व प्यार प्राप्त करेंगे, उनके साथ कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त करेंगे और इतिहास के रूप में पुण्य-स्मृतियाँ लिखने का अवसर आयेगा। जो स्मृतियाँ हैं वे 'स्वान्तः सुखाय' हैं और वे इतनी अधिक हैं कि यदि लेखबद्ध किया जाये तो एक पुस्तक तैय्यार हो जायेगी। फिर भी उनमें से कुछ उल्लेखनीय एवं प्रेरक स्मृतियाँ लिखने का प्रयास किया जा रहा है।

× × ×

सन् १९०५ की बात है। गुरुकुल की स्थापना के चमत्कार से आर्यजन बहुत प्रभावित थे। यह समाचार बदायूँ तक भी पहुँचा। मैं अपने समृद्ध जमींदार परिवार का इकलौता पुत्र था। अपने पिता के तीन भाइयों में सबसे बड़े का एक-मात्र पुत्र होने के कारण चरित्र बिगड़ जाने की आशंका से बचाने के लिये बदायूँ के राय रोशनलाल जी बैरिस्टर ने मेरे पितामह को परामर्श दिया कि बालक को गुरुकुल भेज दिया जाये। हमारा परिवार आर्यसमाजी विचारधारा का तो था ही, अतः परिवार के लोगों ने श्री रोशनलाल जी के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर मुझे गुरुकुल भेजने का निश्चय कर लिया। घर पर ही वेदारम्भ संस्कार करवा कर ६ वर्ष की आयु में मुझे गुरुकुल भेज दिया गया। वेदारम्भ संस्कार ठीक वैसे

ही हुआ जैसा गुरुकुल में होता है। उसके बाद हरिद्वार के लिये यात्रा प्रारम्भ की गई। घर से रेल द्वारा सब परिवार ने यात्रा की। नौकर-चाकरों सहित हम २५–३० व्यक्ति थे। रेल में नींद नहीं आई। प्रातःकाल हरिद्वार स्टेशन की ठंडी हवा की भी आज तक याद है। हरिद्वार स्टेशन पर उतर कर तथा बैलगाड़ी पर सवार होकर दूर-दूर तक फैली रेत और गोल-गोल सफेद पत्थरों पर ठसोके लेते हुये हिमालय पर्वत के पीछे से उगते हुये गर्मी देने वाली सूर्य की किरणों में गंगा पर खटोलों के बने हुये पुल पर से गुजरते हुये जब गंगा के विशुद्ध निर्मल जल पर पड़ने वाली सूर्य की चमक के कारण झिलमिलाते चंचल और कलरव करने वाले स्वच्छ जल में से तल के पत्थर और मछलियों को देखा तो ऐसा लगा मानों हम किसी नवीन संसार में प्रविष्ट हो रहे हैं। थकान के कष्ट को इन मनोहर प्राकृतिक दृश्यों से कुछ न समझ कर गुरुकुल पहुँचे। वहाँ ठहरने के लिये गंगा के किनारे छप्पर की एक लम्बी कतार थी। उन्हीं में से एक लम्बी सी झोपड़ी में हम लोगों को ठहराया गया। गुरुकुल के प्रारम्भिक उत्सवों के प्रवन्ध के लिये मेरे पिता जी के साथ बदायूँ के आर्यसमाजियों का एक बड़ा जत्था भी गुरुकुल आया करता था, अतः वे लोग भी हमारे साथ थे।

× × × ×

इन दिनों गुरुकुल की इमारतों का विकास हो रहा था। विद्यालय और महाविद्यालय के भवन नहीं बने थे। जल की व्यवस्था के लिये गुरुकुल में एक छोटा कुआँ तैयार हो रहा था। कौतूहलवश मैं उस कुएँ को देखने गया और अपने परिवार से पृथक् हो गया। मैं जंगल में निराश बालक के समान रोने लगा। मालूम होता है कि वह आवाज महात्मा मुंशीराम जी ने सुनी। महात्मा जी उधर आये। उन्हें देख कर मुझे ऐसा लगने लगा कि मानों देवलोक से कोई ऋषि उतर कर आ गया हो। एक दीर्घकाय महापुरुष कौतूहलपूर्ण प्रेम भरी दृष्टि से सान्त्वना दं रहे थे। वे हाथ पकड़ कर मुझे हमारे निवास-स्थान तक पहुँचा गये। यह महात्मा मुंशीराम जी का प्रथम दर्शन था। उस समय से अन्य ब्रह्मचारियों के साथ मैं भी आचार्यप्रवर के तीक्ष्ण प्रेममय संरक्षण में १६ वर्ष तक रहा। दैव की विचित्र व्यवस्था है कि प्रथम दर्शन के बाद गुरुकुल में और स्नातक बन जाने के बाद भी जब कभी कोई कठिनाई आई तो उसका समाधान महात्मा जी द्वारा ही किया गया। इस प्रथम दर्शन की छाप इतनी अधिक गहरी पड़ी कि जीवन में सदैव अभिलाषा बनी रही कि जैसे हो, महात्मा मुंशीराम जी के आसपास रहा जाये। इससे एक विशेष प्रकार की तुष्टि, निश्चिन्तता और आनन्द की अनुभूति होती थी। यह इच्छा दैव गति से पूर्ण भी हो गई।

गुरुकुल के प्रारम्भिक उत्सव यज्ञशाला में होते थे, यद्यपि उन दिनों आजकल की तुलना में दर्शकों की संख्या बहुत अधिक नहीं होतो थी, तो भी उत्साह बहुत रहता था और दान अत्यधिक आता था। गुरुकुल के विस्तार के कारण बाद में

उत्सव विद्यालय के प्रागंण में होने लगे और विश्वविद्यालय का रूप धारण कर लेने पर गोशाला के पास बड़े पंडाल में होने लगे। उस जमाने के आर्य पुरुष महात्मा मुंशीराम जी के द्वारा जिस नवीन भारत के निर्माण का स्वप्न देखते थे, क्या आज भी वही स्वप्न देखा जाता है।

× × × ×

महात्मा मुंशीराम जी में एक विशेष प्रकार का आकर्षण था। उनकी मुद्रा में जैसा वात्सल्य प्रेम था उसका हम पर एक विशेष प्रभाव था। सदा ही यह इच्छा जागृत रहती थी कि उन्हें आँख भर कर देखते रहें। उन दिनों गुरुकुल के लिये धन-संग्रह आदि के कार्य से प्रायः उन्हें बाहर रहना पड़ता था। जब वे गुरुकुल में होते तो प्रातः-सायम् गुरुकुल में 'राउन्ड' लगाते थे। अपने सामने विद्यार्थियों की भोजन करवाते थे। बंधा हुआ नियमित समय था। प्रातः काल अपने सामने ही विद्यार्थियों को दूध आदि प्रातराश करवाते थे। सर्दियों में रात्रि में घूम-घूम कर देखना कि कोई छात्र उघड़ा हुआ तो नहीं है। व्यायाम द्वारा बलिष्ठ, सुन्दर शरीर बने, इसके लिये उन दिनों व्यायाम खूब हुआ करता था। आचार्य जी प्रातः ५ बजे अपने सामने ही विद्यार्थियों से दण्ड-बैठक आदि लगवाते थे। हर मौसम में मौसमी फल भरपेट खाने को मिलते थे। आम और खरबूजे की बहार के दिनों में फल खाने के लिये विशेष अनध्याय भी हो जाते थे। महात्मा जी उपस्थित होते और हृदय में यह चाह रहती थी कि हमें येन-केन प्रकारेण आचार्य जी का आशीर्वाद प्राप्त हो जाये। और कोई तरकीब न सूझी तो पहाड़ों पर से प्याल के फल लाकर, बहुत हिम्मत बाँध कर आचार्य जी के सम्मुख प्रस्तुत किया करते और इसी बहाने उनका आशीर्वाद और वात्सल्य प्रेम प्राप्त करते। इससे एक विशेष प्रकार की तृप्ति अनुभव होती थी। इस प्रकार पठन-पाठन, खेलकूद, खाने-पीने में तो बाल्य-काल बीतता ही था, परन्तु उसके साथ ही यह धुन भी रहती थी कि आर्यसमाज और वैदिक धर्म का सन्देश अरब तक तो पहुँचाना ही होगा। उस समय के गुरुकुल का वातावरण ही ऐसा था। वे स्वप्नों के दिन थे।

× × × ×

गुरुकुलीय जीवन में आचार्य महात्मा मुंशीराम जी के व्यवहार से प्रत्येक छात्र को ऐसा अनुभव होता था कि आचार्य जी की दृष्टि उसी के ऊपर है। वस्तुतः वे प्रत्येक छात्र से अच्छी प्रकार परिचित थे। सब छात्रों से समान व्यवहार होने पर भी मुझे यह अनुभव होने लगा था कि उन्हें हमसे विशेष स्नेह है। संभवतः इसका कारण यह था कि बदायूँ के १०-१२ छात्र—मैं स्वयं, मेरा भाई शान्तिस्वरूप, कृष्णस्वरूप जी, महानन्द जी, निरंजनदेव जी, जगन्नाथ पथिक, शान्तिस्वरूप द्वितीय आदि—एक साथ आगे-पीछे ही गुरुकुल में प्रविष्ट हुये थे। उस समय के मेरे जीवन में महात्मा जी द्वारा मुझ पर स्नेह-वर्षा किये जाने के अनेक विचित्र प्रसंग हैं। जैसे बढ़ी हुई गंगा को पार करके वापस लौटते समय डूबता हुआ देखकर मुझे

बचवाना, हॉकी-फुटबाल एवं कुश्ती आदि में मेरी रुचि देखकर उनके लिये मुझे और अधिक प्रोत्साहित करना, मेरठ के हॉकी के हार्नेट टूर्नामेंट में रेलवे की अंग्रेज खिलाड़ियों की टीम से पहले दिन हारती हुई हमारी टीम को निराश एवं अनुत्साहित देख कर मुझे और मेरे दल के अन्य सदस्यों को बुला कर उत्साहित करना तथा एक दिन गर्मी के मौसम में प्रातः अपने बंगले में शेर आ जाने पर मुझे आवाज देकर बुलाना आदि स्मृतियों की लम्बी परम्परा है।

× × ×

सन् १९०७ ई० का जमाना था। लाला लाजपतराय और लोकमान्य तिलक को देश-निकाला दिये जाने से सम्पूर्ण देश में बहुत उत्तेजना फैली हुई थी। गुरुकुल में विज्ञान के प्रोफेसर श्री लाहरी जैसे अनेक क्रान्तिकारी अध्यापक आ गये थे। गुरुकुल में ही पण्डित सातवलेकर जी की गिरफ्तारी का आयोजन था। इन सब बातों का गुरुकुल पर बहुत प्रभाव पड़ रहा था। विद्यार्थियों में 'क्रान्ति' का जादू चल रहा था, गुरुकुल का प्रबन्ध भी उन दिनों कुछ गड़बड़ था। यह समझ नहीं पड़ता था कि गुरुकुल की क्या स्थिति होगी। संभवतः महात्मा जी उन दिनों बीमारी के कारण गुरुकुल में अधिक नहीं रह पाते थे। कुछ दिनों बाद वे जब आये तो वातावरण शान्त हुआ और उन्होंने यज्ञशाला में नियमित रूप से साप्ताहिक उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। महात्मा जी का 'ब्रह्मचर्य' प्रिय विषय था। परन्तु इसके साथ ही वे सामाजिक एवं राजनैतिक विषयों पर जो उपदेश देते थे उसका हम सब पर भिन्न-भिन्न प्रभाव हुआ और गुरुकुल का वातावरण एकदम शान्त हो गया।

× × ×

सन् १९०८ ई० के लगभग पटियाला में आर्यजनों पर मिस्टर बारबटन द्वारा राजद्रोह का अभियोग चलाया गया। वह समय भी बहुत नाजुक था। आर्यसमाज के जीवन में वह समय आशंका की दृष्टि से देखा जा रहा था, हम लोग भी गुरुकुल में यह देख रहे थे कि देखें क्या होता है? लाहौर आर्यसमाज के उत्सव पर महात्मा मुंशीराम जी ने जो निर्भीकता पूर्ण वक्तव्य दिया उसने आर्यसमाज पर आये हुये अन्धकार के बादल को छिन्न-भिन्न कर दिया, आर्यजनता में वह दृढ़ता व साहस उत्पन्न हो गया जिसने आर्यसमाज के मस्तक को उज्ज्वल किया और उसे जीवित जागृत संस्था बना दिया। इसके बाद जब महात्मा जी गुरुकुल पधारे तो हम उनको एक अद्वितीय देवपुरुष के रूप में देखने लगे। पटियाला के केस के बाद लाला नन्दलाल जी, लाला मुरारीलाल जी व अन्य महानुभावों को महात्मा जी गुरुकुल लाये, जिन्होंने गुरुकुल में प्रबन्ध की आधारशिला को और अधिक दृढ़ कर दिया।

लाला मुरारीलाल जी कार्यालयाध्यक्ष तो थे ही, साथ ही दृढ़ आर्यसमाजी होने के कारण बड़े भारी नैतिकतावादी भी थे। कुछ समय के लिये प्रधान अधिष्ठाता

बने तो बड़ी सख्ती से नियम-पालन होने लगा। दुर्भाग्य कहिए या सौभाग्य उनकी मुझसे भी भिड़न्त हो गई। बात यह हुई कि साधारण नियम के विपरीत एक दिन प्रातः काल ४ बजे से पूर्व ही निद्रा खुल जाने से शौच, स्नानादि से शीघ्र निवृत्त हो गया। उसी दिन उनके कार्यालय का कुछ सामान अस्त-व्यस्त हो गया। दो विद्यार्थियों की असत्य सूचना के आधार पर लाला मुरारीलाल जी का मुझ पर सन्देह हो गया। खिचाव यहाँ तक बढ़ा कि किसी भयंकर दुर्घटना होने तक की संभावना हो गई। महात्मा जी के सामने जाना आसान न था, इसलिये वास्तविक स्थिति लिखकर मैं उनकी अनुपस्थिति में मेज पर रख आया। सायंकाल महात्मा जी आश्रम में आये और लाला मुरारीलाल जी को ढूंढ़ कर बुलवाया और समझाया। मुझे डर था कि कहीं मैं भी बुलाया जाऊँ, पर मुझे नहीं बुलाया गया। समस्या तो सुलझ गई, परन्तु उस दिन से गाँठ बाँध ली कि ऐसी हालत उत्पन्न ही नहीं होने दूँगा कि महात्मा जी के पास पहुँचने की नौबत आये। इस दिन महात्मा जी का रक्षक रूप पुनः सामने आया।

× × ×

आचार्य मुंशीराम जी द्वारा स्वस्थ एवं सवल शरीर निर्माण की प्रेरणा दिये जाने से हमारे स्वभाव में विचित्र परिवर्तन होने लगा। अत्यधिक व्यायाम करने, हॉकी-फुटबाल खेलने, कुश्ती करने, तैरने आदि में सर्वोत्कृष्टता प्राप्त करने की धुन दिमाग में समा गयी। एक दिन की बात है कि बरसात में जलाप्लावित गंगा में गंगा की धारा को सीधा तैर कर पार करने का शौक चढ़ आया। सदा के समान प्रयत्न करने पर भी उस दिन इसमें सफलता नहीं मिली और डूबने-उतराने लगा। महात्मा जी के बंगले के सामने का गंगा का पाट उस समय बहुत अधिक था। महात्मा जी गुरुकुल के अपने प्रसिद्ध खटुआ वृक्ष के नीचे खड़े हुये मेरे डूबने और उतराने को देख रहे थे। तुरन्त ही उन्होंने तुम्बे पर चन्द्रकेतु जी आदि बड़े ब्रह्मचारियों को भेजा। ब्रह्मचारियों के पहुँचने से पहले ही मैं पार लग चुका था, परन्तु थकान इतनी अधिक हो गई थी कि घंटा भर विश्राम करने के बाद होश आया। महात्मा जी बराबर तब तक बैठे रहे जब तक कि मैं इस पार नहीं आ गया। इधर आने पर उन्होंने प्रेम पूर्वक भर्त्सना की और शिक्षा दी कि "साहसिक कार्य के लिये अपने-अपने बलाबल को तोलना आवश्यक है। अपनी शक्ति पर सामर्थ्य से अधिक भरोसा करना उचित नहीं है, अधिक योग्यता अर्जित करो और भरोसा करो।"

× × ×

एक बार महात्मा जी का स्वास्थ्य खराब हो गया। आवश्यकता इस बात की हुई कि रात्रि ही रात्रि में रुड़की से दवाई लाई जाये। विकट सर्दियाँ थीं—संभवतः दिसम्बर का महीना था। सवाल यह पैदा हुआ कि इस ठण्ड में और खतरे से परिपूर्ण जंगल में से कौन आदमी जाये। मेरी हमेशा यह इच्छा रहती

ही थी कि किसी प्रकार महात्मा जी का कार्य करने का अवसर प्राप्त हो। मैंने यह कार्य अपने ऊपर लिया और बाद में मेरे साथ पण्डित अर्जुनदेव जी भी हो लिये। रात ही रात हम दोनों हरिद्वार होते हुए रुड़की पहुँचे। समाज मन्दिर बन्द था। रात भर बरामदे में ठण्ड में पड़े रहे और दूसरे दिन दवाई लेकर समय पर गुरुकुल पहुँच गये। जब महात्मा जी ने देखा तो मुस्कराये और बोले—"अच्छा तुम दवाई लाये हो?" मेरी खुशी का क्या पारावार था?

× × ×

महात्मा मुंशीराम जी को बाहर के विरोधियों से उतना संघर्ष नहीं करना पड़ा, जितना कि उन लोगों से करना पड़ा जिन्हें उन्होंने स्वयं बनाया, प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा प्राप्त कराई और जिन पर पूर्ण भरोसा करके अपना कार्य समर्पित किया। महात्मा मुंशीराम जी ने संन्यास लेने से पूर्व सन् १९१७ में जब गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर अपनी सम्पूर्ण कई लाख की सम्पत्ति गुरुकुल को दान करने की घोषणा की तो सनसनी छा गई। इस बात का कहना कुछ अच्छा तो मालूम नहीं होता, मगर उस समय भी मुझे यह ख्याल पैदा हुआ था कि यह ठीक नहीं हुआ। जिन व्यक्तियों को इस महान् त्याग से वंचित होना पड़ा और उन्होंने इस पर भी इसे अच्छा माना तो यह उनके बड़प्पन की बात है। परन्तु जब कभी मैं संदेह में स्वामी जी से पूछ बैठता था कि इसप्रकार का निर्मोह पूर्ण त्याग क्या उचित हुआ तो वे मेरे इस उद्धत प्रश्न पर मुस्करा देते और कहते—"'संन्यास' और 'त्याग' तो एक ही चीज है।" वस्तुतः श्रद्धा, त्याग, निर्भयता यही उनका जीवन था। संन्यास लेने के लिये जब वे गुरुकुल से विदा हुये तो सब गुरुकुलवासी शोकाकुल होकर उनके पीछे उसीप्रकार चले जैसे कि राम के वन को जाते समय सारी प्रजा दुःखी होकर उनके पीछे चली थी। सब कुलवासियों के हृदय क्षुब्ध थे। मायापुर बाग में संन्यास लेने की व्यवस्था की गई थी। अन्दर-अन्दर सभी रो रहे थे, कोई बोलता-चालता नहीं था। जब वे महात्मा मुंशीराम जी से स्वामी श्रद्धानन्द हुये तो उस वक्त की याद है। १२-१३ वर्ष का जीवन-चित्र एकदम बिल्कुल बदल गया था।

महात्मा जी तो स्वामी जी हो गये, मगर उसका हम सब लोगों पर और गुरुकुल पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव बड़ा विचित्र हुआ। गुरुकुल में भूचाल-सा आ गया। प्रत्येक कार्य उथल-पुथल हो गया। परिणाम यह हुआ कि महाविद्यालय के अधिकांश विद्यार्थी इच्छा न रहने पर भी गुरुकुल छोड़ गये। मैंने भी गुरुकुल छोड़ दिया। बाध्य होकर सभा के विशेष अनुरोध पर स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज पुनः गुरुकुल के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता पद पर आ गये। जब यह बात मालूम हुई कि स्वामी जी पुनः गुरुकुल पधार रहे हैं तो मैं घर से भाग कर गुरुकुल आ गया। गुरुकुल के सब कर्मचारी और ब्रह्मचारी स्वामी जी को लेने के लिये हरिद्वार स्टेशन पर पहुँचे तो मैं भी ट्रेन आने से पहले स्टेशन पर मौजूद था। मैंने चाहा भी कि

स्वामी जी की नजर से बचूँ, मगर उनकी दृष्टि इतनी व्यापक थी कि कोई व्यक्ति उनकी नज़र से बच नहीं सका। गुरुकुल आने पर जब सब ब्रह्मचारी व कर्मचारी मिल चुके तो मैं भी हिम्मत बाँध कर तीसरे दिन उनके दर्शन के लिये पहुँचा। पहुँचते ही उन्होंने प्रश्न किया—"तुम गुरुकुल क्यों छोड़ गये? तुम्हें गुरुकुल आ जाना चाहिये।" इतना काफी था। इसके बाद और कोई बात नहीं हुई, मैं प्रणाम करके तुरन्त वापस लौट आया। स्वामी जी ने कार्यालय में सूचना दे दी और मैं गुरुकुल में पुनः प्रविष्ट हो गया।

× × ×

स्नातक बनने के बाद जब मैं घर पहुँचा तो हमारे परिवार की सम्पत्ति के बंटवारे का प्रश्न बड़ा विकट हो उठा था। विचित्र बात यह थी कि एक बड़े मकान के विषय में पिता सहित सभी लोग मेरी इच्छा का आदर नहीं करते थे। इससे परेशान एवं दुःखी होकर मैं घर से फिर भाग खड़ा हुआ। लिखने पर स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने अपने पास बुलवा लिया। जब मैं दिल्ली में उनके पास पहुँचा और उन्होंने मुझसे कई प्रश्न किये तो मालूम हुआ कि उन्हें हमारे परिवार की सब समस्याओं का पता था। उन्होंने यह समझ कर कि मैं घर से नाराज होकर भाग आया हूँ और कुछ दिनों बाद वापस हो जाऊँगा, मुझे अपने साथ रहने की आज्ञा दे दी। उन दिनों शुद्धि का बड़ा जोर था और मलकाने राजपूतों में पंचायतें हो रही थीं। रायवा की प्रसिद्ध पंचायत में मैं स्वामी जी के साथ गया और उनके व्यस्त कार्यक्रम में उनके साथ ही साथ घूमता रहा और उनकी सेवा करता रहा। जब महीना बीत गया, मैंने लौटने का नाम नहीं लिया और मेरे पिता जी की बड़ी सख्त चिट्ठियाँ स्वामी जी के पास आने लगीं तब स्वामी जी ने स्पष्ट रूप से पूछा कि "तुम घर जाओगे या नहीं?" मैंने भी साफ जवाब दिया—"मेरा घर लोटने का विचार नहीं है।" इस पर उन्होंने कई प्रकार से मेरी परीक्षा ली। मुझे शहादरा-सहारनपुर लाइन पर के गाँवों में मूलाजादे व्यक्तियों की सूचियाँ बनाने और पंचायतें करने-करवाने का काम सुपुर्द किया। आर्यसमाज के एक स्वामी भास्करानन्द जी, स्वामी व्रतानन्द जी महाराज, मैं और एक वैद्य जी यह कार्य करने लगे। स्वामी भास्करानन्द जी बड़े चलैया थे—एक बार में तीस-तीस मील का चक्कर लगा लिया करते थे। स्वामी श्रद्धानन्द जी २–३ महीने के लिये दक्षिण भारत की यात्रा पर चले गये थे। मैं इस चला-चली से बड़ा परेशान था। जब वे लौटे तो मुझे फिर दिल्ली में पाया। बड़े आश्चर्य से बोले—"तुम घर नहीं जाओगे?" मैंने फिर इन्कार कर दिया। इस सबका परिणाम यह हुआ कि लगभग निश्चित हो गया कि मैं अब स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन पर्यन्त उनकी सेवा करता रहूँगा। यह सौभाग्य मुझे प्राप्त भी रहा। स्वामी जी के पास २४ घण्टे रहने और उनकी कार्य-क्षमता, उद्देश्य एवं विशाल हृदय को देखने का सुअवसर मिला। किसी व्यक्ति में इतने गुण कहाँ देखने को मिलेंगे? इसे चाहे दुर्गुण कहिये

या गुण, उनका हृदय स्फटिक के समान निर्मल था। वे व्यक्ति के दुर्गुणों को बहुत कम देखते थे और गुणों को अधिक देखते थे। यही कारण था कि प्रत्येक आपत्ति-ग्रस्त व्यक्ति—जो उनके पास पहुँचा—ने उनका संरक्षण पाया। यही उनके सरल स्वभाव का गुण था, जिसके कारण अनेक व्यक्तियों ने उनसे विश्वासघात करके अनुचित लाभ उठाया और उन्हें हानि पहुँचायी। उस पर तुर्रा यह कि स्वामी जी की तीक्ष्ण दृष्टि से कोई व्यक्ति छिप भी नहीं सकता था। वे हानि पहुँचाने की बात जान लेने पर भी अन्तिम सीमा तक प्रत्येक व्यक्ति को निभाते थे।

स्वामी जी का समय-विभाग निश्चित था। प्रातः स्नान, संध्या और यज्ञ से निवृत्त होकर ठीक ५·३० बजे मुझे आवाज देते और ११ बजे तक पत्रों के उत्तर व लेख आदि लिखाते थे। मध्याह्नोत्तर ४ बजे कुछ विश्राम करते और उस समय प्रायः अपने अनुभव एवं संस्मरण सुनाते। समय की पाबन्दी उनके स्वभाव का अभिन्न अंग था। उनसे मिलने वालों की निरन्तर भीड़ लगी रहती। मेरी जुम्मेदारी थी कि मैं निश्चित समय के अनुसार सब आगन्तुकों की भेंट की व्यवस्था करूँ।

× × ×

स्वामी जी के सार्वजनिक जीवन का अन्तिम अध्याय शुद्धि, संगठन और अछूतोद्धार का अध्याय है। उस समय देश के राजनैतिक क्षेत्र में बहुत निराशा उत्पन्न हो गई थी। हिन्दू-मुस्लिम दंगों से सारा वातावरण भरा हुआ था। न जाने यह गलत ख्याल कैसे पैदा हो गया था कि जब तक हिन्दू-मुस्लिम एकता नहीं होगी तब तक स्वराज्य नहीं मिलेगा। नतीजा यह हुआ कि जिन लोगों का यह ख्याल था कि स्वामी जी महाराज, मालवीय जी एवं लाला लाजपतराय आदि के शुद्धि व अछूतोद्धार के आन्दोलनों के कारण स्वराज्य मिलने में बाधा उत्पन्न हो रही है, उनकी ओर से आक्षेप होने लगे और अनेक प्रकार के असत्य प्रचार भी किये जाने लगे। जितना-जितना असत्य प्रचार किया जाता रहा उतना ही शुद्धि आदि का कार्य अधिक होने लगा। इन आन्दोलनों को प्रगति देने के लिए स्वामी जी को २४ घण्टे की कठोर यात्रा करके संगठन, निर्देशन और प्रचार आदि का कार्य करना पड़ा। ७२ वर्ष की आयु के इस महान् पुरुष की अदम्य और असाधारण शक्ति को देखकर आश्चर्य होता था। रात्रि को रेल की यात्रा, दिन में दो-दो, तीन-तीन बड़े शहरों में व्याख्यान देना तथा महीने-महीने और दो-दो महीने के टूर लगाना। इन यात्राओं में हम तो थक जाते थे, पर उनमें थकान नहीं आती थी। उत्तरप्रदेश और पंजाब की यात्राओं में मैं उनके साथ स्यालकोट तक गया। जनसमूह में जैसे बिजली सी दौड़ जाती थी, उत्साह की लहर दौड़ जाती थी।

× × ×

हम लोग देशभक्त थे। राजनैतिक कांग्रेस आदि संस्थाओं का प्रबल आन्दोलन था, इसलिये हम संदेह में पड़ जाते थे कि कहीं वस्तुतः देश के लिए यह आन्दोलन हानिकारक तो सिद्ध न होगा। अब तो इतने वर्षों के बाद यही मालूम होता है

कि इन आन्दोलनों के न होने से ही देश को बहुत विपत्ति उठानी पड़ी है, और बहुत समय तक भविष्य में भी विपत्ति उठानी पड़ेगी। कभी-कभी मैं भी प्रश्नवाचक ढंग से स्वामी जी से पूछने लगता था कि इससे किसी प्रकार की हानि तो न होगी? उनका प्रायः यही समझना होता था कि जब तक देश में छुआछूत दूर नहीं होगा, जनता में सदाचार की स्थापना नहीं होगी और आर्य जाति की रक्षा नहीं होगी, तब तक भारतवर्ष का वास्तविक स्वरूप विकसित नहीं होगा।

'यूनिटी कान्फ्रेन्स देहली' में दिये गये उनके प्रवचन इसी विचार पर आधारित होते थे। महात्मा गाँधी जी अपने २९ दिन के उपवास से पूर्व जब स्वामी श्रद्धानन्द जी से मिले तो उस वक्त का दृश्य भी मेरी आँखों के सामने है। हम लोगों ने तो यही अनुभव किया कि स्वामी जी के सामने महात्मा जी सर्वथा हतप्रभ, निरुत्तर संभवतः पश्चात्ताप पूर्ण भी थे। विचित्र बात तो यह थी कि उनका इलाज करते थे डॉ० अंसारी, तथा श्री कुरैशी एवं अन्य कतिपय मुसलमान महानुभाव उनके घनिष्ठ मित्र थे। कौन उन्हें साम्प्रदायिक कह सकता था?

× × ×

सन् १९२१ ई० में ही मोबला काण्ड तथा सहारनपुर सुल्तान कोहाट आदि स्थानों पर मुसलमानों द्वारा भयंकर अत्याचार किया गया। स्वामी जी ने अनुभव किया कि बिना हिन्दू-संगठन के आर्य-हिन्दू-जाति की रक्षा नहीं हो सकेगी। दूसरी ओर मुसलमानों के बहुत से मौलवी मलकाना राजपूतों और मूला जाटों को पूरी तरह से मुसलमान बनाने का आन्दोलन चला रहे थे। इसके प्रतिकार में सन् १९२३ में शुद्धि सभा की स्थापना हुई और स्वामी श्रद्धानन्द जी उसके प्रधान बनाये गये। सन् १९२४ में महात्मा गाँधी ने आर्यसमाज, ऋषि दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द जी के खिलाफ अनेक लेख लिखे और 'शुद्धि' संगठन को स्वराज्य प्राप्त करने में बाधक बताया। इससे मुसलमानों को सहारा मिला और वे बहुत ज्यादा भड़क उठे। प्रतिदिन स्वामी जी को मार डालने की धमकी भरी चिट्ठियाँ आने लगीं।

मैं सन् १९२२ में स्वामी जी के पास गया था। शुद्धि-सभा की स्थापना के साथ ही स्वामी जी ने 'शुद्धि' और 'हिन्दू संगठन' के प्रचार के लिये दैनिक 'तेज' (उर्दू), 'अर्जुन' (हिन्दी) और 'लिबरेटर' (अंग्रेजी) साप्ताहिक पत्रों को निकालना आवश्यक समझा। महात्मा गाँधी जी ने आर्यसमाज और स्वामी जी के विरुद्ध कई लेख लिखे। वे शुद्धि कार्य को हिन्दू-मुस्लिम एकता में बाधक समझते थे और स्वराज्य प्राप्ति के लिए हानिकारक मानते थे, जब कि स्वामी जी हिन्दू जाति के संगठन से ही आर्यावर्त देश का कल्याण और प्रगति होना मानते थे। स्वामी जी द्वारा समाचार-पत्र श्री जुगलकिशोर बिड़ला की सहायता से निकाले गये थे।

× × ×

अर्थ-शुचि एवं सदाचार की हानि को स्वामी जी किसी प्रकार बर्दाश्त नहीं

करते थे। ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित आदर्श के अनुरूप अपने जीवन को बिताने का संकल्प लिये हुये थे। उनका जीवन अत्यन्त सादा, संयमी और किफायतशारी से चलने वाला था। उनके जीवन का मूलमंत्र 'सादा जीवन उच्च विचार' था। यद्यपि स्वामी जी के बहुत से श्रद्धालु आर्य पुरुष थे, परन्तु उनके वस्त्र आदि की व्यवस्था पिण्डवादनखाँ के श्री ईश्वरदास जी करते थे तथा अन्य व्ययों की व्यवस्था डॉक्टर सोभ—जिन्हें महात्मा मुंशीराम जी ने उच्च शिक्षा के लिये इंग्लैण्ड भिजवाया था—करते थे। वे अपनी विदेशी धर्मपत्नी और पुत्रियों सहित वर्ष में एक बार अवश्य स्वामी जी के दर्शनों के लिये आते और कम से कम ३००० रुपये भेंट करते थे, जो स्वामी जी के निर्वाह के लिये आवश्यकता से अधिक होता था और जिसका उपयोग शुद्धि आदि में किया जाता था।

× × ×

'अर्जुन' और 'तेज' के प्रकाशन आदि के लिये जो धन लिया गया था उसकी वापिसी का कार्य स्वामी जी ने मेरे सुपुर्द किया था। मैं प्रतिदिन सायंकाल अर्जुन के कार्यालय में जाकर बिक्री आदि का सम्पूर्ण धन ले आता था, यद्यपि यह कार्य मुझे काफी कष्टकर प्रतीत होता था। पं० इन्द्र जी की आर्थिक स्थिति साधारण थी, परन्तु उनका विवेक और धैर्य एवं व्यवहार आश्चर्यजनक था। मैंने उन्हें अपने इस कार्य से कभी अप्रसन्न एवं रुष्ट होते नहीं देखा।

× × ×

शुद्धि-सभा के कार्य में एक समय ऐसा आया, जब महात्मा हंसराज जी (उप प्रधान शुद्धि सभा) द्वारा नियुक्त श्री कान्हचन्द्र एकाउन्टैन्ट और श्री देवप्रकाश जी (सहायक मंत्री) शुद्धि सभा के आगरा स्थित मुख्य कार्यालय में कार्यरत थे। आगरा के माईथान मोहल्ले में श्री श्यामसिंह जी वकील के बड़े मकान में शुद्धि सभा का कार्यालय था। एक बार मैं दिल्ली के शुद्धि आदि के कार्य का हिसाब-किताब लेकर आगरा गया। वहाँ यह चर्चा हुई कि 'तेज' और 'अर्जुन' तो शुद्धि-सभा के पत्र हैं, अतः उनका हिसाब-किताब भी शुद्धि-सभा में आना चाहिये। मैंने उन्हें समझाने का यत्न किया। ठाकुर माधोसिंह जी शुद्धि-सभा के मुख्य मंत्री थे। वे एक श्रेष्ठ, आदर्श आर्य-पुरुष थे। उन्होंने भी समझाने का यत्न किया, परन्तु कुछ फल न निकला। तब मैंने हिसाब कार्यालय में नहीं दिया।

दूसरे दिन शुद्धि सभा की अन्तरंग सभा की बैठक थी। महात्मा हंसराज जी भी पधारे थे। स्वामी श्रद्धानन्द जी भी एक दिन पूर्व आगरा पहुँच गये। आगरा कैन्ट रेलवे स्टेशन पर मैं उन्हें लेने गया। रास्ते में स्वामी जी ने हिसाब के बारे में ज्ञात किया। मैंने उन्हें शुद्धि-सभा में हिसाब न देने के कारण बता दिये। उस समय तो स्वामी जी बिल्कुल शान्त प्रतीत हुए, परन्तु सभा में महात्मा हंसराज जी से कहा कि इस प्रकार की दलबन्दी से शुद्धि सभा का कार्य रुक जायेगा। यह

कह कर उन्होंने उसी समय शुद्धि सभा के प्रधान पद से त्यागपत्र दे दिया, पर बाद में महात्मा हंसराज के आग्रह पर उसे वापस ले लिया । तत्पश्चात् अन्तरंग सभा में यह निश्चय किया गया कि शुद्धि सभा का उप कार्यालय दिल्ली में भी खोला जाये । तदनुसार स्वामी चिदानन्द जी को उसका मंत्री नियुक्त कर दिया गया । कार्यालय श्रद्धानन्द बलिदान भवन के साथ के मकान के ऊपर के भाग में खोला गया । कार्य ठीक प्रकार चलने लगा । स्वामी जी के निर्देशानुसार मैं सामान्य रूप से उसकी देख-रेख करने लगा ।

× × ×

स्वामी जी बहुत भावुक प्रकृति के थे । सन् १९२४ के प्रारम्भ में उनका विचार बना कि 'आर्यसमाज का इतिहास' के लिए गुरुकुल में रहकर चातुर्मास्य बिताया जाये । इसके लिये उन्होंने सभा मन्त्री महाशय कृष्ण जी को पत्र लिखा कि 'मुझे गुरुकुल में अपने बंगले में रहने की अनुमति दी जाये ।' महाशय जी का एक पंक्ति का उत्तर आया—"स्वामी जी कुछ समय गुरुकुल जाकर रह सकते हैं" । इस रूखे उत्तर का जो प्रभाव होना चाहिये था वह स्वामी जी पर हुआ । वह बहुत दुःखी एवं खिन्न हुये और गुरुकुल जाने का विचार ही छोड़ दिया ।

× × ×

सन् १९२४ में देहली के पहाड़ी धीरज मोहल्ले में मुसलमानों ने गौकुशी के लिये गाय निकाली । पहाड़ी धीरज में हिन्दू जाटों की बस्ती थी । उन्होंने गाय छीन ली । इस पर भयंकर दंगा हो गया । इस दंगे का हाल सुनकर महात्मा गाँधी जी स्वामी जी से मिलने आये । स्वामी जी ने स्पष्ट रूप से प्रश्न किया कि "हिन्दू-मुस्लिम एकता का स्वरूप क्या होगा ?" इसका गाँधी जी के पास कोई जवाब नहीं था । मैंने भी महात्मा जी के निजी सचिव श्री देसाई से इसी तरह का प्रश्न किया, पर उनके पास भी इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं था । इस समय गाँधी जी ने २१ दिन का अपना प्रथम उपवास शुरू किया । उपवास के इस प्रयोग के कारण एकता-सम्मेलन की लीपा-पोती की गई । ख्वाजा हसन निजामी अपने पत्र 'परवेश' तथा 'अलमान' में स्वामी जी के विरुद्ध विष-वमन करने लगे । इसने आग में घी का काम किया और मुसलमान स्वामी जी के परम विरोधी हो गये ।

इसी बीच एक मुसलमान महिला असगरी बेगम—जिसे शुद्ध करके हिन्दू धर्म में दीक्षित किया गया था और शांति देवी नाम रखा गया था—अपने दो बच्चों सहित क्वेटा से लाहौर होते हुये दिल्ली आ पहुँची । अखबारों ने इस पर बड़ा आन्दोलन किया । फर्रुखाबाद से महिला के पिता ताजमुहम्मद खाँ और उसके पति भी दिल्ली आ पहुँचे । उससे पहले अलीगढ़ के एक वकील भी इस सिलसिले में स्वामी जी से मिले । उन्हें असगरी बेगम से मिलवाया गया, पर वह किसी भी तरह पुनः मुसलमान होने के लिये तैयार नहीं हुई । उसके बाद असगरी बेगम के पति ने स्वामी जी आदि पर फौजदारी का एक बनावटी मुकदमा चला दिया । मिस्टर लु इस सिटी मजिस्ट्रेट ने अपने चैम्बर में शांतिदेवी को बुला कर घण्टे भर बातचीत की, परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला । इस पर मजिस्ट्रेट ने मुकदमा खारिज

कर दिया। इस नाकामयाबी से मुसलमान और अधिक भड़क उठे। ताजमुहम्मद खां ने स्वामी जी के पास आकर धमकी दी कि "हम पठान लोग हैं, जिनके लिए खून व कत्ल करना बहुत सरल है।" स्वामी जी अपनी कुर्सी से तुरन्त खड़े हो गये और बोले—"मैं तो हथेली पर सिर लिये घूमता हूँ।" इसके बाद मुझ से कहा कि "इसको कान पकड़ कर बाहर कर दो।" मेरे बढ़ते ही ताजमुहम्मद ठंडा पड़ गया। बाद में शांति देवी को कांग्रेस के प्रधान श्री आसफअली बैरिस्टर तथा डॉ० अंसारी के यहाँ भी भेजा गया, परन्तु वह अपनी जिद पर अड़ी रही। आशंका थी कि कहीं ताजमुहम्मद आदि शांति देवी को जबरदस्ती भगाकर न ले जायें, अतः उसे पहले गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ जैसे निर्जन स्थान में और कुछ समय बाद गुरुकुल कांगड़ी में बच्चों सहित भेज दिया गया।

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज जब कभी मध्याह्न ३ बजे के लगभग कार्य से निवृत्त होते और अपने जीवन के प्रसिद्ध व्यक्तियों के सम्पर्क में आने के अपने कटु अनुभव सुनाते तो अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों की वास्तविकता मालूम होती और तब पता लगता था कि हर चीज जो चमकदार होती है वह सोना नहीं होती। मुझे यह भी महसूस होता था कि कभी-कभी वे मुझसे परेशान भी हो जाते थे। मैं सदैव उनके मना करने पर भी उनके आगे-पीछे रहता था। वह कहते थे कि क्या तुम मेरी हिफाजत करते हो, परमात्मा की इच्छा के बिना कुछ नहीं होता, कोई व्यक्ति किसी की रक्षा नहीं कर सकता। वही हुआ भी, बड़े विचित्र ढंग से उनके पास रहते हुये और आँखों के सामने घटना घटी, मैं उन्हें बचा नहीं सका।

× × ×

स्वामी जी का मत था कि देश में सर्वसाधारण की भाषा हिन्दी के राष्ट्र-भाषा के रूप में होने से ही देश की प्रगति एवं एकात्मता सम्भव हो सकेगी। इसीलिये उन्होंने सन् १८९० में उर्दू में शुरू किये गये अपने 'सद्धर्म प्रचारक' की भाषा विशुद्ध एवं संस्कृतनिष्ठ और लिपि फारसी रखी थी। बाद में 'सद्धर्म प्रचारक' गुरुकुल आ गया और कई वर्षों बाद यह हिन्दी में निकाला जाने लगा। यद्यपि इससे आर्थिक हानि तो बहुत उठानी पड़ी, परन्तु पंजाब एवं उत्तरप्रदेश में आर्य-हिन्दुओं के नव निर्माण के अग्रणी महात्मा मुंशीराम जी के लेख पढ़ने के लिये बहुत से नर-नारियों ने हिन्दी पढ़ना सीख लिया। इसी प्रकार उन्होंने अपने निरीक्षण में विज्ञान एवं इतिहास की उच्च स्तरीय हिन्दी-पुस्तकों का प्रकाशन करवाया, जिनमें प्रो० रामदेव जी का 'भारतवर्ष का इतिहास', श्री साठे का 'विकासवाद', श्री बालकृष्ण जी का 'अर्थशास्त्र', श्री मास्टर गोवर्धन जी की 'भौतिकी' एवं 'रसायन' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। महात्मा जी के इस हिन्दी-प्रेम के कारण ही उन्हें भागलपुर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष चुना गया।

× × ×

वर्तमान समय का एक बहुचर्चित विषय 'समाजवाद' और 'साम्यवाद' (कम्युनिज्म) है। उन दिनों साम्यवाद' की चर्चा प्रारम्भ ही हुई थी कि मैं और मेरे कई स्नातक भाई साम्यवाद के इस आन्दोलन से प्रभावित हो रहे थे। उन दिनों मैं स्वामी जी के पास था। मैंने उनसे साम्यवाद के बारे में उनकी सम्मति जाननी चाही। स्वामी जी ने कहा कि "यद्यपि श्रम और धन आवश्यक वस्तुयें हैं। परन्तु योग्यता एवं गुणों की उपेक्षा मानव जगत् में पूरी तरह सम्भव नहीं है। यह सिद्धान्त केवल एकांगी सिद्धान्त है। श्रम और गुण एक-दूसरे के पूरक हैं। वर्ग-संघर्ष की आवश्यकता नहीं। शिक्षा में गुरुकुल आश्रम-प्रणाली की व्यवस्था ही इसका एकमात्र साधन एवं उपाय है। इस व्यवस्था से बालक में बाल्यावस्था में ही समान भोजन, समान रहन-सहन एवं समान वातावरण में निवास करने के कारण समता की भावना उत्पन्न हो जायेगी, जिसका सुपरिणाम यह होगा कि नागरिक जीवन में प्रविष्ट होने पर वे स्वयं ही सहृदय होकर समानता या समता की भावना से प्रेरित रहेंगे।" दलितोद्धार के लिये उनका सारा आग्रह व प्रयत्न इन्हीं आदर्शों से प्रेरित था। अब वर्तमान युग में समय में परिवर्तन के साथ साम्यवाद का रूप भी परिवर्तित हो रहा है।

× × ×

सन् १९२६ के दिसम्बर मास में स्वामी जी गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ गये थे। उन दिनों ठंड बहुत अधिक थी। दिल्ली आते-आते ठंडी हवा लगने से उन्हें निमोनिया हो गया। डॉक्टरों के इलाज से धीरे-धीरे एक महीने में ठीक होने लगे। लम्बी बीमारी के कारण अच्छे होने के अन्तिम दिनों में विशेष सावधानी रखने के लिये कहा गया था। २३ दिसम्बर को जब भोजन के बाद स्वामी जी के हाथ धुला रहा था तो मुझे कई रातें जागने के कारण नींद का झोंका आ गया। स्वामी जी ने देख लिया और मुझे आराम करने का निर्देश दिया। मैं अपने कमरे में जाग-सा ही रहा था कि एक मुसलमान अब्दुल रशीद ऊपर आया। धर्मसिंह ने उसे रोका और मुझ से अनुमति लेने को कहा। वह दो-तीन बार नीचे उतरा और फिर आकर कहने लगा कि दर्शन करके चला जाऊँगा। स्वामी जी ने उसकी आवाज सुन ली और आ जाने के लिये कह दिया। अब्दुल रशीद ने पानी पीना चाहा। धर्मसिंह उसे पानी पिलाने के लिये बाहर ले गया। वह स्वामी जी को बैठे देख ही गया था, तुरन्त अन्दर आया और स्वामी जी पर तीन गोलियाँ चला दीं। धर्मसिंह बाहर से आकर उसे सामने से पकड़ने के लिये ज्यों ही आगे बढ़ा, उसने धर्मसिंह के भी गोली मारी जो उसकी जांघ में लगी और धर्मसिंह गिर पड़ा। गोली की आवाज सुनते ही मैं अपने कमरे से भागता हुआ आया। उसने मुझ पर जैसे ही गोली का निशाना साधने का यत्न किया मैंने उसका पिस्तौल वाला हाथ दायें हाथ से पकड़ कर उसे टांग मार कर नीचे गिरा दिया और उस पर चढ़ बैठा। धर्मसिंह ने लुढ़कते-पुढ़कते जाकर साथ लगे शुद्धि सभा के कार्यालय में सूचना दे दी। इसी समय अचानक

ही डॉ० सुखदेव जी आ गये। उन्होंने मुझ से पूछा कि तुम्हारे गोली कहाँ लगी है ? मैंने कहा कि "मैंने कातिल को दवा रखा है, आप स्वामी जी को संभालिये।" स्वामी जी का देहान्त तो तुरन्त ही हो गया था। डॉक्टर जी ने पं० इन्द्र जी व पं० देशबन्धु जी को सूचना दे दी। आधे घण्टे में डॉ० अंसारी और डॉ० अब्दुल रहमान भी आ गये। परीक्षा करके उन्होंने भी स्वामी जी को मृत घोषित कर दिया। कुछ देर बाद सूचना पाने पर पुलिस अधीक्षक मारगन एवं इंस्पैक्टर हक आये और उन्होंने मेरे हाथ से अब्दुल रशीद को ले लिया।

इस प्रकार स्वामी जी का बलिदान हो गया और उनकी जीवन-पर्यन्त सेवा करने एवं साथ रहने का मेरा व्रत भी पूरा हुआ। इसके बाद स्वामी जी जैसा अदम्य साहस, अनुपम कार्य-क्षमता और महर्षि दयानन्द के आदर्शों के प्रति उन जैसी निष्ठा व श्रद्धा आर्य जगत् में देखने में नहीं आई। स्वामी जी के जीवन का स्तर आर्य, सदाचार, श्रद्धा, वीरता तथा लोकोपकार से पूर्ण था। उनका आदर्श जीवन एवं कार्यों का स्मरण उनके सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के लिये तो आनन्ददायक एवं स्फूर्तिदायक है ही, भावी पीढ़ी के लिये भी प्रेरणा का स्रोत एवं अमूल्य निधि है। ●

अतीत की स्मृतियाँ

—प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्तण्ड

गुरुकुल का सूत्रपात गुजरांवाला (जो इस समय पाकिस्तान के अंतर्गत है) में नगर से कुछ मील दूर की एक कोठी में हुआ था । कोठी चारों ओर से ऊंची दीवारों से घिरी हुई थी । यह दो मंजिला थी । ऊपर की मंजिल में बाहर के विद्यार्थी श्री पं० गंगादत्त जी के साथ रहते थे और नीचे गुरुकुल के कतिपय ब्रह्मचारी एक अध्यापक के साथ रहते थे । पं० गंगादत्त जी व्याकरण के विशेषज्ञ थे । कुछ काल के पश्चात् गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को नगर के समीप की एक कोठी में लाया गया । ब्रह्मचारी संख्या में ५–६ ही थे, । जिनमें से एक मैं, स्वर्गीय ब्रह्मदत्त और शेष गुजरांवाला नगर के रहने वाले थे । अध्यापक और अधिष्ठाता श्री पं० विष्णुमित्र जी थे । कालान्तर में महात्मा मुंशीराम जी गुजरांवाला पधारे । ब्रह्मचारियों और कतिपय बाहर के विद्यार्थियों एवं श्री पं० विष्णुमित्र जी को लेकर हरिद्वार पहुंचे । ब्रह्मचारियों में गुजरांवाला नगर के ब्रह्मचारी सम्मिलित न थे । जैसा स्मरण आता है, जालंधर से हरिश्चन्द्र और इन्द्र, यज्ञदत्त और चन्द्रमणि भी साथ हो लिये । हरिश्चन्द्र और इन्द्र महात्मा जी के पुत्र थे ।

हरिद्वार से कुछ दूर से ही पहाड़ियाँ दृष्टिगोचर होने लगी थीं । ऐसा प्रतीत होता था कि मानो हम किसी विचित्र स्थान की ओर जा रहे हैं । हरिद्वार स्टेशन से ही एक पंक्ति में होकर, प्रार्थनामंत्रों का उच्चारण करते हुए हम सब कनखल की ओर चल दिये । पंक्ति के आगे-आगे श्री पं० गंगादत्त जी, पं० विष्णुमित्र जी तथा महात्मा मुंशीराम जी चल रहे थे । महात्मा जी कलेवर में लम्बे, वानप्रस्थी वेश में और हाथ में एक लम्बा दण्ड लिये हुए थे । इनकी भव्य मूर्ति को देख कर मार्गस्थ जनता बहुत प्रभावित होती थी । कनखल पार करके हमारी पंक्ति टूट गई और हम स्वेच्छापूर्वक आगे-आगे होकर बढ़ते गये । गंगा का पाट बहुत चौड़ा (लगभग दो मील) था । मार्ग में गंगा की कतिपय धाराएँ स्थान-स्थान पर बहती हुई मिलीं । धाराओं का शीतल तथा स्वादु जल पीते-पीते हम गुरुकुल-भूमि के किनारे पर पहुँच गये । यह भूमि-खण्ड बहुत बड़ा था—संभवत: एक मील लम्बा और करीब इतना ही चौड़ा था । इस भूमि-खण्ड में एक ग्राम भी था, जिसका नाम कांगड़ी था । इसी ग्राम के नाम पर 'गुरुकुल कांगड़ी' नाम प्रसिद्ध हुआ । यह भूमि-खण्ड वहाँ के बड़े रईस श्री अमनसिंह जी ने गुरुकुल को दान में दिया था । वर्षा ऋतु में कांगड़ी ग्राम को छोड़कर गुरुकुल की आवास-भूमि प्रायद्वीप बन जाती थी, क्योंकि गंगा इसे तीन ओर से घेर लेती थी ।

प्रारंभ में यह आवास-भूमि जंगलमय थी। बिच्छु, साँप, भगेले और चीते इस जंगल में घूमा करते थे। ये जंगली जानवर निकटस्थ पर्वतमाला से उतर आया करते थे। आवास-भूमि के उत्तर और पूर्व में शैवालिक पर्वत-शृंखला फैली हुई थी। महात्मा मुंशीराम जी ने यहाँ पहले ही आकर, जंगल को साफ करवा कर रहने योग्य बना दिया था। आरम्भ में कतिपय फूस की कुटियाएँ, कुछ दूर पर कार्यालय और पढ़ने के लिये कतिपय कमरे, एक बड़ा उद्यान, यज्ञशाला, अध्यापकों के रहने के लिए कमरे, दो क्रीड़ा-भूमियाँ, एक कुआं तथा उसके साथ एक स्नानागार बनवा रखा था। महात्मा जी के निवास के लिये एक छोटा बंगला भी था, जिसके पश्चिम में गंगा की धारा बहती थी। बंगले के दक्षिण की ओर तीन-चार कमरे थे, जो अतिथियों के निवास के लिये बनवा रखे थे। परन्तु बाद में इसमें १४ वीं श्रेणी के ब्रह्मचारी रहने लगे थे।

जब श्रद्धेय कुलपिता महात्मा मुंशीराम जी ने गुरुकुल कांगडी की स्थापना की थी, उस समय गुरुकुल की तीन मुख्य विशेषताएँ मानी गयी थीं। एक वैदिक सभ्यता में ढली हुई संस्कृति; दूसरी तपस्या, सदाचार या ब्रह्मचर्य और तीसरी संस्कृत एवं प्राच्य शिक्षा की प्रधानता। आरंभ में इन्हीं अंगों का प्रवेश गुरुकुल में हुआ। संस्कृत आदि के धुरन्धर पंडितों और वैदिक परम्परा में दीक्षित विद्वानों के हाथों में गुरुकुल शिक्षा की बागडोर दी गयी। विद्यालय के अध्यापक वर्ग में श्री पं० गंगादत्त जी, श्री पं० भीमसेन जी, श्री पं शालिग्राम जी, श्री पं० मेलाराम जी और श्री पं० व्रजभूषण जी संस्कृत विषयों के अध्यापक थे, मास्टर रामदेव जी, मास्टर गोवर्धन जी तथा मास्टर राणुराम जी अंग्रेजी, भूगोल, गणित, इतिहास और विज्ञान के अध्यापक थे। कुछ समय के लिये श्री सियाराम जी भी गणित के अध्यापक रहे, परन्तु वे शीघ्र ही गुरुकुल छोड़कर योगाभ्यास निरत हो गये और बाद में योगी के रूप में प्रसिद्ध हुए। महाविद्यालय के उपाध्याय वर्ग में श्री पंडित काशीनाथ जी—जो वैदिक साहित्य, दर्शनशास्त्र, संस्कृत साहित्य और संस्कृत व्याकरण के अद्वितीय विद्वान् थे—विशेष उल्लेखनीय हैं। ये उच्च श्रेणियों के ब्रह्मचारियों को भी पढ़ाते थे तथा अध्यापक वर्ग में से भी कई इनके शिष्य बने। प्रोफेसर रामदेव जी भी वैदिक सिद्धान्त तथा अंग्रेजी भाषा के विशेषज्ञ थे। श्री पं० सूर्यदेव जी और श्री पं० शिवशंकर जी वैदिक साहित्य पढ़ाते थे। श्री प्रो० ताराचन्द जी गानरा, प्रो० फेरवानी जी अंग्रेजी के और श्री विनायक गणेश जी साठे कैमिस्ट्री के प्रोफेसर थे। कुछ समय के लिये प्रो० इन्द्र जी ने भी अध्यापन कार्य किया। सन् १९१४ में श्री महात्मा जी ने मुझे भी महाविद्यालय विभाग में अध्यापन-कार्य के लिए नियुक्त किया और मैं दर्शन और वैदिक साहित्य पढ़ाता रहा। इस समय तक महात्मा मुंशीराम जी आचार्य पद पर विराजते रहे।

शुरू में विद्यालय विभाग में केवल दो विषय पढ़ाये जाते थे—संस्कृत साहित्य और संस्कृत व्याकरण। उस समय संस्कृत के पठन-पाठन पर विशेष ध्यान दिया

जाता था। मुझे स्मरण है कि अधिकारी परीक्षा से पूर्व ही मीमाँसा को छोड़कर हमने शेष पाँचों दर्शन पढ़ लिये थे, और उन दर्शनों की प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक टीकाएँ हमें पढ़ा दी गई थीं। सम्पूर्ण अष्टाध्यायी अर्थ आदि सहित महाभाष्य नवाह्निक, धातुपाठ आदि हमें कण्ठस्थ थे।

परन्तु समय में परिवर्तन हुआ। श्रद्धेय आचार्य जी को श्री रामदेव जी का सहयोग प्राप्त हुआ। श्री रामदेव जी अतिशय कर्मयोगी, अनथक और दृढ़ लगन वाले थे। गुरुकुल का यह सौभाग्य था कि उन जैसे विद्वान् का गुरुकुल में आगमन हुआ। उनके आने के साथ ही गुरुकुल में नवीन युग ने पदार्पण किया। ब्रह्मचारियों के रहन-सहन की व्यवस्था तथा शिक्षापद्धति में परिवर्तन शनैः शनैः होने लगा। शनैः-शनैः इसलिये कि इस परिवर्तन का रास्ता सुगम न था। संस्कृत के तत्कालीन विद्वानों ने इस परिवर्तन का उग्र विरोध किया, पर श्री रामदेव जी के सामने इनकी एक न चल पाई। पुरानी विचारधारा के कुछ विद्वान् तो गुरुकुल छोड़कर चले ही गये। रामदेव जी द्वारा सुझाये परिवर्तन से श्रद्धेय महात्मा जी पूर्ण रूप से सहमत थे। गुरुकुल के कलेवर में तो कोई विशेष अन्तर न पड़ा, पर गुरुकुल की प्रचलित शिक्षा-पद्धति में पर्याप्त परिवर्तन दृष्टिगोचर होंने लगा। इहिास, भूगोल, अर्थशास्त्र, गणित, विज्ञान, अंग्रेजी—इन नवकालिक विषयों ने शिक्षा-पद्धति में प्रवेश पाया। इस प्रवेश के होते हुए भी संस्कृत के अध्ययन पर पूर्ववत् बल रहा। लोग कहते थे कि ब्रह्मचारियों पर प्राच्य और पाश्चात्य विषयों का भार पड़ जायेगा। परन्तु ब्रह्मचारियों ने उस भार को हिम्मत और परिश्रम से सहा। श्रद्धेय आचार्य महात्मा मुंशीराम जी और श्री रामदेव जी कहा करते थे कि गुरुकुल की शिक्षा का माध्यम चूंकि हिन्दी है-जो कि मातृभाषा बनी हुई है—, इसलिये ब्रह्मचारियों पर प्राच्य एवं पाश्चात्य शिक्षा के सम्मेलन का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा! गुरुकुल के ब्रह्मचारी न काशी जैसे पण्डितों की श्रेणी में रहे और न ही अंग्रेजी शिक्षा के दुष्प्रभावों के ही शिकार हुए। उनमें प्राच्य और पाश्चात्य विचारों में तुलना करने और समन्वय स्थापित करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई।

दशम श्रेणी की अधिकारी परीक्षा में उत्तीर्ण ब्रह्मचारी महाविद्यालय में प्रविष्ट होते थे। विद्यालय के कमरों के पश्चिम में एक विशाल भवन महाविद्यालय के लिये था। इस भवन के मध्य भाग में एक बहुत बड़ा कमरा था, जिसमें पुस्तकालय था और उसी में समय-समय पर सभायें हुआ करती थीं। इस भवन की छत पर कतिपय कमरे थे। इन कमरों में महाविद्यालय के ब्रह्मचारी रहा करते थे। इनके साथ कोई अधिष्ठाता नहीं रहता था। श्री रामदेव जी ही समय-समय पर निरीक्षण करने आ जाया करते थे।

आचार्य महात्मा मुंशीराम जी गुरुकुल रूपी वाटिका के एक परिश्रमी माली थे और उन्हें इस वाटिका से बहुत ही प्यार था। वे एक दिन भी व्यर्थ गुरुकुल से बाहर रहना नहीं चाहते थे। यदि उन्हें बाहर जाना भी पड़ता था, तो वे

जितने दिन भी बाहर रहते थे उन दिनों भी पत्रों द्वारा हर रोज गुरुकुल में परामर्श भेजा करते थे और गुरुकुल के दैनिक समाचारों की जानकारी रखा करते थे। उन्हें गुरुकुल की सच्ची धुन थी और सच्ची लगन थी। विद्यालय और महाविद्यालय के समग्र व्यय को जुटाने का भार उन्हीं पर था। आर्य जगत् पर उनका इतना प्रभाव था कि गुरुकुल में बैठे ही पत्र व्यवहार तथा गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर एकत्र हुए धन द्वारा वार्षिक व्यय चलता रहता था। वार्षिकोत्सवों पर हजारों की संख्या में आर्य जनता आती थी और मुक्तहस्त से दान दिया करती थी। जिस वर्ष हरिश्चन्द्र और इन्द्रचन्द्र की स्नातक-दीक्षा होनी थी उस वर्ष के उत्सव में लगभग ५० हजार आर्यजन उपस्थित हुए थे और दान/चन्दा भी ५० हजार रुपये से अधिक हो गया था। कई देवियों ने तो अपने गहने ही उतार कर गुरुकुल को दान कर दिये थे।

उस समय के उत्सवों की छटा भी निराली होती थी। वार्षिकोत्सवों में सम्मिलित होने के लिये पीले रंग की धोती पहने ब्रह्मचारी पंक्तिबद्ध होकर जाते थे। उनके आगे-आगे पीले दुपट्टे धारण किये हुये अध्यापक वर्ग तथा पीला दुपट्टा एवं हाथ में दण्ड लिये महात्मा जी वाद्यमण्डली के साथ पण्डाल की ओर जाया करते थे। इस मनोरम दृश्य को देखने के लिए आर्य जनता उमड़ पड़ती थी।

आचार्य महात्मा मुंशीराम रात-दिन गुरुकुल वाटिका के पौदों (ब्रह्मचारियों) की देखभाल के लिये सदा चक्कर लगाते नजर आते थे। चलती-फिरती उनकी दिव्य मूर्ति और उसके अन्दर प्रेम का बहता हुआ अगाध स्रोत ब्रह्मचारियों को अपनी ओर आकर्षित कर लेने में जादू का सा काम करता था। वे ब्रह्मचारियों के सो जाने के पश्चात् सोया करते थे और प्रातः उठने से पूर्व ही जाग जाया करते थे। वे प्रतिदिन रात्रि में—जबकि अन्य सब प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए होते थे—हाथ में दण्ड धारण किये हुये आश्रम का 'राउन्ड' लगाया करते थे और सोये हुये ब्रह्मचारियों के कमरों में जा-जा कर निरीक्षण किया करते थे। उनका यह क्रम सर्दियों, गर्मियों एवं बरसात हमेशा चलता रहता था। रात के समय उघड़े और सर्दी से ठिठुरते ब्रह्मचारियों को कपड़ा उढ़ाना और नैतिक दृष्टि से भी रक्षा करना इन आचार्य-पिता का विशेष कार्य था। उनकी इस निरीक्षण-प्रवृत्ति के कई बार अभूतपूर्व सुपरिणाम भी देखने में आये। इस सन्दर्भ में एक घटना मुझे स्मरण आ रही, जो निम्न प्रकार है :

एक दिन जब श्रद्धेय आचार्यप्रवर एक कमरे में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने देखा कि एक सोये हुए ब्रह्मचारी की छाती पर एक फनियर सांप फन उठाये बैठा है। यदि ब्रह्मचारी जरा भी करवट बदलता तो उसकी जीवन-लीला समाप्त हो सकती थी। कुछ काल तक तो महात्मा जी निस्तब्ध खड़े देखते रहे। अन्त में निश्चय कर चुपके से आगे बढ़ कर अपना लम्बा दण्ड उस साँप पर मार दिया। सांप गिर कर भूमि पर आ पड़ा और शीघ्रता से कमरे के बाहर भाग गया।

महात्मा जी ब्रह्मचारियों के प्रति पितृवत् और मातृवत् स्नेह करते थे। उनका स्वभाव था कि वह निरीक्षण के दौरान प्रतिदिन चिकित्सालय भी जाते और वहाँ प्रत्येक रोगी के पास कुछ काल तक बैठ कर उसका कुशल-क्षेम पूछा करते और सान्त्वना दिया करते थे। यदि कोई छात्र अकेला होता और उस समय अत्यधिक कष्ट में होता तो वे उसके पास तब तक बैठ कर उसकी आवश्यक सेवा करते रहते थे जब तक वह सामान्य नहीं हो जाता था या अन्य कोई तिमारदार उसके पास नहीं आ जाता था। यही नहीं, ब्रह्मचारी प्रातराश, दोपहर एवं रात्रि के भोजन के लिये जब भण्डार में जाया करते थे तब महात्मा जी अनवरत रूप से उस समय उपस्थित रहा करते थे और देखा करते थे कि भोजन क्या बना है, कौन-कौन ब्रह्मचारी रुचि से भोजन कर रहे हैं और कौन नहीं। इस सब में उन्हें बड़ा आनन्द आता था।

आचार्यप्रवर को ब्रह्मचारी इतने प्रिय थे कि अपराध करने पर भी किसी ब्रह्मचारी को दण्ड देना नहीं चाहते थे। वे सदा यथा-तथा उन्हें समझाने का ही प्रयत्न करते थे। उनकी इस प्रकृति के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें से दो प्रसंग मुझे आज भी स्मरण हैं। एक बार पंजाब प्रान्तस्थ धर्मशाला पर्वत की यात्रा में महात्मा जी के साथ बड़ी श्रेणियों के ब्रह्मचारी थे। इस यात्रा में धर्मशाला पर्वत से एक ब्रह्मचारी ने एक पत्र शिकायत रूप में एक प्रोफेसर को लिखा, जिसमें महात्मा जी के व्यवहारों की चर्चा बेहूदी भाषा में की गई थी। वह पत्र किसी प्रकार महात्मा जी के हाथ लग गया। महात्मा जी ने यात्रा-काल में उस ब्रह्मचारी को कुछ नहीं कहा। गुरुकुल वापस पहुँचने पर वह पत्र श्री प्रो० रामदेव जी को दे दिया गया। प्रोफेसर साहब ने ब्रह्मचारी को अलग बुला कर डराया-धमकाया। इस पर ब्रह्मचारी द्वारा क्षमा मांग लेने पर विशाल हृदय महात्मा जी ने उसे क्षमा कर दिया। परन्तु जिस प्रोफेसर के नाम ब्रह्मचारी ने पत्र लिखा था वे शर्मिन्दा होकर त्यागपत्र देकर गुरुकुल छोड़ गये।

एक बार की बात है कि किसी विद्यार्थी ने महात्मा जी की आज्ञा का उल्लंघन किया। उसे क्षमा-प्रार्थना के लिये कहा गया तो उसने उत्तर दिया कि खरगोश के चाहे सींग निकल जायें, पर मैं क्षमा नहीं मांगूगा। यह अवस्था देख महात्मा जी ने अपने कमरे में ब्रह्मचारी को बुलाकर समझाया और प्यार दिया। ब्रह्मचारी तत्काल चरणों पर गिर पड़ा और मामला समाप्त हो गया। यदि कोई अन्य आचार्य होता तो शायद दोनों अपराधी ब्रह्मचारियों को गुरुकुल से निकल जाने का दण्ड देता, परन्तु वह स्नेही महात्मा ऐसा उग्र दण्ड कैसे दे सकता था जो गुरुकुल से किसी छात्र को निकाले जाने पर ऐसा महसूस करता हो कि मानो उसके शरीर का कोई अंग अलग कर दिया गया हो।

महात्मा जी के गुरुकुल-काल में दो ब्रह्मचारियों की मृत्यु हुई। एक ब्रह्मचारी नवीन की मृत्यु टाईफाइड के कारण हुई। दूसरा ब्रह्मचारी विश्वजित् पढ़ाई में चल नहीं पा रहा था, इसलिये उसे महात्मा जी ने अपने कार्यालय में

लगा लिया था। इसकी भी मृत्यु हो गई थी। दोनों ही बार महात्मा जी ने ऐसा अनुभव किया कि मानो स्नेहमयी माता की गोद से उसके प्यारे पुत्रों को किसी निर्दयी ने छीन लिया हो।

महात्मा जी निर्भयता, साहस और वीरता की साक्षात् प्रतिमा थे। कई अवसरों पर उन्होंने इन गुणों की विद्यमानता का परिचय दिया। एक समय कुछ डाकू बिजनौर से लूटते हुये गुरुकुल में घोड़ों पर सवार होकर आ निकले। वे गुरुकुल को लूटना चाहते थे। महात्मा जो को सूचना मिली। वे अपने नियत वेश में आये। मूर्ति तो भव्य थी ही। डाकुओं के सरदार ने गुरुकुल को लूटने के विषय में अपनी नीयत कही। जब महात्मा जी ने यह बताया कि यह तो ब्रह्मचारियों के विद्याध्ययन की पाठशाला है, चन्दे से व्यय चलता है, तब सरदार गुरुकुल को प्रचुर दान देकर वापिस चला गया।

महात्मा जी की विशालकाय मूर्ति को देखकर वन्यजीव भी भय खाते थे। एक बार एक चीता महात्मा जी के बंगले में आ घुसा। महात्मा जी निस्तब्ध हो कुर्सी पर बैठे उसे देखते रहे। चीता बड़े कमरे में चक्कर लगा कर बंगले के बाहर निकल गया और जंगल में चला गया।

एक बार यू० पी० के गवर्नर मिस्टर मेस्टन गुरुकुल की गतिविधियों को देखने गुरुकुल पधारे। गवर्नर हाथी पर और उनके कतिपय अनुचर घोड़ों पर सवार थे। स्वागत के लिये क्रीड़ास्थल की सड़क के दोनों ओर ब्रह्मचारियों की दो पंक्तियां थीं और क्रीड़ास्थल के प्रवेश-द्वार पर अध्यापक एवं महात्मा जी खड़े थे। गवर्नर प्रवेश-द्वार पर हाथी से उतरे, उन्हें माला पहनाई गई और सब के साथ पैदल ही महाविद्यालय भवन के पश्चिम में सभा-मण्डप में पहुँचे। महात्मा जी ने सत्कार में कतिपय शब्द कहे। तदनन्तर गवर्नर ने अपना अभिप्राय व्यक्त कर प्रति वर्ष एक लाख रुपये अनुदान रूप में देने की घोषणा की। महात्मा जी ने धन्यवाद देते हुए कहा कि गुरुकुल की गुरुकुलीय भावना तभी तक बनी रह सकती है, जब तक गुरुकुल प्रजा के दान पर चले। इस पर सभा विसर्जित हुई और गवर्नर वापस चले गये।

महात्मा जी से प्रभावित होकर अनेक राष्ट्रीय नेतागण कुलभूमि में पधारे, गुरुकुल का निरीक्षण किया और कुल-वासियों के आतिथ्य एवं गुरुकुल की व्यवस्था से पूर्णतः सन्तुष्ट होकर वापस गये। दक्षिण अफ्रीका से वापस आने के बाद राष्ट्रपिता महात्मा गांधी सदलबल गुरुकुल पधारे और कुछ काल के लिए वहाँ रहे। पंजाब केसरी श्री लाला लाजपतराय जब माण्डले (बर्मा) की जेल से छूटा कर वापस पंजाब पधारे तब महात्मा जी ने उन्हें गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर आने का निमन्त्रण दिया। लाला जी वार्षिकोत्सव पर आये और ओजस्वी भाषण भी दिया।

महात्मा जी के बढ़ते यश को सहन न करते हुए विरोधियों ने उन पर दो दोषारोपण किये। एक तो यह कि "यह तो गुरुकुल से पढ़े-लिखे भिखारी पैदा

करेंगे । इनके दो पुत्रों के लिये तो जालन्धर में बड़ी कोठी है, जिससे उनका निर्वाह हो जायेगा, पर शेष स्नातक क्या करेंगे ।" इस पर महात्मा जी ने वार्षिकोत्सव से कुछ दिन पूर्व कोठी का दानपत्र लिख कर हरिश्चन्द्र और इन्द्रचन्द्र के हस्ताक्षर करवा दिये । गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर महात्मा जी का व्याख्यान तो हुआ ही करता था । व्याख्यान में महात्मा जी ने दोषारोपण की चर्चा करते हुए दानपत्र श्रोताओं को सुनाया और मंच पर बैठे आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान श्री रामकृष्ण जी के सुपुर्द कर दिया । इस हृदय विदारक घटना पर पण्डाल में बैठे श्रोतृजनों में सहृदयजन सिसक-सिसक कर रोने लगे । महात्मा जी का यश और भी बढ़ गया ।

विरोधियों का दूसरा आक्षेप यह था कि "ये हिन्दी के पक्षपाती हैं परन्तु अपना साप्ताहिक 'सद्धर्म प्रचारक' उर्दू में प्रकाशित करते हैं ।" इस आक्षेप पर महात्मा जी ने अगला अंक हिन्दी में प्रकाशित कर दिया । यद्यपि इससे उन्हें आर्थिक हानि हुई, परन्तु इसकी उन्होंने परवाह नहीं की ।

महात्मा मुंशीराम जी ने जब संन्यास-दीक्षा ली तब गुरुकुल छोड़ कर वे दिल्ली चले गये । इसके पश्चात् गुरुकुल की भूमि में गंगा की उग्र बाढ़ आ गई । गुरुकुल भूमि में घुटनों तक पानी भर गया । परिणामतः गुरुकुल-भूमि को सुरक्षित न समझ कर गुरुकुल को स्थानान्तरित करने का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया । आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने श्री पं० विश्वम्भरनाथ जी को गंगा के इस ओर भूमि देखने के लिये नियुक्त किया । इस आन्दोलन को उग्र रूप पकड़ता जान कर स्वामी श्रद्धानन्द जी गुरुकुल पधारे । उन्होंने मुझे बुलाकर कहा कि मैं आचार्य रामदेव जी से बात करूं कि गुरुकुल को इस भूमि से स्थानान्तरित कर नागरिक वायु-मण्डल में न लाया जाये । साथ ही यह भी कहने के लिए मुझे आज्ञा दी कि स्वामी जी चाहते हैं कि गुरुकुल का प्रबन्ध उन्हें वापिस सौंप दिया जाये, वे गुरुकुल भूमि को एक सुदृढ़ बन्ध द्वारा सुरक्षित कर देंगे । परन्तु जब कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला तो स्वामी जी वापस दिल्ली चले गये ।

●

कुछ अविस्मरणीय स्मृतियाँ

—आचार्य दीनानाथ सिद्धांतालंकार

[८८ वर्षीय आचार्य दीनानाथ सिद्धान्तालंकार सन् १९२० के स्नातक हैं। इन्होंने न केवल महात्मा मुंशीराम जी के आचार्यत्व में शिक्षा ही ग्रहण की है, वरन् "श्रद्धा' के उप संपादक एवं स्वामी जी के निजी सचिव' के रूप में वे उनके निकट सम्पर्क में भी रहे हैं। यहां प्रस्तुत है उन्हीं की कलम से लिखे कुछ पुराने अनकहे संस्मरण, जिनसे गुरुकुल की तत्कालीन व्यवस्था एवं विविध कार्यकलापों और स्वामी जी प्रकृति का प्रामाणिक परिचय प्राप्त होता है।]

गुरुकुल प्रवेश का पहला दिन

हरिद्वार से लगभग ७ मील दूर गंगा पार, एक ओर शिवालिक पर्वतमाला की उपत्यका की छाया, दूसरी ओर हिंस्र पशु-संकुल सघन वनमाला, जाह्नवी तट और कांगड़ी ग्राम के मध्य स्थित गुरुकुल में मैं सन् १९०५ में प्रविष्ट हुआ। उस समय मेरी आयु लगभग ६–७ वर्ष थी। मेरा जन्मस्थान पश्चिमी पंजाब (वर्तमान पाकिस्तान) के जिला गुजरांवाला के अन्तर्गत पिंडी भट्टियाँ ग्राम है। मेरे पिता जी डाक-विभाग में दायित्वपूर्ण पद पर सरकारी नौकर थे। वे छुट्टी न मिल सकने के कारण स्वयं गांव से मुझे गुरुकुल छोड़ने न आ सके। एक-दो दिन वहाँ रह वे वापस जाने लगे तो अत्यन्त लाड़-प्यार से पला मैं अबोध बालक खूब रोया। मेरे साथ तीन-चार बालक और भी थे। वे सब भी सुबकियाँ भर रहे थे। एकदम अनजान स्थान, परिवेश, एक-दूसरे से सर्वथा अपरिचित और जीवन में पहली वार माता-पिता आदि परिवारजनों से अलग होने की असह्य पीड़ा, इन सभी के कारण तीव्र मानसिक कष्ट अनुभव हो रहा था। इसी समय शुभ्र लांग वाली धोती, तन पर शुभ्र लम्बा कुर्ता, भुजाओं एवं वक्ष पर पीतदुकूल धारण किये हुए तथा शुभ्र एवं दीर्घ श्मश्रु, सतेज-सहानुभूति-स्नेहपूर्ण नेत्रों, दीर्घललाट, गौरवर्ण, सुडौल एवं ६ फुट के लगभग सुगठित शरीर-यष्टि, दीर्घबाहु, स्मित हास्य, अपनत्व भरी मुखाकृति, उन्मुक्त कर्णों और दृढ़ता सूचक मधुर एवं स्नेहस्निग्ध वाणी से युक्त एक भव्य मूर्ति कुछ वयस्क छात्रों के साथ एकाएक हमारे सामने प्रकट हुई। मैं और मेरे साथी उस दिव्य मूर्ति को आश्चर्य-चकित नेत्रों से अपलक देखते रह गये। उस व्यक्ति ने आते ही हम में से प्रत्येक को अपनी गोदी में उठा कर चिपटा लिया और सिर पर चुंबन के साथ प्यार भरा हाथ फेरते हुये कहा—"अब तुम नये घर में आये हो। मैं ही तुम्हारा माता-पिता हूँ। कोई कष्ट हो, किसी चीज की जरूरत हो तो निःसंकोच वतलाना। मेरा निवास स्थान वह देखो सामने गंगा तट पर है, जहाँ खटुए का पेड़ है और उसके साथ चारों ओर पक्का थड़ा बना है। मैं प्रातःकालीन यज्ञ, संध्या, शारीरिक व्यायाम, स्वाध्याय, संस्था के विविध प्रकार के प्रबन्ध

सम्बन्धी कार्यों आदि से निवृत्त हो इसी वृक्ष के नीचे बैठता हूँ । गुरुकुल के सब छात्र मेरे नन्हे-बड़े पुत्रों के सदृश हैं और उनके लिये मेरे निवास-स्थान के दरवाजे चौबीसों घण्टे खुले हुए हैं । बच्चों ! मेरा एकमात्र लक्ष्य अपने जीवन के अन्तिम श्वास तक गुरुकुल में इस समय लगभग १५० ब्रह्मचारियों के लिये हर क्षण माता और पिता दोनों के अभाव को पूरा करना है ।" तत्पश्चात् आचार्य प्रवर ने हम सबको कुछ स्वादिष्ट व्यंजन के साथ दूध पिलवा कर बड़े छात्रों को आदेश दिया कि "इन्हें अपना सगा भाई समझो और अपने आश्रम के कमरों में ले जाओ । अच्छी रुचिकर कहानियाँ सुना कर इन बच्चों का मन बहलाओ ।" बाद में पता चला कि यह भव्यमूर्ति गुरुकुल के संस्थापक महात्मा मुंशीराम जी की थी ।

गुरुकुल के सम्बन्ध में निराधार भ्रांतियाँ

उन दिनों गुरुकुल के विरोधी प्राय: यह आक्षेप किया करते थे कि वहाँ निर्जन जंगल में अनाथों की तरह भूखे-नंगे रहने और रोगी हो जाने पर चिकित्सा के अभाव में मरने के लिए कौन निर्मोही माता-पिता अपने बच्चों को वहाँ भेजेंगे । वहाँ तो केवल वे ही बच्चे जायेंगे जिनकी माता नहीं हैं या विमाताएँ हैं, जो अपने सिर की बला टालना चाहती हैं ।

वस्तुत: यह आक्षेप गुरुकुल के बारे में निराधार भ्रान्तियाँ फैलाने वाले तथा वास्तविकता से अपरिचित लोगों ने ही लगाये थे । मेरी और मेरे से ऊपर की एवं निचली श्रेणियों में शायद तीन-चार छात्र ही ऐसे थे जिनकी विमाताएँ थीं । पर जहाँ तक मेरी जानकारी है, इन बच्चों को भी गुरुकुल में इसलिये नहीं भेजा गया था कि उनकी विमाताएँ हैं, बल्कि राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत होकर ही उनके माता-पिता ने उन्हें वहाँ भेजा था । प्राय: सभी छात्र मध्यवित्त एवं सामान्य स्तर के परिवारों से आये थे । उदाहरण के लिये मैं ही अपनी बात बताता हूँ । मेरे पिता जी उच्च पदस्थ सरकारी अधिकारी थे और आर्यसमाजी विचारधारा के थे । आर्यसमाजी विचारधारा का होने के कारण ही उन्हें तत्कालीन गोरी सरकार द्वारा कई प्रकार के दुर्व्यवहारों और अन्यायों का शिकार होते रहना पड़ा, क्योंकि उन दिनों आर्यसमाजी होना सरकारी प्रकोप और अनेक प्रकार की परेशानियों को निमन्त्रण देना होता था । उन्होंने अपनी विचारधारा के अनुरूप आर्य बनाने के उद्देश्य से ही अपने जिगर के टुकड़े मुझ दीनानाथ को स्वामी जी के चरणों में गुरुकुल भेजा था, न कि किसी अन्य भावना से ।

एक अन्य भ्रांति यह थी कि गुरुकुल में खाने-पीने को कुछ नहीं मिलता है और छात्र अनाथों की तरह रहते हैं । तथ्य तो यह है कि इस संस्था में छात्रों को उस समय इतना पौष्टिक एवं स्वादिष्ट भोजन मिलता था, जो उस युग में और आज भी बहुत कम मध्यवित्त परिवारों में सुलभ है । प्रातः अल्पाहार में डेढ़ पाव दूध, दोपहर के भोजन में शुद्ध घी से चिपड़ी रोटी, चावल, दाल, सब्जी आदि, शाम को मौसमी फल और फिर रात्रि में दोपहर की तरह सुपाच्य भोजन—यह थी दैनिक

आहार-व्यवस्था । अवकाश के दिन विशेष मिष्ठान्न या यथेच्छ मात्रा में खीर भी दी जाती थी । आम और खरबूजे-तरबूज के मौसम में आचार्य महात्मा मुंशीराम जी का आदेश था कि गंगा के तट पर इन फलों से भरे टोकरों मे से प्रत्येक ब्रह्मचारी यथेच्छ फल खाये तथा कच्चे दूध की लस्सी या शरबत पीकर ऊँची तरंग भरी गंगा में खूब तैरे । शीतकाल में आस-पास के गाँवों के गुरुकुल-भक्त छात्रों एवं कार्यकर्ताओं को गन्ने का अदरक युक्त पेट भर रस पीने के लिये आमन्त्रित करते थे । साथ ही खीर के लिये प्रचुर मात्रा में गन्ने का रस बैलगाड़ियों या बंहगियों पर रखवा कर भिजवा देते थे ।

गुरुकुल की तत्कालीन वेशभूषा

जहाँ तक उस समय की वेशभूषा का प्रश्न है, उन दिनों प्रत्येक छात्र को अमीर-गरीब का अन्तर किये बिना एक जैसे वस्त्र दिये जाते थे, जो खद्दर के होते थे । सभी छात्रों को ५ गजी पीली धोती, सफेद कमीज, बनियान, लंगोट पहनना होता था और पैरों में खूँटीदार खड़ाऊँ पहननी होती थी । धोती गातीदार बांधनी होती थी । खेल-कूद के समय बटनदार निकर पहननी होती थी । शीतकाल के लिए मोटी अंगूठे वाली जुराब तथा कमीज के ऊपर मोटी जरसी दो जाती थी, उस समय स्वेटर का चलन नहीं था । महाविद्यालय के छात्रों के लिए गातीदार पीली धोती बांधने में ढील दी जाती थी । सन् १९१४ के प्रथम महायुद्ध में मंहगाई बढ़ जाने के फलस्वरूप चार गजी धोती लांगदार बांधने की स्वीकृति दी गयी थी । पंचम श्रेणी तक के ब्रह्मचारी कभी-कभी धोती संभालने में असमर्थ होने से बटनों वाली निकर पहन लेते थे ।

रात्रि में सोने के लिए प्रत्येक छात्र को एक लकड़ी का तख्त दिया जाता था । बिस्तर में दरी, चादर, तकिया, रजाई, पानीपत के रोएंदार काले या सफेद कंबल होते थे ।

छात्रों का दैनिक कार्यक्रम

आश्रम का दैनिक कार्यक्रम प्रातः ४ बंजे (सर्दी-गर्मी दोनों ऋतुओं में) शुरू हो जाता था । प्रातःकालीन ईश्वर-वन्दना के बाद प्रत्येक छात्र अपने-अपने लोटे में पानी भर और खड़ाऊँ पहने जंगल में शौच आदि से निवृत्त होने के लिए जाता था । वृक्ष से ताजी काटी हरी दातुन करने के बाद, प्रायः सरसों के तेल की मालिश करके ताजे पानी से स्नानागार में एक साथ स्नान करना होता था । फिर यज्ञशाला में सामूहिक संध्या-अग्निहोत्र होता था । उसके बाद प्रातराश करके सभी छात्र अध्ययन के लिये जाते थे । अध्ययन-अध्यापन का कार्य आश्रम से पृथक् बने विद्यालय भवन में प्रातः ९ बजे शुरू होता था । प्रत्येक श्रेणी के बैठने के लिये अलग-अलग कमरों में बैंचों का प्रबन्ध था । छोटी श्रेणियों की पढ़ाई दोपहर १२ बजे तक और बड़ी श्रेणियों तथा महाविद्यालय में एक-डेढ़ बजे तक चलती थी । फिर भोजन, विश्राम, गृहकार्य आदि के बाद शाम को विशाल क्रीडा-क्षेत्रों में हॉकी, फुटबाल, कभी

कभी क्रिकेट, कुश्ती, दण्ड-बैठक, दौड़, आदि खेल होते थे, जिनमें छात्र अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भाग लेते थे । विद्यालय-विभाग में दसवीं श्रेणी तक ड्रिल भी होती थी । पठन-पाठन का प्रारम्भ सामूहिक वेदमन्त्र-वाचन, ईशप्रार्थना के भजन व राष्ट्रीय गीत के साथ होता था । कभी-कभी प्रार्थना के बाद विशेष पर्व, स्मृति-दिवस आदि पर आचार्य महात्मा मुंशीराम जी का उपदेश भी होता था ।

गुरुकुल में अध्ययनेतर प्रवृत्तियाँ

गुरुकुल के प्रारंभिक दिनों में यह माना जाता था और कुछ सीमा तक आज भी कहा जाता है कि गुरुकुल में छात्रों को संस्कृत, व्याकरण, वेद आदि प्राचीन विषय पढ़ा और रटा कर कोरा पंडित बना दिया जाता है, उन्हें अन्य आधुनिक विषयों के ज्ञान और अध्ययनेतर कार्यकलापों से कोई लेना-देना नहीं है । परन्तु वास्तव में ऐसा था नहीं । उन दिनों भी छात्रों को वहाँ संस्कृत आदि के अलावा अंग्रेजी, हिन्दी, आर्यसिद्धान्त, विज्ञान इत्यादि सभी विषयों का पूरा अध्ययन कराया जाता था ।

वहाँ पाठचक्रम के अन्तर्गत शिक्षा व्यवस्था के अतिरिक्त सामाजिक, साहित्यिक, शारीरिक (खेलकूद, वनभ्रमण, पर्वत यात्रा) एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को भी खूब बढ़ावा दिया जाता था । इनके लिए गुरुकुल में विभिन्न स्तरों पर परिषदों एवं सभाओं का गठन किया जाता था । जैसे अष्टम कक्षा तक 'वाग्वर्धिनी सभा, नवम-दशम कक्षा की 'वाग् विकास सभा', महाविद्यालय में 'साहित्य परिषद्', 'संस्कृत सभा' और 'इंगलिश स्पीकिंग सोसायटी' थीं । इन सभाओं/परिषदों की ओर से हस्तलिखित मासिक पत्र भी निकाले जाते थे । गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर और प्रथम विश्वयुद्ध के समय अल्पकालीन हस्तलिखित दैनिक पत्र भी निकाले गये । 'साहित्यपरिषद्' और 'संस्कृत सभा' में विशेष रूप से वार्षिक उत्सव पर बाहर के विद्वानों को भी निमन्त्रित किया जाता था । इन सभी सभाओं में छात्र अपनी वक्तृत्व-कला का भी विकास करते थे तथा पारस्परिक भाषण एवं वादविवाद प्रतियोगिताओं का भी आयोजन किया जाता था । इसी का सुपरिणाम था कि गुरुकुल के छात्र निकटस्थ नगरों तथा हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, लखनऊ, इलाहाबाद आदि के महाविद्यालयों में आयोजित वादविवाद प्रतियोगिताओं में भाग लेते और विजयश्री प्राप्त करके चलविजयोपहार लेकर ही आते ।

गुरुकुल में विभिन्न पर्वों को भी समारोहपूर्वक मनाया जाता था । विजय-दशमी, दीपमालिका, लोहड़ी, गुरुकुल जन्मोत्सव, श्रावणी ये पर्व विशेष उत्साह से मनाये जाते थे । विजयदशमी पर नारी-पात्र छोड़कर रामलीला का शेष भाग नाटक रूप में प्रस्तुत किया जाता था । बड़े छात्र रामसेना और रावण-सेना इन दो भागों में विभक्त होकर लाठी, धनुष बाण आदि से लंका पर आक्रमण कर आमने-सामने युद्ध करते थे । यह दृश्य बड़ा ही मनोरंजक होता था । इसमें दोनों पक्षों की ओर से जासूसी एवं कूटनीति से भी काम लिया जाता था ।

गुरुकुल के छात्र-दल उत्तरप्रदेश और पंजाब के आसपास के क्षेत्र में आयोजित फुटबाल हॉकी आदि के अखिल भारतीय टूर्नामेंटों में भाग लेते थे और ख्याति प्राप्त करते थे। गुरुकुल के छात्र तो नंगे पैर खेलते थे, जो बाहर के खिलाड़ियों के लिए आश्चर्य का विषय था। वहाँ के छात्र सभी टूर्नामेंटों में प्रायः विजित होकर ही आते थे और उनका कुलसभा में सम्मान किया जाता था। यदि कभी संयोगवश हार भी जाते थे तो उन्हे बुरा-भला कहने या हतोत्साहित करने के बजाये आगे के लिए उत्साहित ही किया जाता था। मुझे एक बार की याद है, जब देहरादून में क्रिकेट मैच में गुरुकुल का दल हार आया, तो आचार्य महात्मा मुंशीराम जी ने संस्था और छात्रों में व्याप्त निराशा को दूर करने के लिए एक विशेष कुलसभा आयोजित की और उत्साहवर्धन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि अगले वर्ष देहरादून के इसी क्रिकेट मैच में गुरुकुल के दल की शानदार विजय हुई।

उस काल में वहाँ कुश्ती, तैराकी और दौड़ की प्रतियोगिताएँ भी आयोजित की जाती थीं। ये गुरुकुल के छात्रों के मध्य आपस में ही होती थीं। इन प्रतियोगिताओं में मैं भी सक्रिय भाग लेता था। तैराकी प्रतियोगिता में छात्र चंडी पर्वत से शहतीरों का बेड़ा बना, बरसात में गंगा की उछलती लहरों के उफान में बेड़े पर प्याल खाते, हंसते-खेलते लगभग ७ मील की दूरी अनायास ही तय कर लेते थे।

इन सभी कार्यकलापों के एकमात्र प्रेरणा स्रोत पूज्य महात्मा मुंशीराम जी ही होते थे। वे बिना चूके इन कार्यकलापों की व्यवस्था, आयोजन और उत्साह प्रदान करने में लगे रहते थे। जब उनके पुत्र छात्र विभिन्न प्रतियोगिताओं एवं मैचों में जीत कर आते थे तो प्रत्येक छात्र के सिर पर प्यार और आशीर्वाद का हाथ फेर वे अत्यन्त आह्लादित होते थे।

प्रवेश मात्र योग्यता के आधार पर और शिक्षा निःशुल्क

गुरुकुल में प्रवेश के लिए निर्धारित योग्यता और प्रवेश-नियमों का कठोरता से पालन किया जाता था और वहाँ प्रवेशेच्छुओं की उतनी ही भीड़ होती थी जैसी कि आजकल पब्लिक स्कूलों में प्रवेश के लिए होती है। प्रवेश के लिए छात्र का पूर्ण स्वस्थ होना तथा निश्चित आयु से अधिक का न होना आवश्यक था।

गुरुकुल की शिक्षा तो निःशुल्क थी, पर आश्रम-खर्च के लिए पहले १० रुपये मासिक और फिर प्रथम युद्ध के बाद १५ रुपये मासिक शुल्क लिया जाता था। इसके साथ ही प्रवेश के समय तीन मास का अगाऊ शुल्क और १०० रुपये धरोहर-राशि ली जाती थी, जो स्नातक बनने के बाद ही वापस किये जाते थे। यदि कोई १४ वर्ष के पूरे शिक्षाकाल के लिए एकमुश्त शुल्क जमा कराना चाहता था तो उसे १५०० रुपए जमा करवाने पड़ते थे।

गुरुकुल में शारीरिक दंड यथासंभव अत्यल्प

गुरुकुल में छात्रों को शारीरिक दण्ड देने की परम्परा बहुत कम थी और

यदि बहुत ही आवश्यक हो तो सामान्य दण्ड ही दिया जाता था। परन्तु आचार्य महात्मा मुंशीराम जी के स्पष्ट आदेश के बावजूद भी कुछ अध्यापक कठोर शारीरिक दण्ड देने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करते थे। इसप्रकार की घटनाओं की एक-दो कटु-स्मृतियाँ अब भी मेरे मनः पटल पर अंकित हैं। एक-बार मुझ से एक-दो कक्षा नीचे के बलदेव नाम के छात्र को प्रातः प्रार्थना के बाद सभी छात्रों एवं अध्यापकों की उपस्थिति में मुख्याध्यापक श्री गोवर्धन जी बी० ए० ने १०-१५ बेंत मारने का दण्ड दिया था। उसका दोष यह था कि वह बहुत शरारती, और उधमी था। इस कड़े दण्ड से सुकुमार किशोर छात्र का अत्यन्त पीड़ित हो रोना-चिल्लाना स्वाभाविक ही था। इससे सारी संस्था में एकदम सनसनी फैल गयी। छात्रों ने अपना विरोध प्रकट करने के लिए आश्रम और विद्यालय की बाहरी दीवारों पर श्री गोवर्धन जी के खिलाफ रातों-रात तरह-तरह के नारे काली स्याही से लिख दिये। यह दण्ड किसके आदेश से क्रिया में लाया गया, यह काफी विवादास्पद रहा। आचार्य महात्मा मुंशीराम जी उन दिनों गुरुकुल से बाहर प्रचार-यात्रा पर गये हुये थे। इस कठोर दण्ड के फलस्वरूप अन्त में मास्टर गोवर्धन जी को गुरुकुल छोड़ना पड़ा।

शिक्षा विभाग के प्राचार्य प्रो० रामदेव जी थे। वे कुछ कड़े स्वभाव के और कठोर अनुशासनप्रिय थे। एक बार उन्होंने मुझे अपने दो सहपाठियों के साथ बाग से चोरी से फल तोड़ने के अपराध में पाँच बेंत मारे थे। एक बार एक संस्कृत के अध्यापक ने पाठ याद न करने के कारण मेरी पीठ पर लोटे मारे थे। इसकी जानकारी जब महात्मा जी को मिली तो उन्होंने अध्यापक को 'कड़ी चेतावनी' दी।

गुरुकुल के सेवाभावी चिकित्सक डॉ० सुखदेव

गुरुकुल में ऐलोपैथिक और आयुर्वेदिक दोनों प्रकार की चिकित्सा व्यवस्था थी। ऐलोपैथी के चिकित्सक डॉ० सुखदेव जी थे, जो आजीवन गुरुकुल के प्रति पूर्णतः समर्पित रहे। आर्यसमाजी होते हुए भी वे अत्यन्त क्रान्तिकारी विचारों के थे। वे आसपास के गाँवों के लोगों, समस्त कुलवासियों, कार्यकर्ताओं और उनके परिवार के सदस्यों की चिकित्सा निःशुल्क करते थे। यद्यपि गुरुकुल का चिकित्सालय सामान्य ही था, पर डॉक्टर जी इतने पीयूषपाणि थे कि शहर से दूर रहते हुए तथा आवश्यक सुविधाओं के अभाव में भी वे रोगियों की चिकित्सा बड़े मनोयोग से करते थे और उन्हें स्वास्थ्य-लाभ प्रदान करते थे। उनकी सिद्धहस्तता का ही परिणाम था कि मेरे गुरुकुल-निवास के १५ वर्षों में ३०० छात्रों में से केवल एक ही छात्र की मृत्यु हुई, और वह भी हैजे के असाध्य रोग के कारण। इससे डॉ० सुखदेव जी और महात्मा मुंशीराम जी सहित समस्त कुलवासियों को भारी आघात पहुंचा। आचार्य जी तो ऐसे फूट-फूट कर रो रहे थे, जैसे उनके परिवार का ही कोई प्रियजन मर गया हो।

डॉ० सुखदेव जी की सेवा-भावना एवं दक्षता का मेरा अपना भी एक अनुभव

है। ग्रीष्मऋतु और कभी-कभी शीतऋतु में भी प्रायः मेरी नकसीर फूट आती थी। छठी श्रेणी में पढ़ते समय एक बार मुझे इस रोग का इतना प्रबल और दीर्घकालीन आक्रमण हुआ कि कई ड्रम पानी सिर पर डालने से भी रक्तस्राव बन्द नहीं हुआ। डॉक्टर जी भी परेशान थे। अन्त में काफी सोच-विचार के बाद उन्होंने रुई की दो बत्तियों पर कुछ मल्हमनुमा ओषधि लगा कर मेरी नाक के दोनों छेदों में एक-एक बत्ती डाल दी। तख्त के नीचे दोनों पैरों की ओर एक-एक ईंट लगा कर उसे ऊँचा कर दिया तथा दो-तीन तकिये रख मुझे सिरहाने की ओर लिटा दिया। मैं तत्काल सो गया। प्रातः उठा, सर्वथा ठीक था। चूंकि रक्तस्राव काफी हुआ था, इसलिये डॉक्टर जी के परामर्श से मुझे कुछ दिन तक भोजन के साथ मक्खन तथा कुछ अन्य पौष्टिक फल आदि देने की विशेष व्यवस्था की गई।

इन्द्र की हड्डियाँ गुरुकुल में ही गाड़ी जायेंगी

महात्मा मुंशीराम जी गुरुकुल की शिक्षा के प्रति कितने समर्पित और आस्थावान् थे—इसका परिचय इसी तथ्य से मिलता है कि प्रथम प्रविष्ट होने वाले बच्चों में उनके दोनों सुपुत्र हरिश्चन्द्र और इन्द्र थे। गुरुकुल में छात्रावस्था में इन्द्र जी का एक फेफड़ा कमजोर हो गया था। इलाज के लिये उन्हें कई मास तक शिमला के पास सोलन में रखना पड़ा। गुरुकुल-विरोधियों ने यह अफवाह उड़ा दी कि "महात्मा मुंशीराम दूसरों के बच्चों को तो गुरुकुल में भेजने के लिये प्रचार करते हैं, पर अपने लड़के को वहाँ से निकाल अन्यत्र भेज रहे हैं।" इस कुप्रचार से स्वामी जी को बहुत दुःख हुआ। उसी वर्ष गुरुकुल के वार्षिक उत्सव पर अपनी जालन्धर की शानदार कोठी और सद्धर्म प्रचारक पत्र व प्रेस गुरुकुल को दान करने की घोषणा के साथ इन सबकी चाबियाँ सभा के प्रधान लाला रामकृष्ण जी को हजारों की जनता के सम्मुख सौंपते हुये तालियों की गड़गड़ाहट के बीच यह भी घोषणा की कि "इन्द्र गुरुकुल में ही पढ़ता है और यहीं पढ़ेगा। यदि मर भी गया तो उसकी हड्डियाँ भी इस भूमि में ही गाड़ी जायेंगी।" महात्मा जी जब यह घोषणा कर रहे थे तो उत्सव में उपस्थित अधिकांश नर-नारियों की आँखों से अश्रुधारा बह रही थी।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सिवाय महात्मा जी और प्रो० रामदेव जी के, अन्य किसी प्रमुख आर्यनेता और गुरुकुल की स्वामिनी सभा आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के अधिकारियों या अन्तरंग सदस्यों का कोई पुत्र गुरुकुल में लगातार नहीं पढ़ा। कुछ ने अपने पुत्र को प्रविष्ट तो करा दिया पर किसी न किसी बहाने सातवीं आठवीं से अधिक नहीं पढ़ने दिया। सभा के एक प्रमुख अधिकारी ने तो पांचवीं श्रेणी के बाद 'बच्चा बीमार रहता है' के बहाने से अपने बच्चे को निकाल लिया।

महात्मा जी का छात्रों के प्रति वात्सल्य

आचार्य महात्मा मुंशीराम जी की गुरुकुल के छात्रों से कितनी आत्मीयता और निज सन्तानवत् स्नेह था, इसके अनेक प्रसंग मिलते हैं। इनमें से उदाहरण के तौर पर एक-दो प्रसंग प्रस्तुत कर रहा हूँ।

गंगा में प्रति वर्ष बरसात में भयंकर बाढ़ आती थी। आचार्य महात्मा मुंशीराम जी सहित हम सब छात्र एवं गुरुकुल के कर्मचारी रात भर जागते, टोकरी भर-भर मिट्टी किनारों पर डालते रहते। इस स्थिति में प्रत्येक छात्र के लिये तैरना सीखना और उसमें सफलता प्राप्त करना लगभग अनिवार्य-सा हो गया था। एक बार की बात है कि मेरी कक्षा से एक कक्षा नीचे का सत्यपाल ब्रह्मचारी—जो एक अच्छा तैराक था—आकाशचुंबी लहरों में गंगा पार कर दूसरे किनारे चला गया। वह जब रात ६ बजे तक वापस नहीं आया तो आचार्यवर को अत्यन्त चिन्ता होने लगी और उन्होंने हम लोगों को साथ लेकर उसकी तलाश शुरू कर दी। पता चला कि वह तो गंगा पार दूसरे किनारे पर आराम से बैठा है। उसे वापस आने के लिये कई आवाजें दी गयीं, पर उस ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। इससे अतिविह्वल, चिंतातुर वृद्ध आचार्यवर स्वयं गंगा में कूद दूसरे तट से छात्र को लाने के लिये तैयार हो गये। उनके इस प्रकार गंगा पार करने को हम उनके शिष्य भला कैसे एक क्षण के लिये भी सहन कर सकते थे। अत्यन्त नम्रता से आचार्यवर को इस साहसिक कदम से रोक हम तीन-चार छात्रों ने गंगा में छलांग लगायी और करीब पौन घण्टे बाद सत्यपाल को वापस गुरुकुल तट पर ले आये। उसने आते ही आचार्य जी का चरण स्पर्श किया तब उन्होंने इतना ही कहा—"सत्यपाल। तुम्हारा इस प्रकार का साहस निश्चय ही प्रशंसनीय है, पर इतनी देर तक वहाँ रहने से हम सब बहुत चिन्तित थे।" ब्रह्मचारी सत्यपाल ने अपने इस अपराध के लिये जब क्षमा माँगी तब प्रत्येक छात्र के लिये अत्यन्त ममताशील वृद्ध आचार्यवर ने उसे अपनी विशाल भुजाओं में आबद्ध कर सतत स्नेहधारा से आप्लावित कर दिया।

छात्र-रोगी का वमन अपनी झोली में

आचार्य मुंशीराम जी का यह नियम था कि वे प्रातः सायम् विद्यालय एवं महाविद्यालय के आश्रमों, चिकित्सालय, गोशाला, बाग आदि का 'राउन्ड' लगाया करते थे। चिकित्सालय में प्रविष्ट रोगियों से मिलना और उनका कुशल-क्षेम पूछना उनके लिये अनिवार्य-सा था।

एक बार रोगी-गृह में एक छात्र ज्वर से पीड़ित था। गुरुकुल में एक सामान्य परम्परा थी कि जिस श्रेणी का छात्र चिकित्सालय में प्रविष्ट होता था उसी कक्षा के छात्र बारी-बारी से दो-दो घण्टे रोगी की सेवा के लिये रात में जागते रहते थे। कुछ ऐसा संयोग हुआ कि जब महात्मा जी रोगी-गृह में आये तो वहाँ कोई भी नहीं था। छात्र को कष्ट में देख कर वे उसके पास बैठ गये और धीरे-धीरे उसका सिर दबाने लगे। उसी समय रोगी छात्र को एकाएक उल्टी आने लगी। महात्मा जी ने देखा कि नीचे चिलमची नहीं है। किसी को आवाज देने के बजाये उन्होंने स्वयं अपनी धोती के एक छोर को फैला उसी में वमन ले लिया और चुपके से बाहर

जाकर नाली में फेंक आये। तत्पश्चात् जल से रोगी का मुँह साफ कर उसका सिर पुनः धीरे-धीरे दबाने लगे और डॉक्टर के आने तक वहाँ बैठे रहे।

सोते छात्र की साँप से रक्षा

महात्मा जी प्रातः—सायम् 'राउन्ड' लगाने के अतिरिक्त आधी रात में भी आश्रम में, विशेष कर छोटे छात्रों के कमरों में चक्कर लगाते थे। शीतकाल में छोटे छात्र प्रायः नींद में अपनी रजाई से अलग, उकड़ू हो गहरी नींद में सोये देखे जाते थे। कभी-कभी तो छात्र सोते-सोते तख्त से नीचे लुढ़क जाते थे। आचार्य जी बड़े स्नेह और धीमे से छात्र को उठा तख्त पर सुला देते थे और रजाई आदि उढ़ा देते थे।

गुरुकुल में गर्मी और बरसात में साँप बिच्छुओं की बहुलता हो जाती थी और वे आश्रम भवन में भी पहुँच जाते थे। एक बार की बात है, गर्मी का मौसम था। उन दिनों गुरुकुल में बिजली नहीं लगी थी। पढ़ने के लिये मिट्टी के तेल के हरीकेन लैंप व टेबल लैंप थे। गर्मी के मौसम में आश्रम के कमरों से बाहर तख्त निकाल उसी पर छात्र सोते थे। एक बार इसी मौसम में एक छात्र तख्त से नीचे भूमि पर गिरा टाँग पर टाँग रखे बेसुध सो रहा था। उसकी टाँग के ठीक नीचे एक काला नाग लिपटा पड़ा था। आचार्य जी रोज के नियम के अनुसार जब वहाँ पहुँचे तो इस भयंकर दृश्य को देख अवाक् से खड़े हो गये। नाजुक स्थिति थी! अगर छात्र को उठाने की चेष्टा करते तो साँप द्वारा उछल कर छात्र को काट लेने का डर था। आचार्य जी ने सबसे पहले कुछ दूरी पर सो रहे कक्षा के अधिष्ठाता को जगाया और सारी स्थिति समझायी। अधिष्ठाता को अत्यन्त सावधानी से बच्चे को उठा तख्त पर लिटा देने और उसी क्षण स्वयं साँप के सिर पर अपनी लाठी टिका उसे वहीं कुचल देने का कार्यक्रम बनाया। उसी के अनुसार कार्य किया गया। बालक को सुरक्षित उसके बिस्तर पर सुला दिया गया और साँप का वहीं अन्त कर दिया गया।

कुलभूमि में रात में बम की तलाश करते मजिस्ट्रेट से भेंट

इस सदी के पहले दो दशकों में आर्यसमाज और गुरुकुल पर विदेशी शासन की बड़ी संदिग्ध और वक्र दृष्टि थी। इसाई मिशनरियों और अत्यन्त भारत विरोधी गोरे शासकों और अधगोरे पत्रों ने यह कुप्रचार कर रखा था कि गुरुकुल क्रान्तिकारियों का भारी अड्डा है और वहाँ बम बनाने का एक गुप्त कारखाना भी है। एक अर्ध सरकारी रिपोर्ट में कहा गया था कि गुरुकुल का ब्रह्मचारी घोड़े पर सवार, दायें हाथ से घोड़े की लगाम पकड़ और बायें हाथ से आकाश में उड़ते पक्षी को तीर का निशाना बना भूमि पर गिरा देता है। इसी संदर्भ में एक बार बहुत विचित्र एवं दिलचस्प घटना हुई। आचार्य महात्मा मुंशीराम जी एक दिन भोर वेला में अपने दैनिक कार्यक्रम के अनुसार भ्रमण करके वापस आ रहे थे, अभी अंधेरा ही था। उस समय

उन्होंने गुरुकुल में कुश्ती के लिये बने अखाड़ेमें हाथ में लालटेन लिये दो व्यक्तियों को देखा। आश्चर्य के साथ जब वे उनके पास गये तब उन दोनों का उस विशालकाय भव्य मूर्ति को देखकर घबरा जाना स्वाभाविक ही था। पूछताछ करने पर पता चला कि उनमें से एक जिला बिजनौर का गोरा मजिस्ट्रेट है और दूसरा उनका कोई सहायक है। अधिक बातचीत करने पर मजिस्ट्रेट ने बतलाया "हमें रिपोर्ट मिली है कि गुरुकुल में बम बनाये जाते हैं। हम अखाड़े में जमीन के नीचे छिपाकर रखे उन बम के गोलों की तलाश में आये थे।" आचार्य जी यह सुन हँसे और बोले कि "आप मेरे साथ निवासस्थान पर चलिये। मैं आपको बमों का पता दूँगा।" वे दोनों उनके साथ आ गये। वहाँ सादर बैठा कर आचार्यवर ने अपनी दैनिक स्वाध्याय की पुस्तकों में से 'सत्यार्थप्रकाश' निकाला और उसमें से दूसरा, तीसरा, दसवां और ग्यारहवां समुल्लास खोल कर दिखाते हुए कहा कि "आप इन्हें पढ़े। इन्हीं में बम बनाने का नुस्खा खूब विस्तार से लिखा हुआ है। आप यह पुस्तक साथ ले जायें और ध्यान से पढ़े।" दोनों अधिकारी महात्मा जी की बात सुन शर्मिन्दा होकर वापस चले गये।

पिता जी सहायक मुख्याधिष्ठाता : पं० सातवलेकर जी की गिरफ्तारी

मेरे पिता जी न केवल गुरुकुल के भक्त ही थे, वरन् महात्मा मुंशीराम जी के निकटतम सहयोगियों में भी उनकी गणना होती थी। वे प्रति वर्ष गुरुकुल के उत्सव पर स्वयंसेवी के रूप में कार्य करने के लिये पहुँच जाते थे। वे वहाँ यात्रियों के ठहरने आदि की व्यवस्था की देखभाल करते थे और उनकी सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखते थे। इसके अतिरिक्त जब कभी उन्हें एक या दो मास का अवकाश मिलता उस समय भी वे गुरुकुल आकर आचार्यवर के प्रबन्ध संबंधी कार्यों में अवैतनिक सहायक मुख्याधिष्ठाता के रूप में उनकी सहायता किया करते थे। माता जी भी प्रायः साथ आती थीं।

एक बार संभवतः सन् १९१०-११ में महात्मा जी स्वास्थ्य-लाभ के लिये क्वेटा गये हुये थे। उस समय संस्था का प्रबन्ध संबंधी संपूर्ण दायित्व मेरे पिता जी के जिम्मे था। उन्हीं दिनों आर्यसमाज के प्रमुख विद्वान् दक्षिण हैदराबाद के निवासी पं० सातवलेकर जी स्वाध्याय और छात्रों को शिक्षण देने के लिये गुरुकुल में रहते थे। पंडित जी उस समय के प्रमुख फोटोग्राफर और चित्रकला-मर्मज्ञ भी थे। उन्होंने अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त का मराठी अनुवाद प्रकाशित करवाया था। उसमें विदेशी सरकार को राजद्रोह की गंध आई। परिणामतः उनके नाम वारंट ले हैदराबाद की पुलिस जिला बिजनौर (जिसके अंतर्गत गुरुकुल था) की पुलिस के साथ गुरुकुल आ पहुंची। पिता जी उस समय कार्यालय में कार्य कर रहे थे। वर्दी पहने पुलिस अधिकारी ने पंडित जी को पुलिस के सुपुर्द करने के लिये कहा। इस अप्रत्याशित स्थिति को देख कर वे आश्चर्यचकित हो गये, पर घबराये नहीं। उन्होंने एक दृढ़

आर्य पुरुष की भांति कहा—"हमें पंडित जी को आपके सुपुर्द करने में कोई आपत्ति नहीं है, बशर्ते कि आप गुरुकुल के इन दो नियमों का पालन करें: एक तो कोई सरकारी अधिकारी या कर्मचारी सरकारी वेश में कुल-भूमि में प्रवेश नहीं कर सकता है, और दूसरे यहां किसी को हथकड़ी नही लगाई जा सकती है।" कठोर दमन के उस युग में पुलिस की तनिक भी अवज्ञा एक संगीन अपराध था। पर पिता जी ने साहस के साथ इन दोनों शर्तों का पालन कराया। पंडित जी को पुलिस को सौंपने से पहले सिपाहियों के साथ गुरुकुल के एक विश्वस्त व्यक्ति कोइ सलिये भेजा कि वह यह तसल्ली कर ले कि बिना वर्दी और बिना हथकड़ी के ही थानेदार सहित पुलिस वापस आ रही है। ऐसा हो जाने पर उन्होंने अपने आश्वासन के अनुसार पंडित जी को पुलिस को सौंप दिया।

इस घटना की सूचना तत्काल महात्मा मुंशीराम जी को क्वेटा भेज दी गई। उन्होंने भी कृत कार्यवाही की पुष्टि करते हुए पिता जी की सूझबूझ और साहस की सराहना की।

महात्मा जी का हिन्दी प्रेम

जालन्धर के प्रमुख वकील होने के साथ आर्यसमाज के आगण्य नेता और आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान महात्मा मुंशीराम जी जालन्धर से उर्दू साप्ताहिक 'सद्धर्म प्रचारक' प्रकाशित करते थे। प्रान्त में आर्यसमाज का एकमात्र पत्र होने के कारण इसमें किसी प्रकार का घाटा नहीं होता था। पर ऋषि दयानन्द के आदेश और आर्यसमाज की मान्यता के अनुसार लेखन, पठन-पाठन और दैनिक व्यवहार का माध्यम एकमात्र हिन्दी ही हो सकती है, इस बात के ध्यान में आते ही महात्मा मुंशीराम जी ने एक ही रात में सद्धर्म प्रचारक का कलेवर बदल उसे हिन्दी में कर दिया। उर्दू-प्रधान पंजाब में हिन्दी का चलन उस समय तक बहुत कम था, इसलिये केवल उर्दू जानने वालों ने महात्मा जी का प्रचारक' पढ़ने के लिये ही हिन्दी का ज्ञान प्राप्त किया। फलत: हिन्दी सद्धर्म प्रचारक भी उतना ही लोकप्रिय हो गया जितना कि उर्दू सद्धर्म प्रचारक था। बाद में जब महात्मा जी ने अपनी शानदार कोठी आदि समग्र चल-अचल संपत्ति गुरुकुल को दान कर संस्था के आचार्य एवं मुख्याधिष्ठाता के रूप में वहाँ डेरा लगाया तब 'सद्धर्म प्रचारक' को भी वहीं लाना आवश्यक हो गया। यहाँ यह पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भी सर्वाधिक रुचि के साथ पढ़ा जाने लगा।

महात्मा जी के हिन्दी-प्रेम का परिणाम था कि गुरुकुल में पहली से अन्तिम श्रेणी तक की सम्पूर्ण शिक्षा का माध्यम हिन्दी था और उस समय सम्भवत: समूचे भारत में हिन्दी माध्यम से शिक्षा देने वाली एकमात्र संस्था गुरुकुल ही था।

पिता जी की मृत्यु : माहत्मा जो के स्नेहोद्‌गार

मेरे पिता जी बबासीर के मरीज थे। तत्कालीन सरकारी नियमों के अनुसार वे प्रातः से सायम् तक कुर्सी पर बैठे काम करते रहते थे। साथ ही देहात में आर्य समाज के प्रचार के लिये आने-जाने पर आहार-विहार की समुचित व्यवस्था नहीं हो पाती थी, जिस कारण उनका यह रोग बढ़ता ही गया। परिणामतः दिसम्बर १९१२ में लगभग ४५ वर्ष की आयु में ही उनका स्वर्गवास हो गया। मैं उस समय छठी या सातवीं श्रेणी में पढ़ता था। मुझे उनकी मृत्यु की सूचना गुरुकुल से मुद्रित एवं प्रकाशित 'सद्धर्म प्रचारक' से मिली, जिसकी एक प्रति मेरी श्रेणी के अधिष्ठाता की मेज पर पड़ी थी। मैंने जब कौतूहल वश उसे उठा कर भीतर का पहला पृष्ठ ही देखा तो उसमें मेरी नजर दो कालमों पर चारों ओर काली रेखा दिये महात्मा मुंशीराम जी के एक लेख पर पड़ी, जिसका शीर्षक था—"मेरे परम मित्र, गुरुकुल भक्त श्री हीरानन्द जी का अल्प आयु में ही स्वर्गवास"। इस लेख के नीचे महात्मा जी के हस्ताक्षर भी थे। इसे पढ़ते ही मैं अत्यन्त शोक विह्वल हो फुफुक-फुफुक कर रोने लगा। अधिष्ठाता स्थिति समझ गये। मुझे तत्काल प्रेम से सान्त्वना देते हुए आचार्य जी के गंगा तट स्थित निवास स्थान पर ले गये। महात्मा जी फौरन स्थिति भांप गये। उन्होंने तत्क्षण अत्यन्त स्नेह, सहानुभूति और पितृ-तुल्य आत्मीयता के साथ अपनी स्नेहभरी गोदी में बैठाया और भावविह्वल होकर साश्रूनयन से रुंधे गले सहित मेरे सिर पर प्यार भरा हाथ फेरते हुए कहा—"वत्स दीनानाथ! शोक मत करो। तुम्हारे पिताजी मेरे प्रिय धर्मबन्धु और सहयोगी थे। गुरुकुल के प्रति उनकी गहरी आस्था थी। तुम सर्वथा निश्चित रहो, परिश्रम के साथ यहाँ विद्याध्ययन करते रहो, तुम्हारी पढ़ाई में कोई विघ्न नहीं पड़ेगा।" आचार्य जी के इन शब्दों से मुझे सचमुच गहरी सान्त्वना और धैर्य प्राप्त हुआ। पिता जी के स्वर्गवास के असह्य क्लेश और कुछ रुग्ण रहने के कारण मैं उस वर्ष अनुत्तीर्ण हो गया। फलतः १४ वर्ष के बदले १५ वर्ष में स्नातक बना।

यहां यह उल्लेखनीय है कि महात्मा जी का न केवल मुझसे, वरन् अन्य सभी छात्रों से भी पुत्रवत् अगाध स्नेह था और यदि किसी के माता या पिता की मृत्यु हो जाती थी तो वे इसी प्रकार से स्नेह-सान्त्वना प्रदान किया करते थे। उन्होंने छात्रवृत्ति की व्यवस्था करके जैसे मेरी पढ़ाई में व्यवधान नहीं आने दिया, वैसे ही अन्य अनेक छात्र भी थे, जिनके अभिभावक या पिता की मृत्यु हो जाने पर महात्मा जी ने ही उनकी पढ़ाई को निर्विघ्न जारी रखने की समुचित व्यवस्था की थी, पर यह सब गुप्त रखा जाता था। आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् मेरे सहपाठी डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने दिल्ली के आर्य पत्र में एक लेख में यह लिखा था कि पांचवीं या छठी श्रेणी में उनके पिता की मृत्यु हो जाने के बाद जब उन्हें इस संस्था को छोड़ने की आशंका हुई तब आचार्य जी ने उन्हें भी शिक्षा पूरी करने के विषय में निश्चित कर दिया था।

महात्मा गांधी गुरुकुल में

देश के अनेक राष्ट्रीय स्तर के नेता महात्मा मुंशीराम जी के निमन्त्रण पर वार्षिकोत्सवों में और आगे-पीछे गुरुकुल-भूमि में आते रहते थे और छात्रों एवं कुलवासियों को उनके विचार सुनने का सुअवसर मिलता था। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी तो गुरुकुल में दो-तीन बार आये और उनका आचार्य मुंशीराम जी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा।

सन् १९१५ में गांधी जी जब दक्षिण अफ्रीका से अहिंसात्मक सत्याग्रह में सफलता प्राप्त कर भारत वापस आये तो उनके सम्मुख एक बड़ी समस्या दक्षिण अफ्रीका में स्थित 'फोनक्स आश्रम' के बालकों को—जिनमें उनके सुपुत्र देवदास गांधी भी थे—तत्कालीन भारत की किसी पूर्णतः राष्ट्रीय और ब्रह्मचर्यपालक संस्था में प्रविष्ट कराना था। इस प्रसंग में वे सबसे पहले रवीन्द्रनाथ टैगोर के बोलपुर (जिला बर्दवान) स्थित 'ब्रह्मचर्याश्रम' (जो बाद में 'शांति निकेतन' नाम से विख्यात हुआ) में गये। पर वह संस्था उन्हें अनुकूल प्रतीत नहीं हुई। फिर सन् १९१५--१६ में वे काठियावाड़ी पोशाक लम्बा कोट, सिर पर काठियावाड़ी पगड़ी, गले में दुपट्टा धारण किये हुये आचार्य जी के गङ्गा-तट स्थित निवास पर पहुँचे। उस दिन वार्षिकोत्सव का अंतिम दिन था और जनता प्रायः वापस जा रही थी। 'कर्मवीर गांधी की जय' से समूची कुलभूमि गूंजने लगी। जनता की भीड़ के आगे-आगे तेज गति से चल रहे गांधी जी आचार्य जी के निवास स्थान में प्रवेश करते ही उनके चरणस्पर्श के लिए झुके ही थे कि आचार्य श्री ने उन्हें प्रेम से उठा बगलगीर करते हुए अपने लम्बे भुजपाश में बांध लिया।

गांधी जी को 'महात्मा' की उपाधि तो सबसे पूर्व गुरुकुल ने तब दी जब सन् १९१८ में कुंभ मेले के अवसर पर वे स्वराज्य कोष के लिए १ करोड़ रुपये के धनसंग्रह के प्रसंग में हरिद्वार पधारे थे और कनखल में गुरुकुल की विशाल मायापुर वाटिका में भारी जनसमूह की उपस्थिति में स्वामी श्रद्धानन्द जी की अध्यक्षता में उनका स्वागत किया गया था।

दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह : छात्रों द्वारा श्रमदान

सन् १९१३-१४ में जब महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह-आन्दोलन कर रहे थे तब राष्ट्रनेता श्री गोपालकृष्ण गोखले की धनसंग्रह की अपील पर महात्मा मुंशीराम जी की प्रेरणा से उनके ही नेतृत्व में गुरुकुल के छठी श्रेणी से लेकर महाविद्यालय तक के सभी छात्रों, अध्यापकों, प्राध्यापकों और अन्य कर्मचारियों ने पौष-माघ के सर्वाधिक ठंड़े मौसम में—जब हिमालय की तराई में, शिवालिक की पहाड़ियों में हरिद्वार और उसके आसपास शरीर को कंपा देने वाली तेज हवायें चलती हैं—हरकी पौड़ी से करीब ५ मील ऊपर बन रहे दूधिया बांध पर सरकार से बांध के लिए पत्थर तोड़ने का ठेका लेकर लगभग ५ हजार रुपये एकत्र किये। मैं उस समय

सातवीं श्रेणी में था। आचार्य जी सहित सभी कुलवासियों के निवास एवं भोजन आदि की व्यवस्था निर्माण-स्थल पर लगी छोलदारियों में की गयी थी।

इस श्रमदान से एकत्रित धनराशि को लेकर महात्मा मुंशीराम जी गुरुकुल के प्राचार्य एवं नगर के कुछ अन्य प्रमुख आर्यनेताओं के साथ दिल्ली में श्री गोखले जी के निवास पर गये और इस धनसग्रह के लिए गुरुकुल के छात्रों एवं कुलवासियों द्वारा किये गये श्रमदान का वृत्तान्त सुनाया तो उस समय गोखले जी की आँखों से निरन्तर प्रसन्नता के अश्रु बह रहे थे। वे तत्क्षण अपनी कुर्सी से उछल पड़े और महात्मा मुंशीराम जी का सस्नेह दृढ़ आलिंगन करके अनायास ही बोल उठे—"आज मुझे यह पूर्ण विश्वास हो गया है कि जब देश में ऐसे आचार्य, अध्यापक, प्राध्यापक और तपस्वी छात्र विद्यमान हैं, तो यह देश कभी पराधीन नहीं रह सकता।

महात्मा जी और दीनबंधु एंड्रूज की प्रगाढ़ता

दीनबंधु सी० एफ० एंड्रूज और आचार्य मुंशीराम जी के मध्य जो अत्यन्त गहरे और निकटतम सम्बन्ध थे, उनका परिचय बहुत ही कम लोगों को है। एंड्रूज साहब दिल्ली के सेंट स्टीफन कॉलेज में प्राध्यापक होते हुए भी भारत प्रेमी थे। वे गुरुकुल में कई-कई मास आकर रहते और हम छात्रों के साथ खेलते-दौड़ते-खाते-तैरते इत्यादि थे। वे एकदम निरामिष-भोजी थे। उच्च गोरे सरकारी अधिकारियों एवं वायसराय तक उनकी पहुँच थी। गुरुकुल और आर्यसमाज को जब राष्ट्रद्रोही संस्था समझा जाता था तब वे ही गुरुकुल के ऐसे हितैषी थे जिन्होंने अपने प्रभाव से वायसराय और अन्य लोगों का भ्रम दूर किया। उन्हीं की प्रेरणा से लार्ड हार्डिंग ने आर्यसमाजी नेता भाई परमानन्द के फांसी के आदेश को काला पानी में बदल दिया था। एंड्रूज साहब की विशेष प्रेरणा से ही पहले उत्तरप्रदेश के लेफ्टि, गवर्नर सर जेम्स मेस्टन और उसके बाद तत्कालीन वायसराय लार्ड चेम्स फोर्ड उच्च सरकारी अधिकारियों सहित गुरुकुल भूमि में पधारे, तथा आचार्य मुंशीराम जी द्वारा किये गये विशाल और प्रभावी अभिनन्दन से अत्यन्त प्रभावित हुए। महात्मा जी के निवास स्थान पर जब उस मंडली का तुलसी के पकौड़ों और शुद्ध गोदुग्ध से आतिथ्य किया गया तो वे सब बहुत प्रसन्न हुए। इसी के बाद से आर्यसमाज और गुरुकुल के प्रति सरकारी दृष्टिकोण काफी बदल गया।

महात्मा गांधी और महात्मा मुंशीराम के बीच संपर्क स्थापित कराने वाले और उसे आगे बढ़ाने वाले भी दीनबंधु एंड्रूज ही थे। उन्होंने ही दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गांधी को सर्वप्रथम आचार्य श्री का परिचय दिया था और पत्र लिखने एवं मिलने की प्रेरणा दी थी।

महाराज जम्मू-काश्मीर सर प्रतापसिंह गुरुकुल में

मैं सातवीं या आठवीं श्रेणी में था। उस वर्ष जम्मू-काश्मीर के महाराजा सर

प्रतापसिंह तीर्थयात्रा के लिए सदलबल हरिद्वार आये थे। महात्मा मुंशीराम जी ने उन्हें गुरुकुल आने का निमंत्रण दिया। प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेख करना असंगत न होगा कि जब कोई विशिष्ट गणमान्य अतिथि गुरुकुल आते तो उन्हें हरिद्वार से गुरुकुल-भूमि तक लाने-ले जाने के लिये कुछ समय तक तो पालकी की व्यवस्था की जाती थी, परन्तु बाद में गुरुकुल की गोशाला के दो सुन्दर एवं सशक्त बैलों की जोड़ी के साथ छतरी लगे गद्देदार बढ़िया रथ का प्रबन्ध किया जाने लगा। बरसात के मौसम में खाली मुँहबन्द पीपों को बांस की लम्बी छड़ों के साथ मजबूत रस्सी से बाँधकर तिकोनी तमेड़ बनायी जाती, जिसे दो कुशल तैराक गङ्गा में अपनी छाती के साथ हरिद्वार से गुरुकुल तक लाते। इसके अतिरिक्त उन दिनों अन्य कोई प्रबन्ध संभव नहीं था। फूस एवं किश्तियों का पुल तो बरसात के बाद ही सरकारी ठेकेदार द्वारा बनाया जाता था, जिस पर आने-जाने के लिये गुरुकुलवासियों को छोड़ कर अन्य यात्रियों, घोड़ों, बैलगाड़ी आदि से विभिन्न दरों पर किराया लिया जाता था।

आचार्य जी के प्रबल अनुरोध पर सर प्रतापसिंह जी ने गुरुकुल आना स्वीकार कर लिया और वे अपने विशिष्ट अधिकारियों के साथ गुरुकुल द्वारा की गई उपर्युक्त व्यवस्था से ही कुलभूमि में पधारे और संस्था की संपूर्ण व्यवस्था, छात्रों की योग्यता और आतिथ्य से बहुत प्रभावित हुए। उनके स्वागत के लिए हम सब छात्र अपनी-अपनी श्रेणी के क्रम से पंक्तिबद्ध खड़े हुए थे। महाराजा आचार्य जी सहित प्रत्येक पंक्ति के सामने से गुजरते हुए प्रत्येक छात्र को ध्यान से देखते रहे। मेरी पंक्ति में से मुझे और मेरे से पीछे की पंक्ति में एक छात्र रामपाल को आचार्य जी के सम्मुख खड़ा कर बोले "ये दोनों बालक भाग्यवान् हैं।"

जहाँ तक महाराजा की इस भविष्यवाणी के सच होने का प्रश्न है, जालन्धर निवासी रामपाल मुझसे दो-तीन श्रेणी पीछे था और एक समृद्ध जौहरी का पुत्र था। उसे दशम श्रेणी से पूर्व ही उसके संरक्षक गुरुकुल से निकाल कर ले गये थे। सुना था कि उसने अपने कारोबार में अच्छा धन कमाया। मेरे सम्बन्ध में महाराजा प्रतापसिंह जी की भविष्यवाणी इस अंश तक तो ठीक थी कि मैं पिता जी के स्वर्गवास के बाद परिवार की आर्थिक स्थिति के ठीक न होने पर भी श्रद्धेय महात्मा मुंशीराम जी की कृपा से उस युग की उच्च शिक्षा प्राप्त कर सका। आगे के जीवन में यद्यपि आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, पर आज ८८ वर्ष की आयु में पहुँच कर इस बात का परम संतोष है कि सामान्यतया शरीर स्वस्थ एवं नीरोग है; जीवन धार्मिक, निष्कलंक, विशुद्ध एवं महर्षि दयानन्द की शिक्षाओं के अनुरूप चल रहा है और एक गृहस्थ के रूप में मैं चार श्रेष्ठ पुत्रों एवं एक पुत्री का पिता हूँ।

महात्मा जी का दण्ड देने का मनोवैज्ञानिक तरीका

आचार्य प्रवर महात्मा मुंशीराम जी अपने छात्रों से प्रगाढ़ स्नेह करते थे

और वे उन्हें शारीरिक दण्ड देने के पक्षपाती नहीं थे। उनकी सम्मति में मनोवैज्ञानिक ढंग से ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दी जानी चाहिएँ जिनसे अपराधी छात्र न केवल अपना अपराध स्वीकार कर ले, बल्कि उसके लिये पश्चात्ताप करने को भी तत्पर हो जाये। इसका एक उदाहरण मुझे आज भी याद है।

महाविद्यालय के चारों वर्षों का छात्रावास विद्यालय विभाग से पृथक् थोड़ी सी दूरी पर एकदम गंगा तट पर था। उस समय आश्रम के अध्यक्ष प्रोफेसर सुधाकर जी थे। वे बहुत ही अनुशासनप्रिय थे। आश्रम के नियमों के अनुसार प्रत्येक छात्र का रात १० बजे सो जाना और प्रातः ४ बजे जाग जाना आवश्यक था। छात्रों को प्रातः इतनी जल्दी जगाया जाना, विशेषकर सर्दियों में, बहुत अखरता था। पर आश्रमाध्यक्ष जी नियमित रूप से रात १० बजे और प्रातः ४ बजे सब कमरों में चक्कर लगाया करते थे और इस नियम का कड़ाई से पालन कराते थे। शीतऋतु की एक रात की बात है। अपने कमरे के लैंप की बत्ती बुझा कर करीब १० बजे सब कमरों का चक्कर लगा जब वे अपने कमरे में आकर बिस्तर पर लेटे तो उन्हें पता चला कि उनका बिस्तर गंगा के ठंडे पानी से लबालब भरा हुआ है, जिससे उनके कपड़े भी अत्यधिक भीग गये। शरीर के कपड़े तो उन्होंने बदल लिये, पर रात के समय बिस्तर के रजाई-तुलाई आदि कपड़े कैसे बदलते। किसी प्रकार सर्दी की लम्बी रात तो काटी, पर प्रातः होते ही वे आचार्य जी के निवास पर गये। उस समय आचार्य जी दैनिक यज्ञ कर रहे थे। अपना त्यागपत्र उनकी सेवा में उपस्थित कर जब आश्रमाध्यक्ष जी तत्क्षण उठने को तैयार हुये तो आचार्य जी ने उनके प्रति किये गये इस दुर्व्यवहार के लिये कड़ा रोष प्रकट किया और दोषी छात्र का पता लगा उसे कड़ा दण्ड देने का आश्वासन दिया। आश्रमाध्यक्ष जी ने अपराधी छात्र के दण्डित किये जाने तक आश्रम वापस जाने से इन्कार कर दिया। आचार्य जी ने प्राध्यापक महोदय के रहने की वैकल्पिक सुचारू व्यवस्था तो अपने निवास-स्थान के पास ही कर दी और स्वयं तत्काल आश्रम में गये। उनके आते ही आश्रम में हलचल हो जाना स्वाभाविक ही था। सभा-भवन में सब छात्र एकत्र किये गये। आचार्य जी ने आश्रमाध्यक्ष के प्रति किये गये इस अशिष्टता एवं दुर्भावना पूर्ण व्यवहार पर गहरा क्षोभ प्रकट करते हुये कहा कि "पुत्रो! मुझे तुम पर विश्वास है। मैं समझता हूँ कि जिस छात्र ने स्वयं या दूसरों के साथ मिल कर यह अनुचित कार्य किया है वह स्वयं मेरे निवास-स्थान पर शुद्ध हृदय से क्षोभ व दुःख प्रकट कर प्रायश्चित करेगा। मैं बस इतना ही कहना चाहता हूँ।" इसके तनिक बाद ही वे आश्रम से चले गये। मैं उस समय एकादश श्रेणी में था। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि विश्वास की प्रतिक्रिया सदा विश्वास ही होती है, भले ही इसमें कुछ समय लगे। पर आचार्य-वर का अपने शिष्यों के प्रति अपनत्व भरा विश्वास कुछ ही देर बाद उसी दिन प्रतिफलित हो गया। अपराधी छात्र पश्चात्ताप के साथ आचार्य जी के निवास पर

गया, अपना अपराध स्वीकार किया और स्वयं को यथोचित दण्ड दिये जाने के लिये प्रस्तुत कर दिया। आचार्य जी की प्रेरणा पर वह छात्र स्वयं प्रोफेसर सुधाकर जी की सेवा में उपस्थित हुआ और उनका चरणस्पर्श कर समुचित दण्ड दिये जाने की प्रार्थना की। प्रोफेसर जी ने छात्र की इस पश्चात्ताप-भावना को ही पर्याप्त समझते हुये उसे सस्नेह विदा किया।

महात्मा जी और गुरुकुल की ओर विदेशियों का आकर्षण

सन् १९१६–१७ का समय था। इन दिनों गुरुकुल दैवीय सम्पत्ति के धनी आचार्य महात्मा मुंशीराम के नेतृत्व एवं मार्गदर्शन में अपनी उन्नति के चरमोत्कर्ष पर था और इसकी यश:पताका भारत में ही नहीं, वरन् भारत के बाहर भी स्वत: फहरा रही थी। आधुनिक युग की तरह के प्रचार एवं प्रसार के साधनों के सर्वथा अभाव में भी यह अपनी अनोखी विशिष्टताओं के कारण शिक्षा जगत् में ध्रुव नक्षत्र के समान दीप्तिमान् था। देश के तत्कालीन शिक्षाशास्त्री, साहित्यकार एवं राष्ट्रनेता आचार्य जी के कुन्दन-सदृश उज्ज्वल चरित्र से प्रभावित हो अरण्यस्थित इस संस्था की ओर आकृष्ट होते और यात्रा-कष्ट उठाकर भी आते। इतना ही नहीं विदेशों, विशेषकर ब्रिटेन, अमेरिका, द० अफ्रीका इत्यादि देशों से भी कई शिक्षाविद् एवं राजनीतिज्ञ बड़ी उत्सुकता से महात्मा जी के इस अद्भुत परीक्षण को देखने आये और यहाँ की विशेषताओं एवं स्वागत-सत्कार से मुग्ध हो गये। अमेरिका के सुयोग्य विद्वान् और प्रमुख लेखक श्री फिलिप्स तो गंगा पार गुरुकुल में छ: मास से अधिक समय तक रहे। वे हम छात्रों के निकट संपर्क में रहते, खेलते-कूदते और हमारे साथ ही हम जैसा भोजन करते थे। यहाँ से जाने के बाद उन्होंने लखनऊ के प्रमुख अंग्रेजी दैनिक 'पायोनीयर' में गुरुकुल के बारे में एक लेखमाला भी लिखी। परिणामत: सरकारी क्षेत्रों में गुरुकुल और आर्यसमाज के सम्बन्ध में व्याप्त भ्रान्तियाँ दूर होने में विशेष सहायता मिली। ब्रिटेन के प्रमुख शिक्षाविद् श्री सैंडर्स—जो बाद में भारत सरकार द्वारा शिक्षा आयोग के अध्यक्ष भी बने—, प्रख्यात अर्थशास्त्री श्री वेब, प्रमुख राजनीतिज्ञ एवं ब्रिटेन के मजदूर नेता श्री रेम्जे मैकडानल—जो बाद में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रधानमंत्री बने—तथा भारत स्थित अंग्रेज सरकारी अधिकारी, वायसराय, लेफ्टि गवर्नर आदि गुरुकुल देखने आये और गुरुकुल की शिक्षा-व्यवस्था, रहन-सहन तथा महात्मा मुंशीराम जी के आतिथ्य से प्रभावित होकर गये।

क्रान्तिकारियों की शरणस्थली गुरुकुल

आचार्य महात्मा मुंशीराम जी न केवल आर्यसमाज के नेता और गुरुकुल के संस्थापक ही थे, वरन् वे उच्चकोटि के राष्ट्रीय नेता भी थे और उनमें राष्ट्रीय भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। यही कारण है कि तत्कालीन क्रान्तिकारी देश-भक्तों के लिये गुरुकुल के द्वार उन्मुक्त थे। जब किसी क्रान्तिकारी को कुछ समय के लिये छुपने की आवश्यकता होती तो वह निर्जन वन में स्थित इस संस्था को निर्बाध

मान कर यहाँ चला आता । लाला हरदयाल कई मास तक गुरुकुल में रहे । इसीप्रकार राजेन्द्र लहिड़ी, गेंदालाल दीक्षित, यशपाल (जो बाद में प्रसिद्ध उपन्यासकार बने), भगतसिंह, चन्द्रशेखर, राजस्थान के कृष्णसिंह बारासाट आदि क्रान्तिकारी यथेच्छ काल तक पूर्ण सुरक्षा एवं सहयोग की भावना के साथ कुल-भूमि में निवास करते रहे और वहाँ रहते हुये उनका किसीप्रकार से बाल बाँका नहीं हुआ ।

महात्मा मुंशीराम जी का संन्यास आश्रम में प्रवेश

आचार्य महात्मा मुंशीराम जी ने अपनी लगन, त्याग-तप से गुरुकुल को एक बिन्दु से प्रारम्भ कर उसे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की शिक्षा-संस्था के स्तर तक पहुँचा दिया । इसके लिये उन्होंने दिन-रात एक करके धन एकत्र करने से लेकर लगभग १७ वर्ष अत्यन्त परिश्रमपूर्वक गुरुकुल के आचार्य एवं मुख्याधिष्ठाता के दायित्व के निर्वाह तक का सारा कार्य अपने ही कंधे पर संभाला । अब वे इस गुरुतर भार से मुक्त हो देश को तत्कालीन निष्ठुर विदेशी शासन से पूरी तरह मुक्त कराने के लिये भारतमाता के स्वातन्त्र्य युद्ध में अपना पूर्ण योगदान करना चाहते थे और वैदिक आश्रम व्यवस्था के अनुसार वानप्रस्थ के बाद संन्यास-आश्रम में प्रविष्ट होने के लिए कृत-संकल्प थे । उन्होंने गुरुकुल की प्रबन्ध-कर्त्री सभा आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के अधिकारियों को अपने इस संकल्प से अवगत करा दिया । यद्यपि सभा के अधिकारियों ने उनसे संस्था के आचार्य पद पर बने रहने का प्रबल अनुरोध किया, पर वे अपने निश्चय पर अटल रहे ।

मार्च-अप्रैल १९१८ में गुरुकुल का वार्षिकोत्सव था । मैं तेरहवीं श्रेणी का छात्र था । इसी वर्ष उत्सव के तत्काल बाद ही कनखल के निकट स्थित मायापुर वाटिका में महात्मा जी को संन्यास-आश्रम में प्रविष्ट होना था । उत्सव की समाप्ति के अगले दिन ही प्रातः आचार्यवर यज्ञ, स्वाध्याय आदि दैनिक कृत्यों से निवृत्त हो अपने निवास-स्थान से अपने निश्चित खादी के पीत वेश, सिर तक ऊँचा दण्ड, पैरों में देसी जूता धारण किये जब बाहर गंगा तट से गुरुकुल वाटिका की ओर प्रस्थान करने लगे तो इसकी खबर बिजली की तरह सम्पूर्ण कुलभूमि में फैल गई । सम्पूर्ण गुरुकुलवासी और उत्सव पर आये नर-नारी उनके पीछे-पीछे चल पड़े । छठी से चौदहवीं श्रेणी तक के ब्रह्मचारी और सारा जनसमूह साश्रुनयनों से गुरुकुल-भूमि के प्रवेश द्वार तक नतमस्तक शोकाकुल पैदल ही आया । इसके बाद आचार्यश्री जब गुरुकुल की बैलगाड़ी पर बैठने लगे, तब उत्सव में आये यात्रियों में से एक उत्साही सज्जन कुछ मित्रों के साथ उच्च स्वर में दुःख भरे गले से गा रहे थे :

१. कबीरा खड़ा बाजार में लुकाटी लिये हाथ ।
जो घर फूंके आपना सो चले हमारे साथ ।।
२. जमाना उनके कदमों में झुका देता है सर अपना ।
जो दुनियाँ में तो रहते हैं, पर उससे हैं बेगाना ।।
३. उसने कदम बढ़ाये जब मकसद की ओर ।
राह में काफिला खुद ही बढ़ता गया ।।

मुझे इस समय सहसा रामायण का वह दृश्य याद आ गया, जब अयोध्या की राजगद्दी त्याग श्रीराम सीता-लक्ष्मण के साथ वनवास के लिये प्रस्थान कर रहे थे और उनके पीछे-पीछे समस्त नर-नारी रोते-चिल्लाते कह रहे थे—"हे राम ! हे राम ! मत जाओ, मत जाओ, अब हमारा कौन है, कौन है।" पर राम पीछे देखे बिना लगातार आगे ही बढ़ते जा रहे थे। आज भी जनसमूह आर्त स्वर में कह रहा था—"महात्मा जी ! गुरुकुल छोड़ कर मत जाइये। हमें निराश्रय छोड़ कर मत जाइये।" पर आचार्य महात्मा मुंशीराम संतप्त हृदय होते हुये भी श्री राम की तरह बिना पीछे देखे, सर्वथा मौन अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जा रहे थे। हम सब छात्र और जनसमूह पैदल ही सायंकाल तक मायापुर-वाटिका पहुँच गये। रात सबने वहीं विश्राम किया।

प्रातः सूर्योदय के साथ ही आर्यसमाज के तत्कालीन प्रमुख और वरिष्ठ संन्यासी श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज की अध्यक्षता में तथा दूर-दूर से आये हजारों आर्य नर-नारियों व नेताओं की उपस्थिति में महात्मा मुंशीराम जी का संन्यास-आश्रम-प्रवेश-संस्कार आरम्भ हुआ। महात्मा जी सिर के केश, दाढ़ी, मूंछ इत्यादि मुंडा कर और स्नान के बाद पीत वस्त्र धारण कर जब वहाँ उपस्थित संन्यासी वृन्द, विद्वत् जनों और नर-नारियों का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये नत-मस्तक हो यज्ञ-मण्डप में चारों ओर विनम्रता से हाथ जोड़ उपस्थित हुये, उस समय कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जो आँसू न पोंछ रहा हो। नवदीक्षित संन्यासी ने चतुर्दिक् हाथ जोड़ जो शब्द कहे वे आज अर्द्ध शताब्दी से अधिक समय बीत जाने पर भी मेरे कानों में गूंज रहे हैं। ये शब्द कुछ इसप्रकार थे—"प्रभु की अत्यन्त कृपा है कि आप सदृश विशाल आर्य जनता के परम स्नेह, सहयोग और अनुकम्पा से मुझ सदृश एक अत्यन्त सामान्य व्यक्ति को जीवन के इस सर्वोच्च चतुर्थ आश्रम में प्रविष्ट होने का सौभाग्य मिला है। मेरा समूचा जीवन श्रद्धा से प्रेरित और उसी पर आधारित रहा है। इसलिए मैं अपना नाम "श्रद्धानन्द" रखता हूँ। इस नये जीवन में परमपिता प्रभु से बल, शक्ति और आप सबके आशीर्वाद, स्नेह, एवं सहयोग की कामना करता हूँ।"

इसी के साथ ही स्वामी जी के जीवन में नया पृष्ठ आरम्भ हुआ। वे उसी दिन रात की गाड़ी से दिल्ली प्रस्थान कर गये। यद्यपि उन्हें देश की कई प्रमुख संस्थाओं की ओर से दिल्ली में स्थायी निवास के लिये निमन्त्रण प्राप्त हुये थे, पर वे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष के रूप में नया बाजार स्थित सार्वदेशिक भवन में ही ठहरे। उनका बरसों पुराना, ईमानदार और सच्चा सेवक धर्मसिंह उनके साथ था।

गुरुकुल में नये युग का प्रारम्भ

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के निश्चय के अनुसार गुरुकुल के आचार्य और

मुख्याधिष्ठाता पद पर प्राचार्य रामदेव जी नियुक्त किये गये। निःसन्देह आचार्य रामदेव जी गुरुकुल के तत्कालीन कार्यकर्ताओं में महात्मा मुंशीराम जी के दायें हाथ के तुल्य सर्वाधिक योग्य, विश्वस्त, आर्यसमाज एवं गुरुकुल के प्रति पूर्णतः अर्पित, त्यागी, तपस्वी और आर्य सिद्धान्तों के प्रमुख विद्वान् थे। उनका सैद्धान्तिक ज्ञान गहन स्वाध्याय एवं अध्यात्म-चिन्तन पर आधारित था। इसके अतिरिक्त वे अंग्रेजी, दर्शन, इतिहास आदि विषयों के भी ज्ञाता थे। वे महर्षि दयानन्द के परम भक्त, त्यागी-तपस्वी एवं आर्यजगत् के शिरोमणि वक्ता के रूप में भी विख्यात थे।

आचार्य रामदेव जी पहले 'मास्टर रामदेव जी' के नाम से जाने जाते थे। वे बी. ए. करने के बाद महात्मा मुंशीराम जी की सेवा में पुत्रवत् आये थे। महात्मा हंसराज जी से भी उनकी निकट की रिश्तेदारी थी। वे कठोर अनुशासन-प्रिय थे और तर्क एवं सिद्धान्त-पालन को वरीयता प्रदान करते थे। इसके लिये कभी-कभी हठधर्मिता को भी अपना लेते थे। उनकी इस प्रवृत्ति के द्योतक दो प्रसंग मुझे आज भी स्मरण हैं।

एक बार आचार्य के रूप में रामदेव जी ने यह आदेश दिया कि महाविद्यालय के प्रत्येक प्राध्यापक के लिये महर्षि दयानन्द सरस्वती के स्वमन्तव्याऽवमन्तव्य के ५१ सिद्धान्तों को मानना और इसके प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करना आवश्यक है। उन दिनों महात्मा मुंशीराम जी के दोनों पुत्र हरिश्चन्द्र जी और इन्द्र जी महाविद्यालय विभाग में क्रमशः इतिहास और वेद के प्राध्यापक थे। आचार्य जी के उपर्युक्त आदेश पर अधिकांश प्राध्यापकों ने कहा कि "जहाँ तक इन दोनों का प्रश्न है, ये दोनों तो गुरुकुल के स्नातक हैं और गुरुकुल की समूची शिक्षा का आधार महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित शिक्षा पद्धति ही है, इसलिये इनके स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों को न मानने की तो कोई बात ही नहीं। दूसरी ओर जो प्राध्यापक स्नातक नहीं हैं उनकी नियुक्ति योग्यता और अनुभव के आधार पर की गई है, स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों को मानने या न मानने के आधार पर नहीं। अतः इन पर यह आदेश कैसे लागू हो सकता है।" परन्तु आचार्य रामदेव जी अपनी बात पर अड़े रहे। फलतः श्री इन्द्र जी और हरिश्चन्द्र जी अपने आत्मसम्मान की दृष्टि से गुरुकुल छोड़कर दिल्ली आ गये और हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया। कुछ दिन बाद हरिश्चन्द्र तो प्रथम महायुद्ध में राजा महेन्द्रप्रताप के निजी सचिव के रूप में विदेश चले गये और वहाँ से आजन्म लौटे ही नहीं। श्री इन्द्र जी ने अपने बड़े भाई के दैनिक पत्र 'विजय' के बन्द हो जाने पर दैनिक 'अर्जुन' दिल्ली से आरम्भ किया।

आचार्य रामदेव जी की कट्टरता का एक दूसरा उदाहरण श्री सी० एफ० एंड्रूज से सम्बन्धित है। श्री एंड्रूज महात्मा जी के मित्र और गुरुकुल-प्रेमी थे। सुना गया था कि वे गुरुकुल के महाविद्यालय विभाग में अंग्रेजी का प्राध्यापक बनने को तैयार हो गये थे, बशर्ते कि उन्हें शुद्धि के आडम्बर से मुक्त रखा जाये। महात्मा

जी तो एंड्रूज साहब की उपयोगिता से प्रभावित थे, अतः वे इस शर्त को मानने को तैयार हो गये, पर आचार्य रामदेव जी इसके लिये किसी भी तरह तैयार नहीं हुए। परिणामतः श्री एंड्रूज के प्रस्ताव को कार्यान्वित नहीं किया जा सका।

गुरुकुल में छात्रों की हड़ताल : स्वामी जी का पुनः आगमनः

लगभग एक वर्ष बाद सन् १९१९ में गुरुकुल में अनायास ही एक विस्फोटक स्थिति पैदा हो गयी। उस समय वार्षिक परीक्षायें होने वाली थीं। छात्रों ने—विशेषकर उन छात्रों ने जो बहुत आज्ञाकारी, विनम्र और पढ़ने में होशियार समझे जाते थे—परीक्षाओं को एक मास के लिये स्थगित करने की प्रार्थना की, क्योंकि किन्हीं अपरिहार्य कारणों से पाठ्यक्रम समय पर पूरा नहीं हो सका था और छात्र पूरी तैयारी नहीं कर सके थे। अनुशासन के नाम पर आचार्य रामदेव जी ने यह मांग अस्वीकार कर दी। तनाव बढ़ गया, छात्रों ने हड़ताल कर दी और कुछ ने भूख हड़ताल भी कर दी। आचार्य रामदेव जी इस विषम स्थिति को न संभाल सके। वे गुरुकुल से चुपके से निकल पहले लाहौर गये, और वहाँ से सभा मन्त्री महाशय कृष्ण जी को साथ लेकर दिल्ली पहुंचे। वहां स्वामी श्रद्धानन्द जी के चरण-स्पर्श कर क्षमा मांगते हुए गुरुकुल का मुख्याधिष्ठाता का पद पूर्ववत् संभालने की प्रार्थना की। स्वामी जी सरल चित्त, निश्छल, निष्कपट स्वभाव के थे और गुरुकुल तो उन्हें प्राणों से अधिक प्रिय था। उन्होंने इस शर्त पर पुनः गुरुकुल आना स्वीकार किया कि "दो वर्ष से अधिक मैं वहाँ नहीं ठहरूंगा।" यह शर्त मान ली गयी और स्वामी जी महाराज वापस आ गये। सम्पूर्ण कुलभूमि में हर्ष की लहर फैल गयी।

जलियावाला बाग काण्ड : गुरुकुल के छात्रों का सेवा-कार्य

१३ अप्रैल बैसाखी का पर्व पंजाब में, विशेषकर अमृतसर में बड़े उत्साह से मनाया जाता था। उस दिन एक सरकारी जासूस की शरारत से कांग्रेस के नाम पर जलियांवाला बाग में जनसभा के आयोजन की घोषणा कर दी गई। परिणामतः शाम ४ बजे हजारों आबाल-वृद्धों की भीड़ सभा के लिये बाग में एकत्र हो गई। इसी समय बाग के एकमात्र तंग द्वार से फौजी अफसर जनरल डायर द्वारा शांत, निहत्थी जनता पर बिना किसी पूर्व सूचना के भीड़ पर मशीनगनों द्वारा लगभग २० मिनट तक दनादन गोली वर्षा की गई। बाग के तीन ओर दीवारें थीं। हजारों आबाल-वृद्ध बचने की कोशिश में भागते हुए एक दूसरे के नीचे आकर पिस गये। घायलों की चिकित्सा व उन्हें अस्पताल ले जाने की कोई व्यवस्था नहीं थी। मृतकों की संख्या कांग्रेस के अनुसार करीब २००० और सरकारी सूचना के अनुसार ५०० थी। इस भयंकर खून की होली से न केवल सम्पूर्ण भारत में, वरन् सारे विश्व में सनसनी फैल गयी।

जब इस घटना की सूचना गुरुकुल में पहुंची तो स्वामी श्रद्धानन्द जी १३वीं के लगभग १५ छात्रों को लेकर अविलम्ब सेवा-सहायता-कार्य के लिये अमृतसर

पहुंच गये । इन छात्रों में मैं भी सम्मिलित था । वहां जाकर गुरुकुल के छात्रों ने पं० मदनमोहन मालवीय और स्वामी जी के निर्देशानुसार लाहौर में स्थापित पंजाब सेवा समिति के अन्तर्गत घायलों, मृतकों, लापता एवं असहाय लोगों की सूची तैयार करने और राहत पहुँचाने का कार्य किया तथा लाहौर-अमृतसर के निकटस्थ गांवों में स्थानीय नेताओं के निर्देशानुसार कार्य प्रारम्भ किया।

अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन में गुरुकुल के छात्र

दिसम्बर १९१९ की छुट्टियों में होने वाला कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन कांग्रेस महासमिति ने अमृतसर में करने का निश्चय किया था । पंजाब के सभी प्रमुख कांग्रेस नेता जेलों में थे । गांधी जी के अत्यन्त आग्रह पर स्वामी श्रद्धानन्द जी को स्वागताध्यक्ष चुना गया । अधिवेशन की तैयारी और पूरी व्यवस्था के लिए गुरुकुल के १३ वीं-१४ वीं श्रेणी के छात्र भी स्वयंसेवक के रूप में कार्य करने के लिए अमृतसर मध्य दिसम्बर में पहुँच गये थे । मैं भी उस समय १४ वीं श्रेणी का छात्र था, अतः मैं भी अमृतसर गया । कांग्रेस का अधिवेशन २३,२४,२५ दिसम्बर को होना था । उत्तर भारत, विशेषकर पंजाब की कड़ी सर्दी दक्षिण भारत के प्रतिनिधियों के लिए विशेष कष्टकर सिद्ध हुई । इस पर २२ दिसम्बर को ओलों के साथ तेज वर्षा हो गई । शहर के बाजार और गलियां पानी व कीचड़ से भर गयीं । स्वामी जी ने रेलवे अधिकारियों से सम्पर्क कर बड़ी मात्रा में कोयले की राख प्राप्त कर सारे बाजार-गलियों में बिछवा दी । २३ दिसम्बर को कांग्रेस के अध्यक्ष का जलूस शानदार सफलता से निकला । पंडाल में बैठने और विशेषकर दक्षिण भारत के प्रतिनिधियों के ठहरने और भोजन आदि की व्यवस्था अच्छी रही । नागरिकों ने प्रतिनिधियों के आतिथ्य और सेवा-सत्कार में पूर्ण सहयोग दिया । पंजाब के अत्याचारी लेफ्टि० गवर्नर ओड्वायर और अमृतसर के फौजी अफसर डायर के अत्याचारों से पीड़ित जनता भारी संख्या में पहुँची । स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द जी की सूझबूझ और लोकप्रियता ने जादू का असर किया ।

स्वागताध्यक्ष के रूप में स्वामी श्रद्धानन्द जी का भाषण भी अपने आप में अनूठा था । भाषण वेदमन्त्रों की प्रार्थना के साथ शुद्ध हिन्दी में दिया गया था । इसकी दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि उसमें अछूतों (दलितों) के उत्थान और राष्ट्र की मुख्य धारा में पूर्णतः समन्वय स्थापित करने पर बल दिया गया था।

इस अधिवेशन में स्वामी जी के प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने का एक सुपरिणाम यह हुआ कि देश में आर्यसमाज का वर्चस्व बढ़ गया और कई अन्य प्रमुख आर्य नेता भी नेतृत्व की शृङ्खला में आ गये थे ।

हम सभी छात्र कांग्रेस-अधिवेशन में अपना कर्तव्य पालन कर गुरुकुल वापस आ गये । स्वामी जी कांग्रेस विषयक विविध कार्यों को पूरा करने के बाद आये ।

लेखक श्रद्धा का उप संपादक एवं स्वामी जी का निजी सचिव

अप्रैल १९२० में मैंने सिद्धान्तालंकार की परीक्षा उत्तीर्ण कर स्वामी

श्रद्धानन्द जी महाराज के करकमलों से उपाधि प्राप्त की और विधिवत् गुरुकुल का स्नातक बना। गुरुकुल के तत्कालीन नियमों के अनुसार स्नातकों, विशेषकर सिद्धान्तालंकार उपाधि प्राप्त करने वाले स्नातकों से यह आशा की जाती थी कि वे कम से कम दो वर्ष तक केवल भोजन-वस्त्र और जेब खर्च के रूप में ४० रुपये मासिक लेकर गुरुकुल की सेवा करेंगे। मैंने भी इस नियम का पालन करना आवश्यक समझा। पहले मुझे विद्यालय विभाग में आठवीं श्रेणी तक का अधिष्ठाता बनाया गया।

इसी वर्ष स्वामी जी ने कांग्रेस का नेता होते हुये भी वैदिक सिद्धान्तों और तत्कालीन राजनीति में आर्यसमाज की भूमिका की पुष्टि करने के लिये गुरुकुल की ओर से 'श्रद्धा' नाम से एक साप्ताहिक पत्र के प्रकाशन का निश्चय किया। पत्रकारिता की ओर मेरी रुचि देखकर उन्होंने मुझे इसका उप सम्पादक नियुक्त कर दिया। इनके अतिरिक्त मैं स्वामी जी के 'निजी सचिव' का भी काम करने लगा। मेरा निवास-स्थान अब आश्रम भवन के बदले स्वामी जी के निवास-स्थान के बाहर विशिष्ट व्यक्तियों के लिये बनाये गये ५ कमरों में से एक में था। 'श्रद्धा' का कार्यालय भी इसी में था।

इन पदों पर कार्य करते हुये मुझे स्वामी जी के साथ प्रान्तीय कांग्रेस के वार्षिक समारोह में मुरादाबाद तथा अन्य अनेक स्थानों पर जाने का अवसर मिला। यात्रा में वे अपने कार्यकर्ताओं और सहयोगियों की सुख-सुविधा का विशेष ध्यान रखते थे। इन्हीं दिनों मुझे अन्य छात्रों सहित स्वामी जी के साथ गढ़वाल के भयंकर दुर्भिक्ष में लोगों को राहत पहुँचाने के लिये जाना पड़ा। स्वामी जी के नेतृत्व में वहाँ राहत-कार्य बहुत ही अच्छे ढंग से चला।

इन संस्मरणों के साथ मैं आचार्य प्रवर स्वामी श्रद्धानन्द जी के चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। ●

स्वामी श्रद्धानन्द महापुरुष थे

—श्री वैद्य धर्मदत्त विद्यालंकार

लाला मुंशीराम जालन्धर के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित वकील थे। उनकी वकालत बहुत ऊँचे दर्जे की थी। वकील के रूप में उन्होंने प्रचुर धनराशि एवं यश अर्जित किया। पर अकस्मात् उनको एक स्वप्न आया और उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिये उन्होंने अपनी सुख-समृद्धि को लात मारी और हरिद्वार से पाँच मील दूर घने जंगल में काँगड़ी ग्राम में गुरुकुल की स्थापना की। मुझे सन् १९०३ से १९१७ तक १४ वर्ष उनके चरणों में रह कर विद्याभ्यास करने का सौभाग्य मिला। उन्हें मैंने रात-दिन जागरूक, घोर तपस्वी एवं लगनशील देखा। उन्होंने गुरुकुल को अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया, यहां तक कि अपने वस्त्र, भोजन आदि के लिये भी गुरुकुल से एक पैसा नहीं लिया। इस प्रकार अपने त्याग, परिश्रम एवं अध्यवसाय से गुरुकुल को एक शिखर पर पहुँचा दिया और सन् १९१७ में स्वयं संन्यास ले लिया।

मैंने उनकी महानता के अनेक चित्र देखे। सन् १९१५ में महात्मा गाँधी जी को उनके चरणों में झुकते देखा। सन् १९१४–१५ के लगभग ही वायसराय चेम्सफोर्ड को अपने दलबल सहित गुरुकुल में आकर स्वामी जी के सामने अपना सिर झुकाते देखा। वायसराय द्वारा गुरुकुल से प्रभावित होकर जब कुछ अनुदान देने का प्रस्ताव किया गया तो आत्मसम्मान के धनी स्वामी श्रद्धानन्द ने विनम्रतापूर्वक इसे अस्वीकार कर दिया। बाद में स्वामी जी वायसराय के निमन्त्रण पर उनसे मिलने शिमला भी गये। यू० पी० के तत्कालीन गवर्नर लार्ड मेस्टन तीन-चार बार स्वयं महात्मा जी से मिलने गुरुकुल आये। श्री रेम्जे मैकडोनाल्ड—जो बाद में इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री बने—तो एक बार एक दिन के लिये ही गुरुकुल आये थे, पर वे स्वामी जी और गुरुकुल से इतना अधिक प्रभावित हुये कि एक के बजाये तीन दिन उनके साथ रहे। यही नहीं, बल्कि वापस जाकर उन्होंने लिखा कि 'कोई कलाकार भगवान् ईसा की मूर्ति बनाने के लिये कोई सजीव मॉडल चाहे तो मैं इस भव्यमूर्ति (महात्मा मुंशीराम जी) की ओर इशारा करूँगा। यदि कोई मध्यकालीन चित्रकार सैण्ट पीटर के चित्र के लिये नमूना माँगेगा तो इस जीवित भव्यमूर्ति के दर्शन की प्रेरणा दूँगा।" श्री सी० एफ० ऐण्ड्रूज तो कई बार गुरुकुल आकर रहते और स्वामी जी से प्रेरणा ग्रहण करते थे। वे उनके घनिष्ठ मित्र बन गये थे। महात्मा गाँधी को स्वामी जी का प्रथम परिचय सी० एफ० ऐण्ड्रूज ने ही दिया था और दक्षिण अफ्रीका से भारत वापस आने पर स्वामी जी से मिलने की प्रेरणा दी थी।

इस प्रकार मैंने तो कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द जी को महापुरुष के रूप में ही पूजा जाता हुआ देखा । वे न केवल महापुरुष थे, वरन् महात्मा भी थे । महात्मा गाँधी के शब्दों में, "अगर कोई मुझे 'महात्मा' के नाम से पुकारते भी थे तो मैं यही सोच लेता था कि महात्मा मुंशीराम जी के बदले भूल से मुझे किसी ने पुकार लिया होगा ।......मैं जानता था कि हिन्दुस्तान की जनता ने उन्हें उनकी देश-सेवाओं के लिये महात्मा की उपाधि दी थी ।"

ऐसे महापुरुष एवं महात्मा को मैं हृदय से प्रणाम करता हूँ और अत्यन्त आदर भाव से उनका स्मरण करता हूँ । ●

मेरे नाना स्वामी श्रद्धानन्द

—पं० सत्यकाम विद्यालंकार

मेरे ७८ वर्षीय जीवन के स्मृति-पटल का पहला चित्र है : शरद् ऋतु की प्रभात वेला, दूर पूर्व में पर्वत श्रृंखला का धुंधला-सा दृश्य, कुछ दूरी पर श्वेत शुभ्र कास-गुच्छों से भरे जंगल के बीच एक छोटा-सा सरोवर—प्रभात के सूर्य की किरणों से जगमगाते कास–फूलों का प्रतिबिम्ब सरोवर के शान्त जल पर ।

उस समय मैं ६ वर्ष कुछ महीनों का था । रेलगाड़ी लक्सर स्टेशन के पास एक जंगल में ठहरी थी । माता जी मुझे गुरुकुल काँगड़ी में प्रवेश दिलाने के लिये हरिद्वार ला रही थीं । सिगनल न मिलने से गाड़ी बीच, राह में रुकी खड़ी थी ।

स्मृति-पटल के दूसरे चित्र में मैं अपने नाना जी —स्वामी श्रद्धानन्द जी—की गोद में खेल रहा था । मुझे याद है, उन्होंने मुझे दोनों हाथों में लेकर ऊपर उछाला था और फिर अपनी गोद में भर लिया था । माता जी पास में बैठी थीं । वे अपने पिता जी—जो घर बार छोड़ कर वनवासी हो चुके थे—की गोद में अपने बच्चे को झूलता देख कर गद्‌गद् हो रही थीं ।

इसके कुछ दिन बाद मैं गुरुकुल का ब्रह्मचारी बन कर अपने नाना, किन्तु अब आचार्य जी का एक सामान्य कुलपुत्र बन चुका था । वे मुझे दूर से ही वात्सल्य-दृष्टि से देख कर चले जाते थे—शायद इसलिये कि कहीं उनके हृदय में मेरे प्रति जो ममता थी, वह अन्य कुलपुत्रों से अधिक न उभर आये । अगले दस वर्षों तक वे हमारे आचार्य रहे । प्राय: प्रतिदिन उनके चरणस्पर्श करता रहा, किन्तु उन्होंने कभी यह प्रकट नहीं होने दिया कि मैं उनका विशेष प्रेम-भाजन था । मुझे भी यह ज्ञान न होने दिया कि आचार्य जी मेरे नाना थे ।

गुरुकुलीय जीवन स्वामी जी—जो हमारे आचार्य जी थे—की स्मृतियों से भरा हुआ है । सुबह के यज्ञ के बाद यज्ञशाला में प्रतिदिन उनके उपदेशों की मधुर वाणी आज भी कानों में गूँजती है । सूर्य दर्शन के साथ ही आचार्य जी के दर्शन होते थे, जिनका चेहरा सूर्य-किरणों से भी अधिक कान्तिवान् दिखलायी देता था और जिनका कद शिवालिक के पर्वत-शिखरों से भी ऊँचा लगता था ।

याद हैं वे दिन जब उन्होंने हमारे बीच में ही खड़े होकर गंगा का बाँध बाँधने के लिये पत्थर ढोये थे और गुरुकुल के पास ही जंगलों में वन्य पशुओं से रक्षा के लिये रातों जाग कर पहरा दिया था । उनकी संरक्षा में रहते हुये हमें शेर-हाथियों से डर नहीं लगता था ।

वह दिन भी याद है, जब वायसराय चेम्सफोर्ड गुरुकुल देखने के लिये आये

थे और उन्हें विशाल शीशम की छाया में तुलसी की चाय पिलायी गयी थी। लार्ड मेस्टन और सी० एफ० ऐण्ड्रूज तो कुलभूमि में जब-तब नजर आते रहते थे।

एक दिन सुबह यज्ञ के बाद महात्मा जी की आँखों में आँसू झलक आये थे—वह एक अगस्त का दिन था। उसी दिन उन्हें लोकमान्य तिलक की मृत्यु का समाचार मिला था।

जिस दिन उन्होंने संन्यास लिया, हजारों आर्य भाइयों की आँखों में आँसू भर आये थे। मुझे याद है मेरी आँखों की अश्रुधारा रुकती ही न थी। माता जी तो बिलख-बिलख कर रो रही थीं।

मुझे याद है वह दिन जब गाँधी जी दक्षिण अफ्रीका से वापस आकर गुरुकुल आये थे। वे स्वामी जी के चरणस्पर्श करने के बाद चुपचाप लौट रहे थे कि स्वामी जी ने उन्हें फिर बुलाया और बाद में अभिनन्दन किया था। हम इन दृश्यों के दर्शकमात्र बने रहते थे। आज वे घटनाएँ ऐतिहासिक महत्त्व की बन गयीं।

गाँधी जी के चारों पुत्र हमारे साथ ही गुरुकुल में ठहरे थे। गाँधी जी प्रायः प्रति वर्ष उत्सव पर आते और स्वामी जी से परामर्श करके अपनी योजनाएँ बनाते थे। लाला लाजपतराय और भाई परमानन्द को काले पानी की कैद से मुक्त कराने का श्रेय स्वामी जी को ही था। अण्डमान से वापस आकर वे दोनों सीधे गुरुकुल आये थे। स्वामी जी की आज्ञा पर हम सब ने इन दोनों का अभिनन्दन किया था।

सन् १९२४ में स्नातक बनने के बाद स्वामी जी से परामर्श करके ही मैंने सर्वेण्ट ऑफ इण्डिया सोसायटी में प्रवेश पाने का सकल्प किया था। स्वामी जी के पत्र के साथ जब मैं श्री श्रीनिवास शास्त्री से मिला तो शास्त्री जी ने स्वामी जी के प्रति अपार श्रद्धा प्रकट करते हुये मुझे आजीवन सदस्य बनाने की स्वीकृति दे दी थी।

दिल्ली में रहते हुये प्रतिदिन स्वामी जी के दर्शन का सौभाग्य मिलता था। उनके साथ वाले कमरे में ही मैं कुछ दिन रहा था। एक रात अचानक पं० मालवीय जी आ गये। उन्होंने स्वामी जी से मिलने की इच्छा प्रकट की। हमने कहा—अब रात के १० बज चुके हैं, ९ बजे के बाद स्वामी जी किसी से मिलते नहीं, दरवाजा बन्द करके सो जाते हैं। दरवाजा खटखटायेंगे तो उन्हें उठना पड़ेगा।" इस पर मालवीय जी ने दरवाजे पर दस्तक किये बिना अन्दर जाने का उपाय सोच लिया। बरामदे के छज्जे पर दबे पाँव चलते-चलते अन्दर पहुँच गये। जरा भी पैर फिसलता तो मालवीय जी के गिरने का डर था, पर उन्होंने स्वामी जी से मिलना इतना आवश्यक समझा कि चोरों की तरह अन्दर जाने का खतरा उठाया।

वह शाम भी खूब याद है जब डॉक्टर अन्सारी दिल्ली से गुरुकुल आये थे, स्वामी जी की चिकित्सा के लिये। जब वे लौट रहे थे, मैं उनके पास ही था। गहरी

सांस लेते हुये उन्होंने कहा था—"कितनी स्वच्छ है यहाँ की हवा, खुशकिस्मत हैं वे जो यहाँ रहते हैं।"

और जब २३ दिसम्बर १९२६ को स्वामी जी का बलिदान हुआ, डॉ० अन्सारी ही पहले डॉक्टर थे, जिन्होंने वहाँ आकर स्वामी जी की डॉक्टरी परीक्षा की थी। उनके आने से पूर्व ही स्वामी जी के प्राणपखेरू अमरलोक की यात्रा को रवाना हो चुके थे।

उन दिनों निमोनिया से पीड़ित स्वामी जी का शरीर डॉ० अन्सारी की देख-रेख में ही स्वस्थ हो रहा था। मैं हर शाम उनसे मिलने जाता था। स्वामी जी के मुख से यह वाक्य अनेक बार सुना—"अब यह शरीर सेवा योग्य नहीं रहा, मेरी आत्मा इससे मुक्त होना चाहती है।" आखिर एक दिन यमदूत का प्रतिनिधि बन कर एक व्यक्ति आया और उसने स्वामी जी को अमर कर दिया। ●

गुरुकुल के वे स्मरणीय दिन

—पं० देशबन्धु विद्यालंकार

स्वनामधन्य स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज एक महान विभूति थे। भरी जवानी में गुरुकुल खोलने का संकल्प करके घर से निकले तो सद्गृहस्थों से अपने नये विचार को मूर्त रूप देने के लिये धन की याचना करने से पहले अपना सर्वस्व उसमें होम कर दिया। अचल सम्पत्ति में सालन की कोठी और एक छापाखाने को गुरुकुल की आधारशिला बनाया। इतना ही नहीं, अपने दोनों होनहार पुत्रों को उस काल्पनिक गुरुकुल में सर्वप्रथम प्रविष्ट कराया। सन् १९०० में इस गुरुकुल की स्थापना प्रसिद्ध हरिद्वार क्षेत्र के निकट गंगा पार शिवालिक पर्वत माला की उपत्यका में स्थित सघन वन में की गई। सन् १९०५ में मुझे भी इस गुरुकुल में प्रविष्ट होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यद्यपि मेरा अधिकांश गुरुकुलीय जीवन बालपन की अबोध अवस्था में व्यतीत हुआ तो भी कुछ संस्मरण मेरे मानस पटल पर ऐसे अंकित हैं कि मैं सौ वर्ष तक भी जीवित रहूँ तो भी उनकी छाप मिट नहीं सकती। अतः मैं अपने आपको उन अंगुलिगण्य सौभाग्यशालियों में एक मानता हूँ जो प्राचीन गुरुकुल और कुलपिता आचार्य स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के सम्बन्ध में वैयक्तिक संस्मरण लिखने के वास्तविक अधिकारी हैं।

आज तो पुण्य-भूमि कहलाने वाला वह भूखण्ड झाड़ियों और वृक्षों से शून्य मैदान है, जहाँ आज से ८० वर्ष पहले दिन के १२ बजे भी हिंसक प्राणियों के दर्शन हो जाते थे। उस बीहड़ जंगल में फूस के झोपड़े बना कर गुरुकुल के मौलिक रूप को सक्रिय रूप देने का साहस एक असाधारण साहसी व्यक्तित्व का परिचायक है।

जन्म लेते ही यदि किसी बालक को वंशानुक्रमिक भयंकर रोग लग जाये तो इससे बढ़कर और क्या दुर्भाग्य हो सकता है। गुरुकुल काँगड़ी के जन्म के साथ भी इसीप्रकार का एक रोग लग गया। स्वामी जी के स्वास्थ्य, शिक्षा, रहन-सहन आदि के सभी विचार इतने अधिक क्रान्तिकारी थे कि उनको प्रारम्भ से ही अपने सहयोगी कहलाने वालों का आन्तरिक विरोध सहना पड़ा। इन विपरीत परिस्थितियों में भी स्वामी जी ने गुरुकुल की कतिपय विशेषताओं को अक्षुण्ण रखा। जन-सम्पर्क, मातृभाषा शिक्षा माध्यम, संस्कृत की ऊँची शिक्षा, सादा रहन-सहन आदि विशेषताओं को कार्य रूप देने के लिये जितने अधिक समय की आवश्यकता थी अकेले स्वामी जी उतना समय न दे सके। फिर भी गुरुकुल अपनी कुछ नवीनताओं के कारण आकर्षण का केन्द्र बन गया था। सन् १९१२ के बाद निरन्तर गुरुकुल को सरकारी उच्च अधिकारियों और विदेशी चिन्तकों का आतिथेय बनना पड़ा।

इसी लोकप्रियता के युग में वह अविस्मरणीय घटना घटित होती है, जब

प्रथम विश्व युद्ध के दिनों में मिस्टर गाँधी (उस समय तक महात्मा नहीं हुये थे) का सत्याग्रह बीज रूप में दक्षिण अफ्रीका में चल रहा था। आचार्य महात्मा मुंशीराम जी के आदेश से गुरुकुल के उच्च श्रेणी के ब्रह्मचारियों और उपाध्यायों ने १५ दिन तक गंगा के तट-बन्ध पर मट्टी और पत्थर ढोने की मजदूरी करके और १ महीने तक घी-दूध का परित्याग करके लगभग १२०० रुपये एकत्रित किये तथा मिस्टर गाँधी के पास भेजे। महात्मा गाँधी इस प्रेम-भेंट को भुला नहीं सके और अफ्रीका से भारत वापस आने पर आश्रम के सब अन्तेवासियों के साथ महात्मा जो सीधे स्वामी श्रद्धानन्द के गुरुकुल-आश्रम में पधारे। वे पर्याप्त लम्बे समय तक गुरुकुल में ही रहे। उन दिनों की दो अत्यन्त साधारण घटनाएँ मुझे याद हैं। एक तो यह कि महात्मा जी गाँधी जी को बड़े भय्या कहते थे और दूसरी अत्यन्त क्षुद्र परन्तु आश्चर्यजनक बात यह कि उन दिनों गाँधी जी खजूर कूट-पीस कर उसके आटे की रोटी खाते थे।

वे दिन भी भुलाये न भूले जा सकते हैं, जब कि ६० व ७० हजार नर-नारी सूखी गंगाधार को तपती रेत पर, पत्थरों पर पड़ी चूने की सफेदी से बनी सड़क पर पैदल चलते, भजन गाते चार मील की यात्रा करके गुरुकुल के वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने के लिये जाते थे। वह उत्साहपूर्ण वातावरण, वह भावुकता पूर्ण दृश्य भूतकाल के आर्यसमाज की सम्पत्ति है। इसके बाद सन् १९२४ की गंगा की बाढ़ से उत्पन्न वह विनाशलीला भी हमने इन्हीं चर्मचक्षुओं से देखी। प्रारम्भ से ही गुरुकुल को आधुनिक रूप देने के हिमायती सहयोगियों के असिद्ध स्वप्न को साकार बनने का सुयोग आ गया। गुरुकुल की वह भौतिक सम्पत्ति—जिसमें अधिकांश कच्चे मकान थे इस बाढ़ में धराशयी हो गये। स्वामी जी उस समय शारीरिक दृष्टि से पर्याप्त कृश हो चुके थे। सुधारवादियों, आधुनिकीकरण पक्षपातियों को अवसर हाथ लग गया। बाढ़ से बचे रहे-सहे अवशेषों को भी समाप्त कर दिया गया आधुनिकीकरण की जन्मजात प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। धीरे-धीरे गरुकुल का जन-सम्पर्क जाता रहा और वह जनता के दान एवं चन्दे की बजाये सरकारी अनुदान पर निर्भर रहने की दिशा में अग्रसर होता गया। सरकार के अनुदान पर आश्रित होने के बाद जिस परिणाम की आशा की जा सकती थी वह आज सामने हैं।

आचार्य की शिष्यवत्सलता

मैं १२–१३ वर्ष का रहा हूँगा। विषय ज्वर से पीड़ित होकर लगभग २ मास तक संज्ञाशून्य रहा। होश आने पर मैंने अपने को अपरिचित कोष्ठ में पाया। कई दिन बाद मुझे बतलाया गया कि वह कोष्ठ स्वामी श्रद्धानन्द जी का अपना निवास-स्थान (बगंला) है। गंगा तट पर स्थित स्वामी जी का यह बगंला प्रारम्भिक गुरुकुल के इतिहास में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सैंकड़ों बालकों में से एक नगण्य बालक की परिचर्या के लिये अपने निवास की अनुकूलता का परित्याग करना उनकी गम्भीर करुणा और भारी उत्तरदायित्व की ओर संकेत

करता है। इस एक प्रारम्भिक संस्मरण की याद आज भी भावावेश से साश्रु कर देती है। ऐसी थी उस आचार्य की शिष्यवत्सलता।

आचार्य जी की महानता

मैं खेल-कूद, जिमनास्टिक, तैराकी, खेती आदि में अधिक रुचि रखता था। इसी रुचि के कारण वाटिका में मैंने एक प्लाट ले लिया था, जिसमें मूँगफली आदि बोकर आश्रम में लाता और सबको बाँट देता था। उपज को रखने के लिये आश्रमाध्यक्ष के कमरे से होकर एक कोठरी थी, जिसकी चाबी एक विद्यार्थी के पास रहती थी। एक दिन वह चाबी खो गई। उस विद्यार्थी ने कहा कि ताला तोड़ कर सामान निकाल लो। मैंने ताले को मुट्ठी में पकड़ कर ऐंठा तो वह टूट गया। सामान निकाल कर बाँट दिया गया। इसकी सूचना आश्रमाध्यक्ष जी ने स्वामी जी को इन शब्दों में दी—'अब तो आश्रम में ताले टूटने लगे हैं।' प्रातःकाल प्रातराश के समय स्वामी जी स्वयं भोजनालय में पधारे और २४ घण्टे में इस अपराध के लिये क्षमा-याचना करने का कठोर शब्दों में नोटिस देकर चले गये। २४ घण्टे निकल गये। अगले दिन प्रातः स्वामी जी अपने निवास स्थान से महाविद्यालय आश्रम की ओर आते दिखलाई पड़े। अनहोनी सी घटना थी। सौ फीसदी निश्चित था कि क्षमा-याचना न करने पर जो दण्ड-विधान निश्चय किया गया था उसको कार्यरूप देने के लिये ही उनका आगमन हो रहा है। परन्तु यह क्या? प्रांगण में आते ही उनको ब्रह्मचारियों ने घेर लिया, प्रणाम किया और प्रतीक्षा करने लगे कि क्या आज्ञा होती है। स्वामी जी के मुख पर कठोरता या क्रोध के चिन्ह न थे, बल्कि कुछ प्रसन्नता ही झलक रही थी। बोले—'ब्रह्मचारियों! कल की बात का ख्याल न करना। मैंने पूछताछ करके पता लगाया है कि ताला टूटने में देशबन्धु का कोई अपराध नहीं था। और देशबन्धु! तुम भी इस घटना को आई-गई करके पहले की तरह पठन-पाठन आदि में लगे रहो।"

स्वामी जी का प्रसिद्ध स्वप्न

१९१७ का साल था। मैं महाविद्यालय के अन्तिम वर्ष में प्रविष्ट हो रहा था। ईस्टर की छुट्टियों में गुरुकुल के वार्षिक उत्सव की तय्यारियाँ हो रही थीं। स्नातक बनने वाले ब्रह्मचारियों में से किसी ने स्वामी जी से पत्र द्वारा निवेदन किया कि स्नातक होने से पहले हम आपसे कुछ वार्तालाप करना चाहते हैं। स्वामी जी ने कुछ सोच कर उस वार्तालाप में हमारी श्रेणी को भी बुला लिया। स्वामी जी के पूछने पर कि क्या बात करना चाहते हो, उस ब्रह्मचारी (आत्मानन्द) ने कहा—"स्वामी जी! आर्य जनता ने हम से जो आशाएँ लगाई थीं, क्या हम वह बन गये? उत्सव पर जो जोशीले भजन गाये जाते हैं 'आयेंगे खत अरब से जिनमें लिखा यह होगा, गुरुकुल का ब्रह्मचारी हलचल मचा रहा है'। क्या हम में वह योग्यता आ गई है, जिससे कि आर्य जनता शताब्दियों से हम से आशा करती रही है?"

कुछ देर तक स्वामी जी स्तब्ध रहे और फिर जेब से रुमाल निकाल कर

मुख पर रख फूट-फूट कर रो पड़े। कुछ क्षण तक स्तब्ध रहने के बाद संभल कर बोले—"पुत्रो ! मैं तुमको धोखा देना नहीं चाहता। जो सुनहले स्वप्न मैंने जनता के सामने रखे थे, उनको पूरा करने में मैं बिल्कुल असमर्थ रहा हूँ। इस असमर्थता के पीछे गुरुकुल प्रणाली का दोष नहीं, मेरी असमर्थता ही कारण रही। मैं तो १०–२० बालकों को लेकर एकान्त जंगल में साधना करना चाहता था। उसके लिये बालक और उपाध्याय भी एकत्रित कर लिये, परन्तु प्रतिनिधि सभा ने इस गुरुकुल की कल्पना को स्कूल और कॉलेज का पहरावा पहना कर इसमें प्रति वर्ष भरती करके ब्रह्मचारियों की संख्या कई सौ तक पहुँचा दी। मेरे अन्दर इतने ब्रह्मचारियों का आचार्य बनने की क्षमता नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि मैं तुम लोगों की देख-रेख नहीं कर सका और मेरा गुरुकुल खोलने का स्वप्न अधूरा ही रह गया।"

स्वामी श्रद्धानन्द (महात्मा मुंशीराम) जब गुरुकुल को प्रारम्भ कर रहे थे तो आठ-दस विद्यार्थियों के साथ-साथ अध्यापकों का भी प्रबन्ध कर चुके थे। उन अध्यापकों में से प्रमुख थे, श्री गंगादत्त जी, श्री पं० नरदेव जी, श्री पं० भीमसेन जी आदि। गुरुकुल के प्रारम्भिक ५ वर्ष इन्हीं विद्वानों ने वहाँ की शिक्षा-दीक्षा का भार उठाया। बाद में प्रतिनिधि सभा (महाशय कृष्ण पार्टी) ने गुरुकुल के स्वरूप को बदलने का निश्चय किया। स्थानीय व्यवस्था में इतना भारी परिवर्तन किया, जो इस विद्वन्मण्डली के अनुकूल न था। परिणाम यह हुआ कि पाँचों प्रकाण्ड पण्डित एक ही साथ गुरुकुल भूमि को छोड़ कर गंगा पार गंगा नहर के किनारे पर स्थित स्वामी दर्शनानन्द द्वारा स्थापित महाविद्यालय ज्वालापुर चले गये। सच पूछें तो स्वामी श्रद्धानन्द जी की कल्पना के गुरुकुल की अन्त्येष्टि उसी दिन हो गई थी।

●

कतिपय उद्बोधक संस्मरण

—पं० सोमदत्त विद्यालंकार

महात्मा मुंशीराम जी (बाद में अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्द) ने हरिद्वार के उस पार पुण्यतोया भगवती भगीरथी के पुण्य तट पर गुरुकुल की स्थापना तो कर दी, पर गुरुकुल से शिक्षा समाप्त कर निकला हुआ स्नातक आगे संसार क्षेत्र में अपनी जीवन यात्रा किस प्रकार चलायेगा, यह समस्या अभी गुरुकुल प्रेमियों की चर्चा का विषय बनी हुई थी। गुरुकुल के प्रारम्भिक दिनों में, जबकि गुरुकुल-वृक्ष पर फल तो क्या अभी फूल भी आने शुरु नहीं हुए थे, गुरुकुल के भावी स्नातकों से बड़ी-बड़ी आशायें की जाती थीं। व्याख्यानों में कहा जाता था कि गुरुकुल से गौतम और कणाद जन्म लेंगे। जब एक भजनीक महोदय ने गुरुकुल के वार्षिक उत्सव में एक लाख से अधिक श्रोताओं की उपस्थिति में यह गाना गाया—

आवेंगे खत अरब से, जिनमें लिखा ये होगा।
गुरुकुल का ब्रह्मचारी हलचल मचा रहा है।।

तो उपस्थित जन सागर के मन-मानस में सचमुच हलचल मच गई थी और पंडाल तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज उठा था

पर प्रारम्भिक जोश के वे दिन निकल चुके थे। लॉर्ड-मैकाले की दुरभिसन्धि के जबाब स्वरूप खोले गए गुरुकुल के अधिकारियों तथा संचालकों के हृदयों को भी यह बात बेचैन कर रही थी कि गुरुकुल से शिक्षा समाप्त कर निकला हुआ स्नातक कार्य क्षेत्र में पदार्पण करने पर कौन सा मार्ग अपनायेगा? सरकारी नौकरियों के द्वार उसके लिए सर्वथा बन्द होंगे। भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड चैम्सफोर्ड ने गुरुकुल का अवलोकन कर, विदा होते हुए जो जाल 'सरकार गुरुकुल को एक लाख रुपया प्रति वर्ष सहायता देने को उद्यत है' कह कर फैलाया था, उसमें महात्मा मुंशीराम ने, 'हम सोने के पिंजरे में कैद होना नहीं चाहते' कह कर फंसने से इन्कार कर दिया था। ऐसी दशा में सरकार से यह आशा ही कैसे की जा सकती थी कि वह इन बगावतियों को प्रश्रय देगी। अन्य वैयक्तिक सेवाओं में भी जनसाधारण, नाम के पीछे बी० ए०, एम० ए० का ही पुछल्ला लगा देखने का आदी हो चुका था। "विद्यालङ्कार" किस चिड़िया का नाम है, यह भी लोगों को पता न था।

स्नातकों का पहला बैच निकला। दोनों स्नातकों को गुरुकुल की ही सर्विस में ले लिया गया। बाद में जो बैच निकले उनमें से भी अधिकांश को गुरुकुल या उससे सबन्धित संस्थाओं में नियुक्त कर लिया गया। हम लोग तो नौवें-दसवें बैच में थे। हमारे स्नातक बनने तक तो गुरुकुल में पाचक और कहार की नौकरी पर स्नातक नियुक्त हो चुके होंगे—हमारे लिए तो वह भी रिक्त नहीं रहेगी—इस प्रकार

के निराशाजनक विचार हमारे मन-मानस को मथ रहे थे। तभी एक समाचार पत्र में गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के आलोचक का एक लेख हमारी नजरों से गुजरा। लेख का शीर्षक था—"गुरुकुल से निकला स्नातक क्या करेगा ?" अगली ही लाइन में इसका उत्तर भी था—"वह वो काम करेगा जो कोई नहीं कर सकता—अर्थात् खाली बैठना।" इस लेख ने आखिरी चोट का काम किया।

रात का ८ से ९ तक का समय कुलवासियों के लिए अपने कुलपिता से मिलने तथा अपनी समस्यायें या शिकायतें उनके सामने रखने के लिए निर्धारित था। मैं अपनी कक्षा के तीन-चार छात्रों के साथ कुलपिता के बंगले पर पहुँचा। हमने अपने मन की निराशा भरी विचारधारा उनके सामने प्रकट की। हमने कहा—"आपने सरकार से असहयोग कर यह संस्था खोल तो दी पर हमारे भविष्य पर विचार नहीं किया। जो स्नातक निकल रहे हैं उन्हें गुरुकुल में ही नियुक्त कर लिया जाता है, उनके लिए बाह्य जगत् में कोई स्थान नहीं है। हमारे स्नातक बनने तक तो यहाँ की सब छोटी-मोटी रसोइया, कहार तक की नौकरियाँ भी भर चुकी होंगी, तब हम क्या करेंगे ? बाहर के शिक्षणालयों से निकल कर ग्रेजुएट उच्चतम सरकारी नौकरियों पर नियुक्त हो जाते हैं पर हमारे लिए······"इसके आगे प्रवक्ता कुछ न बोल सका, क्योंकि उसकी कुलपिता के मुख पर गड़ी आँखों ने देखा कि कुलपिता की आँखें डबडबा आई थीं और उनसे निकली अश्रुधारा कपोलों से होकर उनके वक्षःस्थल पर शोभायमान पीले दुपट्टे को आप्लावित कर रही थी।

दो तीन मिनट तक सर्वथा खामोशी रही, हमारे साथियों के सुबकने की आवाज ही इस खामोशी को भंग कर रही थी। फिर कुलपिता ने ही मौन को भंग किया। अपनी गीली आँखों को रुमाल से पोंछते हुए वे बोले—"तुम्हारी इस शंका का निवारण मैं अभी नहीं कर सकता, तुम्हारी बात सुन ली, इसका उत्तर मैं फिर दूँगा।" हम उनके चरण छूकर अपने आश्रम में आ गये।

तीन-चार दिन बाद ही दीपावली का पुनीत पर्व था। टिमटिमाते दीपकों तथा कन्दीलों से सुशोभित शामियाने "रामदर्शन सभा" हो रही थी। विविध व्याख्यानों तथा गायकों के संगीत के अनन्तर कुलपिता बोलने के लिये खड़े हुये। उनकी उस समय की गम्भीर मुद्रा तथा चेहरे पर छाये हुये बादलों को देखकर ही कुलबन्धुओं ने आने वाले ऋतु-परिवर्तन का अनुमान कर लिया था।

अपने प्रवचन में पहले मर्यादा पुरुषोत्तम राम के लोकोत्तर गुणों का वर्णन करते हुये, बाद में उन्होंने राम के लंका विजय कर अयोध्या वापिस आने तथा कुछ समय बाद सुग्रीव आदि साथियों को विदा करने की कथा सुनाते हुये कहा—"माता सीता ने हनुमान को अपने कंठ से उतार कर बहुमूल्य कंठहार भेंट किया। हनुमान ने कंठहार अपने हाथ में लेकर उसके मनकों को तोड़-तोड़ कर देखना और फेंकना शुरू किया। सीता हैरान थी, हनुमान का यह विचित्र व्यवहार देखकर हँसी और बोली—"रहा न बन्दर का बन्दर ही, अरे क्या देख रहा है तू इनके अन्दर ?" हनुमान

ने कहा—"माँ मैं देख रहा हूँ कि इन मनकों में राम नाम अंकित है या नहीं । यदि इनमें राम का पवित्र नाम नहीं तो यह कण्ठहार मेरे किस काम का ?" और फिर डबडबाई आँखों से पूछ बैठी सीता माता—"क्या तेरे हृदय में राम नाम अंकित है ? "तब हनुमान ने अपना हृदय उघाड़ कर दिखाया तो वहाँ सर्वत्र उसके आराध्य राम की पवित्र मूर्ति अंकित थी ।

यह घटना सुनाकर कुलपिता बोले—"अभी कुछ दिन पूर्व तुममें से कुछ कुलपुत्र मेरे पास आये थे । वे पूछते थे कि स्नातक बनने के बाद हम क्या करेंगे ? हमें तो कोई सरकारी नौकरी मिलनी सुलभ नहीं है । नौकरियों के सभी द्वार हमारे लिए बन्द हैं । मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि मुझे तो भगवान पर पूरा भरोसा है और फिर कुछ देर रुक कर अपनी गीली आँखों को अपने रुमाल से पोंछकर वे बोले– मेरा तो आदर्श वाक्य सदा यह रहा है—

"जब दाँत न थे तब दूध दियो,
जब दाँत दिये तब अन्न न दैहें ?
जल में थल में पशु पक्षिन की,
सुधि लेत सदा सो तो रिहु लैहैं ।
काहे को सोच करे मन मूरख,
हाथ मले कुछ हाथ न ऐहैं ।
जान को देत अजान को देत,
जहान को देत सोई तोरेहु दैहैं ।।

एक बात और । मैंने यह संस्था अंग्रेज सरकार के गुलाम डिप्टी कमिश्नर या कलैक्टर पैदा करने के लिए नहीं खोली है । इस संस्था को जन्म देने और इसके लिए अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग लगा देने का मेरा उद्देश्य तो इससे ऐसे स्नातकों को जन्म देना था जो अपनी मातृ-भूमि को गुलामी के अभिशाप से मुक्त करने के लिए अपने जीवन की बाजी लगा दें । मैं तो चाहता हूँ कि इससे जो स्नातक निकलें वे ऐसे हों कि हनुमान की तरह उनके रोम-रोम में "ओऽम्" का पवित्र नाम अकित हो । जो अपना जीवन अपने प्रभु की सेवा में और उसकी पवित्र वाणी वेद का सर्वत्र प्रचार करने में लगाने के लिए दीवाने हों । जो अपना हृदय हनुमान की तरह खोलकर दिखा सकें कि वहाँ वर्तमान समय के सर्वश्रेष्ठ सुधारक भगवान् दयानन्द की पवित्र मूर्ति विद्यमान है । कुलपुत्रों, यदि सैकड़ों में से चार-पांच भी ऐसे दीवाने इस कुल से पैदा हो गये तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा, अन्यथा मैं यह समझूंगा कि मैंने अपने जीवन का बहुमूल्य समय यों ही बर्बाद कर दिया······" कुलपिता का कंठ आया था और आगे बिना कुछ कहे ही वे बैठ गए ।

कहना नहीं होगा कि हमें अपनी शंका का उचित उत्तर मिल चुका था । सभा में उपस्थित सब कुलवासियों की आँखें कुलपिता की आँखों की तरह सजल थीं और हमारे मन कुलपिता के मर्म-स्थल पर किये इस निर्मम प्रहार के लिए अपने आपको धिक्कार रहे थे ।

हम उन दिनों गुरुकुल कांगड़ी की छठी कक्षा में पढ़ते थे। छुट्टी का दिन था। हम अपने कुलपिता महात्मा मुंशीराम (बाद में स्वामी श्रद्धानन्द) के साथ कनखल से होते हुए हरिद्वार स्टेशन की ओर जा रहे थे। महात्मा जी हमें शिक्षाप्रद तथा रोचक कहानियाँ सुना रहे थे। हमने आश्चर्य के साथ देखा कि वे सड़क की दायीं ओर देखकर कुछ क्षण रुके। उनकी आँखों में कुछ आँसू आये। फिर कुछ मुस्करा कर वे पहले की तरह आगे चल पड़े। सब विद्यार्थी एक-दूसरे की ओर देखकर मौन रूप में ही, इसका कारण खोजने का यत्न करने लगे। किसी को भी सहसा उनसे पूछने का साहस न हुआ। मैं उनका विशेष कृपाभाजन समझा जाता था। इसके कई कारण थे। अन्य सब विद्यार्थी सात-आठ वर्ष की अवस्था में शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्कूल में आकर प्रविष्ट होते थे। मेरे पिताजी गुरुकुल के संस्थापक महात्मा मुंशीराम के साथ प्रारम्भ से ही गुरुकुल में अध्यापन कार्य कर रहे थे। उनके गुरुकुल निवास के समय ही मेरी माताजी का देहावसान हो गया था। मेरी अवस्था उस समय केवल २-३ साल की थी। मैं सब कुलवासियों की गोद में खेलता और सबका प्यार प्राप्त करता था। वैसे भी गौरवर्ण, सुनहले बाल और गोल-मटोल होने के कारण सब के हाथ का खिलौना था। बाद में तो महात्मा जी के पुत्र प्रो० इन्द्र जी के साथ मेरी बहिन का विवाह हो जाने से उनका निकट सम्बन्धी भी बन गया।

आँखों ही आँखों में सबने इशारा कर मुझे पूछने के लिए प्रेरित किया। मैंने आगे बढ़कर कहा, "महात्मा जी, आप कहानी सुनाते-सुनाते सहसा रुक गये, आपकी आँखें सजल हुईं और आप मुस्कराकर फिर चल पड़े—यह क्या बात थी ?

मेरे इस प्रश्न पर महात्मा जी जरा गम्भीर हो गये। कुछ देर रुक कर वे बोले, बच्चों ! तुमने देखा—सड़क की दायीं ओर ये झोपड़ियाँ बनी हुई हैं और एक झोपड़ी के आगे एक घोड़ागाड़ी खड़ी है।" हम सबने उस ओर देखा। फिर महात्मा जी के चेहरे पर दृष्टि गड़ा कर हमने मौन रूप से ही पूछा, "इससे क्या ?" वे बोले, "इन झोपड़ियों में वैश्याएँ रहती हैं। घोड़ा-गाड़ी में कोई रईस अपना चरित्र नष्ट-भ्रष्ट करने आया हुआ है।" फिर कुछ क्षण रुक कर बोले, "इसे देखकर मुझे अपना पिछला जीवन याद आ गया। उसी मलिन जीवन को याद कर मुझे अपनी हालत पर रोना आ गया।"

थोड़ी देर मौन रहने के बाद वे पुनः बोले, "तुमने पूछा है कि मैं मुस्कराया क्यों ? मुस्कराने का कारण यह था कि मैंने अपने मन में सोचा कि मुझे लोहे से सोना बनने का सुअवसर भी मिला था, पर सोना न बन पाया। मैं जब छोटा था मेरे पिता जो पक्के ईश्वर विश्वासी थे। प्रतिदिन धार्मिक ग्रन्थों का पाठ किया करते थे। मुझे जब वे ऐसा करने को कहते तो मैं उनसे साफ कह देता कि मुझे ईश्वर की सत्ता पर जरा भी विश्वास नही। ईश्वर की सत्ता जताने के लिए जो दलीलें वे देते उन्हें मैं काट कर हंसी में उड़ा देता। एक दिन वे बोले, "मुंशीराम, आजकल यहाँ

एक बाबा आये हुए हैं। वे महात्मा तथा विद्वान् हैं। तुम जाकर उनसे मिलो।" पिताजी के कहने से मैं दयानन्द जी के पास गया। उनसे बातचीत की। उन्होंने मेरे तर्कों को ऐसे उड़ा दिया जैसे हवा बादल को उड़ा देती है। मैंने कहा, "बाबाजी, आप ने मुझे निरुत्तर तो कर दिया, पर ईश्वर के प्रति विश्वास मेरे मन में अब भी नहीं हुआ। वे बोले, "बेटा तूने तर्क किया था। इसका उत्तर तुझे तर्क से दिया। ईश्वर के प्रति श्रद्धा और विश्वास तो तेरे मन में तभी होगा जब उसकी तुझ पर कृपा होगी।" उसके बाद से मेरे जीवन में कुछ परिवर्तन हुआ। मेरे हँसने का कारण यही था। मैंने मन में सोचा—तुझे पारस का स्पर्श हुआ, पर फिर भी तू लोहे से सोना न बन पाया।

फिर उन्होंने एक कहानी सुनायी, "एक स्कूल में दो बालक पढ़ते थे, एक अमीर था और दूसरा गरीब। जब बीच में की छुट्टी होती तब दोनों साथ बैठकर घर से लाया हुआ खाना आपस में बाँट कर खाते। एक दिन अमीर बालक बोला, "भाई देख, मेरे घर से तो कैसा बढ़िया खाना आता है, पर तू रोज सूखी रोटी, नमक या प्याज और अचार की एक-आध फांक ही लाता है।" गरीब लड़का बोला, "हम लोग गरीब हैं न? तुझे नहीं मालूम, मेरी माँ शायद स्वयं फाका करके यह खाना मेरे लिए मुश्किल से जुटा पाती है।"

"अमीर बालक उसकी बातें सुन कर बहुत दु:खी हुआ और बोला—"तूने पहले क्यों नहीं बताया। शाम को तू मेरे घर आना, मैं तुझे अमीर बना दूंगा।" गरीब बालक शाम को उसके घर गया तो उसका अमीर दोस्त बोला, "देख मेरे पिता के पास पारस पत्थर है, जो लोहे को सोना बना देता है।" तू कहीं से लोहे का टुकड़ा ले आ। मैं पारस पत्थर से उसे छुआ कर सोना बना दूंगा। उसे बेचकर मालामाल हो जायेगा।"

"गरीब बालक बाहर आया। उसे सड़क पर पड़ी हुई घोड़े की एक नाल मिल गई। वह उसे लेकर अमीर दोस्त के पास आया, वह भी अपने पिता के सन्दूक में से पारस पत्थर लाया। अमीर बालक ने लोहे की नाल के साथ पारस को रगड़ा, पर वह सोना नहीं बनी। वह दौड़ा-दौड़ा अपने पिता के पास गया और बोला, 'पिता जी आप तो कहते थे कि यह पारस पत्थर लोहे को सोना बना देता है। मेरे लोहे को तो इसने सोना बनाया नहीं। 'पिता बोले, 'बेटा, यह कैसे हो सकता है? देखूँ, कहाँ है तेरा लोहा?'

पिता ने उस नाल को देख कर कहा,' अरे मूरख, यह पारस पत्थर उस लोहे को छूता ही कहाँ है? तेरा लोहा तो जंग लगा तथा गोबर मिट्टी से सना है। इसे पारस का स्पर्श ही कहाँ हो रहा है?' ऐसा कह कर पिता ने उसे लोहे की नाल को जमीन पर घिसा। जिस स्थान ये वह साफ हुई वहाँ पारस को छुआया तो वह सोने का हो गया।

यह कहानी सुनाकर महात्मा जी बोले, "बच्चो, मुझे भी बाबा दयानन्द के

दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पर मैं लोहा तो उसे छू कर सोना नहीं बन पाया, क्योंकि पाप-पंक और अवगुणों की जंग से भरा हुआ था।' इतना कह कर महात्मा जी खामोश हो गये। कुछ देर बाद वे बोले, 'कपड़े पर रंग चढ़ाना हो तो पहले उसका मैल तथा चिकनाहट छुड़ाकर और पूरी तरह साफ करके फिर रंग में डुबाने से उस पर ठीक रंग चढ़ता है। हम भगवान से प्रार्थना करते हैं—'रे सकल जगत् के निर्माता, हमारे सम्पूर्ण दुर्गुणों और दुर्व्यसनों को दूर कीजिए और हमारे अन्दर कल्याणकारी सद्गुणों को उत्पन्न कीजिये।'

निर्भयता की साक्षात् मूर्ति

गुरुकुल कांगड़ी को स्थापित हुये अभी कुछ ही दिन हुये थे। २०–२५ लड़के फूस की झोपड़ियों में रहते थे। चारों तरफ घना जंगल था, जिसमें हिंसक जन्तु बहुतायत से रहते थे। छुट्टी का दिन था। श्री पंडित विष्णुमित्र जी लड़कों को लेकर पास ही बहने वाली गंगा की धारा के किनारे भ्रमणार्थ गये थे। लड़के गंगा के तट पर रेत में बैठ कर गीली रेत से मन्दिर तथा पहाड़ आदि बना रहे थे। तभी अचानक जंगल में से निकल कर एक शेर अपनी प्यास बुझाने के लिये उधर आ निकला। लड़के तथा विष्णुमित्र जी शेर को अपनी ओर आता देख कर घबड़ा गये। पंडित जी सोच रहे थे कि यदि इसने किसी लड़के को पकड़ कर अपना आहार बना लिया तो गुरुकुल का इस जगह चलना असम्भव हो जायेगा। लड़के शेर को देख कर डर कर बुरी तरह चिल्ला रहे थे। पंडित जी लड़कों को पीछे करके उनके आगे किंकर्तव्यविमूढ़ होकर खड़े सोच रहे थे कि क्या किया जाये। उसी समय अचानक दैवी प्रेरणा से महात्मा मुंशीराम जी उधर आ निकले। वे पास आकर पंडित जी से बोले कि आप बच्चों को संभालें, शेर से मैं निपटता हूँ। पंडित जी ने उन्हें बहुत रोका पर वे शेर की तरफ आगे ही आगे बढ़ते चले गये। उन दिनों वे सिर पर पगड़ी पहना करते थे। उन्होंने पगड़ी सिर से उतारी और उसके एक सिरे पर एक पत्थर बाँध कर शेर के निकट आने पर सिर के ऊपर उसे घुमाना शुरु कर दिया। शेर यह देखकर बुरी तरह घबड़ा गया कि यह क्या बला है, और दहाड़ता हुआ जंगल की ओर भाग गया। महात्मा जी बच्चों के पास आकर बोले, 'यह सोचता है कि इस जंगल का राजा मैं हूँ। पर इसे शायद यह मालूम नहीं कि अब इस जंगल के राजा हम हैं।'

इसी तरह की एक अन्य घटना मुझे याद आ रही है। गुरुकुल को स्थापित हुये कई वर्ष हो चुके थे। छात्रों के निवास तथा पठन-पाठन के लिये पक्की इमारतें बन चुकी थीं। महात्मा जी गंगा तट पर बने बंगले में रहा करते थे। उन्होंने छात्रों से कह रखा था कि यदि किसी छात्र को कोई शिकायत हुआ करे तो वह मेरे बंगले में रात के नौ बजे बाद आकर मुझसे मिल लिया करे। एक दिन वे अपनी मेज के सामने बैठे कुछ पढ़ रहे थे, उन्होंने देखा कि कोई बार-बार दरवाजे पर लटकी चिक को उठा कर अन्दर आना चाहता है, पर चिक उठ नहीं रही है।

महात्मा जी ने जोर से कहा—'कौन है भाई, चिक को एक तरफ सरका कर अन्दर आ जाओ ना ।' पर वहाँ कोई छात्र नहीं था, वरन् चिक को धकेल कर एक शेर बंगले में दाखिल हुआ । शेर से चार आँखें होने पर उन्होंने मेज के नीचे रखी वेस्ट पेपर का बास्केट—जो फटे कागजों से भरी हुई थी उठा कर दे मारी । फटे कागजों की वर्षा से बुरी तरह घबरा कर शेर डर कर वापस भाग गया । भागते समय चिक उसके सिर में फंस गयी थी । इतने में शोर सुनकर स्वामी जी का सेवक पास के कमरे से भागकर आया और महात्मा जी से पूछा कि 'क्या बात है ? दरवाजे की चिक कहाँ गयी ?' वे बोले—'शेर अन्दर आया था, डर कर मेरी चिक लेकर भाग गया ।'

महात्मा जी ब्रह्मचारियों को भी इसीप्रकार निर्भय बनने का उपदेश दिया करते थे । गुरुकुल के आस-पास के जंगलों में तथा पहाड़ पर शेर, चीता, भालू, जंगली हाथी आदि अनेक जानवर बहुतायत से रहते थे, पर उन्होंने कभी ब्रह्मचारियों को जंगल में जाने से नहीं रोका । इसी का यह परिणाम था कि गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने दो जंगली शेरों को हाकी से मार दिया था तथा एक बार तो वे जंगली हाथियों को भगाकर उनका एक बच्चा पकड़ लाये थे ।

मैं उन दिनों गुरुकुल में पाँचवीं कक्षा में पढ़ता था । रविवार के दिन, गर्मी के मौसम में गंगा के शीतल जल में नहाने-तैरने से मुझे ठंड लग कर बुखार हो गया । गर्मी के कारण खुले आंगन में लकड़ी के तख्त बिछाकर हम सो रहे थे । बुखार की तेज हरारत के कारण मुझे सख्त प्यास लगी, पर पानी मेरे लोटे में न था । चादर से मुँह ढाँप कर मैं रो रहा था । अचानक किसी व्यक्ति ने मेरे पास आकर पूछा—'क्यों क्या बात है, रो क्यों रहे हो ?' मैंने कहा 'मुझे बहुत जोर से बुखार चढ़ गया है । सख्त प्यास लगी है ।' रात के समय चौकीदार चक्कर लगाया करता था, मैंने उन्हें चौकीदार समझा । 'रोओ मत, मैं अभी पानी लाता हूँ ' कहकर वह मेरा लोटा लेकर चले तो मैंने कहा जल्दी जा देर न लगाना ।

कुँआ वहाँ से लगभग १ फर्लांग दूर था । वहाँ से ताजा पानी लाकर नीचे रखे कटोरे में डाल, उसने मेरी पीठ को सहारा देकर मुझे बिठाया और जल का कटोरा मेरे हाथ में पकड़ा दिया । मैंने आँखें खोलीं तो मुझे मालूम पड़ा कि जिसे मैं चौकीदार समझ रहा था वह गुरुकुल के आचार्य महात्मा मुंशीराम जी थे । अपनी गलती पर मुझे रोना आ गया तो वे बोले—'क्यों क्या बात है ?' मैंने कहा कि 'मैंने आपको चौकीदार समझकर इस तरह कह कर पानी लाने को कहा इसलिये रो रहा हूँ ।' वे मेरे तख्त पर बैठ गये और अपने रुमाल से मेरी आँखें पोंछते हुये बोले—'अरे हम तुम्हारे चौकीदार ही तो हैं, तुम्हारे माता-पिता तुम्हें मेरी चौकीदारी में छोड़ गये हैं ।' मुझे पानी पिलाकर वे असली चौकीदार को बुलाकर लाये और फिर उसकी सहायता से तख्त पर मुझे लिटाये हुये वहाँ से अस्पताल में ले गये । चौकीदार को भेजकर डाक्टर सुखदेव जी को बुलाया और मेरे सिरहाने बैठकर मेरा सिर

सहलाते रहे। डाक्टर जी आये, उन्होंने मुझे दवाई पिलाई। महात्मा जी के प्रेयमय सुखद स्पर्श से मुझे नींद आ गई। प्रातःकाल उठा तो उन्हें फिर अपने सिर पर हाथ फेरते देखकर मैंने कहा—'महात्मा जी ? क्या आप सारी रात यहीं बैठे रहे ?' वे बोले, 'नहीं बेटा तुम्हारे सो जाने पर मैं चला गया था, तुम्हारा हाल-चाल जानने को अभी आया हूँ।'

शायद सन् १६१६ की बात है। मैं उस समय गुरुकुल में नवम श्रेणी में पढ़ता था। भोजन भंडार से सायंकाल का भोजन करके अपना लोटा और कौल गंगा से मांज कर मैं अपने आश्रम में घुसा ही था कि मेरे एक सहपाठी ने कहा 'दत्त ! तुझे मालूम हो गया न कि तेरी ड्यूटी ११ से १ बजे तक है।' मैंने कहा 'क्यों क्या बात है, कैसी ड्यूटी ? मुझे तो अभी तक किसी ने कुछ नहीं बतलाया।' 'अरे ! पंचम श्रेणी के ब्रह्मचारी देवदत्त को टाइफ़ाइड हो गया है। उसकी हालत ठीक नहीं है।' डॉ० सुखदेव जी ने उसकी सेवा के लिये आज हमारी श्रेणी की ड्यूटी लगाई है।' वे दिन गुरुकुल के स्वर्णिम दिन कहे जा सकते हैं। गुरुकुल में छोटे-बड़े ब्रह्मचारी, कर्मचारी, स्त्री-पुरुष सब मिलाकर लगभग ५०० व्यक्ति निवास करते थे। चारों तरफ गंगा, पहाड़ तथा जंगलों से घिरी हुई वह भूमि दूसरी दुनिया से बिल्कुल अलग थी। वे सब व्यक्ति, एक कुल की तरह, बल्कि यों कहना अधिक उपयुक्त होगा कि एक सजीव शरीर की तरह उस भूमि में रहते थे। महात्मा मुंशीराम जी उस शरीर की आत्मा थे। जिस प्रकार शरीर के किसी भी अंग के दुःखी और पीड़ित होने पर सारा शरीर दुःख अनुभव करता है इसी प्रकार कुल के किसी भी व्यक्ति के, चाहे वह छोटे से छोटा कर्मचारी भी क्यों न हो, रोगी या कष्टयुक्त होने पर सारे कुल में चिन्ता फैल जाती थी, और सबसे अधिक तड़पन होती थी, इस शरीर की आत्मा महात्मा मुंशीराम जी को। जब भी कोई व्यक्ति, चाहे वह गुरुकुल में काम करने वाला मेहतर ही क्यों न हो, सख्त बीमार पड़ता, कुलपिता महात्मा मुंशीराम जी तथा अनन्य सेवक डॉ० सुखदेव जी की आज्ञानुसार रोगी की सेवा के लिये ब्रह्मचारियों की ड्यूटी लगा दी जाती थी। इसी सेवाभाव को देखकर ही तो सैंकड़ों माता-पिता अपने लख्ते-जिगर (दिल के टुकड़े) बालकों को अपनी प्यारी गोद से अलग करके उस दीवाने के हाथों में, हिंस्र जन्तुओं से आकीर्ण उस जंगल में निवास करने के लिये, निश्चित होकर सौंप देते थे।

रात के लगभग साढ़े बारह बजे का समय होगा। मैं रोगी ब्रह्मचारी के सिरहाने के पास एक कुर्सी पर बैठा हुआ पुस्तक पढ़ रहा था। सहसा रोगी ब्रह्मचारी के जागने से तथा कराहने की आवाज से मेरा ध्यान किताब से हट गया मैंने जल्दी से पुस्तक एक ओर रख दी और रोगी के माथे पर हाथ रखकर पूछा 'क्यों देव ! क्या बात है ?' 'उल्टी सी आती मालूम होती है'—रोगी ने कहा और फिर घबराहट के कारण रोने लगा। मैं नीचे पड़ी हुई चिलमची को उठाने के लिये झुका। वह पानी तथा थूक आदि से भरी हुई थी, इसलिये मैं झटपट भंगी को, जो चिकित्सालय के सामने वाले बरामदे में पड़ा सो रहा था, बुलाने के लिये चला

और थोड़ी देर बाद उसे अपने साथ लेकर रोगी के पास आ गया। वहाँ मैंने बड़े आश्चर्य से देखा--कुलपिता महात्मा मुंशीराम जी रोगी ब्रह्मचारी के पास झुके खड़े थे, वह कै कर रहा था और वे अपने हाथ की अंजली में उसे कै करा रहे थे। रोगी बालक के कै कर चुकने के बाद उन्होने बाहर जाकर अपने हाथ स्वच्छ किये और फिर बीमार के सिरहाने बैठकर उसका सिर सहलाने लगे। मैं जमीन की तरफ आँखे गड़ाये खड़ा था। वे मेरी तरफ देखकर बोले 'तुम कहाँ चले गये थे?' मैंने उत्तर दिया कि 'यह कहता था मुझे कै आ रही है। चिलमची भरी पड़ी थी, इसलिये मैं उसे साफ कराने के लिये भंगी को बुलाने के लिये गया था।' उन्होंने कहा 'तो जाकर तुम आराम करो। इसकी सेवा के लिये किसी अन्य को भेज दो। तुमसे सेवा हो चुकी।' मैं शर्म के मारे जमीन में गड़ा जा रहा था। मेरा क्या कर्त्तव्य था, यह तो मेरे गुरु ने मुझे स्वयं सेवा करके बता दिया था। वे बोले 'यदि अचानक मैं न आ जाता तो उसका विस्तरा कै से भर जाता, क्या वह तुम्हारे या भंगी के आने तक प्रतीक्षा कर सकता था?' मैं चुपचाप फर्श की तरफ देखता रहा। मेरे सिर पर घड़ों पानी पड़ चुका था। मैं कुछ बोलता तो किस मुँह से? परन्तु मेरे गुरु ने मुझे कर्त्तव्य का ज्ञान खूब करा दिया था।

अपने गुरु महात्मा जी की इन जीवन घटनाओं को तथा कुल-पुत्रों के प्रति इस प्रकार के प्रेममय व्यवहार को देखकर हम कुल-पुत्र चाहे भगवान् को (आत्मा-नुभूति न होने के कारण) 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' समझ सकते या न समझ सकते, पर अपने कुल पिता को तो सचमुच 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव।' इसी रूप में पाया करते थे।

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी से शिक्षा समाप्त कर मैं राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने के लिये दिल्ली आया तो पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी ने मुझे अपना विशेष सहायक बनाकर अपने साथ नया बाजार स्थित मकान में रख लिया।

उन्हीं दिनों महात्मा गाँधी जी ने अचानक अपना सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर दिया। चौरा-चोरी में कुछ खादीधारी लोगों ने अहिंसा व्रत का उल्लंघन कर एक पुलिस थाने पर आक्रमण कर कुछ सरकारी कर्मचारियों से हिंसा कर दी थी। सत्याग्रह आन्दोलन पूरे यौवन पर था। महात्मा जी द्वारा इस प्रकार अचानक इस आन्दोलन को स्थगित कर देने से राष्ट्रव्यापी असंतोष प्रकट किया जा रहा था।

स्वामी जी ने भी इस प्रकार सत्याग्रह आन्दोलन को स्थगित करने के विरुद्ध महात्मा गांधी जी को एक लम्बा-चौड़ा पत्र (फुलस्केप साइज के लगभग तीन पन्नों का) बोल कर मुझसे लिखवाया। पत्र पूरा होने पर मुझसे उसे सुना और फिर एक लिफाफा देकर उस पर गाँधी जी का पता लिखने को कहा।

मैंने उनका बताया हुआ पता लिफाफे पर लिखकर पत्र उन्हें दिया तो वे

एकदम आगबबूला हो गये। मैंने पता अंग्रेजी में लिख दिया था। पत्र को लिफाफे से निकालकर उन्होंने उसे फाड़कर चार टुकड़े कर दिये और बोले—'पता अंग्रेजी में क्यों लिखा ? अब इसकी सजा यही है कि इस पत्र को फिर दुबारा नकल करो। हमें अपना सब काम हिन्दी में करना चाहिए। इस तरह अंग्रेजी की गुलामी करने से हिन्दी राष्ट्रभाषा कैसे हो सकती है।'

मैंने पत्र की दूसरी नकल करके उन्हें दी तो उन्होंने मुझे एक लम्बा-चौड़ा व्याख्यान देकर समझाया कि हमें अपना सब काम राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही करना चाहिये। अंग्रेजी अंग्रेजों की भाषा है। जो हिन्दी न जानता हो, सिर्फ अंग्रेजी ही जानता हो उससे बात करते समय तथा अपना ज्ञान बढ़ाने के लिये अंग्रेजी पुस्तकें पढ़ने के लिये ही इसका आश्रय लेना चाहिये।

मेरी अवस्था अभी २१–२२ वर्ष की थी। एक वर्ष पूर्व गुरुकुल कांगड़ी से स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण कर, विद्यालंकार की उपाधि लेकर मैं गुरुकुल कुरुक्षेत्र में अध्यापन कार्य कर रहा था। गुरुकुल कांगड़ी के मुख्याधिष्ठाता श्री पं विश्वम्भरनाथ जी ने मुझे गुरुकुल कुरुक्षेत्र का आचार्य नियुक्त कर दिया। जो 'आचार्य' शब्द श्री मुंशीराम जी के नाम के आगे शोभित होता था, और जिस पद की जिम्मेवारी को वह अपने सबल कंधों पर वहन कर रहे थे, उस शब्द को अपने नाम के साथ लगाने में भी मुझे संकोच होता था। इसलिये अपने नाम के साथ 'मुख्याध्यापक' जोड़ना ही उपयुक्त प्रतीत हुआ।

स्वामी श्रद्धानन्द जी को गुरुकुल कुरुक्षेत्र की जलवायु बहुत पसन्द थी। इस बार जब वे गुरुकुल आये तो मैं उनके पास गया। चरण स्पर्श करके पास बैठा और बोला 'स्वामी जी, मुझे इस संस्था का 'आचार्य' बनाया गया है। परन्तु मुझे तो इस पद का भार उठाने में बहुत संकोच होता है। मुझे कुछ भी अनुभव नहीं है। मैं चाहता हूँ कि आप मुझे अपने अनुभव के आधार पर शिक्षा दें, जिससे मैं इस कार्य को योग्यतापूर्वक कर सकूँ।' मेरी बात सुनकर महात्मा जी कुछ मुस्कराये और फिर बोले देखो सोम, तुम गुरुकुल की सेवा कर रहे हो। तुम्हें अभी पचहत्तर रुपया मासिक वेतन मिलता है। कल तुम्हें यदि कहीं १००–१५० रुपया मिले तो तुम यहाँ की सेवा छोड़ कर वहाँ चले जाओगे। मेरी शिक्षा, कहना-सुनना सब व्यर्थ जायेगा। हाँ, यदि तुम गुरुकुल की सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य बना लो और स्थिरता पूर्वक काम करने का निश्चय करो तो मैं तुम्हें कुछ कहूँ।' इतना कह कर वे मेरे मुँह की ओर देखने लगे। कुछ क्षण इसी प्रकार चुप्पी रही। सहसा मेरे मुँह से निकल गया 'स्वामी जी आप का उपदेश तो लेना ही है। उसके बिना तो मैं कुछ भी न कर सकूँगा।' अपने कोमल हाथों से अपने पास खींचकर वे बड़े प्रेम से मुझे लगभग ३ घंटे तक अपने गुरुकुलीय जीवन के अनुभव का निचोड़ सुनाते रहे और मैं उन्हें कापी पर नोट करने के साथ-साथ हृदयपटल पर भी अंकित

करता रहा। लगभग तीन घंटे का समय व्यतीत हो जाने पर वे बोले कि कल फिर एक बजे आ जाना और इतना कह कर वे अपने दैनिक कार्य में लग गये।

अगले दिन मैं नियत समय पर उनने चरणों में उपस्थित हुआ तो वे उसी प्रकार फिर लगभग तीन घंटे तक मुझे उपदेश देते रहे। जब वे लघुशंका निवारण के लिये खड़े हुए और मैं चरणों में प्रणाम कर चलने लगा तो वे बोले 'देखो, कल जब तुमने मुझसे कुछ कहने के लिये कहा था तो मैंने एक शर्त लगायी थी। अब यह बात तो पक्की रही न, कि तुम स्थिरता पूर्वक, अधिक धन-प्राप्ति के लाभ का विचार छोड़ इस कुल की सेवा करते रहोगे और इस कुल की सेवा को ही अपने जीवन का लक्ष्य समझोगे।'

अब मुझे अपने शब्दों का ध्यान आया जो मैंने उनसे कहे थे। मैंने मन में सोचा कि जब उन्होंने इसी शर्त पर मुझे उपदेश देना स्वीकार किया था और मैंने कहा था कि आपका उपदेश तो लेना ही है तब अब मैं बंध गया हूँ। कुछ देर गंभीरता पूर्वक विचार करने के बाद मैंने कहा—'स्वामी जी, मैं वचनबद्ध हूँ। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि कोई विशेष ही कठिनाई न आई तो मैं २०–२५ वर्ष इसी वेतन पर गुरुकुल की सेवा करता रहूँगा।'

इतने संक्षिप्त से शब्द कह कर मैं चुप हो गया। उन्होंने मेरे सिर पर हाथ फेर कर मुझे आशीर्वाद दिया और फिर अपने कार्य में लग गये। उनकी इसी प्रेरणा से मैंने अनेक कठिनाइयों के आने पर भी अपने वचन का पालन किया।

महात्मा जी की वाणी में कुछ ऐसा जादू था और प्रेरणा करने का ऐसा ढंग था जिससे वे दूर-दूर से अच्छे-अच्छे कार्यकर्त्ताओं को गुरुकुल की सेवा के लिये आकृष्ट करके गुरुकुल की सेवा में प्रवृत्त कर लिया करते थे। उनके आचार्यत्व में बहुत से योग्य महानुभाव, जो बाहर सैंकड़ों रुपये मासिक पर कार्य करते थे, गुरुकुल में निर्वाह-मात्र वेतन लेकर कार्य करने के लिये उद्यत हो जाते थे। अर्थशास्त्र के उपाध्याय प्रोफेसर ठाकुर छेदीलाल एम० ए० (ऑक्स०) हिन्दू यूनिवर्सिटी का आठ सौ रुपये मासिक का वेतन छोड़कर गुरुकुल में ६० रुपया मासिक वेतन लेकर काम करने आ गये थे। इसी प्रकार अमेरिका में बॉटनी की उच्च शिक्षा प्राप्त कर लौटने पर प्रो० महेशचरण सिन्हा, प्रो० सेवाराम जी, प्रो० टीनमदास जी, श्री ताराचन्द गाजरा, श्री विनायक गणेश साठे, श्री घनश्याम सिंह गुप्त, गुरुवर काशीनाथ शास्त्री, प्रो० रामदेव जी, प्रो० गोवर्धन जी आदि अनेक लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान् उनकी प्रेरणा पर ही निर्वाह मात्र वेतन लेकर गुरुकुल की सेवा करने के लिये उद्यत हुये थे।

●

भूली-बिसरी यादें

—श्री ओम्प्रकाश विद्यालंकार

सन् १९११ में गुरुकुल कांगड़ी में प्रवेश पाने के लिये मैं ६ वर्ष की आयु में गया था। उस समय गुरुकुल की स्थिति कुछ ऐसी थी कि जितने विद्यार्थियों को लेने की क्षमता होती थी उससे बहुत अधिक प्रार्थी आते थे। इसलिये मुझे प्रवेश न मिला किन्तु उन्हीं दिनों इस समस्या को हल करने का निश्चय किया गया और गुरुकुल कांगड़ी की एक शाखा कुरुक्षेत्र में खोली गयी। उसके प्रथम बैच में ही मैं गुरुकुल कुरुक्षेत्र में दाखिल हो गया। वहाँ से छठो श्रेणी उत्तीर्ण करके हमारी श्रेणी को गुरुकुल कांगड़ी भेज दिया गया। तब से ८ वर्ष तक अर्थात् चौदहवीं श्रेणी तक मैं स्वामी जी की छत्रछाया में रहा, पला तथा विद्याध्ययन किया। इस अवधि में जब तब स्वामी जी के संपर्क में आया। आज तो उस बात को लगभग साठ-पैंसठ वर्ष हो गये हैं। रोजाना की बातें तो याद रहनी संभव नहीं। वे तो बहते पानी की तरह आंखों से ओझल हो जाती हैं, किन्तु कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं जो भुलाये नहीं भूलतीं। ऐसी ही कुछ घटनाओं का संक्षेप में वर्णन करता हूँ।

छोटी श्रेणियों में तो स्वामी जी के संपर्क में आने का अवसर बहुत ही कम मिलता था। शाम के समय लगभग चार बजे के करीब उनका एक राउंड होता था, जिसमें वे प्रत्येक श्रेणी के छात्रावास में आते थे। कालेज में, विद्यालय में, खेल के मैदानों में, कार्यालय में, भंडार में मिस्त्रीखाने में कोई भी क्षेत्र उनके राउण्ड से बचा नहीं रहता था और हम सब उनके पैरों में नमस्कार करते थे। सारी संस्था में जीवन के संचार की लहर–सी आ जाती थी और एक तरह का चौकन्नापन आ जाता था।

हमारी सरस्वती यात्रा : दिल्ली भ्रमण

गुरुकुल में विद्यार्थी ६ वर्ष से ८ वर्ष की आयु तक के लिये जाते थे। फिर उसके बाद घर या अन्य कहीं बाहर जाने का नियम ही नहीं था। किन्तु ग्रीष्मावकाश के दिनों में कभी-कभी समयानुकूल होने पर प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थानों को दिखाने के लिये गुरुकुल की ओर से ही यात्राओं का प्रबन्ध होता था। उसका समस्त व्यय भी गुरुकुल ही करता था। इन यात्राओं को सरस्वती-यात्रा की संज्ञा दी जाती थी। जब मैं आठवीं श्रेणी में था तब हमारी श्रेणी की सरस्वती-यात्रा दिल्ली तथा आगरा के लिये निश्चित हुई। डा० सुखदेव जी हमारे अभिभावक बनकर हमें पहले दिल्ली, फिर आगरा दिखाने के लिये ले गये। आगरे की यात्रा का वर्णन तो अप्रासंगिक होगा, इसलिये मैं उसकी चर्चा यहाँ नहीं करुंगा। हां, आगरा से लौटते समय घटी एक घटना का अवश्य उल्लेख करुंगा।

जब हम आगरा से वापसी के लिये चले तो डॉ० सुखदेव जी ने १३ टिकट थर्ड क्लास के हम सब के लिये कटाये। किन्तु गाड़ी में इतनी भीड़ थी कि बैठने को कहीं भी जगह न मिली। फिर हम सबको तो इकट्ठा ही बैठना था। अन्त में जब गाड़ी चलने को हुई तो उन्होंने हम सबको एक फर्स्ट क्लास के डिब्बे में घुसा दिया। उसमें एक अकेले सज्जन लेटे हुए थे। हमें मालूम हुआ कि वे इलाहाबाद हाईकोर्ट के जज थे। वे बैठ गये और उन्होंने हम सब के बैठने के लिये जगह बना दी। ट्रेन चलने पर जब टिकट चेकर आया तो बड़ा हंगामा हुआ। अगले स्टेशन पर इसी झगड़े के कारण ट्रेन एक घंटा लेट हो गयी। उस स्टेशन के स्टेशन मास्टर ने पिछले स्टेशन मास्टर से सम्पर्क साधा। वहाँ से यह उत्तर आने पर कि स्थानाभाव के कारण एक फर्स्ट क्लास के डिब्बे को थर्ड क्लास में बदल दिया गया, समस्या का हल हुआ और गाड़ी चली।

हमारी इस यात्रा का पहला पड़ाव तो दिल्ली ही था। दिल्ली पहुँच कर हम रामजस कालिज के होस्टल में ठहरे। ग्रीष्मावकाश के दिन होने से होस्टल खाली था तथा वहाँ ठहरने की सब सुविधाएँ मौजूद थीं। उस समय दिल्ली बहुत छोटा सा ही था। हम प्रतिदिन घूम फिर कर अपने होस्टल पर ही आकर रुक जाते थे। वहाँ हमने कुतुबमीनार, लोहे की कीली, फतेहगढ़ (जहाँ से कहते थे कि अंग्रेजों ने गोला-बारी करके दिल्ली को फतह किया था), एक बर्फ का कारखाना, बिड़ला मिल आदि देखे। इसके बाद हम निजामुद्दीन देखने गये। वहाँ हम सब हसन निजामी के मेहमान बने। हसन निजामी स्वामी जी के मित्रों में ही थे। इसलिये हमें वहाँ ठहरने की प्रेरणा मिली थी। वहाँ हमारा बहुत आतिथ्य हुआ और खानपान की भी बहुत अच्छी व्यवस्था हुई। हमने सुना तो यह भी था कि बाजार में यह आदेश दे दिया गया था कि निजामी साहब के मेहमान यदि उस छोटे बाजार से कोई वस्तु खरीदें तो उसके पैसे न लिये जायें। किन्तु इस बात का तो हमारे लिये कोई प्रश्न ही नहीं था। मुझे हसन निजामी का व्यक्तित्व अच्छा सुरुचिपूर्ण लगा। उसका रहन-सहन पुराने ढंग का होने पर भी बहुत उत्कृष्ट कोटि का था। वह गौर वर्ण का था, काले लम्बे बाल कमर पर पड़े हुये थे और एक लम्बा रेशमी काषाय वर्ण का चोगा पहने हुये था। उसके सब कमरों में उसी के फोटो लगे हुये थे और अन्य किसी महापुरुष का कोई चित्र न था। इससे मैंने तो यही समझा कि यह बहुत खुदपसन्द आदमी है। वहाँ एक बावड़ी थी, जिसमें यदि एक पैसा फेंकों तो एक आदमी ३० फुट की ऊँचाई से कूदकर उसे निकाल लाता था।

अपनी यह यात्रा पूरी करके हम सब सकुशल गुरुकुल लौट आये। गुरुकुल में आने वाली पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समाचारों से हमें ज्ञात हुआ कि हसन निजामी अपने इस्लाम धर्म के प्रचार के केन्द्र बने हुये हैं और वहाँ इस प्रकार का साहित्य हाथों-हाथ वितरित हो रहा है जिसमें यह प्रेरणा दी गयी है कि हिन्दू लड़के-लड़कियों को बहकाकर, फुसलाकर, भगाकर तथा अन्य किसी भी प्रकार के घृणित से भी

घृणित कार्य तक करके इस्लाम धर्म में लाने की कोशिश होनी चाहिये। कुछ जातियाँ ऐसी भी थीं जो वस्तुतः हिन्दू राजपूत थे किन्तु हिन्दू लोग उन्हें मुसलमानों की ही श्रेणी में गिनते थे और उनसे किसी प्रकार का खान-पान आदि का सम्बन्ध नहीं रखते थे। इस तरह गाँव के गाँव मुसलमान होते चले जा रहे थे और यह सब काम शान्त बहते पानी की तरह होता जा रहा था और जो भी हिन्दू लड़का-लड़की, पुरुष व स्त्री एक बार मुसलमानी सम्पर्क में आया फिर उसके साथ हिन्दू तो अपना सम्बन्ध तोड़ ही लेते थे और उसे मुस्लिम समाज में ही जगह मिलती थी। इन सब बातों को स्वामी जी की अन्तर्दृष्टि ने देखा और एक पुस्तक "खतरे की घण्टी" लिखी, जिससे हिन्दूओं में कुछ जागृति हुई और मुस्लिम प्रचारकों में तो एक तूफान सा ही आ गया। तभी से उनकी शहादत का बीज-वपन हुआ और आगे चलकर उनके लिए प्राणघातक सिद्ध हुआ।

स्वामी जी की नेतृत्व-क्षमता

एक बार की बात है। मैं तब नवीं-दसवीं श्रेणी में पढ़ता था। उन दिनों बिजनौर जिले में सुलताना डाकू का बड़ा आतंक था। लालढाँग और उसके आस-पास के क्षेत्र तथा गुरुकुल के आस-पास के जंगलों से रोजाना नये-नये अत्याचारों की खबरें आती रहती थीं। सुनते थे कि उसके आने की खबर से ही लोग डर के मारे अपने घर छोड़कर खेतों में ईख में जा छिपते थे। उन्हीं दिनों एक पत्र गुरुकुल कांगड़ी के डाकखाने की पत्र-पेटी से प्राप्त हुआ, जो एक प्रकार का नोटिस सा ही था। अफवाह थी कि सुलताना डाका डालने से पहले तिथि तथा समय का नोटिस देकर कार्यवाही करता है। वह पत्र एक अखबार के कागज के बने लिफाफे में था। उस पर कोई टिकट नहीं था। उसे खोलने पर उसका विषय लगभग यही था कि "मैं अमुक तारीख की रात को दस-ग्यारह बजे के बीच में आऊँगा और सब माल ले जाऊँगा, जो कोई प्रतिरोध करेगा वह निशान ऐ बन्दूक होगा। हमारे गिरोह में अस्सी आदमी हैं, जिनमें पच्चीस घुड़सवार तथा चालीस बन्दूकें हैं।" इस पत्र की हवा सारे गुरुकुल में फूस की आग की तरह फैल गई और एक तरह का सन्नाटा-सा छा गया। उस समय स्वामी जी का नेतृत्व तथा उनकी संगठनात्मक क्षमता देखने योग्य थी। उन्होंने सब विद्यार्थियों को इकट्ठा करके लाठियाँ दिलवाई। छह-छह, सात-सात विद्यार्थियों के ग्रुप बनाये और उन्हें यथोचित घेराबन्दी करके जगह-जगह पर नियुक्त किया। हर ग्रुप में एक सीटी दी गई जो खतरे की सूचना दे सके। गुरुकुल में कुछ बन्दूकें भी थीं। उन्हें भी मदद के लिये दिया गया तथा स्वामी जी स्वयं अकेले अपना सोटा लिये हुये कांगड़ी ग्राम वाली तरफ गुरुकुल की सीमा पर गश्त करते रहे। उधर से ही डाकुओं के आने का अधिक खतरा था। यह प्रबन्ध दो-तीन दिन तक रहा, किन्तु कोई खतरा नहीं आया। तब रात की चक्कर-फेरी बन्द कर दी गयी और सब लाठियाँ इकट्ठी करके स्टोर में जमा करवा दी गईं।

आचार्यवर की महानता

मैं कालिज के तृतीय वर्ष में था। हम कुछ विद्यार्थियों ने अंग्रेजी के साधारण ज्ञान की वृद्धि के लिये तथा भाषण योग्यता बढ़ाने के लिये एक सभा बना रखी थी, जिसका नाम 'डेली इंगलिश क्लब' था। उसकी मीटिंग रोज होती थी, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है। मैं उसका सेक्रेटरी था। इसमें हम बाहर से आये हुये विद्वानों के भी भाषण करा लिया करते थे। स्वामी जी तब दिल्ली रहते थे, गुरुकुल तो कभी-कभी आते थे। एक बार जब वे गुरुकुल आये तो मैंने उनसे भी अपने क्लब में भाषण देने के लिये विनती की। मुझे बिल्कुल आशा नहीं थी कि उनसे स्वीकृति मिल जायेगी, क्योंकि उनका समय तो बहुत कीमती था और हमारा क्लब तो एक तरह से बच्चों का खिलवाड़ सा ही था। किन्तु मुझे बहुत आश्चर्य हुआ, स्वामी जी ने मेरी प्रार्थना तुरन्त स्वीकार कर ली और उनका भाषण हमारे क्लब में हुआ। मुझे आज भी याद है, उन्होंने सरल अंग्रेजी में भाषण देते हुये कहा था कि "सारी दुनियाँ के तख्ते पर एक भी ऐसा देश नहीं है जो हमारे भारतवर्ष जैसा हो। यहाँ हर समय बारहों महीने ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, बसन्त सब ऋतुएँ मौजूद रहती हैं। हम जब चाहें जिस किसी ऋतु का सुख उठा सकते हैं।"

स्वामी जी में नेतृत्व-संगठन-क्षमता तो थी ही, साथ ही उन्हें नियमों का दृढ़ता से पालन करवाना तथा विद्यार्थियों को माता-पिता का सा प्यार देना भी आता था। वे विद्यार्थियों के आँसू देखते ही द्रवित हो जाते थे। मुझे याद है कि अनेक बार कुछ विद्यार्थी परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाने पर स्वामी जी के पास गये, रोये-धोये। स्वामी जी की करुणा जागी और विद्यार्थी उत्तीर्ण हो गया।

शुद्धि-सभा की स्थापना और हम

स्वामी जी ने अछूतोद्धार और शुद्धि सभा की स्थापना की, ताकि मुसलमान बनने वालों को उससे रोका जाये, जो भटक कर मुसलमान हो गये हैं उनके लिये अपने धर्म में वापस आने का मार्ग खुल जाये तथा हिन्दुओं में भी उन लौटे हुये लोगों को अपने में मिलाने की प्रेरणा जागृत हो। यह आर्यसमाज का एक बहुत ही महत्वपूर्ण कदम था। इससे हिन्दुओं में भी कुछ जागृति पैदा हुई और जो काम गुपचुप तरीके से हिन्दू जाति को धीरे-धीरे खत्म किये जा रहा था, उसमें भारी व्यवधान आया।

जब स्कूल की पढ़ाई पूरी करके मैं कालिज में आया तो स्वामी जी ने ग्रीष्मावकाश के दिनों में गुरुकुल के विद्यार्थियों को भी शुद्धि-सभा में काम करने के लिये बुलाया। वे मानते थे कि गुरुकुल आर्यसमाज की संस्था है, अतः उसके प्रचार कार्यों में गुरुकुल का सहयोग अवश्यम्भावी है। गुरुकुल से १२-१३ विद्यार्थियों का दल इस कार्य के लिये दिल्ली स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुआ। मुझे भी इसमें सम्मिलित होने का अवसर मिला। हमारा यह संगठित दल डॉ० सुखदेव जी की अध्यक्षता में गया। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि डॉ० सुखदेव जी बड़े त्यागी, तपस्वी तथा धुन के पक्के थे। वे वृद्धावस्था में भी जवानों से

अधिक कार्यशील तथा कठिनाइयों से न घबराने वाले आदमी थे । मुझे अपने जीवन में ऐसे आदमी कम ही मिले हैं ।

कार्यक्रम यह बनाया गया कि १५ दिन तक गाँव-गाँव में घूमकर एक बड़ी पंचायत गठित की जाये । वहाँ सम्मिलित रूप से कुछ ठोस निर्णय लिये जायें और उन्हें कार्यरूप में भी परिणत करके दिखाया जाये । उस जमाने में आज की तरह के यातायात के साधन तो थे नहीं और न प्रचार के आधुनिक साधन विद्यमान थे । अतः सारा काम पद-यात्रा के द्वारा ही सम्पन्न हुआ । पंचायत के लिये बदरपुर चुना गया और वहीं सब गाँव वालों को निश्चित तिथियों में इक्ट्ठा होने को कहा गया । बहादुरगढ़ की आर्यसमाज को केन्द्र बनाकर हमारी टोली इसके चारों ओर बसे गाँवों में घूम-घूम कर लोगों से मिलती रही और कभी-कभी तो हम रात को भी गाँवों में ही ठहर जाते थे । गाँवों में सब जगह हमारा बहुत स्वागत हुआ । एकाध जगह तो कुछ कठिनाई हुई, जहाँ इस प्रकार के विरोधी मुसलमानों ने यह अफवाह फैला दी थी कि एक बदमाशों की टोली गाँवों में घूम रही है और वे बच्चों व लड़के-लड़कियों को बहका कर ले जाते हैं । ऐसे गाँवों मेंघुसने पर तो ईंट-पत्थरों से स्वागत हुआ, किन्तु गाँव में अन्दर पहुँचने पर वहाँ जनता ने हमारा आतिथ्य ही किया । लोग प्रायः यही कहते थे कि भगवान् ने हमारी भलाई के लिये इन्हें भेजा है, ये तो देवता हैं, अपने घर-परिवार को छोड़कर गाँव-गाँव धक्के खाते फिर रहे हैं । एक दो जगह तो यह भी सुनने में आया कि हमारी भैंस तो महीना भर हो गया दूध से जाती रही थी, किन्तु जब इनके लिये हमने दूहने की कोशिश की तो उसने दूध दे दिया । इस प्रकार हमने २५–३० गाँवों के चक्कर लगाये । हमारे आने की खबर दूर-दूर तक गाँवों में फैल गयी थी । इससे जिस गाँव में हम जाते थे वहाँ आस-पास गाँवों के लोग भी इकट्ठा हो जाते थे । पंचायत की तिथि आने तक हम इसी प्रकार कार्य करते रहे ।

पंचायत के लिये निश्चित तिथियों से दो दिन पूर्व हम बदरपुर पहुँच कर अपने परिश्रम का परिणाम देखने की प्रतीक्षा करने लगे । लोग बदरपुर पहुँचने शुरू हो गये । हमारा दिल भी बहुत उत्साह से उछलने लगा । २-३ दिन में कई हजार आदमी इकट्ठे हो गये । पंचायत शुरू होने पर हमें बताया गया कि ७२ गांवों के लोग आये हैं । पंचायत में कई आवश्यक निर्णय लिये गये—जैसे—मेव, मलखान आदि जातियाँ जो हिन्दू-धर्म से बहिष्कृत थीं, उन्हें हिन्दू ही समझा जाये, उनके साथ खान-पान आदि के सम्बन्ध कायम किये जायें तथा जो मुसलमान भी हो गये हों उन्हें शुद्ध किया जाये । इस प्रकार वहाँ एक बड़ा शुद्धि-यज्ञ हुआ और कम से कम ५० व्यक्तियों को शुद्ध किया गया । काम करने के लिये गाँव के लोगों में से ही बहुत से स्वयंसेवक बन गये थे । उन्होंने कुछ चम्मच सुअर के दाँत के बनवा लिये थे । जिन्हें शुद्ध किया जाता था उन्हें उसी के जल से आचमन कराया जाता था । इस कार्य में हमारी न तो सहमति थी और न ही असहमति । यह सब तो स्वयं बहते पानी के, प्रवाह की तरह हो रहा था । एक बड़ा जलूस भी निकाला गया जिसमें इस

प्रकार के गाने गाये जा रहे थे—'अब हम मलकाने नहीं रहे, हमें राजपूत सरदार कहो' इत्यादि। इसके बाद एक बड़ा सहभोज हुआ जिसमें सबने आपस में मिलकर परोसा और सबने साथ ही खाया। उस समय तो ऐसा लग रहा था कि वास्तव में सबने हमारे प्रचार को पूरी तरह दिल से स्वीकार कर लिया। अन्त में रात्रि के समय चाँदनी रात में हम सब गुरुकुल के विद्यार्थियों ने शारीरिक व्यायाम के तथा तीर-अंदाजी के खेल भी दिखलाये। छाती पर सुर्खी कूटने वाला भारी वजन का पत्थर रखकर उस पर पत्थर तोड़ना, लोहे की जंजीर तोड़ना आदि खेल हुये, जिनमें लोहे की जंजीर तोड़ने का काम मेरे हिस्से में आया था। उसे मैंने किया। गाँव के सब लोग इन सब खेलों को देखकर बहुत खुश हुये और बहुत अच्छा प्रभाव गुरुकुल के विषय में लेकर गये। इस प्रकार हमारा अछूतोद्धार विषयक काम पूरा हुआ। हमें इसमें आशातीत सफलता मिली। हम लौट कर दिल्ली स्वामी जी के पास आ गये।

अब जब मैं पिछली बातों पर नजर डालता हूँ तो परिस्थितियों में कैसा विरोधाभास नजर आता है कि हसन निजामी जो कभी स्वामी जी के मित्रों में था, किस प्रकार मजहबी जनून का शिकार हुआ। उसको मुस्लिम जगत में पैगम्बर की तरह का मान था। मुसलमानों के लिये किसी भी प्रकार से अपने मजहब को बढ़ाना श्रेयष्कर माना जाता है। वे तो बहुत फख्र के साथ कहते हैं कि मुस्लिम धर्म तलवार के जोर पर फैला। स्वामी जी तो हिन्दू धर्म के रूप में उदित हुये थे, जिसके प्रचार-प्रसार का आधार ही प्रेम, अहिंसा तथा त्याग था। वे तो उस ऋषि के शिष्य थे, जिसने अपने विष देने वाले को भी न केवल माफ ही कर दिया बल्कि उसे फाँसी से बचने के लिये जाने का भी प्रबन्ध कर दिया।

दिल्ली कांग्रेस-अधिवेशन

उन्हीं दिनों दिल्ली में कांग्रेस का विशेषाधिवेशन हो रहा था। गांधी जी ने स्वाधीनता संग्राम के लिये काउंसिलों के पूर्ण बहिष्कार का कार्यक्रम दे रखा था। किन्तु एक-दूसरी विचारधारा भी थी कि काउंसिलों का बहिष्कार न करो, उनमें जाना चाहिए और यदि वहाँ सफलता न मिले तो उन्हें अन्दर जाकर खोखला साबित करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस विचारधारा के प्रेरक पं० मोतीलाल नेहरू व बंगाल के श्री सी० आर० दास थे। उन्हीं के प्रयत्नों से यह अधिवेशन बुलाया गया था और उसमें काउंसिलों में जाने का ही निर्णय लिया गया। इस पार्टी का नाम स्वराज पार्टी हुआ। इस कांग्रेस-अधिवेशन में कार्य करने के लिये स्वामी जी ने स्वयंसेवक-दल बना दिया और हमारी नियुक्ति अधिवेशन में कार्य करने के लिये हो गई। हमको भोजन तो कांग्रेस से ही मिलता था। गर्मियों के दिन थे और हम रात में स्टेज पर ही सो जाते थे। एक बार तो उस समय कुछ ऐसी अफवाह उड़ी कि विपरीत पक्ष वाले कांग्रेस के विरोधी (जिन्हें मुसलमान समझना चाहिए, क्योंकि वे जमायत के तौर पर अंग्रेजी के पक्षधर ही थे) रात को पण्डाल में आग लगाने की योजना बना चुके हैं। उस समय हमारे दल को ही अति विश्वसनीय समझ कर रात

को पहरा देने पर नियत किया गया। दिन में हमारी छुट्टी रहती और रात को हम पंडाल के चारों ओर चक्कर लगाते रहते। इस तरह कोई दुर्घटना नहीं हुई। अधिवेशन खत्म हुआ और हमको छुट्टी मिल गई। इस प्रकार हम अपने ग्रीष्मावकाश की अवधि पूरी करके गुरुकुल लौट आये।

स्वामी जी द्वारा असगरी बेगम की शुद्धि और निर्वाह-व्यवस्था

यह कहानी अधूरी ही रह जायेगी, यदि इस घटना का उल्लेख न किया जाये। गुरुकुल आकर हम अपनी नियमित पढ़ाई-लिखाई में लग गये। मैं तब शायद तेरहवीं श्रेणी में था। उस समय एक और दहकती हुई घटना सामने आई। दिल्ली में स्वामी जी ने एक मुसलमान लड़की को शुद्ध करके आर्यसमाज की दीक्षा दी थी। हमने सुना था कि वह लड़की किसी मुसलमान हेड कान्स्टेबल की पत्नी थी। उसका नाम असगरी बेगम था। उसके अत्याचारों से घबड़ाकर वह किसी प्रकार स्वयं स्वामी जी की शरण में आई, जहाँ उसे शुद्ध कर हिन्दू समाज में मिला लिया गया और उसका नाम शान्ति देवी रख दिया गया।

इस शुद्धि से मुसलमानों के रोष का ठिकाना न रहा। वह सुन्दर नवयौवना लड़की गुरुकुल भी आई थी। मैंने उसे गुरुकुल के पुस्तकालय में देखा था। उसने मुस्लिम समाज में औरतों की दुर्दशा का वर्णन किया था और अपने मुक्तिदाता का गुणगान किया था। वह कुछ दिन गुरुकुल के परिवार-गृहों में ही रहती रही। एक लड़का अयोध्यानाथ गुरुकुल का नियमित ब्रह्मचारी तो नहीं था, किन्तु गुरुकुल के आयुर्वेद कालिज के प्रिंसिपल डा० राधाकृष्ण जी का भतीजा था। वह लाहौर का रहने वाला था। हमारी श्रेणी में पाश्चात्य दर्शन पढ़ने आता था और मेरे पास ही बैठता था। वह परिवार-गृहों में ही रहता था। वह किसी प्रकार शान्ति देवी के सम्पर्क में आया और उन दोनों ने आपस में विवाह-सम्बन्ध बनाने का निर्णय लिया। दोनों ही स्वामी जी के पास दिल्ली चले गये। वहाँ स्वामी जी ने उन दोनों की शादी करा दी। इस घटना ने धीमी पड़ी आग में घी का काम किया और मुसलमानों में विद्वेष की भावना अति प्रबल हो गई। स्वामी जी ने दोनों को ही हिन्दू-समाज में घुल-मिल जाने तथा आर्थिक सुरक्षा देने का प्रबन्ध भी कर दिया, ताकि उनमें कुछ विपरीत परिस्थितियों का सामना करने का साहस भी पैदा हो सके। अयोध्यानाथ की नौकरी बिड़ला मिल में १५० रुपये मासिक पर लगवा दी। उस समय १५० रुपये बहुत बड़ी रकम होती थी। गुरुकुल के प्रोफेसरों का अधिकतम वेतन १५० रुपये महीना होता था तथा हम स्नातकों को ५० रुपये महीना ही काफी समझा जाता था। शान्ति देवी के नाम भी पाँच हजार रुपये जमा करा दिये गये ताकि उसमें किसी प्रकार की असुरक्षा की भावना न रहे। किन्तु बाद में सुनने में आया कि उसे हिन्दू समाज ने उस तरह नहीं अपनाया, जिस तरह चाहिये था और उसे जगह-जगह अपमान का सामना करना पड़ा।

मेरा विवाह और स्वामी जी का आशीर्वाद

सन् १९२७ गुरुकुल की रजत जयन्ती का वर्ष मेरे गुरुकुल जीवन का अन्तिम

वर्ष था। स्नातक होने के उपरान्त जब मैं गुरुकुल से बाहर आया तो मेरे मन में देश के लिये, समाज के लिये कुछ कर गुजरने की बड़ी लालसा थी। यही एक भावना गुरुकुल की शिक्षा से नस-नस में भर गयी थी। शादी के विषय में मैंने निश्चय कर लिया था कि मैं एक सुधारवादी रुख अपनाऊँगा। उस समय दहेज का भूत—जो आज समाज को खाये जा रहा है—इतना प्रबल न था, किन्तु जात-पात के बन्धन और पुराने रीति-रिवाज समाज पर बहुत हावी हो रहे थे। मैंने इन सबको तोड़कर विवाह करने का निश्चय किया। जालन्धर महाविद्यालय की पढ़ी एक लड़की मेरे सम्पर्क में आई और आगे चलकर मैंने उसी से शादी करने का निश्चय कर लिया। उन दिनों अग्रवाल समाज में जाति-बन्धन का सख्ती से पालन होता था। यह सम्बन्ध उस दृष्टि से अनुकूल नहीं पड़ता था। इसलिये इसका विरोध भी बहुत हुआ। मैं फिर दिल्ली गया और स्वामी जी की शरण में पहुँचा। मैंने अपनी सब समस्या उनके आगे रखी और प्रार्थना की कि यह संस्कार वे अपने हाथों से पूर्ण करायें। स्वामी जी ने मेरे विवाह संस्कार में पुरोहित होना तत्काल स्वीकार कर लिया। मुझे अपार खुशी हुई और मेरा उत्साह बहुत बढ़ गया। मैंने कन्या-पक्ष वालों से भी कह दिया कि हमारे गुरुकुल के संस्थापक स्वयं मेरी तरफ से पुरोहित होंगे। इस पर उन्होंने भी कन्या महाविद्यालय जालन्धर के संस्थापक तथा उत्तरी भारत के महर्षि कर्वे की ख्याति के लाला देवराज जी को कन्या-पक्ष की तरफ से शादी में आमन्त्रित कर लिया। उनकी भी स्वीकृति आ गई। किन्तु 'ईश्वरेच्छा बलीयसी', स्वामी जी की तबीयत खराब हो गई। उनका आना सम्भव न हुआ तो भी उन्होंने इसका उचित प्रबन्ध कर दिया और नारायण स्वामी जी को—जो उन दिनों सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान थे और अतिपूज्य माने जाते थे—संस्कार सम्पन्न कराने के लिये भेज दिया। वे आये और हमारा संस्कार दो महापुरुषों के हाथ से सम्पन्न हुआ और दोनों का आशीर्वाद हमें प्राप्त हुआ। मैंने अनुभव किया कि स्वामी जी ने विद्यार्थियों और स्नातकों को हमेशा प्रोत्साहित किया। कोई भी अवसर अपने शिष्यों को प्रोत्साहित करने का उन्होंने हाथ से जाने नहीं दिया। मैं आज भी उनका वरदहस्त अपने सिर पर महसूस करता हूँ और उन्हें कोटिशः प्रणाम करता हूँ।

●

शिष्यवत्सल स्वामी श्रद्धानन्द

—श्री पं० सत्यदेव विद्यालंकार

स्वामी श्रद्धानन्द जी इतने महान् थे और मैं इतना छोटा कि उनसे सीधा संपर्क संभव ही न था। मैं चतुर्थ श्रेणी अथवा पंचम श्रेणी में पढ़ता था और उस समय मेरी आयु ११–१२ वर्ष की थी, जब श्रद्धेय कुलपिता संन्यास ग्रहण कर महात्मा मुंशीराम से स्वामी श्रद्धानन्द बने। उस काल की कुछ छोटी-छोटी अविस्मरणीय स्मृतियाँ अब भी मेरे मानस-पटल पर अंकित हैं।

सन् १९१२ में मैंने गुरुकुल में प्रवेश प्राप्त किया। मेरे पूज्य पिता पं० ठाकुरदास जी आर्यसमाज क्वेटा के प्रमुख अधिकारियों में से एक थे तथा स्वामी जी के अनन्य भक्त भी थे। स्वामी जी की आज्ञा से वे प्रायः प्रति वर्ष गुरुकुल के उत्सव पर आते और कैम्प-प्रबन्धक का कार्य करते। सन् १९२४ की मथुरा शताब्दी पर भी स्वामी जी ने उन्हें बुलाया था और पंजाब-कैम्प के प्रबन्ध का कार्य सौंपा था। मैं तब द्वादश श्रेणी का विद्यार्थी था और गुरुकुल की हॉकी टीम का खिलाड़ी बन कर वहाँ गया था।

सन् १९१२ में ही स्वामी जी महाराज के दोनों सुपुत्र श्री हरिश्चन्द्र और श्री इन्द्र भी स्नातक बने थे। उस वर्ष के उत्सव के अपार उत्साह और धूमधाम की मन पर अच्छी झलक पड़ी थी। उस समय मैं केवल ७–८ वर्ष का ही था।

लार्ड चेम्सफोर्ड के गुरुकुल आने का दृश्य मुझे स्नातक बनने के ६० वर्ष बाद भी खूब अच्छी तरह याद है। उस दिन हम सब गुरुकुल के बड़े द्वार के पास दो पंक्तियों में श्रेणीवार खड़े थे। सबसे आगे महात्मा मुंशीराम जी की विशालकाय भव्य मूर्ति पीले उपवस्त्र धारण किये हुए, उसके बाद प्राध्यापक एवं अध्यापक गण तथा छात्र दोनों ओर कतारें बनाये खड़े थे। सब उत्सुकता से भरे हुए। दूर से हाथियों पर आते हुए वायसराय तथा अन्य सरकारी अधिकारियों की धीरे-धीरे पास आती सवारियों की झलक आज भी ज्यों की त्यों खूब स्पष्ट है।

एक और झलकी, जिसे मैं कभी नहीं भूल पाया, बिल के ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से घिरी यज्ञशाला की है। प्रति रविवार महात्मा जी का प्रवचन होता था। बैठने पर भी उनकी भव्य मूर्ति, ऊँचा कद, बड़े हाथ-पैर, घनी दाढ़ी-मूंछ से सजा चेहरा सब कुछ बड़ा प्रभावशाली था। एक दिन वे बहुत भाव विभोर थे—प्रारम्भ के मन्त्रपाठ के बाद उन्होंने गंभीर मधुर स्वर में एक गीत गाया, जिसकी पहले शब्द 'आज मिले प्रभुदर्शन' आज भी कानों में गूंज रहे हैं।

एक बार की बात है। सुलताना डाकू ने गुरुकुल को लूटने की धमकी भरी चिट्ठी भेजी थी। महात्मा जी ने न तो पुलिस की सहायता मांगी और न ही हथियारों की मांग की। स्वयं ही निर्भयता पूर्वक गुरुकुल को रक्षा की व्यवस्था की। रात को पहरे पर आगे-आगे कन्धे पर लाठी रखे महात्मा जी तथा पीछे-पीछे छोटे-बड़े बच्चों की कतार गुरुकुल के परिवार गृहों की ओर—जहाँ सामान्य रूप से हमारा आना-जाना निषिद्ध था—चक्कर काट रही थी। उस दिशा में आगे एक नाला और जंगल था, उसी ओर से डाकू के आने की संभावना थी। पर कोई न आया।

कालान्तर में मेरे जीवन में एक ऐसी घटना घटी, जिसने स्वामी जी की आत्मीयता और शिष्यवत्सलता के बारे में मेरे मन पर अमिट छाप छोड़ी।

एक बार मैं क्वेटा से गुरुकुल होता हुआ दिल्ली गया था। वहाँ कुछ दिन लग गये। पिता जी के परिचित एक इंजीनियर दीवान साहिब थे, उन्हीं के यहाँ ठहरा था। एक दिन श्री नवरत्न जी स्नातक के साथ गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ देखने चला गया। वापस आते-आते अंधेरा हो गया। दिल्ली स्टेशन पर पहुंचा ही था, सामने श्री धर्मपाल जी स्नातक—जिन्हें हम स्नेह से बिल्लीमार भी कहते थे—हाथ में लाठी लिये खड़े थे। वे खूब बलवान् थे और स्वामी जी के निजी मंत्री के रूप में काम करते थे। उन्होंने मुझे बतलाया कि "श्री स्वामी जी महाराज स्वयं स्टेशन पर आये थे। गाड़ी लेट होने के कारण चले गये हैं, नहीं तो मुझे बहुत डांट पड़ती। आज्ञा हुई है कि मैं सीधा क्वेटा की गाड़ी में चढ़ जाऊं।"

मैं बहुत डर गया। बहुत नम्रता से पूछने पर पता चला कि मेरे पिता जी ने क्वेटा से तार भेजा था कि "सत्यदेव का पता नहीं लग रहा।" स्वामी जी की शिकायत थी कि "गुरुकुल का स्नातक दिल्ली आकर उनके पास क्यों नहीं आया, उनसे मिला क्यों नहीं। कहीं भी जाना था तो उन्हें सूचना अवश्य देनी चाहिये थी।" मैं डर के मारे तत्काल सीधा क्वेटा की गाड़ी में चढ़ गया।

यह था उस महान् आत्मा के हृदय में अपने सब कुलपुत्रों के लिये अद्भुत प्रेम। एक तुच्छ बच्चे के लिये चिंतातुर वे वयोवृद्ध आचार्य प्रवर स्वयं स्टेशन आये।

दिसम्बर १९२६ में जब कुलपिता के स्वर्गवास का समाचार क्वेटा में मिला तो विश्वास न होता था कि उस लौह पुरुष को कोई मार भी सकता है, पर वास्तविकता को मानना ही पड़ा। ●

शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी

—स्वामी ओमानन्द सरस्वती

स्वामी श्रद्धानन्द जी एक अगाध प्रेरणा-स्रोत थे। उनकी ही प्रेरणा से आज उत्तर भारत के आर्यसमाज में वर्तमान जागृति है। हरियाणा में जो आर्यसमाज का प्रचार है वह उनकी ही प्रेरणा का फल है। उनकी प्रेरणा से ही प्रारम्भ में हरियाणा में चार गुरुकुलों की स्थापना हुई, जिनकी आधारशिला भी उन्होंने ही रखी। सबसे पहले झज्जर गुरुकुल की आधारशिला पं० विश्वम्भरनाथ जी की प्रार्थना पर स्वामी जी के कर-कमलों से रखवाई गई तथा इन्हीं की प्रेरणा से श्री पीरू सिंह जी ने मठिण्डु गुरुकुल की और भक्त फूलसिंह जी ने भैंसवाल गुरुकुल की स्थापना की। गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ तथा गुरुकुल कुरुक्षेत्र की स्थापना भी स्वामी जी ने ही की।

हरियाणा के लोगों में शिक्षा का प्रसार स्वामी श्रद्धानन्द जी की कृपा से हुआ। उन्होंने छात्रों को छात्रवृत्ति देकर कांगड़ी गुरुकुल में शिक्षा का अवसर प्रदान किया तथा प्रचारक, उपदेशक और शिक्षक उत्पन्न किए। पं० समरसिंह जी, आचार्य प्रियव्रत जी, स्वामी व्रतानन्द जी, आचार्य रामनाथ जी वेदालंकार, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री क्षितीश वेदालंकार, डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार आदि विद्वान् उन्हीं की देन हैं, जो आज भी देश-विदेश में प्रचार कार्य कर रहे हैं। श्री सत्यदेव जी भारद्वाज—जिन्होंने कुछ दिन पहले अपनी मातृ संस्था गुरुकुल के लिये एक लाख रुपये दान दिये हैं तथा विदेशों में प्रचार कार्य कर रहे हैं—कुल माता की ही सन्तान हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द जी एक दूरदर्शी संन्यासी थे, जिन्होंने भविष्य के विनाश को ध्यान में रखते हुये जबरदस्ती मुसलमान बने हुये लोगों को शुद्ध करने का कार्य जोरों से किया। एक बार की घटना है। यह वह समय था, जब लोग कहा करते थे :

हुई शुद्ध मथुरा, शुरू आगरा है।
करके छोड़ेंगे देखो हसर देख लेना॥

उस समय २० हजार मलखाने राजपूत शुद्धि के लिये तैयार थे। वेदी तैयार थी। शुद्धि संस्कार के शुरू होने से थोड़ा पहले राजपूत नेता ने किसी दूसरे अवसर पर शुद्ध होने की बात कही। विकट समस्या थी, क्योंकि वे लोग उस समय शुद्ध न होते तो वे मुसलमान ही बने रहते। स्वामी जी ने स्थिति को समझते हुये नीति के साथ काम लिया और एक समझदार व्यक्ति को चौधरी के दिल की टोह लेने भेज दिया। चौधरी के मन में लोभ था। स्वामी जी के साथ सेठ जुगलकिशोर जी बिरला भी थे। स्वामी जी ने चौधरी को बुलाया और २० हजार रुपये देकर

समझाया। युक्ति काम कर गई और २० हजार मलखानों ने उसी समय यज्ञोपवीत धारण कर लिये। इस तरह एक-एक रुपये में एक-एक व्यक्ति की शुद्धि हो गई। इसके बाद मलखाने राजपूतों ने "कहा हमारी शुद्धि का क्या लाभ ? राजपूत लोग हमसे हुक्के-पानी का व्यवहार तो करते ही नहीं ···· ।" राजपूत तो पहले से ही शुद्धि के खिलाफ थे। स्वामी जी के पास एक राजपूत आर्योपदेशक थे श्री इन्द्र वर्मा, जो कि पहले हुक्का पीते थे। स्वामी जी ने इन्द्र वर्मा को समझाया कि हुक्का पीना कोई अच्छी बात तो नहीं है। पर इस अवसर पर इन लोगों के साथ दो घूंट हुक्का पी लो, इससे कोई हानि नहीं होगी। श्री इन्द्र वर्मा ने उनके साथ बैठ कर हुक्का पिया। अब लोग जयनाद के साथ उठ खड़े हुये। इस तरह नीति-कुशलता और दूरदर्शिता से शुद्धि का चक्र चलाया !

नीति कुशलता और कार्यकुशलता के कारण ही शुद्धि का कार्य इतने जोरों से चला था। इनकी कार्य-कुशलता की एक और घटना है। उस समय मुसलमान हिन्दुओं की लड़कियों, ज्यादातर विधवाओं को जबरदस्ती उठाकर ले जाते थे। एक मुसलमान जेहलम से एक हिन्दू लड़की को बादली गुलिया में ले आया। पटवारी अमरसिंह आर्य ने स्वामी जी को सूचना दी। स्वामी जी ने बल्लभ पण्डित को मौलवी के रूप में भेजा तथा एक उपदेशिका को नर्स के रूप में भेजा। इन दोनों की सहायता से उस लड़की को वहाँ से निकाला। इस तरह स्वामी जी ने हजारों कन्याओं और विधवाओं की रक्षा की।

पाकिस्तान बनने की घटना और अभी घटी मीनाक्षीपुरम् की घटना हमें स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदान की याद दिलाकर आज भी शुद्धि कार्य की आवश्यकता को प्रकट कर रही है। शुद्धि का कार्य पहले से भी जोरों से चलाने की आवश्यकता है, अन्यथा भविष्य में इससे भी बुरे परिणाम होंगे। शुद्धि कार्य को आगे बढ़ाना ही स्वामी श्रद्धानन्द जी के लिए सच्ची श्रद्धांजलि होगी। ●

मेरे ज्योतिस्तम्भ

—श्री संतराम बी० ए०

महापुरुषों की तुलना करना प्राय: विरक्तिकर होता है, फिर भी कहना पड़ता है कि दयानन्द के बाद आर्यसमाज में ही नहीं, वरन् समूचे भारत में जो महान् व्यक्ति हुए हैं उनमें स्वामी श्रद्धानन्द की शान निराली है। जैसे किसी पर्वतमाला में अनेक चोटियाँ होती हैं और वे सब अपने-अपने स्थान पर सुन्दर प्रतीत होती हैं, पर उन सब में एक पर्वत-श्रृंग विशेष रूप से ऊँचा उठ कर दर्शकों को दूर से अपनी भव्यता से और अनोखेपन के कारण आकर्षित करता है, वैसे ही श्रद्धानन्द थे। रूस के ऋषि काऊंट टालस्टाय की भांति उन का प्रारंभिक जीवन उतना अच्छा न था, पर उनकी आत्मा प्रगतिशील थी। हम उन्हें बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष करके प्रतिक्षण ऊपर उठता पाते हैं। अंत में वे इतने ऊँचे उठ गये कि उनको देखने के लिए सिर को पीछे की ओर झुकाना पड़ता था।

स्वामी जी के महान् व्यक्तित्व का प्रभाव मुझ पर मेरे कालेज के दिनों में ही पड़ चुका था। सन् १९०६ की बात है। मैं गवर्नमेंट कालेज लाहौर के तीसरे वर्ष में पढ़ा करता था। मैंने कांगड़ी के गुरुकुल की महिमा सुनी। उसको देखने की इच्छा मन में प्रबल हो उठी। अपने सहपाठी मित्र श्री भगवानदास को लेकर मैं हरिद्वार पहुँचा। उन दिनों गुरुकुल गंगा की नीलधारा के उस पार एक घने जंगल में अवस्थित था। हरिद्वार के पंडे-पुरोहित उसका पता बताने से भी इंकार करते थे। हमारे पूछने पर उन्होंने कहा कि गुरुकुल वाले यहाँ से अपना डेरा-डंडा उठा ले गये हैं। यह सुन कर हमें बड़ी निराशा हुई। परन्तु अधिक खोज करने पर हमें गुरुकुल का मार्ग मालूम हो गया। हमने नाव से बड़ी गंगा को पार किया और नीलधारा में से पैदल लांघ कर गुरुकुल के ठेकेदार की सहायता से वहाँ जा पहुँचे। महात्मा मुंशीराम की भव्य मूर्ति और प्रेम पूर्ण सत्कार ने हमें मोहित कर लिया। हम मार्ग का सारा कष्ट भूल गये आचार्य। रामदेव जी ने हमें सारा गुरुकुल दिखाया। हमने देखा, लड़कों को हिन्दी में ड्रिल कराई जा रही है। मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सकता था कि ड्रिल में प्रयुक्त होने वाले शब्द हिन्दी में भी हो सकते हैं। देख कर बड़ा विस्मय हुआ। मैंने कहा—"आप ड्रिल तो हिन्दी में कराते हैं, पर रसायन शास्त्र और भौतिक विज्ञान किस भाषा में पढ़ाते हैं?" आचार्य जी ने कहा 'चलिये आप को वह भी दिखा देते हैं।' इस पर वे हमें रसायन-अध्यापक के कमरे में ले गए। वहाँ काले बोर्ड पर रसायन-शास्त्र की हिन्दी

परिभाषाएँ देख कर मेरे आश्चर्य की कोई सीमा न रही। मैंने अनुभव किया कि गुरुकुल ही राष्ट्रीय महाविद्यालय कहलाने का सच्चा अधिकारी है।

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी के प्रति मेरे मन में अगाध श्रद्धा है। उन्होंने मेरे जीवन में एक बहुत बड़े ज्योति-स्तम्भ का कार्य किया है। उनकी कृपा से ही मैंने हिन्दी पढ़ना लिखना सीखा। मैं उनके उर्दू पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' को बड़े प्रेम से पढ़ा करता था। स्वामी जी ने जब उसे उर्दू में बंद कर हिन्दी में निकालना आरम्भ किया तो मुझे भी उसके प्रेम से विवश होकर उसे पढ़ने के लिए हिन्दी सीखनी पड़ी। मेरी ही तरह अन्य बहुत से भाइयों ने सद्धर्म प्रचारक पढ़ने के लिये हिन्दी सीखी थी। मैं मानता हूँ कि यह उनका मुझ पर एक बहुत बड़ा उपकार था।

× × ×

मेरे जीवन के गत २५ वर्ष जातपांत के विरुद्ध संघर्ष करने में बीते हैं। कुछ मित्रों के साथ मिलकर मैंने सन् १९२२ में लाहौर में जातपांत–तोड़क–मंडल स्थापित किया था। हमें चारों ओर से हतोत्साहित किया जाता था। मुझे पूरी तरह स्मरण है कि स्थानीय आर्य-नेताओं के निष्क्रिय प्रतिरोध के कारण एक वर्ष हमें अपने वार्षिक सम्मेलन के लिये कोई प्रधान मिलना कठिन हो गया था। स्वामी श्रद्धानन्द उस वर्ष लाहौर आर्यसमाज से कुछ अप्रसन्न थे। उन्होंने उसके वार्षिकोत्सव पर आने से इन्कार कर दिया था। पर जातपांत तोड़क मंडल की प्रार्थना पर उन्होंने हमारा प्रधान बनना स्वीकार करके हमारी मान-रक्षा की थी। सभापति के आसन से बोलते हुमें उन्होंने तब कहा था—'मुझे पता नहीं था कि आर्यसमाजी लोग जातपांत तोड़ने से इतना भयभीत हैं। आज इस प्लेटफार्म पर एक भी आर्य नेता को न देख मुझे दुःख हो रहा है। मुझे ऐसा पता होता तो मैं गुरुकुल न बना कर जातपांत तोड़क मंडल ही बनाता।' उन की इस अमर वाणी से मंडल के कार्यकर्ताओं को बड़ा भारी उत्साह मिला था। वे सदा हमारे लिये प्रकाश-स्तम्भ बने रहे। जातपांत तोड़ने के आन्दोलन की कठिनाइयों को देख कर जब भी मेरा उत्साह भंग होने लगता था, उस ज्योति-स्तम्भ से मैं नवजीवन पाने लगता था। उन्होंने उस घोर अंधकार के समय में जब पंजाब में परदा प्रथा तक को दूर करना कठिन था, अपनी बेटी और बेटों का विवाह जाति-भेद को तोड़कर करते हुए आने वाली पीढ़ियों के लिये मार्ग प्रशस्त किया था।

× × ×

एक समय था, जब आर्यसमाज पर बड़ी भारी विपत्ति आई हुई थी। आर्यसमाज को विद्रोही ठहरा कर ब्रिटिश सरकार कुचल डालने पर तुली हुई थी। पटियाला में आर्यसमाजियों पर राजद्रोह का अभियोग चल रहा था। सत्यार्थप्रकाश को जब्त किया जा रहा था। श्री लाजपतराय कारागार में डाल दिए गए थे। आर्यसमाज के एक विभाग ने डर कर उनका नाम अपने सदस्यों की सूची से काट डाला

था । आर्यसमाजी कहलाना अपने को भारी खतरे में डालना था । चारों ओर आर्यसमाज पर दमन का चक्र चल रहा था । ऐसे संकट काल में श्रद्धानन्द (तब महामा मुंशीराम) का एक व्याख्यान लाहौर की बच्छोवाली आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव में हुआ । उसे सुनने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ था । उसे मैं आज तक नहीं भूला हूँ और शायद इस जीवन में भूल भी नहीं सकूंगा ।

बीस-पच्चीस सहस्र नर-नारी पण्डाल में खचाखच भरे थे । भय के कारण सब डरे हुए थे । पण्डाल में एक ओर पुलिस के देसी और अंगरेज अफसर हथकड़ियाँ लिये बैठे थे । 'सभी की जिह्वा पर था कि आज महात्मा जी को गिरफ्तार कर लिया जायेगा । 'जनता सांस रोके अपने महान् नेता का आदेश सुनने के लिये चुपचाप बैठी थी । गैस के बड़े-बड़े लैम्पों की सांय-सांय के सिवा और कोई शब्द सुनाई न पड़ता था । इतने में उन्नत ललाट, नग्न सिर, पीताम्बरधारी, लंबी दाढ़ी वाले एक विशालकाय मनुष्य वेदी पर खड़े हुए । उनको देखते ही पण्डाल करतल ध्वनि से गूंज उठा । मनुष्य नहीं, वह देवता था । लाखों मनुष्यों की भावना उसके हृदय में भरी थी । वह युग पुरुष था । आर्यजगत् उसकी जिह्वा से बोल रहा था । वे थे महात्मा मुंशीराम उन्होंने उस समय अपना व्याख्यान आरम्भ करने से पहले भगवान् से जो प्रार्थना की वह आज भी मेरे कानों में गूंज रही है । उन्होंने कहा—हे घट-घट वासी, रोम-रोम में रम रहे परमेश्वर, हे नर और नारी के सृजनहार, मुझे शक्ति दीजिए कि सत्य ही मेरी वाणी से निकले । मैं चाहता हूँ कि आज मेरे यहाँ बोले हुए शब्द केवल भारत-मंडल में ही नहीं, वरन् इंगलैण्ड के पार्लियामेंट के भवन के ऊपर से गूंजते हुए उस जगदीश्वर के चरणों में पहुंचें, जिसके सामने बड़े-बड़े ताजदार भी सिर झुकाते हैं ।'' इनके इन शब्दों में बिजली भरी थी । सारा वायु-मंडल प्रभावित हो उठा । सबके गले भर आए । महात्मा जी ने आगे कहा कि मुझ से पूछा जाता है कि व्याख्यान देने तो चले हो, पर क्या अपना भाषण लिख भी लिया है; आज तुम्हारे एक एक शब्द को लेकर तुम्हें दण्ड दिया जायेगा । मैं पूछने वाले भाइयों से कहता हूँ, मेरा कोई सेक्रेटरी नहीं जो मेरे लिए व्याख्यान के नोट लिखे; मैंने अपने को सत्यस्वरूप परमेश्वर के भरोसे पर छोड़ दिया है—सरे तसलीम खम है, जो मिजाजे यार में आए । सत्य के प्रकाश के लिए सब कष्ट और दण्ड सहन कर लूंगा '। मालूम नहीं उनकी वाणी में क्या जादू भरा था । श्रोतागण के नेत्रों से अश्रुधारा बह रही थी । उनका व्याख्यान अबाध गति से कोई पौने दो घण्टे तक होता रहा, पर श्रोतागण चित्रवत् बैठे रहे । उनकी उस दिन की निर्भीकता और प्रभु-विश्वास ने कट्टर सनातनधर्मियों को भी उनका बना दिया था ।

× × ×

पुण्यश्लोक स्वामी श्रद्धानन्द जी यों तो अनेक देवदुर्लभ सद्गुणों की खान थे, परन्तु उनका एक बड़ा सद्गुण मन-वचन और कर्म की एकता था । वे जिस बात को मानते थे उस पर स्वयं आचरण करते थे । जब उन्होंने गुरुकुल की स्थापना की तो

अपने दोनों पुत्रों के सांसारिक भविष्य की कुछ भी परवाह न करके सब से पहले उन्हीं को गुरुकुल में भरती किया। मन-वचन और कर्म की ऐसी एकता बहुत कम लोगों में देखने को मिलती है। स्वामी जी ने एक समय एक घटना मुझे सुनाई थी जो इस प्रकार है–दिल्ली के प्रसिद्ध सेठ स्वर्गीय सुलतानसिंह ने स्वामी जी को भोजन के लिये बुलाया। स्वामी जी जिस कमरे में बैठे भोजन कर रहे थे उसके निकट ही एक दूसरे कमरे में पं० मदनमोहन मालवीय और पं० दीनदयाल भी उसी समय भोजन कर रहे थे। परन्तु उन्हें पता नहीं था कि साथ के कमरे में स्वामी जी भी हैं।

पं० मालवीय जी ने पं० दीनदयाल से कहा—'पंडित जी, मुझ से विधवाओं का दुःख देखा नहीं जाता।' इस पर दीनदयाल जी ने कहा—'मालवीय जी, पर सनातनधर्मी हिन्दू तो विधवा-विवाह नहीं मानेंगे, क्या किया जाये?' यह सुनकर मालवीय जी बोले—'व्याख्यान देकर, एक बार रुला तो मैं दूंगा, संभाल आप ले।' इन दोनों के इस वार्तालाप को सुनकर स्वामी श्रद्धानन्द जी को अत्यन्त खेद हुआ और वे मन ही मन सोचने लगे कि देखिये, ये लोग हृदय से तो विधवा-विवाह के पक्ष में हैं, परन्तु बाहर जनता में अपना मत कहने का साहस नहीं रखते, बल्कि व्याख्यानों में विधवा विवाह का विरोध करते हुए इसे धर्म के विरुद्ध ठहराते हैं।

इस प्रकार स्वामी जी का जीवन तो शानदार था ही, परन्तु उनका बलिदान भी कुछ कम न था। जैसे सुकरात, ईसा और दयानन्द जैसे समाज-सुधारकों को विष खाना और शूली पर चढ़ना पड़ा, वैसे ही स्वामी जी को गोली का शिकार होना पड़ा। ऐसे महान् आतमा के श्री चरणों में हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। ●

महात्मा मुंशीराम के दर्शन

—श्री अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
संसदि वाक् पटुता युधि च विक्रम ।
यशसि चाभिरुचि व्यसनं श्रुतौ
प्रकृति सिद्धमिदं हि महात्मनाम् ।।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारत के तीन विख्यात व्यक्ति थे—दादा भाई नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले और महात्मा मुंशीराम । दानापुर आर्यसमाज उन दिनों बिहार के समाज-सुधार-आंदोलन का गढ़ था । ऋषि दयानन्द कलकत्ता जाते हुए रास्ते में आरा और दानापुर कोट में ठहरे थे । इन दोनों स्थानों में आर्य जाति के अभ्युदय के लिए जो संस्थाएं स्थापित हुई थीं, वे ही बाद में आर्यसमाज में परिवर्तित हो गईं । इसके प्रधान मा० जनकधारीलाल थे । आपने ऋषि से योग की दीक्षा ली थी और योगाभ्यास में कठिनाई होने पर वे ऋषि से मिलते थे । सन् १८७५ में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना के समय आप बम्बई में ऋषि के पास थे । उनको सूचना मिली कि महात्मा मुंशीराम जी पंजाब मेल से कलकत्ता जा रहे हैं । दानापुर स्टेशन पर गाड़ी रात तीन बजे आती थी । आर्यसमाज के सदस्य महात्मा जी के दर्शन और स्वागत के लिए स्टेशन जाने वाले लोगों के नाम लिख रहे थे । स्टेशन जाने वालों में मेरे पूज्य पिता श्री शिव भगवान सिंह भी थे । मैं उनके साथ कोठे पर सोता था । मुझे अकेला छोड़ वे स्टेशन चले गये । 'महात्मा मुंशीराम' का नाम मैंने तभी जाना था । दर्शन का सौभाग्य तो कई वर्ष बाद मिला ।

गुरुकुल में नये बालकों का प्रवेश वार्षिकोत्सव से लगभग एक मास पहले होता था । इनके ठहरने के लिए झोंपड़ियां बनाई जाती थीं । यह भी एक छोटा मेला था । उन दिनों गुरुकुल में प्रवेश के लिए बहुत बड़ी संख्या में बच्चे आते थे । चुने जाते थे केवल २०–२५ । मैं भी अपने पिता के साथ उत्सव देखने गया था । मैं एक दिन पिताजी की आँख बचाकर गुरुकुल देखने चल पड़ा । टिनशेड से परे झोंपड़ियां बनी थीं । खेलने के मैदानों को पार करने पर मुझे महाविद्यालय की इमारत मिली । महात्मा जी की खोज में यहाँ तक आया था, पर जब वे कहीं नहीं दिखाई दिये तो वापस लौटने लगा । उसी समय किसी ने बताया कि महात्मा जी सामने के बंगले में रहते हैं । मैं उसी ओर चल दिया । बंगले पर पहुंचने पर बिना किसी झिझक के उसमें घुस गया । बंगले के खुले आंगन में चार-पाँच आदमियों से घिरे महात्मा जी हाथ में ऊंचा दण्ड लिये खड़े थे । सिर नंगा था, कंधे पर पीला दुपट्टा अजीब ढंग से

बांध रखा था। दुबले-पतले मुझ बालक को बेधड़क अंदर आया देख सब लोग चकित थे। एक साथ अनेक ने पूछा—क्यों आये हो, कैसे आये हो, क्या चाहिए ? मैंने जबाब दिया—"महात्मा जी के दर्शन करने हैं।" महात्मा जी मुस्कराये। वे समझ गये कि मेरी कल्पना के वे महात्मा नहीं हैं। यद्यपि उनकी दाढ़ी थी, पर शरीर पर भभूत नहीं था। किसी ने इशारे से बताया कि महात्मा जी बीच में खड़े हैं। मैं दौड़ा और उनके पैरों में अपना सिर झुका दिया। उत्सुकता शांत हुई। यह महात्मा देश के वैरागी महात्माओं से भिन्न था, शाही महात्मा था।

महात्मा जी का जीवनोद्देश्य क्या था और गुरुकुल की स्थापना का उद्देश्य क्या था, यह महात्मा जी द्वारा संपादित मनुस्मृति के आवरण-पृष्ठ के पृष्ठ ३ पर तीन श्लोकों में दिया है। यह है—विश्व-विश्रुत, विश्व विजयी आर्यजाति का पुनर्जनन, पुनरभ्युदय, पुनरुत्थान। इसके लिए तपोवनों और ब्रह्मचर्य का प्रचार-प्रसार तथा वेद की शिक्षा का अनुसरण एवं पालन। वेद कहता है—'मह्यं नमन्तां प्रदिशः चतस्रः'। इस दृष्टि से कुल-वन्दना एवं कुलगीत की ये पंक्तियां विशेष महत्त्व की है :

१. बादल गर्ज रहे हैं छाने को है अंधेरा।
बत्ती बन जलेंगे तेरे सपूत माता॥
२. आदित्य ब्रह्मचारी ज्योति जगा गया है।
अनुरूप पुत्र उसका यह कुल हो सदा हमारा॥

महात्मा मुंशीराम आर्य थे। इस कारण उनका पथ स्वस्ति पथ, स्वतन्त्रता का पथ था। राष्ट्र निर्माण ही उनका ध्येय था। इसका कारखाना था 'गुरुकुल'। बड़े छात्र तीरंदाजी करते थे। छोटे छात्र भी पीछे नहीं थे, उनके धनुष बांस के और बाण सरकंडे के होते थे। महात्मा जी मानते थे—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। इसी के लिए वे प्रयत्नशील रहते थे और ब्रह्मचारियों में भी यही भावना भरना चाहते थे।

महात्मा जी प्रतिदिन शाम को डंडा लेकर और पैरों में पंजाबी जूती पहन कर पूरे गुरुकुल का निरीक्षण करते थे। पहले वे भण्डार जाते और वहाँ से गुरुकुल की 'वर्कशाप' में पहुंचते। वर्कशाप में दो सिख तरखान-बढ़ई थे, दो लोहार थे। दोनों सिख महात्मा जी के गांव के थे। खड़ाऊं यहीं बनती थीं। गुरुकुल आत्मनिर्भर था।

वर्कशाप से निकल कर वे खेल के मैदान में आते, छात्रों का खेल देखते। सभी ब्रह्मचारियों को खेल में भाग लेना होता था। तीन खेल शाम को खेले जाते थे—हॉकी, फुटबाल और क्रिकेट। जो ब्रह्मचारी बीमार या जख्मी होते थे उन्हें ही खेल से छूट दी जाती थी। महात्मा जी इन सभी ब्रह्मचारियों से हालचाल पूछते और खेलने वालों को उत्साहित करते थे। यहाँ से वे वाटिका पार कर महाविद्यालय के छात्रों के क्रीड़ास्थल की ओर जाते थे। इनका खेल देखकर झण्डे की तरफ निकल

जाते । इसके बाद परिवार-गृहों के अहाते में जाते । वहाँ अन्य लोगों के साथ-साथ राजमोहम्मद का कुशल-क्षेम पूछना नहीं भूलते । वह महात्मा जी का इतना भक्त था कि अपनी संतान का नामकरण उसने उन्हीं से कराया था ।

एक बार की बात है कि खेल के समय हम छोटे बच्चे बहुत छोटी घास के छोटे पत्ते और मकोय खा रहे थे । महात्मा जी राउन्ड पर थे । उन्होंने हमें देखा तो आकर हमारे सामने खड़े हो गये । हम सबने प्रणाम किया । उन्होंने पूछा कि तुम लोग क्या खा रहे हो । हमने घास तोड़ कर महात्मा जी के हाथों में रख दी । उन्होंने उसे अच्छी तरह जाँचा-परखा और यह मानकर आगे बढ़ गये कि हम लोग कोई अनिष्टकर चीज नहीं खा रहे हैं ।

× × ×

महात्मा जी अखाड़िया रहे थे, इसलिए उन्हें कुश्ती का बहुत शौक था । गर्मियों में बाग में अखाड़े खुद जाते थे । हमारी श्रेणी का अखाड़ा स्नानागार के पास का बाड़ा था । हमें महात्मा जी के वाटिका में आने का पता चल जाता तो हम किसी साथी से कुश्ती करने की तय्यारी करने लगते या शरीर पर अखाड़े की मिट्टी मलने लगते थे । महात्मा जी यह देख प्रसन्न हो आगे बढ़ जाते थे ।

× × ×

महात्मा जी की कोशिश रहती थी कि नये प्रविष्ट हुए बालक अपने माता-पिता को याद कर दुःखी न हों । अतः वे रात को उनके सोने से पूर्व आश्रम में उनके कमरे में आ जाते थे । उनको कहानी सुनाते और उनसे कहानी सुनते । मैंने एक बार उन्हें धर्मबुद्धि-पापबुद्धि की कहानी सुनाई थी ।

× × ×

जब तक आचार्यप्रवर गुरुकुल में रहे तब तक गुरुकुल में डबलरोटी और बिस्कुट कभी भी नहीं आये । ये चीजें पहली बार गुरुकुल में तब आईं जब महात्मा गांधी अपने दल के साथ गुरुकुल की रजत जयन्ती पर वहाँ आये थे, क्योंकि वे लोग प्रातराश में दूध के साथ परोंठा लेने को तैयार नहीं थे और इन्हें मठरी की अपेक्षा बिस्कुट अधिक रुचते थे । महात्मा मुंशीराम जी ने तो अपने समय में वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड और लेफ्टिनेंट गवर्नर को तुलसी की चाय, मठरी, पेड़ा, पकौड़े आदि खिलाये थे ।

× × ×

एक बार फ्लू का प्रकोप हुआ । स्वामी श्रद्धानन्द जी ने चिकित्सक का कार्य किया । डॉ० शौकतराय को भी फ्लू हो गया था । स्वामी जी तुलसी को रोग-निरोधक मानते थे । अतः सबको तुलसी की चाय दी गई । स्वामी जी ने सबकी देखरेख और सेवा की ।

× × ×

संन्यास लेने के बाद स्वामी जी जब कभी गुरुकुल में होते तो उनका साप्ता-

हिक उपदेश होता था। एक बार वे पायोनीयर अखबार लेकर आये। अमेरिका के लुइरो विलसन के स्वभाग्य-निर्णय और सेल्फ-डिटरमिनेशन की घोषणा पढ़ कर सुनाई। उस दिन सारा उपदेश इसी विषय पर हुआ। साप्ताहिक अधिवेशन में छोटे बड़े सभी छात्र और उपाध्याय-प्राध्यापक सम्मिलित होते थे। बड़े छात्र आगे और छोटे छात्र पीछे बिठाये जाते थे। यह अधिवेशन यज्ञशाला में होता था।

× ×

मुझ से ६-७ वर्ष ऊपर के एक पराक्रमी छात्र महेन्द्र ने हॉकी से शेर को मार गिराया, पर शेर गिरते-गिरते भी महेन्द्र की टांग नोच गया। महेन्द्र को चिकित्सा के लिए अस्पताल में प्रविष्ट कराया गया। स्वामी जी उसका मन बहलाने के लिए प्रतिदिन अस्पताल आते। दोपहर को तो कम से कम एक घंटा बैठते थे। छुट्टी के दिन थे। हम लोग भूल जाते थे कि भारत का एक महान् व्यक्ति हमारे सामने बैठा है। मैं भी उस समय रोगी होने के कारण अस्पताल में प्रविष्ट था। अतः मेरी भी पूछ हो जाती थी। इतना सरल एवं वात्सल्यमय था वह आर्य महात्मा।

× × ×

गंगा में बाढ़ आने के कारण गुरुकुल के बह जाने पर सबसे पहले स्वामी श्रद्धानन्द गुरुकुल आये। उस समय गुरुकुल के छात्रों को मायापुर ले आया गया था। स्वामी जी ने कहा कि गुरुकुल को पुनः कांगड़ी ग्राम में ले आया जाये और नाले पर गङ्गा पर बनाये बाँध की तरह का बाँध बना दिया जाये। गुरुकुल को गङ्गा के इस ओर रखने के वे प्रबल विरोधी थे। ऐसा करने को वे पराजय का मार्ग मानते थे। परन्तु उनके विरोधियों ने इसी मार्ग को चुना और गुरुकुल कांगड़ी ग्राम में नहीं गया।

महात्मा जी ने कांगड़ी ग्राम को गुरुकुल की स्थापना के लिए इस कारण नहीं चुना था कि गांव दान में मिल गया, वरन् इसलिए चुना था क्योंकि ऋषि दयानन्द पहली बार कुम्भ पर आने के समय चण्डी के मंदिर में ठहरे थे। यहाँ सन् १८५७ के संग्राम की योजनाएँ बनती थीं। ऋषि प्रातः चण्डी से उतर कर गङ्गा तट पर संध्योपासना, योगाभ्यास आदि के लिए इधर आते थे। ऋषि के चरणों से यह भूमि पवित्र हो चुकी थी।

× × ×

बाढ़ के बाद गुरुकुल का पहला वार्षिकोत्सव मायापुर वाटिका में हुआ था। आर्य संन्यासी स्वामी श्रद्धानन्द को लेने स्टेशन जो लोग गये थे उनमें मैं भी था। स्वामी जी ने तांगा नहीं किया, पैदल ही चले। स्टेशन पर जब मैं प्रणाम करने के लिए झुका तो जेब से रुपये गिर पड़े। इससे पहले कि स्वामी जी कुछ कहें, मेरे साथी ने बता दिया कि ये स्वागत समिति के मंत्री हैं और ये पैसे अतिथियों के लिए सवारी की व्यवस्था करने के लिए हैं।" स्वामी जी यह देखकर आश्वस्त हुए कि उनके समय का नियम पाला जा रहा है। वे बोले—"बटुआ ले लो और उसे अन्दर

की जेब में रखो। यह आचार्यप्रवर का उपदेश था। इसे जब-जब नहीं माना, हानि उठानी पड़ी।

× × ×

स्वामी जी नई दिल्ली में नया बाजार में रहते थे। मैं सन् १९२६ में दिल्ली पहली बार गया था। आज का 'बलिदान भवन' गुरुकुल वालों के लिए धर्मशाला था। स्वामी जी का कमरा अलग था। पाचक धर्मसिंह और निजी सचिव धर्मपाल जी विद्यालंकार अलग-अलग कमरों में रहते थे। एक खाली कमरा अतिथिगृह का काम करता था। गुरुकुल से आने वाले व्यक्ति इन्द्रप्रस्थ गुरुकुल भी जाते थे। नया बाजार में उन दिनों एक स्टेशन भी था, जहाँ से तुगलकाबाद गाड़ी जाती थी। मैं जब दिल्ली गया तो स्वामी जी वहाँ नहीं थे। जिस दिन वे दिल्ली लौटे उस दिन श्री धर्मपाल जी के साथ मैं भी स्टेशन गया। प्रणाम किया। जीवित स्वामी के चरणों में यह मेरा अंतिम प्रणाम था। इसके बाद तो इस महापुरुष के दर्शन अमरहुतात्मा होने के बाद ही किये। ❁

स्वामी श्रद्धानन्द जी के समय का गुरुकुल

—डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार

सन् १९०२ में महात्मा मुंशीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द) ने कांगड़ी ग्राम में गुरुकुल की स्थापना की थी। अप्रैल, १९१७ में उन्होंने संन्यास आश्रम में प्रवेश किया और मुंशीराम से श्रद्धानन्द बन गये। पूरे पन्द्रह साल उन्होंने मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य की स्थिति में गुरुकुल कांगड़ी का संचालन किया। बाद में भी सवा साल के लगभग (फरवरी, १९२० से जून १९२१ तक) वे गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता रहे। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में गुरुकुल के संचालन में जो महानुभाव महात्मा मुंशीराम जी (या स्वामी श्रद्धानन्द जी) के सहयोगी थे, उनमें शायद ही कोई इस समय जीवित हो। पर कुछ ऐसे व्यक्ति इस समय भी अवश्य विद्यमान हैं, जिन्हें उनके शिष्य होने तथा उनकी छत्रछाया में रह कर विद्याभ्यास करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। ऐसे भाग्यशाली व्यक्तियों में मैं भी एक हूँ। मैं सन् १९१० के प्रारम्भ में गुरुकुल कांगड़ी में प्रविष्ट हुआ था और चौदह वर्ष गुरुकुल के छात्रावास में नियम पूर्वक अनुशासित जीवन बिताकर सन् १९२४ में स्नातक हुआ था। यह वही समय था, जब स्वामी श्रद्धानन्द जी गुरुकुल के संचालक थे, उसके प्रधान पदाधिकारी थे, और यदि कुछ समय के लिए वे किसी पद पर नहीं भी थे, तो भी इस संस्था का संचालन प्रधानतया उन्हीं के विचारों व आदर्शों के अनुसार हुआ करता था। स्वामी श्रद्धानन्द जी के समय के गुरुकुल कांगड़ी का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में वही व्यक्ति प्रामाणिक रूप से कुछ कह सकते हैं, जिनका उस समय अध्यापक, कर्मचारी या विद्यार्थी की स्थिति में गुरुकुल के साथ घनिष्ठ संपर्क था।

सन् १९१७ में संन्यास आश्रम में प्रवेश कर जब स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल कांगड़ी से विदा ली थी, गुरुकुल की इमारतें प्रायः कच्ची थीं। विद्यालय विभाग के ब्रह्मचारियों के निवास के लिए जो आश्रम था उसकी दीवारें कच्ची ईंटों की बनी हुई थीं और उन पर टीन की छत थी। यही दशा विद्यालय विभाग के पढ़ाई के कमरों, भोजन भंडार, चिकित्सालय और यज्ञशाला की भी थी। महाविद्यालय विभाग के ब्रह्मचारियों के निवास के लिए जो आश्रम था उसकी छत फूँस की थी। गुरुकुल के प्राध्यापक, शिक्षक व अन्य विविध कर्मचारी भी कच्चे मकानों में ही रहा करते थे। महात्मा मुंशीराम जी बंगले पर भी फूँस की छत थी, और उसकी दीवारें कच्ची ईंटों की थीं। सन् १९०८ में महाविद्यालय विभाग की पढ़ाई के लिए पक्के भवन बनने प्रारम्भ हो गए थे और कुछ वर्ष बाद पुस्तकालय तथा विज्ञान की प्रयोगशाला की इमारतें भी तैयार हो गयी थीं। पर उस समय गुरुकुल की इमारतों में ऐसा कुछ भी नहीं था जिसके लिए दर्शक आकर्षण अनुभव करें। वे बहुत ही

सादी और कामचलाऊ थीं। गुरुकुल कांगड़ी जाने-आने का मार्ग भी बहुत विकट था। गुरुकुल का निकटतम रेलवे स्टेशन हरिद्वार था। गङ्गा पर पुल भी नहीं था। कनखल के दक्ष के मन्दिर से गुरुकुल का मार्ग गङ्गा के चौड़े पाट से होकर जाता था। यह मार्ग रेत और पत्थरों से परिपूर्ण था और गङ्गा की धाराओं पर २-३ बड़े-छोटे कच्चे पुलों पर से होकर गुजरता था। गर्मियाँ शुरू होने पर जब गङ्गा में पानी बढ़ जाता था तो ये पुल टूट जाते थे और गुरुकुल आने-जाने का एकमात्र साधन वे तमेड़ें ही रह जाती थीं जिन्हें तेल के कनस्तरों को कांस की खपच्चियों से बाँध कर बनाया जाता था। एक तमेड़ पर तीन से अधिक आदमी नहीं बैठ सकते थे। साल में सात मास के लगभग इन तमेड़ों द्वारा ही गुरुकुल जा-आ सकते थे। जिन महीनों न गङ्गा पर कच्चे पुल भी बने होते थे, घोड़ा, ताँगा तक के लिए कनखल से गुरुकुल जा सकना संभव नहीं होता था। मोटर गाड़ियों का तो वहाँ प्रश्न ही नहीं था। बैल ताँगों द्वारा ही नर-नारी गुरुकुल की यात्रा कर सकते थे और सामान ले जाने के लिए भी उन्हीं का उपयोग किया जाता था। यात्रा की इतनी सुविधा व कठिनाई के होते हुए भी हजारों दर्शक प्रतिवर्ष गुरुकुल देखने के लिए आया करते थे और उसके वार्षिकोत्सव ने तो आर्यसमाज के सबसे बड़े पर्व व मेले की स्थिति प्राप्त कर ली थी। गुरुकुल का प्रथम वार्षिकोत्सव सन् १९०३ के मार्च मास में हुआ था। उसमें भी ४००० के लगभग नर-नारी भारत के विभिन्न प्रदेशों से सम्मिलित हुए थे। बाद में इस संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई। सन् १९१६ में गुरुकुल का जो वार्षिकोत्सव हुआ था उसमें सम्मिलित होने वाले नर-नारियों की संख्या ५० हजार के लगभग थी। इन सब के निवास की निःशुल्क व्यवस्था गुरुकुल द्वारा ही की गई थी और उनके माल-असबाव व जीवन की सुरक्षा के लिए पुलिस से किसी भी प्रकार की सहायता प्राप्त नहीं की गयी थी। केवल आर्य जनता ही नहीं, अपितु प्रसिद्ध विद्वान् शिक्षा-शास्त्री, राजकीय नेता और राज्य पदाधिकारी भी गुरुकुल के प्रति आकर्षण अनुभव करते थे—उसकी इमारतों के प्रति नहीं, अपितु उसकी विशिष्ट शिक्षा प्रणाली तथा रहन-सहन के विशिष्ट प्रकार के प्रति। उस समय शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रगतिशील व क्रान्तिकारी पग था, ब्रिटिश सरकार द्वारा चलायी गई शिक्षा पद्धति का बहिष्कार कर गुरुकुल के संचालकों ने एक ऐसा मार्ग अपनाया था, जो भारत की प्राचीन परम्पराओं तथा नैतिक आदर्शों के अनुरूप था और जिस के द्वारा सच्चे भारतीय तैयार किये जा सकते थे। ऐसी संस्था के प्रति यदि उस समय के सभी विद्वान् व शिक्षाविद विशेष आकर्षण अनुभव करें, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात थी। यही कारण है कि आने-जाने के कष्टों की कोई भी परवाह न करके डा० भगवानदास और मेजर बी० डी० बसु जैसे विद्वान्, श्री सैडलर व आशुतोष मुकर्जी जैसे शिक्षाशास्त्री, श्री श्रीनिवास शास्त्री, पण्डित मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, पंडित मोतीलाल नेहरू और डॉ० अन्सारी जैसे राजनेता तथा श्री जमनालाल बजाज व बिड़ला जी जैसे सम्भ्रान्त धनी

महानुभाव गुरुकुल पधारते रहे। ग्रेट ब्रिटेन की लेबर पार्टी के नेता (जो बाद में ब्रिटेन के प्रधान मंत्री भी बने) मि० रामजे मेकडानल्ड तमेड़ पर बैठकर गुरुकुल गए थे और मि० सी० एफ० एन्ड्रूज व मि० पियर्सन जैसे गम्भीर अंग्रेज विद्वान् व समाजसेवी व्यक्ति बार-बार गुरुकुल आया करते थे और वहाँ के अध्यापकों के समान धोती पहन कर व पीला दुपट्टा ओढ कर वहाँ रहा करते थे। संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के राज्यपाल सर जेम्स मेस्टन अनेक बार गुरुकुल आये थे, और अक्टूबर १९१६ में भारत के गवर्नर-जनरल एवं वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने भी दल-बल के साथ गुरुकुल की यात्रा की थी। इन विदेशी व विधर्मी यात्रियों के आतिथ्य में गुरुकुल ने कभी अपनी परिपाटी व विशेषताओं का परित्याग नहीं किया। आज के वातावरण में क्या कोई विश्वास करेगा कि लार्ड चेम्सफोर्ड का स्वागत व अभिनंदन संस्कृत श्लोकों से किया गया था और उनके आतिथ्य के लिए जिस टी पार्टी का आयोजन हुआ था, उसमें तुलसी की चाय तथा पकौड़े प्रयुक्त किये गये थे। अपने धर्म, संस्कृति, परम्पराओं तथा आदर्शों के प्रति अगाध आस्था के कारण ही गुरुकुल कांगड़ी देश-विदेश के लोगों के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ था। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में गुरुकुल भारत में उत्पन्न हो रही नयी जागृति का तथा नवयुग के सूत्रपात का प्रतीक था, इसीलिए लोग उसे आदर की दृष्टि से देखते थे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा के सम्बन्ध में जिन मंतव्यों का प्रतिपादन किया था, स्वामी श्रद्धानन्द जी के गुरुकुल में उन्हीं को क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया जा रहा था। तब छह से आठ वर्ष की आयु के बालक गुरुकुल में प्रविष्ट किये जाते थे। सब विद्यार्थी एक जैसे वस्त्र पहनते थे, एक जैसा भोजन करते थे। सबका रहन-सहन और खान-पान एक सदृश हुआ करता था। जात पात, अमीर-गरीब और ऊँच-नीच का कोई भी भेद विद्यार्थियों में नहीं होता था। कोई यह जानता ही नहीं था कि वह किस जाति या कुल में उत्पन्न हुआ है और उसके माता-पिता की सामाजिक व आर्थिक स्थिति क्या है। प्राध्यापक, शिक्षक व अन्य कर्मचारी भी अपने नाम के साथ जाति नहीं लगाते थे। सब अध्यापक पण्डित जी होते थे, जाति से वे चाहे कायस्थ या वैश्य ही क्यों न हों। छूत-अछूत का भेद तो गुरुकुल में था ही नहीं। जिन्हें आजकल "हरिजन" कहा जाता है, उन जातियों के व्यक्ति भी भोजन पकाने व चिकित्सालय में औषधि देने के लिए नियुक्त थे और किसी को भी अछूत नहीं समझा जाता था। गुरुकुल के सब विद्यार्थी (ब्रह्मचारी) छात्रावास (आश्रम) में निवास करते थे। केवल पढ़ाई के लिए आने वाले विद्यार्थी (डे स्कालर) गुरुकुल में होते ही नहीं थे। छह से आठ वर्ष तक की आयु के जो बालक गुरुकुल में प्रविष्ट हो जाते थे, बाह्य संसार से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। वे छुट्टियों में भी घर नहीं जा सकते थे। माता-पिता या अन्य पारिवारिक जन साल में एक-दो बार से अधिक अपने बालकों से नहीं मिल सकते थे। उन्हें अपने बालकों से पत्रव्यवहार करने की भी अनुमति नहीं थी। वस्तुतः गुरुकुल ही ब्रह्मचारियों का घर (कुल) होता था और वही

उनका संसार । गुरुकुल ब्रह्मचर्याश्रम में निवास करते हुए उनका जीवन पूर्णतया अनुशासन के अधीन रहता था । उनकी दिनचर्या पूर्ण रूप से नियत व नियंत्रित थी । उनका प्राय: सारा समय विद्याध्ययन तथा शास्त्र चर्चा में व्यतीत होता था । पर उनका जीवन नीरस नहीं था । मनोरंजन व विनोद के अनेकविध साधन उस समय के गुरुकुल में भी विद्यमान थे, फिर भी ये उन साधनों से बहुत भिन्न थे, जिनके द्वारा किशोरवय बालक प्राय: मनोविनोद किया करते हैं । गुरुकुल के विद्यार्थी गङ्गा में दूर-दूर तक तैरा करते, शिवालिक की पहाड़ियों पर चढ़कर विविध प्रकार के फल एकत्र किया करते, स्वयं श्लोक बना कर उनकी अन्त्याक्षरी किया करते, कवि सम्मेलनों और वाद-विवाद प्रतियोगिताओं का आयोजन किया करते, हाथ से लिखी पत्रिकायें निकाला करते थे और प्रदर्शनियाँ लगाया करते थे । खेलों की भी वहाँ समुचित व्यवस्था थी। हॉकी में गुरुकुल की टीम ने अच्छा नाम पैदा किया था। अनेक अखिल भारतीय टूर्नामैन्टों में वह शील्ड तक जीत सकने में समर्थ हुई थी । ब्रह्मचारियों का जीवन बहुत सादा तथा तपोमय था । वे नंगे पैर और नंगे सिर रहा करते थे । मई-जून की कड़कती धूप में भी वे नंगे पैर रहते थे और वर्षाऋतु में भी छतरी का प्रयोग नहीं करते थे। शारीरिक व्यायाम सब के लिए अनिवार्य था । दीर्घावकाश के समय वे जब कुमायूँ, शिमला, काश्मीर आदि की पैदल यात्रा के लिए जाते थे, तब भी नगे पैर ही रहते थे । इसमें वे कष्ट नहीं मानते थे । अश्लील या शृंगार रस की पुस्तकें पढ़ना उनके लिए सर्वथा निषिद्ध था । सिनेमा देखने का तो उन्हें कोई अवसर ही नहीं होता था और टेलीविजन का उस समय आविष्कार नहीं हुआ था । संसार के प्रलोभनों से दूर रहते हुए वे सादा व अनुशासित जीवन बिताया करते थे और उनका सब ध्यान पढ़ाई पर केन्द्रित रहता था । ब्रह्मचर्य-आश्रम शक्ति के संचय के लिए है, मनुष्य को अपनी शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियों तथा क्षमता का विकास इसी आश्रम में करना है, यह विचार गुरुकुल के ब्रह्मचारियों के सम्मुख सदा रहा करता था और वे इसके लिए निरन्तर प्रयत्नशील भी रहते थे । उस समय गुरुकुल की डिग्री को सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं थी । विद्यालंकार या वेदालंकार की सर्विस के लिए कोई भी कीमत नहीं थी । महात्मा मुंशीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द जी) इसीलिए अपने शिष्यों को सदा यह कहते रहते थे कि तुम अपने अन्दर ठोस योग्यता उत्पन्न करने का प्रयत्न करो । यदि तुम वस्तुतः योग्य होगे, तो जीवन के संघर्ष में अवश्य ही सफलता प्राप्त कर लोगे । यद्यपि तुम्हारी डिग्री को बाजार में कोई कीमत नहीं है, पर तुम्हारी योग्यता व विद्वत्ता की उपेक्षा कौन कर सकेगा । क्योंकि गुरुकुल के विद्यार्थी अपना सब समय विद्याध्ययन और योग्यता-प्राप्ति में लगा सकते थे, अत: वहाँ शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा था । गुरुकुल की दसवीं उत्तीर्ण विद्यार्थी की संस्कृत में योग्यता शास्त्री के समकक्ष होती थी और हिन्दी अंग्रेजी, गणित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि सामान्य विषयों में मैट्रिकुलेशन के बराबर । वहाँ के विद्यार्थी प्राच्य और पाश्चात्य तथा प्राचीन और अर्वाचीन ज्ञान-

विज्ञान में समान गति रखते थे। यह गुरुकुल कांगड़ी की शिक्षा की अनुपम विशेषता थी।

स्वामी श्रद्धानन्द जी के समय का गुरुकुल अपने खर्च के लिए सरकारी अनुदान पर निर्भर नहीं था। यदि स्वामी जी चाहते तो गुरुकुल के लिए सरकार से भरपूर आर्थिक सहायता प्राप्त कर सकते थे। सरकार द्वारा इसके लिए संकेत किया भी गया था, पर स्वामी जी अपनी संस्था को सच्चे अर्थों में आत्मनिर्भर, स्वायत्त व स्वतंत्र रखना चाहते थे। किसी भी प्रकार का सरकारी हस्तक्षेप व नियन्त्रण उन्हें स्वीकार्य नहीं था। गुरुकुल की सब आवश्यकताएँ उस समय दान द्वारा पूर्ण हुआ करती थीं। आर्य-जनता इस संस्था में शिक्षा विषयक वैदिक आदर्शों व महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों को क्रियान्वित होते हुए देखती थी, इसीलिए इसे धन देने के लिए सदा तत्पर रहती थी। गुरुकुल कांगड़ी के पास आज जो करोड़ों की सम्पत्ति है, वह जनता के दान द्वारा ही प्राप्त हुई है। स्वामी श्रद्धानन्द जी को जनता ने दिल खोल कर दान दिया और उनके बाद आचार्य रामदेव जी आदि के समय में भी यह सिलसिला जारी रहा। उस समय गुरुकुल और आर्य जनता में घनिष्ठ सम्पर्क था। आर्य नर-नारी उसे अपनी संस्था समझते थे और गुरुकुल भी जनता की अपेक्षाओं और आशाओं को पूर्ण करने की ओर ध्यान दिया करता था। गुरुकुल कांगड़ी का वार्षिकोत्सव जो उस समय आर्यसमाज का सबसे बड़ा मेला बन गया था, उसका कारण यही था कि तब जनता इस संस्था में अपने आदर्शों व विचारों को क्रियान्वित होता हुआ देखा करती थी। उसे गुरुकुल कांगड़ी में प्राचीन आरण्यक आश्रमों और तपोवनों का दृश्य प्रत्यक्ष रूप से दिखायी देता था और इसे देख कर वह आनन्द विभोर हो जाती थी।

स्वामी श्रद्धानन्द जी के समय में गुरुकुल जिस स्थान पर था, वह चारों ओर जंगल से घिरा हुआ था—ऐसे जंगलों में जिनमें जंगली हाथी, रीछ, चीते आदि रहा करते थे और जिनमें डाकुओं के अड्डे भी विद्यमान थे। इनमें ब्रह्मचारियों और कार्यकर्ताओं की रक्षा के लिए स्वामी जी ने कभी पुलिस की सहायता नहीं ली। गुरुकुल के पूर्व की ओर के जंगल में सुलताना डाकू का बड़ा आतंक था। सरकार उससे परेशान थी। जहाँ कहीं उसे डाका डालना होता पहले ही खबर भेज देता था। लोग आत्मरक्षा के लिए पुलिस की सहायता प्राप्त किया करते, पर सुलताना के गिरोह के सम्मुख वे अपने जान-माल की रक्षा करने में असमर्थ रहते। एक बार सुलताना ने गुरुकुल पर डाका डालने का नोटिस दे दिया। बरसात का मौसम था। गुरुकुल भूमि के पूर्व में गङ्गा का जो नाला था, वह भी भर कर चल रहा था। स्वामी जी ने डाकुओं से गुरुकुल की रक्षा के लिए पुलिस की कोई सहायता नहीं ली। उन्होंने ब्रह्मचारियों, अध्यापकों और कर्मचारियों की पार्टियाँ बना कर गुरुकुल के चारों ओर तैनात कर दीं। सबके हाथों में लाठियाँ थीं और प्रत्येक पार्टी के पास चार-चार, पाँच-पाँच मशालें थीं। सुलताना के हमले की आशंका पूर्व की ओर से

विशेष थी, क्योंकि उसका अड्डा उसी तरफ के जंगल में था। वह अपने डाकुओं के साथ डाका डालने के लिए आया, पर जब उसने पचासों मशालों की रोशनी में सैंकड़ों ब्रह्मचारियों और कर्मचारियों को लाठी लिए हुये तैयार देखा तो नाले को पार कर गुरुकुल पर हमला करने का उसका साहस नहीं हुआ और वह वापस लौट गया। सम्भवत: सुलताना डाकू के जीवन में यह पहला अवसर था, जब उसे इस ढंग से परास्त व निराश होकर वापस जाना पड़ा था। डाकुओं के आक्रमण से गुरुकुल की रक्षा करने के लिए स्वामी जी स्वयं हाथ में भाला लेकर चारों ओर घूम रहे थे, जिन्हें इस रूप में देख कर सबमें अनुपम उत्साह का संचार हो रहा था। स्वामी जी का यह अनुपम व्यक्तित्व था जिसके कारण वे एक निर्जन जंगल में गुरुकुल जैसी संस्था को स्थापित करने में समर्थ हुए थे। वहाँ न जाने-आने की सुविधा थी, न भव्य इमारतें थीं और न अनेकविध आवश्यक वस्तुएँ ही वहाँ उपलब्ध थीं, पर उन्होंने अपने अनुपम पुरुषार्थ से सचमुच जंगल में मंगल कर दिया था और अटल विश्वास के कारण वे एक ऐसी शिक्षण संस्था के निर्माण में समर्थ हुए थे, जो प्राचीन भारत के भारद्वाज आश्रम और प्राचीन कम्पूचिया के यशोधराश्रम का स्मरण कराती थी।

स्वामी जी की आत्मनिर्भरता का एक अनुपम उदाहरण उस समय की व्यवस्था है, जो उन्होंने लार्ड चेम्सफोर्ड के गुरुकुल-आगमन के अवसर पर उनकी सुरक्षा के लिए की थी। वे महायुद्ध (१९१४-१८) के दिन थे। अक्टूबर १९१६ में महायुद्ध पूरे जोर पर था और भारत में क्रान्तिकारी लोग पूर्ण रूप से सक्रिय थे। गुरुकुल कांगड़ी सदृश एकान्त स्थान पर क्रान्तिकारी युवक वायसराय की मण्डली पर हमला कर सकते हैं—इसकी पूरी-पूरी आशंका थी। स्वाभाविक रूप से भारत सरकार अपने गवर्नर जनरल की सुरक्षा के लिए चिन्तित थी और यह चाहती थी कि समस्त पुलिस गुरुकुल के परिसर में तैनात कर दी जाए, ताकि सरकार के सर्वोच्च अधिकारियों की सुरक्षा के सम्बन्ध में निश्चिंत हुआ जा सके। पर स्वामी श्रद्धानन्द इसके लिए सहमत नहीं हुए। उनका कहना था कि लार्ड चेम्सफोर्ड गुरुकुल के अतिथि के रूप में पधार रहे हैं और उनकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व गुरुकुल पर है, सरकार पर नहीं। उन्होंने एक भी सिपाही को गुरुकुल के परिसर में नहीं आने दिया और गवर्नर जनरल की सुरक्षा पूर्णतया अपने हाथों ले ली। स्वामी जी के समय के गुरुकुल का यह स्वरूप भी कितना अद्भुत था। उसे न अपने खर्च के लिए सरकार से कोई सहायता लेनी थी और न अपने परिसर की रक्षा के लिए सरकार पर निर्भर रहना था। उस समय का गुरुकुल एक ऐसी स्वायत्त बस्ती के रूप में था जो वास्तविक अर्थों में स्वतंत्र थी और सरकारी प्रभाव से पूर्णतया मुक्त थी।

जिन उच्च आदर्शों व मन्तव्यों को सम्मुख रख कर गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की गई थी, उन्हें क्रियान्वित करने में अनेक कठिनाइयाँ थीं। लोग चिरकाल तक तभी गुरुकुल के प्रति आकृष्ट हो सकते थे और उसमें अपने बालकों को प्रविष्ट कराने के लिए प्रोत्साहित रह सकते थे जब कि [illegible] हो जाने पर उनके सम्मुख

आजीविका की समस्या न रहे। गुरुकुल के स्नातकों के लिए सरकारी सर्विस के द्वार बन्द थे। अन्यत्र भी उनके लिए सर्विस प्राप्त कर सकना कठिन था। स्वामी श्रद्धानन्द जी इस समस्या को भली-भांति अनुभव करते थे। इसीलिए वे गुरुकुल को एक ऐसे स्वतंत्र विश्वविद्यालय के रूप में विकसित करना चाहते थे, जिसमें वेद-शास्त्रों की विद्या के साथ-साथ कृषि, विज्ञान, शिल्प, उद्योग और चिकित्साशास्त्र के अध्यापन की समुचित व्यवस्था हो। उन्हें आशा थी कि वेद शास्त्रों के साथ-साथ इन विषयों की शिक्षा प्राप्त कर जो विद्यार्थी गुरुकुल के स्नातक बनेंगे वे स्वतंत्र व्यवसाय द्वारा आजीविका कमा सकेंगे और वेद वेदाङ्गों के ज्ञाता होने के कारण धर्म और समाज की भी सेवा कर सकेंगे। इसी कारण उन्होंने आयुर्वेद की शिक्षा की गुरुकुल में व्यवस्था भी कर दी थी और उस समय जो विद्यार्थी आयुर्वेद विषय ले कर आयुर्वेदालंकार बनते थे वे सुयोग्य चिकित्सक होने के साथ-साथ संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और वैदिक साहित्य में भी निष्णात होते थे। स्वामी जी आयुर्वेद के समान कृषि, शिल्प आदि की शिक्षा का भी गुरुकुल में सूत्रपात करना चाहते थे, पर इस इच्छा को वे पूर्ण नहीं कर सके। उनके उत्तराधिकारियों ने जिस ढंग से गुरुकुल में आयुर्वेद तथा कृषि की व्यवस्था की, वह स्वामी जी के विचारों के अनुरूप नहीं थी। केवल आयुर्वेद व कृषि में ही नहीं, वरन् अन्य विषयों की शिक्षा एवं जीवनचर्या आदि के सम्बंधों में भी गुरुकुल स्वामी जी के समय के गुरुकुल से निरन्तर दूर हटता गया। पर स्वामी श्रद्धानन्द जी के गुरुकुल का स्मरण करते हुए हमें उसके वास्तविक स्वरूप को अपनी आँखों से ओझल नहीं करना चाहिए।

दिव्य गुणों के आगार

--श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक

स्वामी जी महाराज सार्वदेशिक सभा के जन्मदाताओं में से थे । २७ सितम्बर १९०८ के दिन आर्यसमाज मन्दिर आगरा में हुई प्रांतीय सभाओं के जिन नेताओं की बैठक में सार्वदेशिक सभा .(आर्यावर्तीय सार्वदेशिक आर्य सभा) के निर्माण का निश्चय हुआ था, उसमें श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी (उन दिनों के महात्मा मुंशीराम जिज्ञासु) भी सम्मिलित हुए थे ।

प्रारम्भ में सार्वदेशिक सभा के भाग्य का निर्माण स्वामी जी महाराज के हाथों में रहा । वह वर्षों पर्यन्त उसके प्रधान रहे । सभा की अन्तरंग की सदस्यता तो बलिदान के समय (१९२६) तक बनी रही । श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी मथुरा के समय सभा की बागडोर एक प्रकार से उन्हीं के हाथों में रही । शताब्दी के पश्चात् वह स्वेच्छया प्रधान पद से मुक्त हो गये थे । उनका स्थान महात्मा नारायण स्वामी जी ने ग्रहण किया था ।

१९२५ में स्वामी जी सभा के प्रधान तो न थे परन्तु फिर भी वह एक प्रकार से उसके सर्वेसर्वा थे । सभा विषयक जानकारी और मार्गदर्शन के लिये आर्यजन उन्हीं को कष्ट देते रहते थे । मुझे भी सन् १९२५ में मथुरा शताब्दी के पुण्य अवसर पर उनके दर्शन करने और उसके २-३ महीने बाद सार्वदेशिक सभा में आने पर उनके सीधे सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ।

वह चपरासी से क्लर्क बना

सार्वदेशिक भवन (परेड मैदान दिल्ली) की पहली मंजिल में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग की बैठक होने वाली थी । सन् १९२५ में कार्यालय नीचे की मंजिल में था । सन् १९२७ के शुरू में इसे स्वामी जी के बलिदान के बाद बलिदान भवन नया बाजार में ले जाया गया था, जो सन् १९५८ तक वहीं रहा और इसी वर्ष सभा द्वारा क्रय किए गए वर्तमान भवन (रामलीला मैदान ३/५ महर्षि दयानन्द भवन) में स्थानान्तरित कर दिया गया ।

उस समय सभा के प्रधान महात्मा नारायण स्वामी जी पहली मजिल में विराजमान थे । बैठक से लगभग आधा घण्टा पूर्व स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज आए और दोनों नेताओं में बातचीत होने लगी । सभा के चपरासी की ड्यूटी पहली मंजिल में बैठने की लगी थी । उसे कहा गया था कि वह वहीं बैठा रहे और नीचे कार्यालय में न आए ।

कुछ देर बाद स्वामी श्रद्धानन्द जी ने उसे कहा "नीचे से अपने बाबू को बुला लाओ" । उसने नीचे जाने से इन्कार करते हुए कह दिया "बाबा, मैं नीचे नहीं जा

सकता ।" स्वामी जी ने दो तीन बार जाने के लिए कहा, परन्तु वह तैयार न हुआ । स्वामी जी ने कहा "आवाज देकर बुलाओ ।" उसने ऐसा करने से भी यह कहकर मना कर दिया कि "मुझे शोर मचाने की भी आज्ञा नहीं है ।"

स्वामी जी उसके इस व्यवहार से मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे और नारायण स्वामी जी आग बबूला । अन्त में स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने आवाज देकर हमें बुलाया । जब हम उनके पास गए तो उन्होंने हँसते हुए पूछा "यह चपरासी कहाँ से पकड़ा है, बड़ा आज्ञाकारी है ।" श्री नारायण स्वामी जी ने उसकी धृष्टता की पूरी बात बताकर कहा "इसे सर्विस से हटा दो, बड़ा निकम्मा है ।"

बैठक के बाद जब स्वामी श्रद्धानन्द जी अपने आवास स्थान (वर्तमान बलिदान भवन) को जाने लगे तो उस चपरासी से कहा "तुम मेरे पास आना ।" उसने कानों पर हाथ रखते हुए कह दिया—"ना बाबा, मुझे साधु नहीं बनना है ।"

अगले दिन वह चपरासी सर्विस से पृथक् कर दिया गया । स्वामी जी के प्रबल आग्रह पर वह उनसे मिला । स्वामी जी ने उसे अपने यहाँ नौकरी करने को कहा, पर वह राजी न हुआ ।

लगभग चार-पाँच महीने के बाद एक दिन स्वामी जी हकीम अजमलखां के साथ घोड़ागाड़ी में बैठे कहीं जा रहे थे । जब गाड़ी रॉयल थियेटर (वर्तमान, मोती टॉकिज, जो लालकिले के सामने, आर्यसमाज दीवान हाल दिल्ली के पास है) के पास से गुजरी तब उस चपरासी ने अकस्मात् स्वामी जी को देख लिया । वह दौड़ा-दौड़ा आया और कहा "बाबा, नाटक देखते जाओ, बेताब का 'कृष्ण सुदामा' चल रहा है । मैंने इस थियेटर में गेट-कीपर की नौकरी कर ली है । फ्री पास दूंगा ।" उसका निमन्त्रण पाकर स्वामी जी कहकहा लगाकर हँस पड़े और कुछ ही क्षणों के बाद गम्भीर मुद्रा में बोले, "शिवराम ! तू यहाँ अपनी जिन्दगी क्यों खराब कर रहा है ? पढ़ना चाहे तो प्रबन्ध कर दूँ । नौकरी ही करना चाहे तो किसी दूसरी अच्छी जगह लगवा दूँ ।"

शिवराम ने कहा "महाराज, पढ़ने के लिए मन तो है । पर घर में विधवा माँ के सिवाय दूसरा कोई नहीं है । पढ़ूंगा तो दोनों का पेट कैसे भरेगा ?"

इस घटना के बाद स्वामी जी ने एक स्कूल में उसकी पढ़ाई का प्रबन्ध कर दिया और अपने एक भक्त सेठ से उसकी माता को तीस रुपये महीने की सहायता दिला दी । उसने मैट्रिक पास करके सरकारी नौकरी कर ली और कालान्तर में लोअर डिवीजन क्लर्क बन गया ।

एक दिन चाँदनी चौक में भेंट होने पर उसने स्वामी जी के उपकार की चर्चा करते हुए हमें कहा था—"उन्होंने मुझे जमीन से उठाकर आसमान में चढ़ा दिया है । मैं और मेरी माँ स्वामी जी महाराज और आर्यसमाज के उपकार को जिन्दगी भर नहीं भूलेंगे ।"

योग्यता का पैमाना उपाधियाँ नहीं

सभा के मुख्य लेखक नॉन-मैट्रिक थे। शताब्दी का कार्य करते समय पत्र लिखते हुये मथुरा में उनके हाथ सूज गये थे। यही हाल महात्मा नारायण स्वामी जी के दाहिने हाथ का हुआ था। उन्हीं के अधीन उन्होंने लगभग २ वर्ष काम किया था। उनकी योग्यता और कार्य कुशलता में कोई सन्देह न था परन्तु इस आधार पर कि वह नॉन-मैट्रिक थे, उनकी सेवाएँ समाप्त कर दी गयीं। स्वामी जी ने इस आधार का यह कह कर विरोध किया कि "डिग्रियाँ ही किसी व्यक्ति की योग्यता और कार्य कुशलता का पैमाना नहीं होतीं। हमें देखना यह है कि वह हमारे लिये कितना उपयोगी है।" सभा की सर्विस से अलग हो जाने पर वह बड़े दु:खी और निराश हुये और एक दिन स्वामी जी की सेवा में उपस्थित होकर हृदय की वेदना प्रकट की। स्वामी जी ने उन्हें ६०) रुपये मासिक पर भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा में नियुक्त कर दिया। स्वामी जी की प्रेरणा पर ही उन्होंने न केवल प्राइवेट रूप में मैट्रिक ही, वरन् एम. ए. तक पास कर लिया और शुद्धि सभा तथा दलितोद्धार सभा में काफी समय तक काम कर लेने के पश्चात् दरियागंज स्थित डी. ए. वी. हाईस्कूल में अध्यापक होकर चले गये और वहाँ से ही रिटायर हुये। वह हमारे मित्र थे। स्वामी जी महाराज की कृपा और उनकी प्रेरणा को भावविभोर हो स्मरण किया करते थे। वह सज्जन आजकल दिल्ली में ही वानप्रस्थ का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनका नाम नाथूराम प्रेमी है।

मैं उसे नरक में नहीं ढकेलूँगा

दिल्ली का एक ब्रह्मचारी गुरुकुल कांगड़ी में पढ़ता था। एक दिन स्वामी जी उसके पिता से—जो शहर के एक प्रसिद्ध डाक्टर थे—मिलने उनके घर गये। दैवयोग से ब्रह्मचारी भी घर पर आया हुआ था।

स्वामी जी ने डाक्टर महाशय से पूछा "आप अपने ब्रह्मचारी की पढ़ाई और रहन-सहन से सन्तुष्ट हैं या नहीं ?" डाक्टर ने नाक-भौं चढ़ाकर स्वामी जी से कहा "उसने अब तक 'किन्तु, परन्तु और नमस्ते' तीन शब्द ही सीखे हैं। रहन-सहन की कुछ न पूछिये। दिन भर अकेला बैठे रहना पसन्द करता है। दूसरे भाई जो स्कूलों में पढ़ते हैं, जब ताश, चौसर या कैरम खेलते होते हैं और उसे अपने पास बैठने के लिये कहते हैं तो मना कर देता है। यदि वे थियेटर देखने जाने लगते हैं और उसे अपने साथ ले जाने का आग्रह करते हैं तो मेरे और अपनी माता के कहने पर भी नहीं जाता।"

इस पर स्वामी जी ने कहा 'तब फिर अपने ब्रह्मचारी को गुरुकुल से हटा क्यों नहीं लेते।"

उत्तर में डाक्टर महोदय ने गम्भीर मुद्रा में कहा "स्वामी जी। मैं ऐसा हरगिज नहीं करूँगा। क्या आप समझते हैं कि मैं दूसरे बच्चों के रंग-ढंग से और

जिस वातावरण में वे रहते हैं, उससे दिल से खुश हूँ। नहीं, नहीं, मैं ब्रह्मचारी को हटाने की और उसे नरक में डालने की गलती नहीं करूँगा।"

ब्रह्मचारी को आशीर्वाद देकर स्वामी जी महाराज प्रसन्न मुद्रा में अपने आवास स्थान पर लौट आये।

बड़ों का बड़प्पन

१९२६ के अप्रैल मास में सार्वदेशिक सभा का वार्षिक अधिवेशन हुआ था। उसमें अधिकारियों का निर्वाचन भी होना था। उस समय महात्मा नारायण स्वामी जी सभा के प्रधान थे। इस अधिवेशन में स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज भी एक सदस्य के रूप में उपस्थित थे।

प्रधान के चुनाव के समय श्री ला० नारायणदत्त जी, सभा कोषाध्यक्ष तथा श्री महाशय कृष्ण जी ने खड़े होकर कहा "आप दोनों महानुभावों में से एक को प्रधान पद का भार लेना है। हम आप दोनों को वोटिंग में नहीं लायेंगे। अतः आप दोनों तय कर लें कि किसे प्रधान बनाना है।"

इस पर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने कहा "यह जिम्मेदारी नारायण स्वामी जी को अपने ऊपर लेनी चाहिये। दफ्तर की व्यवस्था और उसका काम मेरी अपेक्षा ये ही अच्छा कर सकते हैं, क्योंकि इन्हें इसका काफी अनुभव है।" तब नारायण स्वामी जी ने कहा "सभा की आर्थिक स्थिति को उन्नत करना कार्यालय की व्यवस्था से भी ज्यादा जरूरी है जिसे मेरी अपेक्षा स्वामी जी ही भलीभाँति कर सकेंगे। कार्यालय की व्यवस्था में मैं बिना प्रधान रहे भी उन्हें सहयोग देता रहूँगा।"

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने कहा—"मैं प्रधान रहे बिना भी आर्थिक स्थिति उन्नत करने में सहयोग देता रहूँगा जैसा कि अब तक करता आ रहा हूँ।" फलतः स्वामी श्रद्धानन्द जी के प्रबल अनुरोध पर नारायण स्वामी जी ने प्रधान पद पर बने रहना स्वीकार कर लिया।

पारस्परिक मतभेद दूर करने का अद्भुत ढंग

यह घटना मई १९२६ की है। उन दिनों सार्वदेशिक सभा के प्रधान महात्मा नारायण जी और मन्त्री डॉ० केशवदेव जी शास्त्री एम. डी. थे। सभा के स्थिर कार्यालय की सार्वदेशिक भवन (परेड ग्राउन्ड) में प्रथम बार व्यवस्था हुई थी जिसका मथुरा शताब्दी के बाद जीर्णोद्धार हुआ और कुछेक नये कमरे बनवाये गये थे। सभा कोषाध्यक्ष श्री नारायणदत्त जी सार्वदेशिक भवन से लगे किराये के एक मकान में रहते थे। यद्यपि स्वामी श्रद्धानन्द जी सभा के प्रधान न थे, तथापि सभा हित के कार्यों में संलग्न रहते और सभा के अधिकारियों को सहयोग देते रहते थे। इसके कुछ समय पूर्व ही वे ७-८ वर्ष तक निरन्तर प्रधान रह कर स्वतः मुक्त हुये थे।

मई के प्रारम्भ में श्रीयुत डॉ० केशवदेव जी शास्त्री यथानियम अपनी अमेरिकन पत्नी के साथ अपने राजपुर (मसूरी-देहरादून के मध्य) स्थित आवास स्थान पर गर्मियाँ व्यतीत करने के लिये चले गये थे और श्री महात्मा नारायण स्वामी

जी रामगढ़ (नैनीताल) स्थित अपने आश्रम में सभा कार्यालय में केवल इन पंक्तियों का लेखक एक चपरासी सहित कार्य करता था। मुख्य-लेखक श्री बाबूराम प्रेमी डाक्टर साहब के साथ राजपुर चले गये थे। अप्रैल १९२५ में इन पंक्तियों के लेखक की कार्यालय में नियुक्ति हुई थी।

उन्हीं दिनों स्वामी श्रद्धानन्द जी ने आर्यमित्र में इस आशय की सूचना छपवा दी कि 'सभा मन्त्री मसूरी शैल पर और सभा प्रधान रामगढ़ शैल पर विराजमान हैं। सभा कार्यालय में एक लेखक मक्खी मारता रहता है। सभा सम्बन्धी कार्यों के लिये लोग मुझे तंग करते रहते हैं।

इस सूचना के छपने पर महात्मा नारायण स्वामी जी का क्षुब्ध हो जाना स्वाभाविक था। उन्होंने स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का ध्यान इस अवैधानिक कार्यवाही की ओर आकृष्ट करते हुये उनसे लिखित वक्तव्य माँगा। इस पत्र की एक प्रति स्वामी जी ने रिकार्ड के लिये सभा कार्यालय में भी भेज दी। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने इसके उत्तर में केवल यह लिख भेजा कि जब वे (नारायण स्वामी) दिल्ली पधारेंगे तो जुबानी बातचीत हो जायेगी।

महात्मा नारायण स्वामी जी लगभग एक मास के बाद दिल्ली पधारे और सार्वदेशिक भवन की प्रथम मंजिल के कमरे में ठहरे।

अगले दिन नारायण स्वामी जी आर्यसमाज चावड़ी बाजार के साप्ताहिक सत्संग में सम्मिलित होने के लिए गए। इन पंक्तियों का लेखक उनके साथ था। बड़शाबुल्ला पर तांगे के पहुँचने पर नई सड़क के मोड़ पर स्वामी श्रद्धानन्द जी का भी तांगा आ गया, उनके साथ उनके सेवक धर्मसिंह थे। दोनों महात्मा एक दूसरे को देखने पर तांगों से उतर गए और एक साथ पैदल चलकर समाज मन्दिर में पहुँचे।

सत्संग की समाप्ति पर श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने हमें बुलाकर कहा कि "स्वामी जी (नारायण स्वामी) मेरे साथ नया बाजार जायेंगे; वहीं मेरे साथ भोजन करेंगे। तुम एक डेढ़ बजे वहाँ आना और स्वामी जी को सार्वदेशिक भवन ले जाना।"

फलतः डेढ़ बजे के आसपास हम स्वामी जी के निवास स्थान (वर्तमान बलिदान भवन) पहुँच गए। उस समय दोनों महात्मा खाना खाने के बाद पास-पास बैठे हुए थे। स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने हमें भी अपने पास बिठा लिया।

कुछ क्षणों के बाद स्वामी श्रद्धानन्द जी बोले "मैंने आर्यमित्र में सूचना छपवाने की गलती की थी, यद्यपि मेरे समक्ष सभा का हित था।" इस पर नारायण स्वामी जी ने मुस्कराते हुए कहा "मैंने भी आपसे जवाब-तलब करने की गलती की थी, यद्यपि मेरे सामने विधि विधान और अनुशासन रक्षा का प्रश्न था।" इस पर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने पूछा कि 'मामला समाप्त समझा जाये या नहीं ?' नारायण स्वामी जी ने उत्तर दिया 'अवश्य और हमेशा के लिए।'

इस मामले के—जिसके सुलझाने में महीनों और वर्षों लग सकते थे—सहज ही सुलझ जाने में जहाँ दोनों महात्माओं के हृदयों की विशालता प्रतिलक्षित हुई थी वहाँ दोनों की आर्यसमाज व सभा की हित भावना और अपने को विधान व अनुशासन के तकाजों से नीचे रखने की तत्परता भी प्रतिलक्षित हुई थी।

आर्थिक शुचिता

एक दिन दोपहर के समय श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज आर्य अनाथालय पटौदी हाऊस दरियागंज से लौटते हुए सभा के सार्वदेशिक भवन (परेड ग्राउन्ड) स्थित कार्यालय में पधारे और 'आर्य पर्व पद्धति' की एक प्रति ले गये, जो मथुरा शताब्दी के अवसर पर अन्यान्य पुस्तकों के साथ शताब्दी-सभा ने छपवाई थी।

उस दिन शाम को सभा पुस्तकाध्यक्ष श्री लाला ज्ञानचंद जी ठेकेदार यथा नियम कार्यालय में आये और दिन भर के पुस्तक-विक्रय-विभाग के काम और हिसाब की जाँच की। पर्व-पद्धति की एक प्रति स्वामी जी के नाम में दिखाई गई थी। लाला जी को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि हमने स्वामी जी से उक्त प्रति की मांग नहीं की थी।

दूसरे दिन सायंकाल के समय स्वामी जी पुनः पधारे और उस प्रति की दस आने कीमत देकर हमसे रसीद मांगी। हमने पैसे लेने से इन्कार करके जब यह कहा कि वह पुस्तक भेंट में डाल दी गई है, तो उन्होंने कुछ आक्रोश के स्वर में कहा 'यह काम ठीक नहीं हुआ। मैंने यह पुस्तक निजी प्रयोग के लिए ली थी। इसकी कीमत सभा में जमा होनी चाहिये।" इस पर भी जब हमने पुस्तकाध्यक्ष जी का आदेश बताकर पैसे लेने में असमर्थता प्रकट की तो वे पैसे मेज पर रख कर जाने के लिये उठ खड़े हुये। हमने विवश होकर कैशमीमो बना कर उन्हें दे दिया।

हृदय की सरलता

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज कांग्रेस के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए सन् १९२५ में कानपुर गये थे। उस अवसर पर श्री स्व० राय ज्वालाप्रसाद जी की देख-रेख में सार्वदेशिक सभा के आर्थिक सहयोग से वैदिक धर्म के प्रचार की व्यवस्था की गई थी। उन दिनों कांग्रेस के हर अधिवेशन के अवसर पर यह व्यवस्था की जाती थी।

कांग्रेस कैम्प के भीतर ही आर्यसमाज का प्रचार-कैम्प लगाया गया था। इसी कैम्प में स्वामी जी महाराज के लिए एक पृथक् डेरा रिजर्व किया गया था।

एक दिन दोपहर के समय स्वामी जी कांग्रेस अध्यक्षा श्रीमती सरोजिनी नायडू तथा गाँधी जी आदि नेताओं से मिलने गए हुए थे। इसी बीच स्वामी जी के एक बंगाली भक्त डेरे पर आये। दो धूर्तों ने उन्हें आता देखकर एक चाल चली। उनमें एक स्वामी जी की गेरुआ चादर ओढ़कर तख्त पर मुँह ढककर लेट गया और दूसरा उनका प्राइवेट सेक्रेटरी बन कर बाहर कुर्सी डाल कर बैठ गया। जब वे बंगाली भद्र पुरुष डेरे पर आये और उन्होंने स्वामी जी से भेंट कराने के लिए कहा

तो उस धूर्त ने कह दिया "स्वामी जी इस समय विश्राम कर रहे हैं, कोई सन्देश हो तो छोड़ जाओ। जगने पर उन्हें दे दिया जायेगा।" इस पर उन भद्र पुरुष ने कहा "मुझे वेद प्रचारार्थ एक सौ रुपया स्वामी जी को भेंट करना था। इक्यावन रुपया मैं मनीआर्डर से उनके पास भेज चुका हूँ, शेष इक्यावन रुपया देने आया हूं। ये रुपये आप रख लें और जगने पर उन्हें दे देवें। मुझे अभी थोड़ी देर में ट्रेन से कलकत्ता जाना है, इसलिए प्रतीक्षा करने का समय नहीं है।" उस धूर्त ने वे रुपये लेकर उन्हें विदा कर दिया।

उस भद्र पुरुष ने कलकत्ता लौटने पर इसकी सूचना पत्र द्वारा स्वामी जी को दे दी। पत्र पाकर स्वामी जी आश्चर्यचकित रह गये, क्योंकि उन्हें वे इक्यावन रुपए प्राप्त ही न हुए थे। फिर भी उन्होंने लिख दिया कि कानपुर में दिये रुपये उन्हें मिल गये हैं।

लगभग एक वर्ष के बाद एक धूर्त दिल्ली आया हुआ था! उसने स्वामी जी से भेंट की। बातचीत में जब स्वामी जी ने कानपुर वाली धोखा-धड़ी की बात उसे बताई तो वह बोला "भगवन्। जिसने आप जैसे महात्मा को धोखा दिया है उसने महापाप किया है जिसकी सज़ा से वह बच न सकेगा।"

स्वामी जी ने कहा, "उसने मुझे नहीं अपने को ही धोखा दिया है। मैंने आर्य-समाज को बदनामी से बचाने के लिए लिख दिया है कि वे रुपये मुझे मिल गये हैं।"

यह सुनना था कि उस धूर्त के हृदय ने पलटा खाया। उसने इक्यावन रुपया स्वामी जी को देकर अपने अपराध की क्षमा मांगी। स्वामी जी को रुपये मिलने की इतनी प्रसन्नता नहीं हुई, जितनी उसके हृदय-परिवर्तन की हुई थी। उन्होंने उसे प्रेमपूर्वक विदा कर दिया।

विलक्षण सूझबूझ

एक दिन एक आर्य प्रचारक स्वामी जी के पास आया और कहा "महाराज! मेरे विवाह को हुए कई वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, पर सन्तान का मुख देखने से वंचित हूँ। एक पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह करना हम लोगों के लिए वर्जित है। यदि आप अनुमति दे दें तो दूसरा विवाह कर लूं। वैसे महात्मा नारायण स्वामी जी की लिखित अनुमति मैंने प्राप्त कर ली है, परन्तु आपकी अनुमति प्राप्त करना भी जरूरी है।"

स्वामी जी ने उसकी पूरी बात सुनकर कहा "यदि नारायण स्वामी जी ने अनुमति दे दी है तो वह काफ़ी है। मेरी अनुमति की खास जरूरत नहीं रह गई है। उसने श्री नारायण स्वामी जी की लिखित अनुमति पढ़ते हुए अपना अनुरोध जारी रखा। इस पर स्वामी जी ने कहा "देखो भाई, मैं वकील रहा हूँ। तुम्हारी और तुम्हारी पत्नी की डाक्टरी जाँच करवाने के बाद ही अनुमति देने या न देने का फैसला करूंगा।"

यह सुनना था कि वे प्रचारक मौन हो गये और बिना आगे कुछ कहे वहाँ से खिसक गए। बाद में पता लगा कि उनके दो बच्चे (एक लड़का व एक लड़की) मौजूद थे।

व्यवसायी प्रचारकों को वापस बुलाया

स्वामी जी को असम में प्रचार की बड़ी चिन्ता रहती थी। वे इस प्रान्त में भी मद्रास प्रान्त की तरह आर्यसमाज को एक शक्तिशाली संगठन के रूप में देखने के लिए उत्सुक और प्रयत्नशील रहते थे। उन्होंने दो संन्यासियों को तैयार करके उस क्षेत्र में प्रचारार्थ भेजा, जो अंग्रेजी के भी अच्छे ज्ञाता और वक्ता थे। परन्तु एक महानुभाव को प्रयाग (इलाहाबाद) से ही वापस बुलाना पड़ गया। वे एकमात्र भोजन-व्यय पर ही वहाँ जा रहे थे, परन्तु दिल्ली से प्रयाग तक पहुँचने का उनका दूध और फलों का बिल बीस रुपये हो गया था। दूसरे महानुभाव का दूध और फलों का एक महीने का बिल दो सौ रुपया तक पहुँच गया था। उन्हें भी वापस बुलाना पड़ा।

स्वामी जी वहाँ मिशनरी भावना से काम करने वाले किसी विद्वान् को भेजने का विचार कर रहे थे कि इसी बीच में २३.१२.१९२६ को उनका बलिदान हो गया।

प्रभावशाली व्यक्तित्व

स्वामी जी महाराज ने ही प्रथम बार मद्रास प्रान्त में सन् १९२३–२४ में सार्वदेशिक सभा की ओर से व्यवस्थित प्रचार की व्यवस्था की थी। उन्होंने प्रथम बैंच के रूप में, प्रो० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार, श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति आदि को—जो गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक थे—वहाँ भेजा था।

एक दिन स्वामी जी मद्रास नगर में एक सार्वजनिक सभा में व्याख्यान देने के लिए खड़े हुए, जिसमें स्कूलों और कालेजों के छात्र, वकील, डॉक्टर, पत्रकार व अन्य अनेक शिक्षित व्यक्ति भी सम्मिलित हुए थे।

स्वामी जी से अंग्रेजी में ही बोलने की प्रार्थना की गई। इस पर उन्होंने कहा "यदि आप लोग मेरी टूटी-फूटी अंग्रेजी को शान्तिपूर्वक सुनने के लिए उद्यत हों तो मैं अंग्रेजी में बोल दूँगा, अन्यथा मैं नहीं बोलूँगा।"

हुआ यह था कि इससे पूर्व श्री आचार्य रामदेव जी ने—जिनका अंग्रेजी लिखने और बोलने पर पूर्ण अधिकार था और जो वैदिक मैगजीन का सफल संपादन करते थे, मद्रास में एक सार्वजनिक मीटिंग में अंग्रेजी में भाषण दिया था और 'स्कूल के बजाये 'सकूल' उच्चारण कर दिया, जिससे छात्रों ने उन्हें आगे बोलने से रोक दिया था। श्रोताओं ने स्वामी जी के अंग्रेजी भाषण को बड़ी शान्ति और शालीनता से सुना और बीच में कहीं भी गलत उच्चारण पकड़ने का छात्रों को अवसर ही नहीं मिला।

श्रोताओं में अनेकों को १० अक्टूबर १९१९ के 'हिन्दू' (मद्रास) में छपी संपादकीय टिप्पणी की स्मृति थी जो इस प्रकार थी :

"पंजाबी जोश शाश्वत और अजेय है। उनकी आहत भावनाओं में (जलियांवाला बागकाण्ड) जीवन-ज्योति जलाने, वीरता की अग्निशिखा को प्रज्वलित रखने, आशा के प्रकाश-स्तम्भ को पुनः स्थापित करने और पंजाब के राजनीतिक जीवन को व्यवस्थित करने के लिए उन्होंने एक नेता की खोज कर ली है और वह है स्वामी श्रद्धानन्द, जिन्होंने भारत माता की वेदी और सत्य पर अपना जीवन न्यौछावर किया हुआ है। यह बात उस रीति-नीति से सुस्पष्ट है जो उन्होंने वेद की शिक्षाओं पर दृढ़ रहने और उनका अनुसरण करने में दर्शायी है।

वेद ही उनका प्रकाश-स्तम्भ और मार्गदर्शक है, जिन्होंने एक बार भारत को सब देशों का सिरमौर बनाया था और जिस काल को हम हर्ष और गर्व के साथ याद करते हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द जी सच्चाई, साहस और स्वतन्त्र निर्णय शक्ति के प्रतीत है। वे बात बनाने वाले नहीं, अपितु काम करने वाले कार्यकर्ता हैं। पब्लिक प्लेटफार्म से भाषण देने, बढ़िया राजनीतिक स्पीच देने या प्रकाशित हुई सम्मतियों से ही वे सन्तुष्ट नहीं रहते।

शिक्षा के क्षेत्र में उनका गुरुकुल (कांगड़ी) उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति का जीता-जागता सबूत है, जिसकी स्थापना और संचालन पर उन्होंने अपना सब कुछ कुर्बान कर दिया था।"

उल्लेखनीय है कि जलियांवाला-कांड के कारण पंजाब में ब्रिटिश आतंक व्याप्त था। उन्हीं दिनों स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन बुलवाया था और स्वागताध्यक्ष के रूप में निर्भीकता पूर्वक उसकी व्यवस्था की और कराई थी।

हिन्दुओं के महान् रक्षक

सभा के कार्यार्थ हम दिल्ली के रीगल बिल्डिंग स्थित इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट के के अधीक्षक के पास गये थे जो बाद में दिल्ली की कचहरी में फर्स्ट क्लास मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए थे।

उन्होंने हमारी चिट को पढ़कर बहुसंख्य भेंट-कर्ताओं में हमें भेंट का प्रथम अवसर दिया। हमारा कार्य हो जाने पर जब हम उनसे विदा लेने लगे तो उन्होंने यह कहकर कि सभा का काम तो मैंने कर दिया है, अब मुझे सभा से अपना काम कराना है, हमें अपने पास कुर्सी पर बिठा लिया।

उन्होंने स्वयं के आर्यसमाज की ओर आकृष्ट होने का कारण बताते हुए कहा "सहारनपुर का निवासी हूँ। जिन दिनों मैं आठवीं श्रेणी में पढ़ता था, उन्हीं दिनों सहारनपुर में भयंकर हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ था, जिसमें हिन्दुओं की जान-माल की बड़ी क्षति हुई थी और हिन्दुओं के मुहल्लों में भय और आतंक छाया हुआ था। दंगों की पहली रात हमें जागते हुए व्यतीत करनी पड़ी थी। पुलिस और ब्रिटिश प्रशासन से हम लोगों को रक्षा की कोई आशा न थी। हम किसी रक्षक की

मनौती कर रहे थे। दूसरे दिन प्रातः जब यह पता लगा कि आर्यसमाजी नेता स्वामी श्रद्धानन्द जी हम लोगों की सुध लेने के लिए शहर में आ गये हैं तो हम सबकी जान में जान आ गई और हमारा मनोबल बढ़ गया। उस समय तक कोई भी हिन्दू नेता हम पीड़ितों की खैर-खबर के लिए सहारनपुर नहीं आया था। स्वामी जी ने हिन्दुओं को दिलासा दिलाई, राज्याधिकारियों तथा कई हिन्दू-मुस्लिम नेताओं से भेंट की और शान्ति-स्थापना में योग देकर दो दिन बाद दिल्ली लौट गये थे।

यही घटना थी जिसने हम कई हिन्दू छात्रों और नागरिकों को आर्यसमाज की ओर आकृष्ट किया। बाद में मैंने मुजफ्फरनगर के डी० ए० वी० हाईस्कूल से मैट्रिक परीक्षा पास की। मेरे पिता जी ने सहर्ष इसकी अनुमति दी थी, यद्यपि हमारा घराना कट्टर सनातनी था।

कालेज के दिनों में आर्यसमाज की मीटिंगों में जाने का मैंने नियम बना लिया था जब मैं सिटी मजिस्ट्रेट और जिला मजिस्ट्रेट के रूप में काम करता था तो शहर में होने वाले आर्यसमाज के उत्सवों आदि में श्रोता के रूप शामिल होता था।

महात्मा नारायण स्वामी जी की उपनिषदों की कथाएँ व प्रवचन प्रायः रात में शान्त वातावरण में हुआ करते थे। उनमें बिना नागा मैं शामिल हुआ करता था।"

इतना कह कर उन्होंने महात्मा नारायण स्वामी जी की उपनिषदों की टीकायें और 'कल्याण मार्ग का पथिक' आदि कई पुस्तकें उनके पास भिजवा देने का निर्देश दिया। हमने ये पुस्तकें उनके पास उपहार स्वरूप भिजवा दीं, परन्तु उन्होंने ऐसा करना स्वीकार न करके हमारे आदमी के हाथ उनका मूल्य भिजवा दिया। ●

महाशूर स्वामी श्रद्धानन्द

—पं० आत्मानन्द विद्यालंकार

मुझे श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का शिष्य रहने और उनका प्रेम एवं वात्सल्य प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। एक बार मेरे तथा अन्य ब्रह्मचारियों के समक्ष अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने एक अद्भुत वाक्य कहा था—"यह जन्म मेरा क्षत्रिय का है।" वे शुद्धात्मा, हृदयप्रधान एवं श्रद्धाप्रधान थे, इसलिये अपनी बात को एक निश्छल भोले बालक की तरह अनेक बार बड़े स्पष्ट शब्दों में कह देते थे। इस महाशूर महात्मा ने इसी स्वभाव के कारण अपनी आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' लिखी है, जिसमें उनके जीवन के प्रथम भाग को पढ़कर हृदय बड़ा उद्विग्न हो जाता है—इसे उनके जीवन का कृष्णपक्ष कह सकते हैं। ज्यों ही ये महात्मा परमहंस परिव्राजकार्य स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के सम्पर्क में आये तब से इनके जीवन का शुक्लपक्ष शुरू हो जाता है और शनैः शनैः विकास करता हुआ उनका जीवन अन्त में पूर्णिमा के चन्द्र की तरह पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाता है।

स्वामी जी के जीवन से सम्बन्धित बहुत से संस्मरण अपने साथी बंधुओं के समान सांझे हैं। उनका पहला गुण 'वात्सल्यमय' होना है। वे हम सभी को अपना पुत्र समझते थे और सम्बोधन भी 'पुत्रो' कह कर करते थे। प्रबन्ध में वे मुख्याधिष्ठाता और आचार्य थे। पर हम बच्चों को मातृ-पितृवत् पालते-पोसते थे। कोई छात्र बीमार हो जाता था तो सूचना पाते ही भागे-भागे आते। आवश्यकता पड़ने पर रोगी का मल-मूत्र आदि उठाने में भी तनिक संकोच नहीं करते थे। रोगी को सब प्रकार से सान्त्वना देते और धैर्य बंधाते थे। यदि कोई ब्रह्मचारी लम्बे समय तक और गम्भीर रूप से बीमार रहता था तो उसकी सेवा के लिये अन्य छात्रों एवं उपाध्यायों की बारी-बारी से ड्यूटी लगा दिया करते थे। बीच-बीच में स्वयं आकर भी रोगी की देखभाल कर जाया करते थे। महात्मा जी के इस स्वभाव ने उनके सहयोगियों और शिष्यों पर अमिट प्रभाव छोड़ा और उनमें से अनेकों ने उनके सेवापरायणता इस गुण को अपने जीवन में अपनाने का भी प्रयास किया है।

स्वामी जी को व्यायाम, तैरना, कुश्ती, घुड़सवारी, वनभ्रमण आदि में विशेष रुची थी और गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को इसमें व्यापृत रखते थे। एक बार की बात है, महात्मा जी खेल के मैदान के बाहर कुर्सी पर बैठे थे। मैं भी उनके पास खड़ा था। यूँ तो वे अनुशासनप्रिय थे, परन्तु विचारविमर्श और ज्ञानचर्चा के दौरान हम ब्रह्मचारियों के साथ खुल कर बात करते थे। उस दिन किसी प्रसंग में मैं कह बैठा कि 'Radical' नहीं होना चाहिये। उन्होंने तत्काल कहा कि 'Radical' तो होना ही चाहिये। प्रसंगवश, यदि हम स्वामी जी के

जीवन का विश्लेषण करें तो हम उनके जीवन में उनकी 'Radical' प्रवृत्ति के अनेक उदाहरण एवं दृष्टान्त पायेंगे, जैसे उनके द्वारा अपनी दुर्बलताओं का परित्याग और तत्काल नये मार्ग को अपनाना, गुरुकुल-प्रणाली की स्थापना एवं विकास, गांधी जी सदृश नेता से मतभेद होने पर उनसे अलग होना, संन्यास लेना, शुद्धि-आन्दोलन की शुरूआत, मुसलमानों के साथ संघर्ष आदि ।

वे अपने शिष्यों एवं सहयोगियों के सुख-दुःख में हर तरह की सहायता देने को तत्पर रहते थे । इस बारे में मेरा अपना अनुभव ही प्रमाण है । मुझे जब-जब एक से अधिक स्थानों पर एक काम छोड़कर दूसरा काम पाने की आवश्यता हुई और मैंने स्वामी जी को पत्र लिखा, तुरन्त ही मुझे सहायक पत्र मिल गया । आश्चर्य होता है उनकी स्मृति शक्ति और वात्सल्य पर कि इतनी अधिक व्यस्तता के बावजूद भी वे मुझ सदृश सामान्य जन को, अपने पुत्र-तुल्य शिष्य को तत्काल उत्तर देते थे और कार्यसिद्धि में सहायक होते थे ।

उनका ईश्वर और प्रार्थना-बल पर अटूट विश्वास था । घने भयंकर महारण्य में बसे हुये, एक ओर पर्वतमाला और दूसरी ओर गंगा एवं उसके नाले से घिरे हुये गुरुकुल को चारों ओर से विपत्तियाँ घेरे हुए थीं, पर इस श्रद्धामय महात्मा को विश्वास था कि ईश्वर की कृपा से उसके गुरुकुल में किसी ब्रह्मचारी की मृत्यु नहीं होगी, हिंसक प्राणियों द्वारा किसी की हत्या नहीं की जायेगी, सर्प आदि विषैले जीव किसी को नुकसान नहीं पहुँचा पायेंगे, मछली की तरह तैरने वाले ब्रह्मचारियों के डूबने की कोई घटना नहीं होगी । परिणामतः उनकी छत्रछाया में सभी ब्रह्मचारी, अध्यापक एवं कर्मचारी चौबीसों घंटे निःशस्त्र और निःशंक रहते थे ।

अपने ब्रह्मचारियों के व्यायाम-पाटव, वाक् पाटव, लेखपाटव और कृतित्व को देख-देख कर वे गद्गद् हो जाते थे । एक बार छात्र विनायकराव—जो बाद में आंध्र प्रदेश के नामी बैरिस्टर के रूप में प्रख्यात हुये—दीपावली की सभा में अपना लेख पढ़ रहे थे । सभापति महात्मा मुंशीराम जी थे । वे अपने शिष्य विनायकराव के भाषण को सुनते जा रहे थे, बीच-बीच में उनके नथुने स्नेह की ऊष्मा से और हर्षातिरेक से फूल रहे थे । सभा के अन्त में गद्गद् हो उसे अपना आशीर्वाद प्रदान किया । इसी प्रकार एक दिन जब मैं महाविद्यालय विभाग में पढ़ रहा था, रात्रि के समय वाग्वर्धिनी सभा में भाषण दे रहा था । महात्मा जी खड़ाऊँ पहने आये, प्रधान की कुर्सी पर आसीन हुये और ध्यानमग्न हुये मेरा भाषण सुनने लगे । अन्त में मेरे भाषण की सराहना कर मेरा उत्साहवर्धन किया ।

हर व्यक्ति के जीवन में कोई न कोई अद्‌भुत प्रसंग आता है । मेरे जीवन में भी पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी के सम्बन्ध में एक विचित्र प्रसंग आया । उन दिनों मैं बड़ौदा रियासत में एक छोटे से कोसीण्डा नामक ग्राम में एक पाठशाला में कार्य करता था । इस पाठशाला को वहाँ के जमींदार चलाते थे, जो अहमदाबाद में [illegible] गुजराती [illegible] श्री [illegible] कुबेर के भक्त

थे । यद्यपि ये सज्जन आधुनिक उच्च शिक्षावान् तो न थे, पर वे श्रद्धावान्, महामति एवं शुद्ध-हृदय थे । वे महात्मा गांधी, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि के कृपापात्र थे । मैं इस पाठशाला से कुछ दिनों की छुट्टी लेकर अपने माता-पिता के पास लाहौर आया था । छुट्टी समाप्त होने पर अपने कार्य-स्थान की ओर चल दिया, पर मार्ग में विचार आया कि परिवार को लाहौर से ले आना चाहिये । इस विचार के आते ही पुनः लाहौर लौट आया । एक बच्चा बीमार हो गया, जिसके ठीक होते-होते २२ दिसम्बर आ गई । मैं दिल्ली पहुँचा । २३ दिसम्बर को मैं अपने निवास-स्थान पर बैठा विश्राम कर रहा था कि मेरे एक सम्बन्धी ने स्वामी जी की हत्या का समाचार सुनाया । मैं तत्काल घटना-स्थल पर पहुँचा । सांयकाल का समय था, वहाँ बहुत भीड़ थी, दूर-दूर से लोग आ रहे थे । मैंने भी मृत्यु-शय्या पर लेटे इस महाशूर के अन्तिम दर्शन किये । उस समय का चित्र आज भी मेरे मानस-पटल पर ज्यों का त्यों अंकित है । रक्त बह जाने से चेहरे पर थोड़ा पीलापन तो आ गया था, पर गम्भीरता एवं शौर्यमयता पूर्ववत् विद्यमान थी । यह मात्र संयोग ही था जो मैं अपने आचार्य प्रवर के अन्तिम दर्शन का भी सौभाग्य प्राप्त कर सका ।

मेरे आचार्यप्रवर

—श्री नारायणदत्त विद्यालंकार

मैं अनाथ बालक दस वर्ष की आयु में श्री पं० ऊधोराम जी आर्योपदेशक के साथ गुरुकुल कांगड़ी पहुँचा । वहाँ प्रवेश हो जाने के बाद कुलपिता महात्मा मुंशीराम जी की कृपा एवं आशीर्वाद से तथा कलकत्ता के श्री सेठ जयनारायण जी की छात्रवृत्ति से मैंने गुरुकुल में ही आद्योपान्त अध्ययन किया और सन् १९२४ में वहाँ का स्नातक बना । स्नातक बनने के बाद मेरे पास जीवन-यापन करने के लिये कोई साधन नहीं था, पर गुरुकुलीय शिक्षा 'साहसे श्री निवसति' के पाठ ने मेरी जीवन-यात्रा को बहुत सुखद बना दिया ।

प्रवेश के लिये गुरुकुल पहुँचते ही उस महान् व्यक्ति के दर्शन हुये जो ६ फुट से भी ऊँचा था । विशालकाय ऋषि-मुनियों की तरह श्मश्रु वाली, पीला दुपट्टा एवं लम्बा चोगा धारण किये हुये, आँखों में तेज व देदीप्यमान चेहरे से युक्त उस दया की मूर्ति को देख कर स्वतः श्रद्धा से मस्तक नत हो जाता था । उनका व्यक्तित्व इतना ऊँचा एवं प्रभावशाली था कि उनके सान्निध्य में रहने वाला व्यक्ति उनके गुणों को अपने अन्दर धारण करने का प्रयत्न करता था । वे एक सदाचार की मूर्ति थे, सादा जीवन उच्च विचार उनका आदर्श था । ऊँच-नीच, छोटे-बड़े सब उनके स्निग्ध व्यक्तित्व की छाया के नीचे समान थे । वे महान् थे । वे प्रेरणा-स्रोत एवं कर्मवीर थें । ऐसे आचार्य महात्मा मुंशीराम जी के शिष्यत्व में बिताये दिनों की कुछ यादें आज भी मानस-पटल पर ज्यों की त्यों अंकित हैं ।

हम चतुर्थ श्रेणी में थे । गंगा की बाढ़ ने गुरुकुल के निकट गंगा के तट को बिल्कुल उजाड़ दिया था । आचार्य जी (उस समय महात्मा मुंशीराम जी) ने महाविद्यालय के छात्रों को प्रेरणा दी कि "अगर आप लोग कुछ दिनों तक अपनी क्रीडाएँ (हॉकी, फुटबॉल, क्रिकेट) आदि को बन्द करके गंगा के किनारे पत्थरों का बाँध-बाँधने में मदद करें तो गुरुकुल का धन बच सकता है और आप सबके परिश्रम से गुरुकुल की शोभा एवं यश भी बढ़ेगा ।" महाविद्यालय के छात्र इस काम में जुट गये । आचार्यवर की उस प्रेरणा का प्रभाव हम पर भी पड़ा । हमने उन्हें प्रार्थनापत्र दिया कि "क्या हम गुरुकुल के अंग नहीं हैं ? यदि हमारे बड़े भाई बड़े-बड़े पत्थर डालेंगे तो हम छोटे-छोटे पत्थर तो डाल ही सकते हैं । अतः हमें भी आज्ञा मिलनी चाहिये ।" महात्मा जी गद्‌गद हो गये । बड़ी प्रसन्नता से हमें आज्ञा दी और कहा कि मैं अपने गुरुकुल में यही कुल-भावना उत्पन्न करना चाहता हूँ ।

गुरुकुल में ऊँच-नीच, जात-पात और छोटे-बड़े का कोई भेदभाव नहीं था ।

वहाँ मानवता उजागर होकर सबके सामने विराजमान थी। ब्रह्मचारियों, अध्यापकों, प्राध्यापकों एवं अन्य कर्मचारियों सभी में यह भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी कि यह हमारा कुल है और हम इसके अग हैं, यह हमारी कुलमाता है, हम इसके पुत्र हैं। महात्मा जी को सभी ब्रह्मचारी अपने पिता के रूप में देखते थे और महात्मा जी सभी से पुत्रवत् स्नेह करते थे। वे रात्रि में बच्चों को देखना, बीमारों को देखना, ब्रह्मचारियों के कष्टों एवं समस्याओं को सुनना और उनका संतोषजनक समाधान करना आदि सभी कार्य करते थे। सोते बच्चों के नीचे गिरे लिहाफों को उठाकर पुनः उढ़ाना, साँप से रक्षा करना, रोगी छात्र का वमन अपने हाथ में लेना आदि प्रसंग उनकी जागरूकता एवं शिष्यवत्सलता के चिरस्मरणीय उदाहरण हैं।

हम आठवीं श्रेणी में थे, जब महात्मा मुंशीराम जी ने संन्यास लिया। उनका संन्यास-ग्रहण-समारोह गुरुकुल कांगड़ी मायापुर की वाटिका में हुआ था। वहाँ उपस्थित जनसमुदाय में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं था, जिसकी आँखों से प्रेमाश्रु न बह रहे हों। स्वामी जी ने कहा—"धैर्य रखिये! अब मेरा क्षेत्र बहुत बढ़ गया है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से मुझे कार्य करना है। संसार मात्र मेरा क्षेत्र है।"

एक बार की घटना है, गुरुकुल के जलसे पर तम्बोटियों में आग लग गई और एक माई का बच्चा जल गया। स्वामी जी स्वयं उस बच्चे को कफन में लपेट कर ले गये तथा माँ एवं समस्त परिवार को सान्त्वना देते रहे। उनके सान्त्वना देने पर माँ बोली—"मेरा कहाँ इतना सौभाग्य जो मेरा बच्चा स्वामी जी के हाथों श्मशान तक लाया गया और उन्हीं के द्वारा दाहसंस्कार किया गया।"

स्वामी जी दिल्ली में निमोनिया से पीड़ित थे। मैं मिलने गया। पूछते हैं—"क्यों नारायण, क्या हाल है, वहीं पानीपत में हो न?" अचम्भा हुआ सुनकर। दसवीं श्रेणी में उनसे पढ़ा था। तब से सैकड़ों छात्र उनके हाथों तले निकल चुके थे। फिर भी इतने वर्षों बाद मुझे मेरे नाम से बुलाना और यह पता होना कि मैं कहाँ हूँ, आश्चर्य था उनकी याददाश्त पर। मैंने अनुभव किया कि उनका यह व्यवहार मेरे साथ ही नहीं, वरन् हर एक स्नातक के साथ था। ●

एक स्मृति

—श्रीमती स्वर्णलता

जीवन में कभी-कभी ऐमी नाटकीय घटनाएँ घट जाती हैं जो मानस-पटल पर अमिट छाप छोड़ जाती हैं। जब से मैंने होश संभाला मैं अपने नाना जी (स्वामी श्रद्धानन्द) को सिर्फ देखती भर रही। उन्हें अच्छी तरह जानने पहचानने का अवसर मुझे कभी नहीं मिला। वह आर्यसमाज और गुरुकुल के कार्यों में अत्यन्त व्यस्त रहते थे। जब वह शहीद हुए उस समय मेरी आयु आठ वर्ष की थी।

मेरे पिता जी वकील थे और मेरे जन्म के समय वह लुधियाना में वकालत करते थे वहाँ वह नगरपालिका के अध्यक्ष भी रहे। वहाँ से जब उनका जी उचाट हो गया तो परिवार को लेकर शिमला चले गये। सन् १९२६ की बात है। मेरी माता जी (श्रीमती वेदकुमारी) बीमार पड़ीं। उन्हें शिमला से दिल्ली लाया गया, विशेष कर इसीलिये कि उनके पिता स्वामी श्रद्धानन्द और उनके भाई प्रो० इन्द्र दिल्ली में थे। २१ दिसम्बर १९२६ को मेरी माता जी का आपरेशन दिल्ली के लेडी हार्डिंग अस्पताल में सफलता से सम्पन्न हुआ। वह इतनी कमजोर हो चुकी थीं कि डाक्टर ने खास हिदायत की थी कि उन्हें किसी तरह का शारीरिक और मानसिक आघात नहीं पहुँचना चाहिए।

लेडी हार्डिंग अस्पताल की काटेज में हमारा सारा परिवार इकट्ठा था— भाई सत्यकाम विद्यालङ्कार, बहन सत्यवती, उषा, दोनों के पति श्री बलभद्र विद्यालङ्कार, श्री अर्जुनदेव विद्यालङ्कार, भाई सत्यपाल, बहन कौशल्या और मैं सबसे छोटी। २३ दिसम्बर की सुबह माँ की तबीयत बहुत ठीक नहीं थी। डाक्टर भी परेशान थी। माँ कुछ भी खाने से इन्कार कर रही थीं, यह कह कर कि मुँह का स्वाद कड़वा लग रहा है। उनके मन में खास उदासी थी। माँ ने पिता जी को कमरे में बुलाकर कहा—"मेरे पिता जी (स्वामी श्रद्धानन्द) की तबीयत खराब थी, दो दिन से उनकी कोई खबर नहीं मिली। आप आज शाम को जाकर उनको देखकर आओ, मेरा मन बहुत उदास है।"

पिता जी ने प्रोग्राम बनाया कि वह हम सब बच्चों को साथ लेकर नाना जी का हाल पूछने उनके निवास स्थान पर जायेंगे और मामा जी (इन्द्र जी) को भी मिल आयेंगे। मैं, पाल भाई और कौशल्या बहन बड़े चाव से तैयार हुये। बचपन में टांगे की सैर का बहुत मजा आता था। हम तीनों बच्चे टांगे में पिछली सीट पर बैठे और पिता जी साईस के साथ आगे। जब मैं इस कागज पर यह पंक्तियाँ लिख रही हूँ, वह सारा दृश्य मेरी आँखों के सामने सजीव हो उठा है। नाना जी उन दिनों नये बाजार में रहते थे, जिसका नाम अब श्रद्धानन्द बाजार है। उनके आवास में नीचे दरवाजे के साथ गुसलखाना था, सीढ़ी से ऊपर चढ़ते ही बाईं ओर नाना जी का

कमरा था, उसमें उनके बैठने के स्थान पर साफ स्वच्छ चादर बिछी होती थी और गाव तकिया लगा हुआ होता था। मैं नाना जी के कमरे में बहुत कम गई होऊँगी, पर अभी तक उसका नक्शा मन पर अंकित है।

लेडी हार्डिंग अस्पताल से नया बाजार काफी दूर है। हम तीनों बच्चे पिछली सीट पर बैठे टाँगे की सैर का मजा ले रहे थे, टाँगा अभी नये बाजार के मोड़ पर ही पहुँचा था कि हमने देखा वहाँ सैंकड़ों उत्तेजित आदमियों का मजमा जमा था। कुछ लोग चिल्लाते हुये हमारी ओर आये—टाँगा रोको, टाँगा रोको, स्वामी श्रद्धानन्द पर गोली चल गई। पिता जी चलते टाँगे से नीचे कूद पड़े और नाना जी के मकान की ओर दौड़े, टाँगे वाले को इशारा किया कि वह हमें हमारे मामा जी यानी प्रो० इन्द्र जी के मकान पर ले जाये, जो उसी बाजार में नजदीक ही था।

चारों ओर अत्यन्त उत्तेजित वातावरण था। कई तरह की अफवाहें उड़ रही थीं कि किस-किस आर्यसमाजी का कत्ल किया जायेगा। पुलिस ने खास कर मामा जी के घर पर कड़ा पहरा लगा दिया था। मामा जी के बच्चे जयन्त, पद्मा और पुष्पा और हम तीनों सहमे-सहमे एक-दूसरे की ओर ताक रहे थे। हमारी समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि चारों ओर यह कैसी आग सी लगी हुई है। इतना याद है कि काफी खुसर-फुसर के बाद मामा जी ने एक खास नुमाइन्दे के साथ हम सब बच्चों को वापस अस्पताल भेज दिया। पिता जी रात को बहुत देर में वापस आये।

स्वामी श्रद्धानन्द गोली से शहीद हो गये, यह खबर सारे शहर में फैल गई। लेडी डाक्टर अंग्रेज थी, उसको भी पता लगा। मेरी माँ की हालत नाजुक थी, सुबह से अन्न का दाना उन्होंने मुँह में नहीं डाला था। डाक्टर ने परिवार के सब सदस्यों को बुलाकर हिदायत की कि तुम्हारी माँ के पिता जी शहीद हो गये, यह खबर कम से कम ४-५ रोज तक उनको हरगिज नहीं मिलनी चाहिये किसी भी सदस्य ने यह खबर दी तो उसके नतीजे की जिम्मेदारी डाक्टर की नहीं होगी।

सुबह से माँ की एक ही रट थी कि पिता जी का क्या हाल है। रात को जब मामा जी के बच्चे भी अस्पताल पहुँच गये तो उनको कुछ शुबह होने लगा। पहले उन्होंने पिता जी को बुलाकर पूछा कि "रात आप बहुत देर में आये, पिता जी कैसे हैं ?" मेरे पिता जी ने कहा—"मैं खुद देख कर आया हूँ, ठीक हैं" और यह कह कर बाहर चले गये।

इस उत्तर से माँ को तसल्ली नहीं हुई, उन्होंने अपने दामाद अर्जुनदेव जी को बुलाया और पूछा स्वामी जी का क्या हाल है ? जीजा जी अपने पर जब्त करके बोले—"पहले से ठीक है।' पर माँ को तो जैसे विश्वास ही नहीं हो रहा था, बोली—"पिता जी ठीक हैं तो यहाँ आप सब पर मुर्दनी क्यों छाई हुई है, तुममें से न कोई हँस रहा है, न बोल रहा है, बात क्या है, बोलो।" अर्जुनदेव जीजा जी आँसू भरी आँखों को दूसरी ओर फेरकर बाहर चले गये। तब माँ ने बलभद्र जीजा जी को

बुलाया और पूछा—"सच-सच बताओ पिता जी का क्या हाल है ? मेरा मन बहुत उदास है।" बलभद्र जीजा जी बहुत सीधे-सादे, सच्चे पुरुष थे, वह मन के भावों को छुपा न सके। धीरे-धीरे सब कुछ बता दिया। माँ धीरज खो बैठीं, रोते-रोते उनकी सुबकियाँ बँध गईं, डाक्टर को बुलाना पड़ा। डाक्टर बहुत नाराज हुई। माँ को इंजक्शन देकर सुलाना पड़ा, पर माँ को शायद पहले ही मन के तार से अपने पिता जी की मृत्यु के बारे में मालूम हो चुका था।

मेरी माँ पर स्वामी जी के संस्कारों का बहुत प्रभाव था। बचपन से ही अपनी माँ को खोकर पिता की छत्रछाया में ही वह पली थीं। माँ बताती थीं कि जब उनके पिता जी ने नया-नया संन्यास लिया था, तो वह बहुत घबरा गई थीं। संन्यास के बाद जब वह पहली बार माँ से मिलने आये और कहा—"वेद कुमारी, एक संन्यासी होकर मैं तुम्हारे घर नहीं ठहर सकता तो वह बहुत उदास हो गई थीं।"

नाना जी का व्यक्तित्व अब भी मेरे सामने आ जाता है। खड़ाऊँ की खट-खट की आवाज, वह निडर चाल, चौड़ी छाती, लम्बा डीलडौल और सुबह-सुबह बच्चों को मीठी सौंफ देना। कहते हैं कि एक सप्ताह बीमारी के बाद उसी दिन उन्होंने सुबह-सुबह खिचड़ी खाई थी, जिस दिन वह अमर हुये। जब उस कातिल ने पानी माँगा, स्वामी जी ने अपने स्वामीभक्त सेवक से कहा पानी ले आओ, इनके लिये। वस्तुत: वे उस कातिल की मंशा समझ गये थे, पर उनके चेहरे पर कोई शिकन नहीं थी, डर नहीं था, वह अपने आपको अर्पण कर चुके थे। ●

स्मृति के झरोखे से

—डॉ० इन्द्रसेन जेतली आयुर्वेदालंकार

स्वामी श्रद्धानन्द जी का जीवन हमें अनेक शिक्षाएँ देता है। उनके वैयक्तिक संस्मरण भी आँखों के आगे हैं। उनके जीवन का परम ध्येय यही था कि सत्य की खोज में सदा तत्पर रहो और जिस सचाई को पा लो उसे क्रियान्वित कर दिखाओ।

मैं जब उनका लिखा हुआ 'कल्याण मार्ग का पथिक' पढ़ता हूँ तो मुझे उसमें से उनके जीवन की एक घटना बहुत प्रभावशाली प्रतीत होती है। वह घटना थी—स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा अपनी धर्मपत्नी को पढ़ने के लिये प्रोत्साहित करना। उसी से प्रभावित होकर मैंने अपनी धर्मपत्नी को पढ़ने के लिये प्रोत्साहित किया। मेरी धर्मपत्नी वर्नेकुलर की आठवीं पास थीं। पर उन्होंने बच्चों का पालन-पोषण करते हुए भी पढ़ाई की और एम० ए० बी० टी० एवं हिन्दी प्रभाकर परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं।

स्वामी जी ने जब यह निश्चय किया कि विज्ञान आदि विषयों की पढ़ाई हिन्दी माध्यम से होनी चाहिये तो उन्होंने अपने इस निश्चय को गुरुकुल में ही क्रियान्वित किया और उसके लिये आवश्यक पुस्तकें आदि तैयार कराने की व्यवस्था की। उनके प्रयासों और प्रेरणा से अनेक पुस्तकें तैयार हुईं और सभी विषय हिन्दी माध्यम से पढ़ाये जाने लगे। उन्होंने अपना सद्धर्म प्रचारक' एक ही रात में उर्दू से हिन्दी में कर दिया।

गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना, शुद्धि आन्दोलन और स्वराज्य-आन्दोलन तो उनके जगत्-विख्यात कार्य हैं। उनके सम्बन्ध में प्रायः सभी को बहुत कुछ पता है। परन्तु हमें उनके उन कृत्यों पर भी ध्यान केन्द्रित करना चाहिये जो देखने में तो मामूली से नजर आते हैं, पर जिनका प्रभाव बहुत स्थायी और बहुत गम्भीर हुआ है।

स्वामी जी को आश्रम-व्यवस्था में पूरा विश्वास था। उन्होंने विधिवत् वानप्रस्थ और संन्यास लिया। प्रथम दो आश्रमों के बारे में उन्होंने 'कल्याण मार्ग का पथिक' की समाप्ति पर स्वयं लिखा है: "वैदिक ब्रह्मचर्याश्रम के साथ मेरा स्पर्श तक न हुआ था। फिर गृहस्थ भी अवैदिक ही रहा।"

वे अपने पुरातन साहित्य का उद्धार करना चाहते थे, इसीलिये उन्होंने गुरुकुल स्थापित करके वेदों के पठन-पाठन आदि का समुचित प्रबन्ध किया। गुरुकुल में उन्होंने सर्वप्रथम अपने दोनों पुत्रों को प्रविष्ट किया और वहाँ का स्नातक बनाया। वस्तुतः उनके मन, वचन और कर्म तीनों में हमेशा सत्यता रहती थी।

गुरुकुल के आचार्य के रूप में वे प्रतिदिन हमें अपने दर्शन देते थे, हमारा

कुशल-क्षेम पूछते थे और मातृ-पितृवत् वात्सल्य प्रदान करते थे। हम उस समय छोटी श्रेणियों में पढ़ते थे। उनका ६ फुट से भी ऊँचा डीलडौल, भव्य चेहरा, प्रभावशाली आँखें आज भी मेरे स्मृतिपटल पर अंकित हैं। वे खड़ाऊँ पहने हुये जब आ रहे होते थे तो हमें उनके आने का पता चल जाता था और हम दौड़ कर उनके पास जाते और उनके चारणों में प्रणाम करते थे। वे प्रति सप्ताह गुरुकुल की यज्ञशाला में सन्ध्या-वन्दन के बाद हम सबको उपदेश दिया करते थे। हम छोटे बालक बड़ी श्रद्धा से उनकी वाणी को सुनते थे, चाहे समझें या न समझें। फिर वह भी समय आया जब वे संन्यास ले चुके थे और संन्यासी श्रद्धानन्द के रूप में कुलभूमि में पधारे। हम सबने उनका हार्दिक स्वागत किया।

मुझे सन् १९१४ का वह दिन स्मरण आ रहा है जब मैं प्रथम श्रेणी में पढ़ता था। उस समय लार्ड चेम्सफोर्ड और लार्ड मैस्टन महात्मा जी और गुरुकुल के दर्शनों के लिए कांगड़ी गुरुकुल आये थे। हमने उनका स्वागत किया था। हम सब महता गेट से बाग तक की सड़क के किनारे खड़े थे। महाविद्यालय के ब्रह्मचारियों ने 'अमलसलिलवीचिक्षालितोपान्तकूले' के श्लोक गाये थे। स्वामी जी (जो उस समय महात्मा मुंशीराम थे) ने वायसराय एवं उत्तर प्रदेश के गवर्नर दोनों को गुरुकुल के सभी विभाग दिखलाये थे। इसके कुछ समय बाद श्री रैम्जे मैकडोनाल्ड भी आये। ये सभी विद्वत्जन गुरुकुल से प्रभावित होकर गये।

मैं उस समय गुरुकुल में पढ़ता था, जब सन् १९१७ में गांधी जी अपने दल के साथ गुरुकुल देखने आये और कई दिनों तक वहीं रहे। कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द जी का भव्य व्यक्तित्व एवं उनकी विचारधारा तथा अफ्रीका-सहायता के लिये ब्रह्मचारियों द्वारा किये गये त्याग की याद ही गांधी जी को गुरुकुल खींच लाई थी।

मैं उस समय भी दिल्ली गया था, जब अब्दुलरशीद की गोलियों ने स्वामी जी का प्राणान्त कर दिया था। उनकी अन्तिम यात्रा में हम सब गुरुकुल के ब्रह्मचारी सम्मिलित हुये थे और हमने 'मरते-मरते भी हमें मरना सिखा कर चल दिये' यह गीत गाया था।

इस प्रकार सन् १९१४ से १९२६ तक विभिन्न रूपों में मुझे उनके सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हमारे दिल और दिमाग पर उनकी इतनी गहरी छाप है कि वह कभी भी मिट नहीं सकती है।

कुलपिता से अन्तिम भेंट

—डॉ॰ धर्मानन्द केसरवानी आयुर्वेदालंकार

श्रद्धेय श्री स्वामी जी महाराज ने जिस गुरुकुल की वनप्रान्तर में स्थापना की और जिसे अपना सर्वस्व देकर सींचा एवं पल्लवित और पुष्पित कर अपने उत्तराधिकारियों के सुपुर्द कर संन्यास आश्रम ग्रहण कर लिया तथा समग्र भारत के विशाल क्षेत्र को धर्म-जाति के उत्थान के लिये चुना और अपने आपको समर्पित कर दिया। परन्तु उस लगाये हुये उद्यान को माली कैसे भूल सकता था? यदा-कदा वे यहाँ पधार कर छात्रों और अध्यापकों को उद्देश्य की पूर्ति के लिये उद्बोधन प्रदान करते रहते थे। गंगा की विमल धारा पर स्थित शान्ति-तरु खटुये के नीचे समाधिस्थ होकर स्वयं में स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करते थे। यह खटुआ वृक्ष, जिसे पश्चिमी भारत में 'सोना' कहते हैं वही महत्व रखता था जैसा बोलपुर शान्ति निकेतन में महर्षि देवेन्द्रनाथ के लिये मौलसिरी का तपस्या-वृक्ष है, अथवा भगवान् बुद्ध का गया में वट वृक्ष है।

बात सन् १९२६ के अक्टूबर मास की है, जब बलिदान होने से दो मास पूर्व वे अन्तिम बार कुलभूमि में पधारे थे। अपने ८—१० दिन के निवासकाल में एक दिन स्वामी जी ने इच्छा प्रकट की कि वे आयुर्वेद महाविद्यालय के छात्रों से मिलना चाहते हैं। तीसरे पहर हम सब छात्र उस खटुये के वृक्ष के नीचे एकत्र हुये। स्वामी जी अपने निवास से बाहर आये और हम सबने चरण-स्पर्श किया। बैठने पर छात्रों से पढ़ाई-लिखाई के बारे में हाल-चाल पूछा और आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना के बारे में अपने उद्गार प्रकट किये। उन्होंने बतलाया कि किस प्रकार बौद्ध-भिक्षुओं ने चिकित्सा में पारंगत होकर तिब्बत, बर्मा, श्रीलंका, चीन, कम्बोडिया और मंगोलिया प्रभृति देशों में आर्य-संस्कृति की वैजयन्ती फहराई थी। गुरुकुल एक सोद्देश्य संस्था है। ज्ञान-विज्ञान प्रसार के साथ ही संसार में वैदिक संस्कृति का विस्तार हो जिससे विश्व 'एकनीड" (यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्) होकर प्रेम से रह सके, यही आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना का हेतु था।

जीविका के प्रश्न को लेकर स्वामी जी महाराज ने काशी के प्रसिद्ध दार्शनिक भारतरत्न बाबू भगवानदास जी से हुए एक वार्तालाप का भी जिक्र किया। बाबू जी ने स्वामी जी से प्रश्न किया कि आपके छात्र स्नातक बनकर क्या करेंगे? इन्हें नौकरियाँ तो मिल न सकेंगी। उत्तर में स्वामी जी ने बाबू भगवानदास जी से ही एक प्रश्न किया कि आप ही बताइये कि अब पढ़े-लिखे कितने प्रतिशत लोगों को नौकरियाँ मिल पाती हैं? तो उत्तर मिला कि ५ से १० प्रतिशत। स्वामी जी ने हँसकर कहा कि जब ९० से ९५ प्रतिशत को नौकरियाँ नहीं मिल पाती हैं तो मेरे

यहाँ शत-प्रतिशत को नहीं मिलेगी। बस यही अन्तर है। इस वार्तालाप को श्री बाबू भगवानदास ने काशी से प्रकाशित होने वाले दैनिक आज में भी प्रस्तुत किया था।

स्वामी जी महाराज ने १९२२–२३ में बर्मा जाकर और वहाँ से प्रचुर धन प्राप्त कर आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना की थी, जिससे गुरुकुल के स्नातक जीविकोपार्जन के साथ देश और जाति की सेवा कर सकें।

इसी वार्तालाप में श्री स्वामी जी महाराज ने सब छात्रों को साहसी बनने का भी उपदेश दिया और प्रेरित किया कि देश-विदेश में जाकर ज्ञानोपार्जन के लिये कुछ साहसिक कार्य भी करें। उन्होंने 'ग्लोबट्रोटर' शब्द (पृथ्वी-पदयात्री) का भी प्रयोग किया तथा पैदल या साईकिल पर चढ़ कर ऐसा करने के लिये अपेक्षा प्रकट की।

पुण्य भूमि एवं महात्मा जी का प्रथम दर्शन

—वैद्य निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार

पुण्यभूमि—अर्थात् वह गुरुकुल कांगड़ी जो गंगा पार के वन-पर्वत और नदी की धारा के संगम पर कभी बसाया गया था। इसके संस्थापक महात्मा मुंशीराम जी ने—"उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धिया विप्रोऽजायत"—इस वैदिक ऋचा की प्रेरणा से अपने कल्पनाप्रवण मष्तिस्क में प्रथम इस संस्था का एक चित्र रचा और बाद में उस कल्पना-चित्र को उक्त गुरुकुल के मूर्त रूप में परिणत किया-ऐसा उनके भाषणों से प्रकट होता था। उनका वह गुरुकुल असाधारण विशेषताओं के कारण अपनी अल्पायु में ही लोकप्रिय होने के साथ-साथ भारत में तथा विदेशों में भी चर्चा का विषय बन चुका था।

यह बीसवीं सदी के आरम्भिक २५ वर्षों का समय था, जब उक्त संस्था किसी अव्यक्त सृष्टि रूपी कमल कलिका के समान अकस्मात् प्रादुर्भूत हुई और केवल २४ वर्ष की आयु में सहसा एक जलप्रलय में विलीन हो गई। आज जो थोड़े से व्यक्ति उस काल के साक्षी रूप में रह गये हैं-उन्हें कभी-कभी विस्मय होता है कि ऐसी निराली अप्रतिम संस्था इतने शीघ्र विलुप्त कैसे हो गई?

इसमें स्वतः बहकर आती हुई जाह्नवी की स्वच्छ जल-धारा इसके तीर पर स्थापित खदुये की रम्य छाया में महात्मा जी का बंगला (जिस पर कभी फूस का छप्पर पड़ा था और जिसमें मात्र एक कमरा था, किन्तु एक महान् व्यक्ति का कुटीर होने के कारण जिसे उक्त महत्वपूर्ण नाम दे दिया गया था) उसके निकटवर्ती तट के साथ-साथ ऊपर की ओर दूर तक बनाया गया बड़े-बड़े पत्थरों का ढलवां बाँध, पंचकुटी, इतस्ततः गलीचों की तरह बिछे हुए हरियाली भरे-अनेकानेक क्रीड़ा क्षेत्र, फूलों और शाक-सब्जियों को उपजाने वाली वाटिकायें, रंग-बिरंगे फूलों से भरी क्यारियाँ और उपवन, गेहूँ-जौ के लहलहाते खेत, सुपुष्ट गौ-बछड़ों भरी गौशाला, गुरुजनों का एकान्त आवास स्थल-आनन्दाश्रम, कच्ची ईटों के बने तथा मिट्टी का मजबूत पलस्तर चढ़े हुये गर्मी-सर्दी दोनों से सुखद लम्बे-लम्बे आश्रम भवन, इनके मध्यवर्ती केन्द्र में स्थित यज्ञ की स्थली जहाँ सैकड़ों कण्ठों से नित्य वैदिक ऋचाओं के उद्घोष होते थे तथा जिसके सहस्त्रों यज्ञों में डाली गई आहुतियों का सौरभ वायुमण्डल को सदा सुवासित रखता था वेद-वेदांगों के अध्ययन कक्ष, विज्ञान के बहुसंख्यक यन्त्रोपकरणों से सज्जित परीक्षण भवन, संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी की पत्र पत्रिकाओं के वाचनालय से युक्त सहस्त्रों पुस्तकों का विशाल पुस्तकालय, फूस के छप्परों से छता हुआ महाविद्यालव का छात्रावास और उसका सभा मण्डप,

जमनास्टिक के नाना उपकरणों से युक्त व्यायाम शाला, अखाड़े, घुड़सवारी, तीरंदाजी, गतका बनेटी, सैनिक परेड आदि के आयोजन-स्थल, चित्रकला, सुलेख, फोटोग्राफी, संगीत, कृषि, लुहारी, बढ़ई-गिरी आदि सिखाने के स्थान, कला भवन, वस्तु भण्डार, भोजन भण्डार, पाकशालायें, आटा पीसने का खरास, अनेक कुओं पर स्थापित रहट, स्नानागार, स्वयं संचालित पाइपसिस्टम, चिकित्सालय, आतुरालय, अतिथियों के, लिये पक्की धर्मशाला, विशाल घेरे में बने हुये परिवार गृह, गुरुकुल यन्त्रालय (प्रेस) कार्यालय, दस-पन्द्रह हजार श्रोताओं के बैठने योग्य-वार्षिकोत्सव के पंडाल का विशाल-प्रांगण, उत्सव पर आर्य समाजों के विश्राम-स्थल, सुदीर्घ टिनशेड, अन्य बहुसंख्यक छोटे-बड़े भवन, ये सब कहाँ गये। सहसा किधर और क्यों विलुप्त हो गये ?

ऐसे भी व्यक्ति अभी विद्यमान हैं, जिनके मानस नेत्रों के सम्मुख उक्त संस्था के उन स्वर्णिम दिवसों के दृश्य, वहाँ की घटनायें तथा उनके पात्र-ये सब किसी चित्रपट के चलचित्रों की भाँति अपनी झलक दिखाते रहते हैं।

तत्कालीन वह गुरुकुल अपनी स्थापना के बाद ८-१० वर्षों के भीतर ही प्रसिद्धि प्राप्त कर गया था और भारत-बर्मा आदि के बहुसंख्यक भारतीय अपने बालकों को इसमें प्रविष्ट कराने के लिये यहाँ लाया करते थे।

मैं यहाँ सन् १९१२ ई० की आपबीती लिखने लगा हूँ। उन दिनों कनखल के प्राचीन दक्ष मन्दिर के पीछे स्थित सती की मठियों के पास से होकर जो कच्चा रास्ता गङ्गातट तक जाता था और जहाँ आज पक्के घाट बन गये हैं-वहाँ गङ्गा की धारा पर बल्लियों के खटोलों में पत्थर भर-भर कर उनके ऊपर फूँस-बाँस और बल्लियों का एक अस्थाई पुल हर साल बनाया जाता था। ऐसे ही दो और पुल गङ्गा की गहरी तथा चौड़ी अगली धाराओं पर बनते थें। इन पुलों के ठेकेदार की ओर से एक ४-५ फुट चौड़ा रास्ता भी रेत और पत्थरों को इधर-उधर हटाकर बना दिया जाता था। इस पर जंगल की झाड़ियों से काट-काट कर लाया हुआ फूस कहीं-कहीं बिछा रहता था, पैदल यात्री तथा बैलगाड़ियाँ आदि इसी पर होते गुरुकुल को जाया करते थे। दक्ष से गुरुकुल तक यह ३-४ मील का मार्ग था। गङ्गा की तीव्र धाराओं के मध्यवर्ती क्षेत्र में रेत और पत्थरों के लम्बे मैदान पड़ते थे, रास्ता इन्हीं में से होकर गया था।

इसे पार करके कुछ ऊँचाई पर चढ़ने के बाद समतल भूमि आती थी। इसके दाहिने हाथ पर एक ऊँचा बिल्व वृक्ष था, जिस पर ओऽम् की लाल पताका फहराती रहती थी। इसे दूर से ही देखकर यात्री जान लेते थे कि अब गुरुकुल के निकट आ पहुँचे हैं। किन्तु गुरुकुल की बाहरी सीमा इस स्थान से भी लगभग एक मील दूर थी।

इस विल्ववृक्ष के पास से एक कच्ची-चौड़ी राह बैलगाड़ियों के जाने-आने से स्वतः बन गई थी। इसके दोनों ओर घने जंगल थे। दिन ढलने के बाद इस

रास्ते से निकलना निरापद नहीं था। इसी राह पर तीन व्यक्ति चले जा रहे थे; यह सन् १९१२ ई० का वर्ष था, जब शरत् काल की एक संध्या के झुटपुटे में मैंने प्रथमबार अपने को किसी घने जगल की राह पर पाया। उक्त तीन व्यक्ति मैं, मेरे पिताजी और ताऊ जी थे। केवल हम तीन ही थे, आगे-पीछे कोई यात्री उस समय नहीं था। सांझ उतरने को थी और दिन का उजाला धीमा होता जा रहा था। हमारे दोनों ओर जंगल की घनी झाड़ियाँ और बेरों के छतनारे पेड़ खड़े थे, हवा स्तब्ध सी थी, कहीं कोई शब्द नहीं चारों ओर चुप्पी, आसपास सब तरफ एकदम सन्नाटा। इसी निस्तब्धता में हम गुरुकुल की ओर बढ़ रहे थे। मेरी आयु उस समय ६-७ वर्ष के बीच रही होगी। कई मील चले आने के बाद मेरी चाल में धीमापन आ जाना स्वाभाविक था, अतः मुझे थका हुआ जान पिताजी या ताऊ जी कभी-कभी गोद में भी ले लेते थे।

वन पथ पर बढ़ते हुए अचानक ताऊ जी पिताजी को लक्ष्य कर कह उठे "यह सरकारी जंगल है। सुना है, यहाँ के रास्ते में रीछ पड़ते हैं, तुम पीछे सावधान रहना।" पिताजी को अच्छे हृष्ट-पुष्ट और बलिष्ठ व्यक्ति थे, उनके हाथ में कमर तक ऊँचा मजबूत डंडा था, उसे बायें से दाहिने हाथ में लेते हुए उन्होने चारों ओर देखा, फिर निश्चित भाव से चल पड़े, किन्तु उन्होंने मुझे बीच में कर दिया— आगे ताऊ जी, बीच में मैं, पीछे पिताजी। राह लम्बी थी, अतः और कुछ देर चलते रहने के उपरान्त अब शायद मैं ऊँघने लगा और तब पिताजी ने मुझे गोद में उठा लिया होगा? मुझे पता तब चला, जब ताऊ जी को किसी ने कहा—नमस्ते महाशय जी, आइये, आप अच्छे समय से आ गये, आज तो दीपावली है।

बाद में पता चला-यह उस सेवक की आवाज थी जो बाहर के दर्शकों को गुरुकुल दिखाने पर नियुक्त था, यह चिर प्रसन्न और हँसमुख व्यक्ति अच्छा मिलनसार होने से बहुत से दर्शकों तथा ब्रह्मचारियों के संरक्षकों का सुपरिचित हो गया था। इसका नाम "विहारी सिंह था।

इस समय जब पिताजी ने मुझे गोद से उतारा तब मेरी आँखें खुलीं, देखा तो धर्मशाला (यहाँ पत्थर की बड़ी धर्मशाला पुण्यभूमि में अब भी खड़ी है) का एक कमरा था, इधर-उधर कई तखत लगे हुए थे, पक्की शिलाओं के फर्श पर हरीकेन लालटैन से कमरे में प्रकाश हो रहा था। बाहर अभी अंधेरा कम ही था।

हाथ मुँह धोकर और थोड़ा विश्राम करके उत्सुकतावश हम उसी समय बिहारी को साथ लेकर गुरुकुल देखने चल दिये और वहाँ पहुँचे जहाँ सड़क पर से दूर कुछ ही दूरी पर प्रकाश चमक रहा था। बिहारी ताऊ जी से सुपरिचित होने के कारण उनसे बातचीत करने लगा। इस समय हम गुरुकुल की बड़ी वाटिका के मार्ग पर चल रहे थे। कुछ ही देर में "रेलवे क्रॉसिंग" पर लगे फाटकों जैसा एक दरवाजा आ गया। इसके सीधे हाथ पर लगी हुई चर्खी में से निकल-निकल कर तथा सामने का चौड़ा रास्ता पार करके उस बड़े फाटक पर आ खड़े हुये जो लाल

रंग से पुता हुआ था और जिसके ऊपर लाल रंग की दूसरी मंजिल बनी थी। उन दिनों यह स्थान अधिक ऊँचा प्रतीत होने के कारण गुरुकुल में "लाल किला" के नाम से जाना जाता था।

फाटक की खिड़की के पास एक सेवक तैनात था। बिहारी को हमारे साथ देखकर वह एक ओर हो गया और हम भीतर दरवाजे में जा पहुँचे। वहाँ खड़े-खड़े ताऊ जी ने कहा—"वह सामने यज्ञशाला है। यज्ञ हो रहा है।" दूर से जो प्रकाश दिखाई दे रहा है, वह इसी स्थान का था। मैंने देखा, वहाँ बहुत से व्यक्ति बैठे हैं, उनका कोई सम्मिलित स्वर उठ रहा था, फिर थोड़ी देर में एकाएक वह शान्त हो गया है, वहाँ से अग्नि की शिखायें उठ रही हैं, जिनके प्रकाश में चारों ओर बैठे व्यक्तियों के कपड़े तथा सिर दिखाई पड़ते हैं। उनके बीचों-बीच कोई उन सब से उन्नत व्यक्ति का चेहरा भी उस प्रकाश में चमक जाता है।

बिहारी ने बतलाया—"आज दीपावली का बृहत् यज्ञ था, अब समाप्त हुआ है।" तभी देखा—सर्वप्रथम वह बीचो-बीच में बैठा हुआ व्यक्ति उठा, यज्ञशाला की सीढ़ियों से नीचे उतरा, उसने अपनी खड़ाऊँ पहनी और निकटवर्ती बिल्व वृक्ष की ओर आया। हम चारों तब तक वहाँ आकर पहले ही खड़े हो चुके थे। ताऊ जी से पता चला था कि वे महात्मा (मुंशीराम) जी हैं।

ताऊ जी उन दिनों गुरुकुल के वार्षिक उत्सवों पर आया करते थे और अन्य अनेक स्वयं सेवकों की तरह उन्हें भी जलसे के कुछ आवश्यक सेवा-कार्य सौंप दिये जाते थे, अतः महात्मा जी उन्हें जानते थे। ताऊ जी को देखकर वे हमारी ओर बढ़े बोले "कहिये महाशय शम्भूसहाय जी अच्छी तरह तो हैं? बरेली के क्या समाचार हैं?" तब तक ताऊ जी और उनके साथ-साथ हम सब शायद किसी अन्तः प्रेरणा वश उनके चरणों की ओर झुक गये। महात्मा जी ने इस बीच हम सब पर एक दृष्टि डाल ली। ताऊ जी बोले—"महाराज, बरेली में सब कुशल है।' फिर (पिता जी की ओर देखकर) कहा—'ये मेरे छोटे भाई हैं, इनके इस (मेरी ओर संकेत करते हुए) पुत्र को गुरुकुल दिखाने लाया था।" महात्मा जी बोले—"अच्छा-अच्छा यह इनका है? ठीक है, इसे वार्षिकोत्सव पर ले आइयेगा। आप कहाँ ठहरे हैं?" फिर बिहारी की ओर देखकर तुरन्त समझ गये कि हमारा सब प्रबन्ध हो गया है। अन्त में बोले—"अच्छा, कल प्रभात में मिलियेगा।' कह कर आगे बढ़ गये।

मैं चुपचाप खड़ा था। कभी भी अपने जीवन में मैंने ऐसा कोई आदमी नहीं देखा था। उस समय तो एक बार उन्हें देखकर ही मेरी आँखें झुक गई थीं और मुझे कुछ समझ नहीं आया था। आज याद आता है-वैसा ऊँचा, कद्दावर, हृष्टपुष्ट डील-डौल, खुले सिर पर बंधी हुई शिखा, गौर वर्ण, प्रशस्त ललाट, उन्नत नासिका, चेहरे पर फहराती हुई भव्य दाढ़ी-मुंछ, घुटनों का स्पर्श करती हुई लम्बी बाहें, सबसे विलक्षण उनकी अन्तर्भेदिनी किन्तु प्रशान्त दृष्टि—जिसमें से कोई ऐसी तृप्ति झांक रही थी जिसे आत्मा की काम्य वस्तु प्राप्त हो चुकी हो—ये सब इकट्ठे

कहीं मैंने नहीं देखे। उस समय उन्होंने किसी जुलहऊ कपड़े की लाँगदार धोती और कुरता पहन रखा था, कुर्त्ते पर पीला दुपट्टा—जो विशेष प्रकार की गाँठ सेवन्धा था।

महात्मा जी के उठ जाने के उपरान्त अन्य लोग भी उठे और यज्ञशाला के चारों ओर वनी हुई लम्वी-लम्वी वैरकों की ओर जाने लगे। देखा, उनमें छोटे-वड़े बालक हैं, जिन्होंने पीली धोतियाँ विशेष प्रकार की गाँठ लगा कर लपेटी हुई हैं। सवके कन्धों पर श्वेत उपर्ने (अंगोछे) पड़े हैं। विहारी ने कहा—"ये ब्रह्मचारी हैं।" उसने यह भी बताया कि "ब्रह्मचारी और उनके गुरुजन दीपावली की राम-दर्शन सभा में जायेंगे, सभा लगभग दो घण्टे में समाप्त हो जायेगी, फिर भण्डार में सब कुलवासियों का 'सहभोज' होगा। अभी-अभी यहाँ दीपक जलने लगेंगे, आप इनकी शोभा देखिये।" इतना कहकर विहारी अन्यत्र चला गया।

थोड़ी देर में दीपक जलने लगे। यज्ञ-शाला तथा बैरकों की तरह लम्बे और परस्पर सटे हुये ब्रह्मचारियों के आश्रम चौकोर बने थे और इन सब पर टीन की चादरें जड़ी हुई थीं। इन्हीं सब टीनों पर तीन पक्तियों में दीपमालाएँ उद्भासित हो उठीं, सारा आश्रम प्रकाश से भर गया।

ताऊ जी गुरुकुल में कई बार आ ही चुके थे। उन्हें सब मार्ग आदि ज्ञात थे। अतः उनके साथ हम लोग ब्रह्मचारियों के आश्रमों पर दृष्टि डालते हुए वहाँ की दीवाली देखते रहे।

उस समय आश्रम प्रायः खाली थे। ३-४ ही ब्रह्मचारी इधर-उधर आ-जा रहे थे। यहाँ के वायु मण्डल में कोई अद्भुत प्रकार की सुगन्ध और शीतलता बसी हुई थी। चारों ओर शान्ति, स्वच्छता, प्रकाश और ऊपर आकाश के अंधकार में टिमटिमाते सितारे, हमारे चारों ओर जगमगाते हुये दीपक, ये ऐसे लग रहे थे मानो पंख फड़फड़ाते हुये सहस्त्रों सुनहरे पंछी बैठे हों और उड़ना चाहते हों।

कुछ देर बाद हम ताऊ जी के साथ धर्मशाला में लौट आये—देखा, तीन तख्तों पर हमारे लिये विस्तर रखें हैं, उनके सामने ढ़की हुई तीन थालियाँ हैं, उन्हें उघारा तो पूरियों के साथ खीर, मालपूड़े, शाक आदि दिखाई दिये। मालपूड़े उन दिनों उत्तर प्रदेश में हलवाइयों की दुकानों पर नहीं बनते थे, वे मेरे लिये एक नई चीज थी।

इस समय तक मेरी आँखों में नींद पूरी तरह भर आई थी, तो भी पिता जी की गोद में बैठे-वैठे मैंने कुछ खाया, फिर सो गया।

पुण्य भूमि की वह आरम्भिक झलक और दीपावली की जगमगाहट मस्तिष्क में कुछ इस प्रकार छा गई कि आज तक विस्मृत नहीं हो सकी।

अगले दिन शायद हम लोग महात्मा जी से मिले थे, वहाँ आस-पास तथा गुरुकुल में घूम-फिर कर बहुत कछ देखा भी होगा, पर उस समय की अन्य स्मृतियाँ धुँधली पड़ चुकी हैं।

श्रद्धेय गुरुवर के चरणों में बिताये सुदिन

—श्री पं० जनार्दनदेव विद्यालंकार

सन् १९०९ में मेरे माता-पिता ने मुझे अत्यन्त श्रद्धा के साथ महात्मा मुंशीराम जी की छत्र-छाया में गुरुकुल में प्रविष्ट कराने की इच्छा व्यक्त की। परन्तु मेरी आयु निर्धारित आयु से कम होने के कारण उनकी यह इच्छा उस समय पूरी नहीं हो सकी। उसके एक वर्ष बाद सन् १९१० में गुरुकुल कांगड़ी का प्रथम दीक्षान्त समारोह सम्पन्न हुआ, जिसमें पं० इन्द्र जी और पं० हरिश्चन्द्र जी स्नातक हुये थे। इसी अवसर पर मुझे प्रविष्ट कराया गया। उसी दिन से मेरे नये जीवन का प्रारम्भ हुआ। घर से दूर, सम्बन्धियों से दूर, शहरी जीवन की चमक-दमक से दूर, एकान्त, शान्त, नैसर्गिक वनच्छवि में जीवन का नये सिरे से सूत्रपात हुआ। बच्चा नवीनता-प्रिय होता ही है। वे सुनहले, सुहावने, लुभावने फल-फूलों से लदे वृक्ष, कलकल करती बहती नदी, स्वच्छन्द स्वच्छ सुगन्धित समीर, समवयस्क अनेक साथी इन सबने मिल कर चित्त पर ऐसा प्रभाव डाला और ऐसा मुग्ध किया कि घर की याद कुछ ही दिनों में मन से ओझल हो गई। माँ की याद मन के किसी कोने में अपना जोर दिखाती रही, पर कुछ और समय बीतने पर जब महात्मा जी को निरन्तर भोजन के समय अत्यन्त वात्सल्य भरे हृदय से, ठीक से हम सब बच्चों को खिलाते-पिलाते, सभी सुविधाओं की समुचित व्यवस्था करते हुये पाया और शीत भरी रातों में ममतामय हाथों से अपने ऊपर एवं अपने साथियों के ऊपर कम्बल ओढ़ाते हुये देखा तो अनुभव होने लगा कि हम माँ से दूर नहीं हैं। महात्मा जी बच्चों को प्राणों के समान प्यार करते थे। जिस प्रकार अलग-अलग शाखाओं पर लगे पत्ते वृक्ष का अपना ही अंग होते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों और भिन्न-भिन्न घरों में जन्मे बालक महात्मा जी के स्व-अंग बने हुये थे।

महात्मा जी का वह संवेदनशील व्यवहार मेरे स्मृति-पटल से कभी ओझल नहीं होता, जिसमें उन्होंने अपनी आत्मीयता का खुला दिग्दर्शन कराया। एक बार स्वामी जी की अनुपस्थिति में तत्कालीन अधिकारियों ने कुछ विद्यार्थियों को गुरुकुल से बाहर करके घर भेज दिया। जब स्वामी जी गुरुकुल में पधारे तो उन्हें यह समाचार जानकर अत्यन्त दुःख हुआ और उन्होंने उसी समय उन सब विद्यार्थियों के घर पत्र भेज कर उन्हें पुनः गुरुकुल में बुला लिया। इस व्यवहार से ब्रह्मचारियों के हृदयों में नवजीवन और नवीन आशा का संचार हुआ। सम्पूर्ण आश्रम में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई।

इस प्रकार स्नेह-मदिरा ने न केवल हमें वशीभूत कर लिया, अपितु उस

स्नेह-वाशनी में पगे सभी सहपाठी एक-दूसरे के लिये इतने आत्मीय और अभिन्न हो उठे कि आज तक भी वह सम्बन्ध अत्यन्त मधुर बना हुआ है। वह समय हम सबके लिये अत्यधिक निर्भीकता एवं निश्चिन्तता का था। उसी के फलस्वरूप कइयों के कण्ठ से कविताएँ फूट पड़ीं, अनेकों की लेखनी ने जोर पकड़ा और अनेक ने राष्ट्र-सेवा में अपने को आहुत कर दिया। महात्मा जी का दिव्य दर्शन इन सब प्रेरणाओं का स्रोत था।

अपने प्रवचनों में कही उनकी ये पंक्तियाँ सदा मेरे कानों में गूंजती रहती हैं। "जब दाँत न थे, तब दूध दियो, जब दाँत दिये तो क्या अन्न न दइहैं।" अपने प्रिय पुत्रों में आत्मविश्वास की भावना भरना ही इन पंक्तियों का उद्देश्य था। श्रद्धेय गुरुवर की यह आश्वासन भरी पंक्तियाँ भविष्य को सदा ही उज्ज्वल एवं उल्लासपूर्ण रूप में प्रस्तुत करती रही हैं। ●

धीरवर श्रद्धानन्द

—श्री पं० भद्रसेन विद्यालंकार

किसी कवि ने कहा है 'महत्सु धैर्यम्' अर्थात् जिस प्रकार शुष्केन्धन में अग्नि विशेष रूप से प्रदीप्त होती है उसी प्रकार धैर्य गुण का विकास महान् पुरुषों में वस्तु-स्वभाव के ही कारण विशेष रूप से पाया जाता है। इसी महान् गुण के कारण आचार्य मुंशीराम जी को जनता ने महात्मा मुंशीराम नाम से पुकारना आरम्भ किया। उनके जीवन सम्बन्धी मेरे कुछ संस्मरणों से पाठकों को मालूम होगा कि इस विभूति के साथ महात्मा शब्द का प्रयोग कितना समुचित था।

यदि मैं गलती नहीं करता तो सन् १९१४ या १९१५ की घटना है। वर्षा ऋतु के दिन थे। मूसलाधार पानी पड़ रहा था। दिन भर हो गया। रात तक भी यही सिलसिला जारी रहा। लगभग ९ बजे का समय था। विद्यालय के आश्रम में बिजली की तरह फैलता हुआ यह समाचार सुनाई पड़ा कि गंगा का पानी चढ़ रहा है। उत्तर पश्चिम में टिन शेड की पंक्ति से टकरा रहा है और पश्चिम में आचार्य जी के बंगले तक तथा पूर्व में गोशाला तक पहुँचने वाला है। ४०० पुत्रों के पिता कुलपति मुंशीराम जी को उस समय किस घोर चिन्ता ने घेर रक्खा होगा यह या तो उस कुलपति का हृदय या उसका एकमात्र आधार परमात्मा ही जानता होगा। कोई दर्शक उस भव्य चेहरे से तो उस चिन्ता का अनुमान भी नहीं लगा सकता था। लगा भी कैसे सकता। उस पर तो भीतर की महान् आत्मा की ज्योति का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था—'संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।'

रात्रि के एक या दो बजे लगभग फिर सुनाई पड़ा कि आचार्य जी ने महाविद्यालय के विद्यार्थियों को साथ लेकर गंगा के बढ़ते हुये जल के वेग को रुकवा दिया है। गुरुकुल भूमि के डूबने का खतरा टल गया दीखता है। प्रातःकाल होने पर हम लोगों ने बड़ी प्रसन्नता के साथ सुना कि गंगा की बाढ़ उतार पर है।

× × ×

दूसरी घटना सन् १९१७ या १८ की है। मैं एक-दूसरे विद्यार्थी के साथ गुरुकुल के समीपस्थ कांगड़ी ग्राम से गुरुकुल-विद्यार्थियों द्वारा वहाँ पर लगी आग के शान्त कर देने के बाद लौट रहा था। कुछ दूर आ जाने पर आचार्य जी भी पीछे आते दिखाई दिये। हम दोनों ने रुक कर चरण स्पर्श पूर्वक अभिवादन किया और उन्हीं के साथ हो लिये। मार्ग में आचार्य जी ने हमको एक आपबीती घटना सुनाई।

आचार्य जी प्रायः स्वास्थ्य-सुधार के लिये पर्वतों पर यात्रा-भ्रमण के लिये जाया करते थे। एक बार की जिक्र है कि वे अपने सेवक धर्मसिंह के साथ इसी

प्रकार एक पहाड़ पर यात्रा कर रहे थे। एक दिन पड़ाव पर पहुँचने से पूर्व ही मार्ग में सन्ध्या हो गई। सायंकालीन सन्ध्या करने के लिये आचार्य जी मार्ग के एक झरने पर ही रुक गये। अपना सामान झरने के किनारे रख कर ऊपर पहाड़ पर शौच आदि से निवृत्त होने के लिये गये। लौटते समय क्या देखते हैं कि सिंह वहीं झरने पर पानी पी रहा है। आचार्य जी कन्धों पर एक उत्तरीय चद्दर ओढ़े रहा करते थे। उन्होंने उसको खोला। उसके एक छोर में एक पत्थर बांधा और वेग के साथ घुमाना शुरू कर दिया। वनवासी सिंह के लिये यह दृश्य एकदम नवीन एवं भयप्रद था। अतएव वह वहाँ से चलता हुआ। आचार्य जी के स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति होता तो उसकी क्या दशा हुई होती, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है।

उपर्युक्त घटनायें यह दिखाने के लिये पर्याप्त हैं कि किस प्रकार रौद्र रूप धारण की हुई प्राकृतिक शक्तियों के बीच में और भयानक हिंस्र जन्तुओं के सामने भी स्वामी जी की धीरता अपने सदातन एवं सहज रूप में ही बनी रहती थी। उसको भय भी नहीं डिगा सकते थे।

●

कुछ झाँकियाँ

--- डा० रामनाथ वेदालंकार

(एक)

उस समय गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय गंगापार जंगल में था। वार्षिकोत्सव होते थे तो बड़ी धूम मचती थी। बड़ी श्रद्धा के साथ गुरुकुल-प्रेमी जनता मार्ग के रेत पत्थरों की परवाह न कर कनखल से नावों के गंगा-पुल को पार कर पैदल गुरुकुल जाती थी। मेरे पिता जी भी कुछ वर्षों से नियमपूर्वक गुरुकुल के उत्सव पर जाते थे। महात्मा मुंशीराम से भी वे वहुत प्रभावित थे। एक वार उत्सव से लौट कर मुझसे पूछने लगे—तू गुरुकुल पढ़ने जायेगा ? वहाँ की वातें वताते हुए कहा कि वहाँ कसरत, तीर-कमान के खेल, मोटर रोकना, जंजीर तोड़ना आदि भी सिखाया जाता है। महात्मा जी के विषय में भी वताया कि वे वच्चों को वहुत प्यार करते हैं, जो वच्चे दाखिल होते हैं उन्हें भर-पेट मिठाई और फल खाने को देते हैं। शायद उन्होंने किसी उत्सव पर देखा था कि जिन वालकों को ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी गई थी उन्हें भिक्षा में एकत्र मिठाई और फल महात्मा जी ने खूब खाने को दिये थे।

उस वर्ष पिता जी ने गुरुकुल न भेजकर मुझे मेरे बड़े भाई रामावतार जी सहित संस्कृत पढ़ने के लिए काशी भेज दिया। उन्होंने सोचा था कि काशी एक-दो वर्ष पढ़ कर इनकी संस्कृत की नींव पक्की हो जायेगी, फिर गुरुकुल भेज देंगे। एक डेढ़ वर्ष काशी पढ़ा कर मेरे और मेर वड़े भाई के लिए क्रमशः गुरुकुल कांगड़ी और महाविद्यालय ज्वालापुर से प्रवेश-फार्म मंगवा कर उन्हें भर कर डाक द्वारा भेज दिया। पर गुरुकुल कांगड़ी से मना आ गया कि आपका वालक प्रविष्ट नहीं किया जा सकता क्योंकि उसकी आयु नौ वर्ष की हो गई है, जबकि आठ वर्ष से अधिक आयु के वालक प्रविष्ट नहीं किये जाते हैं। पिता जी ने फिर भी हिम्मत नहीं हारी। उत्सव पर तो उन्हें जाना ही था। बरेली के डाक्टर श्यामस्वरूप कभी-कभी उत्सव पर भाषण देने गुरुकुल जाते थे। पिता जी का उनसे अच्छा परिचय था। उन्होंने एक परिचय-पत्र लिख दिया और कहा कि आवश्यकता पड़ी तो मैं स्वामी श्रद्धानन्द को भी पत्र लिख दूंगा, यद्यपि स्वामी जी अव गुरुकुल में नहीं थे, बाहर जा चुके थे। पिता जी मुझे तथा मेरे बड़े भाई को लेकर हरिद्वार पहुंच गये। बड़े भाई को महाविद्यालय में प्रविष्ट करा दिया।

गुरुकुल कांगड़ी के तत्कालीन मुख्याधिष्ठाता पं० विश्वंभरनाथ जी नियम के वड़े पक्के थे। उण्होंने मुझे प्रविष्ट करने से साफ इन्कार कर दिया। डाक्टर श्यामस्वरूप का लिखा परिचय-पत्र भी कुछ काम न आया। उन्होंने लिखा था—इनका परिवार आर्यसमाज और गुरुकुल का भक्त है, बालक होनहार है, इसे अवश्य प्रविष्ट

कर लिया जाये। गुरुकुल के मुख्य द्वार के ऊपर प्रबन्ध-समिति की बैठक होने वाली थी। पिता जी मुझे साथ लिये हुए बड़ी चिंतित मुद्रा में द्वार के समीप खड़े थे। इतने में भूतपूर्व सभाप्रधान श्री रामकृष्ण जी बैठक में सम्मिलित होने उधर आ निकले। उन्होंने देखा कि सादे वेश में एक भक्त टाइप का व्यक्ति बालक को लिये खड़ा है, चेहरे पर चिंता व्यक्त हो रही है, आँखें भरी हुई हैं। उन्होंने पिता जी से पूछा—आपको क्या किसी से मिलना है ? सुनते ही पिता जी की आखों से टप-टप आंसू गिरने लगे। उन्होंने उन्हें बताया कि यह मेरा बालक है, संस्कृत पढ़ा है, नौ वर्ष की आयु हो जाने के कारण मुख्याधिष्ठाता जी ने इसे प्रविष्ट करने से मना कर दिया है। मैं यही सोच रहा हूँ कि क्या इसे वापिस ही ले जाना पड़ेगा। रामकृष्ण जी पिता जी से प्रभावित हुए और बोले—प्रवेशफार्म मुझे दीजिये और यहीं थोड़ी देर प्रतीक्षा कीजिये। मीटिंग में रामकृष्ण जी की वकालत काम आई, मुख्याधिष्ठाता जी भी बहु-सम्मति के आगे झुक गये। गुरुकुल में अध्ययन करना मेरे भाग्य में लिखा था, अतः प्रवेश हो गया। जहाँ तक स्मरण है, वेदारंभ संस्कार स्वामी सत्यानन्द जी ने कराया था। मुझे कुछ निराशा हुई थी, क्योंकि जैसा पिता जी ने बताया था उसके विपरीत्त मिठाई और फल खाने को नहीं मिले थे, अपितु भिक्षा में प्राप्त मिठाई और फलों की परातें भोजन-भंडार भेज दी गई थीं।

(दो)

स्वामी श्रद्धानन्द यद्यपि उस समय गुरुकुल के आचार्य नहीं थे तथा बाहर जा चुके थे, तो भी वे उस उत्सव में सम्मिलित होने आये थे। उस समय यात्रियों के ठहरने के लिये फूँस की झोपड़ियाँ बनाई जाती थीं। दुर्भाग्य से झोपड़ियों में आग लग गई। भीषण अग्निकाण्ड उपस्थित हो गया। मुझे समझ में न आया कि क्या हो रहा है, मैंने विकराल धूम-शिखायें ऊपर उठती देखीं। मैं पिता जी के साथ था, पिता जी सहसा मुझे छोड़ लाइन में जा लगे। झोंपड़ियों से गङ्गा-तट तक लोगों की लाइनें लग गई थीं। गङ्गा से घड़े और बाल्टियाँ भर-भर कर लोग अपने से अगले-अगले व्यक्ति को पकड़ाते चलते थे और उस विपुल गङ्गा-जल की आहुति अग्नि में पड़ती चलती थी—अग्नि को प्रज्वलित करने के लिये नहीं, अपितु बुझाने के लिये। मुझे सब रहस्य बड़ी देर में समझ आया। आग पर तो अन्त में काबू पा लिया गया, किन्तु एक यात्री का शिशु आग में झुलस कर प्राण खो बैठा।

स्वामी श्रद्धानन्द का चेहरा उस समय देखने लायक था। ऐसा प्रतीत होता था मानों मृत शिशु के असली पिता वे ही हों। करुणा की मूर्ति बने हुये थे वे। कहते हैं, राज्य में एक शिशु के मर जाने पर राजा राम के मन में यह प्रतिक्रिया हुई थी कि प्रजा में जो किसी की अकाल मृत्यु होती है, उसका उत्तरदायी राजा ही है, उसी के किसी अपकर्म का यह फल है। सम्भव है स्वामी श्रद्धानन्द भी उस समय यही सोच रहे हों। उनकी नगरी में एक आगन्तुक अतिथि के शिशु की मृत्यु और

उनका हृदय वज्र बना हुआ है—शतधा विदीर्ण नहीं हो रहा ! उन्हें देख भवभूति का यह श्लोक संभवत: सहृदयों को स्मरण आया होगा—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वाद्, अन्तर्गूढघनव्यथ: ।
पुटपाकप्रतीकाशो, रामस्य करुणो रस: ।।

अन्त में मृत शिशु की शव-यात्रा चली । सबसे आगे मृत शिशु को गोद में उठाये स्वामी श्रद्धानन्द, उसके पीछे बच्चे के माता-पिता, उनके पीछे शोकमान जनता । उस समय तो मैं बालक होने के कारण विशेष अनुभव नहीं कर सका हूंगा, पर आज उस दृश्य की कल्पना करता हूँ तो हृदय विदीर्ण होने लगता है और उस संन्यासी के चरणों में श्रद्धा से मस्तक नत हो जाता है ।

(तीन)

पुराने गुरुकुल में बाढ़ आ गई । हम छोटे छात्र जिन कच्चे मकानों में रहते थे, वे सब गङ्गा-प्रवाह में बह गये । हमें पहले तो यज्ञशाला के चारों ओर टीनें लगा कर उसमें रखा गया, फिर पहली चार कक्षाएँ कनखल के समीप मायापुर वाटिका में आ गईं । वहाँ पण्डित हरिशरण जी हमारे मुख्याध्यापक थे । पढ़ाई और प्रबन्ध की सब व्यवस्था अत्युत्तम थी । हम छात्र खूब व्यायाम करते थे, मायापुर से ज्वालापुर के रेल के पुल तक नहर के किनारे दौड़ लगाते हुये जाते थे और दौड़ते दौड़ते ही वापिस आते थे । दण्ड, बैठक, सूर्य भेदी व्यायाम गिन-गिन कर करते थे और संख्या डायरी में नोट कर लेते थे । अगले दिन उससे अधिक करते थे । इस प्रकार बढ़ाते चलते थे । दूध, फल यथेच्छ मिलते थे । पढ़ाई का भी खूब शौक था । आश्रम में कभी संस्कृत अनुवाद, कभी वाच्य-परिवर्तन, कभी गणित के सवाल इन्हीं की रेल-पेल रहती थी । भोजन के साथ: प्रतिदिन दोपहर मक्खन और सायं यथेच्छ दूध मिलता था । इस सबका रहस्य था यात्रियों द्वारा मिलने वाला दान और मुख्याध्यापक जी की कुशलता । वे यात्रियों से महानिधि के लिये रुपया न लेकर दूध, फल आदि के नाम से लेते थे ।

एक दिन मेरे मन में आया कि स्वामी श्रद्धानन्द जी को पत्र लिख कर उनसे आशीर्वाद माँगा जाये । मैं उस समय चतुर्थ श्रेणी में था । हमारे अध्यापक स्वामी जी के गुणगान करते थे, इसीलिये मन में आशीर्वाद पाने की इच्छा जागी । मैंने कहीं से एक पोस्टकार्ड प्राप्त कर लिया, उस पर स्वामी जी के नाम कुछ लाइनें लिख दीं । उनका भाव जैसा स्मरण है यह था कि हम खूब पढ़ते हैं और व्यायाम करते हैं, हमें अपना आशीर्वाद भेजिये । नीचे अपने नाम के साथ चतुर्थ श्रेणी भी लिख दिया था । पत्र तो लिख लिया, पर पता कैसे लिखा जाता, वह तो मालूम था ही नहीं । एक अध्यापक जी से पता भी लिखवा लिया और चुपचाप उसे पोस्ट कर दिया । पर, बहुत दिन प्रतीक्षा करने पर भी कुछ उत्तर न आया । पत्र भेजने की बात केवल दो-तीन छात्रों को ही मालूम थी और एक अध्यापक जी को मालूम थी जिन्होंने पता लिखा था, उनका नाम पं० माता प्रसाद द्विवेदी था ।

मुख्याधिष्ठाता पं० विश्वंभरनाथ जी पुराने गुरुकुल ही रहते थे, महाविद्यालय के छात्र भी वहीं रहते थे। मुख्याधिष्ठाता जी बिना सूचना दिये कभी भी निरीक्षण के लिये आ जाते थे। एक दिन घंटा बजाने वाले सेवक ने मुझे आकर कहा कि तुम्हें मुखपाधिष्ठाता जी बुला रहे हैं। मैं जब उनके पास पहुँचा तब उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या तुमने स्वामी जी को कोई पत्र लिखा था। मैंने डरते-डरते जब स्वीकारोक्ति में सिर हिलाया, तब उन्होंने अपनी जेब से एक पत्र निकाल कर मेरे हाथ में पकड़ा दिया और प्यार से मेरी पीठ थपथपा दी। यह पत्र स्वामी जी का उत्तर था—जो उन्होंने मुझे सीधा न भेज कर गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता की डाक में भेज दिया था। शायद उसमें उनका यह आदर्श कारण रहा हो कि छात्रों का सब पत्र-व्यवहार अधिकारियों के माध्यम से होना चाहिये। पत्र में लिखा था कि तुम्हारा भाव जान कर खुशी हुई, तुम खूब पढ़ो-लिखो, कसरत करो और अपने गुरुओं की आज्ञा मानो। स्नातक होने के बाद तक भी वह पत्र मेरे पास रहा, पर फिर खो गया। महाविद्यालय में अपनी किसी हस्तलिखित पत्रिका में मैंने 'श्रद्धानन्द अंक' में एक लेख के साथ वह पत्र दिया भी था।

(चार)

स्वामी जी के बलिदान से कुछ ही पूर्व की बात है। स्वामी जी दिल्ली में अस्वस्थ चल रहे थे। हम लोग गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में शायद पांचवीं या छठी श्रेणी में थे। मुख्याध्यापक जो द्वारा सूचना प्रसारित की गई कि स्वामी जी स्वास्थ्य-लाभ के लिये गुरुकुल आ रहे हैं, सब छात्र पीली गाती धोती पहन कर उनके स्वागत के लिये सड़क (ग्रांड ट्रंक रोड) पर पहुँचें। नियत समय पर सब कक्षाओं के छात्र अपने-अपने अधिष्ठाताओं के साथ स्वागतार्थ यथास्थान पहुँच गये। सबके हाथों में पुष्प या फूल-मालायें थीं। जब भी कोई मोटर आती दीखती, तो सब चौकन्ने हो जाते। पर दो घटे प्रतीक्षा के बाद भी वह मोटर नहीं आई जिसकी प्रतीक्षा थी। हम छात्रों में स्वामी जी के दर्शनों की अदम्य लालसा भरी हुई थी, पर निराश होना पड़ा। अन्त में यह सोचकर कि सम्भव है स्वामी जी का कार्यक्रम बदल गया हो, मुख्याध्यापक जी ने छात्रों को लौट जाने के लिये कह दिया। हम लोग लौटे ही थे कि थोड़े समय पश्चात् स्वामी जी गुरुकुल पहुँच गये। पर वे क्योंकि स्वास्थ्य-लाभ के लिये आये थे, अतः उनसे मिलने-जुलने की मनाही थी। यह सोचा गया कि सुविधानुसार किसी दिन वे छात्रों को सम्बोधित कर देंगे। स्वामी जी आये तो कई दिन रुकने के विचार से थे, पर अधिक दिन रुके नहीं।

गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में उस समय पाँचवीं से दसवीं तक की श्रेणियाँ थीं। जब यह प्रतीत हुआ कि स्वामी जी संभवतः सामूहिक रूप से छात्रों को सम्बोधित न कर सकें, तब मुख्याध्यापक जी ने छोटी श्रेणियों के अधिष्ठाताओं से कहा कि अपनी-अपनी श्रेणी के दो-दो प्रतिनिधि छात्रों का नाम दे दें, उन्हें स्वामी जी से मिलाने ले जाया जायेगा। चुने हुये छात्रों में सौभाग्य से मैं भी था। पाँचवीं और

छठी श्रेणी के दो-दो छात्र एक बेंच में स्वामी जी के दर्शनार्थ गये थे। परिवार का भी एक छोटा बालक ब्रह्मचारियों के ही वेश में उनके साथ कर दिया गया था। सम्भवत: उसे सिखाया गया था कि वह स्वामी जी से उनका हाल पूछे। पर जो भाषा सिखाई गई थी, उसे वह भूल गया और स्वामी जी के पास जाकर रोने लगा। स्वामी जी ने उससे पूछा कि क्यों पुत्र, तुम्हें क्या कष्ट है? तब वह बोला—आप अच्छे हो जाइये। यह सुन स्वामी जी का भी हृदय भर आया। तब उन्होंने सब ब्रह्मचारियों को सम्बोधित करने की इच्छा प्रकट की।

अगले दिन विद्यालय की प्रार्थना के पश्चात् स्वामी जी ने थोड़े से शब्दों में अपने कुछ उद्गार प्रकट किये। भाषण में क्या कहा यह तो स्मरण नहीं, पर प्रारम्भ उन्होंने इन शब्दों से किया था— अभी आपने कैसी उत्तम प्रार्थना की है।' उनके भाषण का प्रभाव हमारी कक्षा के छात्रों पर क्या हुआ यह अब भी स्मरण है और उससे उन्होंने क्या कहा होगा इसका भी अनुमान हो जाता है। जो स्नातक उस समय नवम, दशम कक्षाओं में थे, उन्हें तो भाषण स्मरण भी होगा। छात्रों में बाल-चापल्य होता ही है। अत: जब हम यमुना की नहर में तैरने के लिये, जो गुरुकुल से लगभग दो-ढाई मील थी, जाते थे, तब मार्ग में खेतों से लाल मिर्चें तोड़ लाते थे, जिनका भोजन में स्वाद लेते थ। स्वामी जी के भाषण के पश्चात् हम सबने मिर्चें फेंक दीं। हमारी कक्षा में एक छात्र जगदीश मित्र था, उसके पास बहुत-सी मिर्चें थीं। उसने नहीं फेंकीं। तब उससे सब छात्रों ने जबर्दस्ती मिर्चें फिंकवा दीं। सब छात्रों में नियम-पालन का उत्साह भी बढ़ गया। इससे यह कप्रट होता है कि उस संन्यासी की वाणी में सचमुच कुछ जादू था। ✿

मेरे गुरुकुल–प्रवेश के प्रेरणा-स्रोत

—श्री मनोहर विद्यालंकार

सन् १९१५ की बात है। मेरा जन्म नहीं हुआ था। मेरे पिता जी आर्यसमाज के साथ नया संपर्क होने के कारण, गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव पर गये थे। वहाँ उन्हें दस्त लग गये और उनकी दशा गंभीर हो गई। डा० सुखदेव जी उन दिनों चिकित्सालय के अध्यक्ष थे। परमात्मा की कृपा, डाक्टर महोदय की चिकित्सा और ब्रह्मचारियों द्वारा बारी-बारी से लगाई गयी ड्यूटी में की गई सेवा के परिणामस्वरूप वे खतरे से बाहर हो गये। धीरे-धीरे स्वस्थ हो गये। इसप्रकार उन्हें नया जीवन प्राप्त हुआ। इन परिस्थितियों में गुरुकुल के वातावरण से प्रभावित होकर मेरे पिता जी ने मन ही मन निश्चय किया कि यदि मेरे पुत्र उत्पन्न हुआ तो उसे इसी संस्था में प्रविष्ट कराऊंगा और यहाँ की पूरी शिक्षा दिलाऊँगा।

सन् १९२१ में मेरी आयु पांच वर्ष की थी। पिताजी, अपनी व्यापार-यात्रा पर गुजरात जाते हुए मुझे अपने साथ ले गये। व्यापारिक कार्य समाप्त करके, घूमने की नीयत से, मुझे लेकर वे बम्बई चले गये। वहाँ रहते हुए एक दिन खुदाई में निकली हुई प्राचीनकालीन एलिफैन्टा की गुफाएँ देखने गये, उनके साथ मैं भी था। उन दिनों यह यात्रा, जहाज में न ले जाकर, बड़ी-बड़ी पाल की किश्तियों में हुआ करती थी।

एलिफैन्टा की इन गुफाओं को देखने के बाद जब हम वापस लौट रहे थे, तब सौभाग्य से हमें उस किश्ती में जगह मिली, जिसमें स्वामी श्रद्धानन्द जी विद्यमान थे। अभी कुछ ही दूर चले होंगे कि तेज हवाएँ चल पड़ीं और किश्ती डगमगाने लगी। उसमें बैठे लोग भी घबरा गये। ऐसा लगता था कि किश्ती अब डूबी या तब डूबी।

स्वामी जी ने सबको सान्त्वना दी और परमेश्वर को याद करने और गायत्री मन्त्र जपने को कहा। साथ ही यह भी बताया कि घबराने का कोई लाभ नहीं, सच्चे हृदय से निकली हुई पुकार को वह अवश्य सुनता है। तदनन्तर हवा के शान्त होने पर, अपनी ओर से एक अपील की और कहा कि मेरी बात को ध्यान से सुनकर, उस पर विचार करना और संभव हो तो उसे पूरा करना। मेरी बात मानने से तुम्हारा और तुम्हारी सन्तान का लाभ ही होगा। निश्चय करो कि अपने एक-एक पुत्र को गुरुकुल कांगड़ी में दाखिल कराओगे।

इस पर मेरे पिता जी ने दोबारा मुझे गुरुकुल में प्रविष्ट कराने का संकल्प करके, स्वामी जी से पूछा कि मैं इसे लेकर कब गुरुकुल आऊँ? स्वामी जी ने ८वाँ वर्ष लगने पर गुरुकुल के उत्सव पर आकर प्रवेश कराने की सलाह दी।

उपरिलिखित दोनों घटनाओं के परिणामस्वरूप मुझे गुरुकुल कांगड़ी में प्रविष्ट कराया गया।

सन् १९२४ के वार्षिकोत्सव से १० दिन पहले ही मेरे माता-पिता मुझे लेकर (मैं उनकी पहली और अकेली संतान था) गंगा पार वाली गुरुकुल की पुण्य-भूमि पहुँच गये। वहाँ जाकर वे गुरुकुल के प्रसिद्ध भीमसेनी सुरमे के आविष्कर्ता, बंगाली डॉक्टर आर्यन जी के पास गुरुकुल के पक्के परिवार गृह के मध्य फूंस की छत वाली कुटिया में ठहरे।

उन दिनों गुरुकुल में विद्यार्थी का प्रवेश, आजकल के मैडिकल कॉलिज या पब्लिक स्कूल के प्रवेश से अधिक कठिन था, क्योंकि वहाँ न सिफारिश चलती थी, न दान का विचार होता था। आजकल के महाविद्वान् श्री युधिष्ठिर मीमांसक और भारत सरकार के एक भूतपूर्व मन्त्री भी गुरुकुल में प्रवेश के लिए गये थे, किन्तु शारीरिक अयोग्यता और आयु की अधिकता के कारण इन दोनों को प्रवेश नहीं मिल सका था।

गुरुकुल प्रवेश की इस कठिनता को जानकर ही मेरे पिता जी ने घर का नाम गुरुकुल के योग्य न समझ कर मेरा नाम "ज्ञानेन्द्र" रख दिया था। लेकिन पता नहीं क्यों, मेरा वह नाम भी बदल कर "मनोहर" कर दिया गया।

उसी उत्सव पर भीषण आग लगी, जिसमें एक शिशु जल कर मर गया। यह खबर पाते ही स्वामी जी तत्काल घटना-स्थल पर पहुंचे, शिशु को अपनी गोद में लेकर बैठ गये, माता-पिता को सान्त्वना देते रहे और फिर अपने गेरुए वस्त्र से ढक कर उसे अन्तिम संस्कार के लिए ले गये। स्वामी जी के इस व्यवहार का सारी जनता पर बड़ा अच्छा प्रभाव हुआ और बच्चे के माता-पिता का शोक भी बहुत कुछ कम हो गया।

वर्षा ऋतु में होने वाले दीर्घावकाश के दिनों में हम प्राथमिक श्रेणियों के विद्यार्थी देहरादून गये थे। वहाँ एक दिन समाचार मिला कि गंगा की बाढ़ में गुरुकुल कों प्रायः सभी इमारतें ढह और बह गई हैं।

दीर्घावकाश के बाद गुरुकुल वापस पहुँचने पर हमारी प्रथम श्रेणी के विद्यार्थियों को गंगा के किनारे, खटवे के वृक्ष के पास बने स्वामी जी के बंगले में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बाढ़ से पूर्व इस बंगले का वही महत्त्व था, जो उन दिनों प्रान्त की राजधानी में गवर्नर हाउस का हुआ करता था।

उन दिनों के निवास की स्मृति आते ही बरबस कुलगीत की निम्न पंक्ति याद आ जाती है :

> तेरे वनों की स्तब्धता में दिव्य कोई राग है।

ऐसा लगता है कि वनों, पर्वतों पर घूमने का शौक, उस समय पड़े संस्कारों का ही परिणाम है। इस शौक ने कभी चैन से बैठने नहीं दिया। देश के एक छोर से दूसरे तक प्रत्येक तीर्थ, ऐतिहासिक स्थल और विशिष्ट प्रदेश को देखने की प्रेरणा की। इसके अतिरिक्त कैलाश-मानसरोवर की यात्रा, यूरोप-भ्रमण, रशिया के युवक

समारोह और जापान में होने वाले सांस्कृतिक समारोह में भाग लेने की अन्तः प्रेरणा का श्रेय भी इन्हीं संस्कारों को दिया जाना चाहिये।

बाढ़ के बाद रहने की सारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी। इसलिये द्वितीय श्रेणी में हमें कनखल स्थित लण्ढौर की कोठी में और कुछ मास बाद मायापुर वाटिका में रखा गया।

उन दिनों हमें कभी-कभी मायापुर और कनखल या नहर की सड़क पर भ्रमण करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द जी के दर्शन हो जाया करते थे। वे गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को देखकर खड़े हो जाते थे। हम उनके चरणस्पर्श करते थे और वे हम सब के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया करते थे।

उन दिनों गुरुकुल केवल शिक्षा संस्था न होकर भारतीय संस्कृति के प्रसार और मातृभूमि के प्रति गरिमा की भावना को जागृत करने का एक आन्दोलन था। इसी शृंखला में श्री रवीन्द्रनाथ की विश्वभारती, काशी विद्यापीठ और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी।

स्वामी जी का बलिदान

१९२६ के दिसम्बर मास में अब्दुलरशीद नामक एक मुसलमान ने दिल्ली में, प्यास का बहाना करके उनके सेवक को पानी लाने के लिए भिजवा कर, एकान्त पाकर पिस्तोल से गोलियाँ चलाकर उनकी हत्या कर दी। उनकी शव यात्रा, दिल्ली के इतिहास में अभूतपूर्व थी।

हम छोटे विद्यार्थी उस समय की खबरों को सुनकर उन्हें विश्व का सबसे महान् पुरुष समझते थे और अपने को उनके द्वारा स्थापित संस्था में होने के कारण अत्यन्त गौरवपूर्ण मानते थे।

●

करुणा के सागर स्वामी श्रद्धानन्द

—प्रो० हरिदत्त वेदालंकार

बौद्ध साहित्य में अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की बड़ी मनोरम कल्पना की गई है। इनके बारे में यह माना जाता है कि वे सहस्र नेत्र और सहस्र-बाहु हैं, संसार के सब प्राणियों का निरन्तर अवलोकन करते रहते हैं। इस अवलोकन के कारण इन्हें अवलोकितेश्वर का नाम दिया गया है। जब ये किसी भी प्राणी को किसी कष्ट या विपत्ति से ग्रस्त देखते हैं तो गजेन्द्रमक्षि के विष्णु की भाँति तुरन्त उस प्राणी का विपत्ति मे उद्धार करने के लिये दौड़े चले आते हैं। इनकी हजार आँखें और भुजाएँ प्रतीक रूप में प्राणियों के कष्टों को देखने और उनसे उद्धार करने के लिये बनाई जाती हैं। वे करुणा के अवतार हैं और सब प्राणियों को दुःख-मुक्त करना इनका परम लक्ष्य है।

स्वामी श्रद्धानन्द जी आधुनिक अवलोकितेश्वर थे। उनके चरित्र में जहाँ अन्य महान् गुण थे, वहाँ उनके हृदय में करुणा का सागर सदैव उमड़ता रहता था। वे अपने साथियों, सहयोगियों, कर्मचारियों व ब्रह्मचारियों के प्रति अतीव दयालु थे और किसी भी परिचित व्यक्ति के कष्टग्रस्त होने पर वे अपनी ओर से उसकी पूरी सहायता करते थे। इस विषय में श्री पण्डित कन्हैयालाल शास्त्री का निम्नलिखित हृदयस्पर्शी संस्मरण उल्लेखनीय है।

यह घटना गुरुकुल कांगड़ी के आरम्भिक वर्षों की है, जब यह संस्था गंगा के बायें तट पर हिमालय की गोद में अवस्थित थी, आधुनिक युग की सुख-सुविधाओं से वंचित थी। छात्र और अध्यापक घने जंगल में बने कच्चे मकानों में रहा करते थे। उन दिनों पण्डित कन्हैयालाल शास्त्री छात्रों को संस्कृत पढ़ाया करते थे। एक दिन स्वामी जी ने उन्हें अपने कार्यालय में बुलाकर गुरुकुल के आवश्यक कार्य से १५–२० दिन के लिये कलकत्ता जाने को कहा।

शास्त्री जी की पत्नी आपन्नसत्वा थीं, कुछ समय बाद उनकी सन्तान होने वाली थी। ऐसी दशा में शास्त्री जी का घर छोड़कर जाना किसी भी दशा में उचित न था। यदि वे स्वामी जी को यह बात बता देते तो स्वामी जी उन्हें कभी बाहर न भेजते, किन्तु शास्त्री जी संकोचवश अपने न जाने की विवशता को स्वामी जी के सम्मुख प्रकट नहीं कर सके और वे उनका आदेश शिरोधार्य करके कलकत्ता चले गये।

स्वामी जी का यह नियम था कि वे रात के समय लालटेन लेकर पुरानी गुरुकुल भूमि के छात्रावासों तथा परिवार गृहों का पूरा चक्कर लगाया करते थे, ताकि हिंस्र जन्तुओं और अन्य बाधाओं का निवारण किया जा सके। यदि किसी

छात्र का कम्बल बिस्तर से नीचे गिरा होता था तो वे उठाकर उसे ओढ़ा देते थे।

ऐसे ही एक परिभ्रमण में उन्होंने रात के समय परिवार-गृहों से गुजरते हुये अत्यन्त वेदना भरी चीख सुनी। यह शास्त्री जी के घर से आ रही थी, उनकी पत्नी 'हाय मरी' कहकर चिल्ला रही थीं। स्वामी जी ने कुन्डा खटखटाया और खुलने पर जब उन्हें शास्त्री जी की पत्नी के कष्ट का पता चला तो वे वहीं रुक गये। उन्होंने तुरन्त रसोई में आकर चूल्हा जलाकर पानी गरम किया और अन्य आवश्यक उपचार किये। जब तक शास्त्री जी कलकत्ता से लौट नहीं आये तब तक उन्होंने डाक्टर को उनका पूरा ध्यान रखने को कहा और प्रतिदिन हाल पूछने जाते रहे।

शास्त्री जी जब वापिस लौट कर आये, उनका हृदय स्वामी जी की अद्‌भुत भक्तवत्सलता, सेवा-परायणता से इतना गदगद हो गया कि वे आजीवन गुरुकुल की सेवा में लगे रहे। स्वामी जी की दयालुता और करुणा का अभीष्ट प्रभाव उस समय के सभी कुलवासियों के हृदय-पटल पर अंकित है।

●

मेरे प्रेरणा स्रोत

—पं० आनन्दप्रिय

मेरे पूज्य पिता मास्टर आत्माराम जी अमृतसरी स्वामी श्रद्धानन्द जी के समकालीन थे। उस समय स्वामी श्रद्धानन्द जी महात्मा मुंशीराम के नाम से जाने जाते थे। जिन दिनों महात्मा मुंशीराम जी प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान थे उस समय मेरे पिता जी कुछ काल तक मंत्री पद पर कार्य करते रहे। बाद में पिता जी अमृतसर चले आये और वहाँ से साप्ताहिक पत्र 'हितकारी' निकालना शुरू किया। उस समय महात्मा मुंशीराम जी 'सद्धर्म प्रचारक' निकाल रहे थे और उसके सम्पादक थे।

गुजरात में सूरत जिले के अधिकांश आर्य बन्धु स्वामी श्रद्धानन्द जी के अनन्य भक्त थे और उन्होंने नवसारी के निकट सूपा में कांगड़ी गुरुकुल की शाखा के रूप में स्वामी जी के करकमलों से एक गुरुकुल की स्थापना करवाई थी। उस समय इस गुरुकुल के मुख्य संचालक श्री दयाल जी भीमभाई एम. ए. हमारे कुटुम्ब के परम प्रेमी थे। स्वभावतः स्वामी श्रद्धानन्द जी का स्मारक होने तथा श्री दयाल जी के साथ मित्रता होने के कारण मैं और मेरे पूज्य पिता जी गुरुकुल के प्रारम्भिक वर्षों में वहाँ के वार्षिकोत्सवों में हमेशा जाया करते थे। उत्सव के समय गुरुकुल के लिये धन की अपील मैं ही करता था।

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय, स्वामी श्रद्धानन्द और लाला लाजपतराय के सहयोग से सन् १९२३ में हिन्दू महासभा की स्थापना की गई। उस समय अपने बहनोई श्री कुंवर चाँदकरण जी शारदा के साथ मैं भी वहाँ गया था। मालवीय जी ने सभा का जो नया मंत्रीमण्डल बनाया था उसमें बाबू पदमराज जैन, श्री आशुतोष लाहिरी (कलकत्ता) के साथ गुजरात से मुझे भी एक मंत्री बनाया था। इसके बाद जब स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुजरात में प्रचारार्थ दौरा किया, तो मैं भी उनके साथ था। उनके आगमन से लोगों में बड़ी जागृति आयी और संगठन एवं शुद्धि के कार्य में तेजी आयी। इस दौरे का एक मनोरंजक प्रसंग मुझे आज भी स्मरण है। जब वे बलसाड़ गाँव में व्याख्यान दे रहे थे तो एक बड़ा मेंढ़क जहाँ जनता बैठी थी वहाँ कूद पड़ा। स्वामी जी का व्याख्यान चल रहा था। मेंढ़क के कूदने से लोगों में हलचल मच गई, वे उठ कर खड़े हो गये और तितर-बितर होने लगे। तब स्वामी जी ने जनता को उपालम्भ देते हुये कहा कि "तुम मेंढ़क के कूदने से भागते हो तो हिन्दू समाज की रक्षा कैसे कर सकोगे? क्या इसी बलबूते पर अपने नारी समाज की और सम्पत्ति की रक्षा करोगे?" इतना सुनना था, सभी लोग आराम से बैठ गये और शांतिपूर्वक व्याख्यान सुनने लगे। स्वामी जी के भाषण का बहुत प्रभाव पड़ा।

इसी अवसर पर बड़ौदा में हमने आर्य कुमार महासभा का उत्सव किया और स्वामी जी को अध्यक्ष बनाया। उत्सव में हरिजन-भजन-मडलियाँ आमन्त्रित की गई थीं। स्वामी जी आर्यकुमार के रूप में उपस्थित हरिजन कुमारों के कार्य को देख कर वहुत प्रसन्न हुये। उन्होंने आशीर्वाद देते हुये कहा—"यदि हरिजन-समाज आर्य-समाज में सामूहिक रूप से दीक्षित हो जाये तो हिन्दू जाति का कल्याण हो जायेगा, अन्यथा नहीं।"

स्वामी जी के साथ इस परिचय के बाद मैं जब कभी दिल्ली जाता था तो स्वामी जी के पास ही ठहरता था। उनका सेवक धर्मसिह मुझे भोजन आदि कराता। स्वामी जी मुझसे पुत्रवत् प्यार रखते थे। जब मैं वहाँ से चलता तो वे अपने भक्तों द्वारा लाये सूखे मेवा आदि को प्रसाद के रूप में मुझे दे देते थे। मैं उनका यह प्रेम देखकर गदगद हो जाता था।

जब गुजरात में आगाखान ने साठ हजार हरिजनों को दस लाख रुपये खर्च करके 'खोजा' बनाया था, तो मैंने स्वामी जी द्वारा स्थापित भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा के अधिकारियों को पत्र लिखा। शुद्धि सभा के प्रधान महात्मा हंसराज जी थे। मैंने पत्र स्वामी श्रद्धानन्द जी के नाम लिखा था। वहाँ से पत्र आया--'तुम यदि प्रतिकार करो तो हम तुम्हें बड़ौदा से शुद्धि सभा स्थापित करने के १५० रुपये देंगे। दूसरे, मास्टर आत्माराम जी का लड़का हमें लिखता है—वह क्या कर रहा है ?" इस प्रेरणाप्रद पत्र को पाकर मैं बहुत प्रभावित हुआ। मैं उस समय बड़ौदा सिटी में मजिस्ट्रेट के पद पर था, फौरन त्यागपत्र दिया और शुद्धि सभा स्थापित करके अपना कार्य शुरू कर दिया। बाद में मैंने अपने बहनोई श्री कुंवर चांदकरण जी शारदा की प्रेरणा से आर्य कुमार सभा की भी स्थापना की। हमारे शुद्धि और संगठन के कार्य में सेठ श्री जुगलकिशोर जी बिड़ला और राजा श्री नारायणलाल जी पित्ती ने आर्थिक सहायता दी। हमने साठ हजार हरिजनों की शुद्धि के उपरान्त लगभग डेढ़ लाख विधर्मियों की भी शुद्धि की थी।

स्वामी श्रद्धानन्द जी की इसी प्रेरणा का फल है कि मैं आजीवन आर्यसमाज के क्षेत्र में आर्यकुमार महासभा के अवैतनिक मंत्री के रूप में कार्य कर रहा हूँ, जिसके अधीन आर्यसमाज की दस शिक्षण संस्थाएँ चलायी जा रही हैं। ●

वात्सल्य के प्रतिरूप

—श्री प्रेमचन्द्र शास्त्री विद्याभास्कर

सन् १९१८ की बात है। मेरे स्व० पूज्य पिता की श्रद्धा वैदिक भारतीय संस्कृति में थी, और प्राचीन गुरुकुल शिक्षा-पद्धति में दृढ़ आस्था थी। इसी कारण वे मुझे आठ वर्ष की अवस्था में कुरुक्षेत्र के गुरुकुल में प्रविष्ट कराने के लिये वहाँ ले गये। प्रवेश से पूर्व डॉक्टर शिवराज जी ने मेरे शरीर की परीक्षा की। उपरान्त पिता जी को सम्मति दी कि वे ३ मास के पश्चात् गुरुकुल में प्रवेश के लिये मुझे पुनः लेकर आयें और इस अवधि में मेरी शारीरिक निर्बलता दूर करने का प्रयत्न करें। मुझे घर वापस ले जाया गया और तीन मास के अन्दर घर और परिवार के सभी सगे सम्बन्धियों और गुरुजनों को प्रणाम करके उनसे शुभ आशीर्वाद प्राप्त कर, पुनः गुरुकुल में प्रवेश दिलाने की इच्छा से लाया गया।

मैं गुरुकुल में प्रविष्ट हो गया और इसके साथ ही साथ गुरु जी स्व० श्री पं० विष्णुमित्र जी—जो उस समय वहाँ के आचार्य थे और गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना के समय पूज्य — स्वामी श्रद्धानन्द जी के (जिनका उस समय का नाम महात्मा मुंशीरामजी था) सहयोगी कार्यकर्त्ताओं में प्रमुख थे—ने मेरा उपनयन संस्कार कराया। मैं गुरुकुल के ब्रह्मचर्य आश्रम के सब नियमों और विधि विधानों का यथावत् पालन करता हुआ विद्याध्ययन में प्रवृत्त हो गया। दो मास के अनन्तर ही वहाँ का वार्षिक समारोह होने को था। दो मास भी व्यतीत हुये और समारोह का अवसर उपस्थित हो गया। गुरुकुल में बाहर से चारों दिशाओं से गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के समर्थक, गुरुकुल में प्रविष्ट ब्रह्मचारियों के संरक्षक और आर्य विचार-धारा के सम्पोषक तथा प्रचारक आ-आकर छोलदारियों से बनाई गई शिविर-भूमि में एकत्र होने लगे। हलचल बढ़ती गई और सर्वत्र प्रसन्नता, आह्लाद और उत्साह का वातावरण दिखाई देने लगा।

व्यवस्थापकों ने हमारे वेदारम्भ संस्कार की तैयारी कर दी, हमें ३ माह तक रोटी, दाल सब्जी के स्थान पर दूध और पेड़ ही भोजन के लिये दिये जाते रहे। वेदारम्भ का नियत समय आ उपस्थित हुआ। यज्ञवेदी पर हम १२ नवीन प्रविष्ट ब्रह्मचारी बैठे थे, मौन होकर इस जिज्ञासा के साथ कि देखें अब क्या होगा। हम सब ब्रह्मचारियों ने पीली धोती धारण कर रखी थी। थोड़ी ही देर में देखते हैं कि एक महापुरुष गेरुए वस्त्र धारण किए हुये, लम्बे-चौड़े डीलडौल वाले, आजानुबाहु, विशाल वक्षस्थल, चौड़े कन्धे और उन्नत ललाट वाले आकर हमारे पास ही पूर्वभिमुख अपने लिये नियत आसन पर विराजमान हो गये। उनकी वाणी में ओज था, चेहरे पर तेज था और स्वभाव में गाम्भीर्य। उनके [illegible] होते ही

उपस्थित जनसमुदाय ने मौनभाव से उनका अभिवादन किया और संपूर्ण वातावरण उनसे प्रभावित हो शान्त और निस्तब्ध हो गया। बाद में हमें मालूम हुआ कि ये स्वामी श्रद्धानन्द जी हैं, ये ही गुरुकुल के संस्थापक हैं और यही हमारे आचार्य हैं और हैं भारत के नेता। उनके प्रति मन में आदर भाव बढ़ा और हमारे मस्तक श्रद्धावनत हो गये।

संस्कार के समय "ब्रह्मचर्यसि असौ" से लेकर 'मेखला दण्डधारण भैक्ष्यचर्य समिदाधानोदक स्पर्शनाचार्य प्रियाचरण प्रातः सायमभिवादन विद्यासंचय जितेन्द्रियत्वादीन्येते ते नित्यधर्माः" तक के सभी शास्त्रोक कर्त्तव्यधर्मों के उपदेश स्वामी जी ने हमें बड़े प्रेमभाव से समझाये। इन उपदेशों में उन्होंने जिस बात पर विशेष बल दिया वह थी कन्धे पर उपरना रखना और हाथ में दण्ड धारण करना। इन दोनों का उपयोग और लाभ बताते समय स्वामी जी के जिन गुणों का प्रभाव हम बालकों पर पड़ रहा था, वे थे ओज, तेज, गाम्भीर्य और वैयक्तिक प्रभाव।

महापुरुषों के चित्त वज्र से भी अधिक कठोर और फूलों से भी अधिक मृदु हुआ करते हैं; इनका जानना हर एक के लिये असंभव है। स्वामी जी का चित्त भी ऐसा ही था। इनके चित्त की कठोरता का पता सबसे पहले हमें तभी चला, जब वे हमारा वेदारम्भ संस्कार कराने के लिये हमारे मध्य आये थे। उनके माथे पर पट्टी बन्धी हुई थी। पट्टी देखकर समस्त उपस्थित जन समुदाय में उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। पारस्परिक चर्चा के परिणामस्वरूप पट्टी का रहस्य खुला उस समय मोपला-काण्ड हुआ था और उसमें हिन्दू और मुसलमानों में तीव्र संघर्ष खड़ा हो गया था। उसमें पड़ना जान पर जोखिम लेने के सिवाये और कुछ नहीं था। परन्तु स्वामी जी के वज्र से भी कठोर चित्त में इस संघर्ष से कुछ भी घबराहट नहीं हुई और बड़ी वीरता के साथ क्षात्र धर्म का पालन करते हुये ठीक उसी प्रकार मुसलमानों के बीच गये जैसे राजपूत क्षत्रिय वीर शत्रु-सेना में प्रवेश किया करते थे अथवा जिस प्रकार पाकिस्तानी सेना पर हमारे वीर जवान बेधड़क चढ़ जाते थे। वे उनके बीच उन्हें मारने के लिये नहीं, अपितु उन्हें समझाने के लिये और न्याय-पक्ष स्थापित करने के लिये गये थे। वहीं धर्मान्ध मुसलमानों के आक्रमण से उनके माथे पर यह आघात पहुँचा था। स्वामी जी के अन्दर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों के धर्म समान रूप से विद्यमान थे। समयानुसार वह प्रत्येक धर्म का पालन बड़ी निष्ठा और योग्यता के साथ किया करते थे।

वेदारम्भ-संस्कार के सम्बन्ध में एक बात लिखने से रह गई। जब संस्कार समाप्त हो गया तब स्वामी जी ने भिक्षावृत्ति के लिये हमें उपस्थित जन-समुदाय के अन्दर चारों ओर छोड़ दिया। हम अपनी-अपनी झोली पसार कर जनता में बिखर गये और भिक्षा मांगने लगे। अपनी झोली लेकर हम जिसके पास से गुजरते वही बड़े प्रेम और वात्सल्य तथा श्रद्धा के साथ हमारी झोली में रुपया, पैसा, मिठाई,

फल—जिसके पास जो कुछ था—डालता जा रहा था। भिक्षा एकत्र करके, मंच पर स्वामी जी के सामने रखी हुई एक बड़ी परांत में हमने अपनी-अपनी झोली की भिक्षा उड़ेल दी और हम सब नवीन प्रविष्ट ब्रह्मचारी वहीं स्वामी जी के पास बैठ गये। स्वामी जी ने पुनः आशीर्वाद देकर उस एकत्र भिक्षा में से मिठाई तथा फल उठा-उठाकर हम सब को बाँटे और स्वामी जी की आज्ञा से हमने उन्हें खाया। स्वामी जी ने भी थोड़ी-सी भिक्षा ली थी। स्वामी जी के साथ बैठकर सबका सम्मिलित भोजन करना एक आदर्श सम्मिलित परिवार-प्रणाली का अद्भुत दृश्य था। स्वामी जी हमें बड़े लाड़-प्यार से मिठाई और फल खिला रहे थे।

हम गुरुकुल में रहने लगे और विद्याध्ययन करने लगे। समय बीतता गया। चार वर्ष व्यतीत हो गये। स्वामी जी का स्वास्थ्य जब भी कुछ शिथिल होता था, गुरुकुल कांगड़ी से गुरुकुल कुरुक्षेत्र में आकर ही स्वास्थ्य लाभ किया करते थे। वहाँ विशेष रूप से उनके लिये एक कुटिया बनी हुई थी। उसका नाम स्वामी जी की कुटिया है। अकस्मात् स्वामी जी का स्वास्थ्य कुछ बिगड़ा और वे कुरुक्षेत्र गुरुकुल में आये। उस समय वहाँ पाँचवीं कक्षा तक के ही छात्र थे। चौथी और पाँचवीं कक्षा के लगभग ४० छात्र मुख्य द्वार पर दोनों ओर से पंक्तियाँ बनाकर स्वागी जी का स्वागत करने के लिये खड़े हुये। खड़े-खड़े धूप आ गई और हम सब धूप में ही खड़े रहे। ग्रीष्म ऋतु और मध्याह्न का काल। धूप में प्रचण्डता आई और वह मुझे असह्य होने लगी। अनुशासन भंग होने के भय से मैंने किसी से कुछ नहीं कहा और उसी तरह धूप में स्थिर भाव से खड़ा रहा। इतने में ही मुझे चक्कर आ गया और मैं वहीं भूमि पर गिर पड़ा और चेतना से विहीन हो गया।

तत्काल ही सब छात्र समुदाय और अध्यापक वृन्द घबरा गया और चिकित्सक ने मेरा तात्कालिक उपचार किया। मुझे समीप के ही एक कमरे में लिटा दिया गया। कुछ काल पश्चात् चेतना आने पर मुझे इस घटना का ज्ञान हुआ। इतने में ही स्वामी जी आ गये। आयोजित स्वागत आदि के अनन्तर ही स्वामी को मेरे निश्चेतन होकर गिर जाने और उस कमरे में लेटने का पता लग गया। आज तक भी मुझे यह नहीं मालूम हुआ कि स्वामी जी को यह घटना किसने बताई।

सुनते ही स्वामी जी मेरे पास आये और मुझे देखकर गुरुकुल के चिकित्सक डॉ० शिवराज जी से पूछने लगे, 'इसे दूध पिलाया है'। डॉ० जी ने कहा कि 'अभी तो नहीं पिलाया।' स्वामी जी की आज्ञा से उसी समय गर्म दूध मेरे लिये मंगाया गया और स्वामी जी ने औरस पुत्र से भी बढ़कर वात्सल्य भाव से मुझे अपने हाथ से दूध पिलाया। स्वामी जी गुरुकुल के सभी ब्रह्मचारियों को अपने पुत्र के समान समझते थे।

इतना पुष्पों से भी अधिक कोमल था स्वामी जी का चित्त। स्वामी जी

कठोर थे, कोमल थे और थे आदर्श आचार्य । स्वामी जी की कठोरता और मृदुता की अनेक घटनायें हैं, जो जगत-विख्यात हैं और वर्णनातीत हैं ।

स्वामी जी आर्यसमाजी थे, कांग्रेसी थे, हिन्दू भाई थे, हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे, शुद्धि आन्दोलन के सूत्रधार थे । वे वीरता की मूर्ति थे, दया के अवतार थे, शिक्षा के आचार्य थे, अखाड़े के पहलवान थे, संन्यासी थे, तपस्वी थे, महात्मा थे और राजा भी थे । वे हिन्दुओं के, मुसलमानों के, और सिक्खों के, सभी के थे । वे वेदों के विचारक थे और विज्ञान के प्रचारक थे । वे अन्दर से पवित्र थे और बाहर से भी शुद्ध थे । वे अध्यात्मवादी थे और राजनीति में भी निष्णात थे । वे महामानव थे ।

स्वामी जी का एक बड़ा चित्र मेरे घर में टंगा है । उसे देख-देखकर मैं सदा उनके इन गुणों का स्मरण करता और उन्हें प्रणाम करता रहता हूँ । ●

पितृ-तुल्य स्वामी श्रद्धानन्द

—डॉ० युद्धवीरसिंह

आर्य परिवार में पैदा होने के कारण महात्मा मुंशीराम जी अथवा स्वामी श्रद्धानन्द जी के नाम व काम से तो मैं पूरी जानकारी रखता ही था, मगर दिल्ली में आने के बाद तो पूज्य स्वामी जी के चरणों में बैठने का व्यक्तिगत अवसर मिल गया। उनका व्यक्तित्व विशाल था और मुझ जैसे छोटी उम्र के लोगों को उनका पितृ-तुल्य स्नेह मिलता था।

आर्य कुमार परिषद् का मंत्री होने के नाते उनके पास बलिदान भवन में जब भी जाने का अवसर मिलता तो ऐसा लगता जैसे पिता जी के पास आया हूँ। काम की बात हो जाती तो कहते "धर्मसिंह, लाओ इनके लिए कुछ जलपान लाओ" और बिना कुछ खिलाये-पिलाये विदा न करते। एक दिन कुछ साधारण सा जलपान धर्मसिंह द्वारा लाया देखकर बोले—'अरे वे लड्डू क्या हुए? वे लाओ,' और धर्मसिंह तुरन्त सुन्दर-सुन्दर लड्डू ले आये। यह मामूली घटना है, मगर मैं बता नहीं सकता कि मेरे ऊपर उनके इस वात्सल्य का कितना प्रभाव पड़ता था?

स्वामी दयानन्द जी महाराज की जन्म-शताब्दी के पहले शताब्दी लिए धन संग्रहार्थ उनके साथ बम्बई गया था। वे वैसे पूना जा रहे थे, क्योंकि वहाँ महात्मा गांधी का अपेन्डिक्स का आपरेशन हुआ था और बन्दी अवस्था में ही वे सासून अस्पताल में थे। मेरे अनुरोध पर उन्होंने २ दिन बम्बई ठहर कर कुछ धन शताब्दी समारोह के लिए एकत्र करना स्वीकार कर लिया था। मैंने वहाँ उनके व्यक्तित्व का प्रभाव देखा। जयनारायण जी डानी आदि बहुत से दानियों के पास वे गए। किसी ने न तो क्या करना था, जो वे कहते वही मिल जाता। एक दानी महोदय ने अपने सेक्रेटरी से १०००/-रुपया का चैक देने को कहा। स्वामी जी ने कहा नहीं, यह कम है। वे बोले जो आप आज्ञा दें। स्वामी जी ने थोड़ा सोचकर कहा पाँच हजार और पाँच हजार का चैक मुझे मिल गया। अन्य सब जगह भी इसी तरह हुआ।

मैं जब कभी उनकी आज्ञा से कोई प्रैसनोट अंग्रेजी अखबारों के लिए लिख कर पेश करता तो उसे सुधारते समय उनके माथे पर बल नहीं पड़ता, बल्कि बड़े प्रेम से समझाते और कोई एक ऐसा शब्द बदलते कि मैं देखते ही रह जाता।

एक दफा आर्य कुमार परिषद् के लिए मैं और पं० इन्द्र जी उनसे कुछ सहायता उनके दान कोष में से माँगने [illegible] का महीना था, बोले बहुत देर में

आए, साल आखीर है, अब तो कुछ पैसा बचा न होगा। मैं कुछ निराश सा हुआ मगर फिर भी चैक बुक देखकर २५० रुपये का चैक दे ही दिया। बोले नौजवानों में काम किये जाओ। ये ही देश के कर्णधार हैं। बस इनका चरित्र-निर्माण ही देश की पूंजी होगी।

उनका अनुशासन, स्नेह, उनकी निर्भीकता, उनकी दूर-दृष्टि और अपने अधीन या साथ काम करने वालों पर असीम विश्वास और प्रेम उनकी विशेषतायें थीं। अब कहाँ हैं ऐसे नेता ? मगर उनके जीवन से आज हम प्रेरणा प्राप्त करके धन्य हो सकते हैं।

महामानव स्वामी श्रद्धानन्द

—स्वामी भीष्म जी महाराज

लगभग ६०–७० वर्ष पूर्व मुझे स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के निकट संपर्क में आने और उनके साथ कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय की कतिपय घटनाएँ स्मृति-पटल पर अंकित हैं, उन्हें मैं पाठकों की जानकारी के लिये प्रस्तुत कर रहा हूँ।

गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ की स्थापना के लिये स्वामी जी ने दिल्ली के निकट भूमि की माँग की, तो लकड़पुर, अनंगपुर और खोजा सराय ग्रामों के लोगों ने अपनी लगभग १३५० बीघे भूमि स्वामी जी को दान में दे दी। यह सारी भूमि एक पहाड़ की शक्ल में थी। ग्रामवासियों ने भूमि देते समय यह स्पष्ट चेतावनी भी दे दी कि स्वामी जी ! भूमि तो हम दे देते हैं, पर यह विचार कर लीजिये कि इस बियावान जंगल में खूँखार जानवरों से आपके ब्रह्मचारियों की रक्षा कैसे होगी। तब स्वामी जी ने हम लोगों से परामर्श किया। हमने कहा कि आप चिन्ता मत कीजिये, भूमि मिल जाने दीजिये और गुरुकुल स्थापित कर लीजिये, जानवरों से तो रक्षा हम कर लेंगे। तत्पश्चात् स्वामी जी ने वहीं पर गुरुकुल की स्थापना कर दी।

गुरुकुल में ही एक स्थान पर क्रान्तिकारियों का गुप्त अड्डा था, जहाँ वे अपनी बैठकें करते और बम आदि तैयार करते थे। वह स्थान आज भी 'शहीद असैम्बली हाल' के नाम से जाना जाता है। यही कारण था कि गुरुकुल को अंग्रेज सरकार सन्देह की दृष्टि से देखती थी और गुरुकुल की रजत जयन्ती के समय समस्त ब्रह्मचारियों एवं अध्यापकों को अंग्रेज सरकार ने गिरफ्तार कर जेल भेज दिया था। परिणामतः रजत जयन्ती कारागार में ही मनाई गई थी।

× × ×

दिल्ली में हसन निजामी नामक एक मुसलमान नेता रहा करते थे। उन्होंने मुस्लिम लीग के साथ 'तब्लीग' नामक संस्था की स्थापना की थी। इस संस्था का कार्य हिन्दुओं को मुसलमान बनाना था। इसी समय स्वामी जी ने शुद्धि-आन्दोलन का शुभारम्भ कर 'शुद्धि सभा' की स्थापना की। इस सभा में अन्य आर्यजनों के साथ मैं भी सम्मिलित था। हम हिन्दू से मुसलमान बनाये गये लोगों को शुद्ध कर के पुनः हिन्दू धर्म में सम्मिलित किया करते थे। इस सारे अभियान के नेता स्वामी जी थे। वे हमें सूचना देते थे और हम आगे कार्यवाही करते थे।

स्वामी जी ने मेरा नाम मिया मुजफ्फर खाँ रखा था। मैं उन दिनों प्राय: मस्जिदों में ठहरता था, क्योंकि मुसलमान बनाये गये व्यक्तियों को मस्जिदों में ही रखा जाता था। हम वहाँ से उन्हें निकाल कर बाहर लाते थे और उन्हें सामूहिक रूप से शुद्ध करके हिन्दू बना दिया करते थे। मैंने मजीद नामक एक मुस्लिम युवक को शुद्ध करके रामदत्त गौड़ नाम दिया और अनाथालय की एक कन्या से उसका विवाह करवा दिया। मैंने स्वामी जी के मार्गदर्शन में २८ मुसलमानों को शुद्ध किया और सैंकड़ों हिन्दुओं को मुसलमानों के चंगुल से छुड़वाया। ●

मैं उनका ऋणी हूँ

—श्री भगवद्दत्त वेदालंकार

उत्तर प्रदेशान्तर्गत मेरठ जिले के नेव ग्राम का एक छोटा बालक अपने घर में न रहकर कुनबे की दादी, नहीं नहीं ग्राम की दादी के पास रहा करता। बच्चा उसी का जो प्यार करे। माता-पिता कभी-कभी डाँट-डपट देते, कभी मरम्मत भी कर देते। स्वाभाविक है बच्चा घर में क्यों रहे। दादी बूढ़ी थी, आँखे भी अन्दर को धँसी थीं, एक आँख से दिखता ही नहीं था। अतः दादी की अधपकी, कच्ची-पक्की रोटी बड़ी स्वाद लगतीं। परिणामतः पेट खराब रहता। दूसरे मीठे का शौकीन तो जन्म से ही था। ब्याह-शादी कभी कहीं हुई तो खाने को लड्डू मिल गये और कुछ नहीं तो मिठाई के नाम से गुड़ ही खाया। घर में गुड़ की कमी न थी। ब्राह्मण जो ठहरे, फिर पिता जो हकीम। सब ओर से गुड़ भी खूब आता। दादी की कच्ची-पक्की रोटी तथा अति मात्रा में गुड़ के खाने से दस्त जो शुरू हुये, ६½ वर्ष की आयु तक कभी ठीक न हुये और फिर फोड़े-फुंसियाँ, सिर में गंज तथा छाती, कमर आदि सब अंगों की हड्डियाँ चमक उठीं। इस प्रकार से नरकंकाल रूपी यूप पर वस्त्र के तुल्य चमड़ी लपेटी हुई थी। यह थी मेरी शारीरिक स्थिति।

माता-पिता ने गांव के स्कूल में भेजना शुरू किया। उन दिनों जरा सी गल्ती पर या पाठ याद न करने पर मुर्गा बनाकर इतना अधिक मारा-पीटा जाता था कि डर के मारे स्कूल न जाकर ग्वालों के पीछे खेतों में चले जाना या शिवालय में जा छिपना, या दादी के घर जा छिपना—यही लुका-छिपी चलती रही। ग्राम में गुरुकुल कांगड़ी का नाम पहुंच-चुका था। माता पिता ने सोचा कि यह यहां तो पढ़ेगा नहीं, इसे गुरुकुल में ही प्रवेश दिलाना चाहिये। गुरुकुल से नियमावली मंगाई गयी। गुरुकुल के उच्च आदर्श तथा नियम आदि पढ़ कर माता-पिता ने दृढ़ संकल्प कर लिया कि इसे गुरुकुल में ही प्रविष्ट कराना है।

गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ की ओर

उन दिनों गुरुकुल में नियमों का दृढ़ता से पालन होता था। प्रति वष ५००-६०० प्रवेशार्थियों के प्रार्थनापत्र आते थे। चूंकि साढ़े नौ वर्ष का बताने पर किसी भी हालत में गुरुकुल में प्रवेश न हो सकता था, इसलिये मेरी आयु साढ़े नौ वर्ष के स्थान पर साढ़े आठ वर्ष कर दी गई। पिता जी तथा गाँव के एक चौधरी साहब मुझे गुरुकुल में प्रविष्ट कराने चल पड़े। जब दादी को पता चला कि मेरे लाड़ले को गुरुकुण्ड (उन दिनों सामान्य ग्रामीण लोगों में गुरुकुल की छवि ऐसी ही थी) में फंकने जा रहे हैं तो वे मुझे छाती से लिपटा कर बहुत रोयीं। पर उस बेचारी का

मुझे रोक रखने का सामर्थ्य कहाँ ? पीछे मुझे पता चला कि दादी खेतों में घास खोदने जातीं तो मेरे गीत गा-गा कर रोतीं । चौधरी और किसान पूछते कि दादी तू रोती क्यों है, तो वे रोती-रोती कहतीं "मैं ही दुश्मन थी, मेरा बेटा गुरुकुण्ड में फेंक दिया गया । न जाने वह जिन्दा भी है कि नहीं । और भी तो चार बालक हैं, इनमें से किसी को क्यों नहीं फेंका ।"

उन दिनों नवीन छात्रों का प्रवेश गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में होता था । मैंने मेरठ स्टेशन पर पहुँच कर जीवन में पहली बार रेलगाड़ी देखी तो भौंचक्का रह गया । आँखे फटी की फटी रह गयीं । मन में एक बार यह भी आया कि इतनी लम्बी गाड़ी को बैल कैसे खींचेगे । डिब्बे में कभी इधर जाता और कभी उधर । इसी विस्मय की स्थिति में हम इन्द्रप्रस्थ पहुँचे । वहाँ जो पुराने विद्यार्थियों को देखा, वह और भी सुखद आश्चर्य में डालने वाला था । सब विद्यार्थियों की एक ही वेशभूषा थी । सब छात्र जीन की खाकी निक्कर पहने हुये फुटबॉल, हॉकी, कबड्डी आदि खेल रहे थे । जीवन में प्रथम बार हॉकी तथा फुटबॉल के दर्शन हुये और यह देखकर आश्चर्य हुआ कि फुटबॉल इतनी बड़ी होती है और इतनी ऊँची उछलती है । उत्सव के अवसर पर प्रतिदिन प्रातराश में कभी जलेबी, कभी बूँदी, कभी गुलाब जामुन तथा खीर आदि मिलती थी । फिर क्या था, मेरा मन-मयूर खुशी से नाच उठा और यह निश्चय कर लिया कि यहीं रहूँगा । खाने को सदा स्वादिष्ट भोज्य-वस्तु मिलेंगी और प्रतिदिन पास से गुजरती रेलगाड़ी को देखूँगा । शैक्षिक योग्यता की परीक्षा हुई । उसमें तो सफल हो गया, पर डाक्टरी परीक्षा में फेल हुआ । पिता जी ने कहा कि बेटा चल घर चल । यह सुनना था कि जमीन पर लेट कर मैं रोने लगा, और कहने लगा कि मैं यहीं रहूंगा, घर नहीं जाऊँगा । वहाँ अन्य बच्चे घर जाने के लिये रो रहे थे और मैं वहीं रहने के लिये रो रहा था । मेरे चारों ओर भीड़ इकट्ठी हो गयी । उस समय न जाने कौन विशाल भव्य मूर्ति थी, जिसने कहा कि इसे प्रविष्ट कर लो । सम्भवतः यह सन् १९२१ की बात है । मुझे गुरुकुल में प्रविष्ट कर लिया गया । वहाँ से हमारी श्रेणी को गंगा पार गुरुकुल कांगड़ी भेज दिया गया । वहाँ यह चर्चा प्रायः रहती थी कि यहाँ साँप-बिच्छू घूमते रहते हैं और कभी-कभी रीछ व शेर भी आ जाते हैं । जहाँ हमें रखा गया था वहाँ पीछे के गलियारे में शेर और रीछ आते हैं, ऐसा हमारी श्रेणी के विद्यार्थियों में चर्चा का विषय था । मेरी समझ में तो वह शेर नहीं आता था बल्कि वह तो गुरुकुल माँ ही सिंहवाहिनी दुर्गा का रूप धारण कर अपने बच्चों को देखने आती थी । इसी का परिणाम था कि तत्कालीन गुरुकुल का विद्यार्थी शेर आदि से भयभीत नहीं होता था । रात्रि को शयन से पूर्व पंक्तिबद्ध हो सब विद्यार्थी लघुशंका निवृत्ति के लिये बाहर जाया करते थे । एक दिन कुछ विद्यार्थियों ने झूठ-मूठ शेर-शेर का शोर कर दिया । वह महान् आत्मा कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द अपनी कुटिया के पास से फुर्ती से बाहर आये और बोले 'कहाँ है शेर ।' बाल सुलभ मसखरेपन से बच्चे बोल उठे—'छका दिया छका दिया' । वे

बोले "बेटा, ऐसा नहीं किया करते। इस बार तो तुमने छका दिया, यदि कभी सचमुच शेर आ जाये तो सुनने वाले यही समझेंगे कि तुम छकाते हो। फिर क्या होगा? आगे से ऐसा मत करना।" यह कहते हुये वे पीठ पर हाथ फेर चले गये।

कुछ दिनों बाद क्या देखा कि कालेज के सभी बड़े भाई रोते हुए झण्डे की तरफ बड़ी शीघ्रता से चले जा रहे हैं। हम छोटे विद्यार्थी परस्पर पूछने लगे कि ये रो क्यों रहे हैं। पता चला कि हमारे कुलपिता गुरुकुल छोड़कर जा रहे हैं। हम बच्चों में यही चर्चा थी कि कोई कहता नकली जा रहे हैं तो कोई कहता असली जा रहे हैं। स्वामी जी महाराज तमेड़रूपी महान् सिंहासन पर आरूढ़ हो सबकी सजल आँखों से दूर हो गये।

हम पाँचवीं श्रेणी में थे। ग्रीष्मावकाश में हमारी देहरादून यात्रा हुई। दो महीने तक वहीं रहना था। हमारे पीछे गंगा की बाढ़ ने गुरुकुल को बहा दिया। बाढ़ की समाप्ति पर हम गुरुकुल आ गये। विद्यार्थियों का आश्रम, जो कच्ची दीवारों और टिन शेड का था, वह सब बह गया। महाविद्यालय के ऊपर संग्रहालय के कमरे में हमारी श्रेणी को रखा गया। यह तो निश्चित था कि इस बाढ़ में गुरुकुल की बहुत क्षति हुई है। सभा के तात्कालिक अधिकारियों ने छठी से दसवीं तक के विद्यार्थियों को इन्द्रप्रस्थ भेजा और पहली से पाँचवीं तक के विद्यार्थियों को गंगा के इस ओर कनखल के समीप मायापुर में भेज दिया। हम छठी श्रेणी में थे। हम इन्द्रप्रस्थ जाना नहीं चाहते थे और विशेषकर मैं तो बहुत दुःखी था, क्योंकि गंगा-स्नान के आनन्द को छोड़कर निर्जल पथरीले स्थान में कौन जाना चाहेगा? चौथी पाँचवीं श्रेणी से ही चंडी मन्दिर के नीचे गंगा की गोद में कूदते और तैरते हुये हम लोग स्वामी जी के खटुवे के पास जा लगते थे। गंगा की उत्ताल तरंगों को मछली की तरह पार करते हुये शब्दों द्वारा अवर्णनीय जिस दिव्य आनन्द की अनुभूति होती थी वह इन्द्रप्रस्थ की काँटे भरी, शुष्क तथा गर्मी से प्रतप्त चट्टानों में कहाँ? गुरुकुल के तत्कालीन वरिष्ठ अधिकारी श्री पंडित विश्वम्भरनाथ जी ने बड़े प्यार भरे शब्दों में कहा, "बेटा, यदि वहाँ तुम्हारा मन न लगा तो हम तुम लोगों को यहाँ बुला लेंगे। इस समय तो तुम लोग वहीं जाओ।" जब हम वहाँ पहुँच ही गये तो मन लगे या न लगे, किसने वापस बुलाना था।

महाप्रयाण से कुछ दिन पूर्व अपने प्यारे गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ को देखने के लिये स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज पधारे। हम छोटे विद्यार्थियों ने रेलत्रे पटरी पर उनका स्वागत किया। उस भव्यमूर्ति के कुछ बोल जो हमारे कर्ण-कोहर में पड़े वे अंतिम ही हैं, यह किसे मालूम था। एक दिन सायंकाल छठी से लेकर दसवीं श्रेणी तक के छात्रों को आश्रम के पीछे वाले बरामदे में पंक्तिबद्ध खड़ा कर स्वामी जी के महाप्रयाण की दर्द भरी कहानी सुनाई गयी और निर्देश दिया गया कि प्रातः काल सातवीं से लेकर दसवीं तक के विद्यार्थी रेल से दिल्ली चलेंगे। हम छठी श्रेणी के विद्यार्थियों ने निश्चय किया कि हम पैदल ही दिल्ली जायेंगे। फिर क्या था, आधी रात बीतते ही

हम सब उठ खड़े हुये और दिल्ली की ओर द्रुत गति से चलकर निजामुद्दीन स्टेशन पर गाड़ी पकड़ ली। उससे दिल्ली पहुँचकर उस भव्य मूर्ति का स्मरण कर उसके चरणारविन्दों पर नतमस्तक हुये। गुरुकुल का बच्चा-बच्चा रो उठा। कितने ही उतार-चढ़ावों को झेलते हुये उन्होंने हम बच्चों का पालन-पोषण किया था।

कुछ वर्षों बाद हम स्नातक बने, कार्य क्षेत्र में उतरे। मैं स्नातक होने के बाद सात वर्ष तक लाहौर रहने के बाद पुनः कुलमाता की गोद में जा पहुँचा। गुरुकुल में कितने ही उतार-चढ़ाव एवं संघर्ष देखे। आश्रमाध्यक्ष बनकर विद्यार्थियों का मानस-स्तर टटोला। "ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम्" यह उक्ति चरितार्थ होते देखी। बच्चों को अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी, विज्ञान तथा वेद आदि कुछ भी पढ़ाओ, पर वे देव न सही, मानव तो बने। भौतिक विज्ञान तथा अध्यात्म का समन्वय करते हुये उन्हें ऋषि बनाना यही गुरुकुलीयता है, और यही गुरुकुल की स्थापना का मूल उद्देश्य था। पर अब तो गत अनेक वर्षों के संघर्ष से वह गुरुकुलीय भावना पूरी तरह लुप्त हो गयी है।

श्रद्धांजलि

जिस बच्चे का सकल-जगत् अपने ग्राम के खेतों तक ही सीमित था, दो-चार आस-पास के ग्राम ही सम्पूर्ण भारतवर्ष था, आज उसी बालक की आँखें इस ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड के नायक परब्रह्म की झाँकी लेने को लालायित रहती है। वही अबोध, निपट गंवार उस सर्वज्ञ परमब्रह्म के सर्वज्ञ कल्प वेद-ज्ञान को आत्मसात् करने के लिये सदा तड़पता रहता है। यह सब कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द जी के शुभाशीर्वाद और उस कुलमाता की कृपा का ही परिणाम है जिसने उसे इस योग्य बना दिया। हे माँ, मुझे समझ में नहीं आता कि मैं तेरे इस भारी ऋण को कैसे चुका पाऊँगा ? केवल तेरी स्मृति में श्रद्धावनत हो मैं संस्मरण रूपी इन पुष्प-गुच्छों द्वारा तेरे चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। ●

सच्चा मानव

—श्री सुरेशचन्द्र वेदालंकार एम. ए.

किसी लेखक ने लिखा है "वीरों को बनाने के कारखाने कायम नहीं हो सकते। वे तो देवदार के दरख्तों की तरह जीवन के अरण्य में खुद पैदा होते हैं और बिना किसी के पानी दिये, बिना किसी के दूध पिलाये, बिना किसी के हाथ लगाये तैयार होते हैं। दुनियाँ के मैदान में अचानक ही सामने जाकर खड़े हो जाते हैं। उनका सारा जीवन भीतर ही होता है। बाहर तो जवाहरात की खानों की ऊपरी जमीन की तरह कुछ भी दृष्टि में नहीं आता।" हमारे कुलपिता पूज्य श्रद्धानन्द जी के ऊपर ये विचार पूर्णतया चरितार्थ होते हैं।

स्वामी जी महाराज के जीवन की घटनायें देख कर हम चकित रह जाते हैं, आश्चर्य में पड़ जाते हैं। आपको इस युग में दूसरे जितने भी नेता दिखाई देते हैं उनमें शायद महात्मा गांधी को छोड़ कर और कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं दिखाई देगा जिसने स्वयं अपना निर्माण किया हो। परिस्थितियों के विपरीत होते हुए उनसे लड़ना और विजय पाना वीरों का काम है। बहती हुई हवा के साथ बहना यह तो साधारण बात हुई। पर उसके विपरीत चलना साहस कहलायेगा। स्वामी जी महाराज ने अपने जीवन निर्माण में यही किया।

स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन में मानवोचित गुणों का अपूर्व ढंग से सम्मिश्रण हुआ था। यदि हम उनके जीवन का अध्ययन करें तो हमें पता लगेगा कि उनके जीवन का उद्देश्य दुःखियों की सेवा करना था—वे फिर चाहे किसी मत और धर्म के हों और वे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये दृढ़ता, विश्वास, साहस, अदम्य उत्साह को लेकर चलते थे। उनका हृदय वात्सल्यपूर्ण था। मुझे जीवन में एक बार उनका प्यार और वात्सल्य प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसकी याद आज भी ताजा है।

मैं प्रथम कक्षा का विद्यार्थी था। बहुत पतला-सुकड़ा और अपनी कक्षा में आयु तथा ऊँचाई में सबसे छोटा। वैसे तो मैं प्रविष्ट होने के लिये गुरुकुल कांगड़ी गया था, पर मेरे निर्बल शरीर, कम आयु और पीले चेहरे को देखकर वहाँ के अधिकारियों ने अपने यहाँ प्रविष्ट करने से इन्कार कर दिया। उन दिनों आजकल की भाँति सब का प्रवेश नहीं होता था। प्राचीन काल के गुरुकुलों की तरह बुद्धि, स्वास्थ्य एवं चरित्र की परीक्षा के बाद गुरुकुलों में विद्यार्थी का प्रवेश होता था और हम तो शरीर की दृष्टि से बहुत क्षीण थे। उत्तर प्रदेश के पूर्वीय जिलों में पेट में केंचुए पड़ जाते हैं और उनसे स्वास्थ्य खराब होता है। मेरे भी थे, जो बाद में

निकल गये और अब मैं स्वस्थ हूँ । गुरुकुल कांगड़ी से निराश होने के बाद गुरुकुल कुरुक्षेत्र गया । वहाँ वालों ने तीन मास के परीक्षण के लिये मुझे रखा, पर मैं उन तीन महीनों में पूर्ण स्वस्थ हो गया । कुरुक्षेत्र स्वास्थ्यप्रद स्थान है । स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज जब कुछ अस्वस्थ होते थे अथवा कार्यभार से थक कर कुछ विश्राम करना चाहते थे या किसी समस्या का समाधान करना होता था तो गुरुकुल कुरुक्षेत्र की उत्तर दिशा में बने हुये ऊँचे दुमंजिले कमरे में रहा करते थे । एक दिन हमने भी सुना कि स्वामी जी आ रहे हैं, गुरुकुल में आनन्द और उत्साह की धारा बह गई । स्वागत की तैयारियाँ होने लगीं । वह भी दिन आया जब स्वामी जी महाराज गुरुकुल में आ गये । उनके सत्कार के लिये पंक्तिबद्ध विद्यार्थी हाथ में फूल लिये खड़े हो गये । कद की दृष्टि से ऊँचे विद्यार्थी आगे थे । मैं गुरुकुल का सबसे छोटा विद्यार्थी सबसे पीछे था । स्वामी जी प्रसन्न मुख, प्रत्येक को प्रसन्न करते मेरे पास भी पहुँचे । उन पर फूल डालने की उत्सुकता और जल्दी का फल यह हुआ कि जब वे मेरे सामने थे मेरे हाथ से फूल जमीन पर गिर गये । मैंने उन्हें दोनों हाथों से ढेरी के समान उठाया । कम फूल और अधिक मिट्टी मेरे हाथ आई । वह मेरे सामने से आगे न चले जायें, इसलिये मैंने वह पुष्प और धूलि की अंजुलि स्वामी जी पर बरसाई ही तो दी । उनका चेहरा धूल से भर गया । मेरे अध्यापक, जिन्हें वहाँ अधिष्ठाता कहा जाता है, कुछ नाराज होने लगे, परन्तु वह दृश्य मुझे कभी न भूलेगा । उन्होंने अपनी विशाल गोद में मुझे उठा लिया । मुस्कराते हुये हँसते चेहरे से उन्होंने मुझे प्यार किया, क्या हुआ यदि मैंने उन पर धूल फेंकी । मैं तो उनका पुत्र था । फूल और धूल में क्या भेद ? घृणा और तिरस्कार से, हृदय की भावना से रहित, दिये हुये फूल भी अपना महत्त्व नहीं रखते और श्रद्धा से दी गई उस धूलि का श्रद्धानन्द ने हजारों फूल की मालाओं से अधिक महत्त्व दिया । है न प्रेमपूर्ण वात्सल्य भावना ।

●

युवक-हृदय-सम्राट् श्रद्धानन्द

—राजर्षि रणंजयसिंह

मेरे अग्रज स्व० राजकुमार श्री रणवीरसिंह जी जब ग्यारह वर्ष के थे तभी सत्यार्थप्रकाश पढ़ने से उनके विचारों में क्रान्ति आ गयी तथा मैं धर्म-प्रचार, शिक्षा-प्रसार एवं समाज-सुधार के कार्यों में लग गये। छात्र थे, पढ़ने में अभिरुचि थी। धार्मिक ग्रन्थों तथा समाचार-पत्र आदि मंगाने लगे थे। उन्हीं के नेतृत्व में मैं भी यथाशक्ति सहयोग देता रहता था। सद्धर्म प्रचारक, आर्यमित्र और वेदप्रकाश प्रभृति पत्रों के पढ़ने से आर्य जगत् की विशेष जानकारी होती थी। आर्य विद्वान् भी बुलाये जाते थे। आर्य नेताओं में महात्मा मुंशीराम जी की कर्मवीरता में ख्याति थी। सन् १९१६ ई० में लखनऊ में राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन के अवसर पर विभिन्न धार्मिक तथा सामाजिक सभाओं की भी चहल-पहल थी। अखिल भारतीय आर्यकुमार सभा का अधिवेशन समारोह हुआ था जिसमें श्री रामप्रसाद बिस्मिल प्रमुख रूप से कार्य कर रहे थे। उसी सम्मेलन में मुझे श्री महात्मा मुंशीराम जी के भी प्रथम बार दर्शन हुये थे। तदुपरान्त विभिन्न अवसरों पर स्वामी जी के ओजस्वी भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा।

मथुरा में आयोजित महर्षि दयानन्द जन्म शताब्दी पर श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी तथा महात्मा नारायण स्वामी जी के नेतृत्व में अनेक महत्वपूर्ण सम्मेलन हुये और विशाल शोभा यात्रा निकली। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने 'शुद्धि सम्मेलन' का नाम 'भ्रातृ सम्मेलन' करवा दिया था जो अधिक आकर्षक हो गया था। मैं उस समय चौबीस वर्ष का था। उक्त सम्मेलन में मेरे भाषण से प्रसन्न होकर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने मुझे प्रोत्साहित करते हुये, मेरे दोनों कन्धों पर हाथ रख कर आशीर्वाद दिया था और कहा था कि "हम तो अब बुड्ढे हो गये हैं, आगे आपको ही सब युवकों को देखना है, कार्य करना है।"

श्री स्वामी जी महाराज के अन्तिम दर्शन २८ नवम्बर १९२६ को आर्य-समाज बच्छोवाली (लाहौर) में हुये थे। उनके भाषण अति साहसिक एवं प्रभावोत्पादक थे। सुनते ही नवजीवन का संचार हो जाता था।

२३ दिसम्बर १९२६ को धर्मपथ पर उनके बलिदान के दूसरे दिन पत्रों में जब यह समाचार प्रकाशित हुआ तब हलचल मच गयी तथा नाना प्रकार के क्षोभ पूर्ण विचार उत्पन्न होने लगे, अब क्या करना चाहिये, क्या नहीं। आवेश में बहुत सी बातें सामने आयी। मैं अपनें मित्र कालाकांकर के आर्य युवक राजा अवधेश सिंह के पास झपट कर गया। उनका भी रक्त खोलने लगा। अन्त में हम लोगों ने

निश्चय किया कि स्वामी जी महाराज के जो उच्च उद्देश्य थे, उन्हीं की पूर्ति के लिए हम सबको प्रयास करना चाहिये और प्रत्येक व्यक्ति को प्रण करना चाहिये कि कम से कम पाँच बिछुड़े भाइयों को एक वर्ष के भीतर अपने में मिला लेना चाहिये।

स्वामी श्रद्धानन्द ने, किये अमित उपकार।
अतः रणंजय के हृदय श्रद्धा भरी अपार॥
श्रद्धा भरी अपार, रहे सद्धर्म प्रचारक।
नेता निर्भय, त्यागी, कर्मठ, दलितोद्धारक॥
आर्य रीति गुरुकुल संस्थापक, ऋषि अनुगामी।
दिया धर्म पर प्राण धन्य तेजस्वी स्वामी॥

स्वामी श्रद्धानन्द

—डॉ० मुंशीराम शर्मा "सोम"

आर्यसमाज को जो यश और गौरव प्राप्त हुआ है, उसके मूल में महर्षि दयानन्द का उदात्त जीवनादर्शन तो है ही, साथ ही ऐसे कर्मठ एवं त्यागपरायण बलिदानी वीरों का उज्ज्वल जीवन भी है, जिनके कारण आर्यसमाज का नाम इस वसुधा के व्योम में चमक उठा और यदि मैं यह कहूँ कि इन वीरों को उत्पन्न करने का श्रेय प्रमुखत: पंचनद प्रदेश को है, तो अत्युक्ति नहीं होगी।

इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम नाम पं० लेखराम का आता है; जो वैदिक धर्म के प्रचार में एक मतान्ध मुसलमान के हाथों वीरगति को प्राप्त हुये। दूसरा स्थान पण्डित गुरुदत्त जी विद्यार्थी का है जो आंग्लभाषा के धुरन्धर विद्वान् थे और दयानन्द कालेज लाहौर की स्थापना में हाथ लगाकर स्वर्गवासी हो गये। तीसरा स्थान महात्मा हंसराज का है जो बिना कुछ लिये दयानन्द कालेज लाहौर के प्रिंसिपल पद पर शिक्षण कार्य करते हुये, आर्यसमाज के प्रचार में दिन-रात लगे रहे। चौथा स्थान स्वामी श्रद्धानन्द का है जो विद्यार्थी काल में ही स्वामी दयानन्द के प्रवचनों से लाभान्वित हो चुके थे और बाद में सरकारी शिक्षणालयों से निराश होकर गुरुकुल कांगड़ी जैसी विश्वविख्यात संस्था के संस्थापक बने। अन्तिम दो महापुरुषों के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे प्राप्त है। प्रो० रामदेव, पण्डित चमूपति, पण्डित भगवद्दत्त, पण्डित विश्वबन्धु आदि कई योग्य विद्वानों को उत्पन्न करने का श्रेय भी पंचनद प्रदेश को ही है।

स्वामी श्रद्धानन्द का नाम गुरुकुल कांगड़ी के साथ ऐसा संयुक्त है कि उसे कोई अलग नहीं कर सकता। महात्मा गांधी इस गुरुकुल में गये और महात्मा के अभिधान से विभूषित हुये। उन दिनों स्वामी श्रद्धानन्द महात्मा मुंशीराम के नाम से जाने जाते थे। दोनों महात्माओं ने देशोद्धार का पुनीत कार्य किया। हिन्दुत्व दोनों में ही प्रबल था। हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने का श्रेय भी दोनों को प्राप्त है। राष्ट्रीय कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता भी दोनों ही रहे। अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द ही थे। दिल्ली में कांग्रेस के जलूस का नेतृत्व करते हुये स्वामी श्रद्धानन्द ने ही अपनी छाती गोरखों की संगीनों के सामने खोल दी थी। दिल्ली जामामस्जिद में वेदमन्त्र बोलकर अध्यक्षीय भाषण हिन्दी में देने वाले भी स्वामी श्रद्धानन्द ही थे। महात्मा गांधी इस पद को प्राप्त नहीं कर सके। हां, अन्त में दोनों ही धर्मान्धता के आखेट बने और गोली खाकर स्वर्ग गये।

स्वामी श्रद्धानन्द देश और धर्म दोनों के लिये समर्पित श्रद्धा रखते थे। जब मुसलमान देश को छोड़कर टर्की की ओर रुख करने लगे और मजहब को मुल्क की

अपेक्षा ऊपर रखने लगे, तो स्वामी श्रद्धानन्द ने भी मुसलमान हुये हिन्दुओं को फिर हिन्दू धर्म में दीक्षित करने का व्रत ले लिया। आश्रम के आस-पास ऐसे अनेक ग्राम थे जहाँ गूजर, जाट आदि क्षत्रिय मुसलमान हो गये थे। इन्हें शुद्ध करके हिन्दू धर्म में ले आना आवश्यक था। स्वामी श्रद्धानन्द शुद्धि के इस कार्य में जुट गये। आगरा शुद्धि सभा का केन्द्र बना। महात्मा हंसराज भी लाहौर से आ गये, जो आगरा रह कर शुद्धि सभा की गतिविधि का संचालन करने लगे। स्वामी श्रद्धानन्द परिभ्रमण द्वारा शुद्धि कार्य को बढ़ावा दे रहे थे। मैं और भाई सूर्यदेव दोनों डी०, ए० वी० कालेज, कानपुर द्वारा शुद्धि सभा में कार्य करने के लिये भेजे गये। दोनों महात्माओं का निकट सान्निध्य भी हम दोनों को प्राप्त हुआ। यह १९२३ ईस्वी का वर्ष था।

स्वामी श्रद्धानन्द की कार्य-प्रणाली तीव्र थी। उनके भाषण भी उग्रता से भरे रहते थे। धर्म प्रेम उन्हें उत्तेजित करता रहता था। वे चुप होकर बैठ नहीं सकते थे। हम लोग भी उनके साथ शुद्धि के लिये बाहर जाया करते थे। एक पूरा ग्राम जाटों, क्षत्रियों का शुद्ध होकर हिन्दुओं में मिल गया। उससे कुछ दूर गूजर क्षत्रियों का ग्राम था। वहीं मैं कई दिन रहा। रोटी हाथ से बनाता था, पर दूध-मट्ठा टीकम सिंह गूजर के यहाँ से आ जाता था। मैं जब दूध के दाम देने लगता तो टीकमसिंह कहते थे कि हम ठाकुर हैं, गूजर हैं। हमारे यहाँ दूध बेचा नहीं जाता। यह था उनकी धमनियों में बहने वाला आर्य रक्त, जो मुसलमान होने पर भी मिट नहीं सका था। उसी ग्राम में गूजरों के एक राजा भी आये और स्वामी श्रद्धानन्द की प्रेरणा से पूरा ग्राम हिन्दू बन गया। मुसलमान बन जाने पर भी इनके नाम हिन्दू ही बने रहे। प्रथाओं में, विवाह आदि में थोड़ा-सा अन्तर आया था, पर अधिकतर रीतियाँ हिन्दुओं की ही चलती रहीं थीं।

१९२५ में मैं लाहौर पहुँचा। अनारकली और बच्छोवाली दोनों समाजों के बृहद् अधिवेशन होते थे। एक पर डी. ए. वी. कालेज का, तो दूसरी पर गुरुकुल का प्रभाव था। मांस पार्टी और घास पाटी दोनों में चलती थी। साप्ताहिक सत्संगों की अपेक्षा वार्षिक समारोहों पर बड़ी भीड़ इकट्ठी हो जाती थी। यह था पंचनद-वासियों का धर्म प्रेम जो उमड़ कर सामने प्रकट हो जाता था। कर्तव्यपरायणता का एक अनूठा उदाहरण खड़ा होकर कहता था—"सिर जाये तो जाये। मेरा वैदिक धर्म न जाये।"

एक बार आर्यसमाज मन्दिर मैस्टन रोड कानपुर में स्वामी जी का भाषण हुआ। हाल खचाखच भरा हुआ था। कुछ मुसलमान सज्जन भी व्याख्यान सुनने आये, सम्भवत: इसलिये कि स्वामी जी उनके विषय में क्या कहते हैं। समय ही ऐसा था, जिसमें कांग्रेस मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति अपना रही थी और हिन्दुओं की ओर से उदासीन हो रही थी। स्वामी श्रद्धानन्द इसी कारण कांग्रेस से पृथक् होकर हिन्दू संगठन के कार्य में जुट गये थे। व्याख्यान में कांग्रेस की इस नीति पर बोलना आवश्यक था। मुसलमान सज्जन उनके व्याख्यान में खड़े होकर प्रश्न करने

लगे। स्वामी जी ने उनका समाधान किया, पर वे चुप नहीं हुये, तो स्वामी जी ने कहा—"अच्छा, मैं अपने कथन को वापस लेता हूँ पर यह तो बताओ कि जो मुसलमान इस देश में रहते हैं, क्या वे सब अरब से आये थे ? यदि नहीं तो उनके पूर्वज हिन्दू नहीं थे ? यदि थे तो उनके पुनः हिन्दू होने में आप क्यों बाधा डालते हैं ? वे स्वेच्छा से अपने घर लौटना चाहते हैं और हम शुद्धि सभा द्वारा उनकी इस इच्छा को पूर्ण कर रहे हैं।"

स्वामी श्रद्धानन्द उर्दू के विरोधी नहीं थे और न अंग्रेजी से उन्हें द्वेष था, पर वे हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा का गौरव प्रदान करना चाहते थे। गुरुकुल में उन्होंने हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाया, जबकि सरकारी शिक्षण संस्थाओं और आर्य-समाज द्वारा संचालित कालेजों तथा स्कूलों में भी अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम बनी हुई थी। उन दिनों हिन्दी कालेज के पाठ्य विषयों तक में नहीं थी, फिर भी डी. ए. वी. कालेज लाहौर में विद्यार्थियों को हिन्दी सिखाने के लिये एक अध्यापक अवश्य नियुक्त किया गया था। पर यह सर्वत्र सम्भव नहीं था। स्वामी श्रद्धानन्द को उनके हिन्दी प्रेम के कारण हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भागलपुर वाले वार्षिक अधिवेशन में सभापति बनाया गया था।

स्वामी श्रद्धानन्द की समाज सेवा, राष्ट्र सेवा, धर्मनिष्ठा, दलितोद्धार भावना, निर्भीकता, स्पष्टवादिता आदि के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा तथा लिखा जा सकता है। २३ दिसम्बर १९२६ उनका बलिदान दिवस हम सबको प्रेरणा देता रहता है कि हम सब उनके पद चिह्नों पर चलकर भारत माता, वेदमाता और हिन्दी माता की सेवा में अपने जीवन को समर्पित कर दें। ●

शुद्धि-आन्दोलन के प्रणेता

—पं० देवव्रत धर्मेन्दु आर्योपदेशक

मुझे अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी के निकट संपर्क में रहने और शुद्धि-आंदोलन में उनके साथ कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। उन्होंने मुझे लाहौर से आगरा बुलाकर आवश्यक निर्देश देने के बाद शुद्धि कार्य के लिए उत्तरप्रदेश के फर्रुखाबाद भेज दिया था। वहाँ मैंने स्वामी चिदानन्द जी के साथ मिलकर कई महीनों तक पैदल चल-चल कर हजारों मलकानों को शुद्ध किया था और वैदिक धर्म की दीक्षा दी थी। मैं अपने प्रतिदिन के कार्य की रिपोर्ट स्वामी जी को नियमित रूप से भेजा करता था।

एक दिन की बात है कि मैं शुद्धि कार्य के सिलसिले में गांवों में गया हुआ था। मेरे पीछे कुछ मुसलमान शुद्ध होने के लिए आर्यसमाज मंदिर में आ गये। सेवक ने सोचा कि पडित जी के न होने की सूचना पाकर यदि ये लोग वापस चले गये तो हो सकता है कि इनका मन बदल जाये और ये शुद्ध होने के लिए दोबारा यहाँ न आयें। इस विचार के मन में आते ही उसने तत्काल अपने कर्तव्य का निर्धारण कर लिया और २५ से भी अधिक स्त्री, पुरुष एवं बच्चों को यज्ञकुण्ड के चारों ओर बैठा दिया। तत्पश्चात् यज्ञाग्नि प्रज्वलित की। अशिक्षित होने के कारण वह मन्त्रोच्चारण तो जानता नहीं था, पर उसने 'निकल मुसलमानी स्वाहा, निकल अल्ला स्वाहा, हिन्दू बने स्वाहा' आदि उच्चारण के साथ घृत और सामग्री की आहुतियाँ डलवा कर सभी को यज्ञोपवीत पहना दिये। प्रमाण-पत्र पंडित जी ही आकर देंगे यह कहकर सबको विदा कर दिया। मेरे वापस लौटने पर उसने हँसते हुए कहा कि आज वह भी शुद्धि वाला पण्डित बन गया है। उसकी तुरत बुद्धि की हम सबने प्रशंसा की और मैंने स्वामी श्रद्धानन्द जी को लिखकर उसे भारी पारितोषिक भी दिलवाया। स्वामी जी ने भी उसके इस कार्य की सराहना की।

खिमसेपुर (फर्रुखाबाद) में रायसाहब सुखेन्द्रसिंह जी ऑनरेरी मजिस्ट्रेट थे। मैं जब जब वहाँ जाता तो वे बड़े आदर से मेरा आतिथ्य-सत्कार करते थे। लगातार तीन-चार महीने तक पक्का खाना खाते-खाते मैं ऊब गया था। एक दिन रायसाहब से कहकर उनके परिवार को उसके पीहर भिजवा दिया और मिश्र से कढ़ी-चावल बनवा कर उसकी भी छुट्टी करवा दी। योजनानुसार बंद जाले में चोरी-छिपे कच्चा भोजन करके संतुष्ट तो हो गया, पर चोर के पांव नहीं होते। बर्तन साफ करने वाले कहार ने भडाफोड़ कर दिया, और लोगों में शोर मचा दिया कि रायसाहब के घर शुद्धि वाले पंडित जी ने कच्चा भोजन किया है। सारे गाँव में यह बात आग की तरह फैल गई, जिसका परिणाम यह हुआ कि अब कार्य करना और लोगों को

अपने विश्वास में लेना कठिन हो गया। जैसे ही यह खबर शुद्धि के मुख्यालय आगरा में स्वामी श्रद्धानन्द जी को मिली, उन्होंने तुरन्त मुझे आगरा आने का निर्देश दिया।

मैं लज्जित तथा दुःखी मन से डरता-डरता स्वामी जी के समक्ष पहुँचा। उन्होंने बड़े प्यार, उदारता एवं स्नेहपूर्वक मुझे समझाया कि 'अब आप इस क्षेत्र में कार्य न करें, क्योंकि चारों ओर विरोधी रायसाहब के यहाँ कच्चा भोजन करने की घटना का प्रचार करके अनुचित लाभ उठा रहे हैं।'' इसके बाद मुझे कुछ समय तक मुख्यालय में ही कार्य करने की आज्ञा दी गई।

स्वामी जी महाराज निर्भीक एवं अच्छे डील-डॉल वाले थे और उनका व्यक्तित्व भी बहुत प्रभावशाली था। उनके कार्यालय के बाहर कोई चौकीदार नहीं बैठता था और न ही किसी को उनसे मिलने के लिए आने-जाने पर कोई प्रतिबंध था। उनके त्याग, तप और बलिदान की भावना की सर्वत्र प्रशंसा की जाती थी। उनके सम्पर्क में रहकर मैंने उनके जीवन से बहुत सी बातें सीखीं तथा समाज-सेवा के क्षेत्र में 'निष्काम सेवा' का व्रत लिया और अपने जीवन को आर्यसमाज के लिए समर्पित कर दिया। ●

अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द और ब्रह्मचर्य

—आचार्य बृहस्पति शास्त्री वेदशिरोमणि

सन् १९१३ या १९१४ की बात है, मैं उस समय गुरुकुल वृन्दावन का ब्रह्मचारी था और महात्मा नारायण स्वामी जी मुख्याधिष्ठाता थे। महात्मा नारायण स्वामी जी प्रायः प्रति वर्ष ही गुरुकुल के वार्षिकोत्सव के अवसर पर स्वामी श्रद्धानन्द जी को व्याख्यान के लिए आमन्त्रित किया करते थे। जिस समय की घटना का मैं उल्लेख कर रहा हूँ, उस समय तक दोनों ही स्वामियों ने संन्यास-आश्रम में प्रवेश नहीं किया था—स्वामी श्रद्धानन्द जी महात्मा मुंशीराम के नाम से विख्यात थे और महात्मा नारायण स्वामी जी महात्मा बनने की प्रक्रिया में शनैः-शनैः प्रवेश कर रहे थे तथा मनीषी नारायणप्रसाद जी के नाम से जाने जाते थे।

स्वामी श्रद्धानन्द जी का यह नियम था कि जब कभी वे गुरुकुल वृन्दावन में आते थे, ब्रह्मचारियों के आश्रम में आकर हम सबसे अवश्य मिलते थे और कुछ न कुछ प्रेरणादायक प्रवचन या उपदेश अवश्य दिया करते। हम लोग प्रवचन के बाद उनसे प्रश्न पूछते और वे एक सच्चे पिता अथवा आचार्य की भाँति उस प्रश्न का उत्तर देते।

इस वर्ष भी जब वे उत्सव पर गुरुकुल वृन्दावन आये और हम सबसे आश्रम में आकर मिले तो हमने उनसे प्रश्न किया कि "ब्रह्मचर्य शब्द का क्या अर्थ है।" स्वामी जी ने तत्काल उत्तर दिया कि "इस शब्द का अर्थ बहुत गम्भीर है और स्वामी दयानन्द जी भी हर समय ब्रह्मचर्य-पालन करते थे। आज हम उत्सव के कार्यक्रम में पण्डाल में इसी विषय पर व्याख्यान देंगे।" उनके इस उत्तर से हम बालकों को पूरा संतोष नहीं हुआ। हम बालसुलभ मुस्कान के साथ अन्दर ही अन्दर हँसते रहे और परस्पर चर्चा करते रहे कि क्या ब्रह्मचर्य भी कोई ऐसी चीज या कर्म है, जिसे हर समय किया जाये।

शाम को उत्सव में स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अपने व्याख्यान में जनता के समक्ष ब्रह्मचर्य की विस्तृत व्याख्या की तो हम आश्चर्यचकित रह गये। ऐसी सुन्दर व्याख्या पहले कभी नहीं सुनी थी। उन्होंने जो कुछ कहा उसके कुछ शब्द सार रूप में मुझे आज भी कुछ-कुछ स्मरण आ रहे हैं। उनका कहना था—"ब्रह्म नाम ईश्वर का है। जीवन में निरन्तर उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना और उसे आत्मसात् कर लेना ही तो ब्रह्मचर्य है। स्वामी दयानन्द ने जन्म भर यही तो किया, प्रति क्षण यही करते हुए प्राण त्याग दिये और लोकोपकार के लिए ही अपना जीवन अर्पण कर दिया। वस्तुतः वे तो जीवन्मुक्त थे, जीते हुए ही मुक्त हो चुके थे, केवल लोकोपकार के लिए ही जीते थे, न कि अपने जीने के लिए। इसीलिए अंत समय में भी

उनके ध्यान में न वेद भाष्य को पूरा करने की चिन्ता थी, न ही आर्यसमाजें कहाँ स्थापित की जायें, यह स्मरण था । अन्तिम श्वास छोड़ते समय तक केवल ईश्वर का ही ध्यान था और यही कहा 'ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो' । जिस नित्यानन्द युक्त ईश्वर में योगी और विद्वज्जन स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं, उसी को उन्होंने पा लिया । इसी की तलाश में वे घर से निकले थे ।''

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अपने व्याख्यान में यह भी स्पष्ट किया कि स्वामी दयानन्द जी प्रति क्षण ब्रह्मचर्य कैसे करते थे । उन्होंने कहा ''इसे यों समझो कि ब्रह्मचर्य का सीधा सम्बन्ध हमारे मन और चित्त के साथ है । जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में भी जिसकी चित्तवृत्ति ब्रह्म में लीन रहती है वही प्रति क्षण ब्रह्मचर्य-पालन कर सकता है । जागृत अवस्था में वे वेदभाष्य आदि करते रहते थे । स्वप्नावस्था में या तो कभी जाते ही नहीं थे, क्योंकि रात्रि के दस बजे सो जाते और प्रातः ३ बजे उठ कर जंगल में भ्रमण एवं योगाभ्यास-समाधि के लिए निकल जाते थे । कभी स्वप्न में गये भी तो वह भी लोकोपकार या ब्रह्मध्यान का ही आता था । सुषुप्ति अवस्था में तो योगदर्शन के सिद्धान्त के अनुसार कहा गया है— 'समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपता' ।'' स्वामी जी के इस व्याख्यान से हमारे प्रश्न का पूरा समाधान हो चुका था और हम पूरी तरह सन्तुष्ट थे ।

प्रसंगवश एक घटना और स्मरण हो आई है । सन् १९०६ में देवता स्वरूप भाई परमानन्द जी वैदिक धर्म के प्रचार के लिए दक्षिण अफ्रीका गये हुए थे । महात्मा गांधी जी भी उस समय वहीं थे । भाई जी स्वयंसेवक के रूप में बन्दरगाह पर उपस्थित होकर गांधी जी के निकट सम्पर्क में आये । उस समय उन्होंने गांधी जी को सत्यार्थप्रकाश की एक प्रति और आर्यसमाज का अन्य साहित्य भेंट किया । गांधी जी ने उसे पढ़ा और भाई परमानन्द जी से कहा कि ''जिस महापुरुष ने १६ वर्ष के इतने थोड़े समय में इतना अधिक और विविध प्रकार का कार्य किया, वह यह सब कैसे कर सका । उस महापुरुष की जीवनी भी तो मुझे दो ।'' भाई जी ने स्वामी दयानन्द की जीवनी उन्हें भेंट की । गांधी जी ने उस पर मनन किया और इस परिणाम पर पहुँचे कि महर्षि दयानन्द में इतने थोड़े समय में इतना अधिक कार्य करने की क्षमता इसलिए आई, क्योंकि वे सच्चे अर्थों में आजन्म आदित्य ब्रह्मचारी थे ।

स्वामी श्रद्धानन्द जी के दर्शनों और उनके निकट सम्पर्क में आने के इसके अतिरिक्त भी अनेक अवसर आये । उनके अमर पद प्राप्त करने के बाद उनके 'भस्मान्तं शरीरं' के अन्तिम दर्शन का भी सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ । मैं २३ दिसम्बर १९२६ को बड़े दिनों की छुट्टियों में घर जा रहा था । उस दिन रेल शाहदरा स्टेशन पर न खड़ी होकर दिल्ली जंक्शन पर ही रुकी । एक मुसलमान कुली मेरा सामान उतार कर वेटिंग रूम में ले आया और पूछने लगा कि आगे कहाँ और कब जाना है । मैं उसी [illegible] जाऊंगा ।'' मैंने कहा कि ''इस समय तो मैं यहीं आराम

करूंगा। सवेरे ८ बजे छोटी लाइन की रेल से जाऊँगा।" वह पूछने लगा कि "स्वामी सर्वदानन्द के यहाँ तो नहीं जाओगे। वे आज ही एक मुसलमान द्वारा कत्ल कर दिये गये हैं। लोग वहाँ जा रहे हैं।" मैं सोचने लगा कि स्वामी सर्वदानन्द तो वीतरागी हैं, उन्हें कत्ल करने की बात तो समझ में नहीं आती। तब तक एक दूसरे यात्री ने स्पष्ट किया कि स्वामी श्रद्धानन्द जी का कत्ल किया गया है।

यह सूचना पाते ही मैं प्रातः ४ बजे चावड़ी बाजार की आर्यसमाज में जा पहुँचा। वहाँ सामान रख कर और नित्यकर्मों से निवृत्त होकर प्रातः ही बलिदान-भवन जा पहुँचा, जहाँ स्वामी जी का शव रखा हुआ था। उसे देखकर ऐसा लगरहा था, मानों स्वामी जी मौन और प्रेम भरी वाणी में आर्यसमाजियों से कह रहे हों— "मेरे प्यारे आर्यों! वेद भगवान् की वाणी 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' को याद रखो।" मैं स्वामी जी के छोटे पुत्र पं० इन्द्र जी से मिला, जो 'अर्जुन' के संपादक थे। दिन में २ बजे अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द की अर्थी उठी। उस समय दिल्ली में जो दृश्य था, वैसा मैंने इससे पूर्व किसी भी शवयात्रा में नहीं देखा। चारों ओर आदमी ही आदमी नजर आ रहे थे, हर व्यक्ति की आँखों में आँसू थे। वह दृश्य मेरी आंखों के सामने आज भी ज्यों का त्यों नाच रहा है।

स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान ने आर्यसमाज की एक बलिदानी परम्परा को आगे बढ़ाया। उस महान् आत्मा को मेरा शतशः प्रणाम। ●

स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन की कुछ बातें

—श्री शिवदयालु

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी प्रत्येक कार्यक्षेत्र में अग्रसर थे। जिस ओर उन्होंने ध्यान दिया वहीं वह ऊँचे आसन तक पहुँचे। वह रूढ़ियों के अति विरोधी थे, साधारण पुरुषों की तरह 'लकीर के फकीर' न थे, बल्कि हर एक कार्य में वह नये मार्ग के पथिक और प्रदर्शक थे।

स्वर्गीय मास्टर दुर्गाप्रसाद जी ने एक पुस्तक 'साधुओं की करतूत' नाम से छापी, जिस पर सरकार ने उन पर मुकदमा चलाया। यद्यपि वह निरपराधी ठहराये गये, पर न्यायाधीश ने उन पर एक रुपये का दण्ड किया। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने टीकाधारी नाम के एक सनातनी पण्डित की पोल खोलकर बताया कि उनका घरेलू जीवन अति घृणित था। मुझे उस लेख की एक पंक्ति याद आती है—

'चोर उचक्का चौधरी लुण्डी रन्न प्रधान'

लाहौर के टाऊन हाल में इस मुकदमे की छानबीन के लिये मिस्टर कैलवर्ट कहचगी किया करते थे। इस मुकदमे में स्वामी जी की जीत हुई और नामधारी पण्डित को नीचा देखना पड़ा।

स्वामी श्रद्धानन्द जी केवल वकील ही न थे बलिक अपने धर्म की रक्षा के लिये बड़े-बड़े शास्त्रार्थ सनातनी पण्डितों से किया करते थे। मोची दरवाजे के बाहर हिन्द होटल में सहस्र पुरुषों की उपस्थिति में स्वामी जी शेर के समान गरजते हुये शास्त्रों के प्रमाणों की भरमार कर दिया करते थे। उनका भाषण ऐसा युक्तियुक्त और प्रबल होता था कि श्रोतागण दंग रह जाते थे। इन्हीं शास्त्रार्थों ने प्रतिपक्षियों के दाँत खट्टे किये और वैदिक धर्म का झंडा पंजाब की राजधानी व अन्य स्थानों में स्थापित किया। सहस्रों नवयुवक उनके भाषणों से प्रेरित होकर वैदिक धर्म में सम्मिलित हुये।

मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि जब स्वामी जी ने गुरुकुल की स्थापना के लिये ३०,००० रुपये एकत्र करने का व्रत लिया, उन दिनों 'ट्रिब्यून' समाचार-पत्र के कार्यालय में स्वामी जी एक बड़ा प्रभावशाली व्याख्यान हुआ, जिसमें डॉ० यूविंग सरीखे मुख्याध्यापक उपस्थित थे। वह कहते थे कि स्वामी जी उल्टी गंगा बहाते हैं। लेकिन ऋषि दयानन्द के सच्चे भक्त ने अनथक परिश्रम और लग्न से सारे आर्यजगत् को यह सिद्ध करके दिखलाया कि प्राचीन शिक्षा-प्रणाली कैसे पुनर्जीवित की जा सकती है। गुरुकुल संस्था बालकों और बालिकाओं के लिये स्थापित कर दिखाना उनके जीवन का मुख्य कार्य था।

जब देहली में मार्शल-लॉ था, मैं भी उस दिन वहीं था। सायंकाल को किले

के सामने मैदान में स्वामी जी का व्याख्यान था। गोरे सिपाहियों ने व्याख्यान के स्थान को चारों ओर से घेर लिया। जब स्वामी जी व्याख्यान के लिये खड़े हुये तो अफ़सर ने उनसे आकर पूछा कि यहाँ कोई विघ्न हो जाये तो उसका उत्तरदाता कौन होगा। स्वामी जी ने तुरन्त छाती ठोक कर कहा कि मैं सब प्रकार से उत्तरदायित्व लेने के लिये उद्यत हूँ। जो कुछ देहली में उन दिनों में स्वामी जी ने कर दिखाया वह किसी वीर की जीवनी को सदैव के लिये शोभायमान करने के लिये पर्याप्त है। ऐसी परीक्षा के समय ही वीर पुरुष चमका करते हैं।

जब पटियाले में आर्यों पर दरबार की ओर से आपत्ति आई तो जिस तरह स्वामी जी ने गुरुकुल को छोड़ पटियाले में साधु धुनी रमा, विपत्ति में पड़े हुये आर्यों के साहस को स्थिर रखा, वह एक और कहानी है जो विस्तार के साथ लिखी जाने योग्य है।

इन थोड़ी सी घटनाओं से पाठकों को भली प्रकार पता चलेगा कि स्वामी जी का हृदय पीड़ितों के दुःख को अनुभव करता और आड़े समय पर उनको केसरी की न्याईं क्षेत्र में लाकर वैदिक धर्म की सेवा करने के लिये उद्यत रखता था। भय तो उनके पास कभी फटकता ही न था। उनके माता-पिता ने उनका नाम मुंशीराम बालकपन में सोच कर ही रखा था। वह लेखनी के धनी (मुंशी) थे और उन्हीं ने वैदिक धर्म की सेवा लिखने के द्वारा भी उतनी ही की है, जितना की अपनी वाणी के बल से उपदेशों और भाषण द्वारा की है।

बालकपन में अच्छे घराने के होने के कारण उत्तम शिक्षा पाई, अच्छे सद्गृहस्थ बने, वकालत में बड़ा नाम पाया, महात्मा मुंशीराम बनकर आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब को उन्नति के शिखर पर पहुँचाया, गुरुकुल स्थापित किया, संन्यास अवस्था में कांग्रेस और देश की सेवा की, आर्य संगठन और शुद्धि का डंका बजाया, दलितों के उद्धार के निमित्त सारे भारतवर्ष में भ्रमण किया। दलितों के प्रति सहस्र नर-नारियों के हृदय में दया का अंकुर बोया। अन्त में अपने प्यारे वैदिक धर्म के लिये प्राण दिये।

●

आत्मिक बल के धनी

—श्री प्रह्लाददत्त जी वैद्य

अमर हुतात्मा श्री श्रद्धानन्द जी महाराज के आत्मिक बल का एक चमत्कार मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है। बात ३० मार्च १९१९ की है। जब मैं अपने साथियों के साथ दिल्ली के नया बाजार में किसी कार्यवश आकर रह रहा था। उस समय दिल्ली नगर की जनसंख्या आज की अपेक्षा बहुत कम थी, फिर भी कई पुरानी राजनीतिक घटनाओं के कारण कोई भी क्रान्तिकारी आन्दोलन खड़ा करने में यह नगर अग्रसर रहता था। सन् १९१४ का महायुद्ध आरम्भ हुआ था और सन् १९१८ में सन्धि हो गई थी। इस महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार और इसके मित्र देश एक पक्ष था तथा जर्मन सरकार और उसके मित्र देश दूसरा। इस युद्ध में भारतीय सेना और इसके जन-धन का बहुत बड़े परिमाण में ब्रिटिश सरकार ने अपने स्वार्थ के लिये उपयोग किया था। भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग में आंतरिक रूप से इसका विरोध भी होता रहा था। इस असंतोष को ठंडा करने के उद्देश्य से अंग्रेजी सरकार ने भारत को स्वायत्त शासन देने का आश्वासन दिया और कहा कि युद्ध की समाप्ति पर मौलिक अधिकार अर्थात् प्रान्तीय आश्वासन दे दिया जाएगा, परन्तु हुआ इसके विपरीत। भारत पर एक नया ऐक्ट थोप दिया गया, जो "रोलेट ऐक्ट" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस ऐक्ट की धाराओं द्वारा जनता के अधिकारियों को और अधिक सीमित कर दिया गया था। इससे भारतीय जनता में बड़ा असंतोष व्याप्त हो गया। फलतः उस समय के भारतीय नेताओं तथा स्वामी श्रद्धानन्द जी ने असहयोग आंदोलन का कार्यक्रम निर्धारित किया। उन्हीं दिनों टर्की के खलीफा को ब्रिटिश शासन ने गद्दी से पृथक् कर दिया था, अतः भारतीय मुसलमान भी बिगड़ गए और "खिलाफत कमेटी" नाम की एक संस्था बना ली। महात्मा गांधी जी तथा भारतीय कांग्रेस ने भी अपना आर्शीवाद दे डाला। दोनों मिल कर असहयोग आन्दोलन में जुट गए। इन्हीं दिनों स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल कांगड़ी का कार्यभार आचार्य रामदेव जी की देखरेख में प्रबन्धकारिणी सभा को सौंप कर दिल्ली के नया बाजार में अपना कार्यालय स्थापित किया और वहाँ से "विजय" नामक एक साप्ताहिक हिन्दी पत्र को प्रकाशित करना शुरू कर दिया था। इसी पत्र के माध्यम से उन्होंने अपनी धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, चारित्रिक एवं शिक्षा सम्बन्धी गतिविधियों का संचालन किया। वैसे उनका "सद्धर्म प्रचारक" पहले से ही आर्यसमाज का प्रचार कर रहा था। "रोलेट ऐक्ट" के विरुद्ध देश के सभी नगरों में आन्दोलन चल रहा था। स्वामी श्रद्धानन्द जी के नेतृत्व में दिल्ली नगर संगठित हो गया था। "खिलाफल" के कारण मुसलमानों ने भी स्वामी जी का नेतृत्व स्वीकार कर लिया

था। महात्मा गांधी जी तथा अन्य नेताओं के साथ मिलकर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने घोषणा कर दी कि "३० मार्च १६१६ को दिल्ली नगर में हड़ताल रहेगी, सब नर-नारी इस दिन उपवास रखेंगे। एक सभा होगी, जिसमें ब्रिटिश सरकार को इसकी नीति के विरुद्ध चेतावनी दी जाएगी और असहयोग का मार्ग अपनाया जाएगा।" इस घोषणा के अनुसार दिल्ली के "पीपल" पार्क में एक बड़ी सभा का स्टेज बनाया गया और नियत समय पर दोपहर बाद लगभग तीन बजे श्री स्वामी जी महाराज की अध्यक्षता में सभा आरम्भ हुई। यह पीपल पार्क वहाँ था जहाँ आजकल दीवान हाल के सामने लाजपतराय मार्केट बना हुआ है। इसमें उस समय अधिकतर पीपल के वृक्ष ही थे। यह स्थान उस समय लालकिला स्थित अंग्रेजी सेना के अधीन था। समाचार पत्रों एवं विज्ञापनों द्वारा इस विराट् सभा की सूचना प्रसारित की गई थी। इसके परिणामस्वरूप पास-पड़ोस के कस्बों, गांवों तथा गाजियाबाद और मेरठ की जनता भी इस सभा में विशेष रूप से सम्मिलित हुई। दिल्लीवासी तो बड़ी संख्या में पहले से तैयार थे।

नगर में पुलिस और मिलिट्री का कड़ा प्रबन्ध था। दो मशीनगनें चाँदनी चौक में चक्कर लगा रही थीं, एक फतेहपुरी मस्जिद से घंटाघर तक, दूसरी घंटाघर से लालकिले तक। जनता में भय और आतंक भी कभी-कभी दीख पड़ता था, डील-डौल के ६ फुटे संन्यासी स्वामी श्रद्धानन्द खड़े होकर अपने प्रभाव से जनता को बड़े धैर्य से नियंत्रित कर रहे थे। स्टेज पर बैठे हुए लोगों में (जिनका परिचय काफी समय पश्चात् हुआ) श्री ला० नारायणदत्त जी ठेकेदार, ला० शकरलाल जी (ट्रापिकल इन्श्योरेंस कम्पनी के डाइरेक्टर), हकीम अजमल खां साहब और अन्सारी साहब थे। स्वामी जी ने वेदमन्त्रों के उच्चारण के पश्चात् जनता को संबोधित कर अपना ओजस्वी भाषण आरम्भ किया ही था कि एक घुड़सवार पुलिस अधिकारी सभा स्थान पर आ धमका। जनता में कानाफूसी होने लगी कि यह शहर कोतवाल है, किसी उच्च अधिकारी का कोई रुक्का (आदेश) लेकर आया है या किसी के वारंट लेकर आया है इत्यादि। वह रुक्का क्या था—इस ओर स्वामी जी ने कुछ भी ध्यान नहीं दिया। सभा की कार्यवाही लगभग ५ बजे समाप्त हो गई थी। स्टेज पर खड़े होकर स्वामी जी महाराज ने कहा कि आप लोग भयभीत न हों, नगर में शान्ति-व्यवस्था रखना सरकार का काम है। हमको शान्तिपूर्वक अपने स्थानों को चले जाना चाहिए। हड़ताल के कारण नगर में सन्नाटा था। केवल सड़क पर ही जलसे से लौट कर आने वालों की भीड़-भाड़ थी। श्री स्वामी जी के पीछे बहुत लोग थे, घंटाघर पर दर्शकों की भीड़ भी थी, स्वामी जी भीड़ को चीरते हुए आगे बढ़ते जा रहे थे। मल्का गार्डन के समीप आने से पहले ही जनता के जयघोषों से चौकन्ने होकर गोरखे सैनिकों ने संगीन चढ़े अपने राइफल तान लिए। यह देखते ही जनता में भगदड़ मच गई। स्वामी जी ने कड़कती आवाज में तुरन्त ललकारा, अपने हाथ का संकेत देकर जनता से कहा ठहरो, भागो नहीं और दूसरे हाथ की अंगुली से

अपनी छाती पर संकेत किया कि गोली पहले मेरी छाती पर मारो। पहरेदार सैनिक बड़े चकराए, किंकर्तव्यविमूढ़ से हो गए। उन्होंने अपनी रायफलें नीचे को कर लीं और स्वामी जी महाराज के चेहरे को ताकने लगे।

यह था ईश्वरीय विश्वास पर आत्मिक बल का दृश्य (नजारा)। अपनी आँखों से मैंने और वहाँ खड़े हजारों लोगों ने देखा। जनता के फीके पड़े चेहरों पर साहस और धैर्य के चिन्ह दीख पड़े। काश! इस अवसर पर कोई फोटोग्राफर इस दृश्य का फोटो लेकर रख लेता तो स्वामी जी महाराज के निडर रूप एवं स्थिति का मुंह बोलता दृश्य आज की नई पीढ़ी को देखने को मिलता। यह तो सैनिकों की राइफलों के सम्मुख सीना तान लेना मौत को चैलेंज करना था। सैनिकों से वे कितने समय तक बातें करते रहे, इसका मुझे पता नहीं चला। इतने पर भी किसी ने शरारत कर डाली और मशीनगनों से गोली अथवा छर्रे निकल पड़े। इसका पता तब चला जब मेरे साथ में खड़े मेरे मित्र श्री टेकचन्द जी फरमाणा (रोहतक) निवासी के कान पर एक छर्रा लगा जिससे उनके कान की लौर कटकर गिर गई तथा लहू बहने लगा।

× × ×

दूसरी आँखों देखी घटना जामा मस्जिद के मिम्बर पर स्वामी श्रद्धानन्द जी का ८ व ९ अप्रैल १९१९ को हुआ भाषण है स्वामी जी ने सभा का सम्बोधन वेद-मन्त्र द्वारा किया और भाषण के अन्त में 'ओ३म् शान्ति! शान्ति! शान्ति! का पाठ किया। स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज सबसे पहले और अन्तिम महापुरुष हैं जिन्होंने शाही मस्जिद पर वेद-मन्त्र का उच्चारण किया था।

× × ×

मई १९२० में गुरुकुल भैंसवाल (रोहतक) की आधारशिला के समय जब सब लोग भोजन करने बैठे तो गुरुकुल के प्रबन्धकों ने स्वामी जी को एक बड़े बर्तन में परोसा। इतना ढेर सारा भोजन देखकर वे बोले कि यह तो मैं चार समय में भी नहीं खा सकता। प्रबन्धकों ने कहा हमारे गाँव में तो इतना भोजन एक पाली गाय चराने वाला व्यक्ति एक ही बार में खा सकता है। इस पर खूब हंसी हुई।

× × ×

स्वामी जी महाराज आर्यसमाज के विद्वानों से बहुत ही स्नेह करते थे। उन्होंने आर्यसमाज के उत्सव पर अपने व्याख्यान में यह कहा कि आर्यसमाज के सिद्धान्तों और कार्यक्रमों पर मेरा दृढ़ विश्वास है। परन्तु मैं चाहता हूँ कि भविष्य में शास्त्रार्थ नहीं करने चाहिए, क्योंकि मुसलमान आदि भी राष्ट्रीय आन्दोलन में हमारे साथ मिलकर काम करने को उत्सुक हैं।

शुद्धि आन्दोलन के समय मलकाना शुद्धि के अवसर पर मुसलमान-उलमा की ओर से शुद्धि पर आपत्ति करते हुए शास्त्रार्थ का आवाहन किया गया। जब स्वामी

जी दिल्ली लौट कर आये तो शास्त्रार्थ-महारथी पंडित रामचन्द्र देहलवी से मिलने के लिए उनके निवास स्थान पर जाने का रास्ता पूछ रहे थे। मैं उनको देहलवी जी के निवास स्थान पर ले गया। स्वामी जी को आते देख पंडित देहलवी तुरन्त मकान के नीचे उतर आए। स्वामी जी ने पहले नमस्ते की और उसके बाद अपने आने का प्रयोजन बतलाते हुए बोले आगरा क्षेत्र में मुसलमान मौलवियों से शास्त्रार्थ करना है। देहलवी जी ने कहा "आप तो शास्त्रार्थ के विरुद्ध हैं तो ये कार्यक्रम क्यों रखा है"। स्वामी जी ने मुस्कराते हुए कहा कि "आप जैसे तार्किक और सौम्य वक्ता द्वारा शास्त्रार्थ किए जाने का समर्थक हूँ। आपकी शास्त्रार्थ की शैली बहुत आकर्षक एवं प्रभावी है।"

●

शूरता की शान स्वामी श्रद्धानन्द

—प्राध्यापक राजेन्द्र जिज्ञासु

स्वामी श्रद्धानन्द एक अद्भुत महामानव थे। उनके जीवन की घटनाएँ प्रेरणाप्रद तो हैं ही, साथ ही अत्यन्त रोचक एवं उनके व्यक्तित्व के विविध पहलुओं को उजागर करने वाली भी हैं। यहाँ ऐतिहासिक महत्त्व की कुछ ऐसी ही तथ्यात्मक घटनाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं, जो स्वामी जी के जीवन पर अनुसंधान करते हुए प्रकाश में आई हैं।

गोपीनाथ का मुकदमा*

पं० गोपीनाथ कश्मीरी ने महात्मा मुंशीराम पर मानहानि का अभियोग चलाया। स्मरण रहे, कि यह गोपीनाथ "जय जगदीश हरे" आरती के रचयिता, नास्तिक और ऋषि विरोधी श्रद्धाराम फिल्लोरी का चेला था। गोपीनाथ इससे पूर्व बीसियों बार मुंशीराम जी के सम्बन्ध में अपमानजनक लेख छाप चुका था। मुंशीराम चाहते तो उस पर मुकदमा कर सकते थे और जीत भी सकते थे। परन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया। जब उन्होंने गोपीनाथ को उसी की भाषा में जबाब देना शुरू किया, तो उसने उनके विरुद्ध मुकदमा ठोक दिया। इस मुकदमे से चार वर्ष पूर्व आर्यसमाजियों की सहिष्णुता का परिचय देते हुये मुंशीराम ने लिखा था: "गोपीनाथ ने 'सनातन धर्म गजट' में कितने ही अश्लील लेख लिखे, आर्य समाज गालियाँ तो एक और, ईंट पत्थर की चोटें सहन करता हुआ इस स्थान तक पहुँचा है। यह एक ईश्वरीय लहर है। उस लहर को रोकना गजट जैसे कमजोर लोगों का काम नहीं।" इससे मुंशीराम के आत्म-विश्वास का पता लगता है।

इसी गोपीनाथ ने आर्य समाज के दलितोद्धार के कार्य का सख्त विरोध किया और लोगों को खूब भड़काया था। यहाँ तक कि कुछ आर्यसमाजी कार्य-कर्त्ताओं को भारी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। आर्य समाज रोपड़ के प्रधान लाला सोमनाथ को तो अपने कुटुम्ब समेत रोपड़ छोड़कर जालन्धर आना पड़ा। तभी एक दलित भाई इन्द्र चन्द्र और सोमनाथ जी ने मिलकर गोपीनाथ और उसके साथियों पर मुकदमा चलाया। महात्मा मुंशीराम इस अभियोग के पक्ष में नहीं थे। पर उक्त दोनों व्यक्ति अभियोग जीत गये। गोपीनाथ व उसके साथियों को क्षमा माँगनी पड़ी और जुर्माना भी देना पड़ा।

जब गोपीनाथ ने मुंशीराम पर अभियोग चलाया तो सरकारी कर्मचारी

---

* द्रष्टव्य : स्वामी श्रद्धानन्द, सद्धर्म प्रचारक पर पहिला लायबल केस (उर्दू पुस्तक)।

सम्मन लेकर महात्मा जी के घर गया, स्वयं गोपीनाथ भी उसके साथ गया। उस समय गोपीनाथ का लोगों पर इतना आतंक था कि बड़े-बड़े व्यक्ति भी व्यक्तिगत रूप से गोपीनाथ के आचार-विचार पर कितनी ही आपत्ति क्यों न करते हों, परन्तु न्यायालय में उसके विरुद्ध कुछ भी कहने से डरते थे। तब मुंशीराम ने लिखा था—"परमेश्वर पर भरोसा करने के सिवाय और कोई विकल्प नहीं"।

इसी दौरान मुंशीराम को अंग्रेजी में लिखा एक पत्र मिला, जिसमें मुंशीराम को डराने के लिये कहा गया था कि सरकारी अंग्रेज वकील पैटमैन इस केस को हाथ में ले रहा है और सरकार स्वयं इस मुकदमे को लड़ेगी। अच्छा यह है कि किसी तरह समझौता कर लो। न्यायाधीश ने गोपीनाथ के वकील पार्कर से भी कहा कि जैसे भी हो, समझौता कर लो। स्वयं गोपीनाथ भी समझौते का इच्छुक था, क्योंकि उसे अपनी पोल खुलने का डर था। गोपीनाथ ने कहा कि मैं अपने लेखों के लिये अदालत में खेद प्रकट कर दूँगा, मुंशीराम भी अपने लेखों पर खेद प्रकट करें। पर मुंशीराम ने असत्य के आगे झुकने से इन्कार कर दिया। तब गोपीनाथ के वकील पार्कर ने न्यायाधीश से कहा : "हम क्या करें, जिस पर अभियोग है, वह तो समझौते का नाम ही नहीं लेता।"

मुंशीराम के ईश्वर विश्वास का परिणाम था कि अकस्मात् कोई अज्ञात व्यक्ति गोपीनाथ के गोपनीय पत्रों की फाइलें मुंशीराम के हाथ में पकड़ा गया। यही पत्र अभियोग में काम आये। गोपीनाथ की पोल खुली। वह मुकदमे में हारा। सारे हिन्दू समाज में उसकी बहुत बदनामी हुई और अन्त में कहते हैं कि उसकी मृत्यु भी बड़ी दुर्गति में हुई। मुंशीराम ने बाद में लिखा था—"बस इस मुकदमे में मेरे किसी सहयोगी, मित्र या मैंने कुछ नहीं किया, यह तो ईश्वर की कृपा का ही फल था कि जब जिस प्रमाण की आवश्यकता हुई, वह अचानक अनायास ही कहीं न कहीं से मेरे हाथ में आते चले गये।"

जब अदालत में यह अभियोग चला, तब यह इतना चर्चित रहा कि हर पेशी पर हजारों लोग इकट्ठे हो जाते। भीड़ से घबरा कर न्यायाधीश को कई बार सुनवाई का स्थान बदलना पड़ा। जिस दिन मुंशीराम को अभियोग पत्र में उनके विरुद्ध लगाये गये आरोप सुनाये गये, उस दिन जब आरोप सुनने के लिये मुंशीराम खड़े हुये तो उनके साथ हजारों दर्शक भी, जिनकी आन्तरिक सहानुभूति मुंशीराम के साथ थी, खड़े हो गये। मुंशीराम के वकील भक्तराम को उन आरोपों का उत्तर देना था। गोपीनाथ काली ऐनक लगाकर अदालत में आया था, तब उसके वकील ने न्यायाधीश से इस आधार पर सुनवाई स्थगित करने की अपील की कि मेरे मुवक्किल की आँखें दुखती हैं, इसलिये वह पढ़ नहीं सकता। मुंशीराम के वकील भक्तराम ने कहा कि मैं सब लेख पढ़कर सुनाता जाऊँगा, वह केवल मुख से अपनी बात कहते जावें। न्यायाधीश ने कहा : "साक्षी मुख से देनी है, मुख तो नहीं दुखता, इसलिये सुनवाई स्थगित करने की जरूरत नहीं।" आखिर भक्तराम की तर्कपूर्ण जिरह के सामने

गोपीनाथ नहीं ठहर सका और मुकदमा हार गया। इस अभियोग के कारण भक्तराम का नाम लाहौर की देवियों और बाल-बच्चों की जिह्वा पर चढ़ गया।

उस समय वातावरण कैसा था, यह मुंशीराम के शब्दों में पढ़िये—"आर्य समाज और उसके सभासदों को अपनी रक्षा के लिये काम करने की आवश्यकता क्यों पड़ती है ? अपने हृदय में घुस कर पूछिये तो आपको उत्तर मिलेगा कि जिन वद-शास्त्रों का आप केवल मुख से सम्मान करते हैं, जिस वर्णाश्रम धर्म को आप केवल मौखिक रूप से स्वीकार करते हैं, उसको व्यावहारिक रूप में फैलाने के यत्न में ही आर्य समाज पर चारों ओर से आक्रमण होते हैं।"

जब मुंशीराम को फाँसी पर लटकाया गया

पाठक यह शीर्षक पढ़ कर चौंकेंगे। लेखक यह क्या लिख रहा है। यदि मुंशीराम को फाँसी पर लटकाया गया तो श्रद्धानन्द कौन बना और गोली किसे लगी ?

जब मुंशीराम जालन्धर आर्यसमाज के प्रधान थे, उन दिनों की बात है। वे दलितोद्धार के काम में जी जान से जुट गये। उन्होंने लगभग दो सौ रहतियों को शुद्ध करके आर्यसमाज में शामिल कर लिया। उपस्थित सभासदों ने उनके हाथ से प्रसाद खाया और पानी पिया। हिन्दू जाति के लिये यह नई चीज थी। इससे दलितों में एक नया जीवन आया और सब ओर प्रेम की गंगा बहने लगी। परन्तु इससे विरोधी खूब खीझे और सटपटाये। पौराणिक पण्डितों ने जनता को खूब भड़काया और बहुत से आर्यसमाजियों को बिरादरी से खारिज कर दिया। दलितोद्धार की दिशा में यह प्रथम संगठित प्रयत्न था। परन्तु उस समय इस घटना ने कितनी उत्तेजना पैदा कर दी थी, उसकी कल्पना अगली बात से की जा सकती है।

उन्हीं दिनों पंजाब के प्रसिद्ध समाचार पत्र 'ट्रिब्यून' में एक खबर छपी। खबर का सार यह था : "जालन्धर की हिन्दू जनता ने रहतियों की (जो उस समय दलित जाति में शामिल थे) शुद्धि से विक्षुब्ध होकर आर्यसमाज के प्रधान लाला मुंशीराम के घर पर चढ़ाई कर दी, उनको पकड़ लिया और घसीट कर समाज मन्दिर में ले आये। उसके बाद उन्हें रस्सियों से बाँधकर समाज मन्दिर में आंगन में खड़े एक पीपल के पेड़ पर फाँसी पर लटका दिया और उनके दोनों ओर एक-एक रहतिया को भी फाँसी लटका दिया।"

इस खबर की दो प्रकार की प्रतिक्रिया हुई : आर्यसमाज के विरोधियों ने प्रसन्नता से मिठाइयाँ बाँटी, किन्तु आर्य समाजी हलकों में तहलका मच गया। असलियत जानने के लिये लोग मुंशीराम के घर की ओर दौड़ पड़े और उनके कुशल क्षेम की पूछ-ताछ के लिये तार पर तार आने लगे।

बाद में समाचार को बारीकी से पढ़ा गया तो पता लगा कि "ट्रिब्यून" के संपादक ने जानबूझ कर लोगों को भ्रम में डालने के लिये यह 'अप्रैल फूल' वाला मजाक किया था।

घटना बेशक गलत थी पर जनता ने उस पर इसलिये विश्वास किया कि रहतियों की शुद्धि के कारण उत्पन्न उत्तेजना से इस प्रकार की घटना के चाहे जब घटने की सम्भावना थी। उन्हीं दिनों मुंशीराम ने "सद्धर्म प्रचारक" में एक संपादकीय लेख लिखा था जिसका शीर्षक था—"मुंशीराम को सख्त जख्म लगे हैं"। इसके अन्त में लिखा था : "हिन्दू भाई वेद-शास्त्रों को मानने का दावा करते हुये भी आर्य समाजियों के विरुद्ध षडयन्त्र रचें, इससे बढ़ कर क्या और भी कोई जख्म हो सकता है। हम आपको दिखा चुके हैं कि किस प्रकार हमारे ही पूर्वजों की संतान, हमारे ही भाई, हमारे विरुद्ध जान-बूझ कर सफेद झूठ फैला रहे हैं और इस प्रकार आर्य संतान के घोर पतन का प्रमाण दे रहे हैं। क्या इससे बढ़ कर कोई और जख्म हो सकता है। प्यारे भाइयो, हमारे दिल पर सख्त चोटें लग रही हैं। यह आत्मा जख्मों से छलनी हो रहा है। लेकिन फिर भी हम निराश नहीं हैं।"

लोकमान्य तिलक पर अभियोग

सन् १८९७ में अंग्रेजों ने लोकमान्य तिलक पर प्रथम अभियोग चलाया। इस ऐतिहासिक अभियोग में न्याय का नाटक करते हुये अंग्रेज जज ने लोकमान्य तिलक को दण्डित किया। उस समय आतंक के कारण जहाँ अन्य राजनीतिक नेता कुछ भी कहने का साहस नहीं जुटा सके वहाँ महात्मा मुंशीराम ने "सद्धर्म प्रचारक" में इस अभियोग पर टिप्पणी करते हुये लिखा था, "सरकार ने तिलक को भले ही दण्डित किया है, परन्तु भारतीय जनता तो उन्हें निर्दोष ही मानती है।"

मुंशीराम स्वयं वकील थे। उन्होंने जो कुछ लिखा, वह सरकार के विरुद्ध तो था ही, एक तरह से न्यायालय का भी अपमान था, जो किसी राजद्रोही का पक्ष लेने के कारण राजद्रोह से कम अपराध नहीं था। महात्मा मुंशीराम का उक्त लेख भारतीय राजनीति में विद्यमान उस समय की कायरता पर शूर-वीरता की विजय का एक जयस्तम्भ है। महात्मा गांधी और मोतीलाल नेहरू जैसे राष्ट्र नेता तो प्रथम विश्व युद्ध तक अंग्रेजों की न्याय-व्यवस्था पर आस्था रखते थे। उस व्यवस्था पर शायद यह पहला प्रहार था। अंग्रेजों के शासन काल में तो वेतनभोगी विदेशी इतिहास लेखक हमारे देशवासियों की उपलब्धियों को कम करके दिखाते ही थे, हमारे आज के इतिहास लेखक भी कितने हैं, जो इस प्रकार के ऐतिहासिक तथ्यों को जनता के सामने प्रस्तुत कर सकें।

सन् १९०८ में लोकमान्य तिलक पर पुनः एक और जबरदस्त अभियोग चला, जिसमें उन्हें ६ वर्ष के लिये देश निर्वासन का दण्ड देकर बर्मा की माण्डले जेल में भेज दिया गया। उस समय लोकमान्य तिलक ने बम्बई के हाईकोर्ट में जो वक्तव्य दिया था उसकी चर्चा तो सब जगह की जाती है, परन्तु सरकारी अदालत के निर्णय पर मुंशीराम ने जो कुछ लिखा, उसकी कोई चर्चा नहीं करता। "सद्धर्म प्रचारक" का वह अंक भी हमने बड़े परिश्रम से खोज कर सुरक्षित रखा है जिसमें

शौर्य की शान मुंशीराम ने उस समय लिखा था, "अंग्रेज जाति दिखाना चाहती है कि लोकमान्य तिलक अच्छे व्यक्ति नहीं हैं। परन्तु भारत की जनता जानती है कि उसके हृदय में लोकमान्य का क्या स्थान है। इतिहास में महापुरुषों को सदा कष्ट सहने पड़े हैं। भारत की जनता की दृष्टि में लोकमान्य तिलक सर्वथा निर्दोष हैं।"

लाला जी की गिरफ्तारी

स्वामी श्रद्धानन्द जी के इसी प्रकार के साहस का दर्शन उस समय भी होता है जब लाला लाजपतराय को निष्कासित कर माण्डले जेल में भेजा गया था। लाला लाजपतराय क्योंकि आर्य समाज के नेता थे, इसलिए उनकी गिरफ्तारी के साथ ही आर्यसमाज पर भी विपत्ति के पहाड़ टूट पड़े। सरकार की सेवा में कार्य करने वाले कितने ही आर्यसमाजियों ने अपने हृदय की दुर्बलता के कारण भावी संकटों से बचने के लिए आर्यसमाज की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिये। उस युग में महात्मा मुंशीराम ने जिस शूरवीरता का परिचय दिया उसी ने आर्यसमाज की बलिदानी प्रवृति को अक्षुण्ण रखा। नहीं तो एक समय ऐसा आ गया था कि सरकारी कोप से बचने के लिए सरकार-परस्त आर्य नेता आर्यसमाज को ही समाप्त कर देते। हमें हाल में ही महात्मा मुंशीराम का एक भाषण प्राप्त हुआ है। उसमें वह नर-शार्दूल हुंकार भरते हुए कहता है: "आर्यसमाज का एक नेता फंसा है। वह बार-बार चैलेन्ज करता है—साबित करो, मेरा कसूर क्या है? परन्तु नीचे से लेकर सेक्रेट्री (इंग्लैंड का भारत मंत्री) तक सब मुँह छिपाते हैं।

अंत में उस अटल ईश्वर-विश्वासी नर-नाहर मुंशीराम ने अग्नि परीक्षा की उस बेला में जो ऐतिहासिक अपील की थी, वह भी उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने लिखा: "धर्म के पथ पर चलते हुए जिस कदर कष्ट मिलते हैं वे धर्म के प्यारों के लिए उस व्यापक व्यायाम के समान हुआ करते हैं जो अन्त में व्यक्ति को पहलवान बनाने में सफल होती है। आप लोग इन कष्टों को अपने लिए ईश्वर की दया के चिह्न-स्वरूप समझते हुए अपनी सहनशीलता शक्ति को बढ़ाते जाओ ताकि उस उद्देश्य को पूर्ण करने योग्य बन सको जो ऋषि दयानन्द ने तुम्हें सौंपा है।"

गुरुकुल की स्थापना के प्रसंग में एक तथ्य

श्री महात्मा मुंशीराम के सात व्याख्यानों का एक संग्रह १९०४ ई० में छपा था। हमारे पुस्तकालय में इसकी एक प्रति है। इसमें गुरुकुल की स्थापना विषयक एक रोचक घटना स्वयं महात्मा जी ने १९०३ ई० में गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर सुनाई थी।*

जब गुरुकुल की स्थापना गङ्गा के तट पर करने का निश्चय हो गया तो स्थान

---

* महात्मा मुंशीराम के सात लेक्चरों का मजमूआ (उर्दू पुस्तक) पृ० १५-१६

की खोज की गई। स्थान मिल नहीं रहा था। बड़े यत्न किए. सब विफल हो गए। महात्मा मुंशीराम हरिद्वार आए तो दयालचन्द सेवक उनके पास आया और कहा कि वह नजीबाबाद समाज का सदस्य है। यह भी कहा कि मुंशी अमनसिंह आपसे मिलेंगे। वह स्थान के बारे में आपसे बातचीत करेंगे। महात्मा मुंशीराम जी ने मुंशी जी की ओर कोई ध्यान न दिया। यह समझा कि व्यसनी सा व्यक्ति होगा। क्या देगा। औरों की भाँति बातें ही बना कर चला जावेगा। कोई और होता तो महात्मा जी के ध्यान न देने पर चला जाता, परन्तु उसके मन में शिव संकल्प था। पहले तो दो चार बीघे भूमि देने के लिए कहा, फिर नजीबाबाद समाज के उत्सव पर सारा गांव ही दे दिया। धन भी स्वयं कटवा दिया।

पाठक वृन्द' कल्पना करें यदि मुंशी अमनसिंह जी मुंशीराम जी के ध्यान न देने पर चले जाते तो फिर इतिहास की धारा किधर को जाती। उस काल के ऋषि भक्तों की सात्विकता ने तो युग ही पलट लिया।

बाल विधवाओं की समस्या

सन् १८९६ ई० में जब अकाल गढ़ के दीवान संतराम चोपड़ा ने अपनी बाल-विधवा पुत्री का पुनर्विवाह कर दिया तो पंजाब के सामाजिक जीवन में एक भूकम्प सा आ गया। यह विवाह लाहौर में जाकर किया था, इसलिए पौराणिक पोंगापंथी आर्यसमाजियों और दीवान जी के पीछे हाथ धोकर पड़ गये। एक जबरदस्त आन्दोलन छिड़ गया। तब महात्मा मुंशीराम ने अपनी लेखनी उठायी और "सद्धर्म प्रचारक" में दीवान जी की प्रशंसा करते हुए विधवा-विवाह के समर्थन में एक लेखमाला प्रकाशित की। इस लेखमाला का परिणाम यह हुआ कि सब तरफ से बहिष्कृत सन्तराम एक आदरणीय "हीरो" बन गया। इस लेखमाला में एक स्थान पर मुंशीराम ने लिखा था : "तुम्हारे पूर्वज कह गए हैं कि एक विधवा की आह एक इलाके को जला देने के लिए पर्याप्त है। यहाँ २५ लाख विधवाओं की आहें नित्य भारतवर्ष में उठ कर इकट्ठी ताकत पकड़ती हुई अंतरिक्ष में कोलाहल मचा रही है।' इस लेखमाला के अंत में तो उन्होंने जैसे अपना कलेजा चीर कर ही रख दिया था : "मेरी दुखियारी विधवा बहिनो, मैंने तुम्हारा दर्दनाक संदेश भारत-संतान तक पहुँचा दिया है। काश कि मुझसे अधिक बेहतर फसीह (सुवक्ता) वकील तुम्हें मिलता।"

आटा कालेज

एक समय था जब डी० ए० वी० कालेज के विरोधी व्यंग्य से इसे "आटा कालेज" कहा करते थे। इसका कारण यह था कि उस समय के आर्यसमाजियों ने "आटा फंड" के नाम से दान देने की एक नई विधि निकाली थी। हरेक घर में एक मटका रखा जाता था जिसमें गृहिणी रोज परिवार के सदस्यों के हिसाब से एक-एक मुट्ठी आटा डाल देती थी। महीने के बाद आर्यसमाज के कार्यकर्ता उस आटे को ले जाकर बाजार में बेच देते थे और उससे जो पैसा आता उसे डी० ए० वी०

कालेज के फंड में जमा कर दिया जाता था । मूल रूप से यह सूझ किसकी थी, यह कहना मुश्किल है, परन्तु उस युग में यह विधि खूब कारगर हुई और अनायास ही भारी तादाद में छोटी-छोटी राशियां इकट्ठी होने लगीं । कन्या महाविद्यालय जालंधर की स्थापना के समय लाला देवराज ने भी दान के लिए यही विधि अपनाई थी । आजकल तो यह सिलसिला कहीं दिखाई नहीं देता, परन्तु हमने बचपन में अपने जन्म स्थान की समाज में यह प्रथा भली प्रकार देखी है । जब आर्य समाज के विरोधियों ने व्यंग्य पूर्वक डी० ए० वी० कालेज को "आटा कालेज" कहना शुरू किया तब इस व्यंग्य का उत्तर देते हुए महात्मा मुंशीराम ने गर्व पूर्वक लिखा था : "केवल आटा नहीं, एक-एक आर्य की छाती का खून इसमें लगा हुआ है ।"

स्वामी जी सत्याग्रही कैसे बने ?

गांधी युग आया । गांधी जी ने सत्याग्रह का आन्दोलन छेड़ा । स्वामी जी भी इसमें कूद पड़े । वह इसमें कैसे सम्मिलित हुए, इसकी भी एक रोचक कहानी है । उन्हीं के शब्दों में—"अपने परम मित्र स्वर्गवासी गोपालकृष्ण गोखले के मुख्य शिष्य मिस्टर श्री श्रीनिवास शास्त्री (मिस्टर और शास्त्री का मेल बेढब है, परन्तु नायक को स्वीकार यही है) से मैं, माननीय मालवीय जी की प्रेरणा से, मिलने गया । मेरे मिलने का उद्देश्य यह था कि यदि नौकरशाही रौलेट बिल के पास करने पर तुली ही रहे और हिन्दोस्तानी सभासद अपनी अप्रसन्नता प्रकट करने के लिए काउन्सिल से उठ खड़े हों तो मिस्टर शास्त्री भी उनके संग ही उठ आवें ।"*

जब स्वामी जी ने यह चर्चा छेड़ी तो शास्त्री जी ने लीडर का वह अंक स्वामी जी के आगे रख दिया जिसमें गांधी जी की सत्याग्रह सम्बंधी घोषणा छपी थी । शास्त्री जी ने कहा कि मैं तो इस घोषणा के विरुद्ध लेखनी उठाना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ । इस पर स्वामी जी ने कहा "खाहमखाह दाल भात में मूसलचन्द बनने से क्या लाभ ?" शास्त्री जी ने कहा, "It is my duty to protest against this." (इसके प्रति रोष प्रकट करना मेरा कर्त्तव्य है)। स्वामी जी ने तत्काल कहा "Then I must sign the satyagrah vow" (तब मुझे अवश्य सत्याग्रह के प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने चाहिए) । तत्पश्चात् स्वामी जी ने गांधी जी को ऐसा तार दे दिया ।

स्वामी जी के निर्णय से तत्कालीन वायसराय सटपटा उठा । उसने इसकी सूचना पारिभाषिक तार (cipher cable) से भारत के प्रधानमंत्री माण्टीगू को दी ।

यह तार एक सरकारी कर्मचारी ने स्वामी जी को दे दिया । महात्मा गांधी ने भी यह तार देखा था । स्वामी जी के कुछ जीवनी-लेखकों ने इसकी चर्चा अवश्य की है, परन्तु तार के मूल शब्द किसी ने नहीं दिए । हमने ये शब्द खोज लिए हैं, जो निम्नलिखित हैं :

---

* स्वामी श्रद्धानन्द, बन्दीघर के विचित्र अनुभव, पृ० २

"The agitation is proceding aspace. Mahatma munshi Ram, Who has now assumed the name of Swami Shradha nand, has joined hands with Gandhi. He has been a well dnown religious head for a long time and has gained considerable reputation as a social reformer also. He appears to be anxious to gain notoriety as a political agitator too. It is still to be seen what stamina he has got when time for suffering comes. His elder son was for some time the guest of the well known revolutionist at Buenossd Ayres. His younger son is running as Anti Government Vernacular daily in Delhi. Let us wait and see."

वायसराय ने इस तार में स्वामी जी और उनके पुत्रों की गतिविधियों का उल्लेख करने के बाद लिखा था कि "कष्ट सहन करने का समय आएगा तो देखेंगे कि उसमें (स्वामी श्रद्धानन्द में) दुःख छेलने की क्षमता है।" स्वामी जी ६७ वर्ष की आयु में गुरु का बाग सत्याग्रह के सिलसिले में जेल के पिंजरे में बंद होकर दिखा दिया कि वह शूल से सूली तक का कष्ट झेलने का आत्मबल रखते हैं।

जब देहली में रामराज्य आया

३० मार्च १६१६ से १८ अप्रैल सन् १६१६ तक देहली में हड़ताल रही। स्वामी श्रद्धानन्द जी उस समय देहली के परिव्राट् थे। संन्यासी ने रामराज लाकर दिखा दिया। कैसे? उन दिनों १. सेंध लगनी बंद हो गयी, २. जुआ बंद हो गया, ३. ताले टूटने बंद हो गये, ४. शराब के ठेके उजाड़ का दृश्य उपस्थित कर रहे थे।

ओडवायर और स्वामी श्रद्धानन्द

स्वामी जी ने पंजाब में लाला दुनीचन्द को लिखा "यदि मेरी आवश्यकता हो तो मैं लाहौर पहुँचूं।" यह पत्र लाला जी की बजाय ओडवायर के पास पहुँच गया। सरकार की सैंसर की मशीन ही ऐसी थी। पंजाब का गवर्नर अब चाहता था कि एक बार श्रद्धानन्द लाहौर या पंजाब आ जाये तो "पैर में बेड़ी और हाथ में हथकड़ी लगा कर बाजारों में से घुमाकर ले जाया जाये।" स्वामी जी को अपमानित करके वह आतंक फैलाना चाहता था।

सिखों के आंदोलन में जेल यात्रा

१० सितम्बर १६२२ को स्वामी जी ने अकाल तखत अमृतसर में सिख भाइयों की सहानुभूति में भाषण दिया। इसी अपराध में वह अमृतसर में बन्दी बना लिये गये। अमृतसर से स्वामी जी को मियांवली जेल में ले जाया गया। स्वामी जी लिखते हैं: "२७ अक्टूबर १६२२ ई० साढ़े तीन बजे स्पेशल क्लास वार्ड का द्वार खुलवाया गया। जेलर मुझे साथ लिये अन्दर गये। सत् श्री अकाल! बन्दे मातरम्!

अल्लाहु अकबर के नारे सातवें आसमान को भी गुंजाने लगे। सब भाई द्वार पर आ गये।''[1]

कारागार में सिखों के अतिरिक्त अन्य लोग भी थे। अत: सबने अपने-अपने जयकारे लगाकर स्वामी जी महाराज का हृदय से स्वागत किया। स्वामी जी के जेल में प्रवेश से जेल ने एक सत्संग भवन का रूप धारण कर लिया। स्वामी जी वहाँ सबको आध्यात्मिक उपदेश देकर जीवन-सुधार की सत्प्रेरणा देते रहे।

स्वामी जी को बर्मा-यात्रा

स्वामी जी जब बर्मा की यात्रा पर गये तो पुलिस का एक विशेष दल पीछा करता रहा। गुप्तचर पुलिस तो साथ-साथ थी ही। स्वामी जी ने वहाँ स्वराज्य का बड़ा प्रचार किया। भारी संख्या में जनता उन्हें सुनने आती थी। सारे काम की समाप्ति रंगून की ईदगाह पर पच्चीस सहस्र की उपस्थिति में हुई। जामा मस्जिद और अकाल तखत से जनता को सम्बोधित करने का तो स्वामी जी को सौभाग्य प्राप्त हुआ ही, ईदगाह से भी स्वराज्य का संदेश देने का उन्हें सुयश प्राप्त है। श्री स्वामी स्वतंत्रतानन्द जी महाराज भी बर्मा में उनके साथ ही थे। माण्डले की एक सभा में एक भाई ने प्रश्न किया कि आपके कारण ही तो हम दास बन गये, अब आप ही हमें स्वराज्य का संदेश दे रहे हैं। स्वामी श्रद्धानन्द जी के कहने पर स्वामी स्वतंत्रानन्द जी ने उसका उत्तर दिया, "नि:सन्देह भूतकाल में हमारे ही कारण आपको पराधीन होना पड़ा। किन्तु अब तो हमारी और आपकी भलाई इसी में है कि हम सब मिलकर स्वतंत्रता के लिए लड़ें।''[2] तब बर्मा भारत का ही अंग था, शासन ने उन्हें वहाँ बन्दी न बनाया।

केरल-सत्याग्रह में स्वामी जी

केरल में वायकम नगर में छूतछात के विरुद्ध एक ऐतिहासिक सत्याग्रह हुआ था, जिसका केरल के इतिहास में जलियांवाला काण्ड से कम महत्त्व नहीं है। इस सत्याग्रह का नेतृत्व स्वामी श्रद्धानन्द जी ने ही किया था। तब केरल के प्रसिद्ध सन्त नारायण स्वामी ने स्वामी श्रद्धानन्द जी का स्वागत एवं अभिनन्दन किया और कहा कि आपकी विजय होगी। आर्यसमाज के विस्तार की भी नारायण स्वामी जी ने कामना की। श्री नारायण स्वामी जी के अंग्रेजी में प्रकाशित जीवन-चरित्र में यह घटना छपी है। तब केरल श्रद्धानन्द जी को पाकर झूम उठा। गांधी जी भी अत्यन्त प्रभावित हुए। उसी वायकम नगर से थोड़ी दूरी पर आर्य प्रतिनिधि सभा केरल का मुख्य कार्यालय है।

जब महात्मा मुंशीराम पर योरोपीय टूट पड़े

सन् १९११ ई० की घटना है कि महात्मा मुंशीराम जी अस्वस्थ हो गये

---

१. स्वामी श्रद्धानन्द, बन्दीघर के विचित्र अनुभव, पृ० २७

२. प्राध्यापक राजेन्द्र जिज्ञासु, लौह पुरुष स्वतंत्रानन्द, पृ० ६५.

और वे स्वास्थ्य-सुधार, चिकित्सा आदि के लिए रेल द्वारा अमृतसर जा रहे थे। जिस डिब्बे में महात्मा जी यात्रा कर रहे थे उसी में कुछ योरोपीय लोग भी थे जो सेना विभाग में कार्यरत थे। महात्मा जी सोये हुए थे। अम्बाला का स्टेशन आया। एक योरोपीय फौजी ने महात्मा जी पर प्रहार कर दिया। महात्मा जी एकदम जाग गये और उठ कर खड़े हो गये। उन्हें मुकाबले के लिए खड़ा देखकर वह सैनिक उनके सामने न टिक सका और भाग खड़ा हुआ। उसके दो साथियों ने जब महात्मा जी की तेजस्विता व साहस देखा तो तत्काल क्षमायाचना कर ली।

इस घटना की सूचना गार्ड को भी दी गई पर उसने कुछ नहीं किया। महात्मा जी ने ट्रिब्यून में भी इसका विवरण प्रकाशित करवाया। पर कुछ लाभ न हुआ।

इस आक्रमण का उद्देश्य महात्मा जी की जान लेना था या एक भारतीय का अपमान करके अपने अहं की पूर्ति करना था, यह कहना कठिन है। उन दिनों योरोपीय इसी तरह अकारण भारतीयों का अपमान किया करते थे और कभी-कभी जान से भी मार देते थे। वे अपने घरों में कार्य करने वाले भारतीय सेवकों को तो प्रायः नाराज होकर ठुडा मार कर मार देते थे और घोषणा कर दी जाती थी हार्टफेल होने से मृत्यु हो गई। आर्यसमाज के दो प्रमुख पत्रों 'सद्धर्म प्रचारक' एवं 'आर्यगजट' तथा लाला लाजपतराय के 'पंजाबी' में इस प्रकार की घटनाओं के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा जाता था। पर तत्कालीन सरकार पर इस सबका कोई प्रभाव नहीं होता था।

उपर्युक्त घटना का विवरण ६. ११. १९११ के 'आर्यगजट' में प्रकाशित हुआ था। यह अंक मेरे पास सुरक्षित है। ●

याद आता है वह दिन

—श्री बनवारीलाल आर्य

यह घटना उस समय (सन् १९२५) की है जब स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज द्वारा चलाया गया शुद्धि-आंदोलन अपने चरम पर था। मैं और मेरे साथी श्री सागरमल गर्ग आर्यसमाज मुरादनगर (गाजियाबाद) के मंत्री एवं उपमंत्री थे। उन दिनों अछूतोद्धार की चर्चा भी खतरनाक समझी जाती थी दलितोद्धार सभा दिल्ली में एक श्री रामानन्द जी संन्यासी थे। उनकी प्रेरणा से मैंने श्री सागरमल जी के सहयोग से किसी अछूत को कुंओं पर चढ़ाने का कार्यक्रम बनाया। अतः हमने भीका नामक एक चमार को किसी प्रकार कुंए पर चढ़ने के लिए तैयार कर लिया। सवर्ण हिन्दुओं की ओर से धमकी दी जाने लगी, पर हमने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। हमारे इस दुस्साहस भरे संकल्प के बारे में सुन कर नगर में सन्नाटा छा गया और लोग देखना चाहते थे कि इसका परिणाम क्या होता है।

निश्चित कार्यक्रमानुसार हम भीका को एक जलूस की शक्ल में बाजार में होते हुए कस्बे के एक कुंए पर चढ़ाने ले गये। मैंने भीका को कुंए पर चढ़ा दिया। हमारे पीछे आ रही भीड़ ने हम पर आक्रमण कर दिया और राजेलाल वैश्य नामक एक व्यक्ति ने हमें जूतों से पिटवाया। मुझे और सागरमल जी को अत्यधिक चोटें आईं, भीका वहां से भाग गया। इस घटना से सारे क्षेत्र में आतंक फैल गया। जैसे ही इस घटना की सूचना स्वामी श्रद्धानन्द जी और श्री रामानन्द सन्यासी को मिली, वे दोनों मुरादनगर आये। स्वामी जी ने उपस्थित जनसमुदाय के समक्ष बड़ा ओजस्वी भाषण दिया तथा हम दोनों की पीठ थपथपा कर आशीर्वाद दिया। इससे जनता में जोश उत्पन्न हो गया और हमारा हौसला और बुलन्द हो गया।

इसके कुछ बाद मैं और मेरे एक साथी श्री बालकराम जी २२ या २३ दिसम्बर १९२६ को स्वामी जी महाराज के दर्शन करने तथा उनके स्वास्थ्य के बारे में जानकारी प्राप्त करने दिल्ली गये। कुछ देर उनके पास बैठे और चरणस्पर्श कर आशीर्वाद प्राप्त किया। उस समय क्या पता था कि ये उनके अंतिम दर्शन होंगे।

हम लौट कर गाजियाबाद पहुँचे ही थे, हमने सुना कि पूज्यपाद को किसी ने गोली मार दी है। हम पुनः दिल्ली गये और स्वामी जी की शवयात्रा में शामिल हो कर उन्हें श्रद्धासुमन अर्पित किये।

कतिपय स्मृतियाँ

—श्री विद्यारत्न

मैं लाहौर का रहने वाला हूँ। वहाँ हमारी फर्म सीताराम आर्य एण्ड संस के नाम से थी। हमारा धूप, सामग्री का कारखाना था। मेरे पू० पिता जी पक्के आर्यसमाजी और स्वामी श्रद्धानन्द जी के परम भक्त थे। इसी कारण उन्होंने मेरे बड़े भाई प्रकाशचन्द्र जी को गुरुकुल कांगड़ी में और मुझे मुलतान गुरुकुल में प्रविष्ट कराया था। भाई प्रकाशचन्द्र जी ने स्वामी जी के आचार्यत्व में शिक्षा ग्रहण की और सन् १९१८ में वेदालंकार उपाधि प्राप्त की। मैं १० वर्ष पढ़ कर घर वापस आ गया।

हम लोग प्रति वर्ष अपनी फर्म का सामान लेकर गुरुकुल के उत्सव पर ले जाया करते थे। हमेशा ही स्वामी जी के दर्शन किये। उनका कद, रूप-रंग देखने योग्य था। उनके भाषणों में ओज होता था। मैंने गुरुकुल और लाहौर में उनके सैंकड़ों भाषण सुने। बियावान जंगल में स्थित कांगड़ी गुरुकुल पहुँचने में उस समय काफी कठिनाई होती थी, पर फिर भी लाखों लोग वहाँ के उत्सवों में हर्षोल्लास पूर्वक, पैदल या बैलगाड़ी में गीत व भजन गाते हुए गंगा पार गुरुकुल-भूमि में पहुँचा करते थे। कुछ समय के लिए जंगल में मंगल हो जाया करता था। वहाँ जिस आनन्द की अनुभूति होती थी उसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता है।

उत्सव पर यात्रियों के निवास के लिए झोपड़ियाँ अधिक होती थीं। हालांकि सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध रखा जाता था, फिर भी एक बार उन झोंपड़ियों में आग लग गई और एक बच्चा जल गया। स्वामी जी को ज्यों ही इस दुःखद घटना की सूचना मिली, वे वहाँ आये। बच्चे का शव निर्वस्त्र रखा था। उन्होंने तत्काल अपना दुपट्टा उतार कर उसके शरीर पर ढ़क दिया और शव को गोद में ले अंतिम संस्कार के लिए चल पड़े। यह थी उस महापुरुष की विशालता। इससे बच्चे के माता-पिता का दुःख भी काफी हद तक हल्का हो गया।

सन् १९२० के आसपास गुरुकुल में बाढ़ आ गई और बड़ी हानि हुई। स्वामी जी चाहते थे कि गुरुकुल की ओर गंगा पर बांध आदि बांधने की व्यवस्था कर दी जाये और गुरुकुल कांगड़ी ग्राम में ही रहे। परन्तु उस समय जिनके हाथों में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की बागड़ोर थी, वे अपनी जिद्द पर अड़े रहे और गरुकुल को गंगा के इस पार लाने का निर्णय कर लिया। स्वामी जी इस प्रकार का निर्णय होता देख बैठक से उठ कर बाहर आ गये। मैं भी उस समय वहीं पर

था । वे इस निर्णय से बहुत दुःखी थे और इसके बारे में बताते-बताते रो रहे थे ।

वस्तुतः उनका दुःखी होना स्वाभाविक ही था । वे जैसा समझते थे वैसा ही हुआ । तत्कालीन आर्यनेता गुरुकुल को इस ओर ले आये और लाखों रुपया खर्च कर दिया । गुरुकुल इधर आकर नाम से तो 'गुरुकुल' ही रहा, पर उसे 'स्वामी श्रद्धानन्द के स्वप्नों का गुरुकुल' नहीं कहा जा सकता । उसका महत्त्व उत्तरोत्तर घटता जा रहा । यदि इसे किसी तरह से पुनः 'स्वामी श्रद्धानन्द का गुरुकुल, बनाया जा सके तो यह स्वामी जी के प्रति हम सबकी सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी ।

●

अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द

—श्री पं० चन्द्रकेतु शर्मा

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा आर्यसमाज की स्थापना सन् १८७५ में की गई थी, परन्तु पंजाब में आर्यसमाज का उदय स्वामी जी के निर्वाण के बाद हुआ। युवक मुंशीराम महर्षि के आदर्शों से प्रभावित होकर आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुए थे और जब वे लाहौर में वकालत पढ़ रहे थे तो वे प्रत्येक रविवार को लाहौर आर्यसमाज के सत्संग में सम्मिलित हुआ करते थे और आर्यसमाज के कार्यों में विशेष उत्साह से भाग लेते थे। पंजाब में मुंशीराम जी के इस आर्यसमाज-प्रवेश को ऐसा माना जाने लगा कि मानों उसमें किसी नई शक्ति का प्रवेश हुआ हो। आर्यसमाज का केन्द्र लाहौर से हट कर जालंधर शहर बनने लगा। जालंधर के आर्यसमाजी भाइयों ने मुंशीराम जी को अपनी समाज का प्रधान चुन लिया। प्रधान बनते ही उन्होंने समाज में यह प्रस्ताव पारित करवाया कि आर्यसमाज के वे ही सज्जन सदस्य हो सकेंगे जो निरामिषभोजी होंगे। इस पर बहुत हंगामा मचा और परिणामस्वरूप पंजाब में आर्यसमाज के दो दल बन गये।

पंजाब के उत्साही आर्यों ने महर्षि की स्मृति में लाहौर में डी० ए० वी० कॉलिज की स्थापना की, परन्तु उसमें संस्कृत और वैदिक पाठ्यप्रणाली का अभाव था। इस अभाव की पूर्ति के लिए मुंशीराम जी ने ऋषि प्रतिपादित प्राचीन गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के आधार पर एक राष्ट्रीय शिक्षा संस्था स्थापित करने का दृढ़ संकल्प किया और गुजरांवाला में गुरुकुल की स्थापना की, जिसे सन् १९०२ में हरिद्वार के निकट कांगड़ी ग्राम में स्थानान्तरित कर दिया गया।

× × ×

महात्मा मुंशीराम जी गुरुकुल में संस्कृत, वैदिक साहित्य, दर्शन आदि प्राच्य विषयों के साथ-साथ इतिहास, भूगोल, अंग्रेजी, विज्ञान आदि आधुनिक विषयों का भी ज्ञान कराना चाहते थे, ताकि वहाँ के ब्रह्मचारी नानाविध विषयों के विद्वान् बन सकें। वे संस्कृत आदि प्राच्य विषयों के शिक्षण के लिए काशी से बड़े-बड़े धुरंधर विद्वानों को लाये थे और आधुनिक विषयों के अध्यापन के लिए प्रो० रामदेव जी, श्री महेशचरण सिन्हा, मास्टर गोवर्धन जी, प्रो० बालकृष्ण जी प्रभृति विद्वानों को नियुक्त किया। प्रोफेसर रामदेव जी के आने पर विद्यालय में पढ़ाई की घण्टी बजने लगी और प्रतिदिन के शिक्षण-काल को विषयवार अंतरों में विभक्त कर दिया गया। यह परिवर्तन प्राचीन पद्धति के अध्यापकों को अच्छा नहीं लगा और ब्रह्मचारियों ने भी इसका विरोध किया। प्राचीन पद्धति की विद्वत्मण्डली तो गुरुकुल छोड़कर चली गई। ब्रह्मचारीगण महात्मा जी के पास गये और उनसे प्रार्थना की कि हमें

काशी भेज दीजिए, हम वहाँ से संस्कृत के पंडित बन कर आयेंगे। यह सुनकर एक बार तो महात्मा जी भी हतप्रभ रह गये। बाद में उन्होंने ब्रह्मचारियों की एक सभा बुलाई, दीवार पर नाना प्रकार के मानचित्र टंगवा दिये और एक सारगर्भित व्याख्यान दिया, जिसमें विश्व की वैज्ञानिक प्रगति का वर्णन किया। उसी सभा में यह भी घोषणा कर दी कि कल से १५ दिन का अवकाश रहेगा और सब ब्रह्मचारी सरस्वती-यात्रा पर देहरादून जायेंगे। यात्रा का नाम सुन कर सब ब्रह्मचारियों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई।

दूसरे दिन छोटे-छोटे बिस्तर और पहनने के वस्त्र लेकर सभी ब्रह्मचारी हरिद्वार स्टेशन पर पहुँच गये। वहां के अंग्रेज स्टेशन मास्टर ने आचार्य महात्मा मुंशीराम जी का स्वागत करते हुए हंस कर कहा—"महात्मा जी! यह घागरा पलटन कहाँ ले चले?" महात्मा जी ने अपनी समस्या बतलायी। स्टेशनमास्टर ने कहा कि "कुछ ही क्षणों में आपकी समस्या हल कर देता हूँ।" उसने तत्काल शंटिंग इंजन के ड्राइवर को बुला कर कहा कि "देहरादून की गाड़ी में अभी विलम्ब है, तुम इन विद्यार्थियों को अपने इंजन पर चढ़ा कर उसके कलपुर्जों आदि की जानकारी दो।" ड्राइवर ने ऐसा ही किया। सभी ब्रह्मचारी सभी ज्ञातव्य बातें अपनी डायरी में अंकित करते रहे। इसप्रकार डेढ़ घण्टा तक सब कुछ देख-सुन कर जब ब्रह्मचारी देहरादून की गाड़ी में चढ़े तो उन्हें सरस्वती यात्रा का महत्त्व समझ में आ चुका था और वे पूरी तरह संतुष्ट नजर आते थे।

देहरादून पहुँच कर सभी लोग आर्यसमाज मन्दिर में ठहरे और सभी दर्शनीय स्थलों का भ्रमण प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम वन-विभाग और उससे सम्बद्ध संग्रहालय देखा। यह संस्थान एशिया भर में एक ही था। इसमें जापान, चीन, ब्रह्मा, लंका आदि के विद्यार्थी भी पढ़ते थे। जब ब्रह्मचारियों को लेकर महात्मा जी वहाँ पहुंचे तो संस्थान के अनेक प्राध्यापक प्रतीक्षा में खड़े थे। वे ब्रह्मचारियों को संग्रहालय में विद्यमान एक-एक चीज दिखाते रहे और उसके बारे में विस्तृत जानकारी देते रहे। ब्रह्मचारी भी उनके द्वारा बतायी महत्त्वपूर्ण बातों को अपनी डायरी में नोट करते रहे। इस संस्थान और संग्रहालय को देखने के बाद सभी लोग मिलिट्री एरिया में नवीन तथा पुरातन शस्त्रास्त्रों की प्रदर्शनी देखने गये, जहाँ शस्त्र-भण्डार को देख कर ब्रह्मचारी आश्चर्यचकित रह गये। इसप्रकार देहरादून से ज्ञान-विज्ञान की नवीनतम जानकारी प्राप्त कर संपूर्ण दल पुनः गुरुकुल वापस आ गया। यहाँ आकर स्वामी जी ने पूछा—"अब बताओ पुत्रो! कौन-कौन काशी जाना चाहता है?" एक ने भी 'हां' नहीं कहा। सब संतुष्ट थे।

× × ×

स्वामी जी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे अपने ब्रह्मचारियों में मानसिक एवं बौद्धिक ज्ञान के साथ-साथ आत्मविश्वास और निर्भयता भी कूट-कूट कर भरने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते थे। इसके लिए वे रात्रि में भोजनोपरांत

ब्रह्मचारियों की परीक्षा लेने के लिए एक लाल पताका देकर आदेश देते कि "तुम में से जो बालक निर्भीक हों वह इस पताका को यहाँ से दूर घने जंगल में अमुक जगह पर गाड़ आये, हम प्रातः काल जांच करेंगे ।" एक बार की बात है, उन्होंने सभी ब्रह्मचारियों को एकत्र करके पूछा—"आज की अमावस की अंधेरी रात में १० बजे के बाद कौन छात्र नदी पार कर के चंडी रेंज के घने जंगलों में से होता हुआ गौरीशंकर मंदिर से पहाड़ पर चढ़ कर चंडी-मन्दिर जा सकता है ?" कार्य अत्यधिक कठिन था, क्योंकि वह बीहड़ घना जंगल हिंस्र जन्तुओं से आवृत था। छात्र समूह में एक बार तो स्तब्धता छा गई, पर तुरन्त ही ब्रह्मचारी सत्यपाल खड़ा होकर बोला--"पिता जी, मुझे आज्ञा दीजिये । यह कार्य मैं अकेला ही कर सकता हूं ।" तत्पश्चात् वह आज्ञा और आशीर्वाद पाकर एक छोटी-सी लाठी हाथ में ले अत्यन्त निर्भीकता से चल पड़ा और शीघ्र ही चंडी-मन्दिर पर जा पहुँचा । लौटते समय निशानी के तौर पर देवी की चांदी की आँख निकाल कर रात के लगभग २ बजे गुरुकुल वापस आ पहुँचा । महात्मा जी उस समय राउन्ड पर थे । उन्होंने ब्रह्मचारी सत्यपाल को वापस आया देख उसके सिर पर प्यार और आशीर्वाद का हाथ फेरते हुए कहा—"बेटा ! तू अपने भावी जीवन में सदा सफल रहेगा ।"

यही सत्यपाल सन् १९२२ में गुरुकुल का स्नातक बन पं० सत्यपाल सिद्धातालंकार के नाम से विख्यात हुआ और अपना पूरा जीवन वैदिक एवं आर्य धर्म के प्रचार-प्रसार में व्यतीत कर दिया ।

× × ×

निर्भीकता तो ब्रह्मचारियों में इतना घर कर चुकी थी कि गुरुकुल परिसर में जब जंगली गीदड़, भेड़िया, जंगली सुअर आदि वन्य जन्तु घुस आते तो छोटे-छोटे ब्रह्मचारी अत्यन्त निडरता से एक ही लाठी से उन्हें दूर तक खदेड़ देते थे । वर्षाऋतु में बाढ़ के कारण उफनती गंगा में ब्रह्मचारी चंडी घाट और दूधिया बंध से कूद पड़ते—कुछ तूंबे लेकर और कुछ सलीपरों का बेड़ा बना कर । इस प्रकार जल-कल्लोल करते हुए ४ मील तैर कर कुलभूमि में पहुँचते और किनारे पर उपस्थित कुलपिता महात्मा मुंशीराम जी का आशीर्वाद प्राप्त करते थे ।

एक-दो घटनाएँ ऐसी हुईं, जिनमें गुरुकुल के निडर ब्रह्मचारी निहत्थे रहते हुए भी शेर व चीते से भिड़ गये । एक बार ११ वीं श्रेणी के छात्र ब्र० सत्यपाल की गुरुकुल वाटिका में एक चीते से भिड़न्त हो गई । उसने हथियार रहित होते हुए भी निर्भीकता से उसका मुकाबला किया और मार गिराया । इसीप्रकार एक अन्य ब्रह्मचारी महेन्द्रनाथ ने पुण्यभूमि में एक बाघ को मौत के घाट उतार दिया था ।

× × ×

एक बार एक बड़े लाट पादरी भारत पधारे । पादरी साहेब ने कुछ समय रह कर यह जाँच करनी चाही कि लाखों-करोड़ों रुपये व्यय करने पर भी क्या कारण है कि भारत में ईसाई-धर्म का प्रचार-प्रसार उतना नहीं हो पाया जितना कि आशा

थी । पादरी साहेब सर्वप्रथम उत्तर-प्रदेश की जांच के लिए मेरठ शहर में पधारे। परन्तु वे हिन्दी भाषा से सर्वथा अनभिज्ञ थे, इसलिए उन्हें अपने कार्य में कठिनाई अनुभव होने लगी । अपने सहयोगी पादरियों के परामर्श से उन्होंने एक पत्र महात्मा मुंशीराम जी को लिखा, जिसका आशय यह था कि "मैं कुछ काल के लिए ईसाई धर्म के प्रचार के निमित्त भारत आया हूँ, परन्तु हिन्दी न जानने के कारण मुझे अपने कार्य में असफलता मिल रही है । आपसे प्रार्थना है कि मुझे केवल तीन मास के लिये गुरुकुल कांगड़ी में निवास कर हिन्दी का ज्ञान प्राप्त कर लेने की अनुमति प्रदान करें । मैं लिखित रूप में आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं आपके ब्रह्मचारियों से ईसाई धर्म से सम्बन्धित चर्चा तक न करूंगा ।" इस पत्र को पाकर उदारमना आचार्य मुंशीराम जी ने पादरी साहब को उत्तर दिया—"आप अवश्य गुरुकुल पधारें। आपका स्वागत है । रहन-सहन, खान-पान की सब व्यवस्था हो जायेगी । साथ ही आपको छूट देता हूँ कि आप हमारे ब्रह्मचारियों के साथ ईसाई धर्म की चर्चा अवश्य करें । आप स्वयं अनुभव करेंगे कि वे सब विद्यार्थी वैदिक विचारधारा के इतने दृढ़व्रती हैं कि कहीं आपको भी इसी विचारधारा में न बहा ले जायें ।" हुआ भी ऐसा ही । तीन मास के सम्पर्क में पादरी साहेब प्राचीन वैदिक विचारधारा के पृष्ठ-पोषक बन गये । विदाई सभा में भाषण देते हुए पादरी साहेब ने हिन्दी में कहा कि मैं यहां के उपाध्यायों और शिक्षार्थियों से मिल कर मैं इतना प्रभावित हुआ हूँ कि इस प्राचीन शिक्षाप्रणाली तथा वैदिक साहित्य का परम पक्षपाती बन कर आपसे विदा ले रहा हूँ ।

× × ×

अमृतसर के जलियांवाला बाग में जनरल डायर द्वारा भयंकर नरसंहार किया गया । इस लौहमर्षक घटना की सूचना पाकर स्वामी श्रद्धानन्द जी गुरुकुल के १५–२० छात्रों को लेकर अमृतसर पहुँचे । हताहतों की सब प्रकार की सहायता पहुँचाई, जाँच कमेटियाँ बैठाईं । इस घटना से पूर्व ही यह निर्णय लिया जा चुका था कि कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में होगा और सभापति पंडित मोतीलाल नेहरू होंगे । परन्तु इस कांड से अमृतसर की जनता इतना आतंकित हो चुकी थी कि कोई कांग्रेस का नाम लेने को तय्यार न था । स्वागताध्यक्ष पद भी कोई स्वीकार नहीं कर रहा था । अंत में अशरण-शरण स्वामी श्रद्धानन्द जी की पुकार हुई । उन्होंने इस चुनौती को स्वीकार कर लिया । एक बड़े विस्तृत सूखे तालाब के बीचों-बीच गहरे स्थान पर ऊँचा मंच बनाया गया, चारों ओर दर्शक-दीर्घाएँ थीं । एक ओर प्रेस-प्रतिनिधियों के लिए स्थान निर्धारित किया गया था । इसप्रकार एक बृहत् पंडाल का निर्माण किया गया और प्रतिनिधियों एवं स्वयंसेवकों के निवास के लिए पास में ही छोलदारियां एवं तंबू लगाये गये थे । अधिवेशन के केवल २–४ दिन शेष रह गये थे, एकाएक तीव्र तूफान आया । मूसलाधार वर्षा, आंधी, तेज हवाओं आदि से संपूर्ण पंडाल, तंबू आदि ध्वस्त हो गये । तालाब में पानी भर गया । इस विषम स्थिति में

कांग्रेस के अधिकारी वर्ग ने निश्चय किया कि इस वर्ष अधिवेशन स्थगित कर दिया जाये, पर संघर्षों में पले अटल निश्चयी स्वामी श्रद्धानन्द जी इससे सहमत न हुए। उन्होंने घोषणा कर दी कि कांग्रेस का अधिवेशन अवश्य होगा और होगा भी पूर्व निर्धारित तिथियों में। सब हैरान थे कि यह कैसा व्यक्ति है, इतनी विकट विपत्ति में भी नहीं घबराता और असंभव कर दिखाने को उद्यत है।

स्वामी जी ने समस्त अमृतसर निवासियों के नाम एक अपील जारी की और इस संकट की घड़ी में सहायता के लिए उनका आह्वान किया। बस फिर क्या था, नगर के सैंकड़ों व्यापारी एवं स्वयंसेवक एकत्र हो गये। सब कंधे से कंधा मिला कर अधिवेशन की तय्यारियों में तन-मन-धन से लग गये। १५–२० पंपसेट लगा कर पंडाल का सारा पानी निकाला गया, सारे मलबे का ढेर एक तरफ हटा कर सूखी राख बिछा कर स्थान सुखाया गया। दोबारा वृहत् पंडाल तैयार किया गया। अब केवल समस्त भारत से आये नेताओं, प्रतिनिधियों एवं स्वयंसेवकों के निवास की व्यवस्था की जानी शेष थी। स्वामी जी ने तुरन्त ही एक दूसरी अपील निकाली जिसमें अनुरोध किया गया था कि सभी अमृतसर-निवासी कम से कम एक अतिथि को अपने यहाँ टिकायें और उसका अतिथि सत्कार करें। बस फिर क्या था, सैंकड़ों आर्यजन स्टेशन पर पहुँच गये तथा अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार सभी का सत्कार किया। इसप्रकार अकेले स्वामी जी के ही बलबूते पर ही हजारों अतिथियों के निवास, भोजन आदि की व्यवस्था की समस्या का चुटकियों में समाधान हो गया।

× × ×

मुलतान के एक सुप्रसिद्ध रईस चौधरी रामकृष्ण ने महात्मा मुंशीराम जी को तीस हजार रुपये नकद, कुछ भूमि और अंग्रेजी ढंग का एक बड़ा बंगला दान देकर बुद्धु गांव में गुरुकुल खुलवाया था। उस गांव का नाम स्वामी जी ने 'देवबंधु' रख दिया था। कुछ वर्ष बाद किसी कारण चौधरी साहेब नाराज हो गये और वे गुरुकुल वालों को परेशान करने लगे, चोरियाँ करवा दीं और नहर का पानी गुरुकुल भूमि में भरवा दिया। परिणामतः गुरुकुल को पुनः दीवान सावनमल मूलराज के पुराने बंगले में ले जाना पड़ा।

सन् १९१७ में आर्य प्रतिनिधि सभा ने चौधरी रामकृष्ण पर हरजाने का दावा कर दिया। चौधरी साहेब पैसे के बल पर बरसों मुकदमे को टालते रहे। पर १९१९ के बाद चीफ कोर्ट लाहौर से आदेश आया कि यह मुकदमा तत्काल समाप्त होना चाहिए। अतः अदालत ने स्वामी श्रद्धानन्द जी को गवाही के लिए सम्मन भेजा और तारीख भी निर्धारित कर दी गई। स्वामी जी नियत तारीख को लाहौर से मुलतान आने के लिए कराची मेल पर सवार हुए। उस समय तक स्वामी जी संपूर्ण पंजाब के नर-नारियों के इष्ट देव बन चुके थे। उनके स्वागत के लिए अपार जन-समूह मुलतान स्टेशन पर उमड़ पड़ा। मुलतान शहर को भी नाना प्रकार के

द्वार आदि बना कर फल-फूलों, वंदनवारों से सजाया गया था। सब लोग स्टेशन पर ट्रेन की प्रतीक्षा कर रहे थे कि स्टेशन मास्टर ने ट्रेन के १½ बजे मुलतान पहुँचने की सूचना दी, क्योंकि मिंटगुमरी के समीप हड़प्पा स्टेशन पर इंजन खराब हो गया था। परन्तु सभी लोग घंटों स्टेशन पर प्रतीक्षा करते रहे। उधर न्यायालय में न्यायाधीश आदि प्रतीक्षा कर रहे थे और बार-बार स्टेशन से फोन द्वारा ट्रेन की स्थिति ज्ञात कर रहे थे। उस समय मुख्य न्यायाधीश पद पर एक मुसलमान युवक था, जो हाल ही में इंग्लैंड से उपाधि प्राप्त करके आया था। उसने भी घोषणा कर दी कि आज जब तक स्वामी जी गवाही के लिए नहीं पहुँचते तब तक अदालत नहीं उठेगी।

सायंकाल ५½ बजे करांची मेल मुलतान स्टेशन पर पहुँची। सारा स्टेशन स्वामी जी के जय-जयकारों से गूंज गया। स्वामी जी मन ही मन सोच रहे थे कि अदालत तो उठ चुकी होगी, अब किसी अन्य दिन आकर गवाही दे जाऊँगा। उसी न्यायाधीश के सेक्रेटरी ने उन्हें एक पत्र थमा दिया, जिसमें स्वामी जी को सूचित किया गया था कि आपके सम्मान में न्यायालय तब तक खुला रहेगा जब तक आप गवाही नहीं दे जाते। स्वामी जी इस सूचना से स्वयं आश्चर्यचकित थे। स्टेशन पर अपार भीड़ थी। उसने स्वामी जी को दो घोड़ों की फिटन पर बैठा कर सारे शहर में जलूस निकाला और ७½ बजे तक सब लोग न्यायालय में पहुँचे। वहाँ स्वामी जी की गवाही हुई और न्यायाधीश ने उससे संतुष्ट होकर अपना निर्णय आर्य प्रतिनिधि सभा के पक्ष में दिया।

इसके बाद स्वामी जी को पुनः जलूस के रूप में शहर लाया गया। वह सारा दृश्य बहुत ही भव्य एवं अलौकिक था।

●

कुछ प्रेरक प्रसंग

—श्री मती दीप्ति

सन् १९१२ में लाहौर से प्रकाशित होने वाले 'प्रकाश' ने अपने पाठकों से प्रश्न किया था कि उनकी सम्मति में भारत के ६ सर्वोत्कृष्ट महापुरुष कौन-कौन हैं। १००५ व्यक्तियों से प्राप्त सम्मतियों की गणना करने पर सर्वाधिक मत श्री गौपाल-कृष्ण गोखले (७६२ मत) को और उसके बाद मुंशीराम (६०३ मत) को प्राप्त हुए थे। लाला लाजपतराय (५३३ मत), लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक (४७५ मत), पं० मदनमोहन मालवीय (४७५ मत) तथा दादा भाई नौरोजी (४३३ मत) का क्रमशः तीसरा, चौथा, पाँचवां और छठा स्थान था। सन् १९०७ में 'हिन्दुस्तान' द्वारा पूछे गये इसी प्रकार के प्रश्न के उत्तर में महात्मा मुंशीराम को सातवां स्थान प्राप्त हुआ था। इससे पुष्ट होता है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उनकी लोक-प्रियता उत्तरोत्तर 'दिन दूनी रात चौगुनी' की गति से बढ़ती गई। अपने लोकसेवा, नेतृत्व-क्षमता, स्पष्टवादिता, चाटुकारिता रहित राजभक्ति, उदारता, सदाशयता आदि गुणों के कारण वे कालान्तर में न केवल भारतीयों, वरन् विदेशियों के भी हृदय-सम्राट् बन गये थे। यहाँ प्रस्तुत हैं महात्मा-मुंशीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द जी) की इन्हीं विशेषताओं को उजागर करने वाले कुछ अद्‌भुत प्रसंग।

व्यवहार-कुशल नेतृत्व

गुरुकुल और उसके उत्सवों का पौराणिकता तथा अन्धविश्वास के गढ़, हरिद्वार और कनखल पर जो असर पड़ता था, उससे वहाँ के पण्डे मन ही मन जलते और कुढ़ते थे। हरिद्वार में गुरुकुल की ओर से धर्मार्थ-औषधालय का खोलना उनके रोष की दबी हुई अग्नि पर घी डालने वाला साबित हुआ। संवत् १९६५ के गुरुकुल के सातवें वार्षिकोत्सव के बाद आर्य स्त्री-पुरुष गुरुकुल से मंडलियाँ बना कर वैदिक प्रार्थना के भजन गाते हुए हरिद्वार के बाजारों में से जा रहे थे कि उन पर लाठियाँ छोड़ दी गईं और एक हलवाई ने तो कढ़ाई का खौलता हुआ घी भी कुछ आर्यपुरुषों पर डाल दिया। लूटपाट और उपद्रव का दृश्य हरिद्वार में पैदा कर दिया गया। जितने भी आर्य हरिद्वार में मिले गिरफ्तार कर लिये गये। उन पर दुकानें लूटने, मूर्तियाँ तोड़ने और हरकी पैड़ी पर जूता ले जाने का आरोप लगाया गया। हरिद्वार से गुरुकुल में इस घटना का समाचार पहुँचते ही महात्मा जी नंगे पैर, नंगे सिर, बदन पर केवल कुरता-धोती पहिने हुए, जिस हालत में खड़े थे उसी में, किसी को साथ लिये बिना ही हरिद्वार को चल दिये। कनखल में चारों ओर त्रास फैला हुआ था। वहाँ के लोगों ने हरिद्वार के विक्षुब्ध वातावरण में जाने से

रुकने का बहुत आग्रह किया, पर महात्मा जी ने किसी की एक न सुनी और सीधे हरिद्वार जलती हुई आग में जा पहुँचे। स्वयं वहाँ की स्थिति का निरीक्षण और अध्ययन किया। गिरफ्तार आर्य पुरुषों को जमानत पर छुड़वाया। गरम घी से जले हुये और लाठियों की चोटों से आहत आर्यों को गुरुकुल पहुँचाने का प्रबन्ध किया, जहाँ उनकी मरहम पट्टी और सेवा-शुश्रुषा की गई। २ अप्रैल को नगरपालिका के कार्यालय में पण्डों ने महात्मा जी के व्यवहार आदि से प्रभावित होकर उन्हीं की उपस्थिति में आर्य-पुरुषों से क्षमा मांगी और दुर्घटना के लिये पश्चात्ताप प्रकट किया। ३ अप्रैल को मुकदमे की पेशी थी। जालन्धर से रायजादा भक्तराम जी पैरवी के लिये पधारे थे। पण्डों की ओर से खेद प्रकट करने पर पुलिस ने मुकदमे वापस ले लिये। घोर द्वेष से जिस घटना का सूत्रपात हुआ था, उसकी समाप्ति परस्पर प्रेम की स्थापना में हुई। महात्मा जी के इस उदारतापूर्ण व्यवहार से हरिद्वार में गुरुकुल और आर्यसमाज की धाक जम गई।

स्पष्टवादिता

सिद्धान्त और सदाचार का प्रश्न आने पर महात्मा जी किसी भी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं होते थे। वे मन, वचन और कर्म की समानता, चारित्रिक उत्थान, सामाजिक एवं नैमित्तिक धर्मों के पालन और सदाचार पर अविचल रहने पर बल देते थे। उनकी दृढ़ मान्यता थी कि आर्यसमाजियों को किसी भी प्रकार के दबाव में आकर अपने ध्येय से विचलित नहीं होना चाहिये। यदि वे किसी व्यक्ति या संस्था को इससे विपरीत आचरण करता हुआ पाते थे तो उसका स्पष्ट रूप से प्रबल विरोध करने से नहीं चूकते थे, यहाँ तक कि उसके इस कृत्य को 'सद्धर्म प्रचारक' के माध्यम से सार्वजनिक रूप से उजागर भी कर देते थे।

सम्वत् १९६८ की बात है। लाहौर के रायबहादुर रामशरणदास जी के पुत्र का यज्ञोपवीत संस्कार होना था। उसके लिये जो निमत्रण-पत्र छपवाये गये थे, उनमें सबसे ऊपर 'ओ३म्' शब्द लिखा गया था। यज्ञोपवीत-संस्कार में रायबहादुर साहेब की ओर से वैश्या-नृत्य का भी आयोजन किया गया था। महात्मा मुंशीराम को जब इस प्रकार के आयोजन का पता चला तो वे अत्यधिक उद्विग्न हो गये और उन्होंने 'सद्धर्म प्रचारक' में इस बारे में अपनी एक टिप्पणी प्रकाशित की। इस टिप्पणी में 'ओ३म् जैसे पवित्र शब्द को वैश्या-नृत्य जैसे अधर्म-कर्म के साथ मिलाने वाले' को विगर्हणीय पुरुष कहा गया था और जो आर्य नेता उसमें सम्मिलित हुए थे उनके सम्बन्ध में ये उद्‌गार प्रकट किये गये थे—"जो पुराने संस्कारों या लौकिक कामनाओं के वशीभूत होकर अपनी आत्मा और धर्म की कुछ भी कीमत नहीं समझते, उनके लिये उचित यही है कि वे अपने आपको धार्मिक व आर्य कहना छोड़ दें। जो पुरुष अपने को संसार की बेहूदगियों से परे नहीं रख सकते, जो मित्र को पाप करते हुए देख कर उसे रोकना तो दूर रहा उसके पाप में मिल जाते हैं, उन्हें

किसी धार्मिक संस्था का नेता होने का अधिकार नहीं ।" इसी टिप्पणी में आगे जनता को लक्ष्य करते हुए आपने लिखा था—"जिस पंजाब के अन्दर विगत वर्ष की प्रदर्शनी के समय नाच कराने का किसी को साहस नहीं हुआ था, जो पंजाब समाज-संशोधन तथा धर्म प्रेम के अन्दर सारे भारतवर्ष में अग्रणी समझा जाता है, जिस आर्यसमाज ने व्यक्तिगत आचार को ही सामाजिक भलाई का साधन समझा हुआ है, अपने आपको उस आर्यसमाज का सदस्य कहने वाले लोग ऐसे-ऐसे लोक-निन्दित और आचार-गर्हित कामों में खुल्लम-खुल्ला प्रवृत्त हों और आर्य लोग मौन साधे रहें, यह कैसी विचित्र बात है ? उन लोगों से, जो अपने धार्मिक उत्तरदातृत्व को न समझ कर ऐसे-ऐसे कार्यों को करने से नहीं रुक सकते, हमारी प्रार्थना है कि वे अपने आप को आर्यसमाज जैसी पवित्र संस्थाओं से प्रथक् कर लें ।"

यह महात्मा मुंशीराम जी की आर्यसमाजियों के व्यक्तिगत चरित्र तथा आर्यसमाज के सार्वजनिक चरित्र के स्तर को उन्नत करने की ललक का ही परिणाम था कि उन्होंने इतनी कठोर चेतावनी भरी भाषा में पंजाब के आर्यजनों के व्याज से संपूर्ण भारत की आर्यजनता को सदाचार के जीवन के लिये ललकारा था ।

परदुःखकातरता

संन्यासाश्रम में प्रवेश करने के बाद स्वामी श्रद्धानन्द जी ने निश्चय किया कि वे अब 'आर्यसमाज का इतिहास' लिखने के अपने पुराने संकल्प को पूरा करेंगे और उन्होंने अपने इस निश्चय की घोषणा १७ भाद्रपद १९७४ (१ सितम्बर १९१३) के 'सद्धर्म प्रचारक' में इन शब्दों में कर दी—"बहुत से सज्जनों के अनुरोध से मैंने यह निश्चय कर लिया है कि आर्यसमाज का इतिहास तैयार कर देना पहिला कर्तव्य है । पूरी आधी शताब्दी बीत गई जब कि संवत् १९२४ विक्रमी के कुम्भ पर हरिद्वार में सर्वमेधयज्ञ करके ऋषि दयानन्द ने एक कौपीन मात्र रख कर गंगा के किनारे किनारे चलते हुए वेदों का पवित्र अनादि संदेश सुनाना आरम्भ किया था । पहिले आर्यसमाज को बम्बई में स्थापित हुए भी ४२ वर्ष व्यतीत हो गये । आर्यसमाज के वृद्ध अनुभवी सेवक प्रायः बहुत से इस संसार को छोड़ गये हैं, जो शेष रहे हैं उनमें भी चलाचली का चक्र चल रहा है । अतएव इतने बड़े गम्भीर काम के योग्य न होते हुये भी मैंने यह साहस किया है, जिसकी कृतकार्यता सर्वसाधारण (विशेषतः अनुभवी आर्य पुरुषों की सहायता पर निर्भर है । समकालीन इतिहास लिखने का काम बड़ा कठिन तथा दुःसाध्य समझा जाता है और है भी । परन्तु मैंने फिर भी इस आशा पर कार्यारम्भ किया है कि प्रथम तो मैं अपने व्यक्तित्व को जुदा रख कर निष्पक्ष भाव से आर्यसमाज का इतिहास लिखने की अवस्था में आ गया हूँ और यदि मैंने घटनाओं का परिणाम निकालने में कहीं ठोकर खाई तो उसको आने वाले इतिहास लेखक सुधार लेंगे ।"

इस घोषणा के बाद स्वामी जी ने इतिहास सम्बन्धी सामग्री के संकलन का कार्य शुरू कर दिया और चैत्र १९७५ तक उन्होंने लगभग ३२ हजार कागजों की

जांच-पड़ताल कर ली थी। वे अब इतिहास-लिखने का कार्य आरंभ ही करना चाहते थे कि उन्हें गढ़वाल के दुर्भिक्ष की भनक पड़ गई। वे किसी कार्य से बिजनौर गये थे, जहाँ उनको पता चला कि समाचार-पत्रों में उत्तराखण्ड गढ़वाल में दुर्भिक्ष फैलने के जो समाचार प्रकाशित हो रहे हैं वे सब यथार्थ हैं, हालांकि सरकार किन्हीं कारणों से दुर्भिक्ष का खण्डन कर रही थी।

स्वामी श्रद्धानन्द जी का हृदय कुछ प्रारम्भ से ही ऐसे दुर्भिक्ष के समय बहुत व्याकुल हो जाया करता था। गुरुकुल में रहते हुये भी देश में कभी कहीं दुर्भिक्ष पड़ने अथवा बाढ़ आने पर अध्यापकों तथा ब्रह्मचारियों को कुछ न कुछ त्याग करने के लिये अवश्य प्रेरित किया करते थे। पहिले ही त्याग का जीवन बिताने वालों का थोड़ा-सा भी त्याग दूसरों में बहुत बड़ा त्याग करने की स्फूर्ति पैदा कर देता है।

गढ़वाल की दुर्भिक्ष पीड़ित जनता की दुःख भरी आहों ने भी स्वामी जी को विकल कर दिया और उन्होने पीड़ितों की सहायता का बीड़ा उठा लिया। उन्होंने अपने कार्यकर्त्ताओं के माध्यम से जांच-पड़ताल करके वस्तुस्थिति ज्ञात की। उसके बाद लाहौर के उर्दू दैनिक 'देश' में एक अपील प्रकाशित करवा दी। अपील के प्रकाशित होते ही सहायतार्थ धनराशि के मनी आर्डर आने शुरू हो गये। तत्पश्चात् भारत हिन्दू सभा के मन्त्री जागे और महात्मा हंसराज जी ने भी समाचार पत्रों में एक अपील जारी की। यत्न किया गया कि सभी पक्ष एक साथ मिल कर कार्य करें, फिर भी अलग-अलग कार्य-क्षेत्र बांट लिये गये। कोटद्वार के रास्ते पौड़ी-श्री नगर से बद्रीनाथ तक सहायता पहुँचाने का कार्य स्वामी जी के सुपुर्द किया गया। स्वामी जी गुरुकुल से ३ मई १९१८ को पहाड़ी जंगल के रास्ते से कोटद्वार को चल दिये। कोटद्वार पहुँच कर पंडित गंगादत्त जी के सहयोग से दुर्भिक्ष-पीड़ितों को सहायता पहुँचाने की सब व्यवस्था की। ७ मई १९१८ को आपको एक बैठक में भाग लेने के लिये दिल्ली जाना था। उसको निबटा कर वे १० मई को गुरुकुल लौट आये, जहाँ महामना मालवीय जी की इलाहाबाद-भारत-सेवा समिति के मन्त्री श्री हृदयनाथ कुंजरु उनसे आकर मिले और समिति की ओर से स्वामी जी के दल के साथ मिलकर काम करने की इच्छा प्रकट की। स्वामी जी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और एक साथ मिल कर कार्य शुरू कर दिया गया। स्वामी जी पौड़ी पहुँचे गये और अपने सुपुर्द किये गये क्षेत्र में पाँच शिविर स्थापित कर स्वयं-सेवकों का जाल बिछा दिया जिन्होने प्रत्येक गाँव में जा जाकर एकदम असहाय एवं आंशिक रूप से पीड़ित लोगों की सूची तैयार की। असहायों को निःशुल्क सहायता दी जाती थी और जो आंशिक रूप से पीडित थे उन्हें सस्ते दामों पर अन्न उपलब्ध कराया जाता था। गुरुकुल के बहुत से स्नातकों और ब्रह्मचारियों ने भी वहाँ पहुँचकर सेवा-कार्य में मदद की। स्वामी जी ने पूरे दो मास पहाड़ पर बिताये, जिनमें से १९ दिन में २६८ मील का दौरा किया और शेष दिन पौड़ी में रह कर सम्पूर्ण कार्य-व्यवस्था

की देखभाल करते रहे। इसके बाद स्थिति के संभल जाने पर वे वहाँ का कार्य सेवा-समिति के श्री वेंकटेशनारायण जी तिवारी को सौंप कर ४ अगस्त को गुरुकुल वापस आ गये।

राजभक्त

सम्भवतः अधिकांश पाठकों को इस तथ्य पर एकाएक विश्वास नहीं होगा कि महात्मा मुंशीराम कभी राजभक्त भी थे। उनकी इस राजभक्ति में सत्यता तो थी, परन्तु चापलूसी या खुशामद लेशमात्र भी नहीं थी। यदि राजभक्ति के साथ कुछ था तो वह थी देशभक्ति।

सन् १८५७ के विप्लव के बाद रानी विक्टोरिया की किसी के धर्म में हस्तक्षेप न करने की घोषणा ने भारत-निवासियों पर वस्तुतः कुछ ऐसा जादू-सा कर दिया था कि अच्छे-अच्छे विचारशील व्यक्तियों को भी उसने मूढ़ बना दिया था। अपने धर्म-प्रचार की धुन के पीछे पागल आर्यसमाजियों को तो इस घोषणा से मूर्छा सी आ गई थी। मुंशीराम जी भी इस प्रभाव से अछूते नहीं रहे। आश्चर्य तो यह कि सन् १९०१ से १९१२ तक विदेशी सरकार द्वारा लांछित, अपमानित होने के बावजूद भी आर्यसमाजियों की वह मूर्छा नहीं टूटी। उनका तो यह अटूट विश्वास था कि देश का कल्याण अंग्रेजी राज्य से ही सम्भव है। वे समझते थे कि जिस स्वतन्त्रता से धर्म-प्रचार इस राज्य में होता है, वैसा किसी राज्य में होना सम्भव नहीं है। यही कारण था कि सरकार की दमन-नीति के बाद आर्यसमाजी कभी सरकार से रुष्ट नहीं हुये और न ही उन्होंने इस नीति के विरोध में कभी रोष प्रकट किया। सम्व्रत् १९६४ में सम्राट् एडवर्ड के जन्मदिन पर आर्यसमाज की ओर से प्रकट की गई शुभकामनाओं की जब कुछ राष्ट्रीय पत्रों द्वारा आलोचना की गई तो महात्मा मुंशीराम जी ने इस शुभकामना-प्रकाश को उचित ठहराते हुये लिखा था—"आर्यसमाज का प्रचार ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के राज्य में ही सम्भव हुआ है, अन्य राज्य में कठिन होता। हिन्दुओं तथा मुसलमानों की रियासतों में जो बर्ताव आर्य उपदेशकों के साथ होता है वह छिपा नहीं है। हम ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की रक्षा का लाभ उठाते हैं, उसके लिये साल में एक बार धन्यवाद अवश्य देना चाहिये।……भारतवर्ष मात्र की आर्यसमाजों को एकमत होकर गवर्नमेण्ट के धन्यवाद के लिये एक दिन नियत करना चाहिये।"

अंग्रेजी सरकार की नेकनीयती पर आपको पूरा विश्वास और भरोसा था। देहली-दरबार के समय सम्राट् जार्ज को लक्ष्य करके 'सम्राट्! तुम यहीं रहो' शीर्षक से महात्मा जी द्वारा 'सद्धर्म प्रचारक' में लिखा गया लेख उनकी अगाध राजभक्ति का द्योतक है। सम्वत् १९६९ में लार्ड हार्डिंग के देहली-प्रवेश के समय आर्य सार्वदेशिक सभा की ओर से बगावत का अभूतपूर्व प्रबन्ध किया गया था। सभा के कार्यालय ज्योतिः पाठशाला के ठीक सामने मैदान में एक बड़ा शामियाना

लगाया गया था, जिसमें २५०–३०० आर्यसमाजी बैठे थे। शामियाने के सामने दो चौकियों पर आर्यसमाज के भूषण स्वामी अच्युतानन्द जी, महात्मा मुंशीराम जी, स्वामी पूर्णानन्द जी, राय रोशनलाल जी बैरिस्टर, श्री व्रजनाथ जी आदि विराजमान थे। जैसे ही लार्ड हार्डिंग का हाथी शामियाने के सामने आया, सबने खड़े होकर शान्ति पाठ किया और 'नमस्ते भगवन्!' के ऊँचे नाद से मण्डप को गुंजा दिया। यह राजभक्त मुंशीराम जी के ही दिमाग की उपज थी।

तत्कालीन सरकार को भी महात्मा जी की राजभक्ति पर बाद में इतना विश्वास हो गया था कि सन् १९१६ में लखनऊ कांग्रेस के अवसर पर संयुक्त प्रान्त के उस समय के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने उन्हें अपने पास बुला कर यह काम सौंपा था कि वे मिस्टर कर्टिस को महात्मा गांधी से मिला दें और भारतीय नेताओं के समक्ष भावी शासन-सुधारों के सम्बन्ध में उस योजना को प्रस्तुत करें जिसकी रूपरेखा मारिस-कार्टिस-सरक्यूलर में अंकित की गई थी।

सरकार के प्रति महात्मा जी की राजभक्ति और सरकार के आपके प्रति इस विश्वास में एक विशिष्ट बात यह थी कि उनकी राजभक्ति में पूर्ण ईमानदारी थी। उसमें किसी प्रकार का लाग-लपेट या स्वार्थ निहित नहीं था।

वह हृदय विदारक-दृश्य

सम्वत् १९८१ में भयंकर बाढ़ आने के बाद गुरुकुल को उस भूमि से हटा कर इस पार लाने पर विचार चल रहा था। प्रो० रामदेव जी, महाशय कृष्ण जी तथा कुछ अन्य सज्जन गुरुकुल को उस पार से उठा लाने का दृढ़ निश्चय किये हुये थे। तीन-चार स्थानों को लेकर विवाद चल रहा था—एक पुरानी भूमि से कुछ ऊपर कांगड़ी गाँव के परे की भूमि, दूसरा गंगा के इस पार की भूमि, तीसरा पंजाब में कोई स्थान और चौथा देहली के कहीं आस-पास। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने पारस्परिक बातचीत में और समाचार-पत्रों के माध्यम से अपना मत कांगड़ी गाँव के ऊपर की भूमि के लिये ही प्रकट किया था। इस सम्बन्ध में स्वामी जी के हृदय की भावना को शब्दों में वर्णित करना सम्भव नहीं है, वे केवल अनुभव और अनुमान का ही विषय है। गुरुकुल में ही अन्तरंग-सभा की बैठक २१ अक्टूबर १९२४ को करके इस विषय में अन्तिम निर्णय ले लिया गया था। इस बैठक में स्वामी जी भी उपस्थित थे। इस बैठक में जब यह निर्णय कर लिया गया कि गुरुकुल को कांगड़ी ग्राम से हटा लेना है तो स्वामी जी उठ कर आचार्य के बंगले के पीछे गंगा के ठीक किनारे पर लगे 'खटुए' के वृक्ष के नीचे आकर निस्तब्ध खड़े हो गये। उन्हें इस प्रकार खड़ा देख कर स्वामी सत्यानन्द जी महाराज ने आकर कुछ पूछने का यत्न किया तो स्वामी जी की आँखों से अनवरत अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगी। बड़े-बड़े कष्टों एवं बाधाओं से भी कभी अधीर एवं विह्वल न होने वाला वह महान् संन्यासी गुरुकुल को पुण्यभूमि से हटाये जाने के दुःख को सहन नहीं कर पा रहा था और उसके हृदय में ममता का समुद्र उमड़ पड़ा, जो आँखों के रास्ते बाहर बह

चला। वह कोरी सांसारिक ममता नहीं थी, वरन् 'तपोभूमि' के उजड़ने तथा 'कर्मभूमि' के नष्ट होने की मर्मान्तिक वेदना थी, जिसकी कल्पना तक स्वामी जी को रुला देती थी। उनकी इस मर्मान्तिक वेदना का पता उस पत्र से लगता है जो उन्होंने इस सन्दर्भ में तत्कालीन मुख्याधिष्ठाता पंडित विश्वम्भरनाथ जी को देहली से ८ श्रावण सम्बत् १९८१ को लिखा था। उसमें स्वामी जी ने लिखा था—"आपने गुरुकुल का जलवायु खराब बतला कर स्थान-परिवर्तन के लिये एक सब-कमेटी बनवाई है। उसके दो सभासद् तो पहिले ही से आपके विचार के अनुकूल हैं। सभा ने यह समझा है कि मेरा कभी गुरुकुल से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा और मुझ से इस सम्बन्ध में कुछ पूछना उचित नहीं समझा। समाचार-पत्रों से मालूम हुआ है कि गुरुकुल को अकृत कार्य सिद्ध करके लाहौर में उपदेशक पाठशाला की बुनियाद डाली जायेगी। जब आपकी सम्मति में गुरुकुल केवल वैदिक धर्म या आर्यसमाज के उपदेशक उत्पन्न करने के लिये ही स्थापित हुआ था और वह उद्देश्य उससे पूरा नहीं हुआ तो उस पर सवा लाख से अधिक धन खर्चने की क्या आवश्यकता है। स्थान-परिवर्तन के स्थान में आप यही सम्मति क्यों नहीं देते कि गुरुकुल को बन्द ही कर दिया जाये।"

हृदय की विशालता

मथुरा सरीखे पौराणिकता के गढ़ में श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी का भव्य समारोह और उस समारोह के अवसर पर स्वामी श्रद्धानन्द जी के नेतृत्व में लगभग सवा लाख आर्य नर-नारियों की निकली शानदार शोभायात्रा वस्तुतः न केवल आर्य समाज के लिये, वरन् सम्पूर्ण देश के लिये भी एक ऐतिहासिक और अप्रतिम घटना थी। इससे आर्यसमाज की संगठन शक्ति की चारों ओर धाक जम गई। दो लाख से अधिक नर-नारियों ने केवल सात दिन के लिये मथुरा के निकट एक नई 'विरजानन्द नगरी' बसा डाली थी। सारा समारोह धूमधाम से एवं निर्विघ्न सम्पन्न हो गया, परन्तु दुर्भाग्यवश शताब्दी के समाप्त होते-होते २१ फरवरी १९२५ को प्रातःकाल एक दुर्घटना हो गई। कुछ आर्य युवकों ने बचपने में आकर मथुरा के पुराणमतावलम्बियों को इतना अधिक उत्तेजित कर दिया कि नगर में मारपीट हो गई, परिणामतः कई आर्य बुरी तरह घायल हो गये। स्वामी जी को जैसे ही इस दुर्घटना का समाचार मिला वैसे ही वे घटना-स्थल पर जा पहुँचे। शहर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों, विशेषकर पण्डों से मिलकर स्थिति को बिगड़ने से रोका और उत्तेजना को शांत किया। उसी दिन उन्होंने शताब्दी-समिति के प्रधान की हैसियत से उक्त घटना के लिये दुःख और दोषी युवकों के आचरण के प्रति रोष प्रकट किया। इन सबके बावजूद भी कुछ सनातनी समाचार-पत्रों ने इस घटना को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करने और इस प्रकार लोगों को उत्तेजित करने का प्रयास किया। परिणामतः स्वामी जी ने ६ मार्च १९२५ के 'अर्जुन' में पुनः दुःख एवं क्षोभ प्रकट करते हुये आर्यों को सम्बोधित करके लिखा था—"आर्यसामाजिक पुरुषों से साधारणतया और

आर्य-धर्म के प्रचारकों से विशेषतः मेरा अनुरोध है कि 'महोऽसि सहो मयि धेहि' का पाठमात्र ही न किया करें। अपने मन्तव्यों पर दृढ़ रहते और उनका गम्भीर भाव से प्रचार करते हुये भी दूसरे भाइयों के विश्वासों को अनुचित चोट न लगाना यही वैदिक धर्म की मर्यादा है। मैंने शोक से देखा कि दयानन्द-जन्म-शताब्दी के मेले में कुछ ऐसे चित्र बेचे और बांटे गये, जिससे अन्य साम्प्रदायिक भाइयों को दुःख पहुँचा। दो-एक समाचार-पत्रों के शताब्दी अंकों में भी ऐसे चित्र दिखाई दिये, जिन्होंने धर्म के आन्दोलन और सदाचार के प्रचार की मर्यादा का उल्लंघन किया। मैं आर्य जनता से अपील करता हूँ कि ऐसे चित्रों का बहिष्कार करके उनके प्रचारकों को शिक्षा दें और जो धर्म-प्रचारक वैदिक धर्म के पुनरुत्थान और उसकी रक्षा करने वाले आर्यसमाज को एक संकुचित सम्प्रदाय बनाना चाहते हैं उनके प्रयत्नों को सफल न होने दें। आर्य संस्कृति के उद्धार और संसार में उसके प्रचार का यही समय है। उसके मार्ग में जो भी कण्टक सिद्ध होगा, वह आने वाली आर्य सन्तति का द्वेषी समझा जायेगा। आर्यसमाजी भाइयों से अन्त में मेरी यही प्रार्थना है कि घोर से घोर उत्तेजना होते हुये भी मर्यादा का भंग न करना यही आर्यत्व है और इसी सिद्धान्त पर आचरण करते हुये सारे संसार को आर्य बनाया जा सकेगा।'' स्वामी जी द्वारा लिखे गये ये शब्द जहाँ एक ओर उनकी हृदय की विशालता एवं सहिष्णुता के द्योतक हैं, वहीं आर्यसमाज को सम्प्रदाय बनाने की प्रवृत्ति का भी उन्होंने इन शब्दों द्वारा स्पष्ट विरोध कर दिया है।

उदारता एवं सदाशयता

आर्यसमाज के रंग में गहरे रंगे स्वामी श्रद्धानन्द जो—जो कभी केवल 'आर्य' शब्द के प्रयोग के लिये ही आग्रह किया करते थे—अब निरन्तर 'आर्य हिन्दू' शब्द का प्रयोग करने लग गये थे, शुद्धि के लिये लम्बे-चौड़े संस्कारों को अनावश्यक बता कर सीधी-सादी और संक्षिप्त विधि से ही काम चलाने के पक्षपाती हो गये थे, पौराणिक लोग जहाँ अपनी गोमूत्र आदि की विधि का प्रयोग करना चाहते थे वहाँ वे अपनी वैदिक विधि के लिये ऐसा कोई दुराग्रह नहीं किया करते थे और उनके मन के मुताबिक ही काम कर लेने का प्रयास करते थे। हालांकि आपके इस व्यवहार से न तो कट्टर आर्यसमाजी संतुष्ट थे और न ही सनातनी लोग ही संतुष्ट हो पाये थे। हिन्दू महासभा में प्रवेश करने के बाद स्वामी जी द्वारा सभा के कार्य से किये गये पंजाब, संयुक्त प्रांत, बिहार एवं बंगाल के दौरों के बारे में श्री शंकराचार्य श्री भारती कृष्ण तीर्थ जी ने कलकत्ता में एक भाषण में यहाँ तक टिप्पणी कर दी थी कि उन यात्राओं में स्वामी जी ने आर्यसमाज का ही प्रचार किया था। स्वामी जी ने इस आक्षेप का बड़े ही शान्त, तर्कसंगत एवं नम्रतापूर्ण शब्दों में उत्तर दिया और अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुये लिखा था—''अपने विषय में एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। गुरुकुल में रहते हुये मैंने सब विचारों के सभ्य पुरुषों का

उदारता के साथ स्वागत किया। तीर्थ जी स्वयं मानते हैं कि गुरुकुल में वे अपनी पूजा करते रहे। मुसलमान भाइयों ने गुरुकुल में अपनी पाँच वख्ता नमाज़ आनन्द से अदा की। ईसाई पादरियों को भी अपने धर्म के अनुसार उपासना की खुली छुट्टी थी। वे सब हमारे उपासना-मन्दिर में भी आकर सम्मिलित होते थे। मैं जिस सम्प्रदाय के धर्म-मन्दिर में जाता हूँ, उसकी मर्यादा से भी बढ़कर उन मन्दिरों का मान करता हूँ। पुरानी मुसलमानी मजारों में, जहाँ मुसलमान स्वयं जूता पहिने चले जाते हैं, मैं वहाँ नंगे पैर जाता हूं। मुसलमान और ईसाई तक जब भौतिक शरीर को गाड़ने को जा रहे हों तब सवारी खड़ी कर उतर जाता हूँ और इस प्रकार सहदुःखता प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ।"

शुद्धि संगठन के आन्दोलन के कारण स्वामी जी को अनुदार एवं असहिष्णु तथा मात्र आर्यसमाजियों का नेता मानने वालों में से कुछ लोगों पर तो इन शब्दों का इतना प्रभाव हुआ कि उनकी उक्त धारणा पूरी तरह से निर्मूल हो गई। ●

मानव धर्म के अनुयायी

—श्री भगवानदेव शर्मा

[स्वामी श्रद्धानन्द जी का सम्बन्ध किसी जाति–विशेष से नहीं था, वरन् वे सम्पूर्ण मानव–जाति को अपना मानते थे। उनकी दृष्टि में हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई सब समान थे। यही कारण था कि सभी के मन में उनके प्रति श्रद्धा और प्रेम था। वीरमगांव (सौराष्ट्र) के सेठ करीम खाँ भी उनकी इसी भावना से प्रभावित थे। प्रस्तुत हैं स्वामी जी के बारे में इन्हीं सेठ साहेब के मनोभाव एवं स्मृतियाँ, आर्य नेता श्री भगवानदेव शर्मा की लेखनी से, जिनकी एक बार वीरमगांव में ही उनसे भेंट हुई थी।]

वैदिक (मानव) धर्म के अनुयायी स्वामी श्रद्धानन्द मानव मात्र से प्रेम करते थे। राष्ट्रवादी हिन्दू-मुस्लिम उनकी दृष्टि में एक से प्यारे थे। कुछ वर्ष पूर्व मुझे वीरमगांव (सौराष्ट्र) में जाने का मौका मिला। वहाँ अचानक एक वृद्ध मुस्लिम भाई करीमखाँ, जिनकी उम्र उस समय लगभग ८५ वर्ष थी और जो वीरमगाँव के एक सिनेमा के मालिक थे, उनसे भेंट हो गई। मैं आर्यसमाजी हूँ, यह जानकर वे बड़े प्रसन्न हुये। एक मुसलमान एक आर्यसमाजी को देखकर खुश हो, यह आश्चर्य की बात थी। मैंने सेठ करीम खाँ से पूछा—"खान साहब आप आर्यसमाजी से मिलकर इतने खुश क्यों हो रहे हैं?" खान साहब ने कहा—"मैं स्वामी श्रद्धानन्द से बहुत बार मिला। उनके जीवन का मुझ पर काफी प्रभाव है। उनके ब्रह्मचर्य से मैं बहुत प्रभावित हूँ। मैं भी उनके पदचिह्नों पर चलने की कोशिश करता हूँ। यही कारण है कि ८५ वर्ष की आयु में भी पूर्ण स्वस्थ हूं। आप उस मेरे पथ-प्रदर्शक संन्यासी के अनुयायी हैं। इसलिये मुझे आप से मिलकर खुशी हो रही है। इसमें आश्चर्य की क्या बात है।"

आपने बताया कि मैंने उस देव पुरुष को सर्वप्रथम इलाहाबाद में पं० जवाहरलाल जी नेहरू के पिता पण्डित मोतीलाल नेहरू के साथ देखा था। उन दिनों गोहत्या बन्दी के बारे में बातचीत चलती थी, मैं भी वहाँ था। मुझे स्वामी जी के वे शब्द आज भी याद हैं जो उन्होंने गौरक्षा के संबंध में कहे थे:—"गौ घास खाकर हिन्दू-मुसलमानों को समान रूप से अमृत रूपी दूध देती है। इसलिये हिन्दू-मुसलमानों को मिलकर गोरक्षा आन्दोलन चलाना चाहिये। बहुत से लोग दूध (सारा) अपने स्वार्थ के लिये ले लेते हैं। इससे क्या होता है कि उसके बछड़े सन्तान को पूरी मात्रा में दूध न मिलने के कारण वह कमजोर हो जाता है और अधिक काम नहीं कर सकता और शीघ्र ही काल का ग्रास बन जाता है। यदि गौ के बछड़े को पूरी मात्रा में माता का दूध पिलाया जाये तो वह अधिक समय तक हमें सुन्दर रूप में मददगार हो सकता है।"

करीम सेठ ने कहा—"उसके बाद भी दिल्ली में मैं उनसे कई बार मिला।

जब कभी मैं उनके पास जाता वे मुझे कुछ न कुछ खिलाये-पिलाये बिना नहीं छोड़ते।" उन्होंने बताया—"मैंने अपने घर में उनकी सुन्दर तस्वीर लगाई है, जिससे मुझे प्रेरणा मिलती है। मुसलमानों के शुभचिन्तक सबका भला चाहने वाले देव पुरुष स्वामी श्रद्धानन्द जिसने मुसलमानों का कल्याण करने में कोई कसर बाकी न रखी, उसको एक मतान्ध मुसलमान अब्दुल रशीद ने जिज्ञासु के वेष में सन् १९२६ के २३ दिसम्बर को गोली मार कर उनके खून से होली खेली और आर्य समाज की शहीदी माला में एक और सुन्दर एवं श्रेष्ठ पुष्प जोड़ दिया। उसकी शहादत रूप सुगन्ध से हर साल २३ दिसम्बर को आर्य जाति प्रेरणा प्राप्त करके उनके बताये गये मार्ग पर चलकर उनके अधूरे कार्य को पूरा करेगी।"

❖

संस्मरणमाला : दो

मेरे धर्मपिता स्वामी श्रद्धानन्द

—आचार्य रामदेव

[आचार्य रामदेव जी का लाला मुंशीराम जी से प्रथम साक्षात्कार सन् १८९४ में अपने शुभ विवाह के समय हुआ था। उस समय वे उन्हें 'आर्यसमाज के झगड़ों की जड़' मानते थे, पर चन्द ही दिनों बाद उनके संपर्क में आने पर न केवल उनका यह भ्रम ही टूटा, वरन् उन्हें भावी जीवन का मार्ग प्रशस्त करने वाला तथा आर्यसमाज के वास्तविक आदर्शों का बोध कराने वाला नेता भी मिल गया, जिसे बाद में उन्होंने 'धर्मपिता' के रूप में स्वीकार किया। दोनों का यह सम्बन्ध केवल 'पिता-पुत्र' तक ही सीमित नहीं रहा। गुरुकुल के हैडमास्टर एवं महाविद्यालय विभाग के प्रिंसिपल के रूप में रामदेव जी ने महात्मा मुंशीराम जी के साथ कंधे से कंधा मिला कर गुरुकुल के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान किया तथा महात्मा जी के संन्यास-ग्रहण कर लेने के बाद उन्हीं की अनुमति से गुरुकुल का आचार्य पद स्वीकार किया। स्वामी जी के गुरुकुल से चले जाने के बाद भी आचार्य जी उनकी मृत्युपर्यन्त बराबर उनके संपर्क में बने रहे। लगभग ३२ वर्ष की अवधि से विचार-वैविध्य के होते हुए भी उन दोनों के सम्बन्ध कितने अंतरंग एवं प्रगाढ़ बने रहे, इस तथ्य के परिचायक हैं उन्हीं की कलम से लिखे गये प्रस्तुत संस्मरण, जो सन् १९२६ में विशाल भारत' नामक मासिक पत्र में 'मेरे जीवन के कुछ पृष्ठ' शीर्षक से तथा अप्रैल सन् १९७७ के साप्ताहिक 'आर्य मर्यादा' में 'मेरी आत्मकथा के कुछ पृष्ठ' शीर्षक से प्रकाशित हुए थे।]

विवाह के लिये मेरी बारात जालन्धर गई थी। लाला हंसराज जी मेरे मौसेरे भाई हैं। वह भी मेरी बारात में सम्मिलित थे। मेरी पत्नी कुछ वर्षों तक महाविद्यालय जालन्धर में शिक्षा ग्रहण कर चुकी थीं, अतः विवाह में कन्या पक्ष की ओर से लाला देवराज जी और लाला मुंशीराम जी भी सम्मिलित हुये थे। मेरी आयु उस समय केवल १३ वर्ष की ही थी, फिर भी मुझ में अपनी कालेज पार्टी के लिये अदम्य उत्साह था। आर्यसमाज की दूसरी पार्टी-महात्मा-पार्टी को मैं आर्य समाज का कट्टर शत्रु समझता था। संस्कार में लाला हंसराज जी मेरे निकट ही बैठे हुये थे। मुझे उसी समय दिखाया गया—महात्मा-पार्टी का नेता मुंशीराम वह सामने बैठा हुआ है। मैंने उन्हें आज पहली बार देखा। मेरी आँखों में उनके लिये अश्रद्धा, क्रोध और अपमान भरा हुआ था। मैंने सोचा यही व्यक्ति आर्य-समाज की आन्तरिक अशांति का मूल कारण है।

पन्द्रह दिन बाद मैं अपनी ससुराल में गया। चार-पाँच दिन वहाँ रहना आवश्यक था। मैं समझता था कि ससुराल में इतना समय यों ही कट जायेगा, इसलिये मैं कोई पुस्तक अपने साथ नहीं ले गया था। परन्तु मेरी यह धारणा गलत साबित हुई। मेरे लिये दिन काटना मुश्किल हो गया। मुझे बचपन से ही पढ़ने का व्यसन है, परन्तु अपने श्वसुरालय में पढ़ने योग्य कोई पुस्तक मैं प्राप्त न कर सका। दूसरे दिन मुझे मालूम हुआ कि लाला मुंशीराम की लायब्रेरी में अच्छी-अच्छी

पुस्तकों का संग्रह है । अभी दो दिन मुझे जालन्धर में और काटने थे । मैं यह प्रलोभन रोक न सका । प्रातः काल ही लाला मुंशीराम के घर उपस्थित हुआ । आज मुझे पहली बार उनसे बात-चीत करने का अवसर प्राप्त हुआ । उस समय तक मेरी कोई विशेष बातचीत नहीं हुई थी, और न कोई विचार-विनियम ही हुआ था । परन्तु इस पहली मुलाकात में ही उनकी ओर आकर्षित हो गया । मैंने अनुभव किया, उनकी आंखों में विशेष आकर्षण है, उनकी वाणी में एक विशेष प्रभाव है । यह व्यक्ति चाहे कुछ और हो या न हो, आर्यसमाज का शत्रु नहीं हो सकता । केवल दस मिनट की मुलाकात में ही मेरा हृदय उनकी ओर आकर्षित हो गया और उनके हृदय में मेरे लिये प्रेम उत्पन्न हो गया ।

(२)

सन् १८९८ की बात है । मैं तब डी० ए० वी० कालेज लाहौर के द्वितीय वर्ष मे पढ़ता था । उन दिनों कालेज पार्टी स्त्रियों को उच्च शिक्षा देने के विरुद्ध थी, परन्तु महात्मा पार्टी वालों ने तो जालन्धर में कन्या महाविद्यालय ही खोल रखा था । दोनों पार्टियों के सिद्धान्तों में यह भी एक भारी भेद था । तब तक गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना नहीं हुई थी, इस कारण महात्मा पार्टी की मुख्य संस्था जालन्धर का कन्या महाविद्यालय ही समझी जाती थी । इस समय में लाला मुंशीराम जी से अनेक बार मिल चुका था । इन्हीं दिनों मैंने जान स्टआर्ट मिल की "सब्जेक्शन ऑफ वीमेन" नामक पुस्तक पढ़ी थी । इसका मेरे विचारों पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा । मिल की अकाट्य-युक्तियों ने मुझे स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देने का कट्टर पक्षपाती बना दिया । इस सम्बन्ध में मेरे विचार इतने अधिक क्रान्तिकारी हो गये, जितने सम्भवतः आज, इस आयु में भी न होंगे । यह पुस्तक पढ़ कर एक बार फिर लाला मुंशीराम जी से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ । मैंने देखा कि वह भी मेरे विचारों से पूर्णतया: सहमत हैं ।

इस वर्ष मैं डी० ए० वी० कालेज पार्टी के मुख्य पत्र आर्य मैसेन्जर (Arya Messenger) का सम्पादक भी था । यह पत्र अंग्रेजी में प्रकाशित होता था । जालन्धर से लाहौर वापिस आकर मैंने इस पत्र में एक कहानी प्रकाशित की । इस कहानी की नायिका कन्या-महाविद्यालय जालन्धर की प्रतिनिधि रूप थी । विवाह के अनन्तर उसने अपने आचरण और शिक्षा के प्रभाव से अपने आचार-भ्रष्ट पति का उद्धार कर दिया । मेरी इस कहानी का उद्देश्य कन्या महाविद्यालय जालन्धर की दिल खोल कर प्रशंसा करने का था । इसलिये डी० ए० वी कालेज पार्टी में इस कहानी के विरुद्ध बहुत आन्दोलन हुआ । लोग इस बात को सह नहीं सके । डी० ए० वी० कालेज का मुख्य पत्र और उसमें महात्मा-पार्टी के कन्या महाविद्यालय जालन्धर की प्रशंसा । कालेज के कर्णधार इस भारी अनर्थ को सह नहीं सके । यहाँ तक, लाला हंसराज जी ने भी मुझे बुलाकर भविष्य में ऐसा न करने का आदेश दिया ।

उपर्युक्त घटना के दो वर्ष बाद मेरे क्रान्तिकारी विचार क्रियात्मक रूप

धारण करने लगे । मैं अब कालेज के तृतीय वर्ष की पढ़ाई लगभग समाप्त कर चुका था । मैंने अपने घर में पर्दा उठा देने का निश्चय किया । इसी उद्देश्य से एक दिन घर आकर मैंने अपने दो-तीन मित्रों का परिचय अपनी पत्नी से करा दिया । उन दिनों यह घटना आजकल की अपेक्षा बहुत अधिक असाधारण थी । मेरे घर भारी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ । घर के लोग मुझ पर ताने कसते थे, परन्तु मैं उनकी किसी बात का जवाब नहीं देता था । सारा दिन तो इसी प्रकार निकल गया, परन्तु रात को पिता जी ने मुझे अपने पास बुलाया । मैं स्वयं इसी बात की प्रतीक्षा कर रहा था । उस समय रात के १० बज चुके थे ।

पिता जी ने कहा—"तुम्हारी बदौलत आज हमारे घर में वह दुर्घटना हो गई, जो आज तक कल्पना से भी परे थी । तुमने अपने परिवार की नाक काट दी ।"

मैंने धीमे स्वर में उनका विरोध किया । उन्होंने मुझे बहुत तरह से समझाया, परन्तु मैं उनसे सहमत नहीं हो सका । मैं बार-बार यही कहता रहा कि भविष्य में भी ऐसा ही करता रहूँगा ।

आखिर तंग आकर उन्होंने कहा—"यदि तुम्हें इस घर में रहना हो, तो तुम्हें इस सम्बन्ध में मेरी आज्ञा का पालन करना ही होगा ।

मैंने अपनी बात एक बार और दुहरा दी—"मैं तो यही उचित समझता हूँ और भविष्य में भी इसी तरह रहूंगा ।"

पिता जी क्रोध में आ गये । उन्होंने नाराजगी में कहा—"अब तुम्हें यह घर छोड़ देना पड़ेगा ।"

मैंने धीमे स्वर में कहा—"जो आपकी आज्ञा ।"

क्षण भर बाद मैंने फिर पूछा—"कब निकलूँ ? अभी या कल प्रातःकाल ?"

उन्होंने भर्राई हुई आवाज में उत्तर दिया—"प्रातःकाल ।"

प्रातःकाल मैं कुछ पुस्तकें लेकर डी० ए० वी० कालेज पहुँचा । वहाँ पहुँच कर मुझे मालूम हुआ कि मुझे एक सप्ताह के लिये निकाल दिया है । मुझ पर दो अभियोग लगाये गये थे । पहला तो यह कि मैंने महात्मा पार्टी के वेद प्रचार फंड में धन जमा करने का प्रयत्न किया है । दूसरा यह कि मैं डी० ए० वी० कालेज में महात्मा पार्टी का प्रचार किया करता हूँ । अन्त में मुझे यह आज्ञा दी गई कि मैं महात्मा पार्टी के वेद प्रचार फण्ड के लिये एकत्र किये गये धन को वापिस लौटा दूँ । यह स्वीकार न करने पर मुझे डी० ए० वी० कालेज से प्रमाण-पत्र लेकर पृथक् हो जाना पड़ा ।

मैं अपना बस्ता बगल में दबा कर डी० ए० वी० कालेज के हाते से बाहर हो गया । इस समय मैं अपने घर और कालेज, दोनों से बहिष्कृत हो चुका था । बहुत देर तक मैं यूँ ही बिना उद्देश्य के लाहौर के बाहर सड़क पर धीमे-धीमे चलता चला गया । अन्त में दोपहर के बाद गोल बाग के एक पेड़ की छाया में

बस्ता रखकर बैठ गया। गोल बाग की पगडण्डी और पास केर ाजपथ पर लोग आ-जा रहे थे। शाम हो जाने के कारण पेड़ के घने पत्तों में चिड़ियाँ चहचहाने लगी थीं। इन सबमें कुछ भी नई बात न थी। आज से पूर्व भी मैं बीसियों बार इस पेड़ के नीचे से गुजर चुका था, परन्तु आज मेरे लिये सभी कुछ नया हो गया था। मेरा बरसों का परिचित लाहौर शहर भी मेरे लिये आज बिल्कुल अपरिचित के समान बन गया। उस पेड़ की घनी छाया में घण्टों तक बैठकर मैंने खूब सोचा कि कहाँ जाऊँ परन्तु कुछ न सूझ पड़ा।,

सूर्यास्त से थोड़ी देर पूर्व मेरे एक दोस्त अचानक वहाँ आ निकले। उन्होंने मुझे इस प्रकार पेड़ के नीचे बस्ता लिये हुये उदास बैठा देखकर पूछा—इस तरह यहाँ क्यों बैठे हो ?

उत्तर में मैंने उन्हीं से पूछा—तो फिर कहाँ जाऊँ ?

उन्होंने बहुत ही आश्चर्य से कहा—कहाँ जाऊँ का क्या मतलब, अपने घर जाओ और कहाँ ?

मैंने उन्हें सारी घटना कह सुनाई। वह मुझे अपने घर ले गये। मुझे आश्रय मिल गया।

चार--पांच दिन में यह घटना जालन्धर में लाला मुंशीराम जी को ज्ञात हुई। वह अगली ही गाड़ी से लाहौर पहुँचे। लाहौर में मेरे मित्र के मकान पर पहुँच कर उन्होंने मुझे बुलाया। मुझे एकटक देखते रह कर उन्होंने कहना शुरू किया--"रामदेव ! आज से तुम मेरे पुत्र हो। घर से निकाले जाने की तुम कोई चिन्ता न करो मैं तुम्हारा पालन करूंगा। किसी दूसरे कालेज में तुम्हें एम० ए० तक पढ़ाऊंगा।"

मेरी आंखों में आंसू भर आये, यह कैसी महान् आत्मा है। मेरा गला भर आया। घर से निकलने के बाद आज पहली बार मेरी आंखों में आंसू आये। मैंने सचमुच एक नवीन पिता प्राप्त कर लिया।

परन्तु मुझे यह ज्ञात न था कि लाला मुंशीराम दिन-रात सामाजिक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण वकालत छोड़ चुके थे। इसलिये उन पर अपने कारण से आर्थिक बोझ डालना मुझे स्वीकार न था। उन्होंने बार-बार मुझे पुनः कालेज में प्रविष्ट होने की प्रेरणा की, परन्तु मैं तैयार न हुआ। आखिर उन्होंने मुझे 'आर्य पत्रिका' के सम्पादकीय विभाग में काम दिलवा दिया।

(३)

मेरे धर्म पिता लाला मुंशीराम अब महात्मा मुंशीराम बन चुके थे। अब उनका सम्पूर्ण समय सामाजिक सेवा में ही व्यतीत होता था। अपने व्यक्तित्व को उन्होंने आर्यसमाज के साथ एक कर दिया था। मैं भी इन दिनों जालन्धर छावनी के विक्टर हाईस्कूल में हैडमास्टर के पद पर नियुक्त था। इस कारण मुझे प्रतिदिन महात्मा जी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त होता था, प्रतिदिन उनके निवास-स्थान पर जाकर मैं उनके विचारों द्वारा लाभ उठाया करता था।

महात्मा जी ने सुमित्रा देवी नामक सौभाग्यवती कन्या को अपनी धर्म-पुत्री

बनाया था। सुमित्रा देवी कन्या महाविद्यालय जालन्धर में शिक्षा ग्रहण करती थी। विवाह योग्य आयु हो जाने पर महात्मा जी ने इस कन्या का विवाह जातपांत के बंधन तोड़कर करने का निश्चय किया। खोज करने पर उन्हें इस कन्या के लिए डॉ० गुरुदत्त नामक एक सुयोग्य वर भी प्राप्त हो गया। महात्मा जी अपनी धर्म-पुत्री के इस आदर्श विवाह की तैयारी करने लगे।

एक दिन सन्ध्या के समय मैं महात्मा जी के स्थान पर पहुंचा। मैंने कुछ विस्मय के साथ देखा, सदैव प्रसन्नता और उत्साह के भण्डार बन कर रहने वाले महात्मा मुंशीराम आज कुछ उदास प्रतीत होते हैं।

कुछ देर तक उनके पास यों ही चुपचाप बैठे रहकर मैंने पूछा—महात्मा जी, आज आप उदास क्यों हैं?

वह चुप ही रहे। उन्होंने कोई उत्तर न दिया। मैंने बड़े आग्रह से कई बार उनकी उदासी का कारण पूछा। अन्त में मेरे बहुत अनुरोध करनेप र उन्होंने उत्तर दिया--"मेरी उदासी के दो कारण हैं। पहला तो यह कि सुमित्रा देवी का विवाह मैं जाति बन्धन तोड़कर कर रहा हूँ, इससे लोग मुझ से अत्यन्त नाराज हैं। यह नाराजगी यदि मुझ तक ही सीमित रहती, तब तो कोई बात न थी, परन्तु मेरे साथ ही साथ लोग तुम्हें भी गालियाँ देते हैं। क्योंकि तुम भी इस काम में मेरे मददगार हो। लोग तुम्हें गुरुदत्त का साला कहते हैं। मेरे कारण तुम्हें भी कष्ट हो रहा है। यह बात मुझे सहन नहीं होती।"

मैंने बीच में ही रोक कर कहा--"इसमें क्या बुराई है? मैं स्वयं सुमित्रा को अपनी धर्म बहन समझता हूँ। लोग मुझे सैकड़ों बार गुरुदत का साला कहें, मैं इससे जरा भी बुरा न मानूंगा।"

महात्मा जी जरा मुस्कराये। अब उनका चेहरा उतना उदास न रहा। उन्होंने फिर कहना शुरू किया "खैर, मेरी उदासी का दूसरा कारण यह है कि मैं सुमित्रा का विवाह गुरुदत्त से करने जा रहा हूँ, इसलिये मेरे सम्पूर्ण रिश्तेदार मुझसे बहुत नाराज हैं? कई दिनों से भाई मुझे अलग कर देने की धमकियाँ दे रहे थे, आज मुझ से यह सहा न गया। मैंने अभी कुछ समय पूर्व ही घर की सब चाबियाँ भाई को दे दी हैं। अब इस घर में मेरा कुछ भी नहीं रहा। मैंने सभी कुछ अपने भाई को दे दिया। इस सामान से अब मेरा कोई सम्बन्ध नहीं।"

मैं कुछ उत्तेजित हो उठा। मैंने कहा--"नहीं, आपने यह ठीक नहीं किया। आपको सामान का बंटवारा करने को तैयार हो जाना चाहिए था। इस प्रकार सारा सामान छोड़ कर आपने ठीक नहीं किया।"

उन्होंने पूछा--"क्यों। मुझे तो इस अवस्था में यही उचित प्रतीत होता है। मेरे कारण भाई क्यों कष्ट सहें? लोग उन्हें भी तो सता रहे हैं।"

मैंने कहा—"आप अपनी दृष्टि से तो इतना बड़ा त्याग बड़ी खुशी से कर सकते हैं, परन्तु आपकी सन्तानें भी तो हैं। उनके लिये भी तो अवश्य कुछ चाहिये।"

उन्होंने बड़ी निश्चिन्तता से उत्तर दिया—'अपनी सन्तानों का पालन स्वयं अपने बाहुबल से करूँगा। इस बात की मुझे जरा भी चिन्ता नहीं है।"

मैं सहसा पूछ बैठा—"तो फिर आप उदास क्यों हैं ? महात्मा जी ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया—"आज तक मैं स्वयं अपने परिवार को पालता रहा हूँ। अपने भाइयों की सब आवश्यकताओं को पूरा करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता रहा हूँ। आज अपना सम्पूर्ण सामान एक साथ छोड़ कर मैं जब यह सोचता हूँ कि अपने भाइयों को अब भविष्य में कहाँ से दे सकूँगा, तो मेरा हृदय बोझ से दब जाता है।"

मानवीय चिन्ता का यह दैवी कारण मेरी कल्पना से भी परे की वस्तु है। मैं कुछ न कह सका, चुपचाप विस्मय से उस महात्मा की ओर देखने लगा।

(४)

गुरुकुल कांगड़ी का वार्षिकोत्सव है। खूब चहल-पहल है, बड़ी संख्या में हम लोगों के इष्टजन और मित्र वगैरा आये हुये हैं। सारा दिन मिलने-जुलने में ही बीत जाता है। इन्हीं दिनों प्रातःकाल के समय मास्टर आत्माराम जी अमृतसरी मेरे पास आये। आते ही उन्होंने कहा--एक बात सुनिये।

मैंने पूछा—क्या ?

उन्होंने बड़ी सतर्कता से उत्तर दिया—"पिछले सद्धर्म प्रचारक में आर्य भ्रातृ सभा का पक्ष लेकर जो लेख प्रकाशित हुआ है, उसके सम्बन्ध में मैं अभी-अभी महात्मा जी से कह आया हूँ कि वह लेख रामदेव जी का ही लिखा हुआ है।"

इस लेख में महात्मा मुंशीराम जी पर बहुत से व्यक्तिगत ताने और आक्षेप थे, इसीलिये मैंने चौंक कर कहा—'वह लेख तो आपने भी लिखवाया है, फिर उसे केवल मेरे नाम पर ही आप किस तरह डालना चाहते हैं।"

मास्टर जी ने बड़ी समझदारी के स्वर में कहा—"क्या हो गया। आप ही कुर्बानी का बकरा बन जाइये। आपका महात्मा जी से विशेष सम्बन्ध है। आप से यदि वह कुछ नाराज भी हो गये, तो कोई खास हर्ज नहीं।"

एक बार मास्टर जी से सत्य के नाम पर अपील करके भी मैं शहीद बनने को तैयार हो गया।

मास्टर आत्माराम जी वहाँ से चले गये। मैं अकेला बैठकर इस विचित्र परिस्थिति पर विचार करने लगा। इसी समय डिंगा निवासी श्री भगतराम जी ने आकर मुझसे कहा—चलो, महात्मा मुंशीराम जी तुम्हें बुलाते हैं।

मुझे विश्वास था कि धर्म पिता के सामने कोई बात छिपाये रखना मेरे लिये आसान नहीं है। साथ ही मैं मास्टर आत्माराम जी से शहीद बनने का वायदा भी कर चुका था, अतः मैंने उनके पास जाने से इंकार कर दिया। परन्तु भगतराम जी मुझ से

आयु में बड़े थे। उनके सामने मेरा बस न चल सका। वह जबरदस्ती महात्मा जी के पास खींच ही लाये।

आज गंगा की बाढ़ के कारण गुरुकुल के अधिकांश कच्चे मकान भस्मसात हो चुके हैं, परन्तु वह कमरा अपने साथ के अधिकांश कमरे बह जाने पर भी लगभग उसी तरह से विद्यमान है। यह उनका कार्यालय था। कमरे में वह अकेले ही बैठे हुये थे। उनका चेहरा अत्यधिक गम्भीर था। मैं कमरे में प्रविष्ट होकर उनके सामने ही एक कुर्सी खींच कर बैठ गया। वे चुपचाप बैठे हुये थे।

मेरी आँखों में आँसू भर आये। महात्मा जी की आँखों से भी आँसू झरने लगे। कुछ देर तक चुपचाप इसी प्रकार हम आँसू बहाते रहे, इसके बाद उन्होंने पूछा—"सद्धर्म प्रचारक में वह लेख तुम्हारा ही लिखा हुआ है ?"

मैंने कहा—"मेरा ही समझिये।"

उन्होने कहा—"चालाक बनने की कोशिश न करो। मुझे ठीक मालूम है कि वह लेख केवल तुम्हारा लिखा हुआ नहीं है। झूठ बोलने के लिये जो साहस चाहिये, वह तुम में नहीं।"

मेरी रुलाई अब फूट पड़ी। सिसकियाँ भरते मैंने कहा—"इस लेख का उत्तरदायित्व तो मुझ पर ही है, मुझे क्षमा कीजिये।"

इसके कुछ दिन बाद महात्मा मुंशीराम जी का एक पत्र मुझे प्राप्त हुआ। उसका निम्नलिखित अंश मैं आजन्म नहीं भूल सका :

"मैंने अपना एक पुत्र लगभग खो दिया था, परन्तु ईश्वर का धन्यवाद है कि वह मुझे पुन: प्राप्त हो गया।"

(५)

सामाजिक जीवन में अनेक परिवर्तन हुये। आर्य समाज के सम्मुख बहुत सी नई-नई समस्यायें आईं। अनेक आन्दोलन हुये। कभी किसी विषय में महात्मा मुंशीराम जी से मेरा मत मिला, कभी नहीं भी मिला। मेरे धर्मपिता और मुझ में अनेक सम्मति-भेदों के अवसरों पर लेखों द्वारा गरमागरम बहस भी हो गई। कई अवसरों पर मैंने उनका लिहाज भी नहीं किया और उन्होंने भी मुझे नहीं छोड़ा। यह कुछ हुआ। हमारे सामाजिक सम्बन्ध में कुछ कठोरता आ गई। कई बरस इसी तरह निकल गये।

इन्हीं दिनों यह घोषणा हुई कि महात्मा मुंशीराम जी शीघ्र संन्यास लेने वाले हैं। साथ ही गुरुकुल की स्वामिनी सभा ने मुझ से यह अनुरोध किया कि मैं गुरुकुल के आचार्य का कार्य सम्भाल लूं। मैं कुछ हिचकिचाया। कारण यह था कि गुरुकुल के प्रबन्ध की छोटी-मोटी बातों पर मेरा मतभेद रहा था। मैंने सोचा चलो महात्मा जी के सामने दिल खोल कर रख दें। इसके बाद जो कुछ होगा, देखा जायेगा।

रात को सोने से पूर्व मेरे सामने महात्मा मुंशीराम जी का संन्यास अपने धर्मपिता के सन्यास के रूप में आया। मैं तात्कालिक कलहों को भूलने लगा।

मुझे धर्मपिता का वह पुण्य और प्रेममय सम्बन्ध स्मरण आया, जो उन्होंने मेरे घर से निकाले जाने के बाद मुझ से स्थापित किया था । मुझे अपने गुरु का यह वाक्य याद आया, ईश्वर का धन्यवाद है कि मैंने अपना पुत्र पुनः प्राप्त कर लिया । मैं विचलित हो उठा । मेरे हृदय का सम्पूर्ण वैमनस्य एक साथ भस्म हो गया । मैंने शीघ्र ही अपने धर्म-पिता के दर्शन करने का निश्चय किया ।

महात्मा मुंशीराम जी अपने गंगा तट के बंगले में अकेले बैठे थे । मैं उनके पास पहुँचा । उन्हें नमस्कार करके बड़ी धीमी और शान्त आवाज में मैंने कहा—महात्मा जी, यदि आप मेरे लिये वही धर्मपिता मुंशीराम बन सकते हों तो मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ ।

वह कुछ क्षणों तक बड़ी भावमयी दृष्टि से मेरी तरफ देखते रहे, फिर बोले—"रामदेव । आज नहीं, आज से १५ दिन पूर्व मेरे दिल मे तुम्हारे प्रति सब प्रतिकूल भाव नष्ट हो चुके हैं । अब हमारे बीच में कोई खाई नहीं रही, हम दोनों का सम्बन्ध पवित्र और अटूट है । मैं स्वयं दो एक दिन में तुम्हें बुला कर अपना दिल साफ कर देने के लिये कहने वाला था, कहो, क्या कहना चाहते हो ?

मेरा हृदय अपने धर्मपिता के प्रति श्रद्धा और सम्मान से भर उठा । मैंने कहा—"महात्मा जी, स्वयं संन्यास ले लेने के उपरान्त आप गुरुकुल किसे सौंपना चाहते हैं ?

उन्होंने शीघ्रता से उत्तर दिया—"तुम्हें । इस सम्बन्ध में मेरे हृदय में कोई विकल्प ही नहीं है । मेरा पूर्ण विश्वास है कि मेरा वास्तविक भावना को तुम ही भली प्रकार समझते हो । लोगों का ख्याल है कि हम दोनों के विचार परस्पर बहुत प्रतिकूल हैं, परन्तु वास्तव में यह बात सही नहीं है । हम दोनों में मतभेद बहुत कम है और एक-मत बहुत ज्यादा । मुझे विश्वास है कि मेरे बाद तुम सफलता से गुरुकुल का संचालन कर सकते हो । तुम में कमजोरियाँ हैं । मैं उन कमजोरियों को जानता हूँ परन्तु कमजोरियाँ किसमें नहीं होतीं ? मुझ में भी तो अनेक बड़ी-बड़ी दुर्बलतायें हैं ।"

अपने धर्मपिता के इस आदेश को मैंने कर्त्तव्य का आह्वान समझा । मेरी सब दुविधायें दूर हो गयीं । मैंने गुरुकुल के आचार्य पद का भार लेने का निश्चय कर लिया ।

समय गुजरता चला गया । पिता-पुत्र के मतभेद वहीं समाप्त नहीं हो गये थे, अनेक सिद्धान्तों के प्रश्नों पर फिर से मतभेद उत्पन्न हुये । अनेक मतभेद मिट गये, अनेक बने रहे । यहाँ तक भी नौबत आ पहुँची थी कि हम दोनों ने सार्वजनिक व्याख्यानों में भी एक-दूसरे का खण्डन किया था । ऐसा भी हुआ कि एक व्याख्यान मैंने गुरुकुल में दिया और उनका व्याख्यान पीछे हुआ तो उन्होंने मेरा खण्डन कर दिया । मैंने उनके खण्डन का खण्डन वृन्दावन गुरुकुल के उत्सव पर किया, उन्होंने मेरे भाषण का वहीं खण्डन कर दिया । इसका उत्तर मैंने दिल्ली आर्य समाज के

उत्सव पर दिया। उसका उत्तर फिर उन्होंने लाहौर आर्य समाज के उत्सव पर दिया। उनके उस भाषण के साथ वह वाद-विवाद समाप्त हो गया। इस लेख में यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि विवादास्पद विषय क्या थे और विचार-भेद किस बात पर था। इस संस्मरण को प्रस्तुत करने का उद्देश्य पूज्यपाद कुलपिता के चरित्र के एक अंश पर विशेष प्रकाश डालना है। न केवल वृन्दावन में सार्वजनिक व्याख्यान एक दूसरे के विरुद्ध दिये गये, अपितु आर्य सम्मेलन की विषय निर्धारिणी समिति में भी मैंने उनके एक प्रस्ताव का घोर विरोध किया और कारणवशात् मेरा विरोध सफल हुआ, यद्यपि यह बात आकस्मिक ही थी। उनका विरोध करके सफल होना कोई सरल बात नहीं थी। उनका व्यक्तित्व बहुत बड़ा था और जिसका वे पक्ष ले लेते थे उसकी प्रायः विजय होती थी। मैंने समझा कि अब स्वामी जी मुझ से बहुत क्रुद्ध होंगे, मेरे दिल में उनके लिये अगाध प्रेम तथा अत्यधिक श्रद्धा थी। जब मेरा उनसे मतभेद होता था तो मुझे बड़ा दुःख होता था। मैं उनके साथ फिर से बनाने की चिन्ता में था। क्षमा माँगने के लिये भी मैं तैयार हो रहा था, पर एक बड़ी विचित्र घटना हुई। रात की गाड़ी से मुझे जाना था, अतः दूसरे दर्जे का टिकट मैंने ले लिया। स्वामी जी भी उसी दिन उसी गाड़ी से यात्रा कर रहे थे। उनकी बर्थ और मेरी बर्थ साथ-साथ थीं। रात को स्टेशन पर हम मिले। मैंने उनको नमस्ते की और गाड़ी आने पर उसमें सवार होकर सो गये। स्वामी जी बहुत प्रातः उठा करते थे और मेरी भी आदत जल्दी उठने की है। ४ बजे के करीब स्वामी जी उठे और कोमल आवाज में उन्होंने कहा—"मास्टर जी! आप सोये हुये हैं या जागते हैं?" मैं तो जाग रहा था, उठ कर प्रणाम किया। बड़े प्रेम से बातें होने लगीं। आर्य समाज के भविष्य पर विचारों का विनिमय होने लगा। गुरुकुल के संचालन पर विचार होने लगा। राजनीति पर भी बात-चीत हुई। मैं हैरान था कि कल की घटनाओं का कोई प्रभाव स्वामी जी पर नहीं हुआ। क्षमा माँगने और सुलह करने का तो उन्होंने मुझे कोई अवसर ही नहीं दिया। मैंने उनसे कहा "स्वामी जी! मैंने समझा था कि आप मुझ से नाराज हैं और मैं आप से क्षमा माँगने की सोच रहा था।" उन्होंने हँस कर उत्तर दिया "तुम्हारी और मेरी क्या लड़ाई? तुम ईमानदारी से अपने विचार प्रकट करते हो और मैं ईमादानरी से उन विचारों पर अपना विचार प्रकट कर देता हूँ, किन्तु मुझे विश्वास है कि आर्य समाज में मेरी स्पिरिट को कोई समझता है तो तुम समझते हो, विशेषकर गुरुकुल के संचालन के विषय में मेरा सिद्धान्त अगर कोई पूर्णतया समझता है तो तुम हो। इसलिये विश्वास रखो कि मैं तुम से कभी न बिगड़ूंगा।" स्वामी जी के और मेरे सम्बन्ध ऐसे थे कि जब स्वामी जी मुझ से कुछ रुष्ट होते थे तब मुझे "आप" कह कर पुकारते थे और जब सुलह हो जाती तब फिर "तुम" कह कर पुकारते थे। उनके मुख से तुम सुन कर मैं इतना प्रसन्न हुआ मानों मुझे कहीं की जागीर मिल गई।

(६)

धर्मपिता के महाबलिदान से कुछ मास पूर्व मैंने उनसे प्रार्थना की कि आप शेष जीवन गुरुकुल में ही बिताइये। गुरुकुल में रह कर कुलवासियों में नवीन स्फूर्ति का संचार कीजिये। यह प्रार्थना स्वीकार हुई। स्वामी जी ने गुरुकुल में रहने के लिये गुरुकुल की स्वामिनी-सभा को पत्र लिखा। गुरुकुल की स्वामिनी-सभा को इससे बढ़ कर प्रसन्नता और किस बात से हो सकती थी। परन्तु इस सम्बन्ध में सभा ने जो प्रस्ताव स्वीकार किया, उसकी रचना स्वामी जी को खटकी। उन्होंने गुरुकुल में आकर रहने का विचार छोड़ दिया। मैं सभा के उस अधिवेशन में उपस्थित न था, इस कारण यह घटना मुझे कुछ समय बाद मालूम हुई।

स्वामी जी ने अब कनखल में ही मकान बनवा कर रहने का निश्चय किया। जमीन के लिये उन्होंने बयाना भी दे दिया। गुरुकुल की स्वामिनी सभा (आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अन्तरंग सभा) को जब यह बात ज्ञात हुई, तो सभा के सब सदस्यों को बहुत अधिक दुःख हुआ। स्वामी जी सभा से बहुत नाराज हो गये थे, किसी महानुभाव को स्वामी जी के पास जाकर सभा का वास्तविक भाव स्पष्ट करने की आवश्यकता थी। कुछ दिनों बाद जब जमीन के सम्बन्ध में कनखल पधारे, तब मैं स्वामी जी की सेवा में पहुँचा।

बातचीत के सिलसिले में मैंने उनसे निवेदन किया—"स्वामी जी, अन्तरंग सभा के प्रस्ताव का वह अभिप्राय नहीं था, जो आपने लिया है।"

स्वामी जी ने उत्तर दिया—"यह भी सम्भव है। परन्तु प्रस्ताव को ऐसा गोलमाल बनाया ही क्यों गया, जिससे कोई दूसरा मतलब लिया जा सके?"

मैंने स्वीकार किया कि सचमुच प्रस्ताव में कुछ भी अस्पष्टता नहीं होनी चाहिये थी। साथ ही मैंने निवेदन किया—"अन्तरंग सभा के उस अधिवेशन में मैं उपस्थित नहीं था, अन्यथा यह नौबत कदापि न आती।"

स्वामी जी ने आश्चर्य से पूछा—"तुम उस अधिवेशन में नहीं थे।"

मैंने उत्तर दिया—"जी नहीं।"

मैंने धर्मपिता ने कुछ मुस्करा कर उत्तर दिया—"तो फिर मुझे अब अन्तरंग से कोई शिकायत नहीं रही।"

मैंने अनुरोध किया—"तो फिर गुरुकुल में ही चल कर रहिये।"

उन्होंने कहा—"अब तो मैं जमीन का बयाना भी दे चुका हूँ।"

मैंने हठ किया—"मेरी खातिर उसे जाने दीजिये।"

स्वामी जी तैयार हो गये। मैंने उनसे यह भी निवेदन किया कि मैं अन्तरंग सभा का प्रस्ताव बदलवा दूंगा। स्वामी जी ने अब गुरुकुल चल कर रहने का पूर्ण निश्चय कर लिया।

परन्तु विधाता को शायद यह बात मंजूर न थी। पहले तो वे कुछ आवश्यक कामों में व्यस्त रहे। फिर दिसम्बर के शुरू में वह बीमार पड़ गये।

उस महान् आत्मा के अमर-पद प्राप्त करने से केवल चार दिन पूर्व ही

गुरुकुल-कांगड़ी का स्नातक चिरंजीव केशवदेव दिल्ली में उनके दर्शनों के लिये गया। स्वामी जी तब रोग शैय्या पर लेटे हुये थे। अपने एक शिष्य को अपने दर्शनों के लिये आया देख कर स्वामी जी उठ कर बैठ गये। केशव के सिर पर हाथ रख कर वेद-मन्त्र पढ़ कर उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया।

बातचीत के प्रसंग में उन्हें ज्ञात हुआ कि केशवदेव शीघ्र ही मद्रास जा रहे हैं। स्वामी जी को यह ज्ञात था कि मैं उस समय कलकत्ते में गुरुकुल के लिये धन-संग्रह का कार्य कर रहा था, इसलिये उन्होंने केशवदेव से पूछा—"क्या तुम कलकत्ता होते हुये मद्रास जाओगे ?"

केशवदेव के यह स्वीकार करने पर उन्होंने कहा—"कलकत्ता में रामदेव से मिलकर उन्हें मेरा एक सन्देश सुना देना।"

केशवदेव ने कहा—"आज्ञा कीजिये।"

स्वामी ने उत्तर दिया—"रामदेव से कहना कि चाहे हम दोनों में कितने ही मतभेद क्यों न हों, फिर भी हम दोनों के विचारों में बड़ी समानता है। गुरुकुल के प्रति मेरी भावना को केवल वही समझते हैं। उनसे कहना कि चाहे गुरुकुल को किसी स्थान पर ले जाएँ, इस सम्बन्ध में अब मेरा कोई मतभेद नहीं रहा। परन्तु गुरुकुल का वह स्वयं संचालन करें। गुरुकुल की भावना को वह स्वयं संचालन कर अवश्य जीवित बनाये रखें, यह मेरा उनके प्रति आदेश है।"

परन्तु भाग्य चक्र से केशवदेव के कलकत्ता पहुँचने से पूर्व ही वह महान् आत्मा यह लोक छोड़ कर चली गई।

आज अपने अन्तःकरण की साक्षी देकर मैं यह कहता हूँ कि मैं अपने धर्म-पिता का आदेश पालने के उद्देश्य से ही अभी तक गुरुकुल कांगड़ी का भारी बोझ अपने कन्धों पर लिये हुए हूँ। मेरा प्रतिज्ञात सेवा-काल पर्याप्त समय से समाप्त हो चुका है। यदि मैं चाहूँ तो गुरुकुल के उत्तरदायित्व से मुक्त हो सकता हूँ। मेरा स्वास्थ्य भी अब काफी बिगड़ चुका है। वह मुझे अब इतनी बड़ी प्रबन्ध-सम्बन्धी उलझनों में पड़ने की आज्ञा नहीं देता। फिर भी मैं यह भारी बोझ संभाले हुये हूँ। इसका केवल मात्र एक ही कारण है, वह है अपने धर्मपिता का अन्तिम आदेश।

मुझे मालूम है, मेरे कुछ स्नेही मेरे अब तक गुरुकुल में जमे रहने के कारण मुझ पर कुपित हैं, कुछ सज्जन मुझे देख कर चिन्तित भी हैं, कुछ आश्चर्य में हैं, और कतिपय महानुभाव यह भी समझ सकते हैं कि इस बुढ़ापे में संन्यास और उच्चाभिलाषा के वशीभूत होकर ही मैं गुरुकुल की बागडोर को अपने हाथों से नहीं छोड़ रहा हूँ, यह सब कुछ मैं जानता हूँ, पर यह सब जानते हुये भी मैं गुरुकुल को इस दशा में छोड़ नहीं सकता। अपने धर्म-पिता की अमानत की यथोचित व्यवस्था किये बिना मैं कदापि नहीं छोड़ सकूँगा। कभी-कभी इन झंझटों और उलझनों से तंग आकर यह इच्छा भी होती है कि तुम्हें इससे क्या लेना है, अपने स्वास्थ्य को सुधारने के लिये अब आराम करो, परन्तु अगले ही क्षण अपने धर्मपिता

की अमर आत्मा का पवित्र स्मरण मेरी सब कमजोरियों को दूर कर देता है। कुलपिता अपने प्रति अन्तिम आदेश मुझे सच्ची राह दिखाता है, और मैं नये उत्साह से कार्य करने लगता हूँ।

मैं एक ऐसा सैनिक हूँ, जिसका सेनापति उसे अपना सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सौंप गया है। गुरुकुल की इस अयोध्या में आज श्रीराम नहीं रहे। वह अपने सेवक हनुमान को सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अमानत के तौर पर सौंप गये हैं। मैं भी आज स्वामी श्रद्धानन्द जी की अमानत सम्भाले हुये हूँ। आज मैं एक योग्य उत्तराधिकारी की तलाश में हूँ, जो इस अमानत को भली प्रकार कायम रख सके, जो श्रद्धानन्द की भावना में रंगा हुआ हो। जिस दिन मुझे ऐसा उत्तराधिकारी मिल जायगा, उसी दिन मैं उसे अपने धर्म-पिता की यह पवित्र अमानत सौंप कर निश्चिन्त हो जाऊँगा। ●

मेरे पिता

—श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति

(यशस्वी पत्रकार एवं लेखक श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने अपने पू० पिता स्वामी श्रद्धानन्दजी के जीवन से संबद्ध कुछ स्वानुभूत एवं प्रामाणिक संस्मरण लिखे थे, जो सन १९५३-५५ में 'गुरुकुल-पत्रिका' के विविध अंकों में क्रमशः प्रकाशित हुए थे। बाद में इन्हें मेरे-पिता' के नाम से पुस्तक का रूप दे दिया गया था। यहाँ इसी संस्मरणावली में से स्वामी जी के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को प्रदर्शित करने वाली कुछ अविस्मरणीय स्मृतियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं।)

भगवत्कृपा पर भरोसा

सद्धर्म-प्रचारक में, सनातन-धर्म सभा पंजाब के उपदेशक पं० गोपीनाथ जी के सम्बन्ध में एक छोटा सा संपादकीय नोट प्रकाशित हुआ। उस नोट में गोपीनाथ जी के चरित्र पर आक्षेप किया गया था। जिस समय सद्धर्म-प्रचारक में वह नोट प्रकाशित हुआ, उस समय पिता जी जालंधर में नहीं थे। सहायक संपादक लाला वजीरचन्द जी ने वह नोट लिखा था। पं० गोपीनाथ जी को इससे पूर्व लाहौर के अंग्रेजी के एक अखबार के विरुद्ध मानहानि के दावे में सफलता प्राप्त हो चुकी थी। सफलता द्वारा बढ़े हुए उत्साह से प्रभावित हो कर पं० गोपीनाथ जी ने सद्धर्म प्रचारक के संपादक और प्रकाशक पर मानहानि का दावा कर दिया।

जिस समय पिता जी को लाहौर की अदालत का समन मिला, वे दौरे पर थे और बीमार थे। जुकाम और बुखार से पीड़ित होते हुए भी प्रचार के जोश में वे कई मास से निरंतर घूम रहे थे। समन पा कर वे लाहौर पहुँचे।

इस मुकदमे ने प्रारम्भ से ही एक सार्वजनिक रूप धारण कर लिया था। पजाब में आर्यसमाज में और सनातन-धर्म-सभा में जो विचार-संघर्ष वर्षों से चल रहा था, यह उसकी पराकाष्ठा थी। दोनों ओर बड़ा जोश था।

मुकदमे के अनुसार ही वकील किये गये थे। पं० गोपीनाथ जी की ओर से एक अंग्रेज वकील थे, जो उस समय लाहौर में वकीलों के सरदार समझे जाते थे। पिता जी की सफाई के लिए हमारे मामा रायजादा भगतराम जी जालंधर से गये थे।

मामा जी जालंधर से पिता जी का मुकदमा लड़ने के लिए लाहौर गये। पहली पेशी में पं० गोपीनाथ जी की गवाही होने वाली थी। मामा जी ने पिता जी से पूछा—"मुंशीराम जी, कोई मसाला भी है या नहीं? जिरह में क्या पूछा जाएगा?" मसाला कुछ था ही नहीं, दोनों चिन्तित थे कि मुकदमा कैसे लड़ा जाएगा। पिता जी ने उत्तर दिया—"भाई मसाला तो कुछ भी नहीं, एक ईश्वर का भरोसा है। चलो, कोई रास्ता निकल आयेगा।"

दोनों बन्धु खाली हाथ अदालत में जा पहुँचे । पं गोपीनाथ जी को अपनी जीत का दृढ़ निश्चय था । वे शेर की तरह छाती ताने हुए आये और अपना बयान स्पष्ट शब्दों में दिया । इतने में लंच का समय हो गया । अदालत उठने की तैयारी करने लगी और रायजादा भगतराम जी इस्तगासे के बयान पर दृष्टि गड़ा कर देखने लगे कि लंच के बाद क्या जिरह की जायगी ।

आगे जो हुआ, वहा यथासंभव पिता जी से सुने हुए शब्दों में ही सुनाता हूँ- "मैं पीठ पीछे हाथ रखे खड़ा था कि इतने में मेरे हाथ को किसी ने छुआ और कोई जीज पकड़ाई । मैंने उस चीज को पकड़ने के लिए हाथ फैलाया तो किसी ने कागजों का एक पुलिन्दा मेरे हाथ में दे दिया । मैंने यह समझ कर कि किसी अखबार की फाइल होगी, उसे ले लिया । इतने में अदालत लंच के लिए उठ गई । मैं उस पुलिन्दे को हाथ में ले कर यह सोचता हुआ बाहर निकला कि मामले के बिना मुकदमा कैसे लड़ा जायेगा । बाहर निकल कर भगतराम जी के साथ एक कमरे में जा बैठा । तब खयाल आया कि मेरे हाथ में कुछ कागज हैं, उन्हें देखना चाहिए । देखा तो दंग रह गया । पं० गोपीनाथ जी की बदचलनियों के सबूतों का ढेर मेरे सामने पड़ा था । बंडल में वैश्याओं के नाम गोपीनाथ जी के लिखे हुए पत्र थे । उन पत्रों में वे रहस्य भरे पड़े थे, जिन का किसी को वहम भी नहीं हो सकता था । जब उस बंड़ल को मैंने भगतराम जी के सामने रखा तो वे उछल पड़े । उस बंडल को पिता जी के हाथ में कौन रख गया, यह कभी पता न लग सका । यदि पिता जी आर्यसमाजी न होते तो उसे अवश्य ही 'साँवलशाह" का चमत्कार मान लेते । उस बंडल ने न केवल पिता जो को निर्दोष साबित कर दिया, पं० गोपीनाथ जी का असली रूप भी संसार के सामने रख दिया ।"

पिता जी कहा करते थे कि उस बंडल की घटना ने मेरे इस विश्वास को बहुत दृढ़ कर दिया कि सांच को आँच नहीं, क्योंकि सत्य के रक्षक परमात्मा का हाथ मनुष्य के हाथ से बहुत लम्बा है ।

स्वभावगत लचीलापन

पिता जी का सारा जीवन इतना प्रगतिशील था कि उसमें अपरिवर्तनवादिता के लिये कोई गुंजाइश नहीं थी । फिर भी प्रारम्भिक वर्षों में गुरुकुल में इतना विचार-संघर्ष हो गया, इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि शुरू में पिता जी को जो सहायक मिले उनमें गुरुकुल चलाने की अन्य बहुत-सी योग्यताएँ होते हुए भी उनके दृष्टि-क्षेत्र बहुत संकुचित थे । आचार्य गंगादत्त जी एक तपस्वी विद्वान् थे, ब्रह्मचर्य में उनकी दृढ़निष्ठा थी । जब तक वे गुरुकुल में आचार्य रहे, अपनी सम्मति के अनुसार ब्रह्मचारियों के हितचिन्तन और चरित्र-निर्माण का भरसक यत्न करते रहे । इन अर्थों में वे सच्चे आचार्य थे । इन सब गुणों के साथ हीं उनमें एक विशेषता यह थी कि उनका दृष्टिकोण परिमित था । परिस्थितियों के साथ मेल करने के लिए

आवश्यक परिवर्तन करना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। इस कारण जब भी कोई नवीन वस्तु गुरुकुल में प्रवेश करने लगती थी, तब आचार्य जी उसे संदेह की दृष्टि से देखते थे। पिता जी आचार्य जी का आदर करते थे और उनसे स्नेह भी करते थे। यथासंभव वे किसी बात में भी उनकी सम्मति के विरुद्ध नहीं चलना चाहते थे, परन्तु जब कोई परिवर्तन आवश्यक हो जाता था तो आचार्य जी की अनिच्छा को काफी रियायत देकर कुछ समय पश्चात् परिवर्तन हो जाने देते थे। कभी-कभी तो बहुत छोटी सी बात पर मतभेद हो जाता था और आन्दोलन का रूप धारण कर लेता था। इस प्रकार की एक घटना मुझे आज भी स्मरण है।

एक समय था जब ब्रह्मचारी फूस के छप्परों में रहा करते थे, तब रात के समय सरसों के तेल के चिराग से रोशनी की जाती थी। रात को पढ़ने का रिवाज नहीं पड़ा था, क्योंकि अधिकतर ग्रन्थ याद करने पड़ते थे। दिन में घोटा लगाया जाता था और रात को पुनरावृत्ति होती थी।

एक वर्ष के अन्दर-अन्दर कच्ची दीवारों के टिन शैड खड़े हो गये। एक टिन-शैड में २५–३० बालकों के रहने का स्थान था। यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि कमरे को रोशन करने के लिए बड़े लैम्प छत में टांगे जायें। ऐसे लैम्प मिट्टी के तेल से जलते हैं। निरीक्षण की सुलभता के लिए यह आवश्यक समझ कर कि प्रत्येक बैरक में एक-एक लैम्प लगा दिया जाये, पिता जी ने मुख्याधिष्ठाता की हैसियत से लैम्प का आर्डर भिजवा दिया।

जब यह समाचार गुरुकुल में फैला तो एक विराट आन्दोलन शुरू हो गया। इस आन्दोलन के मुखिया उस समय के आचार्य पं गंगादत्त जी थे, जो उस समय पूरे अपरिवर्तनवादी थे।

उस आन्दोलन में कड़वे तेल के पक्ष में और मिट्टी के तेल के विरोध में बहुत सी युक्तियाँ दी जाती थीं। कहा जाता था कि कड़वे तेल का धुआँ आंखों में सुरमे का काम देता है और मिट्टी के तेल का धुआँ आँखों और फेफड़ों के लिए जहर का असर रखता है। हम लोगों की सहानुभति, प्रारम्भ में अपरिवर्तनवादियों के साथ थी। पं० गंगादत्त जी के मुख्य समर्थक भंडारी सालिग्राम जी और अन्य कुछ संस्कृताध्यापक भी थे। उधर परिवर्तन-दल का मुखिया उन दिनों पं० भक्तराम जी डिंगानिवासी को समझा जाता था। आप भी गंगादत्त जी के शिष्यों में से थे, परन्तु कुछ अंग्रेजी पढ़े लिखे थे। मिट्टी के तेल तथा अन्य ऐसे ही प्रस्ताव उठाने का श्रेय अपरिवर्तनवादी दल की ओर पं० भक्तराम जी को ही दिया जाता था। जो चर्चाएँ हम लोगों के सामने होती थीं, उनमें मान लिया जाता था कि प्रधान जी (पिता जी) सर्वथा निर्दोष हैं, लोग उन्हें बहका देते हैं और वह सीधे होने के कारण उनकी बातों में आ जाते हैं। यह आन्दोलन कई महीनों तक जारी रहा। ब्रह्मचारियों में मिट्टी के तेल के प्रति विरोध की भावना बहुत उग्र रूप से पैदा की गई। यह तो अच्छा था कि अभी महात्मा गाँधी ने भारत के सार्वजनिक जीवन में निष्क्रिय प्रति-

रोध और कानून-भंग की फसल नहीं बोई थी और ब्रह्मचारियों में प्रधान जी के प्रति बहुत श्रद्धा का भाव बना हुआ था। इसका परिणाम यह हुआ कि कभी जब प्रधान जी की आज्ञा से मिस्तरी मग्घरसिंह कमरों में बड़ी लालटेन लटकाने के लिए आया तो कोई अप्रिय घटना नही हुई और चुपके से मिट्टी के तेल के रूप में पाश्चात्य सभ्यता ने पूर्वी सभ्यता के दुर्ग में प्रवेश कर दिला।

पिता जी का एक सफल मनोवैज्ञानिक परीक्षण

एक दिन रात्रि के भोजन के पश्चात् हम दोनों भाइयों ने प्रधान जी (पिता जी) से प्रार्थना की कि हम अकेले में उनसे कुछ बातें करना चाहते हैं। गुरुकुलीय जीवन में शायद यह पहला अवसर था, जब हमने पिता जी से अलग बातचीत करने का अवसर माँगा हो, अन्यथा वे हम दोनों को सदा अन्य ब्रह्मचारियों के समान भाव से ही देखते रहे। हमारी प्रार्थना से पिता जी को आश्चर्य हुआ, तो भी उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर ली, और हम दोनों को साथ लेकर उसी समय गुरुकुल-वाटिका में चले गये। वहाँ टहलते-टहलते भाई जी ने पिता जी से अपने मन का भाव कहा—भाव यह था कि हम दोनों गुरुकुल की शिक्षा स सन्तुष्ट नहीं हैं। इस शिक्षा से हम पंडित नहीं बन सकेंगे। पडित बनने के लिए काशी में शिक्षा पाना आवश्यक है। हमें पंडित शिवकुमार शास्त्री, पंडित जयदेव मिश्र और श्री भागवताचार्य जैसे पडितों से शिक्षा पाने का अवसर मिलेगा। आप हमें गुरुकुल से उठा कर बनारस भेज दीजिए।

कुछ देर तक चुपचाप टहलने के पश्चात् पिता जी ने बड़े शान्त भाव से कहा—"मैं तुम्हारी बातों का उत्तर कल दूँगा।"

दूसरे रोज हम बड़ी उत्सुकता से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे। तरह-तरह के विकल्प मन में उठ रहे थे। कभी सोचते कि पिता जी बनारस भेज देंगे, न भेजना होता तो उसी समय इन्कार कर देते। फिर विचार उठता कि भेजना होता तो उसी समय मान भी तो सकते थे। अवश्य इन्कार करेंगे। इसी तरह संकल्प-विकल्प करते सायंकाल का समय आ गया। सायंकाल पढ़ाई से छुट्टी होने पर कमरे से बाहर निकले, तो प्रधान जी का चपरासी हाथ में एक कागज ले कर आता हुआ दिखाई दिया। उस कागज में इस आशय की आज्ञा लिखी हुई थी कि भोजन से निवृत्त हो कर दो बड़ी श्रेणियों के सब ब्रह्मचारी मुख्याधिष्ठाता जी के निवास-स्थान पर एकत्र हों। इस आज्ञा से हम दोनों भाइयों की द्विविधा और भी बढ़ गई। क्या हमारे प्रस्ताव का उत्तर सब के सामने दिया जाएगा?

भोजन के उपरान्त ऊपर की दो श्रेणियों के ब्रह्मचारी प्रधान जी के स्थान पर इकट्ठे हुए। प्रधान जी ने बड़े प्रसन्न भाव से ब्रह्मचारियों को यह समाचार सुनाया कि दोनों बड़ी श्रेणियों को देहरादून-यात्रा कराने का निश्चय किया गया है। इतना समाचार मात्र हम पिंजरे के पंछियों को फड़का देने के लिए पर्याप्त था। हमने

अभी हरिद्वार भी अच्छी तरह न देखा था। देहरादून की यात्रा होगी, यह जानकर हम लोग बहुत ही प्रसन्न हुये। प्रधान जी ने अत्यन्त आकर्षक शब्दों में यात्रा कार्यक्रम हमारे सामने रखा। सायंकाल के समय चलेंगे। रात को मायापुर वाटिका में ठहरेंगे। सुबह स्टेशन पर पहुँच कर तुम लोगों को यह समझाऊँगा कि इंजन से रेल कैसे चलती है। देहरादून पहुँच कर जंगलात का कालेज, ओब्जरवेटरी आदि संस्थाएं देखने को मिलेंगी, फिर सहस्त्रधारा चलेंगे, इत्यादि इतनी नई चीजें इकट्ठी देखने की आशा उत्पन्न करने के अनन्तर प्रधान जी ने हमारे जिम्म कई काम लगा दिये। कल कागज मंगवा दिये जायेंगे, तुम लोग यात्रा के नोट लेने के लिये स्वयं जिल्द वाली डायरियाँ तैयार कर लो। सब मैले कपड़ों को धो डालो। चार दिन के लिए खैर की दातुनें इकट्ठी कर लो। यात्रा के लिए भंडारी, सहायक भंडारी उसी समय नियत कर दिये गये। इस प्रकार यात्रा और यात्रा की तैयारी का पूरा कार्यक्रम हमारे दिल और दिमाग में भर कर प्रधान जी ने हमें सोने के लिए आश्रम में भेज दिया।

मेरे अध्ययन और निजी अनुभवों में जितने मनोवैज्ञानिक परीक्षण आये हैं, उन मे शायद ही कोई परीक्षण सफल हुआ हो, जितना पिता जी का यह परीक्षण। मैं इसे उन की नेतृत्व-शक्ति का सबसे बड़ा प्रबल प्रमाण मानता हूँ। मनुष्यों का नेता वही हो सकता है, जो उन में मनों को अपनी इच्छानुसार साँचे में ढाल सके, और ढ़ाल भी सके ऐसे ढंग पर कि अनुयायियों को यह मालूम न हो कि उन्हें कुछ का कुछ बना दिया है। देहरादून की यात्रा के प्रस्ताव ने हम दोनों के मन में से बनारस जाने की इच्छा के खंडहरों तक को निकाल कर बाहर फेंक दिया। रात को जब हम सोने के लिए आश्रम में पहुँचे तो हमारे हृदयों में से निराशा विदा हो चुकी थी और उत्साह भरा हुआ था। हमारे कल रात के प्रस्ताव का पिता जी की ओर से यह क्रियात्मक उत्तर था।

देहरादून की यात्रा हम दोनों भाइयों के जीवन में एक पड़ाव की हैसियत रखती थी। उस यात्रा का ब्रह्मचारियों के मन और हृदय पर बहुत गहरा असर हुआ। बाहर की दुनिया से अलग रहने के कारण हमारे मन की स्लेट लगभग साफ थी। उस पर बाह्य संसार के जो पहले अक्षर लिखे गये, वे बहुत ही स्पष्ट और गहरे थे। हम लोग केवल संस्कृत ज्ञान के श्रद्धालु—रूप में यात्रा के लिए चले थे। जब वापिस आए तो विज्ञान, कला आदि की जिज्ञासा से पूर्ण थे। यह उस मनोवैज्ञानिक परीक्षण का परिणाम था, जो पिता जी ने ब्रह्मचारियों के मन पर किया था।

अपूर्व नेतृत्व-क्षमता

पिता जी संन्यास ले चुके थे। गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता और आचार्य पद को अन्य कार्यकर्ताओं ने संभल लिया था। गुरुकुल का उत्सव हो रहा था। उत्सव के निमित्त आकर पिता जी उसी प्रसिद्ध गङ्गा-तट वाले बंगले में ठहरे हुए थे। उत्सव

का सबसे मुख्य अपील-सम्बन्धी व्याख्यान हो रहा था। इतने में दर्शकों के निवास-स्थान की ओर से उठता हुआ धुआँ दिखाई दिया। क्षण भर में शोर मच गया—"आग लग गई, आग लग गई"। पण्डाल एकदम खाली हो गया। सब लोग कैम्प की ओर भागे। वहाँ जाकर देखा तो फूस के छप्पर बारूद के ढेर की तरह धू-धू करके जल रहे थे। दर्शक लोग पागलों की तरह चारों ओर भागने और शोर मचाने लगे। बीसियों बच्चे कैम्प में सोए पड़े थे। इस भयानक आग में घुस कर कौन उनको बचाये? यह नहीं सूझता था कि फूस में लगी आग बुझेगी कैसे। कुछ देर तक आर्तनाद और हाहाकार के सिवा कुछ सुनाई नहीं देता था। यह मेरी कानों सुनी बात है कि गुरुकुल के कई अधिकारी पंडाल के पास खड़े होकर दृश्य को देख रहे थे और कह रहे थे कि अब क्या किया जा सकता है। हम तो पहले ही कहते थे कि फूँस के छप्पर नहीं बनाने चाहिए।

सहसा ऐसी निराशाजनक परिस्थिति को भेदता हुआ "चलो, चलो, स्वामी जी आ गये" का शब्द भीड़ में सुनाई दिया और साथ ही बंगले की ओर से तेजी आते हुए स्वामी जी का सिर और कन्धे जनता के मस्तकों से ऊपर दृष्टिगोचर हुये। स्वामी जी सीधे मेहता गेट पर पहुँचे और शायद आधा मिनट तक सारी स्थिति का निरीक्षण किया, और फिर एकदम धाराप्रवाह की तरह आज्ञाएं निकलने लगीं :

"मिट्ठनलाल जी, आप भाग कर जाइये, गोशाला और वाटिका में जितने फावड़े और टोकरियाँ मिलें, सब लिवा लाइये।"

"चिरंजीलाल जी, आप वस्तु भंडार में से जितने घड़े या बाल्टियाँ मिले, सब लिवा लाइये।"

"दोनों के साथ केवल २०-२० आदमी जावें, अधिक नहीं। शेष सब मेरे साथ आओ" कह कर स्वामी जी आग के पास जा पहुँचे और दर्शकों को स्वयं-सेवक दलों के रूप में विभक्त कर दिया। एक दल को आज्ञा दी कि हाथों में या कपड़ों में भर कर जैसी भी हो, मिट्टी और रेत ले लेकर आग पर डालो। दूसरे दल को आज्ञा दी कि जिन छप्परों में आग नहीं लगी, उनका सामान निकाल कर बहुत दूरी पर रख दो और उन छप्परों को गिरा दो, और यथाशक्ति घसीट कर आग से दूर ले जाओ। इतने में फावड़े, टोकरियाँ, बाल्टियाँ, घड़े सब चीजें आ पहुँची। एक दल मिट्टी खोदने लगा, दूसरा उसे टोकरियों में भर कर आग पर डालने लगा, तीसरे दल ने कुएँ तक एक लम्बी लाइन लगा दी, जहाँ से घड़ों और बाल्टियों द्वारा पानी आने लगा। आर्तनाद बन्द हो गया। जहाँ अव्यवस्था थी, वहाँ व्यवस्था हो गई और लगभग आध घण्टे-भर में आग सर्वथा शान्त हो गई। यह दृश्य मेरे हृदय पर बहुत गहरा अंकित है। पैदाइशी नेता ही ऐसे समय अव्यवस्था से व्यवस्था पैदा कर सकता है।

सर्वमेधयज्ञ में पूर्णाहुति

अभी हम दोनों भाई स्नातक नहीं बने थे, अगले वर्ष बनने वाले थे। एक दिन

प्रात: काल लगभग ४ बजे हम दोनों को सोते से जगा कर कहा गया कि प्रधान जी ने आप को बुलाया है, बंगले पर चलिये। ऐसे असाधारण समय में बुलाये जाने का कारण हमारी समझ में नहीं आया। पूछने पर सेवक ने उत्तर दिया—"मुझे कुछ मालूम नहीं, हाँ इतनी बात अवश्य है कि आज रात भर वह सोए नहीं। पहले टहलते रहे, फिर कुछ लिखते रहे।"

जब हम दोनों बंगले पर पहुंचे, तो पिता जी को कमरे में टहलते पाया। यह उन की विचार की मुद्रा थी। गंभीर विचार के समय वह पीछे की ओर दोनों हाथ मिला कर टहला करते थे। हमारे पहुँचने पर वे कुर्सी पर बैठ गये और अत्यन्त गम्भीरता से दराज में से फुलस्केप आकार का एक लिखा हुआ कागज निकाल कर हमारे सामने रखते हुये कहा—"इसे पढ़ लो, और यदि तुम इससे सहमत हो तो इस पर हस्ताक्षर कर दो।" उस कागज में जो कुछ लिखा था, उसका अभिप्राय यह था "मैंने अपनी शक्ति के अनुसार अपने जीवन में वैदिक धर्म की सेवा की है। ऋषि दयानन्द की आज्ञा को शिरोधार्य करके वैदिक धर्म के पुनरुद्धार और आर्य-जाति के उत्थान के लिए गुरुकुल का संचालन करता रहा हूँ। मैंने गुरुकुल के लिए अपनी सब शक्ति लगा दी है, परन्तु अब मुझे अनुभव हो रहा है कि मेरा अब तक का प्रयत्न अधूरा था, मैंने अभी गुरुकुल के लिये सब कुछ नहीं दिया। जालन्धर में मेरा जो मकान है, वह पुश्तैनी नहीं है, मैंने अपनी कमाई से बनाया है, उस में अभी तक मेरी ममता विद्यमान है। मैं उसे भी मिटा देना चाहता हूँ। इस कारण मैं इस दानपत्र द्वारा वह मकान गुरुकुल कांगड़ी के लिये आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब को समर्पित करता हूँ।"

जब हम उस रात दानपत्र को पढ़ चुके तो पिताजी ने कहा—"यदि तुम्हें इस में कोई आपत्ति न हो तो वैसा लिख कर दोनों भाई नीचे अपने हस्ताक्षर कर दो, ताकि सभा वाले कोई झगड़ा नहीं मचायें।

उस दानपत्र पर हम दोनों के हस्ताक्षरों का महत्त्व यह था कि इस से कुछ मास पूर्व पिता जी एक वसीयतनामा लिख चुके थे, जिसमें उन्होंने यह लिखा था कि कोठी को बेचकर जो दाम उठे, वे दोनों भाइयों को आधे-आधे बाँट दिये जायें। अनुमान यह था कि कोठी बीस हजार में बिकेगी। वसीयतनामे में हरिश्चन्द्र जी को १०,००० रुपये से प्रेस और पत्र चलाने का आदेश और मुझे विलायत जाकर बैरिस्टरी पास करने का आदेश दिया गया। इस नये दानपत्र से वह वसीयतनामा रद्द होता था।

हम दोनों ने उस अर्पणनामे को पढ़ लिया और चुपचाप उनके नीचे स्वीकृति-सूचक हस्ताक्षर कर दिये। तब पिता जी ने हमसे कहा कि यह तो तुम्हें मालूम ही होगा कि यह कोठी मेरी अंतिम भौतिक सम्पत्ति थी। शेष प्रेस आदि सब वस्तुएँ मैं पहले ही दे चुका हूँ। इस कोठी के देने के पश्चात् तुम्हारे लिए कोई वस्तु नहीं बचेगी। इस पर तुम आपत्ति करना चाहो, तो कर सकते हो। जहाँ तक मुझे याद है, शब्दों द्वारा हम

दोनों भाई पिताजी के कथन का कुछ भी उत्तर नहीं दे सके। केवल इतना ही सूचित किया कि हमें सब मालूम है, हमें कोई आपत्ति नहीं और यह सूचना भी हमने शब्दों से नहीं, सिर के इशारे से ही दी थी। इस के पश्चात् हम दोनों आश्रम की ओर चले गये और फिर बंगले में टहलने लगे।

हम दोनों यह समझ गये थे कि जब तक स्वयं पिता जी दान की घोषणा न करें तब तक दान का संकल्प गोपनीय है। उन दिनों गुरुकुल का उत्सव हो रहा था। उत्सव के निमित्त से हमारे बहुत से सम्बन्धी आये हुये थे। बड़ी बहिन वहीं थी और संभवत: तायी जी भी थीं। हमने दिन भर उनसे भी दानपत्र की कोई बात न की। दोपहर बाद गुरुकुल के लिये अपील के सम्बन्ध में पिता जी का भाषण था। उन दिनों अपील का समय उत्सव में सबसे अधिक महत्त्व रखता था। भीड़ और उत्साह की दृष्टि से, वह अवसर अपूर्व समझा जाता था। उस वर्ष अपील से पूर्व शायद आगरे के ठाकुर नत्थासिंह ने 'मथुरा में एकबत्ती धीमी सी जल रहीं थी' वाला भजन ऐसी सुन्दरता से गाया था कि प्रत्येक पद पर करतल ध्वनि सुनाई दी थी। भजन के बाद पूर्ण सन्नाटे में अपील के लिये खड़े हो कर पिता जी ने निम्नलिखित आशय का एक भाषण आरम्भ किया—(व्याख्यान का यह आशय में स्मृति के भरोसे पर और वह भी बहुत संक्षेप से लिख रहा हूँ)।

"कुछ समय हुआ, गुरुकुल के लिए धन-संग्रह करने के निमित्त मैं दिल्ली गया। वहाँ एक मडली को साथ ले कर मैं शहर के सब से बड़े रईस के घर चन्दा माँगने पहुँचा। उस रईस को जब गुरुकुल की शिक्षा-मंडली के आने का समाचार मिला तो वह घर के अन्दर चला गया और कहला भेजा कि राय साहब टट्टी गये हैं। हम बहुत देर तक वहाँ बैठे रहे, पर राय साहब घर से बाहर न आये। यह बात मुझे बहुत बुरी मालूम हुई, और मैं असन्तुष्ट होकर मंडली को लेकर वहाँ से चला आया। डेरे पर आ कर मैंने अपनी अन्तरात्मा से पूछा कि ऐसा क्यों हुआ। मेरे अन्दर क्या कमी है, जिस के कारण वह धनी आदमी मुझ से बचने की चेष्टा कर रहा था। और इस का भी क्या कारण है कि उसके बाहर न आने को मैंने बुरा माना। मेरी आत्मा ने उत्तर दिया कि इसका कारण यह है कि तूने अभी अपने-आप को सर्वतोभाव से धर्म की सेवा में अर्पण नहीं किया और तेरे मन में बची हुई संपत्ति के कारण अहंकार है। उसी समय मैंने निश्चय किया कि मैं अहंकार की जड़, इस थोड़ी सी संपत्ति को भी गुरुकुल को अर्पण कर दूँगा और तब वस्तुत: धर्म की सेवा के योग्य हो सकूँगा।" इस के पश्चात् पिता जी ने अर्पणनामा पढ़ कर सुना दिया।

जो बात मैंने इन थोड़ी सी पक्तियों में लिखी है, वह वस्तुत: लगभग डेढ़ घण्टे के व्याख्यान में कही गई थी। जो नर-नारी उस दिन की अपील में उपस्थित थे, उन्हें उस समय का दृश्य कभी नहीं भूल सकता। प्रारम्भ से ही श्रोता समझ गये थे कि आज की अपील में कोई असाधारण बात है। पिता जी में भावुकता

का अंश बहुत अधिक था । उनके भाव चेहरे के चित्रपट पर तत्काल प्रतिबिम्बित हो जाते थे, हृदय की प्रत्येक भावना आँख, नाक और होंठों पर स्पष्टता से झलकने लगती थी और स्वर भी तदनुसार ही प्रभावित हो जाता था । जिस समय बादल के समान गरजते हुए स्वर से उन्होंने कहा कि मेरी अंतरात्मा ने उत्तर दिया कि इसका कारण वह अहंकार है, जो थोड़ी-सी बनी हुई सम्पत्ति के कारण उत्पन्न होता है, तो प्रायः सब श्रोता समझ गये कि इसके पश्चात् कोई सनसनी पूर्ण घोषणा होने वाली है, यज्ञ-कुण्ड में कोई बड़ी आहूति पड़ने वाली है । वक्ता के स्वर, अवसर और संभावित घोषणा का श्रोताओं कर कुछ ऐसा असर पड़ा कि उनकी आँखों में आँसू आ गये, जो वक्ता के प्रत्येक वाक्य के साथ बढ़ते गये, आँखों से बहने लगे । प्लेटफार्म पर अजीब दृश्य हो रहा था । आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान लाला रामकृष्ण जी, जो शायद संसार के कुछ एक चुने हुए उन व्यक्तियों में से होंगे, जिन के बारे में भावुक होने का संदेह भी नहीं किया जा सकता था, वे रो रहे थे । प्रकाश के संपादक महाशय कृष्ण जी रूमाल से आखें पोंछ रहे थे । भक्तराज लाला लब्भूराम नैयर आवाज से रो रहे थे । ये तीन नाम मैंने नमूने के तौर पर पेश कर दिये हैं । अपनी प्रकृति के अनुसार प्रायः सभी श्रोता द्रवित हो गये थे । जनता का यह हाल था कि उसे ताली बजाने या भाव व्यक्त करने तक का अवसर नहीं मिला, जब तक पिता जी दानपत्र पढ़कर बैठ गये । व्याख्यान समाप्त होने पर जनता ने दिल खोल कर तालियों और जयकारों के साथ अपना हार्दिक भाव प्रकट किया ।

पिताजी और मोतीलाल नेहरू का प्रथम मिलन

पिता जी के पास पंडित मोतीलाल नेहरू का इस आशय का पत्र आया कि मैं मार्शल लॉ की घटनाओं की तहकीकाती कमेटी में भाग लेने के लिए लाहौर जा रहा हूँ । आप पंजाब में सेवा का कार्य कर के अभी आये हैं । इलाहाबाद से लाहौर जाता हुआ दिल्ली में आपसे मिल कर जाऊँगा । पत्र में अपने दिल्ली पहुँचने की तारीख और पिता जी के निवास-स्थान पर पहुँचने का निश्चित समय भी दिया हुआ था । निश्चित और विधिपूर्वक कार्य करने की यह प्रवृत्ति पूज्य नेहरू जी के चरित्र का एक अंग थी ।

मुझे नेहरू जी के समीप दर्शनों से की बड़ी लालसा थी । उन्हें एक बार पटना की कांग्रेस में दूर से देखा था । तब आप माडरेट (नाम) विचारों के धनी नेता समझे जाते थे । उस समय मैंने नेहरू परिवार को इलाहाबाद से रेल द्वारा पटन जाते हुये देखा था । पहले दर्जे का पूरा डिब्बा रिजर्व कराया गया था । पूरे विलायती वेश में दोनों नेहरू-पिता और पुत्र जब प्लेटफार्म पर पहुँचे, तो स्टेशन पर काफी सनसनी-सी फैल गई थी । नेहरू जी के धन और आनन्द-भवन की ख्याति चारों ओर फैल चुकी थी । यह भी चर्चा पूरे जोर पर थी कि उनके लड़के बिलायत से बैरिस्टर बन कर आये हैं, ये भी हाईकोर्ट में प्रैक्टिस करेंगे । दोनों नेहरुओं के

साथ अन्य भी दो-तीन व्यक्ति थे, जो रूप-रंग और वेशभूषा से नेहरू-परिवार के ही सदस्य माने जा रहे थे। वह नेहरू-परिवार का ठाठ था, जिसे साधारण जनता उत्सुकता से देख रही थी।

उसके पश्चात् यह पहला अवसर था, जब मुझे नेहरू जी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त करने की आशा हुई। मैंने पिता जी से निवेदन किया कि मैं नेहरू जी के आप के स्थान पर आने के समय कुछ देर उपस्थित रहना चाहता हूँ और आपकी बातचीत आरम्भ हो जाने पर चला जाऊँगा। पिता जी ने स्वीकार कर लिया।

यह दृश्य मुझे पूरी तरह याद है। प्रातः काल के दस बजे का समय होगा, जब पण्डित जी पिता जी के निवास स्थान पर पहुँचे। जब वे सीढ़ियों से ऊपर पहुँचे तो उनके रूप की पहली झाँकी दिखाई दी। अभी वे कोट-पैण्ट और हैट के वेश से निकले नहीं थे। शानदार सफेद मूँछे उनके सुन्दर कश्मीरी चेहरे पर खूब सज रहीं थीं। और उनकी शान को बढ़ा रहीं थीं। पिता जी उनका स्वागत करने के लिए कमरे से बाहर आये। उस समय जो परिस्थित उत्पन्न हुई, वह वस्तुतः बहुत ही मनोरंजक थी। इसमें थोड़ा अभिनय का सा रंग भी आ गया था। पिता जी ने बाहर आकर पंडित जी पर नजर पड़ते ही आश्चर्य से कहा—"हैं, तुम हो। पंडित जी ने भी पिता जी की तरफ ध्यान से देखकर कहा—" अरे, तुम हो"। मैं आश्चर्य में आ गया। दोनों ने खूब कस कर हाथ मिलाये। पिता जी ने कहा "मैं अब तक नहीं जानता था कि पंडित मोतीलाल नेहरू तुम ही हो।" पंडित जी ने उत्तर दिया—"मैं भी अब तक नहीं समझता था कि महात्मा मुन्शीराम और स्वामी श्रद्धानन्द तुम ही हो।" इसके पीछे थोड़ी देर के लिए दोनों बुजुर्ग अपनी आयु, ऊँची परिस्थिति और शायद मेरी उपस्थिति को भूल गये और पुराने कालेज के समय में वापिस चले गये। एक ने दूसरे से कहा—"तुम तब भी बहुत नटखट थे।" दूसरे ने उत्तर दिया—"तुम्हारी तब भी यही आदत थी।" किस ने किस से क्या कहा, यह याद नहीं रहा, सारी बातचीत से थोड़ी देर में मेरी समझ में आ गया कि कालेज में पढ़ने के समय दोनों बुजुर्ग इलाहाबाद में सहपाठी थे, दोनों सैलानी तबीयत के थे और किताबों के कीड़े नहीं थे।

इतना परिचय प्राप्त करके और दर्शनों से सन्तुष्ट हो कर मैं चुपके से वहाँ से उठ गया। दोनों में लगभग दो-तीन घण्टे तक बातचीत होती रही।

हृदय की विशालता

यह एक सचाई है कि पिता जी के जीवन काल में मैं सदा उनका अनुयायी रहा। कभी-कभी स्थान की दृष्टि से अधिक दूरी हो जाने पर भी मानसिक दृष्टि से सदा समीपता रही। आर्यसमाज के क्षेत्र में हों या कांग्रेस के क्षेत्र में, मैं उनके दायें या बायें दिखाई देता था।

यदि ऐसा होता कि मैं सदा पिता जी से सहमत ही रहता तो अनुयायी रहने में आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्र में मेरी

और पिता जी की प्रवृत्तियों में कई बहुत बड़े भेद थे। वह स्वभाव से श्रद्धाप्रधान भावुक व्यक्ति थे, मैं स्वभाव से तर्कप्रधान ठंडा प्राणी हूँ। उन्हें किसी परिणाम पर पहुँचने में और उसके अनुसार बड़े से बड़ा कदम उठाने में क्षण-भर की देर नहीं लगती थी। मैं किसी निश्चय पर पहुँचने में बहुत धीमा हूँ और फिर उसके अनुसार लम्बी छलाँग लगाने में और भी अधिक समय लेता हूँ। उनके हर एक विचार में कट्टरता थी, मुझ में उस का अभाव है। इतनी मौलिक भिन्नताएँ होते हुए भी १५ वर्ष के निज और सार्वजनिक जीवन में बाप-बेटे का निरन्तर साथ रह सकना वस्तुतः एक अद्भुत वस्तु थी।

इस अद्भुत वातावरण का कारण जानने के लिए थोड़े से आत्म-विश्लेषण की आवश्यकता है। मैं सदा पिता जी से सहमत रहता था, यह तो मैं किसी दशा में भी नहीं कह सकता। प्रकृति-भेद के कारण शायद अधिकतर बाह्य विषयों पर मैं उन से न्यूनाधिक असहमत ही रहता था, तो भी मैं उनके दायरे से बाहिर न निकला, इसका मैं एक ही कारण समझता हूँ। मैंने असहमत हो कर और बहुत-सा प्रयत्न करके जब कभी उस दायरे की दीवार को लांघने का प्रयत्न किया, तो देखा कि वह दीवार अभी और दूर है, और वह दायरा भी और विशाल है, लाँघने का कोई अवसर ही नहीं आता था। उनकी विशालता से मैं हार जाता था। पिता जी से असहमत हो कर रस्सी तुड़ाने की नौबत नहीं आती थी, क्योंकि वह रस्सी असीम थी। जो व्यक्ति उनके समीप रहे, वे सभी अनुभव करते थे कि उन का हृदय का घेरा बहुत विस्तृत था, वह देश और जाति की सीमाओं से सीमित नहीं था। ऐसे घेरे में से इच्छा रहते भी कैसे निकला जा सकता था।

मैंने जो विश्लेषण यहाँ किया है, उसे निम्नलिखित घटना स्पष्ट कर देगी: १९२६ में कौन्सिलों के नये चुनाव हुये। कांग्रेस ने अपने उम्मीदवार खड़े किये। इधर पं० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने हिन्दू हितों की रक्षा के लिए नैशनलिस्ट पार्टी की योजना की और कई प्रान्तों में, कांग्रेस के विरोध में, अपने उम्मीदावार खड़े किये गये। पिता जी मुख्य रूप से राजनीतिक व्यक्ति नहीं थे, हाँ, राजनीति उन के धर्म का एक भाग अवश्य थी। उनका राजनीति सम्बन्धी धर्म महात्मा गाँधी के समानान्तर था। जब नैशनलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई और मालवीय जी और लाला जी ने हिन्दू हितों के नाम पर स्वामी जी से सहयोग माँगा तो एक विचित्र परिस्थिति पैदा हो गई। कई दिनों तक विचार-संघर्ष जारी रहा। पिता जी कांग्रेस की साम्प्रदायिक नीति से असहमत थे। वह इस परिणाम पर पहुँच चुके थे कि उस समय कांग्रेस हिन्दू हितों को दबा कर मुसलमानों को सन्तुष्ट रखना चाहती है। पिता जी का मन था कि इस नीति से भारत की साम्प्रदायिक समस्या सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझेगी, क्योंकि अन्याय के आधार पर किया गया समझौता कभी स्थायी नहीं होता। दूसरी ओर साम्प्रदायिक संस्था की ओर से राजनीतिक चुनाव लड़ने, और कांग्रेस का विरोध करने से वह सहमत नहीं थे। कई दिनों तक पिता जी के हृदय में समुद्र मन्थन जारी रहा, जिस के एक-एक

उतार-चढ़ाव को देखने का मुझे अवसर मिला। बात यह थी कि १९२६ के चुनाव ने राष्ट्रवादियों के घरों तक में विचारों-संघर्ष उत्पन्न होने वाली फूट के बीज को दिये थे। मैं चुनाव में कांग्रेस का पूरा सोलहों आने समर्थक था, और मेरे कुछ साथी, जो अब तक मेरे साथ सौ फीसदी सहमति रखते थे, नैशनलिस्ट पार्टी के समर्थक बन गये थे। पिता जी को मालवीय जी, लाला जी और वह नौजवान साथी नैशनलिस्ट पार्टी के समर्थन में खड़ा करना चाहते थे। स्वभाव से मैं उनके प्रयत्नों की काट करता रहता था। अन्त में मामला यहाँ तक गंभीर समझा गया कि लाला जी को तार देकर लाहौर से बुलाया गया और मेरी जिद को तोड़ने के लिए लाला जी की उपस्थिति में पिता जी के पास मुझे बुला कर पेश किया गया। लाला जी ने मुझे बहुत कुछ समझाया। मैं उन्हें पिता जी के समान मानता था। मैंने आदरपूर्वक उनकी बात सुनी और विनयपूर्वक अपना निवेदन किया। अन्त में लाला जी ने मुझे से जो कहा उसका अभिप्राय निम्नलिखित था :

"इस समय प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है कि वह चुनाव में नैशनलिस्ट पार्टी के उम्मीदवारों की मदद करे। दिल्ली की ओर से कांग्रेस ने मि० आसफअली को खड़ा किया है। नैशनलिस्ट पार्टी लाला शिवनारायण का समर्थन कर रही है। तुम्हें मालूम होना चाहिये कि स्वामी जी ने लाला शिवनारायण का समर्थन करना स्वीकार कर लिया है, और हमें इजाजत दे दी है कि हम उनके समर्थकों में स्वामी जी का नाम भी दे दें। तुम से मैं उम्मीद करता हूँ कि तुम अब मि० आसफअली का समर्थन छोड़ दोगे। अन्य कोई कारण नहीं, तो लिहाज के कारण ही तुम्हें अब कांग्रेस का समर्थन न करना चाहिये।"

मेरे सामने बहुत बड़ा धर्मसंकट था। लाला जी और स्वामी जी दोनों ही को मैं पूजा के योग्य मानता था। उनमें से एक की बात को टालने की शक्ति भी मुझ में नहीं थी। जब दोनों ही एकमत हों तो मैं क्या करूँ। पर जो लोग किसी सम्मति पर पहुँचने में देर लगाते हैं, वे उसे छोड़ते भी देर में हैं। मैं भी उन्हीं सुस्त आदमियों में रहा हूं। मैंने लाला जी से निवेदन किया—"मेरे लिए आप की आज्ञा उतनी ही बड़ी है, जितनी बड़ी स्वामी जी की आज्ञा, परन्तु ऐसे मन्तव्य सम्बन्धी विषयों में मुझे स्वामी जी ने सदा स्वतन्त्र रखा है। इसी बल पर मैं अपने मन्तव्य के अनुसार चलने का साहस करता रहा हूँ। मुझे आशा है, आप भी मुझे इतना अधिकार देंगे। ताकि मैं अपनी आत्मा के शब्द को अनसुना न करूँ। मेरा मन्तव्य है कि राजनीतिक चुनाव में कांग्रेस का समर्थन करना प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है।"

मैंने देखा कि मेरी बातें सुन कर लाला जी के चेहरे का क्रोध का चिन्ह नहीं दिखाई दिया, प्रत्युत उन्होंने हलके अभिमान मिश्रित संतोष के साथ स्वामी जी की ओर देखा। स्वामी जी ने मुस्करा कर कहा, "हाँ, इन्द्र ठीक कहता है। मैंने इसे विचार और कार्य की पूरी स्वतन्त्रता दे रखी है।" लाला जी और पिता जी दोनों

ही अत्यन्त भावुक थे। लाला जी ने भरे हुए गले से कहा "इन्द्र! जो अधिकार तुम्हें स्वामी जी ने दे रखा है, उसे मैं कैसे छीन सकता हूँ। तुम अपने विचार के अनुसार कार्य करो, परन्तु याद रखो कि इस चुनाव में तुम्हें कामयाबी न होगी। हम दोनों लाला शिवनारायण के समर्थक हैं।" मैंने प्रसन्नतापूर्वक कहा, "वह तो मैं भी समझता हूँ, परन्तु मैं प्रयत्न में कोई कसर नहीं छोड़ूंगा। सफलता ईश्वराधीन है।"

चुनाव खूब जोर से लड़ा गया। परिणाम ने दोनों ओर से आशावाद को व्यर्थ कर दिया। चुनाव में न कांग्रेस के उम्मीदवार सफल हुये और न नैशनलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार। सफल हो गये एक तीसरे व्यक्ति, जिन्होंने हिन्दू-हितों के नाम पर हिन्दू नेताओं को धता बतलाया था।

उस चुनाव के सिलसिले में मैं दिल्ली में भी घूमा और दिल्ली से बाहर गोरखपुर आदि भी गया। प्रायः सभी जगह मुझे स्वतन्त्र डफली बजानी पड़ी। परन्तु किसी स्थान पर भी मैंने यह अनुभव नहीं किया कि मैं पिता जी के विशाल दायरे से बाहर जा सकता हूँ।

वह चुनाव-काण्ड मेरे लिए बहुत दुःखदायी था, क्योंकि उसमें मुझे उनके विरुद्ध कार्य करना पड़ा, जिन्हें मैं पूज्य मानता था, परन्तु साथ ही संतोषप्रद भी हुआ, क्योंकि उसने मुझे पिता जी के हृदय की विशालता को पूरी तरह अनुभव करने का अवसर दिया।

मेरे धर्मबन्धु स्वामी श्रद्धानन्द

—महात्मा गांधी

जिसकी आशंका थी वही हुआ । कोई छः महीने हुये स्वामी श्रद्धानन्द जी सत्याग्रहाश्रम में आकर दो-एक दिन ठहरे थे । बातचीत में उन्होंने मुझसे कहा था कि उनके पास जब-तब ऐसे पत्र आया करते हैं जिनमें उन्हें मार डालने की धमकी दी जाती है । ऐसा कौन-सा सुधारक है, लोग जिसकी जान के गाहक नहीं हुये ? इसलिये उनके लिये ऐसे पत्र पाने में अचम्भे की कोई बात नहीं थी और उनका मारा जाना कोई अनहोनी नहीं है ।

स्वामी जी सुधारक थे । वे कर्मवीर थे, वचनवीर नहीं । जिस बात में उनका विश्वास था, वे उसका पालन करते थे । उन विश्वासों के लिये उन्हें कष्ट झेलने पड़े । वे वीरता के अवतार थे । खतरे के सामने वे कभी काँपे नहीं । वे योद्धा थे और योद्धा रोग-शय्या पर नहीं मरना चाहता । वह तो युद्ध-भूमि में मरना चाहता है ।

कोई एक महीना हुआ, स्वामी श्रद्धानन्द जी बहुत बीमार पड़े । डॉक्टर अन्सारी उनकी चिकित्सा करते थे । जितने प्रेम से सम्भव था, डॉ अन्सारी उनकी सेवा करते थे । इस महीने के शुरू में मेरे पूछने पर उनके पुत्र इन्द्र ने तार दिया था कि स्वामी जी अब अच्छे हैं और प्रेम तथा शुभकामना के आकांक्षी है । मैं तो उनके बिना माँगे ही उन्हें अपना प्रेम देता रहता था और भगवान से उनके लिये प्रार्थना करता रहता था ।

भगवान को उन्हें शहीद की मौत देनी थी । इसलिये रोग शय्या पर रहते हुये ही वे उस हत्यारे के हाथ मारे गये जो इस्लाम पर धार्मिक चर्चा के नाम पर उनसे मिलना चाहता था । उसे स्वामी जी की आज्ञा से अन्दर आने दिया गया । उसने प्यास मिटाने को पानी माँगने के बहाने स्वामी जी के ईमानदार नौकर धर्मसिंह को पानी लेने बाहर भेज दिया, और फिर नौकर के चले जाने पर बिस्तर पर पड़े हुए रोगी की छाती में दो प्राणघातक चोटें की । स्वामी जी के अंतिम शब्दों की हमें खबर नहीं । फिर भी अगर मैं थोड़ा उन्हें भी पहचानता था तो मुझे इसमें बिलकुल संदेह नहीं है कि उन्होंने अपने परमात्मा से उस हत्यारे के लिये, जो यह नहीं जानता कि वह कोई पाप कर रहा है, क्षमायाचना की होगी । इसलिये "गीता" की भाषा में "वह योद्धा धन्य है, जिसे ऐसी मृत्यु प्राप्त होती है ।"

मृत्यु तो हमेशा ही धन्य होती है, मगर उस योद्धा के लिये तो और भी अधिक, जो अपने धर्म यानी सत्य के लिये मरता है । मृत्यु कोई शैतान नहीं है ।

वह तो सबसे बड़ी मित्र है। वह हमें कष्टों से मुक्ति देती है। हमारी इच्छा के विरुद्ध भी हमें छुटकारा देती है। वह हमें बराबर ही नई आशाएं, नये अवसर प्रदान करती है। वह नींद के समान मीठी है, जो हमें फिर ताजा कर देती है। किन्तु तो भी किसी मित्र के मरने पर शोक करने का रिवाज हैं। लेकिन जब कोई शहीद मरता है तो वह रिवाज बेमानी हो जाता है। अतएव इस मृत्यु पर मैं शोक नहीं कर सकता। स्वामी जी और उनके परिवार के लोग ईर्ष्या के पात्र हैं, क्योंकि श्रद्धानन्द जी मर जाने पर भी जी रहे हैं। वह हमारे बीच अपना विशाल शरीर लेकर घूमा करते थे, आज उससे भी अधिक सच्चे अर्थ में वह जी रहे हैं। जिस कुल में उनका जन्म हुआ था, जिस जाति के वह थे, वे सभी उनकी ऐसी महिमामय मृत्यु के लिये बधाई के पात्र हैं। वह वीर पुरुष थे। उन्होंने वीरगति पाई।

स्वामी जी से मेरा पहला परिचय तब हुआ था, जब वे महात्मा मुंशीराम के नाम से प्रसिद्ध थे। वह परिचय भी पत्रों के जरिये हुआ था। उस समय वे कांगड़ी गुरुकुल के प्रधान थे। गुरुकुल शिक्षा के क्षेत्र में उनका महान योगदान है। वे पश्चिम के रूढ़िवादी शिक्षापद्धति से सतुष्ट न थे। अपने छात्रों में वे वैदिक शिक्षा का प्रचार करना चाहते थे और वे हिन्दी माध्यम से पढ़ाते थे, अंग्रेजी माध्यम से नहीं। वे चाहते थे कि अपने शिक्षा-काल में विद्यार्थी ब्रह्मचर्य का पालन करें। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रहियों के लिये उस समय जो धन इकट्ठा किया जा रहा था, उसमे चन्दा देने के लिये उन्होने लड़को को उत्साहित किया था। वे चाहते थे कि लड़के खुद कुली बनकर, मजदूरी करके चन्दा दें, क्योंकि दक्षिण अफ्रीका का वह युद्ध कुलियों का युद्ध ही था। लड़कों ने यह सब पूरा कर दिखाया और स्वयं कमाई हुई पूरी मजदूरी मेरे पास भेजी। इस विषय में मुझे जो पत्र भेजा था, वह हिन्दी में था। उन्होंने मुझे "मेरे प्रिय भाई" कहकर सम्बोधित किया था। इस बात ने मुझे महात्मा मुंशीराम का प्रेमी बना दिया। इससे पहले हम दोनों कभी मिले नहीं थे।

एन्ड्रूज हम लोगों के सूत्र थे। उनकी इच्छा थी कि जब कभी मैं देश लौटूं, उनके तीनों मित्रों – कवि ठाकुर, आचार्य रुद्र और महात्मा मुंशीराम से परिचय प्राप्त करूँ।

वह पत्र पाने के बाद हम दोनों एक ही सेवा के सैनिक बन गये। १९१५ में हम दोनों उनके प्रिय गुरुकुल में मिले और उसके बाद से हर मुलाकात में हम दोनों परस्पर निकट आते गये और एक-दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझने लगे। प्राचीन भारतीय संस्कृति और हिन्दी के प्रति उनका प्रेम असीम था। बेशक, असहयोग के पैदा होने के बहुत पहले से ही वे असहयोगी थे। स्वराज्य के लिये वे अधीर थे। अस्पृश्यता से वे नफरत करते थे और अस्पृश्यों की स्थिति ऊँची करना चाहते थे। अस्पृश्यों की स्वाधीनता पर कोई बंधन उन्हें सह्य नहीं था।

जब रौलेट अधिनियम के विरुद्ध आन्दोलन शुरू हुआ तो उस आन्दोलन का स्वागत करने वालों में वे सबसे पहले थे । उन्होंने मुझे बहुत ही प्रेम से भरा एक पत्र भेजा । किन्तु वीरमगाम और अमृतसर-काण्ड के बाद सत्याग्रह का स्थगित किया जाना वे समझ सके । उस समय से हमारे बीच मतभेद शुरू हुये, किन्तु उनसे हमारे भाई-भाई के सम्बन्ध में कभी कोई अन्तर नहीं पड़ा । उस मतभेद से मुझ पर उनका बालसुलभ स्वभाव प्रकट हुआ । परिणाम का विचार किये बिना ही वे जो सत्य समझते थे, वह कह देते थे । वे अति साहसिक थे । समय के साथ-साथ मेरे सामने हम दोनों के स्वभाव का अन्तर स्पष्ट होता गया, किन्तु उससे तो उनकी आत्मा की शुद्धता ही सिद्ध हुई । जैसा सोचना, वैसा ही कहना कोई दोष नहीं है । यह तो एक गुण है । यह तो सत्यप्रियता का सर्वप्रधान लक्षण है । स्वामी जी मन की बात स्पष्ट कहते थे ।

बारडोली में किये गये निश्चय से उनका दिल टूट गया । मेरी तरफ से वे निराश हो गये । उनका प्रकट विरोध बहुत जबर्दस्त था । मेरे नाम उनके निजि पत्रों में और भी जोरदार विरोध होता था । किन्तु जितना जोरदार उनका विरोध होता था उतना ही जोरदार उनका प्रेम भी होता था । अपने प्रेम का विश्वास केवल पत्रों में ही दिला देने से वे संतुष्ट न थे । मौका मिलने पर उन्होंने मुझे ढूंढ निकाला और मुझे अपनी स्थिति समझाई और मेरी स्थिति समझने की भी कोशिश की । मगर मुझे मालूम होता है कि मुझे ढूंढ निकालने का असली कारण यह था कि वे विश्वास दिला सके कि एक छोटे भाई के समान मुझ पर उनकी प्रीति जैसी की तैसी बनी हुई है—गोया यह विश्वास दिलाने की कोई जरूरत न थी ?

आर्यसमाज और उसके संस्थापक के सम्बन्ध में मेरे कथनों से और स्वयं उनके बारे में मेरी उक्तियों से उन्हें बहुत गहरी ठेस लगी, परन्तु हमारी मित्रता में इस धक्के को सह लेने की शक्ति थी । वे समझ नहीं पाते थे कि महर्षि के विषय में मेरी सामान्य धारणा और अपने व्यक्तिगत शत्रुओं के प्रति ऋषि की असीम क्षमा का एक साथ मेल कैसे बैठ सकता है । महर्षि में उनकी इतनी अधिक श्रद्धा थी कि उन पर या उनकी शिक्षाओं पर कोई भी टीका वे सहन नहीं कर सकते थे ।

एक महान् सुधारक के जीवन के संस्मरणों को मैं सत्याग्रहाश्रम में उनके कुछ ही महीने पहले के आखिरी आगमन की बात की चर्चा किये बिना खत्म नहीं कर सकता । मुसलमान मित्रों को मैं विश्वास दिलाता हूँ कि वे मुसलमानों के दुश्मन नहीं थे । वे बेशक कुछ मुसलमानों का विश्वास नहीं करते थे । किन्तु उन लोगों से उनको द्वेष नहीं था । उनका ख्याल था कि हिन्दू दबा लिये गये हैं और उन्हें बहादुर बनकर अपनी और अपनी इज्जत की रक्षा करने योग्य बनना चाहिये । इस बारे में उन्होंने मुझसे कहा था कि मेरे विषय में बड़ी गलतफहमी फैली हुई है । मेरे विरुद्ध कही जाने वाली कई बातों में मैं बिलकुल निर्दोष हूँ । मेरे पास धमकी के कितने ही पत्र आया करते हैं । मित्रगण उन्हें अकेले चलने से

मना करते थे। मगर यह परम आस्तिक पुरुष उनको यह जबाब दिया करता था "ईश्वर की रक्षा के सिवा मैं और किसकी रक्षा का भरोसा करूँ? उसकी आज्ञा के बिना एक तिनका भी नहीं हिलता। मैं जानता हूं कि जब तक इस देह के द्वारा वह मुझसे सेवा लेना चाहता है, मेरा बाल भी बाँका नहीं हो सकता।"

आश्रम में रहते समय उन्होंने आश्रम की पाठशाला के लड़के-लड़कियों से बातें की थीं। उनका कहना था कि हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी रक्षा आत्म-शुद्धि से ही, भीतर से ही होगी। चरित्र और शरीर के गठन के लिये वे ब्रह्मचर्य पर बहुत जोर देते थे।

वह भव्यमूर्ति

—पं० विष्णुमित्र

मुझे सन् या सम्वत् याद नहीं, जबकि मैं जालन्धर वैदिक पाठशाला में पहुँचा था। यह पाठशाला स्वामी श्रद्धानन्द जी के निरीक्षण में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से चल रही थी और इसका मुख्य उद्देश्य उपदेशक तैयार करना था। उस समय स्वामी श्रद्धानन्द जी महात्मा मुंशीराम जी के नाम से काफी प्रसिद्ध हो चुके थे। सायंकाल के समय मैंने एक भव्यमूर्ति को पाठशाला की ओर आते देखा। मैंने विद्यार्थियों से पूछा 'आप कौन हैं? उत्तर मिला कि आप महात्मा मुंशीराम जी हैं और इस पाठशाला के निरीक्षक हैं। मुझे देख कर महात्मा जी ने पूछा 'कहाँ से आये हो?' मैंने कहा 'राहों से।' फिर पूछा 'क्या पढ़े हो?' मैंने कहा 'सारस्वत और चंद्रिका।' इस समय पंजाब में ये ही व्याकरण-पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं, अष्टाध्यायी व सिद्धान्त कौमुदी नहीं। इस पाठशाला में श्री पं० गंगादत्त जी (शुद्धबोध तीर्थ जी) पढ़ाया करते थे।

उस समय सभा के पास पं० लेखराम जी, पं० दौलतराम जी और पं० पूर्णानन्द जी ये ही तीन उपदेशक थे। इसीलिये महात्मा जी को प्रायः समाजों के जलसों व कार्यक्रमों में जाना पड़ता था। महात्मा जी उस समय वकालत करते थे। उनकी कोठी हमारी पाठाशाला के सामने थी। पाठशाला और कोठी के बीच में आर्यसमाज मन्दिर था। रविवार को जब हम सब विद्यार्थी समाज में जाते, तब तीन व्यक्तियों के दर्शन होते थे: श्री महात्मा जी, श्री लाला देवराज जी तथा मन्त्री तेलूराम जी। भजन गाने वाले भी ये ही तीनों व्यक्ति होते। इनके कारण समाज में अच्छी रौनक हो जाती थी। समाज के वार्षिकोत्सव पर तो प्रातःकाल ही एक बड़ी भारी भजन-मण्डली बना कर शहर की गली-गली, कूचे-कूचे में नगर कीर्तन करते।

मैं स्वामी जी के निकट उस समय आया जब वे ऋग्वेद पर सायणाचार्य की भूमिका का हिन्दी में अनुवाद किया करते थे। अनुवाद करने के लिये पं० ब्रजभूषण जी आया करते थे। किसी कारणवश वे कई दिन तक नहीं आये, तब स्वामी जी ने मुझे बुला कर पूछा कि क्या तुम इस भूमिका का अनुवाद कर सकोगे। मैंने कहा 'हां।' अपनी योग्यता के अनुसार तीन-चार दिन मैं अनुवाद करता रहा। इसके बाद जब कभी पं० ब्रजभूषण जी नहीं आते थे तब महात्मा जी इस कार्य के लिये मुझे ही बुला लिया करते थे। एक दिन वे पं० लेखराम जी के साथ वादविवाद करते हुये पहुँचे। वादविवाद का विषय था कि क्या फूलों के गमलों पर सजावट के लिये 'ओं' लिखना चाहिये या नहीं? महात्मा जी का पक्ष था कि लिखने से कोई

हानि नहीं है। पण्डित लेखराम जी का मत था कि नहीं लिखना चाहिये। उन्होंने इस पक्ष की पुष्टि में कई युक्तियाँ देकर महात्मा जी को मनवा लिया कि गमलों पर 'ओं' नहीं लिखना चाहिये। इन दिनों महात्मा जी आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान थे, अतः प्रचार का प्रबन्ध उनके अधीन था। महात्मा जी ने जेब से दो पत्र निकाल कर पंडित जी से कहा कि "पंडित जी एक स्थान पर शास्त्रार्थ है और एक जगह वार्षिकोत्सव है। कहिये आप कहाँ जाना चाहते हैं?" पंडित जी ने कहा 'शास्त्रार्थ में।' महात्मा जी ने कहा 'अच्छा हो कि आप वार्षिकोत्सव में जायें।' पंडित जी ने कहा—"शास्त्रार्थ का विषय है कि मुसलमानों की शुद्धि की जाये या नहीं। अतः मैं वहीं जाऊँगा।' इस पर भी जब महात्मा जी ने उत्सव में जाने के लिये जोर दिया तो पंडित जी पहले से लिखा हुआ त्यागपत्र देकर चल पड़े। महात्मा जी ने बुला कर बड़ी नम्रता से कहा कि 'पंडित जी, आप जहाँ जाना चाहते हैं वहीं जायें।' ऐसा कह कर त्यागपत्र फाड़ दिया।

बाबू रलाराम जी के आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रधान हो जाने पर हमारी पाठशाला जालन्धर से गुजरांवाला चली गई, क्योंकि बाबू जी उस समय गुजरांवाला में रहते थे। कुछ अर्से के बाद महात्मा जी की प्रार्थना पर सभा ने गुरुकुल खोलने की आज्ञा दे दी। चूंकि सभा प्रधान गुजरांवाला के थे, अतः वहीं शहर से बाहर एक बंगला किराये पर लेकर वर्तमान विशाल गुरुकुल वहाँ खोल दिया गया। महात्मा जी ने सबसे पहले अपने दोनों बालकों को प्रविष्ट किया। प्रधान प्रतिनिधि सभा बाबू रलाराम एक विरोधी पार्टी के थे। शायद इसीलिये या किसी अन्य कारण से महात्मा जी ने कुछ समय बाद अपने दोनों बालकों को गुरुकुल से निकाल लिया। महात्मा जी को मालूम न था कि मैं गुरुकुल में कार्य कर रहा हूँ। अतः जब मैंने उन्हें लिखा कि "आपने गुरुकुल खोला और सर्वप्रथम अपने बालकों को प्रविष्ट किया। प्रविष्ट कर फिर निकाल लेने का दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ेगा?" तब उन्होंने लिखा "मुझे मालूम न था कि आजकल आप गुरुकुल में कार्य कर रहे हैं। भूल हुई, दो-चार दिन तक दोनों बालक आपके पास पहुँच जायेंगे।"

समयान्तर में गुरुकुल के लिये गंगा के पार कांगड़ी ग्राम में पर्याप्त भूमि मिल जाने पर और वहाँ कुछ छप्पर आदि तैयार हो जाने पर महात्मा जी अकस्मात् सायंकाल ब्रह्मचारियों को लेने के लिये गुरुकुल आ पहुँचे। इस समय का वह दृश्य मेरी आँखों के सामने है, वे कितने प्रसन्न थे? रात्रि के नौ बजे ब्रह्मचारियों के सो जाने पर मेरे सामने उस कांगड़ी की गुरुकुल-भूमि का चित्र खींचा। गंगा, हिमालय और पर्वतों का जो वर्णन किया उसे मैं वर्णित नहीं कर सकता। ग्यारह बज गये हैं, मैंने कहा, प्रातः की गाड़ी से जाना होगा, अतः अब आप आराम करें। तब उन्होंने विस्तृत कार्यक्रम मेरे सामने रखा। शोक वह कार्यक्रम पूरा न हो सका। इसमें बाधा डालने वाले चूंकि अपने ही आदमी थे, इसलिये यह कार्यक्रम क्या था और उसमें बाधायें कैसे आई आदि के विस्तार में जाना न तो उपयोगी है और न ही उसकी कोई आवश्यकता है।

दिव्य पुरुष स्वामी श्रद्धानन्द

—आचार्य नरदेव शास्त्री

स्वामी श्रद्धानन्द जी को मैंने पास से भी देखा था और दूर से भी। सन् १८९४ के नवम्बर मास में वच्छोवाली (लाहौर) समाज के नगर-कीर्तन में मैंने उनको प्रथम बार दूर से ही देखा था। वैसे वच्छोवाली समाज के साप्ताहिक सत्संगों में उनके व्याख्यान सुनने को मिलते ही थे। आर्य विद्यार्थी आश्रम में भी वे कभी अकेले, कभी पण्डित लेखराम जी के साथ आया करते थे। पर यह सब मिलना दूर का ही था। एक बार लाहौर में सनातन धर्म सभा के पण्डित गोपीनाथ कश्मीरी के साथ इनका शास्त्रार्थ हुआ था। उस समय जालन्धर में वैदिक आश्रम के मुख्याध्यापक श्री पं० गंगादत्त जी शास्त्री थे और गुरुकुल जब कांगड़ी में खुला था तब ये महात्मा मुंशीराम जी के दक्षिण भुजा स्वरूप थे। इस लाहौर के शास्त्रार्थ में श्री पूर्णानन्द जी प्रमाण निकाल-निकाल कर महात्मा मुंशीराम जी को देते थे। इधर से उधर पुस्तक ले जाने का काम मेरा था।

जब पहिले-पहिले गुरुकुल खुला और वह कांगड़ी ग्राम में स्थापित हुआ तभी गुरुकुल की प्रारम्भिक दशा में श्री पं० गंगादत्त शास्त्री जी के कारण स्वामी जी के अधिक सम्पर्क में आया, मुझे सिकन्दराबाद से बार-बार कागड़ी आना पड़ता था। उस समय मैं गुरुकुल सिकन्दराबाद में सर्वे-सर्वा था।

लाहौर में जब मैं विद्यार्थी आश्रम में बोर्डर था तब महात्मा मुंशीराम मेरे संरक्षक थे। जब मैं अंग्रेजी छोड़कर जालन्धर के वैदिक आश्रम (आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा स्थापित) में आया, तब ये हमारे आश्रम में अधिष्ठाता थे। जब मैं सन् १९०६–१९०७ में गुरुकुल कांगड़ी में गुरुकुल की १२ वीं, ९ वीं और ७ वीं श्रेणी में पढ़ाता था, तब ये हमारे मुख्याधिष्ठाता रहे। जब हमने आचार्य पं० गंगादत्त जी शास्त्री के साथ गुरुकुल छोड़ा और महाविद्यालय ज्वालापुर में बैठे, तब हम लोग परस्पर विरोधी रूप में हो गये। जब महात्मा जी अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष बने तब हम भी कांग्रेस के डेलीगेट के रूप में पहुँचे थे। इस प्रकार हमारा महात्मा जी से विभिन्न रूप में सम्बन्ध और सम्पर्क रहा और आज इतने अनुभव के पश्चात् हम स्पष्ट अधिकृत लेखनी से लिख सकते हैं कि महात्मा मुंशीराम जी के पश्चात् उन जैसा नेता आर्यसमाज में हुआ ही नहीं।

महात्मा मुंशीराम जी में दो बड़े गुण थे। एक यह कि वे समय की गति को खूब समझते थे। जब कभी किसी कार्य क्षेत्र में कूदने का समय आता था, ठीक समय पर कूद पड़ते थे। दूसरा बड़ा गुण था कि अपने भक्तों का पूरा-पूरा साथ देते थे, ऐसा करने में उनको कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े। तीसरा गुण यह था कि

उद्देश्य की पूर्ति के लिये मुक्तहस्त से व्यय कर डालते थे, कृपण नहीं थे। ऐसे अनेक अवसर आये जब कि उन्होंने अपने भक्तों का पूरा-पूरा साथ दिया और बहुत बदनाम भी हुये। एक बार तो उनको "दुःखी दिल की पुरदर्द दास्तां" जैसी एक बड़ी पुस्तक आत्मरक्षा के लिये लिखनी पड़ी। इनके प्रतिस्पर्धियों में बड़े-बड़े नेता थे, पर वे इनको इसलिये परास्त न कर सके कि घर छोड़ कर त्यागपूर्वक कारने की हिम्मत उनमें न थी।

स्वामी श्रद्धानन्द स्वभाव से सरल व्यक्ति थे किन्तु परिस्थितियों ने उनको योद्धा बना दिया था। जो उनके विरोध में गया, वह उनके आगे टिक न सका। स्वामी श्रद्धानन्द समझौता नाम की वस्तु जानते ही नहीं थे, इसीलिये उनके सम्पर्क में आने वाले सहयोगी, सहकारी अथवा अनुयायियों की कभी-कभी विचित्र दशा हो जाती थी। वे जिसको एक बार अपना कह देते थे उसकी निन्दा सह कर भी पूरा-पूरा साथ देते थे। जिसको स्वोद्देश्यपूर्ति में बाधक समझते थे, वह कितना ही प्रिय हो उसको छोड़ देते थे। उनके स्वभाव का चित्रण करना कठिन कार्य है। उनमें अनेक ऐसे विरोधी गुण थे जो पर्याय से उभरते रहते थे और अपना काम कर जाते थे। आर्यसमाज में वे धार्मिक वृत्ति के पुरुष माने गये। अन्य क्षेत्रों में अवसरवादी कहलाये गये और जब वे राजनीति के क्षेत्र में कूदे तो लोगों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा।

स्वामी जी जब किसी को किसी कार्य के लिये भेजते थे तब यदि वह व्यक्ति काम बना लाता था तो फिर उस कार्य में अनुमान से कुछ अधिक खर्च भी हो जाता था तो उसकी कभी परवाह नहीं करते थे। एक बार मायापुर की गुरुकुल-वाटिका खरीदने के लिये कनखल के स्व० श्री लाला कृष्णचन्द्र जी को भेजा था। वह नौ सहस्र रुपये में मिलने की आशा थी, किन्तु ग्यारह-बारह सहस्र रुपये लग गये। कृष्णचन्द्र जी ने इस विश्वास पर कि महात्मा जी मान ही जायेंगे, फैसला कर दिया। जब महात्मा जी ने सुना तो मुस्करा कर बोले—"ठीक किया। बड़े काम की जगह है। किसी अन्य के हाथ में जाती तो गुरुकुल को हानि होती।"

हमारे पिता जी राय साहेब श्री श्रीनिवासराव स्वामी जी को उच्चकोटि का राजनैतिक पुरुष समझते रहे। एक बार उन्होंने मुझे लिखा था कि तुम्हें महात्मा मुंशीराम जैसे नीति निपुण नेता के पास रहना चाहिये, इसलिये मेरी राय में तुम गुरुकुल में उन्हीं के पास रहो, उन्हीं के नीचे काम करते रहो, तुम्हें बड़ा लाभ होगा इत्यादि। महात्मा मुंशीराम भी चाहते थे कि मैं गुरुकुल कांगड़ी में ही आजीवन काम करता रहूँ, पर यह तो न हो सका, विधाता का विधान दूसरा ही था।

मैं जब वहाँ (कांगड़ी में) था, पटियाला में पटियाला स्टेट ने स्व० राय ज्वालाप्रसाद आदि १०–१२ व्यक्तियों के विरुद्ध अंग्रेजों के विरुद्ध षडयन्त्र करने का अभियोग चलाया था। आर्यसमाज के लिये यह नया संकट था। महात्मा मुंशीराम छुट्टी लेकर गये, वहाँ वकालत की और सबको छुड़ा लाये। सिविल और मिलिटरी गजट के उन दिनों में छपे हुये मुंशीराम जी के वे अंग्रेजी लेख बड़े मार्के के थे।

उन लेखों ने बड़ा तहलका मचा दिया था। महात्मा मुंशीराम जब तक छुट्टी पर थे जालंधर के लाला रामकृष्ण वकील स्थानापन्न मुख्याधिष्ठाता रहे।

मुंशीराम जी मुझको प्रायः विशेष पत्र-व्यवहार के विषय में कार्यालय में बुला लिया करते थे। अंग्रेजी में विज्ञ होने के कारण भी और हिन्दी के मेरे अक्षर उनको अच्छे लगते थे, इसलिए भी।

महात्मा मुंशीराम अथवा स्वामी श्रद्धानन्द जी को मैंने अति समीप से देखा, उनके नीचे काम करके देखा, अति दूर से देखा, साथ रह कर देखा, विरोध में रह कर देखा और मुझे यह लिखते कोई संकोच नहीं है कि महात्मा मुंशीराम अथवा स्वामी श्रद्धानन्द अपने जैसे आप ही थे। जैसे बड़े थे, वैसा ही बड़ा काम कर गये। अंत में अपने नाम अथवा गुणों के अनुरूप ही "बड़ी मृत्यु" को प्राप्त कर अमर हो गये। आर्यसमाज स्वामी श्रद्धानन्द के बिना आज निस्तेज सा जंचता है।

कांगड़ी के वे स्मरणीय दिन

जब गुरुकुल का प्रारंभिक रूप था तब गुजरानवाला में वैदिक आश्रम में इन्द्रचन्द्र, हरिश्चन्द्र, लव, कुश, जयचन्द्र, चन्द्रमणि, गुरुदत्त आदि आठ-दस ही लड़के थे, मैं ही इनका प्रथम संरक्षक था। जब महात्मा मुंशीराम गुजरानवाला से कांगड़ी चले, तब उनके साथ तैंतीस ब्रह्मचारी थे। पं० गंगादत्त शास्त्री पहले ही हरिश्चन्द्र जी को लेकर कनखल में भारामल के दरवाजे के ऊपर रहने लगे थे। मैं भी कुछ काल वहीं रहा। पं० काशीराम जी वजीरावादी कांगड़ी में ब्रह्मचारियों के लिए फूस की कुटिया बनाने में व्यस्त थे। यह बात सन् १९०० जून की है।

गुरुकुल की प्रारम्भिक दशा में मैंने भी ३–४ मास पढ़ाया था। यद्यपि मेरा नाम उस समय के रजिस्टर में नहीं मिलेगा तथापि गुरुवर पं० गंगादत्त शास्त्री जी के कारण मुझे यह काम करना पड़ा। इसके कुछ समय बाद मुझे पुनः गुरुकुल आने का सुअवसर मिला। मेरे दोबारा गुरुकुल आने की कथा बड़ी रोचक है। मैं सन् १९०४ से कलकत्ते में ही स्व० श्री आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी, फैलो एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल तथा यूनिवर्सिटी लैक्चरार ऑफ वेदाज की सेवा में था। १९०६ के प्रारम्भ में पं० गंगादत्त शास्त्री जी का तार गया कि "शीघ्र आओ, आवश्यक कार्य है।" मैं कांगड़ी आया, पूछा कि क्यों बुलाया है, तब शास्त्री जी ने कहा कि अब यहीं रह जाओ, निरुक्तादि पढ़ाया करो। मैंने मना कर दिया और कहा कि अभी मुझे कलकत्ते में ही रहना चाहिए। ६–७ दिन तक यही परस्पर विचार होता रहा, इतने में जालंधर का साप्ताहिक सद्धर्म प्रचारक का नया अंक आ गया। उसमें क्या देखता हूं कि यह छपा है कि नरदेव शास्त्री कलकत्ते से आ गये हैं और निरुक्त पढ़ाने लग गये हैं। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नही रहा। मैं मुंशीराम जी के पास गया और पूछा कि यह समाचार कैसे छपा, मैंने तो यहाँ गुरुकुल में रहने की स्वीकृति नहीं दी थी। उत्तर मिला—"तुम्हारे गुरु जी ने ही कहा था, तब मैंने छाप दिया।" तब क्या हो सकता था। गुरु जी ने गला घोट ही

दिया, मुझे रहना ही पड़ा। १९०५ से १९०८ तक मैं वहाँ रहा और बड़ी श्रेणियों को निरुक्त, नवाह्निक महाभाष्य तथा किसी को अनुवाद आदि पढ़ाता रहा।

प्रधान जी (मुंशीराम जी) प्रातः ३ बजे उठते थे और साढ़े तीन बजे तक स्नान संध्या से निपट कर आश्रम में एक बार घूम जाते थे। आश्रम की सब व्यवस्था श्री पं० गंगादत्त जी शास्त्री के अधीन थी। इसप्रकार दोनों की निरीक्षकता में बहुत अच्छा प्रबन्ध रहता था। पं० गंगादत्त जी शास्त्री को व्यायाम का एक प्रकार से व्यसन ही था, इसलिए प्रातः स्नान-ध्यान के पश्चात् किन्तु हवन से पूर्व स्वयं व्यायाम करते और लड़कों को भी व्यायाम कराते। हवन में कभी-कभी प्रधान जी (म० मुंशीराम जी) १०-१०, १५-१५ मिनिट के धर्मोपदेश देने आया करते थे। वे न आये तो पं० गंगादत्त शास्त्री जी ही उपदेश देते थे।

पठन-पाठन के समय एकाध बार पं० गंगादत्त जी शास्त्री कमरों में बाहर ही बाहर होकर निकल जाते थे। मास्टर रामदेव जी कमरों के भीतर आकर व्यवस्था देख जाते थे। तीसरी बारी प्रधान जी की रहती थी। इसलिए कई बार निरीक्षण रहता था। स्नान करते समय संरक्षकगण ब्रह्मचारियों के साथ रहते थे, भोजन के समय भी अध्यापकों को बारी-बारी से लड़कों का संरक्षक भी बनना पड़ता था।"

क्रीड़ा के समय मेरा ही प्रबन्ध रहता था। किसका मैच रहेगा, कौन सी श्रेणी कहां खेलेगी, छोटे कहाँ खेलेंगे, बड़े कहां इत्यादि सब प्रबन्ध मेरे अधीन रहता था। फुटबाल, कबड्डी, क्रिकेट, वृक्षारोहण, दौड़ आदि चलते ही थे। वृक्षारोहण के समय प्रधान जी स्वयं उपस्थित रहते थे। पं० गंगादत्त जी वृक्षारोहण के विरुद्ध थे। कभी-कभी छुट्टियों में पास की पहाड़ियों और जंगलों में सबके सब निकल जाते थे। पीलु फल के दिनों में ब्रह्मचारीगण टोलियाँ बांधकर निकल जाते थे।

भोजन का प्रबन्ध उत्तम रहता था। प्रातःकाल दूध के साथ कभी-कुछ, कभी-कुछ नित्य नियम से मिलता था। दुपहर की छुट्टियों में भी दूध मिलता था। फिर दर्शकों द्वारा मिठाई तथा फलों, किशमिश, बादाम, आदि की रेलपेल रहती ही थी। आठवें दिन खीर, पूरी, हलवा चलता ही था।"

वाग्वर्धिनी सभा में प्रति सप्ताह नियत विषय पर भाषण, कभी वादविवाद, कभी निबन्ध-वाचन चलता था। एक सप्ताह संस्कृत में तो दूसरे सप्ताह हिन्दी में। हिन्दी, संस्कृत में सबसे अच्छा बोलने वाले ब्र० हरिश्चन्द्र तथा ब्र० ब्रह्मदत्त थे। ब्र० बुद्धदेव जी चुलबुले विद्यार्थी थे। मधुर कंठ होने के कारण श्लोक बोलने में उत्तम माने जाते थे।

गुरुकुल में एक अंग्रेजी क्लब भी था, जिसके प्रधान श्री रामदेव जी थे और अन्य अध्यापक लोग समय-समय पर भिन्न-भिन्न विषय में बोला करते थे। कभी-कभी बाहर वाले भी बोला करते थे।

गुरुकुलों के उन वर्षों के उत्सव भी आदर्श उत्सव रहते थे, क्या मजाल किसी

की कोई वस्तु गुम हो जाये। पहली-पहली श्रद्धाएं, पहला-पहला गुरुकुल, पहले-पहले उत्सव, सतयुग की सी छटा थी।

उस समय चहुं ओर घना जंगल ही जंगल था। हिंस्र पशुओं का साम्राज्य था। बिच्छुओं और सर्पों की भी बहुतायत थी। बिच्छू का विष गंगा जी के अतिशीत जल में हाथ रखने से कम हो जाता था, पर स्थान सूज जाता था। कई बार मैंने सांप और बिच्छू द्वारा सांप को कटवाया, सांप भी बिच्छू के डंक से घबराता था।

प्राय: गुरुकुल की खबरें सद्धर्म प्रचारक में छपती थीं। फिर सत्यवादी में छपने लगीं। सत्यवादी के संपादकों में श्री रुद्रदत्त जी संपादकाचार्य भी कुछ काल के लिए आ गये थे। पं० पद्मसिंह शर्मा भी रहे ही। म० मुंशीराम का प्रकाशन-विभाग इतना जबरदस्त था कि भारतवर्ष भर के समस्त हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी पत्रों में बराबर खबरें छपती रहती थीं। रामदेव जब से आये तब से तो प्रकाशन की एक ही धूम थी। कभी-कभी इस कार्य में मेरी भी पकड़ हो जाती थी।

वे कुल-पिता थे

—श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार

दिसम्बर महीने की बात है। मेरे स्नातक होने से सिर्फ दो-ढ़ाई मास बाकी थे। शाम के समय गुरुकुल वाटिका के सामने के क्रीड़ा-क्षेत्र में हम लोग हॉकी खेल रहे थे। खेल में अच्छी तेजी आई हुई थी। कभी गोल का पासा इधर भारी हो रहा था और कभी उधर। इतने में निचली सड़क की ओर से शोरगुल की आवाज आयी। सब उधर एकदम भागे। पता लगा कि गुरुकुल का चौकीदार बहुत दिनों की ढूंढ़-तलाश के बाद एक भारी भरकम शरीर वाले जंगली सूअर को मार लाया है। इसने एक-दो आदमी को कुछ दिन पूर्व जख्मी कर दिया था। उस अन्धाधुन्द भागने में मेरे दाहिने पांव में शीशा लग गया। उस समय तो उसका तनिक भी बोध नहीं हुआ, खुशी-खुशी हंसते चले आए। आश्रम पहुँचने पर ध्यान आया, अरे! यह खून ही खून कैसा? देखा तो सारे रास्ते में खून की दाग-बेल पड़ी है। अरे! यह तो पांव बुरी तरह चिरा पड़ा है। तब असह्य दर्द भी अनुभव होने लगा। तुरन्त चिकित्सालय पहुँचा।

कम्पौंडर डॉक्टर जी के पास भागा गया। चिकित्सा में प्रभु से वरदान पाये हुए स्नेहमूर्ति डॉ० सुखदेव जी और कुलपिता महात्मा मुंशीराम जी झट वहाँ आ पहुँचे। डॉक्टर जी ने मुझे देखा और कहा कि कई टांके लगेंगे। आनन-फानन में शल्य-कर्म का सब सामान तैयार होकर आ गया। कुलपिता ने मेरा सिर अपनी गोदी में लिया और डॉक्टर जी ने चार टांके लगा दिए। कुलपिता ने अनुभव किया कि मैंने दर्द को उनकी गोदी में सिर होने के कारण पी लिया है, क्योंकि इस दिसम्बर की सर्दी में भी माथे पर पसीने की बूंदें चमक रही हैं। तुरन्त तीन पाव गर्म दूध का गिलास मेरे मुंह में लगा दिया और मैं पी गया। बहुत चैन पड़ी।

कुलपिता के गंगा-तटवर्ती बंगले के पास पंचकुटी बनी हुई थी। उसी में मेरी श्रेणी के पांचों सहपाठी रहते थे। मेरी कुटिया बंगले की ओर पहले नम्बर की थी। यद्यपि कर्मचारी अनेक खड़े थे, परन्तु कुलपिता ने और डॉक्टर जी ने एक-दूसरे की बांह में बांह डाल कर कुर्सी बनाई और मुझे उठा कर मेरी कुटिया में ले गये और तखत पर लेटा दिया। बड़े आराम से रात को नींद आई।

प्रातःकाल ठीक चार बजे मेरी नींद खुल गई। उठ कर बैठा कि क्या देखता हूँ कि कुलपिता मेरे सामने आ खड़े हुए हैं। सिर नवा कर प्रणाम किया। उन्होंने पूछा—'शौच जाना है?' मैंने उत्तर दिया—'हाँ जी जाना तो है'। झट मुझे गोदी में उठा लिया और बंगले के शौचालय में जा बैठाया। निवृत्त हो जाने पर फिर उसी तरह गोदी में लिया और कुटिया में तखत पर ला बैठाया। [illegible] बीत गए, कुलपिता

की वह प्यारी गोदी मुझे बार-बार स्मरण आ कर अन्तस्तल में हिलोरे मारती है। कुलपिता के स्नेह का वह अगम्य स्रोत साढ़े बाईस वर्ष की उम्र के युवक को भी गोदी में लेकर उसके दु ख-दर्द को मिटाते हैं।

× × ×

महात्मा मुंशीराम जी अब स्वामी श्रद्धानन्द हैं। मैं भी अब विद्यार्थी नहीं, उपाध्याय हूँ। विश्वव्यापी प्रथम महायुद्ध के बाद पहली दीपावली का दिन है। रात्रि को जगमगाती दीप-ज्योतियों के बीच में दयानन्द-निर्वाण-पर्व की सभा जुटी हुई है। सभापति हमारे कुलपिता हैं। उन्होंने सभा में उपस्थित सब उपाध्यायों को देखा, परन्तु मैं नहीं दीख पड़ा। पूछा क्या बात है, चन्द्रमणि क्यों नहीं आया? किसी उपाध्याय ने बताया कि "उनकी साली भीषण युद्ध-ज्वर से पीड़ित हो गई है। अभी-अभी इसकी बड़ी बहन मौत के मुंह से निकली थी और अभी दो दिन पूर्व ही निरसन-वास (सेग्रीगेशन कैम्प) से घर आए थे कि फिर पकड़े गए।"

सभा के समाप्त होते ही लगभग साढ़े नौ बजे रात को कुलपिता मेरे पास घर पहुंचे। सब हालत देखी। लड़की को युद्धज्वर ने कस कर दबोच रखा था। पूछा—"रात की क्या व्यवस्था है, क्या उपाध्यायों ने कोई ड्यूटियां लगायी हैं?" मैंने कहा—"अभी तो शायद कुछ नहीं हुआ, मैं ही सारी रात जागूंगा। ' कुलपिता ने कहा—' नहीं, तुम आराम से सोवो, तुम बहुत थके हुए हो, कुलवती को तो पूरा आराम मिलना ही चाहिये। सब बोझ तुम्हारे ऊपर है। रात भर आराम कर लो। मैं बीमार की चौकसी करूंगा।" मैंने बहुत अनुनय विनय की, पर कुलपिता नहीं माने। मुझे जबरदस्ती लेटा दिया और आदेश दिया कि बस सो जावो।

स्वामी जी जागते रहें और मैं सोता रहूँ, यह कहाँ होना था। मैं लेट तो गया, पर नींद एक मिनट के लिए भी नहीं आई। कुलपिता से यह कहने की हिम्मत न थी कि मुझे नींद नहीं आ रही। बस, रात भर ऐसे लेटा रहा कि कुलपिता ने समझा कि मैं सो रहा हूँ। रात भर मैंने देखा कि लड़की ने १०–१० मिनट बाद कुलपिता को खूब नाच नचाया, उन्हें बैठने नहीं दिया। कभी पानी पीना है, कभी दर्द होती है, कभी कुछ और कभी कुछ। वे लगभग सारी रात खड़ी टांग ही रहे। उधर मैं देख रहा था कि कब ४ बजे और कब जाग जाने का रूप बना कर मैं कुलपिता से कहूँ कि अब मैं आ गया। घड़ी ने टन-टन चार बजाए और मैं उठा, कुलपिता को प्रणाम किया। उन्होंने पूछा—नींद तो अच्छी तरह आ गयी न, चलो तुम्हें कुछ आराम तो मिला। इस लड़की का विशेष ध्यान रखना ज्यादा बीमार है। मैं अब जाता हूं, उपाध्याय आते ही रहेंगे।"

सचमुच ये कुलपिता कुल-पिता थे, सत्य-युग के महापुरुष थे। उनके पदचिन्हों पर चलने से ही गुरुकुल गुरुकुल बनेगा। ●

उदारचेता स्वामी श्रद्धानन्द

—आचार्य अभयदेव विद्यालंकार

सच्चे अर्थ में नेता

ग्रामीण प्रदेश के जिस चरथावल (चिरस्थावर) नामक कस्बे (पुरी) में मैं आजकल रहता हूँ, उसकी गलियाँ भी स्वामी श्रद्धानन्द जी की चरण रज से पवित्र हो चुकी हैं, यह वहुत कम लोगों को ज्ञात होगा।

१९२२ की वात है, तब वहाँ मेरे स्वराज्य आन्दोलन में एक-दो साल कार्य करते हुये राजनैतिक सम्मेलन का भी आयोजन किया गया था। सम्मेलन के लिए राजनैतिक नेताओं को जुटाना भी एक समस्या होती है। पूज्य मालवीय जी से जब मैं मिला तो उन्होंने स्पष्ट कहा "तुम मुझे गाँव में ले जाओगे।" तो उनसे एक सन्देश लेकर ही सन्तोष मानना पड़ा। जालन्धर की श्रीमती लज्जावती जी को अध्यक्ष के तौर पर मना लिया गया। उन दिनों हमारा जिला (मुजफ्फरनगर) कांग्रेस प्रान्त की दृष्टि से देहली प्रान्त में माना जाता था। सो मैं देहली गया, अपने स्वामी श्रद्धानन्द जी ने तो गाँव में जाना मान ही लिया, साथ ही देहली के अन्य नेता डॉक्टर अंसारी जी को भी साथ लाने का जिम्मा स्वयं ले लिया। मैंने पूछा "आप को लाने के लिये उस तारीख को किसी व्यक्ति का प्रबन्ध कर दूं।" कहा—"नहीं।" स्वामी जी नियत दिन नियत समय पर चरथावल ग्राम पहुँच गये, पर पता लगा कि कुछ अस्वस्थ होने से डाक्टर अंसारी साहिब नहीं आ सके।

१९२२ का स्मरण कीजिये, तब तक गांधी जी ने भी गाँवों का आन्दोलन प्रारम्भ नहीं किया था। कांग्रेस के नेता प्रायः शहरों में ही भ्रमण, भाषण किया करते थे। लम्बे-चौड़े भव्य शरीर पर काषाय वस्त्र धारण किये स्वामी जी चरथावल में हमारे घर से सम्मेलन के पंडाल तक (जो कि एक शिवालय में बनाया गया था) प्रतिदिन आते-जाते देखे जाते थे।

सम्मेलन के अपने अन्तिम भाषण में उन्होंने "कुम्हारी को अपने बनाये बरतन अच्छे लगते हैं" इस कहावत का उपयोग करते हुए मेरी भी चर्चा की थी, पर उस चर्चा का एक रहस्य मुझे तब पता चला जब कि मैं सम्मेलन के उपरान्त फिर उनके दर्शनार्थ देहली गया। मुझे देखते ही स्वामी जी ने प्रश्न किया "क्या तुम्हारा विवाह होने को है?" मैंने आश्चर्य से पूछा--"क्यों"? तब उन्होंने मुझे बताया कि चरथावल में मुझसे कइओं ने तुम्हारे विवाह की ऐसी प्रबल चर्चा की कि मुझे लगा कि तुम पर विवाह करने को बहुत दबाव पड़ रहा होगा। तब मेरे यह कहने पर कि मेरा तो कोई ऐसा विचार नहीं है, उन्होंने सन्तोष प्रकट किया।

मतभेद होने पर भी मेल न खोने वाले

१९२२ की ही बात है। गुरुकुल कांगड़ी के तत्कालीन मुख्याधिष्ठाता श्री पं० विश्वम्भरनाथ जी के कई पत्र मुझे चरथावल मिले थे, जिनमें मुझे गुरुकुल में वेद का प्रोफेसर बनने के लिये आमन्त्रित किया गया था। यह मेरे लिये आश्चर्य की बात थी, क्योंकि मैं तब तक पं० विश्वम्भरनाथ जी से जरा भी परिचित नहीं था। उन्होंने इसके लिये मेरे मित्र तथा अपने निजी सहायक एवं सहायक मुख्याधिष्ठाता श्री पं० महानन्द जी विद्यालंकार को मेरे पास चरथावल भी भेजा। तब भी मैंने उसे स्वीकार नहीं किया। मैं उस राजनैतिक अवसाद के अवसर पर अपना स्वराज्य सेवा का कार्य छोड़ना कभी भी उचित नहीं समझ सकता था। पर पं० विश्वम्भरनाथ जी ने इसके लिये स्वामी श्रद्धानन्द जी को भी कहा और स्वामी जी ने देहली में बड़े आग्रह से मुझे कहा कि "तुम्हें गुरुकुल में वेद पढ़ाने के लिये अवश्य चले जाना चाहिये, वहाँ बहुत आवश्यकता है इत्यादि।" स्वभावत: मैंने तब तक भी इन्कार ही किया। अन्त में स्वामी जी बोले, "क्या तुम मेरा कहना नहीं मानोगे?" तब क्या था? मैं नतमस्तक हो गया।

पर तब मुझे स्वामी जी की एक आन्तरिक महत्ता का दर्शन हो गया। मैं जानता था कि स्वामी जी उस समय के गुरुकुल के अधिकारियों से संतुष्ट नहीं थे। मैंने स्वयं उन्हें पं० विश्वम्भरनाथ जी की आलोचना करते सुना था, पर तो भी मैं देख रहा था कि वे पं० विश्वम्भरनाथ जी की इच्छा व सहायता के लिये मुझे गुरुकुल भेजने को इतने व्यग्र हैं। मैंने देखा कि वे ऐसे मतभेदों के होने पर भी मौलिक मेल को छोड़ने वाले नहीं हैं। उनका हृदय इतना क्षुद्र या संकुचित नहीं था कि मतभेद होने के कारण वे विशाल हित को न देख सकें। इस घटना से उनकी इस आन्तरिक महत्ता के प्रति मेरी आँख खुल गई।

स्वामी जी की आज्ञा शिरोधार्य कर मैं कुछ महीनों बाद ही गुरुकुल तो चला गया, परन्तु चरथावल के अपने कार्य को न छोड़ने की भावना के लिये मैंने यह किया कि गुरुकुल से २५ रुपये मासिक के स्थान पर ८५ रुपये मैंने केवल इसीलिये लिया कि मैं ६० रुपये प्रति मास चरथावल में प्रारम्भ किये अपने राष्ट्रीय-विद्यालय को भेज सकूँ और लगभग दो वर्ष तक ६० रुपये अधिक लेता रहा और चरथावल भेजता रहा।

शिष्य-वत्सल गुरु

१९१७-१८ की बात होगी, मैं गुरुकुल के महाविद्यालय विभाग में १२वीं या १३वीं श्रेणी में था। छुट्टियों में घर पर आया हुआ था तथा अपने चाचा जी के पास रुड़की में था। मैंने प्रधान जी को (तब तक महात्मा मुंशीराम जी स्वामी श्रद्धानन्द जी नहीं बने थे और वे गुरुकुल के आचार्य थे, पर सब लोग उन्हें "प्रधान जी" नाम से ही पुकारते थे) पत्र लिख कर अपने लिये घर से जेबी घड़ी ले आने

की अनुमति माँगी । उन्होंने अनुमनि दे दी, पर कार्ड पर अन्त में एक वाक्य उन्होंने ऐसा लिखा जो कि कुतूहल-जनक था । उनके पत्र से यह समाचार भी पता चला था कि वे शिमला आर्यसमाज के उत्सव पर शिमले जा रहे हैं । मैंने निष्काम भाव से एक पत्र लिख डाला जिसमें यदि उनकी अनुमति हो तो अपने व्यय पर मैं भी उन के साथ शिमला चलूँ, ऐसी इच्छा प्रकट की । मुझे आशा नहीं के बराबर थी कि स्वीकृति आ जायेगी । पर इसकी भी स्वीकृति आ गई और मैं रुड़की स्टेशन से रेल में उन के साथ हो लिया । इतने बड़े आदमी की समीप आने का यह मेरा पहला अवसर था ।

गाड़ी चलते ही उन्होंने पूछा कि तुम गरम कपड़ा भी लाये हो, शिमले में शीत होता है । "नहीं जी" मैंने कहा । 'अच्छा तो, वहाँ सबसे पहला काम तुम्हारे लिये गरम कपड़े का प्रबन्ध करना होगा ।" शाम को रेल में इन्टर क्लास में प्रधान जी ने सब सायं कृत्य, संध्योपासना आदि किये, बल्कि भोजन के उपरान्त रेल में ही घूमना भी किया, क्योंकि डिब्बा खाली था । प्रातः शिमले पहुँचे तो बहुत लोग उनके स्वागतार्थ स्टेशन पर आये हुये थे । लब्भूराम जी नैय्यड़ ने एक वायसराय का पत्र उन्हें स्टेशन पर ही दिया । जहाँ तक याद है, किन्हीं मोहनलाल जी वकील के घर प्रधान जी उतरे थे । ठिकाने पहुँच कर उन्होंने अपना ट्रंक खोला और एक ऊनी बनियान निकाली । वह मुझे दी । एक मोमबत्ती भी निकाली । मैंने बिजली की बत्ती जीवन में पहली बार तभी शिमले में देखी थी । गुरुकुल पहुँच कर मैंने अपने साथी ब्रह्मचारियों को शौक से सुनाया था कि वहाँ यूँ बटन नीचे दबाने से प्रकाश हो जाता था और ऊपर करने से प्रकाश समाप्त हो जाता था । प्रधान जी ने मोमबत्ती बाहर करते हुये कहा था कि यह विदेशी सभ्यता (अर्थात् बिजली का प्रकाश) धोखा दे जाती हैं । इसके लिये यह है । कई दिन शिमले उनके साथ रहना हुआ । उनका अपने एक विद्यार्थी के प्रति खाना-पीना, घूमना-सोना आदि छोटी-छोटी बातों में इतना ध्यान तथा सावधानी देखकर आश्चर्य होता था । बड़े आदमी के पास होने से जो एक आतंक सा होने की सम्भावना थी उसके स्थान पर वात्सल्य का भाव बरस रहा था । लौटते हुये जब मैं रुड़की स्टेशन पर उतर कर जुदा हुआ तो सचमुच एक वियोग की सी या सूनेपन की अनुभूति हुई ।

हाँ, वह कौतूहल की बात जिस के जानने के लिये ही मैं उनके साथ शिमले जाने को प्रेरित हुआ था, मैंने जाते समय ही रेलवे में अवसर पाकर पूछ ली थी और मुझे यह पता लग गया था कि उन्होंने संन्यास लेने का और गुरुकुल भी छोड़ देने का निश्चय कर लिया है ।

उदारता की प्रतिमूर्ति

शुद्धि-संगठन के दिनों की बात है । एक बार मैं रात्रि के ६ बजे देहली में स्वामी जी के निवास-स्थान पर पहुँचा तो देखा कि उन्होंने अपने रहने के स्थान पर

दीपावली जला रखी है। जरा एक काम से शहर में गया तो वहाँ एक और बड़ा मकान दीवाली के दीपकों से जगमगाता हुआ दीखा। पूछने पर पता चला कि यह मस्जिद थी। इस दिन (तारीख याद नहीं) टर्की के कमालपाशा का एक विजय का दिन मनाया जा रहा था और सारे देहली शहर में या तो मस्जिदों में दीवाली मनाई गई थी या स्वामी श्रद्धानन्द जो के मकान पर। एक प्रतिष्ठित साथी ने हँसी उड़ाते हुये स्वामी जी से पूछा भी कि "स्वामी जी आपने यह क्या कर रखा है?" स्वामी जी ने जवाब में गम्भीरता से यह आशय प्रकट किया—"हमें मुसलमानों से या उनके धर्म से जरा भी द्वेष नहीं होना चाहिये। पाशा की विजय न्याय की विजय है, अतः यह हमारी भी विजय है।" इस प्रकार हम पाते हैं कि स्वामी जी के जीवन-भर में यह रहा है कि वे मौका पड़ते ही दिखला देते थे कि विरोध रखते हुये भी उनके विशाल हृदय में किसी के भी प्रति दुश्मनी का क्षुद्र भाव नहीं ठहर सकता था।

स्वामी जी की उदारता का सजीव चित्रण करने वाली एक अन्य घटना भी स्मरण आ रही है। स्वामी जी ने संन्यासी होने के बाद जो आर्य जाति पर उदार आशय के लेख लिखे थे, जो फिर आर्य-नेताओं से अपने मतभेद भी उन्होंने लिख डाले थे और जो सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्ध के खण्डनात्मक समुल्लासों के विषय में उनकी सम्मति थी, उन सब के कारण बहुत से कट्टर आर्यसमाजी उनसे बिगड़ गये थे और उन्हें आर्यसमाज से बाहर का समझने लगे थे। गांधी जी ने भी उस समय आर्यसमाज पर टीका टिप्पणी की थी, तब गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक पं० सत्यकेतु जी ने गाँधी जी के समर्थन में एक लेख लिख दिया था। इस लेख को पढ़ कर जहाँ बहुत से आर्यसमाजी भाई इतने बिगडे थे कि कइयों ने पं० सत्यकेतु जी का स्नातक-प्रमाण-पत्र छीन लेने तक के लिये पत्र लिखे तथा 'आर्यमित्र' आदि पत्रों ने उन पर बड़े कठोर आक्षेप किये, वहाँ स्वामी श्रद्धानन्द जी ने पं० सत्यकेतु जी के उस लेख पर अपनी यह सम्मति दी थी—"सत्यकेतु ने जो कुछ लिखा है उसे मैं अपनी दी हुई उदार शिक्षा ही का परिणाम समझता हूँ।" यहाँ जरा पाठक यह भी सोच लें कि गाँधी जी ने अपने उस लेख में यदि किसी को बुरा-भला कहा था तो वह केवल स्वामी श्रद्धानन्द जी ही थे, पर स्वामी जी गाँधी जी के लेख के पक्षपोषक स्नातक को अपनी शिक्षा का सुफल देने वाला स्नातक कह कर उसके समर्थन में लेख दे रहे थे। ऊपर जो मैंने पं० सत्यकेतु जी के लेख के विषय में स्वामी जी की सम्मति उद्धृत की है वह उनके अपने एक पत्र से ली है। ●

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज : कुछ संस्मरण

—डॉ० ब्रह्मानन्द दीक्षित विद्यालंकार

गुरुकुल कांगड़ी के कुलपिता, विश्वजित् यज्ञ के रचयिता परम सन्त, स्मितपूर्वाभिलाषी, विश्वासमूर्ति, स्नेह और दया के विग्रह, वैदिक सभ्यता एवं आर्य संस्कृति के दृढ़ पक्षपाती, चरित्रवान्, महान् कर्मयोगी, 'इदं ब्राह्मं-इदं क्षात्रं शास्त्रादपि-शरादपि' के प्रबल समर्थक श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन की कुछ आपबीती घटनाओं का दिग्दर्शन कराने का यत्न कर रहा हूँ।

मेरे गुरुकुल–जीवन का सम्बन्ध तो श्री महात्मा मुंशीराम जी के चरणों में ही आरम्भ हुआ और उन्हीं के चरणों में पूर्ण हुआ, इसीलिये अधिकांश घटनायें उन्हीं के काल की हैं

(१)

१९०५ में अध्ययन का दिन था। ग्रीष्म ऋतु थी। हम सब नित्य कर्मों से निवृत्त होकर पर्वतों पर प्याल खाने के लिये चले गये। आगे-आगे श्री महात्मा जी थे। हाथ में नोकदार दण्ड था। हम सब भी दण्डधारी थे। जहाँ गुरुकुल मार्ग सरकारी मार्ग में मिलता था, वहाँ ९० अंश का कोण था। वहाँ मोड़ पर मुड़ते ही हमें एक विशालकाय सिंह बैठा दीखा। वह लगभग १० पग की दूरी पर था। महात्मा जी रुक गये। उन्होंने धीर गम्भीर स्वर से कहा कि "अरे भाई सिंह! यह समय तो तुम्हारे यहाँ बैठने का नहीं है। भाई यहाँ से हटो, हमें जाने का मार्ग दो।" शायद दो–चार सैकण्ड ही बीते होंगे कि सिंह उठा, अंगड़ाई ली और चुपचाप दायें हाथ की ओर घनी झाड़ियों में चला गया। हम सबको बांये हाथ को जाना था। हमारे महात्मा जी वहाँ खड़े हो गये। जब हम सब आगे निकल चुके तब वे सबसे पीछे-पीछे चले। १० मिनट बाद जब कि हम ४ फलांग चल चुके थे तो सिंह मन्द ध्वनि से दो–तीन बार गर्जा फिर बिलकुल शांत हो गया।

(२)

१९०५ के बाद ही गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को कनखल के निकटवर्ती ग्रामों (जगदीशपुर आदि) के निवासी रस पिलाने के लिये प्रायः आमन्त्रित किया करते थे।

रस पीने के लिये जाते समय गंगा को पार करना होता था। बहुत छोटे ब्रह्मचारी तो पुल पर से होते हुये उन-उन ग्रामों में पहुँचा करते थे, किन्तु समर्थ ब्रह्मचारी गंगा को स्वयं तैर कर पार किया करते थे। श्री महात्मा जी तब तक गंगा के तट पर ही जाकर खड़े हो जाया करते थे। जब सब ब्रह्मचारी पार निकल चुकते तब वे गंगा में प्रवेश करते और पार पहुँच कर हम सब से आगे होकर हमारा

नेतृत्व करते। एक बार मैंने महात्मा जी से कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि कोई बालक कहीं इस हिम से भी शीतल जल में गिर न पड़े, इसके लिये मैं भगवान् से प्रार्थना करता हुआ खड़ा रहता हूँ।

यह भी उनके हृदय की श्रद्धा, जिसने कि उनको इतना महान् बनाया। इसीलिये एक बार गुरुकुल जन्मदिवस पर मैंने अपने भाषण में कहा था :

छात्राणां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता, पितरोऽस्मांक केवलं जन्महेतवः॥

यह रघुवंश के प्रथम सर्ग के श्लोक का परिवर्तित रूप है। दूसरा श्लोक जो मैंने कहा था वह तो रघुवंश के चतुर्थ सर्ग का है :

अहमेव यतो महीपतेरितिसर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्।
उदधेरिव निम्नगा शतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित्॥

अर्थात् हम सब में से प्रत्येक यही समझा करता था कि महात्मा जी का सबसे अधिक स्नेह मुझ पर ही है।

वे वास्तव में माता के समान स्नेहपूर्ण और पिता के समान हितैषी और आचार्य के समान सदाचाररक्षक थे।

(३)

मैं स्वभाव से ही सेवापरायण तथा भावुक रहा हूँ। सब सामान्य अतिथियों का सत्कार और सेवा का कार्य सदा मुझे ही सौंपा जाता था। मैं चतुर्दश श्रेणी में था। गुरुकुल तब गंगा के पार पावन वन में था। तभी सहारनपुर में जौंयट मजिस्ट्रेट श्री होबर्ट गुरुकुल में आये। उनके साथ कुछ अन्य जन भी थे। महात्मा जी के बंगले में उनको पहुँचाया गया। महात्मा जी ने उनका खड़े होकर स्वागत किया। फौरन मुझे बुलाकर उनके आतिथ्य के लिये आदेश दिया।

आतिथ्य क्रिया के बाद जब मैं महात्मा जी के पास श्री होबर्ट महोदय के साथ पहुँचा तो उन्होंने अति विनीतभाव से और उनकी पत्नी ने अतिशील तथा लज्जा सहित निवेदन किया कि ९ वर्ष से हम विवाहित हैं, किन्तु अब तक भी सन्तानहीन हैं। हम आपका आशीर्वाद लेने आये हैं। महात्मा जी २ मिनट के लिये आँखें बन्द करके "सुप्त मीन इव ह्रदः" के समान समाधिस्थ से हो गए। फिर आँखें खोल अति प्रसन्न मुख से बोले 'भगवान आपकी इच्छा पूरी करें'।

इन वचनों को सुन कर दम्पति उठ खड़े हुये। दोनों ने सादर झुक कर महात्मा जी को प्रणाम किया और चल दिये। मुझे आदेश दिया गया कि मैं गुरुकुल भूमि तक उन्हें पहुँचा आऊँ। गुरुकुल की सीमा पर गुरुकुल का झंडा लहराया ही करता था। सीमा पर सब मंडली रुक गई। मैंने यथोचित सत्कार और आदर सहित उनको विदा किया। श्री होबर्ट ने मुझ से कहा कि अब तो स्नातक होकर जा रहे हो किन्तु जब भी गुरुकुल के उत्सव पर आओ तो रुड़की मे मुझसे अवश्य मिल जाया करो।

मैं उनसे विदा हुआ। २ वर्ष तक मैं उत्सव के बाद उनसे अवश्य मिलने जाता रहा। इतने में १९१७ का वर्ष आया। उसी वर्ष महात्मा जी ने संन्यास ग्रहण करना था। मैं पहले से ही आ गया था। लगभग १९०८ से प्रति वर्ष उत्सव पर पंडाल सजाने का पूर्ण भार मुझे ही सौंपा जाता था।

उत्सव समाप्त हुआ सब मायापुर-वाटिका पहुँचे। श्री महात्मा मुंशीराम जी संन्यास ग्रहण करके स्वामी श्रद्धानन्द जी बने।

जिस समय संन्यास ग्रहण का संस्कार हो रहा था उस समय श्री होबर्ट मायापुर-वाटिका के सामने ही सड़क पर घोड़े पर बैठे हुये सब दृश्य देख रहे थे। तब मेरी निगाह उन पर पड़ी और उनकी भी मुझ पर। उन्होंने मुझे बुलाया। मैं नमस्ते करता हुआ उनके पास पहुँचा। वे घोड़े से कूद पड़े और मुझे स्नेहपूर्वक आलिंगन करते हुए बोले कि कहिये स्नातक जी प्रसन्न तो हैं? मैंने कहा कि धन्यवाद, भगवान की दया तथा आपकी शुभकामनाओं से मैं सर्वथा प्रसन्न हूं। तब मैंने पूछा कि आपके चिरंजीव पुत्र कहाँ हैं। उन्होंने उत्तर दिया कि अभी मेरी पत्नी पुत्र सहित २ बजे यहाँ आ जायेगी। तब तक महात्मा जी का संन्यास-संस्कार भी पूर्ण हो जायेगा। आज प्रथम बार श्री स्वामी जी के चरणों में मैं इस बालक को रख कर आशीर्वाद लूंगा। तब प्रकरणवश मैंने पुत्र की उत्पत्ति के विषय में उनसे पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि "महात्मा जी के आशीर्वाद के ठीक १ वर्ष बाद उसी मास की उसी तारीख को आशीर्वाद प्राप्ति के समय ही इस पुत्र का जन्म हुआ था।" संन्यास-ग्रहण के बाद सबसे प्रथम श्री स्वामी जी के चरणों में प्रणाम करने वाले लुधियाना के लब्भूराम जी आर्य थे और द्वितीय सुपुत्र श्री होबर्ट थे। फिर मैं तथा अन्य सब जन थे।

(४)

सन् १९११ में गुरुकुल की भूमि पर ही फौजी गोरखों की फुटबाल खेलने वाली मंडली आई। मैं कैप्टन था। श्री स्नातक पं० प्रियव्रत जी विद्यालंकार (कुरुक्षेत्र), श्री जगत्प्रिय जी विद्यालंकार, श्री धर्मपाल जी विद्यालंकार (दक्षिण हैदराबाद वाले) और मैं गुरुकुल की मंडली में उत्तम खिलाड़ी थे। हमारी टीम बड़ी बलवान् थी, तथापि सैनिक गोरखे अति उद्दंड थे। हमने उन पर दो गोल कर दिये थे। इस पर गोरखे भयंकर उद्दण्डतापूर्वक हम पर प्रहार करने लगे। हम पर ३ गोल उन्होंने कर दिये। श्री महात्मा जी को समाचार भेजा गया। मध्य विश्राम का समय था। विश्राम-काल समाप्त होते ही श्री महात्मा जी आ पहुँचे। फिर खेल प्रारम्भ हुआ। हममें से प्रत्येक में दस गुणा उत्साह, साहस और कौशल का प्रवेश प्रत्यक्ष रूप से होने लगा। ३० मिनट में हमने सैनिकों पर ३ गोल और कर दिये। खेल समाप्त हुआ। गोरखों का साहस और उद्दण्डता तथा कौशल हमारे सम्मुख निष्फल हो गया। फिर हमने गोरखों का आतिथ्य किया। भोजन के समय इन वाक्यों से उनका अभिनन्दन किया।

"वयमेभिः सह प्रीति क्रीडया नन्दामः, नन्दामः, नन्दामः ।"

यह था श्री महात्मा जी का प्रेरक बल ।

(५)

गुरुकुल की स्थापना हुई । झोपड़ियाँ ही केवल बन पाईं थीं । सब ब्रह्मचारी भूमि पर ही ग्रीष्म ऋतु में अनावृत्त स्थल पर रात्रि में सोया करते थे । वर्षा ऋतु के आगमन से पूर्व ही मकान बन गये थे और तीन मास बाद पर्याप्त सुरक्षा हो गई थी । रात्रि में प्रति दिन सिंह आया करते थे । श्री महात्मा जी तथा हमारे अध्यापक श्री भगतराम जी रात्रि के समय सिरों पर लाल शीशे वाली लालटैनें बांध कर तथा कन्धों पर बन्दूक रख कर निरन्तर तीव्र गति से पहरा दिया करते थे । एक रात्रि को २ सिंह आ गये । उनकी गर्जना से हम भी जाग गए । किन्तु सिंहों ने आक्रमण न किया ।

हम सब अपने माता-पिताओं से प्रथम बार अलग होकर वहाँ वन में गए थे । किन्तु—

"बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं ।
पाये मातु पिता वन माहीं ।।"

(६)

सन् १९२२ में आगरा के निकट के ग्रामों में अर्ध हिन्दू ठाकुरों की शुद्धि का आन्दोलन श्री स्वामी जी की आज्ञा से प्रारम्भ हुआ । आगरा में शुद्धि सभा की स्थापना श्री बाबू शालिग्राम जी वकील के घर पर हुई । श्री स्वामी जी दिल्ली से पधारे । मैं अपने पूज्य आचार्य जी की सेवा के लिये प्रातःकाल ४ बजे से ७ बजे तक ३ घण्टे उनके साथ पास ही रहता था । दूसरे दिन सभा का अधिवेशन तो हो गया और सांधन ग्राम में शुद्धि के लिये जाना था । मुझे श्री स्वामी जी ने आदेश दिया कि कल प्रातः काल मैं उनके साथ ही चलूँ । अछनेरा के रेलवे स्टेशन पर हम सब उतरे और इक्का किराये पर सांधन के लिये किया । इक्के वाला मुसलमान था और कट्टर मुल्ला भी था । वह बहुत तेजी से घोड़े को हांक रहा था । कच्चा मार्ग था । ऊँचा-नीचा भी बहुत था । कई बार इक्का उलटने से बचा । बहुत मना करने पर भी वह न माना, मैंने उसको पीट दिया । श्री स्वामी जी ने न मारने के लिये आदेश दिया । मैं फिर इक्के पर सवार हो गया । अब वह घोड़े को तो धीरे से हांक रहा था, किन्तु जान-जान कर एक पहिये को ऊँची जगह पर चढ़ा देता था, ताकि उलट जाये और श्री स्वामी जी के हाथ-पैर टूट जायें । एक बार इक्का उलटने को ही था कि मैं फौरन कूद पड़ा और ३ मील तक इक्के को हाथों से सहारा देता हुआ ही सांधन पहुंचा ।

लौटने के समय भी उसी इक्के में आना था । अतः अब पूरे साढ़े चार मील तक मैं इक्के को पकड़ कर सहारा देता हुआ अछनेरा तक आया । ट्रेन तैयार खड़ी थी । तिकट लाकर श्री स्वामी जी को ट्रेन में बैठा कर चरणों में सिर रख कर प्रणाम किया । श्री स्वामी जी ने उस समय यह गीता का श्लोक बोला—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।

ट्रेन चलने लगी और चलती ट्रेन से उतर कर २५, ३० कदम ट्रेन के साथ भाग कर दर्शन करता हुआ लौट आया ।

श्री स्वामी जी के महान् संस्मरण तो प्रिय भाई श्रीयुत धर्मपाल जी विद्यालंकार ही सुना सकेंगे । वे परम भाग्यशाली हैं कि उनको श्री स्वामी जी का पर्याप्त समय मिला और श्री स्वामी जी के निर्वाण का दृश्य उनके हृदय-पटल पर यावज्जीवन अंकित रहेगा । मैं तो उनका आभारी हूं ही, किन्तु दूर-दूर के कैंसर रोगी तो यहाँ आकर स्वास्थ्य लाभ करके जाते समय उनको सैंकड़ों दुआयें देते हुये जाते हैं, क्योंकि वे मेरा पता उनको उत्तर में तत्काल भेजते रहे हैं ।

(७)

सन् १९१३ में भयंकर बाढ़ आई और गुरुकुल को प्रलय की विभीषिका दिखाकर लौट गई । इसके कारण प्रत्यक्ष थे । तब गुरुकुल में श्री महात्मा जी हम सबको लेकर गुरुकुल की भूमि को गंगातट से ऊँचा करने के प्रयत्न में १४ घण्टों से बिना विश्राम के लगे हुये थे । रात को डेढ़ बजे मानवी शक्ति बेकार होते देखकर वे अपने बंगले पर गंगा तट पर बैठकर ध्यानमग्न हो गये । एक घण्टे बाद कनखल का वह बांध जिससे टकरा कर सीधी भयंकर गंगा की धारा गुरुकुल से टकराती थी टूटा और जल का प्रवाह दूसरी ओर को हो गया । गुरुकुल की रक्षा हो गई । किन्तु दूसरी बार ५ वर्ष बाद की बाढ़ में जब श्री स्वामी जी गुरुकुल भूमि में न थे, गुरुकुल का महाविनाश हो गया ।

राष्ट्रीय शिक्षा के पौधघर में

—पं० जयचन्द्र विद्यालंकार

पुनर्जागरण की धारा की सींच से भारत की भाषाओं—मराठी, बंगला, हिन्दी में १८६४-६५ से नई वैज्ञानिक कृतियों की पहली फसल पकने लगी थी। जीवन के और पहलुओं में भी जागरण के प्रभाव प्रकट होने लगे थे। उससे उत्साह पाकर सन् १६०० में दयानन्द के विश्वस्त पंजाबी शिष्य मुंशीराम ने राष्ट्रीय शिक्षा का परीक्षण करना तय किया और उसके लिये अपनी समूची सम्पत्ति आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब को दान कर दी। उनकी उस निष्ठा और त्याग के कारण ही लोगों ने उन्हें महात्मा की पदवी दी। गुजराँवाले में स्थापित होकर १६०२ में उनका गुरुकुल हरद्वार के सामने नीचे गंगा के उस पार कांगड़ी गाँव के पास जंगल में आ गया।

गुरुकुल की स्थापना होने के साथ ही पिता जी ने मुझे वहाँ भेजना तय कर लिया था। अप्रैल १६०६ में मेरे सवा सात बरस का हो जाने पर पिता-माता मुझे छोड़ आये। गुरुकुल में एक-एक कक्षा के छात्रों की देख-सम्भाल एक-एक अधिष्ठाता के जिम्मे होती थी। १६०६ में हमारी पहली कक्षा के अधिष्ठाता मास्टर बूटाराम जी थे। उन्होंने एकाध महीने में ही मेरे बारे में एक बात देखी, आचार्य (महात्मा मुंशीराम) जी से कही कि यह लड़का जब तब चलते-चलते खड़ा हो कर कुछ सोचने लग जाता है। मैं क्या सोचता होऊँगा—माँ-बाप-बहन के प्यार की याद करता होऊँगा, सोचता होऊँगा यहाँ किन नये लोगों में आ गया। आचार्य जी ने मुझे बुलाया, मेरी पीठ और सिर पर हाथ फेरा, कुछ प्यार से पूछा, कहा यहाँ तुम्हारा जी लग जाएगा, हम पूरा ध्यान रक्खेंगे। उसके बाद मेरा उस तरह का सोचना छूट गया। आचार्य मुंशीराम जी सचमुच गुरुकुल के प्रत्येक बालक के लिये पिता की जिम्मेवारी अनुभव करते; प्रत्येक के स्वास्थ्य, चरित्र और विकास का उन्हें ध्यान रहता।

सन् १६०८ की गर्मियों में हम लोग चौथी कक्षा में थे जब एक दिन भोजनशाला में हमारे भोजन के वक्त आचार्य जी ने आकर कहा कि हैदराबाद में दुर्भिक्ष पड़ गया है, तुम लोग अपने भोजन में से कुछ कटौती करो, जो रुपया बचेगा वहाँ भेजा जायेगा। भारत का नक्शा तो तब तक हमें बताया जा चुका था, हैदराबाद कहाँ है सो जान चुके थे। पर हैदराबाद के दुर्भिक्ष-पीड़ितों के लिये हमें अपना पेट काट कर भी कुछ भेजना चाहिये, यह नया विचार तब पहली बार हमारे मन के क्षितिज में आया।

देश में तब स्वदेशी आन्दोलन चल रहा था और मेरा और मेरे बहुत से

साथियों का मुख्य ध्यान तब से उसकी ओर रहने लगा। महात्मा मुंशीराम के चुम्बक से दूर-दूर प्रान्तों के आदर्श-खोजी गुरुकुल खिंच आते थे। १९०९ में एक कन्नड सज्जन हमारे अधिष्ठाता थे। उन्हीं दिनों में पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर कोल्हापुर रियासत के गिरफ्तारी वारंट से बच कर गुरुकुल आये। उन्होंने "वैदिक राष्ट्रगीत" नाम से अथर्ववेद के पृथ्वी-सूक्त का मराठी अनुवाद निकाला था, जिसे अंग्रेजी सरकार ने जब्त कर लिया था। तभी साहीवाल (मंटगुमरी) जिले के एक मास्टर नन्दलाल हमें गणित और आलेख्य (ड्राइंग) सिखाते तथा पंजाब के उर्दू अखबारों से ताजा घटनायें सुनाया करते। पंजाब में तब गरमागरमी जारी थी। सरदार अजीतसिंह भारत से खसक रहे थे और लाला हरदयाल खसकने से पहले गुरुकुल आकर दो दिन ठहरे और हम लोगों से देश की चर्चा की। हमें यह देख बड़ा उत्साह मिलता कि गुरुकुल में हम देश की सेवा के लिये तैयार हो रहे हैं।

सन् १९१० में ही गंगा में पानी बढ़ते जाने से गुरुकुल की जमीन कटने का डर हुआ। आचार्य जी ने बाँध बनवाकर उसे बचाना तय किया। हम सब विद्यार्थियों को इकट्ठा किया, पूछा तुम लोग बाँध बनाओगे। हमारे दिल उत्साह से उछल पड़े। पढ़ाई की छुट्टी कर वे हमें गंगा किनारे ले गये। टिहरी-गढ़वाल में लकड़ी के ठेकेदार जंगलों में से शहतीर और बल्लियाँ कटवाकर उन पर अपने निशान लगा कर गंगा की अनेक धाराओं में बहा देते और हरद्वार में पकड़ कर अपने गोदामों में जमा करते थे। बाढ़ आने पर उनमें से बहुत से बल्ले-बल्लियाँ हरद्वार की मुख्य धारा में पड़ने के बजाय किनारे की धाराओं में बह जाते। उस दिन की बाढ़ में वैसे सैकड़ों बल्ले-बल्लियाँ बह कर आ रहे थे। आचार्य जी ने अच्छे तैराक विद्यार्थियों को उन्हें पकड़ने पर लगा दिया। गंगा के टापुओं की झाड़ियों में अटके हुये शहतीरों, बल्लियों को भी वे लोग निकाल लाये। विद्यार्थियों का मुख्य समूह बीच पत्थर जमा करने में लगा था और एक तीसरा दल पकड़ी हुई बल्लियों को जोड़कर खटोले बनाने लग गया था। खटोले में कील गाड़ते हुये एक विद्यार्थी की अंगुली में लग गई, खून बहने लगा। आचार्य जी ने जो वहीं खड़े विद्यार्थियों को आदेश और बढ़ावा दे रहे थे, स्वयं आ कर उसके पट्टी बाँधी। जैसे-जैसे खटोले तैयार होते गये उन्हें गंगा के किनारे उतार उनमें पत्थर भरे जाने लगे। उस दिन संध्या तक लगभग सब खटोले किनारे पर लगा कर उनकी नींवों में पत्थर भर दिये गये कि उनके बहने का खटका न रहे। हफ्ते में भराई पूरी हो गई, बाँध तैयार हो गया। उस बाँध से गुरुकुल की भूमि पन्द्रह बरस सुरक्षित रही। उसे देख हमें अभिमान होता और हमारा आत्म-विश्वास जगता।

संस्कृत की पढ़ाई गुरुकुल में पहली कक्षा से शुरू की जाती थी। अंकगणित, भूवृत्त और कहानियों के रूप में इतिहास भी पहली-दूसरी से शुरू किये जाते थे। वनस्पतियों और जन्तुओं का काफी परिचय तीसरी-चौथी में दिया जाता था। अंग्रेजी छठी में शुरू होती थी, रेखागणित भी। भौतिकी (फिजिक्स) और रसायन

(कैमिस्ट्री) विज्ञान भी क्रमशः छठी और सातवीं से आरम्भ किये जाते थे। परखशाला (लैबोरेटरी) में परीक्षण करने-देखने का भी अच्छा प्रबन्ध था। इन विज्ञानों की शिक्षा हिन्दी में ही होती थी और इस प्रयोजन से गुरुकुल में जो पाठ्य-ग्रन्थ तैयार किये गये थे, उन्हें बाद में श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर ने भारतीय भाषाओं की उस नमूने की कृतियों में सबसे अच्छा बताया था। भौतिकी का हमारा पाठ्य-ग्रन्थ बालफोर स्टुअर्ट की और रसायन का भी वैसी ही किसी प्रसिद्ध अंग्रेजी पोथी का अनुवाद था। वे अनुवाद भी श्री गोवर्धन जी ने किये थे जो १९११ से १९१४ तक हमारे मुख्याध्यापक रहे। गोवर्धन जी का प्रत्येक कार्य अत्यन्त सावधानी और जिम्मेदारी से किया होता था। उनकी दृष्टि अत्यन्त विशद और प्रत्येक प्रश्न पर खूब सुलझा कर विचार करने की आदत थी। हमें इस बात का सन्तोष और अभिमान था कि विज्ञान की वास्तविक शिक्षा हमें बाहर के अग्रेजी स्कूलों से बेहतर मिलती है। शरीर-विज्ञान बाकायदा पाठ्य विषयों में नहीं था। पर गुरुकुल के जंगली जानवरों की लाशें प्रायः मिल जाती थीं और नाममात्र को झुलसा कर हरद्वार में छोड़ी हुई आदमियों की लाशें भी गंगा में प्रायः बह आती थीं। ये जब हाथ आतीं, गुरुकुल के डाक्टर विद्यार्थियों को बुला कर उनकी चीरफाड़ कर अङ्गों की रचना दिखाते-समझाते। इस कार्य के लिये विद्यार्थियों को अपनी कक्षायें छोड़ कर आने दिया जाता था।

सन् १९१३–१४ में हमारी कक्षा में टाँगे गये चित्रों में से दो उल्लेखनीय थे। एक में १८५७ के क्रान्ति-युद्ध का दृश्य था जिसमें क्रान्तिकारी पुरबिये सैनिकों को किरचें मार कर गिराते हुये अंग्रेजी के भाड़ैत सिक्ख सिपाही दिखाये गये थे। दूसरे में तीसरी चौथी शताब्दी ई० के इंगलैण्ड के एक गाँव की गलाज़त अंकित थी। एक बार एक अंग्रेज अधिकारी गुरुकुल देखने आया तो उसने आचार्य जी से पूछा कि ये चित्र क्यों लटकाये गये हैं। उन्होंने उत्तर दिया पहला यह दिखाने को कि भाई-भाई लड़ते हैं तो विदेशी शासन करता है, दूसरा यह दिखाने को कि इस दशा से अंग्रेजों ने इतनी उन्नति की, सो हमें भी करनी चाहिये।

आदर्श आचार्य स्वामी श्रद्धानन्द

—स्वामी धर्मानन्द सरस्वती
(पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड)

मैं अपना परम सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे आदर्श नेता और आचार्य श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी (पूर्व नाम महात्मा मुंशीराम जी) का शिष्यत्व ग्रहण करने तथा अनेक वर्षों तक और अनेक रूपों में उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ। मैं जब लगभग ८ वर्ष का था तो मेरे जन्म स्थान दुनियांपुर (जिला मुल्तान) के निकट मुल्तान में गुरुकुल कांगड़ी की प्रथम शाखा फरवरी १९०९ में पूज्यपाद महात्मा मुंशीराम जी ने खोली, जिसमें अन्य २० विद्यार्थियों के साथ मैं भी प्रविष्ट हुआ। उनके पवित्र कर-कमलों से यज्ञोपवीत ग्रहण करने और गायत्री मंत्र द्वारा वेदारम्भ का उपदेश सुनने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। फरवरी सन् १९१७ में जब गुरुकुल मुलतान से अधिकारी परिक्षा देने मैं गुरुकुल कांगड़ी पहुँचा तो वे ही हमारे आचार्य थे और महाविद्यालय में मेरे पर्याय विषय 'आर्य सिद्धान्त' के प्रतिष्ठित उपाध्याय थे। इस प्रकार मुझे उनके प्रिय शिष्य होने का दुर्लभ सौभाग्य मिला। जब मार्च १९२१ में मैं प्रतिष्ठित सिद्धान्तालंकार उपाधि को लेकर स्नातक हुआ तो उस समय भी हमारे जगद्वन्द्य आचार्य के रूप में दीक्षान्त भाषण उन्होंने ही दिया था। स्नातक बनने के पश्चात् सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली की ओर से उनकी प्रधानता में मैं अनेक वर्षों तक दक्षिण भारत में प्रचारक के रूप में कार्य करता रहा और अनेक प्रचार-यात्राओं में उनके साथ रहा, जिससे उनके वैयक्तिक निकट सम्पर्क में आने और उससे लाभ उठाने का उत्तम अवसर मुझे प्राप्त होता रहा। मेरे ऊपर पिता, माता, आचार्य और पथप्रदर्शक के रूप में उनका वरदहस्त सदा ही विद्यमान रहा, अतः मेरा एक-एक रोम उनके प्रति ऋणी है।

वास्तव में देखा जाये तो श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के सम्पूर्ण जीवन में कल्याण-मार्ग का पथिक बनने की श्रद्धा ओत-प्रोत थी। उनका ईश्वर में अटल विश्वास था। मैं उस समय मायापुर वाटिका में गुरुकुल कांगड़ी के एक ब्रह्मचारी के रूप में उपस्थित था, जब १० अप्रैल सन् १९१७ को उन्होंने विधिपूर्वक संन्यासाश्रम में प्रवेश करके 'श्रद्धानन्द' इस नाम को ग्रहण किया और अपने श्रीमुख से कहा कि "गत २०--२५ वर्ष ईश्वर और वेद विषयक श्रद्धा, माता की तरह मेरी सदा रक्षा करती रही है, जैसा कि महर्षि व्यास ने योग दर्शन के भाष्य में श्रद्धा के विषय में बताया है—'सा हि (श्रद्धा) जननीव कल्याणी योगिनं पाति।' इसी से

मुझे आनन्द की प्राप्ति हुई है। इसलिये मैं श्रद्धानन्द नाम को आज से ग्रहण करता हूँ।"

निर्भयता की प्रतिमूर्ति

सर्वशक्तिमान् भगवान् में अटल विश्वास के कारण श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी निर्भयता की मूर्ति बन गये थे। उनकी निर्भयता के वैसे तो सैंकड़ों उदाहरण विद्यमान है, किन्तु यहाँ मैं अपनी आँखों देखी घटना का उल्लेख कर रहा हूँ।

श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी सेवाव्रती महात्मा थे। सन् १९१८ में जब गढ़वाल में अकाल पड़ा तो अकाल पीड़ितों की सहायतार्थ स्वामी जी ने 'भारत सेवा समिति' के साथ मिलकर संगठित कार्य प्रारम्भ किया और गुरुकुल कांगड़ी के ब्रह्मचारियों को इस सेवा के लिये अपने पास बुला लिया। मैं गुरुकुल की द्वादश श्रेणी का विद्यार्थी था। मुझे भी अपने अन्य अनेक सहपाठियों के साथ पूज्य स्वामी जी की अध्यक्षता में गढ़वाल में सेवा कार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ। उस समय हम लोगों ने पूज्य स्वामी जी के हृदय की कोमलता और विशालता को भली-भाँति अनुभव किया। कई बार वे हमारे साथ १८–२० मील पैदल भी चले जाते थे, ताकि दुर्भिक्ष-पीड़ितों की वास्तविक अवस्था का पता लगा कर उनकी सहायता की जा सके। उन्हीं दिनों की यह घटना है, जिसका उल्लेख उनकी निर्भयता को सूचित करने के लिये यहाँ किया जा रहा है।

'सद्धर्म प्रचारक' में किसी आर्य स्वयं-सेवक ने एक लेख गढ़वालियों की सामाजिक कुप्रथाओं की आलोचना में निकाला। इसे लेकर कुछ स्वार्थियों ने भोली-भाली जनता को आर्यों के नेता स्वामी श्रद्धानन्द जी के विरुद्ध भड़का दिया। गढ़वाल की राजधानी पौड़ी गढ़वाल में एक बहिष्कार-सभा का आयोजन किया गया। स्वामी जी का सिर तक काट लेने की धमकियाँ दी जाने लगीं। सभा के दिन प्रातः स्वामी जी दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायतार्थ दौरे से लौट रहे थे कि पौड़ी के कुछ सज्जन दो मील की दूरी पर ही जाकर उनसे मिले और नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि "आप यहाँ से लौट जायें। पौड़ी में आपके जाने से बड़ा अनर्थ हो जायेगा।" पर स्वामी जी इन बातों से कहाँ प्रभावित होने वाले थे। वे श्री वेंकटेशनारायण तिवारी तथा श्रीराम जी वाजपेयी इत्यादि प्रतिष्ठित सज्जनों के मना करने पर भी शाम की सभा के नियत समय ८ बजे से १५ मिनट पहले ही जाकर सभापति के आसन के समीप जा बैठे। उनकी भव्य शांत मूर्ति को देखते ही वहाँ के वातावरण में अद्भुत परिवर्तन हो गया। स्वामी जी के साहस, धैर्य, सेवा-भावना और आत्मविश्वास की चारों ओर प्रशंसा होने लगी। किसी को उनके विरोध में कुछ कहने का साहस नहीं हुआ।

अद्भुत आत्मिक शक्ति

श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी चाहे कहीं भी हों, प्रतिदिन प्रातः कम से कम

दो घंटे सर्वशक्तिमान् परमपिता परमेश्वर की उपासना नियमपूर्वक अवश्य किया करते थे, ऐसा हम लोगों ने उनके साथ काशी, कलकत्ता, बम्बई तथा दक्षिण भारत की यात्राओं में भी देखा। इसी का परिणाम था कि उनमें अद्भुत आत्मिक शक्ति का विकास हो गया था। इसका एक उदाहरण मैं कभी भूल नहीं सकता, क्योंकि जिस घटना का मैं उल्लेख कर रहा हूँ, वह मेरे सामने हुई थी। सन् १९२६ में जब मैं मुलतान गुरुकुल का आचार्य था, मुलतान गुरुकुल के अधिकारियों ने चौ० रामकृष्ण के विरुद्ध अभियोग चलाया, जिसने सन् १९०९ में गुरुकुल की स्थापना के लिये भूमि देकर बाद में उसे चोरियाँ आदि करवा कर वापिस ले लिया और कहा कि वे उसे छोड़कर अन्यत्र चले जायें। इस अभियोग में स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज को भी पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के अन्य पुराने अधिकारियों के साथ बुलाया गया और उनके स्वागतार्थ शानदार जलूस निकाला गया। चौ० रामकृष्ण बड़े अभिमान के साथ लोगों से कहता फिरता था कि मैं कभी मकानों को बनवाने का रुपया नहीं दूँगा और प्रिवी कौन्सिल तक मुकदमा लड़ूँगा। किन्तु हमारे सामने स्वामी जी महाराज की साक्षी हुई, जिसमें उन्होंने बताया कि किस प्रकार चौ० रामकृष्ण ने गुरुकुल के लिये भूमि दान रूप में स्वेच्छा से दी थी और उन्होंने फरवरी १९०९ में उस भूमि पर गुरुकुल की स्थापना की थी। उस समय हमें देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि चौ० रामकृष्ण ने उसी समय अदालत में ही स्वामी जी को १० हजार रुपये की राशि दे दी और शेष लगभग ८ हजार रुपये के प्रोनोट्स लिख कर दे दिये। अन्य महानुभावों की गवाही की आवश्यकता ही नहीं रही। हम सभी स्वामी जी की आत्मिक शक्ति के चमत्कार को देख कर स्तब्ध रह गये।

शिष्यों से पितृ-मातृवत् स्नेह

गुरुकुल के उत्सव पर प्रायः सभी ब्रह्मचारियों के संरक्षक उनसे मिलने के लिये गुरुकुल आते थे। एक बार सातवीं श्रेणी का ब्रह्मचारी ब्रह्मदत्त अपने किसी भी संरक्षक के न आने से बड़ा उदास हो गया। महात्मा मुंशीराम जी ने यह समाचार मालूम होते ही उसको अपने पास बंगले पर मिलने के लिये बुलाया। कुछ देर बाद ब्रह्मचारी हंसता हुआ लौट कर आया और आकर अपने साथियों से बोला—"हम भी अपने पिता जी से मिल आये हैं।"

आचार्यवर की प्रेरणा से मेरे द्वारा प्रचार-कार्य

श्रद्धेय आचार्य स्वामी श्रद्धानन्द जी हम ब्रह्मचारियों में समाज-सेवा और देश-सेवा की भावना को कूट-कूट कर भरने का सदा यत्न करते रहते थे। मैं सन् १९१८ में जब गुरुकुल कांगड़ी की द्वादश श्रेणी में पढ़ता था और गुरुकुलीय साहित्य परिषत् का (जिसके प्रधान आचार्य के रूप में स्वामी जी महाराज थे) उपमंत्री था। एक दिन परिषत् के अधिवेशन के पश्चात् श्रद्धेय स्वामी जी ने दक्षिण भारत की शोचनीय सामाजिक अवस्था का चित्रण करते हुये कहा कि "मैं दक्षिण भारत के

प्रत्येक प्रान्त में चार-चार स्नातकों को भेजना चाहता हूँ, जिससे वहाँ की अवस्था सुधर सके।" मैंने उसी दिन अपने मन में दृढ़ संकल्प कर लिया कि मैं जीवन के अनेक वर्ष दक्षिण भारत में प्रचारार्थ लगाऊँगा। इसी दृष्टि से मैं ईसाई मत का विशेष अनुशीलन और अंग्रेजी में भाषण देने एवं लेख लिखने का अभ्यास करता रहा। स्नातक परीक्षा के वाद जब श्रद्धेय आचार्य जी ने मुझे अपना भावी कार्य-क्रम विषयक निश्चय जानने के लिये बुलाया तो मैंने लगभग २ वर्ष पूर्व की गई उनकी शुभ प्रेरणा का निर्देश करते हुये दक्षिण भारत में कई वर्ष कार्य करने की इच्छा प्रकट की। मेरे इस निश्चय को सुनकर वे गदगद हो गये और उन्होंने हार्दिक आशीर्वाद देकर सार्वदेशिक सभा द्वारा मेरी दक्षिण भारत-यात्रा का यथोचित प्रवन्ध करवा दिया। उनके अधीन कार्य करने में जो आनन्द आया उसका शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता।

मैंने दक्षिण भारत में लगभग २० वर्ष निवास करके, अनुकूल परिस्थिति और सुविधाओं के न होते हुये भी जो थोड़ी-बहुत धर्म और समाज की सेवा की है, उस सब का श्रेय श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी की उस प्रेरणा को है जिसे करना वे अपना कर्तव्य समझते थे और जो सचमुच एक जादू का सा प्रभाव उत्पन्न कर देती थी।

अमर धर्मवीर का दिव्य संदेश

श्रद्धेय स्वामी जी ने मेरी प्रार्थना पर दिनांक २१.५.१९२५ को आर्यसमाज मंगलौर (दक्षिण कर्नाटक)के उत्सव पर दिव्य-संदेश भेजा था। वह संदेश मूल रूप में अंग्रेजी में था, जिसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

"तुम यह मत सोचो कि वैदिक धर्म कोई सम्प्रदाय या पन्थ है। यह वह सत्य सनातन धर्म है जिसके बिना संसार की सामाजिक व्यवस्था एक पल भर के लिये भी नहीं रह सकती। प्राचीन काल में असंख्य आध्यात्मिक कोषों को खोलने वाली चाबी तुम्हारे ही हाथों में दी गई थी और अब भी अशान्त संसार को शान्ति देना तुम्हारा ही काम है। किन्तु पहले तुम को अपनी सब अपवित्रताओं को धोना होगा। आज गम्भीर भाव से यह प्रतिज्ञा करो कि तुम वैदिक पंच महायज्ञों के अनुष्ठान में प्रमाद न करोगे, तुम अस्वाभाविक जाति-भेद के बन्धन को तोड़ कर वर्णाश्रम व्यवस्था को अपने जीवन में परिणत करोगे, तुम अपनी मातृभूमि में से अस्पृश्यता के कलंक का समूल नाश कर दोगे और तुम आर्यसमाज के सार्वभौम मन्दिर का द्वार मत, सम्प्रदाय, जाति, रंग आदि भेद भावना का कुछ भी विचार न करके मनुष्य मात्र के लिये खोल दोगे।

परम पुरुष परमात्मा इस गम्भीर प्रतिज्ञा के पालन में तुम्हारे सहायक हों।"

ऋषि-प्रेम में छलकी हुई आंखें

—श्री बुद्धदेव विद्यालंकार

दीनबन्धु एण्ड्रयूज महोदय गुरुकुल के अनेक बार अतिथि हुए हैं। एक समय की बात है कि वह कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्ति-निकेतन से सीधे आ रहे थे। आँखें, हृदय और वाणी तीनों शान्तिनिकेतन के दृश्यों से भरे हुए थे। उमंग में आकर श्री एण्ड्रयूज महोदय ने बड़ा लम्बा-चौड़ा वृत्तान्त सुनाया कि वहाँ ललित कलाओं का कैसा विस्तार है, वहाँ का वायुमण्डल कैसा संगीतमय और काव्यमय है। यह सब सुनाने के बाद एण्ड्रयूज महोदय ने कहा—"महात्मा जी ! आपके इस आश्रम में काव्य का अभाव है।" महात्मा जी ने तुरन्त उत्तर दिया:—

"Mr. Andrews, there they sing poetry but here we live poetry."—अर्थात् वहाँ तो काव्य कण्ठ में निवास करता है, परन्तु यहाँ वह जीवनों में निवास करता है।

यह घटना अगले दिन प्रातः हमारे अंग्रेजी के उपाध्याय सेवाराम जी फेरवानी ने सुनाई थी। कदाचित् याद रखने में मैंने कुछ भूल की हो, पर भाव यही था और उसने मेरे जीवन पर गहरा असर किया था।

× × ×

दीपावली का दिन था। ऋषि के प्रेम में आंखें छलकी हुई थीं। वह विशाल मूर्ति, वह भव्य आकृति आज भी आंखों के सामने खड़ी है। रामभक्तों की एक पौराणिक गाथा—जो कि भक्त-संप्रदाय में प्रचलित है—सुनाने लगे। कथा यों थी—"एक समय महाराज रामचन्द्र ने अपने राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में दरबार किया। सबको पारितोषक वितरण होने लगा। आनन्द-विह्वल होकर महारानी सीता ने अपने कण्ठ का मोतियों का अमूल्य हार उतार कर हनुमान के गले में पहिना दिया। हनुमान एक-एक मोती तोड़ता, उसे दो टुकड़े कर ध्यान से देखता, मानों उसमें कुछ खोज रहा हो और फिर उसे फेंक देता। माता सीता ने हंस कर कहा—आखिर तुम ठहरे बन्दर ही। इसमें क्या देखते हो ? हनुमान ने कहा—माता ! हार अमूल्य है, परन्तु मैं तो मोतियों में देखता हूँ कि इन में कहीं राम नाम भी है कि नहीं, मुझे इन में राम नाम नहीं मिला। इस लिये मैंने फेंक दिये। माता ने मीठा उलाहना देकर कहा–क्या तुम्हारे शरीर पर राम नाम लिखा है। हनुमान ने चमड़ी उतार कर दिखा दिया कि उसके सारे शरीर पर राम नाम लिखा है।

गुरुदेव बोले—यह घटना किसी सच्ची घटना का वर्णन नहीं करती। मैंने तो केवल यह इसलिये सुनाई है कि तुम्हें इसमें जो उपदेश मिलता है, वह सुना सकूं।

"पुत्रो ! यह तुम्हारा आश्रम आदर्श ब्रह्मचारी दयानन्द का ब्रह्मचर्याश्रम है । तुम्हें भी दयानन्द के लिये हनुमान की वृत्ति धारण करनी चाहिये । तुम्हें कोई अमूल्य-से-अमूल्य प्रलोभन भी दे तो उसे तोड़ कर देख लो कि उसमें ब्रह्मचारी दयानन्द लिखा है कि नहीं ? जिस में वह न मिले, वह कितना ही मूल्यवान् क्यों न हो तोड़ कर फेंक दो ।" वह कथा, वह छलकी हुई आँखें, वह स्निग्ध गम्भीर मेघ की-सी आवाज, उस आवाज का कथा सुनाते-सुनाते गुरु-भक्ति के आवेश में लड़-खड़ाना और वह दिव्य प्रशान्त गम्भीर आकृति आज भी आँखों के सामने खड़ी है, और मेरी भी आँखें छलक रहीं हैं, इसलिये यहीं बस । ●

कुछ संस्मरण

—श्री देवराज विद्यावाचस्पति

जिन्हें आजकल स्वामी श्रद्धानन्द जी के नाम से लोग जानते हैं पहिले उनका नाम लाला मुंशीराम था। जब लाला मुंशीराम जी ने गुरुकुल काँगड़ी के किसी वार्षिकोत्सव के समय अपना मकान और अपनी सम्पत्ति गुरुकुल को अर्पण कर दी, जनता के सम्मुख लिखित प्रतिज्ञा-पत्र पढ़ कर सुना दिया कि उनके पास जो कुछ भी है उस पर न उनका और न उनके पुत्रों का अधिकार है, तब जनता ने उनके अपूर्व त्याग को देख कर उनके नाम के साथ लाला शब्द को हटा कर महात्मा शब्द जोड़ दिया। उस दिन से वे लाला मुंशीराम के स्थान पर महात्मा मुंशीराम कहलाने लगे। मुझे याद है कि गुरुकुल की स्थापना से पहिले हरिद्वार में हरकी पौड़ी के समीप के एक मकान की ऊपर की मंजिल में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अंतरंग सभा की एक बैठक हुई थी। उसमें गुरुकुल स्थापित करने का निश्चय हुआ था। उस समय सभा के प्रधान लाला रलाराम जी थे मेरे। पिता जी ने मुझे लाला रलाराम जी के हाथों में सौंप दिया था कि इसे आप ले जाइये। मुझे वे अपने साथ गुजरांनवाला में अपनी कोठी में ले आये। मैं संयुक्त प्रान्त से प्रथम बालक ही गया था। कुछ बालक पहले से वहाँ विद्यमान थे। हम सब मिल कर ३२ बालक थे। उस समय हमारे शिक्षक और अधिष्ठाता सब कुछ पं० विष्णुमित्र जी थे। मेरी उम्र का सातवां वर्ष ही बीता था, तो भी मुझे याद है कि एक दिन मैंने उस कोठी में आते हुए एक विशालकाय भव्य मूर्ति को लम्बे-लम्बे कदम बढ़ाते आते हुए देखा था। यह मूर्ति महात्मा मुंशीराम जी की थी। खुला सिर, साधारण बाल, हाथ में दण्ड, नीचे धोती, बादामी रंग का लम्बा कुर्ता, ऊपर पीला दुपट्टा, अन्त तक उनका सीधा-सादा बिना किसी प्रकार की बनावट का यही सरल वेष रहा। उस दिन प्रथम दर्शन में ही मुझे उनके अन्दर मातृत्व और पितृत्व का अनुभव हुआ। उन्होंने अपने जीवन से बताया कि बड़प्पन की प्राप्ति बनावटी जीवन से नहीं, अपितु सरल और सत्यनिष्ठ जीवन से होती है।

स्वावलंबन

गुजरांनवाला से लगभग १ वर्ष के बाद हम ३२ बालक गुरुकुल कांगड़ी की पुरानी भूमि लाये गये। तब बालकों में श्रेणी-विभाग नहीं था। उस समय हमारे आचार्य श्री पं० गंगादत्त जी हुए। श्रेणी विभाग के अनुसार मैं द्वितीय श्रेणी में रखा गया। हमारे अधिष्ठाता पं० विष्णुदत्त जी थे और गणिताध्यापक श्री मुंशी मोहनलाल जी थे। मुंशी जी गणित के थोड़े से प्रश्न करा कर हमें अनेक प्रकार की

उत्तम शिक्षा दिया करते थे। वे कहा करते थे कि प्रधान जी (महात्मा मुंशीराम जी गुरुकुल आने से पूर्व आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान रहे थे, अतः उन्हें सब 'प्रधान जी' कहा करते थे) अपने बंगले में अपने आप झाड़ू लगाते हैं, तुम्हें भी अपने रहने के स्थान में अपने आप झाड़ू लगानी चाहिये। तब मुझे मालूम हुआ था कि महात्मा जी में अपने कार्य के लिये किसी पर आश्रित न रहने का महान् गुण था। कोई काम क्षुद्र है और कोई महान् है, ऐसा उनके जीवन में नहीं था। समय पड़ने पर बिना हिचक के छोटे से छोटा काम और बिना घबराहट के महान् से महान् काम कर डालना उनके स्वभाव में था।

खरास की उपयोगिता पर बल

आरोग्य और दीर्घजीवन के नियमों के अनुसार उन्होंने खरास (बैलों से चलाई जाने वाली चक्की) में पिसा हुआ गेहूँ का मोटा आटा और वह भी बिना छना हुआ ब्रह्मचारियों को खिलाने का प्रबन्ध किया। मुझे याद है कि उसकी अच्छी सिकी हुई लाल-लाल रोटी हमें खाने मैं स्वादिष्ट और अधिक मधुर लगती थी, आरोग्यप्रद तो थी ही। उसे खाने से कब्ज की शिकायत नहीं रहती थी। महात्मा जी ऐसी सिकी हुई रोटी को रढ़ी हुई रोटी कहा करते थे। वे स्वयं भी ऐसी ही रोटी खाया करते थे।

नियम-पालन में दृढ़ता

महात्मा जी प्रतिदिन रात को नियम से ३ बजे उठ जाया करते थे और अपने कार्य में लग जाया करते हैं। मुझे याद है कि एक बार वे अतिशय दंत-वेदना से पीड़ित हुए। रात को उनकी सेवा के लिए ब्रह्मचारियों की बारी बांधी गई। अंतिम बारी ३ से ५ बजे तक मेरी थी, मैं दस मिनट पहले ही उनके स्थान पर पहुँच गया। दस मिनट बाद वे झट उठ बैठे। मैंने उनके दर्द का और नींद का हाल पूछा। उन्होंने कहा-“अब मैं उठ गया, तीन बजे उठा करता ही हूँ। दर्द तो वैसा ही है, नींद भी नहीं आई। मैं तो चुपचाप पड़ा रहा और देखता रहा। ब्रह्मचारी अपने-अपने समय पर आते और चले जाते थे, मैं सोचता था कि किसी को क्या तकलीफ देनी है। इसलिये मैं चुपचाप पड़ा रहा। अब कुछ आवश्यकता नहीं है, तुम जाओ और विश्राम करो।” मुझे उनके शब्द सुन कर आश्चर्य का पारावार न रहा। मैं उनके नियम-पालन को देख कर दंग रह गया। नियम-पालन के सामने अपना कष्ट भी कोई वस्तु नहीं। महान् कष्ट होते हुए भी उन्हें अपने कष्ट की कोई चिन्ता न थी, किन्तु दूसरे स्वस्थ मनुष्य को अपना कार्य करते देख कर उसके कष्ट की चिन्ता थी। महात्मा जी के इन महान् गुणों ने उनको संसार में चमका दिया।

महात्मा जी ३ बजे उठ कर दन्त-धावन आदि नैत्यिक क्रियाओं को करके सबसे पहला सामाजिक कार्य पत्र लिखना और उसके पश्चात् 'सद्धर्म प्रचारक'

साप्ताहिक के लिये आवश्यक लेख लिखने का कार्य करते थे। लगभग तीन चौथाई पत्र वे अपने हाथ से करते थे। भृत्यों, अध्यापकों, अधिष्ठाताओं, और स्नातकों को वे अपने हाथ से ही पत्र लिखा करते थे! उनके हाथ का लिखा पत्र बांच कर सबको सन्तोष होता था।

प्रातःकाल का उनका घूमना कभी नहीं छूटता था। लंबा डन्डा लेकर अपने नियत वेष में वे जंगल में घूमने निकल जाते थे। एक घंटे तक भ्रमण करके स्नान, व्यायाम, संध्योपासना, प्राणायाम, अग्निहोत्र आदि नित्य कर्म करके वेद, उपनिषद्, दर्शन आदि किसी वैदिक साहित्य की पुस्तक का स्वाध्याय अवश्य करते थे। स्वाध्याय के पश्चात् यज्ञशाला में जब प्रातःकाल ब्रह्मचारी अग्निहोत्र कर चुकते थे तब वे उच्चासन (चौकी) पर बैठ कर स्वयं किये हुए स्वाध्याय के आधार पर प्रवचन करते थे। उनकी योग दर्शन, उपनिषद् और वेदमन्त्रों की व्याख्या बहुत मधुर लगती थीं। कर्त्तव्य का बोध दिलाने वाले उनके प्रिय और मनोहर उपदेशों को सुनने के लिये गुरुकुल का भृत्य वर्ग भी उनकी चौकी के पीछे यज्ञशाला के पास उपस्थित रहता था।

महात्मा जी दिन में तीन वार प्रायः आश्रम में ब्रह्मचारियों को देखने आते थे: प्रातःकाल हवन के पश्चात् जब ब्रह्मचारी स्वाध्याय कर रहे होते थे, दुपहर को भोजन के पश्चात् स्वाध्याय के समय और रात को भोजन के पश्चात्। मुझे स्मरण है कि एक-एक ब्रह्मचारी उनकी करुणा बरसाने वाली दृष्टि को प्राप्त करके उनमें मातृ-स्नेह का अनुभव करता था। वे सचमुच मातृ-स्नेह के कारण माता के समान, पितृ-स्नेह के कारण पिता के समान थे और आचार्य तो वे थे ही।

सायंकाल ४ बजे वे अपना दैनिक कार्य समाप्त कर देते थे और गुरुकुल के प्रत्येक विभाग को देखने के लिये 'राउन्ड' पर निकलते थे। सब विभागों को देखते हुये गुरुकुल से एक मील दूर कागड़ी ग्राम को देखने जाते थे। वहाँ से जंगल में घूमते हुए गुरुकुल में अपने निवास स्थान पर लौट आते थे। इस प्रकार सब कार्यों को अपनी दृष्टि में रखने से कार्यकर्ताओं को बड़ा आश्वासन एवं संतोष प्राप्त होता था। जहाँ-जहाँ जो त्रुटि देखते थे वहाँ के कार्यकर्ता को अपने पास बुला कर इस प्रकार समझाते थे कि गुरुकुल की भावना से ओतप्रोत होकर सबके कार्य सुचारु रूप से सुसंगत रहते थे।

सम्पूर्ण विद्यालय की पढ़ाई का निरीक्षण और अध्यापकों के पढ़ाने के ढंग का निरीक्षण प्रायः स्वयं करते थे। विद्यालय के बरामदे में घूमते हुये ही कमरे में बैठी हुई श्रेणी पर एक दृष्टि डालते ही वहाँ की सब हालत समझ लेते थे। कभी-कभी तो पढ़ाते हुये अध्यापक के साथ ही एक कुर्सी डलवा कर वहीं बैठ कर पढ़ाने के ढंग का निरीक्षण किया करते थे।

स्वभावगत सरलता

जब गुरुकुल का जन्मोत्सव निकट आता था तब उत्सव से पहले ही एक

दिन महाविद्यालय के सब ब्रह्मचारियों के बीच में बैठ कर सबको शिकायत करने की खुली छूट देते थे, जिससे जन्मोत्सव के समय किसी भी प्रकार से दौर्मनस्य का उद्भव न हो। एक बार एक ब्रह्मचारी ने शिकायत की कि हमें फल खाने को नहीं मिलते। उन्होंने उसके सिर पर हाथ फेरते हुये उत्तर दिया—"ओ हो! मैंने बड़ी गलती की, मैंने ध्यान नहीं रखा, अब मैं ध्यान रखूँगा और तुम्हें फल अवश्य मिलेंगे।" दूसरे ब्रह्मचारी ने शिकायत की—"आप प्रायः बाहर रहते हैं, आपको हमारे बीच में रहना चाहिये।" उन्होंने उत्तर दिया—'तुम्हारा कहना ठीक है, परन्तु भाई तुम्हारे लिये ही मुझे बाहर जाना पड़ता है। बहुत से लोग धन सीधा यहाँ नहीं भेजते, अपने पास मुझे बुला कर ही देते हैं। दूसरा कारण यह है कि सभा से मैं बंधा हुआ हूँ, सभा में मुझे उपस्थिति देनी पड़ती है। फिर भी मैं पहले की अपेक्षा अधिक तुम्हारे निकट रहने का प्रयत्न करूँगा।"

तप और साहस के पथ पर

वनों में, पर्वतों में तथा नदियों में घुमाने और इसी प्रकार सर्वत्र साहस के कामों में ब्रह्मचारियों को डालने की अत्यधिक प्रवृत्ति उनमें देखने में आती थी। बचपन से ही बीहड़ जंगल में घुसते हुये चलना, कुछ परवाह न करके खदिर और बदर के काँटों पर दौड़ जाना, अस्तव्यस्त पड़े हुये छोटे और बड़े-बड़े पत्थरों पर नंगे पाँव या खड़ाऊँ पहने हुये भी भागते फिरना, लोह चूर से भरी हुई गंगा की तप्त रेत में आराम से चलना, पाला पड़ी हुई घास पर ठण्ड की परवाह किये बिना चलना, उछलते-कूदते पर्वत-माला शिखर से शिखर पर भागते फिरना, मार्ग में मिलते हुये जंगली जानवरों की कुछ परवाह न करना, आदि कार्यों की आदत डाली जाती थी। सेंभल (शाल्मली) के मोटे-मोटे और ऊँचे वृक्षों पर बड़ी फुर्ती के साथ कम से कम समय में शिखर तक पहुँचने में जीते हुये ब्रह्मचारियों को वृक्षारोहण-सान्मुख्य के पारितोषिक दिये जाते थे। नदी में लम्बी तैरी और सिंह-तैरी में विजयी ब्रह्मचारियों को पारितोषिक दिये जाते थे। मुझे याद है कि मैं सख्त सर्दी के दिनों में भी प्रातः सन्ध्या-हवन और उपदेश के समय केवल एक कुर्ता, धोती पहन कर बैठा करता था, परन्तु महात्मा जी ने, वहाँ के चिकित्सक डॉ० सुखदेव जी ने तथा किसी अध्यापक-अधिष्ठाता ने मुझे कभी ऐसा करने से नहीं रोका। एक बार ठण्ड लग जाने के कारण बीमार हो गया। ठीक होने पर पुनः पूर्ववत् अपना जीवन आरम्भ कर दिया। कारण यह था कि महात्मा जी तपस्या और साहस को साथ-साथ सहायक समझते थे और इसके लिये ब्रह्मचारियों को प्रोत्साहन देते थे। महात्मा जी के जीवन में तपस्या और साहस विद्यमान था, अतः उसी की छाप ब्रह्मचारियों और इतर जनों पर पड़ती थी।

ब्रह्मचारियों की उमंग को बढ़ावा देना

किसी ब्रह्मचारी में कुछ नये काम कर दिखाने की उमंग आती थी तो उसकी उमंग को महात्मा जी मार नहीं देते थे, चाहे उसमें कितना ही खर्च क्यों

न उठाना पड़े। वे मानते थे कि होनहार बालकों की उमगों को दबा देने से उनमें मौलिकता का विकास नहीं हो पाता है।

जब मैं दशम श्रेणी में पढ़ता था तब की बात है। मेरी श्रेणी के ब्र० श्वेतकेतु ने एक चित्र बनाया। उसे वह मेरे पास दिखाने लाया। चित्र में बताया गया था कि बैलों से चलने वाले अरहट का पानी लौटा कर अरहट को चलाने में काम लाया जा सकता है। इस प्रकार से अरहट की योजना की जा सकती है कि यदि एक बार उसे चला दिया जाये तो फिर वह स्वयं ही चलता रह सकता है। मैंने उस चित्र को ध्यान से देखा और समझा। तत्पश्चात् मैंने श्वेतकेतु को समझाया कि "ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि अरहट को चलाने में जो शक्ति लगाई जायेगी वह स्थिर नहीं रहेगी और पीछे लौटाया हुआ पानी उस शक्ति को न स्थिर रख सकता है और न बढ़ा सकता है, अतः यह कार्य नहीं हो सकेगा।" अपने इस कथन से श्वेतकेतु को हतोत्साहित-सा होते देख कर मैंने कहा--"अच्छा, इस चित्र को महात्मा जी के पास ले जाकर दिखाओ और उन्हें समझाओ। यदि वे इसका परीक्षण करने की आज्ञा दे देंगे तो सब कुछ हो सकेगा।" श्वेतकेतु तुरन्त महात्मा जी के पास पहुँचा और यन्त्र चलने के प्रकार को समझाया। उन्होने झटपट मिस्त्रीखाने के कारीगर को आज्ञा लिख दी कि श्वेतकेतु जिस प्रकार कहे उस प्रकार यन्त्र तैयार करो। यन्त्र तैयार हुआ, लगभग ५० रुपये खर्च हुये। गंगा के पानी में लगा कर परीक्षण किया गया। सफलता नहीं मिली। इस असफलता को देख कर महात्मा जी को गुस्सा नहीं आया, वरन् श्वेतकेतु को इस पर और अधिक विचार करने का निर्देश दिया। वस्तुतः उन्होने ऐसे खर्च की सफलता इसी में समझी कि ब्रह्मचारियों में कुछ नया कर दिखाने की इच्छा हो रही है।

महात्मा गांधी, मुंशीराम और गुरुकुल

—श्री सत्यदेव विद्यालंकार

लगभग पाँच दशकों की पुरानी बात है। सारे गुरुकुलाश्रम में शोर मच गया—गांधी जी पधारे हैं। छोटे-बड़े सब छात्र दौड़ पड़े उनके दर्शनों के लिये। मैं उन दिनों गुरुकुल विद्यालय की दसवीं कक्षा का विद्यार्थी था। उमंगभरी तरुणाई के दिन थे। गांधी जी के दर्शन की उत्कृष्ट आकांक्षा उमड़ रही थी। मैं भी दौड़ा-दौड़ा आचार्य महात्मा मुंशीराम जी की कुटीर पर जा पहुँचा। दर्शन का लाभ पाया। उसके बाद गांधी जी सारे आश्रम को दर्शन देते हुए मेरी श्रेणी के छात्रावास में पधारे। दिल तो क्या ही भरता ? पर जितना भी देख पाया, उसका छायाचित्र आज तक भी मेरे हृदय में अंकित है। वे गुजराती ढंग की श्वेत पगड़ी, श्वेत धोती और देशी ढंग का अंगरखा पहने हुये थे। वे कुछ घंटों तक गुरुकुलाश्रम में रह कर लौट गये और आश्वासन दे गये कि कुछ समय बाद होने वाले कुंभ के मेले में जब वे हरिद्वार आयेंगे तब पुनः गुरुकुल में भी आयेंगे।

× × ×

दक्षिण अफ्रीका में होने वाले सत्याग्रह के कारण गुरुकुल कांगड़ी के प्रति गांधी जी का विशेष प्रेम था। महामना गोखले जी ने उन दिनों सत्याग्रह के लिये आर्थिक सहायता के लिये एक अपील प्रकट की थी। उस अपील में भारत के युवकों और विद्यार्थियों से अपने कर्तव्यपालन का विशेष अनुरोध किया गया था। महात्मा मुंशीराम जी की प्रतिभा ऐसे अवसरों पर कुछ अद्‌भुत चमत्कार दिखा जाती थी। वे कोई ऐसा कदम उठाया करते थे, जिससे प्रजा में अद्‌भुत उत्साह का संचार हो जाता था। गुरुकुल में विद्यार्थियों की एक सभा बुलाई गई। सभा में उस अपील को पढ़ा गया। निश्चय किया गया कि ब्रह्मचारीगण अपने दैनिक आहार में से कटौती करके कुछ द्रव्य जमा करें। अध्यापक तथा अन्य कार्यकर्ता भी अपने वेतन में से कुछ अंश प्रदान करें। परन्तु उसको पर्याप्त नहीं समझा गया। यह विचार प्रस्तुत किया गया कि कुछ मेहनत-मजदूरी करके पैसा जमा किया जाये और सत्याग्रह की सहायता के लिये भेजा जाये। उन दिनों हरिद्वार के ऊपर गंगा पर एक बाँध बनाने का काम चल रहा था वहाँ जाकर मजदूरी करने का निश्चय किया गया। गुरुकुल के ब्रह्मचारी कुछ दिनों तक वहाँ काम करते रहे। मजदूरी द्वारा १५०० रुपये जमा किये गये और राजर्षि गोखले जी की सेवा में भेजे गये। इसप्रकार सहायता जमा करने की वह पहली घटना थी ? सरकारी नियंत्रण में बंधी हुई शिक्षण-संस्थाएँ भला क्या इस प्रकार का कोई काम कर सकती थीं ? गैर-सरकारी सस्थाओं में यत्र तत्र इस उदाहरण का अनुकरण किया गया।

श्री गोखले जी गुरुकुल कांगड़ी को संस्कृत पढ़ाने वाली एक पुरानी शैली की पाठशाला समझे हुए थे। जब भी उनसे गुरुकुल में पधारने का अनुरोध किया जाता था, तब-तब वे सहसा बिना कारण बताये ही उसको टाल देते थे। इस घटना द्वारा गुरुकुल के विषय में उनकी सम्पूर्ण धारणा ही बदल गई। २७ नवम्बर सन् १९१३ में एक पत्र में उन्होंने महात्मा मुंशीराम जी को इस प्रकार लिखा—

"मुझे रेवरेण्ड सी० एफ० एण्ड्रयूज और पंडित हरिश्चन्द्र विद्यालंकार से मालूम हुआ कि किस प्रकार गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने घी-दूध छोड़कर तथा सामान्य कुलियों और मजदूरों की तरह काम करके दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के लिए सहायता एकत्र की है। इस उत्साहप्रद देशभक्तिपूर्ण कार्य के लिए मैं उनको क्या धन्यवाद दूँ? यह तो वैसे ही उनका अपना काम है, जैसे कि आपका और मेरा है। भारत के प्रति उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया है। त्याग और निष्ठा का जो आदर्श उन्होंने उपस्थित किया है, उसकी अपने हृदय से प्रशंसा किये बिना में रह नहीं सकता। मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ होऊँगा यदि आप मेरा भाव उन तक पहुँचा दें।"

× × ×

श्री गांधी जी ने अपने २१ अक्टूबर १९१४ के पत्र में फिनिक्स आश्रम (दक्षिण अफ्रीका) से लिखा था—

प्रिया महात्मा जी,

श्रीयुत् एण्ड्रयूज ने आपके नाम और काम का परिचय मुझे दिया है। मैं अनुभव करता हूँ कि मैं किसी अजनबी को पत्र नहीं लिख रहा हूँ। इसलिए आशा है कि आप मुझे आपको "महात्मा जी" लिखने के लिए क्षमा करेंगे। मैं और श्रीयुत् एण्ड्रयूज आपकी और आपके काम की चर्चा करते हुए आपके लिए इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। श्री एण्ड्रयूज ने यह भी बताया कि आपसे, गुरुदेव से तथा श्री रुद्र से वे किस प्रकार प्रभावित हुए हैं। आपके विद्यार्थियों ने सत्याग्रहियों के लिये जो काम किया है उसका वर्णन भी उन्होंने मुझसे किया है। गुरुकुल के जीवन का जो चित्र उन्होंने खींचा है, उससे मैं यह पत्र लिखते हुये अपने को गुरुकुल में बैठा हुआ समझता हूँ। निस्सन्देह उन्होंने मुझे इन तीनों संस्थाओं को देखने के लिए अधीर बना दिया है और में उनके संचालकों, भारत के तीनों सपूतों के प्रति अपना आदर व्यक्त करना चाहता हूँ।

[मूल पत्र गांधी जी के हाथ का लिखा हुआ अंग्रेजी में है। यह उसका अनुवाद है। मूल पत्र गांधी जी के पत्रों के संग्रहालय में रखने के लिये लेखक ने भाई श्री देवदास गांधी जी को दे दिया है। दिल्ली में राजघाट पर आयोजित प्रदर्शनी में भी इनको रखा गया था।]

इस प्रकार गांधी जी का गुरुकुल कांगड़ी के लिये तथा महात्मा मुंशीराम जी (आगे जाकर स्वामी श्रद्धानन्द जी) के प्रति स्नेह और आकर्षण पैदा हुआ था। उसी से प्रेरित होकर वे दक्षिण अफ्रीका से इंगलैंड होते हुए सन् १९१५ में जब भारत आये थे

और जब उन्होने सारे भारत का दौरा किया था, तब गुरुकुल में भी अचानक ही पधारे थे। लेकिन अपने आने की अनिश्चित सूचना आपने पूना से दी थी। वह पत्र गांधी जी की महत्ता का सजीव चित्र उपस्थित करता है। हिन्दी भाषा में लिखा गया वह पत्र इस प्रकार है--

महात्मा जी,

आपका तार मुझको मिला था। उसका प्रत्युत्तर तार से भेजा था। वह आपको मिला होगा। मेरे बालकों के लिए जो परिश्रम आपने उठाया और उन्होने प्यार बतलाया, उस वास्ते आपका उपकार मानने को मैंने भाई एण्ड्रयूज को लिखा था। लेकिन आपके चरणों में सिर झुकाने की मेरी उम्मीद है। इसलिए बिना निमन्त्रण आने को भी मेरी फरज समझता हूँ। मैं बोलपुर से पीछे फिरूँ, उस वक्त आपकी सेवा में हाजिर होने की मुराद रखता हूँ।

गांधी जी के फिनिक्स आश्रम के विद्यार्थी गांधी जी से पहले ही भारत आ गये थे और वे दो बार आकर महीनों तक गुरुकुल में रहे थे। यह भी कहा जा सकता है कि अहमदाबाद के समीप साबरमती आश्रम की स्थापना होने तक वे प्रायः गुरुकुल में और शान्ति निकेतन में ही रहे थे।

× × ×

कुछ समय पश्चात् कुंभ का पर्व आ गया। महात्मा मुंशीराम जी प्रति वर्ष हरिद्वार में प्रचार-कार्य के लिए कैम्प लगाया करते थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी की परम्परा को जीवित रखने के साथ-साथ आर्यसमाज के प्रचार का यह अवसर होता ही था। मायापुर की वाटिका, कनखल और हरिद्वार के बीच में स्थित गुरुकुल की ही जायदाद थी। उसकी विस्तृत भूमि में प्रचार का कैम्प लगता था और उसी में बाहर से आने वालों के लिए तम्बू लगाये जाते थे। एक नन्हीं सी बस्ती बस जाती थी।

गांधी जी इस कुंभ मेले पर अपने आश्रम के विद्यार्थियों के साथ सेवा कार्य के लिए पधारे थे। उसी मायापुर वाटिका के हरिद्वार की ओर वाले कोने में एक विशेष शामियाना गांधी जी के स्वागत के आयोजन के लिए लगाया गया था। गंगा से जो बड़ी नहर निकलती है, उसका पुराना मुख्य निवास-स्थान यहीं था। अब तो वह हरिद्वार से भी एक मील ऊपर चला गया है, जहाँ कि गङ्गा के सारे जल पर नियंत्रण कर लिया गया है। प्राकृतिक दृष्टि से वह स्थान बहुत रमणीय, आकर्षक और मनोहर है। स्टेशन, हरिद्वार और कनखल का इसको त्रिवेणी कहा जा सकता है।

इस स्वागत-आयोजन की दूर-दूर तक धूम मच गई थी। कनखल, हरिद्वार के लिए तो वह पहला ही आयोजन था। देहरादून, सहारनपुर और रुड़की आदि दूर-दूर के नगरों के लोग पधारे थे। गुरुकुल आश्रम तो सारा ही उठ कर मायापुर वाटिका में पहुँच गया था। ८ अप्रैल १९१५ की अपराह्न वेला में यह समारोह सम्पन्न किया गया था। एक भावपूर्ण, सुन्दर व आकर्षक अभिनन्दन-पत्र (मानपत्र) गांधी जी को भेंट किया गया था। उसमें कहा गया था--

"मातृभूमि के वस्त्र फटे हुए हैं। उसको दिन-दिन कृशता घेर रही है, शरीर काँटों से छिदा हुआ है, रुधिर बह रहा है। ऐसे अवसर पर वह आपकी ही ओर स्नेह और आशा से निहार रही है। आप ही दूसरों के सामने उसका मुख उज्जवल करने वाले है। आप स्वाधीनता के दिव्य मंत्र से दीक्षित हैं। राष्ट्रीयता की नौका के कर्णधार हैं। देश भक्तों में अग्रणी हैं, इस कुल के पूजनीय अतिथि हैं।"

गांधी जी ने उत्तर में कहा था—

"मैं हरिद्वार महात्मा जी के दर्शनों के लिए आया हूँ। मैं उनके प्रेम के लिये कृतज्ञ हूँ। श्री एण्ड्यूज ने भारत में मिलने योग्य जिन तीन महापुरुषों के नाम बताये थे, उनमें महात्मा जी एक हैं। ब्रह्मचारियों ने दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह में जो सहायता की, उसके लिए मैं उनको धन्यवाद देता हूँ। उन्होंने फिनिक्स आश्रम के विद्यार्थियों के प्रति जो प्रेम दिखाया है, उसको मैं कभी नहीं भूलूँगा। मुझको अभिमान है कि महात्मा जी मुझको भाई कहकर पुकारते हैं। मैं अपने में किसी को शिक्षा देने की योग्यता नहीं समझता, किन्तु देश के किसी भी सेवक से मैं स्वयं शिक्षा लेने का अभिलाषी हूँ।"

× × ×

सम्भवतः यही अवसर था, जब कि इस मानपत्र में गांधी जी के लिए सबसे पहले "महात्मा" शब्द का प्रयोग किया गया था। स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज तब "महात्मा मुंशीराम" के नाम से विख्यात थे और "महात्मा" ही कहे जाते थे। इसीलिये गांधी जी ने उनके लिये इसी शब्द का प्रयोग किया था। इसके बाद तो यह शब्द गांधी जी के नाम के साथ प्रयुक्त होकर और भी अधिक सार्थक हो गया। साबरमती आश्रम के सन्त और चम्पारन के सत्याग्रही वीर के लिए इस शब्द का प्रयोग साधारण रूप से किया जाने लगा। असहयोग और सत्याग्रह महामंत्र देकर गांधी जी जब प्रकट हुये तब "सत्य" और "अहिंसा" के देवदूत के लिए सिवाय "महात्मा" के दूसरा कोई शब्द उपयुक्त हो ही नहीं सकता था। इस प्रकार महात्मा मुंशीराम जी ने गांधी जी को महात्मा गांधी बनाया और बाद में समय आया कि स्वामी श्रद्धानन्द बन जाने के बाद महात्मा गांधी ने स्वामी जी को सत्याग्रही बनाया और उस महान् सत्याग्रही ने दिल्ली में एक नये इतिहास का निर्माण किया।

बेलगाँव में कांग्रेस के अध्यक्ष चुने जाने पर गांधी जी ने स्वामी जी को अति आग्रह के साथ वहाँ बुलाया था और अपने भाषण में कांग्रेस के सामने अपने अधिवेशनों के लिए गुरुकुल कांगड़ी के उत्सवों का आदर्श उपस्थित करके उसको गाँवों की ओर जाने का आदेश दिया था। ●

महात्मा मुंशीराम जी और गुरुकुल की स्मृतियाँ

—श्री रैम्जे मैकडानल्ड

[सन् १६१३ में श्री रैम्जे मैकडानल्ड—जो उस समय ब्रिटिश पार्लियामेंट में मजदूर दल के नेता थे और बाद में वहाँ के प्रधान मंत्री बने—भारत आये थे और उन्होने ८ नवम्बर १६१३ को गुरुकुल का भी अवलोकन किया था। उन्होंने अपनी इस गुरुकुल-यात्रा के संस्मरण लिखे थे, जो 'डेली क्रानिकल' में प्रकाशित हुए थे। उन्हीं स्मृतियों का हिन्दी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत है।]

जिन्होंने भारतीय राजविद्रोह का अध्ययन किया है उन्होंने गुरुकुल—जहाँ आर्यसमाज के कुमारों को शिक्षा दी जाती है—का नाम अवश्य सुना होगा। यह शिक्षणालय आर्यों की वृत्तियों और आदर्शों का सबसे अधिक अनुरूप प्रतिबिम्ब है और इस प्रगतिशील धार्मिक संस्था (आर्य समाज) के विरुद्ध उठाये गये सभी संदेह इस पर केन्द्रित हो गये हैं। इसी कारण सरकार की इस पर वक्र दृष्टि रही है। पुलिस के कर्मचारियों ने इस पर रिपोर्ट तैयार की है तथा अधिकांश अर्धगोरों के दोषारोषों का यह पात्र रहा है। मुझे बताया गया कि रात्रि में यात्रा करके, सप्ताह के अन्तिम दिनों में इस शिक्षण संस्था का अवलोकन मेरे लिये बहुत अनुकूल रहेगा। मैं दिल्ली से हरिद्वार जाने वाली एक गाड़ी में, जिसकी चाल मध्यवर्ती स्टेशनों पर विराम करने के कारण अनुमानतः दस मील प्रति घण्टा रही होगी, सवार हुआ। निद्रा लाने का प्रयत्न करते हुये जैसे-तैसे रात कटी।

प्रभात बेला में हरिद्वार पहुँचा, जहाँ गंगा नदी पर्वतों की गोद छोड़कर नीचे मैदान में उतरी है। स्टेशन आत्मिक पापशुद्धि की विश्वव्यापिनी और शाश्वत पिपासा से प्रेरित तीर्थ-यात्रियों से भरा पड़ा था। यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि इनमें से बहुत से लोग बहुत दूर से आये हुये हैं। वृक्षों से ढकी हुई पहाड़ियाँ शीष उठाये खड़ी थीं। पवन इंगलिस्तान के शिशिर काल के प्राभातिक झोंकों-सा तन को काटता हुआ बह रहा था। हमने पैदल ही यात्रा प्रारम्भ की। नदी तीर पर पहुँचते ही सामने का दृश्य खुल गया। समीपवर्ती पहाड़ियाँ, महान् हिमालय के हिममंडित शिखरों के चरणों में सविनय साष्टांग प्रणिपात करती हुई-सी दीख रही थीं। सरिता की एक-एक तरंग, अधित्यका का एक-एक गुल्म, और एक-एक हिम-मंडित प्रदेश सूर्य की स्वर्णमयी आभा से भासमान था।

किनारे के पत्थरों पर एक तमेड़ (बाँस की खपच्चियों से सुबद्ध, मिट्टी के तेल के पीपों का एक बेड़ा) रखी थी। इस पर बैठा कर हमें धारा में डाला गया।

दूसरे ही निमेष में हम मध्यधारा में पहुँच गये। गहरे जल में हम निश्शंक बह रहे थे। अकस्मात् नदी की तली हमारे नीचे साथ-साथ सरकती हुई मालूम हुई। तमेड़ झटके के साथ टकराई। पानी छीटों में उड़ा। नन्हा बेड़ा तत्क्षण ही झाल में होकर गहरे जल की भंवरियों तथा लहरियों में पड़कर पूर्ववत् स्थिर हो गया। चक्कर देती हुई झूले खिलाती हुई और छीटें उड़ाती हुई नदी अपने भार को वेग से लिये जा रही थी। बन्दर हमें देखकर दाँत किटकिटाते थे। बन के अद्भुत दृश्य क्षण भर झाँकी दिखा कर दूसरे ही क्षण लम्बी झाड़ियों में मुँह छिपा लेते थे। एक रेतीली खाड़ी में हम उतरे और एक उत्तप्त और बालुकामय मार्ग से वन में प्रविष्ट हुये। हमारे सिरों से कहीं ऊँची पीली घास खड़ी थी। पर्वतीय शीतल पवन की हिलोरें अब बन्द हो गई थीं, सूर्य का ताप शनैः-शनैः दुःसह होता जा रहा था। अन्त को हम वृक्षों से अंशतः आच्छादित एक लम्बी और सीधी सड़क पर पहुँचे। सुदूर, एक उन्नत बाँस के सिरे पर, एक पताका दीख पड़ी। गुरुकुल दृष्टिगोचर होने लगा।

गुलाब और चमेली के पुष्पों से सुवासित मार्गों से भोजनालय और पुष्पवाटिकाओं में से होकर गुरुकुल पहुँचते हैं। चारों ओर क्रीड़ा क्षेत्र है। मध्य में वर्गाकार छात्रावास स्थित है। सिंह द्वार (प्रवेश द्वार) पर वेदों के सनातन सूत्र पवित्र" ओ३म्" नाम से अंकित ध्वजा फहराती है। सम्प्रति यहाँ ३०० बालक शिक्षा पा रहे हैं। प्रवेश के समय इन की उम्र अनिवार्यतः ६-१० वर्ष के अन्दर होनी चाहिये। पच्चीस वर्ष की आयु तक उन्हें यहाँ रहना होता है। उन्हें मुंशीराम जी (जो कि अब "महात्मा जी" इस उपनाम से प्रसिद्ध हैं) के न्यायोचित संरक्षण में छोड़ दिया जाता है। वह उनके पिता हैं और ये उनके बालक। चार बजे प्रातः वे अपनी कठोर चीड़ के तख्तों की शय्या छोड़ कर उठ बैठते हैं, व्यायाम करते हैं और शीतल जल से स्नान करते हैं। तब प्राभातिक संध्या (प्रार्थना) होती है। उष्ण ऋतु में नंगे सिर, नंगे पाँव चलते हैं।

"संभव है, उन्हें संयोगवश कभी कठोर जीवन व्यतीत करना पड़े। अतः हमें उनको इसके लिये अभ्यास कराना चाहिये" महात्मा जी ने मुस्कराते हुये मुझे कहा। पीताम्बर शिक्षणालय का गणवेश है। यहाँ रहते हुये विद्यार्थी अपने माता-पिता को बहुत कम देख पाते हैं। परन्तु यहाँ विद्यालय भूमि में प्रति वर्ष एक बड़ा मेला (उत्सव) भरता है। सहस्रों की संख्या में जनता आती है। माता-पिता इसमें सम्मिलित होते हैं। विशेष झोंपड़ियाँ तैयार की जाती हैं। प्राचीन अंग्रेजी मेलों की-सी भीड़ एकत्र होती है। दीर्घावकाश में बालकों को उनके अध्यापक भारत भूमि के प्रसिद्ध स्थानों में ले जाते हैं। इन यात्राओं में वे कश्मीर तक भी हो आये हैं।

शासक वर्ग के मानस और दृष्टि के लिये, यह सब एक अशान्ति जनक समस्या है। कार्यकर्त्ताओं और अध्यापकों में कोई अंग्रेज नहीं, अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम नहीं, पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा भारतीयों की उच्च शिक्षा के मूल स्तम्भ के तौर पर निर्दिष्ट अंग्रेजी-साहित्य की पाठ्य-पुस्तकें यहाँ प्रयुक्त नहीं होतीं, विद्यार्थी

सरकारी विश्वविद्यालयों में नहीं भेजे जाते । महाविद्यालय अपनी ही पदवियाँ देता है । यथार्थतः यह कानून भंग है । आश्चर्य से स्तब्ध अधिकारियों का इसे एक ही साँस में राजद्रोह कहना अनिवार्य था । परन्तु उसे गुरुकुल पर अन्तिम निर्णय कदापि नहीं कह सकते । सन् १८३५ में मैकाले ने सहकारी पत्रक में अपने विचार प्रस्तुत किये थे । तब से भारतीय शिखा के सम्बन्ध में किये गये प्रयत्नों में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण है । उन विचारों से भारत में प्रत्येक असन्तुष्ट है । परन्तु जहाँ तक मैं जान पाया हूँ, गुरुकुल के प्रवर्तकों के अतिरिक्त अन्य किसी ने भी अपने असन्तोष को नवीन प्रयोग के रूप में परिणत नहीं किया है ।

एक उन्नत-काय, दर्शनीय मूर्ति (प्रभावपूर्ण सौन्दर्य की प्रतिमा) हम से भेंट करने आती है । आधुनिक सम्प्रदाय का कलाकार ईसा की प्रतिकृति घड़ने के लिये आदर्श के रूप में इसका स्वागत करता है और मध्यकालिक रुचि का चित्रकार इसमें सन्त पीटर का रूप देखता ।' महात्मा जी हमें नमस्कार करते हैं । और हम उनके अभ्रक-जटित "ओ३म्" नाम से अलंकृत सादा साज-सज्जा वाले कमरे में प्रवेश करते हैं । मुझे दिये गये कमरे में शुभ्र वस्त्र से ढकी मेज पर उज्ज्वल वर्ण की पत्तियों से मिश्रित, लाल फूलों से भरे, दो गुलदस्ते रक्खे हुये हैं । किसी अतिथि को कभी इससे अधिक मनोहर कोठरी नहीं मिली । एक सेवक हमारे हाथों पर पानी डालता है और हमें एक अंगोछा देता है । जूते बाहर कर हम एक कमरे में प्रवेश करते हैं, जहाँ भोजन परोसा गया है । महात्मा जी भोजन से पूर्व प्रार्थना करते हैं, हमारा मस्तक नत हो जाता है । मैंने अनेक प्रार्थनाएँ सुनी हैं, पर ऐसी कभी नहीं सुनी थी । हमारे यजमान की संस्कृत स्वरों पर तूल देती हुई धन-गम्भीर वाणी पापशुद्धि के आभार सम्बन्धी संगीत का पूरा-पूरा अनुकरण कर रही है ।

भोजन समाप्त होता है और हम शिक्षणालय की परिक्रमा करने को निकलते हैं । सर्वत्र सुव्यवस्था और प्रसन्नता है । उज्ज्वल चमकीले नयनों वाले बालबटु और प्रशान्त मुद्रा वाले बड़े कुमार, कहीं मिट्टी में खिलौने बनाते हुये, कहीं मिलकर अपना पाठ दुहराते हुये, कहीं श्लोक-पाठ करते हुये और कहीं अपने गुरुओं के व्याख्यान सुनते हुये (क्योंकि गुरुकुल में व्याख्यान द्वारा ही अधिकृत अध्यापन होता है) श्रेणियों में बैठे हैं । विद्यालय समाप्त होता है । तुरन्त ही ब्रह्मचारियों का, बड़ी उमंग से क्रीड़ा क्षेत्र की ओर धावा प्रारम्भ होता है । प्रत्येक छात्र गुजरता हुआ अपने आचार्य के पाँवों में झुककर और अंजलिबद्ध हाथों को उठा कर अभिवादन करता है ।

दोपहर ढल जाने पर हम वन में भ्रमणार्थ जाते हैं । महात्मा जी हमसे सुनी गई बातों की चर्चा करते जाते हैं । वह परिधान, अंगों का वह गठन, वह चाल-ढाल, वह लम्बा दण्ड, किशोरावस्था में प्रति रविवार को प्रार्थनालय के द्वार पर देखे हुये गेलिलि के भ्रमण के दृश्य आचार्य-स्मृति कराते हैं । एक मैं ही अपने अंग्रेजी वेश में मंडली और उसके अभिनयों में उपहासास्पद हो रहा हूँ । प्रतीची दिशा, अस्तोन्मुख

सूर्य के प्रभा-मंडल से झिलमिला रही है। अर्धचन्द्र कब से ऊँचे सिर पर आकर रजत वर्ण की चन्द्रिका छिटका रहा है। रात्रि का पवन तथा उसके साथ लम्बी वनस्पतियाँ भी मौन धारण कर रही हैं। कम्पित वस्तुओं की मर्मर ध्वनि स्पष्ट सुन पड़ती है। शीत हमारे ऊपर उतर रहा है। गुरुकुल अंधकार में मग्न है। परन्तु छात्रावास के मध्य भाग में जलने वाली अग्नि शिखायें आश्रम के द्वारों में से दिखाई दे रही हैं। आंगन मन्त्रोच्चारण के शब्द से परिपूर्ण हो रहा है। घास पर चटाइयाँ बिछाकर बुद्ध की प्रतिमा सी छोटी-छोटी शुभ्र मूर्तियाँ बैठी हैं। उनमें गति नहीं है। वे हमारी ओर दृष्टि भी नहीं उठाते। उनकी सामूहिक प्रार्थना (सन्ध्या) समाप्त हो चुकी है। अब वे अलग-अलग एकाग्र चित्त होकर ध्यान में मग्न हैं।

कमरे के अन्दर फर्श में स्थित एक कुण्ड में अग्नि प्रज्वलित है। चारों ओर अध्यापक वृन्द और छात्र मण्डल बैठा है। वह अपने एक प्राचीन धर्मकार्य (अग्निहोत्र) का अनुष्ठान कर रहा है। ज्वाला के हल्के प्रकाश में अपने सन्मुख रखे हुये एक पात्र में चम्मच डुबोते हुये और अग्नि में कुछ डालते हुये अधिष्ठाता को हम निहारते हैं। सहसा लौ ऊपर उठती है। एक स्वर में कोमल वाणियाँ पुकारने लगती हैं—"सर्वज्ञ, ज्ञान के दाता, ज्योतियों के ज्योति, परमेश्वर को हम आत्मार्पण करते हैं।" अब कुछ काल विराम होता है। ज्वाला नीचे उतरने लगती है। इतने में एक दूसरी आहुति डाली जाती है। ज्वाला पुनः लपक उठती । कमरों की भित्तियों में और छतों पर पीली आभा छा जाती है और प्रहसन के नृत्यों के से दृश्य अंकित हो जाते हैं। पुनः तोतली बोलियाँ पुकारती हैं—हे प्रभो, हम तुझे आत्मदान करते हैं, जो तू एक-एक में रम रहा है।" इसी प्रकार क्रमशः विराम, प्रकाश और मन्त्र पाठ होता है। अन्त में यज्ञ-पाठ होता है, अग्नि शान्त हो जाती है। गुरुकुल के आंगन को प्रकाशित करने के लिये अब एक मात्र तारे रह गये।

एक बार फिर हम अपने हाथ बाहर निकालते हैं। नौकर उन पर पानी डालता है। जूते उतार कर हम उन्मुक्त पवन में, सायंकालिक भोजन के लिये चटाइयों पर बैठते हैं। हमारे चरणों में, गंगा आह्लादकारी कलकल करती हुई, पत्थरों में से होकर वेग से बह रही है, ऊँची-ऊँची घासों की ऊँची-ऊँची शिखायें चन्द्र-ज्योत्स्ना को झेल रही हैं। वन-भूमि ओस से व्याप्त हुई-सी झिलमिला रही है। दूर बहुत दूर से आते हुये, अस्फुट वन्य शब्द भूतों और पथभ्रष्ट आत्माओं का भान कराते हैं। मानों स्वप्न में मैं किसी को कहते सुनता हूँ—

"हमें और कुछ नहीं चाहिए। हमें शान्ति से प्रभु का भजन करने दो।" क्या यह राजद्रोह है ? ●

एक स्मृति

—श्री जयदेव शर्मा विद्यालंकार

मैं १३वीं कक्षा में पढ़ता था (सन् १९१३ ई०)। सरदियों के दिन थे, कदाचित् जनवरी का महीना था। श्री स्वामी श्रद्धानन्द (तात्कालिक महात्मा मुंशीराम) अपने खटुवा वाले गंगा तट पर बने बंगले में रहते थे। हमारी बैरक छः छात्रों की थी; उसके ऊपर टीन की छत, नीचे पक्की ईंटों का फर्श था और बंगले के आगे पूर्व की ओर बनी थी। प्रातः लगभग ७–७½ बजे होंगे। मैंने एक आवाज धीमी सी सुनी 'कोई है'। मैं फौरन अपने कक्ष से बाहर आया। देखा बंगले को जाने वाली कच्ची सड़क पर एक पतला सिकुड़ा आदमी काला कम्बल ओढ़े, नंगे पैर, सिर नंगा, बड़ी उत्सुक जिज्ञासा लिये खड़ा है। मैं पास आया, नमस्ते की और पूछा—'महाशय जी, आप किनको पूछते हैं।' उत्तर मिला—'श्री महात्मा मुंशीराम जी को। उनका बगला कहाँ है?'

मैं जानता नहीं था कि कम्बल में लिपटा यह पतला-सिकुड़ा आदमी कौन है, बेमौके और बे सूचना यह कौन हमारे आचार्य प्रवर को पूछ रहा है? कुछ देर सोचा। परन्तु मैंने सब विकल्प छोड़ कर उनसे कहा—'आप मेरे साथ चलिये।' मैं आगे, वे कम्बल वाले महाशय मेरे पीछे-पीछे। सीधा बंगले में पहुँचा। उस समय महात्मा जी मेज पर कुछ लिख रहे थे। भीतर ले जाकर मैंने उनसे कहा—'ये महाशय आपको पूछते हैं।' यह कह कर मैं तो चला आया।

बाद में पता चला कि ये महाशय महात्मा गांधी थे। हरिद्वार से सीधे चले आ रहे थे। मार्ग पूछते-पूछते बंगले पर आ गये। उनके पास न बिस्तर, न झोला, बस तन पर एक कम्बल, गले में कुर्ता, एक जाकट सादी सी, नीचे धोती और कुछ नहीं। यह बात उस समय खुली जब उनके स्वागत में सभा हुई, उनका परिचय कराया गया। महात्मा गांधी उस समय दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह से भारत आये थे।

यह मेरे वैयक्तिक अनुभव की घटना है। मैं कुछ मिनटों के लिये दोनों महात्माओं के मिलवाने में एक स्वल्पकालिक सहयोगी कारण बना था, इसलिये इसकी स्मृति अभी तक बनी है। ●

चाचा मुंशीराम

—श्री संत निहालसिंह

उस दिन मुझे एक पत्र मिला, जो लाहौर में स्थित 'रतीगान रोड' से डाला गया था। 'रतीगान रोड' का नाम पढ़ते ही सहसा कुछ पुरानी स्मृतियाँ जागृत हो गईं। मि० (बाद में सर) रतीगान—जिनके सम्मान में इस सड़क का नाम रक्खा गया है—पंजाब के बड़े प्रसिद्ध अंग्रेज बैरिस्टर हुए हैं। सन् १८९० के आसपास की बात है, जब मैं अभी बच्चा ही था, पंजाब भर में उनकी वकालत व विद्वत्ता की धाक थी। छोटे-बड़े सभी के मुंह पर रतीगान का नाम चढ़ा था, यहाँ तक कि स्कूलों के बच्चे एक-दूसरे की हँसी उड़ाया करते थे—ओ हो! क्या कहने रतीगान साहब के।

मैं स्कूल का एक विद्यार्थी बालक था और अपने पिता के साथ होशियारपुर में रहता था। एक बार वे शाम को कचहरी से घर आये और मुझ से बोले—"तुम हमेशा लाहौर के अंग्रेज वकील मिस्टर रैटीगन के बारे में बात किया करते हो और दूसरे पंजाबियों की तरह जान पड़ता है कि तुम भी ऐसा ही समझते हो कि जीवित मनुष्यों में वही सब से अधिक बुद्धिमान् है। वास्तव में तुम लोगों ने दूसरों को छेड़ने के लिए यह एक मुहावरा सा बना लिया है कि 'तू कोई रैटीगन है' या आप तो अपने को रैटीगन ही समझते हैं। अच्छा बेटा, कल तुम एक ऐसे आदमी से मिलोगे जो रैटीगन से भी अधिक योग्य है और जिसने उसको उसके ही व्यवसाय में पछाड़ दिया है। उसने सबके सामने उसको खुली कचहरी में हराया है। वह भी वकील है और जालन्धर में रहता है। वह कल कचहरी में एक मुकदमे का सलाहकार होकर आ रहा है। मैं तुमको अपने साथ ले जाऊँगा और उससे मिलाऊँगा। उसका नाम मुंशीराम है और वह रायजादा भगतराम का—जिसको तुम चाचा कहते हो—भाई है।

ओह! रैटीगन को हरा दिया, कैसा बुद्धिमान् आदमी होगा—मैं सोचने लगा। कैसा होगा वह आदमी? शीघ्र ही मस्तिष्क ने एक कल्पना-चित्र बनाया जो मेरी आँखों के आगे थिरकने लगा। बड़ा भारी सिर, चौड़ा ऊँचा माथा, ऐनक चढ़ी चुंधियाई हुई आँखें और कमर झुकी हुई—इन सब गुणों का मैंने अपने कल्पना-चित्र में समावेश किया।

सवेरा हुआ और मैं बड़े चाव से अपने पिता जी के साथ कचहरी को चला। हम वहाँ पहुँचे ही थे कि पिता जी ने खिड़की से एक बड़े लम्बे और चौड़े कन्धे वाले मनुष्य को आते दिखलाया, जिसका वास्तविक चित्र मेरी कल्पना से बिल्कुल भिन्न था। लम्बा-चौड़ा पूरा देव का देव। अकड़कर सीधा खड़ा हुआ मानों कोई

पहलवान हो। पहलवानी बेशक कर ले, पर बहस करना इसके बस की बात नहीं मालूम पड़ती। पंजाब के सबसे विद्वान् वकील को हराना कोई हँसी खेल है। शायद पिता जी ने मुझे बहका दिया है—मेरा अधकचरा मस्तिष्क सोचने लगा। परन्तु वास्तविकता वही थी जो पिता जी ने बतलाई थी। लाला शामदास उन दिनों होशियारपुर के सरकारी वकील थे। उन्होंने मुझे बताया कि एक तरफ मि० रैंटीगन थे और दूसरी तरफ लाला मुंशीराम। लाला मुंशीराम ने कानूनी युद्ध में विजय पाई।

पिता जी ने उनसे वे सब बातें बतलाने को कहा कि किसप्रकार वे अपने मवक्किल के लिए कचहरी में हाजिर हुए और कैसे उन्होंने उस भारी अंग्रेज वकील से—जो उन दिनों पंजाबियों की दृष्टि में बुद्धिमत्ता का अवतार माना जाता था—वादविवाद में लोहा लिया, कैसे दोनों ने अपने-अपने तर्क रक्खे तथा किस प्रकार न्यायालय ने रैंटीगन के तर्कों को ठुकरा कर हिन्दुस्तानी वकील के पक्ष में फैसला किया। चाचा मुंशीराम जी—जैसा कि मैंने उनको तभी से कहना आरम्भ कर दिया था—खिलखिला कर हँस पड़े, वह खुले दिल की हँसी थी, उसकी आनन्दमयी गूँज आज तक मेरे कान में आ रही है।

'ओह!' चाचा मुंशीराम ने नम्रतापूर्वक कहा—"उस तरह की बातें तो कचहरी में प्रतिदिन ही हुआ करती हैं, कम से कम दो पक्ष हरेक मामले में होते हैं। एक जीतता है और दूसरा हारता है। उस मौके पर रैंटीगन हारा और मैं जीता, किन्तु कौन कह सकता है कि कल ही रैंटीगन दूसरा मुकदमा लेकर मेरे विरुद्ध खड़ा हो, वह जीते और मैं हारूं। वह बड़ा होशियार वकील है और मुझे तो इस समूचे व्यवसाय से घृणा है। मेरा मन इस में कभी नहीं लगा, मैं इसे छोड़ना चाहता हूँ, मैंने इसका निश्चय कर लिया है। मेरे बालक मित्र! तुम कभी वकील न बनना। यदि तुम्हारे मन में कभी ऐसा विचार भी आया हो तो उसको भुला देना।"

चाचा मुंशीराम से मिलने के कुछ ही देर बाद और उनके उपर्युक्त भाव सुन कर मुझे अनुभव हुआ कि उनकी आवाज ऊँची. पर सहृदयता से भरी थी। उन्होंने मुझे प्रेम से अपने पास बुलाया और थोड़ी ही देर में हम खुल कर बात मैं करने लगें। बिना किसी प्रकार के संकोच के मैंने उन्हें बताया कि "मेरी इच्छा को लेखक बनने की है और मेरा सारा खाली समय शार्टहैण्ड सीखने में लगता है। वकील कभी नहीं बनूंगा, कभी नहीं, कभी नहीं।" यद्यपि मेरा यह निश्चय मेरे पिता अच्छा नहीं लगा, क्योंकि उनका विचार था कि मैं चाचा भगतराम के पद चिन्हों पर चलूं और लन्दन से सोलहों आना बैरिस्टर बन कर भारत लौटूं, परन्तु चाचा मुंशीराम मेरे संकल्प को सुन कर बहुत ही प्रसन्न हुए और मेरी पीठ थपथपाते हुए उन्होंने कहा—'तुम्हारा ध्येय बहुत सुन्दर है। धैर्य तथा परिश्रम द्वारा तुम अवश्य सफल होगे।' मेरा उत्साह बढ़ाने से मेरी उन पर कुछ श्रद्धा सी हो गई।

लाला मुंशीराम उन दिनों सामाजिक व्यवस्था में हलचल मचाने वाले समाज के सदस्यों में गिने जाते थे। हिन्दुओं में आत्मविश्वास तथा निर्भीकता पैदा करना उनका ध्येय था। अब तक जो कार्य अहिन्दू करते आये थे (जैसे बुनाई-रंगाई आदि), उन कार्यों को वे हिन्दुओं को भी करने के लिए प्रेरित करते थे, ताकि आर्थिक दृष्टि से हिन्दू पीछे न रहें। परन्तु इन हलचलों से कुछ झगड़े उत्पन्न हो गये। हिन्दुओं के प्रति दूसरों में दुर्भावनाएँ पैदा हो गईं। शास्त्रार्थों एवं विवादों से मुसलमान और ईसाई चौकन्ने व चिन्तित हो उठे।

हिन्दुओं से अधिक सरकारी अफसर आर्य सभाओं को घृणा की दृष्टि से देखते थे। वे इन्हें 'शैतान का अवतार' समझते थे। क्योंकि वे समझते थे कि ये लोग शान्तिप्रिय जनता में झगड़ा फैलाते हैं। स्वयं तो सरकार 'जी हजूर' थे ही नहीं, दूसरों को भी अकड़ कर चलना बताते हैं।

इन सब बातों को मैं तब भलीप्रकार न समझ पाता था, परन्तु इतना समझता था कि मेरे नये 'चाचा जी' इस सामाजिक क्रांति के अगुआ थे। क्रान्ति तो उनके जीवन की मानो श्वास थी और यह बात मुझे भली प्रकार विदित थी कि उनके एक प्रिय साथी पं० लेखराम को किसी मजहबी दीवाने ने हुतात्मा बना दिया था।

ज्यों-ज्यों चाचा मुंशीराम को अधिक से अधिक देख पाया, त्यों-त्यों मैं उनके अधिकाधिक निकट होता गया। जब कभी मुझे उनसे मिलने का अवसर मिलता था, वे मेरी लेखन-कला के बारे में अवश्य पूछा करते थे। एक दिन जब वे और मैं अकेले ही थे वे मुझे अपने पिछले जीवन के कुछ पृष्ठ खोल कर सुनाने लगे। उन्होंने कहा—"एक समय अपने विद्यार्थी जीवन में मुझे जितना परिश्रम से पढ़ना चाहिये था, मैं उतना नहीं पढ़ता था। परीक्षा में मैं फेल हो गया। पिता जी को बड़ी निराशा हुई, जिससे मुझे स्वयं अपनी दृष्टि में गिर जाने की अपेक्षा भी अधिक दुःख हुआ। देखो! तुम ऐसी भूल न करना।"

शब्द व वाक्य दुबारा कहने का उन का अपना निराला ढंग था। जो कुछ वे कहते थे खूब प्रभाव डाल कर कहते थे।

इसी समय या शायद इसके कुछ बाद चाचा मुंशीराम जी ने एक दिन मुझे बतलाया कि उन्हें वकालत से रुचि नहीं थी। लेख लिखना और भाषण—इनमें उनको तीव्र रुचि थी, परन्तु वकालत से अवकाश ही नहीं मिलता था। फिर मुकदमे को घर पर भली प्रकार समझना पड़ता था, कोर्ट में जाकर फाइल इत्यादि देखना और पैरवी करना—इन सब बातों में समय बचता ही नहीं था। और फिर इस व्यवसाय में छल-कपट-धोखा इन सबसे इन्हें सख्त घृणा थी। वह यह सब छोड़ना चाहते थे।

"फिर आप क्या करेंगे चाचा जी?" मैंने पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि "फिर, फिर मैं लिखूंगा। लिखूंगा और उपदेश दिया करूंगा।" उपदेश का नाम सुन कर मैं चौकन्ना हो गया। इस उपदेश से सिख धर्म—जिसमें मैंने जन्म लिया था—को भी भय था, ऐसा लोगों से मैंने सुना हुआ था, और फिर पिता जी ने बड़े

भय के स्वर में मुझे सावधान कर दिया था--"देखो, जो तुम्हारी इच्छा हो लाला मुंशीराम से बात करो, परन्तु ध्यान रखना कहीं तुम उनकी बातों में 'आर्य' न बन जाना।'

× × ×

कुछ साल बाद जब कि मैं लाहौर में कॉलेज में पढ़ रहा था, मैंने सुना कि चाचा मुंशीराम जी ने वकालत छोड़ दी है और वे एक शिक्षा-संस्था खोलने वाले हैं। वह एक शिक्षणालय होगा, किन्तु ऐसा नहीं जिसमें कि मैं पढ़ता था। वास्तव में वह इससे बिल्कुल ही निराला होगा तथा प्राचीन ऋषियों की उस शिक्षण प्रणाली पर चलाया जायेगा जो कि भारत के स्वर्ण युग में प्रचलित थी।

मुझे स्मरण है कि किसी ने महात्मा मुंशीराम जी से प्रश्न किया था कि शिक्षाप्रणाली के विषय में उन्होंने क्यों ऐसा दुस्साहस किया। उनका उत्तर था—"अपने पुत्रों के लाभ के लिए। जब वे शहर की गन्दी गलियों में रहते यथा घूमते-फिरते हैं तो उनका वैसा चरित्र गठन होना कठिन है, जैसा कि मैं चाहता हूँ। वे वहाँ स्त्री-पुरुषों को गन्दी बातें बकते सुनते हैं और फलस्वरूप वैसा ही बोलने लगते हैं। वे जनता के व्यय से चलाये हुए शिक्षणालयों में जाते हैं, जहाँ वे केवल लिखना-पढ़ना ही नहीं सीखते, वरन् बहुत सी दुष्टताएँ भी सीखते हैं। वे बालक जो उनके खेल तथा शिक्षण के साथी होते हैं उनको बुरी आदतें सिखा देते हैं। किन्तु प्राचीन प्रणाली के अनुसार चलाये हुए गुरुकुलों में बालक इन दुर्व्यसनात्मक प्रभावों से बचे रहेंगे। वे इन शिक्षकों के संरक्षण में न रहेंगे जो तुच्छ वेतन के लिए कार्य करते हों, बल्कि उनके संरक्षण में रहेंगे जिनके हृदय शुद्ध और उद्देश्य महान् होंगे।" महात्मा जी की इस वक्तृता का उल्लेख सर रैमजे मैकडॉनल्ड—जो प्रथम मजदूर पार्टी के नेता थे तथा बाद में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री हो गये थे—ने सन् १९१३ या १९१४ में मुझ से लन्दन में किया था।

× × ×

वास्तव में यह संस्था (गुरुकुल) शताब्दियों से प्रचलित शिक्षा की दूषित प्रणालियों की आलोचना का जनता को उत्तर था। वे लोग उसकी (महात्मा मुंशीराम की) ही भांति आर्यसमाजी थे, किन्तु वे प्रचलित शिक्षा-पद्धति—जो ईसाई मिशनरी तथा तात्कालिक सरकारी अफसरों द्वारा निर्धारित की गई थी--से संतुष्ट थे। उन्होंने उनके कार्य की तथ्यहीनता तथा संकुचित दृष्टि की दिल खोल कर आलोचना की थी। मुंशीराम जी ने कहा था कि "वे सन्तानों को केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही उपयुक्त बनाने के लिये शिक्षित कर रहे हैं। इन विश्वविद्यालयों के डिप्लोमा-प्राप्त विद्यार्थियों की नकेल सर्वदा सरकारी अधिकारियों के ही हाथ रहेगी और उन्हें जीविका के लिये सर्वदा इन्हीं के कार्यालयों के द्वार खटखटाने पड़ेंगे। क्यों नहीं ये शिक्षणालय ऐसे स्नातक उत्पन्न करते जो प्रचारकों के उत्साह से पूर्ण होकर भारत तथा देश-देशांतरों में जा कर भारत के सांस्कृतिक स्वत्व इत्यादि का प्रचार करें।"

महात्मा जी की गुरुकुल-प्रतिष्ठा ने दिखा दिया कि यदि वे दूसरों की त्रुटियाँ निकालने में सिद्ध-हस्त थे तो वे उन त्रुटियों को पूरा करने और उनके रिक्त स्थान को भरने में भी कुशल थे। उन्होंने अपनी विशेष शक्ति वैदिक शिक्षा-प्रणाली को पुनः प्रतिष्ठित करने में लगा दी। उनका यह दृढ़ विचार था कि ऐसे मनुष्य उत्पन्न किये जावें, जो प्राचीन वैदिक संस्कृति के प्रकाण्ड पारदर्शी हो कर पूर्ण उत्साह से उस ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाने की सदिच्छा रखें। उनका सब से अधिक ध्यान इसी सिद्धान्त की ओर था। बहुत से स्नातक जो इस शिक्षणालय से शिक्षित होकर निकले, वे देश के कितने ही धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक तथा अन्य शिक्षणात्मक कार्यों में लगे हुये हैं, उनको इस महापुरुष के प्रति कृतज्ञ होना चाहिये, जिसने इस उत्कृष्ट विचारधारा को जन्म दिया था तथा जिसमें इतनी नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्ति थी कि अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत कर सका। ●

पावन स्मृतियाँ

—श्री जनमेजय विद्यालंकार

सन् १९१५ या १९१६ की बात है। मैं उस समय अष्टम श्रेणी में पढ़ता था। गुरुकुल के पुराने और अनुभवी डा० सुखदेव जी किसी कार्यवश कहीं बाहर गये हुये थे। चिकित्सालय में केवल दो कम्पौन्डर रह गये थे। अकस्मात् मेरी जाँघ में एक गिलटी पैदा हुई और पक गई। उस दर्द से मैं व्याकुल था। कम्पौन्डरों ने महात्मा मुंशीराम जी को समाचार दिया और चीरा लगाने में अपनी असमर्थता प्रकट की। महात्मा जी तत्काल चिकित्सालय में आये, गिलटी को देखा, मुझे बहुत ढाढ़स बंधवाया। तत्काल एक कर्मचारी को हरिद्वार भेजा गया। हरिद्वार के सरकारी हस्पताल के सबसे बड़े डाक्टर को बुलवाया गया। शाम को डा० साहब गुरुकुल की बैलगाड़ी पर सवार होकर गंगा के तीन पुलों को पार करके, हरिद्वार से लगभग ५ मील की दूरी पर पुरानी भूमि में गुरुकुल पधारे। आपरेशन की तैयारी हुई। जिस तख्त पर मैं लेटा हुआ था, उसी पर मेरे सिराहने महात्मा जी चौकड़ी लगाकर बैठ गए। मेरा सिर उन्होंने अपनी गोदी में अच्छी तरह रख लिया। वह उनका वास्तविक अकृत्रिम वात्सल्य था। मैं निहाल हो गया। प्रेम और वात्सल्य से परिपूर्ण वाणी से आचार्य बोले, "पुत्र घबराओ नहीं, डरो नहीं, तुम गुरुकुल के ब्रह्मचारी हो, अष्टम श्रेणी में पढ़ते हो। अभी दो-चार मिनटों में ही अच्छे हो जाओगे।" मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि कोई सगी माता या कोई सगा पिता भी अपने बच्चे पर स्नेह की अमृत वृष्टि इससे अधिक न कर सकेगा। मुझे विश्वास ही नहीं हो सकता कि कभी कुल-पिता महात्मा जी की अपनी सन्तान ने भी इससे अधिक स्नेह उनसे प्राप्त किया होगा। डाक्टर ने तेज चाकू से आपरेशन किया। मैं तड़प उठा, चिल्ला उठा। परन्तु एक क्षण में ही मेरा साहस दुगुना-तिगुना हो गया। कुल-पिता की गोद में पड़ा हुआ मैं उनके उत्साह-वर्धक शब्दों से और उनके अकृत्रिम स्नेहपूर्ण हृदय के मौन प्रवाह से इतना अभिभूत हो चुका था कि दर्द का विशेष अनुभव ही देर तक न हो सका। इस पापी संसार में, जहाँ सर्वत्र बनावटी प्रेम और स्वार्थ का ही बोलबाला है अब मैं जब कभी कुल-पिता के अकृत्रिम और वास्तविक एवं निःस्वार्थ स्नेह का स्मरण करता हूं तो गद्गद हो जाता हूँ, स्मरण मात्र से ही निहाल हो जाता हूँ। उस रात को मैं सुख से सोया। जब प्रातःकाल जागा तो चिकित्सालय के भृत्य ने कहा, "ब्रह्मचारी जी, आज रात भर आप तो खूब गाढ़ी नींद से सोये। महात्मा जी रात में तीन बार यहाँ आये थे और तीनों बार आपको सोते देखकर बहुत सन्तुष्ट हुये थे।"

उस डाक्टर ने सोलह रुपये फीस ली थी तथा उसी रात उसे हरिद्वार भेज दिया गया था। कुछ दिनों बाद मुझे कार्यालय से मालूम हुआ कि डाक्टर ने दो-तीन दिन बाद रुपये वापस भेज दिये थे और पत्र द्वारा महात्मा जी से क्षमा भी मांगी थी कि मैंने गुरुकुल से गलती से फीस ले ली थी।

ईश्वर पर अटूट विश्वास

सन् १९१७ की बात है। गुरुकुल कांगड़ी का वार्षिकोत्सव हो रहा था। कुलपिता ने अभी संन्यास नहीं लिया था। वे तब महात्मा मुंशीराम जी आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी कहे जाते थे। उस समय गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर आजकल की तुलना में बहुत बड़ी भीड़ होती थी। उत्सव के प्रथम और द्वितीय दिवस गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने बड़े अच्छे-अच्छे भाषण दिये थे, अनेक सम्मेलनों में प्रमुख भाग लिया था, इसलिये जनता पर गुरुकुल का बहुत प्रभाव पड़ चुका था। तृतीय दिवस अपराह्ण में होने वाली कार्यवाही प्रारम्भ हो चुकी थी। समय-विभाग में छपा हुआ था कि चार से पौने पाँच बजे तक श्री मुख्याधिष्ठाता जी गुरुकुल की वार्षिक रिपोर्ट पढ़ेंगे और गुरुकुल के लिये धन की अपील करेंगे, तत्पश्चात् धन-संग्रह होगा।

ठीक चार बजे कुलपिता महात्मा मुंशीराम जी खड़े हुए। सारा पण्डाल तालियों से गूंज उठा। बहुत देर तक लोगों ने उच्च जय-जयकारों से उनका अभिनन्दन किया। फिर एकदम निस्तब्धता छा गई। सब लोग महात्मा जी की बात सुनना चाहते थे, इसलिये इतनी लम्बी-चौड़ी भीड़ भी बिल्कुल चुपचाप, निस्तब्ध हो गई। कुलपिता के उस व्याख्यान के प्रारम्भिक दो वाक्य और अन्तिम दो वाक्य मुझे अब तक अक्षरशः वैसे के वैसे स्मरण हैं। व्याख्यान का प्रथम वाक्य ही इतना सधा हुआ और प्रभावशाली था कि जनता पर जादू का सा असर हुआ। महात्मा जी अपनी धीर, गम्भीर तथा गूंजती हुई वाणी में बोले—"देवियो और भद्र पुरुषो ! मैं इस समय आपके सामने गुरुकुल की वार्षिक रिपोर्ट पढ़ने नहीं खड़ा हुआ हूं। गुरुकुल की रिपोर्ट आज तीन दिन से यहाँ बराबर पढ़ी जा रही है और आप उसे बराबर सुन रहे हैं। जो कुछ आप लोग यहाँ देखते हैं या सुनते हैं या अनुभव करते हैं, वह सब इस गुरुकुल की रिपोर्ट ही है।" अभिधा में न कह कर लक्षणा या व्यंजना में कहना—यह उनके व्याख्यानों की अपनी विशेषता थी। इसी विशेषता के द्वारा उनके व्याख्यान जनता के अन्तस्तल तक पहुँचते थे।

व्याख्यान का आशातीत प्रभाव हुआ। अन्तिम वाक्य जो उनके श्रीमुख से उस समय निकले थे, श्रोताओं पर महात्मा जी के व्यक्तित्व की अमिट छाप डाल गये। उन्होंने कहा—"जब मैंने गुरुकुल का कार्य प्रारम्भ किया था तब अपने पर मुझे कम विश्वास था, आप लोगों पर कुछ अधिक था और परमात्मा पर सबसे अधिक तथा पूरा विश्वास था। वही विश्वास अब भी स्थिर है और मैं घोषणा

करता हूं कि यदि आप लोग धन देंगे तो यह गुरुकुल चलेगा, यदि आप लोग धन नहीं देंगे तो भी चलेगा।" ईश्वर-विश्वास से ओतप्रोत इस कथन का जनता पर अद्भुत प्रभाव हुआ था। तत्काल धनसंग्रह किया गया, लगभग एक लाख रुपया एकत्र हो गया था। ऐसा लग रहा था मानो चारों ओर से धन की वृष्टि हो रही हो।

विशाल हृदयता

सन् १९२६ की सितम्बर मास की बात है, बलिदान होने से चार महीने पहले की। अब वे विश्वविदित श्री श्रद्धानन्द जी थे। कुलपिता से यह मेरी अन्तिम भेंट थी। देहली नगर में अपने निवास-स्थान पर वे कुर्सी पर विराजमान थे। मैं उनके दर्शन प्राप्त करने गया था। उन दिनों गुरुकुल कांगड़ी को इस पार लाने या न लाने का आन्दोलन सर्वत्र चल रहा था। आर्यसमाज में और आर्यसमाज के बाहर भी सर्वत्र इस विषय में बहुत उग्र रूप से चर्चा हो रही थी। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज कई बार अपनी दृढ़ सम्मति प्रकट कर चुके थे कि गुरुकुल अपनी पुरानी भूमि में ही रहना चाहिये, कहीं अन्यत्र नहीं जाना चाहिये। हजारों आर्यसमाजी सज्जनों की तरह, और लगभग सभी स्नातक भाइयों की तरह मेरी भी यही सम्मति थी कि गुरुकुल अपनी पुरानी जगह पर ही रहना चाहिये। इसलिये स्वामी जी महाराज से बातचीत करते हुये मैंने यही चर्चा छेड़ दी। मैंने कहा कि "श्री आचार्य रामदेव जी, श्री पं० विश्वम्भरनाथ जी और श्री महाशय कृष्ण जी ये तीन ही व्यक्ति हैं, जो गुरुकुल के स्थान को बदलना चाहते हैं। इन तीनों व्यक्तियों को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब से निकाल देना कोई कठिन काम नहीं है, क्योंकि जनता सब हमारे साथ है। यदि आपकी आज्ञा हो तो आगामी चुनाव में ही ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाये कि सभा के सदस्य इन तीनों को एक भी मत न दें।" इसी तरह की बात अन्य कतिपय स्नातकों ने भी स्वामी जी से कही।

श्री स्वामी जी बड़ी धीरता के साथ गम्भीरता पूर्वक बोले—"अरे भाई, यह निकालने की प्रथा बन्द करो, आर्यसमाज के पास कार्यकर्ता हैं ही नहीं। जो कुछ इने-गिने हैं भी, उन्हें भी बाहर निकाल दोगे तो काम कैसे चलेगा। गुरुकुल को ये लोग जहाँ ले जाना चाहते हैं वहीं ले जाने दो, कोई चिन्ता की बात नहीं है। अब गुरुकुल इतना बड़ा हो गया है कि स्थान-परिवर्तन से भी इसका कुछ अहित नहीं हो सकता। ये लोग गुरुकुल की सेवा ही तो कर रहे हैं, इनके उत्साह में विघ्न मत डालो।" स्वामी जी जिस समय ये वाक्य कह रहे थे उस समय उनके चेहरे पर महापुरुषों के से लक्षण प्रकट हो रहे थे।

इसके बाद अन्य अनेक विषयों पर बातचीत होती रही। श्री स्वामी जी की महत्ता को मैं पहले भी जानता था, किन्तु उनके साथ यह जो अन्तिम भेंट हुई उससे उनकी उदारता तथा विशाल-हृदयता और अन्य महापुरुषोचित गुणों का बहुत अच्छा परिचय मुझे मिला। बड़ी श्रद्धा के साथ मैंने उनकी चरणधूलि अपने मस्तक पर लगाई और नमस्ते करके विदा हुआ।

स्वामी जी की पुण्य स्मृति

—श्री रुचिराम साहनी

जहाँ तक मुझे स्मरण है सन् १८८० ई० में (उन दिनों के ला० मुन्शीराम जी) मुझे स्वामी श्रद्धानन्द जी से प्रथम वार भेंट करने का अवसर प्राप्त हुआ था। उस समय से मृत्यु दिवस तक मेरे हृदय में उनके लिये श्रद्धा और सम्मान का भाव बढ़ता ही गया। यह भाव इतने गहरे हो गये कि पिछले सालों में जब कभी मैं दिल्ली जाता था तो मेरा प्रथम विचार स्वामी श्रद्धानन्द जी को मिलने का होता था। इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रेम भाव दोनों ओर से था।

१९वीं सदी के १८८०वें साल में बहस मुबाहिसों का जोर था। दूसरे नौजवानों की भाँति हम दोनों भी इन में सम्मिलित हुए। एक बार तो हम दोनों पक्षी-प्रतिपक्षी के रूप में भी सम्मिलित हुये। उन दिनों जिस बात ने मुझ पर बहुत असर किया वह यह थी कि स्वामी श्रद्धानन्द जी बाहरी दिखावे की जीत के लिये किसी स्थापना या दम्भ करने को तैयार न थे, अपने बखिलाफ जाने वाली सच्ची बात के कहने में भी संकोच न करते थे। एक बार ऐसे प्रश्न पर एक आर्यसमाजी भाई ने उनको इस प्रकार अपने ही पक्ष के बखिलाफ जाने वाली स्थापना करने पर बुरा भला भी कहा और उन्हें सलाह दी कि हमें वाद विवाद में पक्ष पोषण करने वाली बात ही जनता के सामने रखनी चाहिये, अपने पक्ष के बखिलाफ जाने वाली बातों को सामने नहीं लाना चाहिये। स्वामी जी ने इसका तत्काल जबाब दिया कि "मैं आर्यसमाज स प्रेम इसलिये करता हूँ क्योंकि मुझे सत्य से प्रेम है। मैं आर्य समाज के प्रेम के कारण सत्य से प्रेम नहीं करता।" दूसरे शब्दों में, वह सत्य प्रेम को आर्यसमाज के प्रेम से अधिक महत्त्व देते हैं। सत्य-प्रेम और आर्यसमाज-प्रेम में से वह सत्य-प्रेम को ही अधिक महत्त्व देंगे।

इस छोटे से लेख में स्वामी जी के जीवन की सब स्मरणीय घटनाओं पर प्रकाश नहीं डाला जा सकता, फिर भी कुछ स्मरणीय घटनायें प्रस्तुत कर रहा हूँ।

वह घटना स्वामी जी के जीवन की स्मरणीय घटना है, जब उन्होंने संसार के ऐश्वर्य का त्याग कर सारी शक्ति लगा कर हरिद्वार के समीप कांगड़ी में गुरुकुल स्थापित करने की प्रतिज्ञा की थी। आजकल के आर्यसमाजी स्वामी श्रद्धानन्द की सफलता तथा साहसपूर्वक गुरुकुल स्थापित कर, शिक्षा संबंधी सुधार करने के महान कार्य के महत्त्व को कृतज्ञतापूर्वक शायद अनुभव न करते हों। हम लोग उन दिनों स्वामी जी के इस गुरुकुल सम्बन्धी परीक्षण का मखौल करते थे और हम इस बात का अनुभव न करते थे कि स्वामी जी अपने अदम्य उत्साह तथा सुधारक की कल्पनामयी कुशाग्र बुद्धि से इस परीक्षण को सफल परीक्षण [illegible] ।

इस बात के कहने में कोई संकोच नहीं कि इस परीक्षण के पूर्ण सफल न होने में गुरुकुल कांगड़ी के प्रथम मुख्याधिष्ठाता का दोष न था। मुझे आर्यसमाज-जगत् में कोई ऐसा व्यक्ति दिखाई नहीं देता जो इस लगन और उत्साह से गुरुकुल-सम्बन्धी विचार को मूर्तरूप दे सकता।

परन्तु स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन के पिछले १०-१२ साल विशेष रूप से चमत्कारी साल थे। इन वर्षों में स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने आपको कठिन से कठिन परीक्षाओं में डालने में बिल्कुल भी संकोच नहीं किया। मैं १९१९ के साल को याद करते हुए आज भी काँपता हूँ। इस वर्ष पंजाब प्रान्त को फौजी कानून के शासन की भयंकर यातनाएँ झेलनी पड़ी थीं।

साल के अन्त में जब अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन करने का समय आया तो उस समय जो कांग्रेसी नेता जेलों से बाहर थे उन्हें कोई व्यक्ति न दिखाई देता था जिसे स्वागत समिति का स्वागताध्यक्ष बना कर यह भारी काम सौंपा जा सके। अन्त में लोगों की दृष्टि स्वामी जी पर पड़ी। जनता ने उन्हें यह भारी काम लेने के लिये प्रेरित किया। स्वामी जी ने इस भारी काम को अपने हाथों में लिया और ऐसी सफलता से निर्वाहा कि सब लोगों ने मुक्त कण्ठ से उनके स्वागत-भाषण तथा प्रबन्ध की भूमि-भूरि प्रशंसा की।

बम्बई के मि० नटराजन ने स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द के विषय में टिप्पणी करते हुए लिखा कि स्वामी श्रद्धानन्द जी ने दूर प्रान्तों से आये हुये प्रतिनिधियों के आराम की ऐसी देखभाल की कि किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होने दी।

फिर जब महात्मा गांधी ने सत्याग्रह-आन्दोलन का ऐलान किया तब भी स्वामी जी आन्दोलन की अगली सफ़ में खड़े दिखाई दिये। स्वामी श्रद्धानन्द जी की यह खास विशेषता थी कि वह सदा खतरे वाली जगह पर स्वयं हाजिर होते थे। इसी गुण के कारण वह अपने पीछे मुसीबत का मुकाबला करने या मुसीबतें झेलने के लिये जनता को तैयार कर सकते थे।

इसी प्रकार जब अकाली-आन्दोलन अपने पूरे जोवन पर था, तब स्वामी जी ने उस आन्दोलन के साथ अमली हमदर्दी प्रकट की। मैंने स्वयं अकालियों के सभा-स्थान के पास स्वामी जी को गिरफ्तार होते हुए देखा था। अकालियों के इस दीवान से सिक्खों के जत्थे हर रोज गुरु के बाग में लकड़ियाँ काटने जाते थे।

यह सोचते हुए दुःख होता है कि ऐसा व्यक्ति एक धर्मान्ध व्यक्ति के छुरे का निशाना बना। स्वामी श्रद्धानन्द जी सिपाही थे। जहाँ कहीं, जब कभी उन्हें कर्तव्य की पुकार सुनाई देती थी वह अपना कर्तव्य पालन करने के लिये पहुंच जाते थे। स्वामी श्रद्धानन्द जी का स्वभाव शान्तिप्रिय था। स्वामी श्रद्धानन्द धार्मिक, राजनैतिक तथा सामाजिक कर्तव्यों में भेद-भाव न मानते थे। वह इन कर्तव्यों को एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न रूप में देखते थे। स्वामी श्रद्धानन्द स्वभावतः उदार

आदर्शों वाले धार्मिक तथा सामाजिक सुधारो का शान्तिपूर्वक प्रचार करना चाहते थे।

जहाँ तक मुझे मालूम है कि स्वामी श्रद्धानन्द जी प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने अपने आर्यसमाजी भाइयों के विरोध के होने पर भी जात-पाँत के बन्धन को तोड़ा था।

एक बार किसी बात की सचाई के प्रत्यक्ष होने पर फिर वह उस पर अमल करने में संकोच नहीं करते थे। वह इस की परवाह नहीं करते थे कि उन के इस व्यवहार से उनके शत्रु व मित्र नाराज होते हैं या खुश। स्वामी श्रद्धानन्द वीर पुरुष थे।

२३ दिसम्बर के पवित्र बलिदान-दिवस पर हमें स्वामी श्रद्धानन्द के दिव्य गुणों का स्मरण कर उन्हें अपने जीवन में चरितार्थ करने का संकल्प करना चाहिये। स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन वृद्धों तथा युवकों के लिये ज्योति दिखाने वाला हो।

●

आकर्षक व्यक्तित्व

—श्री घनश्यामसिंह गुप्त

सन् १९०८ से १९१० तक जब मुझे गुरुकुल की सेवा करने का सुअवसर मिला था, तभी महात्मा मुंशीराम जी के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था । वह संपर्क उनके बलिदान तक कायम रहा । उनके पवित्र, त्यागमय और निर्भीक जीवन का असर उन सब पर पड़ता था जो कि उनके सम्पर्क में आते थे । सम्पूर्ण कुलवासियों के प्रति उनका प्रेम अगाध था । युवकों को आकृष्ट करने वाली उनमें शक्ति थी । किससे क्या काम लेना है, वे भली प्रकार जानते थे और युवकों की भावनाओं का आदर करना जानते थे ।

‘आप मेस्टन साहेब से न मिलना चाहें तो कोई बात नहीं’ इस प्रकार के शब्द कह कर उन्होंने मुझे छुटकारा दिया था । सर जेम्स मेस्टन संयुक्त प्रान्त के गवर्नर गुरुकुल देखने आ रहे थे । मैं गणित और पदार्थ विज्ञान का अध्यापक था । बंगभंग आन्दोलन के पश्चात् गरम दलीय विचार का था और युवक काल में मुझ में उद्दण्डता की मात्रा पर्याप्त थी, जिसे मैं अपना उत्साह मानता था । कहीं बातचीत में मुझ से कुछ ठन जाये, इस आशंका से मैं गवर्नर साहेब से मिलना टालना चाहता था और इसकी अनुमति मुझे सहर्ष मिल गई ।

स्वामी श्रद्धानन्द की याद में

—प्रो० सुधाकर एम० ए०

जीवन-जीवन से आता है और जीवन का बल बलिदान से प्रकट होता है। स्वामी जी ने बलिदान की साधना द्वारा अपनी शक्ति का परिचय दिया, परन्तु उस शक्ति का ग्रहण, उसकी स्फूर्ति और प्रेरणा हम इस समय आर्यसमाज में नहीं देखते।

स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन कार्य और जीवन शक्ति को इतना जल्दी भूल जाना अव्वल दर्जे की कृतघ्नता है। कृतघ्नता से हानि महापुरुषों को नहीं पहुँचती, वे तो अपना कार्य समाप्त करके चल देते हैं। हानि उस सन्तति को होती है, जो उनके पीछे आती है और उनके गुणों को भुला कर ठीक मार्ग से विचलित हो जाती है।

स्वामी जी के पीछे आर्यसमाज का बगीचा एक उजड़ा हुआ बगीचा दिखाई देता है, जिसमें से विशाल वृक्ष और सुन्दर सुमन या तो काट दिये गये हैं या कट चुके हैं और जिनके स्थान पर दूसरे पौदों को नहीं लगाया गया। इस उजड़े चमन को कौन हरा-भरा करेगा, यह समयाधीन बात है।

मैंने लगभग ११ वर्ष श्री स्वामी जी की अध्यक्षता में और उनकी सेवा में कार्य किया। गुरुकुल कांगड़ी उनकी सबसे बड़ी उपज थी। उसी की उन्नति और वृद्धि में वे भारत की उन्नति और वृद्धि मानते थे। जो लगन और तत्परता वे गुरुकुल के कार्यों में दिखाते थे, उसको देखकर आश्चर्य होता था। उनके समय में गुरुकुल के बाहर के जगत में, सबसे अधिक चर्चा, गुरुकुल संस्था की ही होती थी। प्रतिदिन गुरुकुल में देश-विदेश के महापुरुष आते और अपनी श्रद्धांजलि उस पर चढ़ाते थे। गुरुकुल उस समय जनता की आँखों में बसता था।

स्वामी जी के स्वभाव में जो असीम सरलता थी उसका भी मेरे चित्त पर भारी प्रभाव था। वे एक आदर्शवादी थे। अपनी सरलता से जिस प्रकार आदर्शों के पीछे पड़ कर वे उनको अपने जीवन में घटाने की चेष्टा करते थे, उसको देख कर आनन्द होता था। स्वामी जी के साथ रह कर हम लोग जमीन पर नहीं चलते थे, परन्तु आकाश में उड़ते थे। चलने और उड़ने के आनन्द में कितना भेद होता है ? मैं एक बड़ी साधारण स्थिति का व्यक्ति था। उड़ने की अपेक्षा चलता था। उड़ते समय जब चलने की बात छेड़ देता था, तो स्वामी जी को अच्छा नहीं लगता था। वे उड़ना अधिक पसन्द करते थे। चलते मार्ग की कठिनाइयों को न वे देखना पसन्द करते थे और न ही उनका चिन्तन।

स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन का सबसे बड़ा गुण उनकी निर्भीकता थी।

जहाँ कठिन समय उपस्थित हुआ, जहाँ संघर्ष का नाद बजा, स्वामी जी वहाँ छाती तान, सबसे आगे मौजूद होते थे। मानो साहस के कार्यों में ही, उनका उज्ज्वल स्वरूप प्रकट होता था। उनके मित्र और शत्रु उनके इस गुण का लोहा मानते थे। उनकी उभरी हुई छाती, लम्बा कद, चेहरे का नूर और अंगों की स्फूर्ति ये सब बातें उनको जनसमूह में, सबसे अलग और सबसे श्रेष्ठ प्रकट कर देती थीं। स्वामी जी प्रकृति से ही जनता के व्यक्ति थे। वे जनता के 'हीरो' थे। जनता उनको जानी थी और वे जनता को पहचानते थे।

स्वामी जी के नेतृत्व में नम्रता भी कूट-कूट कर भरी थी। यह ठीक है कि जब वे मुकाबले पर डट जाते थे तो मार कर या मर कर रहने वाली बात होती थी, लेकिन जब शत्रु को हार मानने की ओर आमादा पाते थे तो दस कदम आगे बढ़ कर उसको आश्वासन देते थे और अपने मृदु व्यवहार से उसको जीत लेते थे और पीछे कड़वाहट नहीं रहने देते थे। हाँ, अक्खड़ शत्रु के साथ अन्त तक क्षात्र-धर्म को नहीं छोड़ते थे।

स्वामी जी की सरलता और श्रद्धा इतनी बढ़ी हुई थी कि इनके कारण वे कई बार दूसरों से धोखा खा बैठते थे। वे धोखा अधिक खाते थे, धोखा देते नहीं थे। सरल प्रकृति सम्पन्न लोगों का यही हाल होता है। मेरा यह अनुभव है कि स्वामी जी की कमजोरियों का कारण वे लोग थे जो उनकी सरलता और श्रद्धा से नाजायज लाभ उठाते थे। सरलता के कारण उनके स्वभाव का सौन्दर्य बच्चों के स्वभाव के सौन्दर्य को भी मात करता था।

स्वामी जी के गुणों को कहाँ तक गिनाया जावे ? वे तो प्याज की पंखुड़ियों के समान खुलते जावेंगे। महापुरुषों के गुणों के बखान से लाभ नहीं होता, उनके अनुकरण से होता है। उनके पद-चिह्नों पर चलने से होता है। आर्यसमाज को चेतना चाहिये। उनको स्वामी जी के गुणों को अपने जीवन में धारण करना चाहिये। तभी आर्य समाज पुनः हरा-भरा दीखेगा। आज की बेरौनकी दूर हो जावेगी। आर्यसमाज का उपवन पुनः शोभायमान दीखने लगेगा। क्या मैं आशा कर सकता हूँ कि आर्यसमाज के नौजवान स्वामी श्रद्धानन्द जैसी उड़ान उड़ कर आर्यसमाज की बलिवेदी पर उनके समान चमकेंगे ? ●

स्वामी श्रद्धानन्द जी और मैं

—श्री गंगाप्रसाद जी, चीफ जस्टिस

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी से मेरा परिचय बाल्यकाल ही से था। सन् १८८६ ई० में जब मैं आगरा कालिज में शिक्षा पाता था और मेरी आयु १८ वर्ष की थी, मैंने एक पुस्तक 'ज्योतिश्चन्द्रिका' लिखी थी। स्वामी जी ने अपने 'सद्धर्म प्रचारक' पत्र में उसकी बहुत प्रशंसा की। पुस्तक का अधिक प्रचार या अधिक मान हुआ। पूना के एक महाराष्ट्र पत्र ने उसका मराठी भाषा में अनुवाद करके छापा था। उत्तर प्रदेश की सभा के प्रकाशन विभाग से उसका अब तक प्रकाशन होता रहा। मैंने उसमें 'राष्ट्रीय संशोधित पंचांग' का वर्णन परिशिष्ट के रूप में जोड़ कर नया संस्करण प्रेस में दे रखा है।

सन् १८९१ में बरेली समाज के उत्सव में मैं गया। श्री स्वामी जी भी पधारे थे। वहाँ उनका सत्संग रहा। सन् १८९८ में उत्तरप्रदेश की डिप्टी कलक्टरी की सांमुख्य परीक्षा में मैं बैठा और प्रथम स्थान पाकर डिप्टी कलक्टर नियत हो गया। श्री स्वामी जी ने उस समय मुझको एक पत्र लिखा था कि "आपको बहुत से मित्र इस अवसर पर बधाई देते होंगे। पर मैं आपको तब बधाई दूंगा, तब देखूंगा कि आप सरकारी नौकरी में भी आर्यसमाज की वैसी ही सेवा करते हैं, जैसी अब तक करते रहे हो।"

× × ×

सन् १९०२ ई० में कांगड़ी में गुरुकुल की स्थापना हुई। यह स्वामी जी के जीवन का सबसे बड़े महत्त्व का कार्य था, जिसका भारत के इतिहास में सदा उच्च स्थान रहेगा। मैं उस समय गढ़वाल जिले के लैन्सडौल इलाके में सबडिवीज़नल अफसर था। मेरा इलाका कांगड़ी की हद तक था। मैं उस वर्ष और सन् १९०४ में भी जब गुरुकुल का पहला वार्षिकोत्सव हुआ, दौरा करता हुआ अपना कैम्प गुरुकुल के पास, चंडी देवी के पास छोड़कर उत्सव में गया और अपने ही डेरे में रहा। सन् १९०६ में मेरी बदली गढ़वाल से गोरखपुर जिले में हो गई।

गोरखपुर में मैं ८ वर्ष रहा। सन् १९११ या १९१२ में सोशलिस्ट दल के मुख्य नेता श्री सिडनी वेब और उनकी स्त्री भारतवर्ष आये। उनकी विशेष इच्छा ग्रामों को देखने की थी। वे श्री होप सिमसन के घनिष्ठ मित्र थे, जो उस समय गोरखपुर में कलक्टर थे। मैं उस समय देवरिया इलाके में सबडिविजनल अफसर था, जहाँ मुझको कलक्टर जिला मजिस्ट्रेट के पूरे अधिकार प्राप्त थे। श्री होप सिमसन ने मुझसे निवेदन किया कि मैं श्री वेब दम्पती को अपने दौरे में कुछ दिन साथ रख कर कुछ ग्रामों को दिखलाऊँ। मैंने सहर्ष स्वीकार किया। मि० वेब तथा

उनकी पत्नी ने लगभग १५ या १६ ग्रन्थ स्पेशल साइन्स पर लिखे थे, जिनके वे संयुक्त लेखक थे। श्रीमती वेब एम० ए० थी और बहुत शिक्षिता थीं। मैंने १५ या २० दिन तक इस दम्पती को अपने साथ दौरे में रखा और उनका एक प्रकार से आतिथ्य किया। उनका रहन-सहन बहुत सादा था, विचार बहुत उच्च थे। वे बड़ी लगन से मेरे साथ गाँवों में जाते थे और ग्रामीण स्त्री-पुरुषों से वार्तालाप करते थे। इस यात्रा के अन्त में उन्होंने बड़ी नम्रता से मुझसे निवेदन किया कि वे गुरुकुल कांगड़ी को देखेंगे और महात्मा मुंशीराम जी से भेंट करेंगे। उनको यह शक था कि वे योरोपियन हैं, इसलिये शायद गुरुकुल देखने में कठिनता हो। यह उनकी भ्रान्ति ही थी। मैंने श्री महात्मा मुंशीराम जी के नाम पत्र लिख कर दिया। वे गुरुकुल गये और महात्मा जी से मिलकर सन्तुष्ट हुये। चलते समय मुझको धन्यवाद का पत्र लिखा। इंग्लैण्ड पहुँच कर भी मुझे एक पत्र लिखा, इंग्लैण्ड आने का निमन्त्रण भेजा। इसके कुछ पीछे श्रमिक दल की विजय होने पर कुछ वर्ष के लिये उसको ब्रिटेन का शासन मिल गया। श्री मैकडोनाल्ड प्राइम मिनिस्टर थे। उस समय मैं मि० वेब लेबर के मिनिस्टर रहे। उस समय भी उन्होंने मुझे प्रेमपूर्वक पत्र लिखे थे। इसके पीछे उस सुयोग्य दम्पती ने रूस की यात्रा की और 'सोवियत कम्यूनिज्म' के नाम से सोवियत पार्टी का विस्तृत इतिहास लिखा, जो ९१२ पृष्ठ का है। सोवियत के सम्बन्ध में बहुत साहित्य बन चुका है और सब प्रकार की मान्यताओं का है। पर मैंने जैसा निष्पक्ष और रोचक इस ग्रन्थ को पाया, वैसा उत्तम और कोई ग्रन्थ नहीं देखा।

× × ×

सन् १९१३ ई० में सर जेम्स मेस्टन उत्तर प्रदेश के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर नियत होकर आये। वे सबसे पहले अंग्रेज अफसर थे, जिनको आर्यसमाज से विरोध न था। मेरी गोरखपुर में उनसे भेंट हुई। लगभग एक घण्टा मेरे साथ केवल आर्य समाज के विषय में उन्होंने वार्तालाप किया। उत्तर प्रदेश की आर्यसमाजों के सब नेताओं के नाम व पते पूछे तथा नोट किये। मुझसे स्पष्ट कहा कि "सरकारी अफसर आर्यसमाज को सरकार का विद्रोही समझते हैं, पर मेरा ऐसा विचार नहीं है। मैं आर्यसमाज को एक अच्छी देशभक्त संस्था समझता हूँ। उसने देश की अच्छी सेवा की है, पर उसमें कुछ ऐसे लोग हैं, जो उग्र विचारों के हैं। उन्हें सुधारना चाहिये।" मैंने इस सम्बन्ध में जो काम किये थे, वह संक्षेप से उनको बतलाये। वे बहुत प्रसन्न हुये। अन्त में मुझसे कहा कि यदि आपको आर्यसमाजी होने के कारण कोई कष्ट उठाना पड़े तो सीधे मेरे पास आ जायें। मैंने धन्यवाद देते हुये कहा कि मुझको आर्यसमाजी होने के कारण अभी तक भी कोई कष्ट या हानि नहीं हुई है और आगे भी ऐसी सम्भावना नहीं है।

इस वार्तालाप के बीच में श्री मेस्टन साहब ने महात्मा मुंशीराम जी और गुरुकुल के सम्बन्ध में भी बहुत प्रश्न किये। मैंने सब हाल बतलाये। तब श्रीमान्

ने कहा कि मैं शीघ्र ही गुरुकुल जाऊँगा। मैंने उसी दिन श्री महात्मा जी को पत्र लिखा, जिसमें सारे वार्तालाप का सार देकर लिखा कि लाटसाहब शीघ्र ही गुरुकुल आवेंगे। आप स्वयं निमन्त्रण पत्र भेजें। महात्मा जी का उत्तर आया कि पत्र से पहले ही श्रीमान् गुरुकुल पहुँच गये।

× × ×

सन् १९१८ ई० में मेरी बदली आगरा से रुड़की सबडिवीजन (सहारनपुर) हो गई। वहाँ भी देवरिया के समान मुझको कलक्टर व डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के पूरे अधिकार प्राप्त थे। मेरे रुड़की पहुँचने के दो सप्ताह के भीतर १८ सितम्बर को हरिद्वार के समीप कटारपुर नामक गाँव में हिन्दु व मुसलमानों के बीच गोवध के प्रश्न पर एक भारी बलवा हो गया। उस बलवे की जाँच के लिये सरकार से विशेष पुलिस नियत हुई, जिसने लगभग ८०० हिन्दुओं को गिरफ्तार किया। उनका निर्णय करने के लिये तीन जनों का विशेष न्यायालय नियत हुआ। पुलिस ने मुकद्में में बहुत बनावट की, जिससे हिन्दुओं का बहुत अधिक दोष सिद्ध हो। पुलिस की जाँच के बीच में मेरी बदली रुड़की से सहारनपुर हो गई। महात्मा मुंशीराम जी ने अपने 'सद्धर्म प्रचारक' में इसकी तीव्र आलोचना की थी, क्योंकि इससे पुलिस को मुकदमे में बनावट करने का अधिक अवसर मिल गया। विशेष अदालत ने १८५ अभियुक्तों में से २० को बरी कर दिया। शेष १६५ में से ८ को मृत्यु-दण्ड दिया गया, १३५ को आजीवन कारावास का दण्ड मिला, दो को (अर्थात् कल्याणसिंह सेक्रेटरी हरिद्वार म्युनिसिपेलटी, व शिवदयाल सिंह सबइंसपेक्टर को) अपराधियों की सहायता करने का दोष लगाकर ७ वर्ष कारावास का दण्ड दिया गया। विचारशील लोगों का मत था कि इन दोनों को केवल इसलिये दण्ड दिया कि ये हिन्दु थे।

मैं सरकारी गवाह था और सबूत का प्रमुख गवाह था। पर पुलिस ने मुकदमे में बहुत बनावट की थी। मैंने उनकी बनावटी बातों का समर्थन नहीं किया था। इससे सरकारी ऐडवोकेट अप्रसन्न हुये और जजों ने भी व्यवहार की कुछ प्रतिकूल आलोचना की। इसके लिये मुझे जबाब देना पड़ा। मेरे जबाब को निष्पक्ष अफसरों ने बहुत युक्त माना। पर सरहारकोर्ट बटलर लेफ्टिनेण्ट गवर्नर साहब के कान मुसलमान नेताओं ने मेरे विरोध में भर रखे थे। उन्होंने मुझे डिप्टी कलक्टरी निचले दर्जे में रखे जाने का आदेश दिया। मैंने ऐसी दशा में वापिस जाना पसन्द नहीं किया। नियम के अनुसार जितनी पेंशन उस समय मिल सकती थी वह पेंशन लेकर त्याग-पत्र दे दिया। इसप्रकार सन् १९२० में सरकारी नौकरी से मैं मुक्त हो गया।

मुझको कुछ काम करना ही था। चार प्रस्ताव मेरे सामने थे। सन् १९१८ में महाराज कोल्हापुर अपना प्रसिद्ध कालिज, हाईस्कूल व गुरुकुल आदि मेरी सलाह पर उत्तरप्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के अधीन कर चुके थे। प्रबन्ध-कमेटी का

मन्त्री मैं था । महाराज साहेब की इच्छा थी कि मैं कोल्हापुर में रहकर इन संस्थाओं का प्रबन्ध करूँ और श्री युवराज साहेब का रक्षक व शिक्षक का कार्य करूँ । यह प्रस्ताव मुझको स्वर्गीय पं० आत्माराम अमृतसरी से प्राप्त हुआ था जिनके प्रभाव व उपदेश से महाराज साहेब आर्यसमाजी हुये थे । दूसरा प्रस्ताव यह था कि मैं बम्बई रह कर वहाँ के गुरुकुल का, जो बम्बई से ५ मील पर सांताक्रूज नामक स्थान पर चल रहा था आचार्य व मुख्याधिष्ठाता का कार्य करूँ । तीसरा प्रस्ताव महात्मा मुंशीराम जी का था कि मैं गुरुकुल कांगड़ी में रहूँ । मेरे अवकाश-निवृत्त हो जाने के कुछ काल पूर्व ही महात्मा जी ने अपने 'सद्धर्म प्रचारक' में एक लेख लिखा था कि मुझको सरकारी नौकरी छोड़कर गुरुकुल कांगड़ी में काम करना चाहिये । जब मैंने पूर्ण अवकाश प्राप्त कर लिया तो महात्मा जी का यह विचार दृढ़ हो गया । उनकी इच्छा थी कि गुरुकुल से निवृत्त होकर वे आर्यसमाज की सेवा करें और मैं गुरुकुल का आचार्य व मुख्याधिष्ठाता का कार्य सम्भाल लूँ । इस विचार के अनुसार महात्मा जी ने पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की भी सहमति निजी तौर पर प्राप्त कर ली थी । चौथा प्रस्ताव यह था कि मैं वृन्दावन गुरुकुल का आचार्य व मुख्याधिष्ठाता का कार्य सम्हाल लूँ, क्योंकि सन् १९१९ में पूज्य नारायण स्वामी जी गुरुकुल का कार्य अपने तत्कालीन सहायक को देकर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करके रामगढ़ (नैनीताल) चले गये थे, और तब से गुरुकुल वृन्दावन में कोई स्थायी आचार्य नहीं था ।

मैंने श्री महात्मा जी का प्रस्ताव सबसे उत्तम समझा और उनको अपनी स्वीकृति दे दी । परन्तु पीछे महात्मा जी ने स्वयं इसमें एक कठिनाई बतलाई । उनका कहना था कि पंजाब आर्यप्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा में दो दल हैं -- एक उनके अनुकूल है, दूसरा विरोधी है । वे अपने दल की सहायता से विरोध को बढ़ने नहीं देते थे । मैं दूसरे प्रान्त (उत्तरप्रदेश) का था । मेरी अन्तरंग सभा में कोई पार्टी नहीं हो सकती थी । मुझे कठिनाई होगी । उनका विचारपूर्वक अन्तिम निर्णय यही रहा कि मुझको यह कार्य नहीं लेना चाहिये । तब मैंने वृन्दावन गुरुकुल का कार्य लेना उचित समझा और १३ अप्रैल १९२१ को नव वर्ष के दिन वृन्दावन गुरुकुल का कार्य ले लिया । परन्तु इस बीच मेरी आर्थिक अवस्था बहुत हीन हो गई थी, इसलिये एक वर्ष के भीतर ही अर्थात् फरवरी १९२२ में गुरुकुल वृन्दावन से मुझे त्याग-पत्र देना पड़ा और मैं टिहरी का चीफ जज नियत होकर वहाँ चला गया ।

अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द

---श्री महाशय कृष्ण

मैंने स्वामी जी के पहली बार दर्शन उस समय किये जब कि मैं कालेज का विद्यार्थी था । वे अभी तक लाला मुंशीराम थे और जालन्धर के एक प्रसिद्ध वकील थे । मेरे देखते-देखते उन्होंने घर-बार को त्याग दिया और गुरुकुल के लिये भिक्षा करने को निकले । मेरी आँखों के सामने वह लाला से महात्मा मुंशीराम बने और महात्मा मुंशीराम से स्वामी श्रद्धानन्द । इसप्रकार मेरा उनका सम्पर्क २५ वर्ष रहा । मार्च १९०२ में उन्होंने गुरुकुल की स्थापना की । नवम्बर १९०२ में जब आर्यसमाज लाहौर का उत्सव हुआ तो वह भी उसमें सम्मिलित हुये । उस समय उनकी सर्वप्रियता अपने चरम पर थी । आर्यसमाज के उत्सव पर नगर-कीर्तन रेलवे स्टेशन से चला करता था । पहले उत्सवों के नगर-कीर्तनों में वह सम्मिलित हुआ ही करते थे, किन्तु इस वर्ष नगर-कीर्तन में उनकी शान निराली ही थी । उनके पाँव में खड़ाऊँ थी, उनके वस्त्र पीताम्बर थे, उनके सिर पर जो पगड़ी थी, उसमें ऋषि दयानन्द की भांति उन्होंने दो लट छोड़ रखे थे । कद और वृत्त के लिहाज से वह शानदार थे ही, इस वेश में उनकी शान और भी बढ़ गई । नगर कीर्तन में उन पर स्थान-स्थान पर पुष्प-वर्षा होती रही । वह दृश्य भी मेरे सामने है जब उन्होंने संन्यास-ग्रहण किया । कह नहीं सकता कि मेरे मन को क्या हुआ मेरा हृदय थमने को न आता था । मुझे कुछ ऐसा अनुभव होता था कि मेरा निहायत ही प्रिय सम्बन्धी मुझसे जुदा होने को है । स्वामी सत्यानन्द जी ने मुझे इस स्थिति में देखा तो उन्होंने महात्मा मुंशीराम से कहा कि कृष्ण निढ़ाल हो रहा है, उसे ढाढ़स दो । इसप्रकार महात्मा जी ने मुझे अपने पास बुला कर ढाढ़स दी, जिसप्रकार बड़े छोटों को देते हैं, किन्तु मेरी ढाढ़स नहीं बंधी । मुझे उस समय कुछ ऐसा अनुभव हुआ कि संन्यास लेने के पश्चात् महात्मा मुंशीराम का सम्बन्ध मुझसे टूट जायेगा । उनकी मौत के समय मैं उपस्थित न था, किन्तु समाचार मिलते ही मैं लाहौर से चल पड़ा । सायंकाल ७ या साढ़े सात बजे का समय था, जब कि एक सज्जन आये और उन्होंने मुझे बताया कि अब्दुल रशीद मुसलमान ने स्वामी श्रद्धानन्द को गोली मार दी है । यह सुनते ही मैं बेचैन हो उठा । उन दिनों भी बम्बई मेल रात ९ बजे चला करती थी । पं० विश्वम्भरनाथ कुलभूषण और मैं दूसरे दिन प्रातः दिल्ली पहुँच गये और सात दिन वहीं रहे । स्वामी जी का मृतक शरीर दो दिन तक रखा गया, ताकि दिल्ली से बाहर के आर्य पुरुष पहुँच जायें ।

अर्थी उठी और पूरी शान से उठी । हजारों लोग शहीद की अर्थी के साथ थे । स्वामी श्रद्धानन्द की जय, वैदिक धर्म की जय के नारे लगा रहे थे । जिस अर्थी

पर स्वामी जी का शरीर रखा गया था वह भी बड़ी ऊंची थी। इस पर मैंने कहा था—'आशिक का जनाजा है जरा धूम से उठे। आशिक का जनाजा है जरा शान से उठे।' दिल्ली के बाजारों से होते हुए अर्थी अपने अन्तिम स्थान पर पहुँची। वेद-मन्त्रों की ध्वनि के साथ चिता में आग लगाई गई और जिस समय शोले बुलन्द हुए मेरे मानसिक नेत्रों से कुछ ऐसा दिखाई दिया कि शहीद श्रद्धानन्द सामाजिक जीवन से ऊपर उठ रहा है और जिसप्रकार वह भाषण देते हुए अपनी अंगुलि उठाया करते थे, उसीप्रकार वह अंगुलि उठाते हुए लोगों से कह रहे थे :—

चढ़ा मन्सूर सूली पर पुकारा इश्क बाजों का
यह जीना बांम का उसका आए जिसका जी चाहे ।।

मेरा स्वामी जी से २५ वर्ष सम्बन्ध रहा। इस अन्तर में मैंने उनके जीवन को हर प्रकार से देखा। उनके गुण भी और दोष भी मेरे सामने आये। दोष कोई बड़े न थे, केवल स्वभाव के दोष थे। उन्हें उनके स्वभाव का गुण समझो या दोष। उनके स्वभाव में यह बात थी कि जो उनके सम्पर्क में आ जाता था और उन्हें बात कह देता था तो उसकी बात पर वह विश्वास कर लेते थे। अपने समाचार-पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' में उसका वर्णन कर दिया करते थे और जब उसका खण्डन हो जाता था तो उन्हें अपनी भूल स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होता था। महात्मा मुंशीराम आर्य पुरुषों के हृदय सम्राट् थे। उनके एक-एक शब्द गुरु वाक् का दर्जा रखते थे। इसलिये जिसकी प्रशंसा कर देते वह उठ जाता था और जिसकी निन्दा कर देते वह आर्य जगत् की नजरों में गिर जाता था। आर्यसमाज के एक सरगर्म सेवक पर किसी ने दोषारोपण किया। महात्मा मुंशीराम जी के कानों तक यह बात पहुँची तो उन्होंने आर्यसमाज को सचेत करने के लिए अपने समाचार पत्र में सम्पादकीय लिख दिया। बस फिर क्या था, वह सेवक आर्य पुरुषों की नजर में गिर गया। कुछ समय के बाद वह महात्मा जी के पास आये और उनसे निवेदन किया कि मुझ पर मिथ्या दोषारोपण किया गया है। इस पर उन्होंने समाचार-पत्र में लिख दिया कि काश ! मुझे कागजात पहले दिखाये गये होते।

आर्यसमाज में दलबंदी हो रही थी। एक दल महात्मा मुंशीराम जी का था और दूसरा लाला रलाराम और वैद्य ठाकुरदत्त जी का था। स्वर्गीय मा० लक्ष्मण जी लाला रलाराम जी के दल में समझे जाते थे। वे आर्यसमाज गुजरात के वार्षिक उत्सव में सम्मिलित हुये। जब वे भोजन के समय पंक्ति में जाकर बैठे तो दूसरे आर्य पुरुषों ने उनका बहिष्कर किया और सब आर्य पुरुष उठ गये। मा० लक्ष्मण पर इसका बड़ा असर हुआ। उन्होंने सोचा कि मुझे तो आर्यसमाज की सेवा करनी है। यदि मैं एक दल में होते हुए आर्यसमाज की सेवा नहीं कर सकता तो मैं दल में क्यों रहूँ। उसी समय उन्होंने घोषणा की कि मैं आज से उस (लाला रलाराम के) दल से पृथक् होता हूँ।

उन दिनों हम युवकों की महात्मा मुंशीराम पर कितनी अगाध श्रद्धा थी और हम उनका कितना सम्मान करते थे, इसका अनुमान इस एक ही घटना से

सहज में लगाया जा सकता है। उन दिनों आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव में एक आर्य-सम्मेलन हुआ करता था, जिसमें आर्यसमाज से विशेष सम्बन्ध रखने वाले विषय पेशहु आ करते थे। यह सम्मेलन रात के दस बजे शुरु होता था और कई बार चार बजे तक रहता था। उस वर्ष सम्मेलन में विचार का विषय था—'**वर्ण व्यवस्था**'। महात्मा मुंशीराम जी ने यह प्रस्ताव भाषण के साथ पेश किया। यह समाचार प्रकट हो चुका था कि महात्मा मुंशीराम जी अपनी कन्या का विवाह डॉ० सुखदेव के साथ करना चाहते हैं। आर्यसमाज में भी इस सम्बन्ध का विरोध हो रहा था। इस सम्मेलन में पं० रामभजदत्त इसका विरोध करने को खड़े हुये। उन्होंने अपने भाषण में कहा—"मैं जानता हूँ, महात्मा मुंशीराम से टक्कर लेना चट्टान से टक्कर लेना है। किन्तु मैं अपनी आत्मा की यह आवाज दबा नहीं सकता कि महात्मा जी अपनी ख्याति के लिए अपनी लड़की का बलिदान कर रहे हैं।" जब बहस समाप्त होने पर महात्मा जी उत्तर देने के लिये खड़े हुये तो पं रामभजदत्त जी के उन शब्दों का उल्लेख करते हुए उनका हृदय भर आया। यह होना था कि हम बिलख-बिलख कर रोने लगे और सम्मेलन एक शोकगृह बन गया।

●

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि

—महात्मा नारायण स्वामी

दिसम्बर १९२३ ई० में देहली में शताब्दी सभा की एक बैठक इसलिये बुलाई गई थी कि स्वामी श्रद्धानन्द जी ने प्रशंसित सभा के प्रधान पद से त्यागपत्र दे दिया था। स्वामी जी से सभा में पूछने पर प्रकट हुआ कि उन्हें इस कार्य में सफलता होने की इसलिये आशा नहीं है, क्योंकि बहुत लोग साधारणतया काम का और विशेष कर उनका विरोध इसलिये करते हैं कि यह काम उनके अधीन क्यों है। पंजाब में एक पार्टी ऐसी थी, जिसकी स्वामी जी से सदैव अनबन रहा करती थी। स्वामी श्रद्धानन्द जी का संकेत कदाचित् उसी पार्टी से था। उनके आग्रह पर कि वे किसीप्रकार से भी प्रधान नहीं रहना चाहते थे, सभा ने उनका त्यागपत्र स्वीकार कर लिया। अब इस काम को कौन संभाले? इस पर विचार हुआ तो सभी उपस्थित सभा के सदस्यों और विशेष कर पंजाब के सभासदों के असाधारण आग्रह से मुझे यह काम अपने जिम्मे लेना पड़ा और सभा ने सर्वसम्मति से मुझे प्रधान बना दिया। इसप्रकार का निश्चय होने पर, मेरे इसरार से, स्वामी श्रद्धानन्द जी ने इस बात को स्वीकार कर लिया कि उनका नाम प्रधान पद पर नाम मात्र के लिये रखा जाये और मैं कार्यकर्ता प्रधान के तौर पर समस्त कार्यभार अपने जिम्मे रखूँ। स्वामी श्रद्धानन्द के इसरार से मैंने इस बात को भरी सभा में स्पष्ट कर दिया कि मैं उन्हें शताब्दी सम्बन्धी किसी कार्य को भी करने को नहीं कहूँगा। छोटे से छोटे और बड़े से बड़े समस्त कार्यों को स्वयं करूँगा या अपने अन्य सहायकों से कराऊँगा। श्री स्वामी श्रद्धानन्द ने उसी समय एक रजिस्टर जो उन्होंने शताब्दी-सभा के सम्बन्ध में बना रखा था, मुझे दिया और बतलाया कि चार रुपये दस आने उनके निज के इस काम में (शताब्दी सभा पर ऋण के तौर पर) खर्च हो चुके हैं। उन्हें, जब धन हो, यह दे दिये जावें या न भी दिये जायें तब भी वे नहीं मांगेंगे। जुलाई १९२२ ई० से सितम्बर १९२३ ई० तक अर्थात् सवा वर्ष के भीतर शताब्दी सभा का यह काम हुआ था, जो मुझे चार्ज में मिला था। दो सप्ताह के अन्दर ही ४ रुपये १० आने स्वामी जी को वापस करके शताब्दी सभा को ऋण से मुक्त कर दिया गया।

× × ×

(दयानन्द-जन्म-शताब्दी के अवसर पर) नगर-कीर्तन करना पहले से निश्चित नहीं था। १८ फरवरी १९२५ ई० की सायंकाल उसका करना निश्चय हुआ था। स्वामी श्रद्धानन्द जी वहाँ नहीं थे। मैंने डाक्टर केशवदेव शास्त्री, मन्त्री सार्वदेशिक सभा से कह दिया था कि वे स्वयं जाकर स्वामी जी को इसकी सूचना दे देवें।

पुलिस के अध्यक्ष और जिलाधीश के पास मैंने पत्र भेज दिये थे। उनके उत्तर भी आवश्यक प्रबन्ध कर देने के सम्बन्ध में आ चुके थे। कदाचित् डाक्टर केशवदेव स्वामी श्रद्धानन्द से कहना भूल गये या पता नहीं क्या हुआ कि १९ फरवरी १९२५ ई० को प्रातःकाल ही जब मैं पंडाल से अपने निवास-स्थान पर जा रहा था तो कार्यालय के कमरे में स्वामी जी मुझे मिले। वे उस समय बड़े आवेश में थे। उन्होंने वैसे ही स्वर में मुझसे कहा कि "नगर कीर्तन के सम्बन्ध में मुझे खबर भी नहीं दी गई! क्या इसका यह मतलब है कि मेरा कुछ उत्तरदायित्व नहीं है?" मैं चूँकि उन्हें खबर देने के लिये कह चुका था, इसलिये उनका इसप्रकार खराब लहजे में अप्रसन्नता प्रकट करना मुझे अच्छा नहीं मालूम हुआ। इसलिये मैंने जो उत्तर दिया उसका भी लहजा अच्छा नहीं था, जिसका मुझे पीछे से बड़ा अफसोस हुआ। मेरा उत्तर था कि "मैंने आपको खबर देने को डाक्टर केशवदेव से कह दिया था, यदि उन्होंने इत्तला नहीं दी तो यह उनकी गलती है। रही उत्तरदायित्व की बात, वह तो उसी दिन समाप्त हो चुकी थी, जब आपने प्रधान पद से त्यागपत्र दे दिया था। जब अब तक के किसी काम में आपका कुछ उत्तरदायित्व नहीं था तो इसमें भी आपका कुछ उत्तरदायित्व नहीं है, ऐसा ही आप समझें।" इस उत्तर से स्वामी जी कुछ और भी असन्तुष्ट होकर चले गये। मैं अपने निवास स्थान को, जहाँ जा रहा था, चला गया।

नगर-कीर्तन २ बजे दिन से शुरू होना था। इसी सम्बन्ध में कुछ सलाह करने के लिये पं० हंसराज जी मेरे पास आये। मैं उनसे बात करने लगा। इसी बीच में स्वामी श्रद्धानन्द जल्दी आ गये। उन्हें बहुत आदर से मैंने बिठलाया। उन्होंने आते ही पूछा कि नगर-कीर्तन का क्या प्रबन्ध हुआ? मैंने उन्हें सब बातें बतला दीं और कहा कि इसी सम्बन्ध मे बातचीत हो रही है कि सबसे आगे की सफ किसप्रकार रहे। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने कहा कि पहले ओ३म् का झंडा, उसके बाद बैंडबाजा, उसके बाद आगे मैं हो जाऊँगा और फिर अन्य संन्यासीगण हो जायेंगे। बाकी प्रबन्ध सब ठीक है। मैं चूँकि उन्हें कुछ अप्रसन्न कर चुका था, इसलिये उन्हें प्रसन्न करने के लिये मैंने उनकी बात स्वीकार कर ली और वैसा ही प्रबन्ध होकर नगर-कीर्तन शान्ति और सफलता के साथ समाप्त हो गया।

अब मैंने सोचा कि नगर-कीर्तन के सम्बन्ध में मेरा स्वामी श्रद्धानन्द जी के साथ जो मतभेद हो गया था, उसका प्रकरण अब समाप्त हो गया। परन्तु मथुरा से जाते हुये स्वामी जी ने एक पत्र मेरे पास भेजा, जो इसप्रकार था—

श्रीमान् महात्मा नारायण स्वामी जी

नमस्ते।

कल प्रातः यहाँ से दिल्ली चला जाऊँगा। जान-बूझ कर तो मैंने आपके काम को सुगम करने का ही प्रयत्न किया था, परन्तु आपके कहने से मालूम हुआ कि मैंने आपके काम में विघ्न डाले। जो कुछ भी मेरे बर्ताव से आपको दुःख पहुंचा

या आपके काम में हानि हुई, उसके लिये मुझे पश्चात्ताप है। यदि मैंने जान-बूझ कर ऐसा किया तो परमात्मा की ओर से दण्ड मिल ही जायेगा और तभी मेरी शुद्धि होगी। आप अब मुझे भूल जाइये, क्योंकि मैं अब रजिस्टर्ड आर्यसमाज के किसी भी काम में सम्मिलित न हूँगा। मेरे सम्मिलित होने से काम बिगड़ते हैं, बनते नहीं। मुझे निश्चय है कि आपके नेतृत्व में सार्वदेशिक सभा एक जीवित संस्था बन कर वैदिक धर्म का प्रसार शीघ्र ही भारतवर्ष के कोने-कोने में करेगी। मैं तो अब अपने प्रायश्चित्त ही में लग जाऊँगा।

आपका मंगलभिलाषी

दिनांक २१. २. १९२५ ई० श्रद्धानन्द

उपर्युक्त पत्र का उत्तर जो स्वामी जी को मैंने भेजा था वह इसप्रकार है :—

मान्यवर स्वामी जी महाराज

नमस्ते।

आपका कृपा पत्र मिला। मैंने समझा था कि उस दिन की घटना को आप भूल गये होंगे। आपके पत्र से विदित है कि अभी आप नहीं भूले। कृपा करके आप उसे अब भुला दें। मेरे किन्हीं शब्दों से यदि आपको दुःख हो गया है तो उसके लिये मुझे अत्यन्त दुःख है। यदि इतने से आप सन्तुष्ट न हों तो फिर कृपा करके आप बतलावें कि किसप्रकार आप सन्तुष्ट होंगे। ताकि वही करके मैं आपको सन्तुष्ट करूँ।

शुभ चिन्तक

दिनांक २३. २. १९२५ ई० नारायण स्वामी

इसके उत्तर में स्वामी श्रद्धानन्द जी ने निम्न पत्र भेजा—

(निजी पत्र) १७ नया बाजार, देहली

दिनांक १. ३. १९२५ ई०

श्रीमान् महात्मा नारायण स्वामी जी

नमस्ते।

आपका निजी पत्र मिला। मुझे सन्तोष हुआ। पत्र रखने की जरूरत न थी, फाड़ दिया।

१. मैंने पहले ही शास्त्री (डाक्टर केशवदेव) जी से कह दिया था कि मैं आर्य विवाह-बिल आदि के काम में वैसे ही सहायता दूंगा। 'सार्वदेशिक सभा' के संगठन के विषय में भी सहायता दूंगा।

२. मैंने जब पहले आपसे कहा था मैं कभी प्रधान नहीं हो सकता तो वह बनावट न थी। **'कल्याण मार्ग का पथिक'** छपवाने से आपको स्पष्ट ज्ञात हो जायेगा। सभा (सार्वदेशिक) का काम आप ही को करना होगा। यदि आप प्रधान रहेंगे तो जो सेवा हो सकेगी करूँगा। अन्यथा सभा की उतनी सेवा भी न कर सकूंगा।

३. मुझे आप सार्वदेशिक सभा का प्रथम प्रचारक समझ लीजिये। इससे आगे मैं कुछ नहीं करूँगा।

४. एक बात न भूलिये। मुरादाबाद में पहली बार (१८९३ ई० में) जाकर ही मैंने आपके सदाचार और धर्म-भाव को समझ कर आर्यसमाज की सेवा के लिये अपने मन में चुना था। वह विचार मेरा अन्यथा सिद्ध नहीं हुआ। हम दोनों ही अब ऊपर के दिखाने में संन्यासी (त्यागी) हैं, परन्तु मेरे हृदय में पुराने भाव अंकित रहते हैं। मैं उस समय आपको अपना (धर्मानुसार) प्रिय छोटा भाई समझता था और अब भी वही भाव मेरे अन्दर है।

आपका मंगलाभिलाषी
श्रद्धानन्द

इस पत्र के साथ यह प्रकरण समाप्त हो गया।

एक बार इससे पूर्व भी इसीप्रकार का भ्रम हो चुका था और स्वामी श्रद्धानन्द जी ने मेरे कथन का कुछ और मतलब समझ लिया था। उसकी भी उसी समय सफाई हो गई थी। उन पत्रों की (स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा लिखे दो पत्रों की) प्रतिलिपि यहाँ दी जाती है:

स्वामी श्रद्धानन्द जी का पहला पत्र

श्रीमान् महात्मा नारायण स्वामी जी

नमस्ते।

६ दिसम्बर १९२४ ई० को जब मैंने नये प्रतिनिधियों के निर्माण के लिये बातचीत की तो आपने कहा था कि मैं सार्वदेशिक सभा का प्रधान बन जाऊँ। मैंने यह भी कहा था कि पं० केशवदेव शास्त्री सुस्त हैं। कोई चुस्त मंत्री चाहिये। मुझे आश्चर्य था कि ऐसा भाव (स्वामी श्रद्धानन्द के प्रधान बनने का) आपने क्यों प्रकट किया?

१. अभी थोड़े दिन हुये मैंने डाक्टर केशवदेव को सभा का साधारण वार्षिक अधिवेशन करके चुनाव करने और बजट पास करने के लिये लिखा था। मुझे ६ दिसम्बर की रात को पं० इन्द्र ने बतलाया कि वह मेरा पत्र डाक्टर केशवदेव ने सुनाया था। जिस पर महाशय कृष्ण ने टिप्पणी की थी कि इसमें कोई विशेष रहस्य है। अब आपके संकेत का मतलब मेरी समझ में आ गया।

२. मैं आपको निश्चय दिलाता हूँ कि मेरा कभी विचार सार्वदेशिक सभा अथवा और किसी आर्यसामाजिक संस्था का अधिकारी बनने का नहीं है। मैं कुछ पूछ लेता हूँ या सम्मति देता हूँ, तो केवल हित से प्रेरित होकर। अब कुछ भी नहीं लिखा या बोला करूँगा।

३. दयानन्द-जन्म-शताब्दी कमेटी का प्रधान भी मैं नहीं रहना चाहता था।

आपके आग्रह पर नाममात्र प्रधान बना रहा । अब वह तो बना ही रहूँगा । परन्तु गलत फहमियों का शिकार होने से बचने के लिये मथुरा में केवल १४ फ़रवरी को ही पहुँचूंगा ।

आशा है कि आप मेरे विषय में कोई संदिग्ध विचार न बनायेंगे । मुझसे कुछ सेवा नहीं हो सकती, इसका मुझे शोक है । परन्तु उस सेवा से आर्यसमाज के दायरे में खलबली पड़े तो उसे मैं हानिकारक समझता हूँ ।

आपका

श्रद्धानन्द

मैंने पत्र आते ही १२ दिसम्बर १९२४ को स्वामी जी को उत्तर दे दिया कि मुझे म० कृष्ण आदि की बातचीत का कुछ पता नहीं था । मैंने तो अपनी ओर से आर्यसमाज के हित की दृष्टि से आपसे प्रधान बनने की बात कही थी । इस पर स्वामी श्रद्धानन्द जी का निम्नांकित दूसरा पत्र आया—

१७, नया बाजार, देहली
दिनांक १५. १२. १९२४ ई०

श्रीमान् महात्मा नारायण स्वामी जी,

नमस्ते ।

आपका पत्र पढ़ कर संशय दूर हो गया ।

१. मैं तो अब किसी सभा का भी अधिकारी नहीं बनूंगा । अपने लिये बहुत से लेख के काम निश्चित कर चुका हूँ । इसके अतिरिक्त शारीरिक दशा ऐसी है कि शारीरिक परिश्रम का काम नहीं हो सकता ।

२. परन्तु आप विदेश-प्रचार और मुद्रण के मतलब के लिये जन्म-शताब्दी पर अपील करना चाहते हैं । यदि आप प्रधान न रहे तो वह अपील किसके भरोसे पर होगी ? यदि आपने स्थिर स्थान पहाड़ (रामगढ़) बना लिया है तो इस काम के लिये किसी अन्य को तलाश कीजिये ।

३. मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि यदि आपने सार्वदेशिक सभा का काम छोड़ दिया तो मुझे आर्यसमाज में इस काम को संभालने वाला कोई नहीं दीखता और इस सभा की समाप्ति हो जावेगी और बहुत से प्रान्तिक नेताओं को यह अभीष्ट भी है । आप उस समय तक पूर्ण विचार कर लीजियेगा ।

आपका

श्रद्धानन्द

इसके सिवाय मेरे और उनके ३५ वर्ष के लम्बे परिचय-काल में कभी कोई नोट करने योग्य मतभेद नहीं हुआ और मथुरा शताब्दी की घटना के बाद तो कोई

मामूली-सा मतभेद भी नहीं हुआ। सदैव प्रेम और प्रीति से हम और वे मिलते रहे। नवम्बर १९२६ ई० के लाहौर आर्यसमाज के उत्सव में मेरा और उनका अन्तिम साथ हुआ। तब वे कहते थे कि अब शरीर दुर्बल हो गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि अब इससे छूटने का समय निकट आ चुका है। मैंने उत्तर दिया कि "आप शारीरिक परिश्रम कम किया करें। निर्बलता होने पर शरीर को अधिक आराम देने की जरूरत हुआ करती है। इसके सिवा और कोई बात चिन्ता करने योग्य नहीं।" उस समय यह किसके ख्याल में था कि एक मास बाद ही उनका शरीरांत हो जावेगा।

❀

आर्य जाति का उद्धारक

—रायसाहब रामविलास शारदा

मेरा स्वामी श्रद्धानन्द जी के साथ लगभग ४० वर्ष तक निरन्तर निकट का सम्बन्ध रहा। राजपूताने के क्षेत्र में स्वामी जी ने आर्यसमाज का जो कार्य किया उसकी याद करके मैं अपने आँसुओं को नहीं रोक पाता हूँ। आर्यसमाज के गृह-युद्ध का समय है और स्वामी जी अपने विशाल हाथों से उस लपकती हुई अग्नि से राजस्थान की भूमि को बचा लेते हैं। ऋषि मिशन की ज्योति को राजस्थान में जागृत रखने के लिये यह स्वामी जी का ही काम था कि समय-समय पर कार्यशील आदमी भेजकर सहायता करते रहे। ऋषि के वैदिक यंत्रालय के तितर-बितर कर देने की उधेड़बुन को स्वामी जी की ही कुशल नीति छिन्न-भिन्न करती रही है। मेरे सामने वह नजारा बार-बार आँखों के सामने नाच रहा है जब कि शताब्दी पर लेखक से अन्तिम भेंट करते हुए पूज्य स्वामी जी ने कहा था––"रामविलास! लोग और तुम भी बार-बार मुझको अपना कार्यक्रम शीघ्र-शीघ्र बदलने का उलाहना देते हो, परन्तु क्या करूँ, आर्य जाति की किसी भी नई क्षति को मैं जब देखता हूँ, चित्त काबू में नहीं रहता और उसको ठीक करने के लिये मुझे उद्यत होना पड़ता है। मैंने शेष जीवन के लिये अपना अन्तिम प्रोग्राम अछूतोद्धार, शुद्धि, संगठन ही निश्चय किया है। इसके बिना आर्य जाति जीवित नहीं रह सकती।" ●

महान् शिक्षाविज्ञ

—आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य

सन् १९०५–१९०६ के आसपास की बात है, मुझे गुरुकुल ब्रह्मचर्याश्रम हरिद्वार की यात्रा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर होने वाले एक सरस्वती सम्मेलन के सभापति पद के लिये मुझे वहाँ निमन्त्रित किया गया था। मुझे अच्छी तरह से याद है कि मैंने वहाँ जो कुछ देखा था उसका मुझ पर और मेरे दो साथियों के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा था। खूब तड़के हमारी गाड़ी हरिद्वार स्टेशन पर पहुँची और उसी समय हम लोग गुरुकुल के लिये रवाना हो गए। गुरुकुल में हम लोग ९ बजे पहुँचे। उस समय वहाँ जल्से की कार्यवाही हो रही थी। अपने एक दोस्त के साथ मैं ज्यों ही पंडाल में पहुँचा, उसी समय मुझे महात्मा मुंशीराम के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यही महात्मा मुंशीराम बाद में स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से भारतवर्ष भर में विख्यात हुए। मुझे देखकर वह उठ खड़े हुए और बड़े प्रेम के साथ उन्होंने मेरा स्वागत किया। मैंने बड़े सम्मान के साथ उन्हें प्रणाम किया। मैंने देखा कि उनकी पोशाक बड़ी सादी है। सिर्फ एक देसी धोती, एक कुरता, एक पीला दुपट्टा। यह पीला दुपट्टा गुरुकुल की पोशाक का, विशेषकर ब्रह्मचारियों की पोशाक का मुख्य अंग था। महात्मा मुंशीराम के चारों ओर उनके प्रिय ब्रह्मचारी अपनी पीली पोशाक में बैठे थे। पंडाल को बड़े अच्छे ढंग से सजाया गया था। ब्रह्मचारियों के हाथों से बने संस्कृत भाषा के सुन्दर-सुन्दर मोटोज से पंडाल शोभित हो रहा था। ब्रह्मचारियों का वह सुलेख मुझे एक उत्कृष्ट कला के समान जान पड़ा। मुझे बताया गया कि इस सुन्दर "सुलेख" के प्रणेता गुरुकुल के ही एक अध्यापक हैं। उनका नाम पं० गौरीशंकर भट्ट था। इस तरह के कुछ सुन्दर लेख ब्रह्मचारियों ने मुझे भी भेंट करने की कृपा की। सभा के बाद गुरुकुलीय सज्जनों से प्रणाम कह कर मैंने बिदा ली। गुरुकुल से लौटकर वे लेख मैंने शान्तिनिकेतन में दिखाये। शान्तिनिकेतन के विद्यार्थियों ने उन सुलेखों की बड़ी प्रशंसा की। मुझे मालूम नहीं कि गुरुकुल में सुलेख की वह उन्नत कला आज भी उसी रूप में विद्यमान है या नहीं। पंडाल के मोटोज पर उन्हें बनाने वाले ब्रह्मचारियों का नाम भी लिखा हुआ था, जिससे उनकी सुन्दरता और भी बढ़ गई थी।

महात्मा मुंशीराम जी को उनके मुख्याधिष्ठातृत्व में गुरुकुल में देख सकना मेरे लिये सचमुच एक बड़े सौभाग्य की बात थी। वास्तव में वह एक बड़े निर्माण-कर्ता थे और उन्होंने अपनी निर्माण शक्ति को अपनी रचना गुरुकुल में प्रकट किया था। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में कुछ न कुछ निर्माण करता ही है। परन्तु निर्माण का कार्य दो प्रकार का होता है—एक तो दैवीय, दूसरा आसुरिक। मुझे

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि महात्मा मुंशीराम जी का निर्माण कार्य दैवीय ढंग का था । यह दैवीय निर्माण कार्य न केवल उन्हींके मोक्ष का साधन था, अपितु उनके देश बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति को मुक्ति मार्ग पर ले जाने वाला था । उन्होंने प्राचीन शिक्षा प्रणाली का पुनरुद्धार किया, इस प्राचीन प्रणाली में उन्होंने नवीन परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन भी किये । इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करना था । आजकल की प्रचलित शिक्षा पद्धति से साधारण स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों से जो विद्यार्थी निकलते हैं, वे एक तरह से केवल बोलने वाली मशीनें ही होते हैं, वास्तविक जीवन का उनमें प्रायः अभाव होता है । अतः जो कुछ वे पढ़ते हैं, उसे वे व्यवहार में नहीं ला सकते । वे जो शिक्षा पाते हैं उसमें और उनके व्यावहारिक जीवन में कोई समता प्रायः प्रतीत नहीं होती । इसका मुख्य कारण यही है कि आज के विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य की कीमत नहीं समझाई जाती । वे पढ़े-लिखे लोगों से समाज चल सकता है, परन्तु दुश्चरित्र लोगों से समाज कायम नहीं रह सकता । वह शक्ति ब्रह्मचर्य ही है, जिससे मनुष्य का शरीर, मन और मस्तिष्क मजबूत बनता है और इसके द्वारा वह अपने कर्तव्य-पालन के योग्य बन सकता है । महात्मा गांधी को देखिए और आप इस तथ्य को माने बिना न रहेंगे । महात्मा मुंशीराम ने आज कल की शिक्षा-पद्धति की मूलभूत कमजोरियों को ठीक-ठीक समझा और उनके निराकरण के लिये अपनी शिक्षा-पद्धति में उन्होंने ब्रह्मचर्य को आधारभूत स्थान दिया । शिक्षा-पद्धति में बड़ी-बड़ी किताबें रख देने ही से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ । उनकी अभिलाषा थी कि उनके विद्यार्थी शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से इतने मजबूत बन जायें कि वे जो कुछ पढ़ें, उसे भरसक अपने जीवन में ला सकें । इसी उद्देश्य से वे गुरुकुल में ऐसा जीवन बिताते थे, जो उनके विद्यार्थियों के लिये एक ऊँचा आदर्श कायम कर सकता था । वर्तमान शिक्षकों और प्राचीन आचार्यों में वास्तविक भेद इसी बात का है । प्राचीन काल के माँ-बाप अपने बच्चों को किसी स्कूल मास्टर या प्रोफेसर के पास नहीं भेजते थे, वे उन्हें "आचार्य" के पास भेजते थे । 'आचार्य" उसीको कहते थे, जो अपने शिष्यों को आचार की शिक्षा दे और स्वयं उस शिक्षा का आदर्श रूप बन कर उनके बीच में रह सके । महात्मा मुंशीराम सचमुच इसी किस्म के एक महान् आचार्य थे । वे हमारे देश के एक महान् शिक्षाविज्ञ थे ।

उनसे मिलने का मुझे एक और सुअवसर भी प्राप्त हुआ । परन्तु इस बार गुरुकुल में नहीं, शान्तिनिकेतन में । इस समय तक वह संन्यासाश्रम धारण करके स्वामी श्रद्धानन्द बन गए थे । वह बंगाल से आये थे, अच्छा अवसर देखकर हम लोगों ने उन्हें शान्तिनिकेतन में निमन्त्रित किया । उन्होंने वह निमन्त्रण सहर्ष स्वीकार कर लिया और यहाँ आने की कृपा की । शान्तिनिकेतन के सम्पूर्ण विद्यार्थियों और प्रोफेसरों ने गुरुकुल कांगड़ी के इस महान् संस्थापक का बड़े उत्साह के साथ स्वागत किया । वह यहाँ कुछ दिनों तक रहे । हमारे प्राचीन कलाभवन में, जहाँ

आजकल शान्ति-निकेतन का कालेज आश्रम है, उनके स्वागत में एक सभा की गई और श्री स्वामी जी से प्रार्थना की गई कि वह भारतवर्ष की शिक्षा प्रणाली पर एक व्याख्यान दें। उन्होंने इस व्याख्यान में बताया कि किन बातों ने उन्हें गुरुकुल खोलने के लिये प्रेरित किया, उनके मार्ग में कौन-कौन सी कठिनाइयाँ आईं और उन्हें उन्होंने किस तरह दूर किया। उन्होने यह भी बताया कि इस दिशा में उनका उद्देश्य क्या है और गुरुकुल को वह क्या रूप देना चाहते हैं। उनके इस व्याख्यान का हम लोगों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा।

स्वामी श्रद्धानन्द एक ऐसे पुरुष थे, जिन्हें **"यथावादी तथाकारी"** कहा जा सकता है। अपनी मातृभूमि से सब तरह की बुराइयों का नाश करने में वह एक निर्भय योद्धा थे। वास्तव में उन्होंने अपना सभी कुछ होम कर अन्त में मातृभूमि की सेवा के लिये अपना जीवन भी समर्पित कर दिया। अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिये उन्होंने अपने जीवन का भी मोह नहीं किया।

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी

—श्री वेदानन्द तीर्थ

श्रीयुत स्वामी श्रद्धानन्द जी उन महामना मनुष्यधुरीणों में से थे, जो समय की उपज नहीं होते, अपितु समय को बनाया करते हैं। साधारणतया नेता लोकरुचि का प्रवाह देखकर उसमें वेग या प्रचण्डता पैदा करके ख्याति प्राप्त किया करते हैं। श्रद्धानन्द इसका अपवाद हैं। उदाहरण के लिए गुरुकुल स्थापना को ले लीजिए। जिस समय महात्मा मुंशीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द जी) ने इसकी स्थापना का संकल्प किया, उस समय लोगों में इसके लिए कोई अनुकूल भावना न थी, कदाचित् प्रतिकूल भावना भी जागृत न थी। श्रद्धानन्द जी को सत्यार्थप्रकाश से गुरुकुल शिक्षाप्रणाली का एक भाव मिला, उसको उन्होंने समय-प्रवाह की परवाह न करते हुए मूर्तरूप दे ही डाला। यह है उनकी काल निर्माण कुशलता, और इसी कारण वे असाधारण महापुरुषों की पंक्ति में समादृत हुए है और आचन्द्रदिवाकर होते रहेंगे।

ऐसे महापुरुष के सम्बन्ध में कुछ आलोचनात्मक लेख लिखना मुझ जैसे कार्यक्षेत्र से तटस्थ रहने वाले के अधिकार से बाहर हैं, अतः मैं उनके सम्बन्ध में कुछ स्मरण अंकित करना चाहता हूँ।

श्रीयुत स्वामी जी के प्रथम दर्शन मुझे सम्वत् १९६६ या १९६७ में हुये वे उस समय महात्मा मुंशीराम जी के नाम से ख्यात थे। आर्यसमाज के महात्मा-विभाग के उस समय वे एक-मात्र नेता थे। उनकी ख्याति पूर्ण यौवन पर थी। इन पंक्तियों के लेखक ने जब उनके दर्शन किये, तो उनकी भव्यमूर्ति, विशालकाय, सुदीर्घ शरीर संस्थान, नग्न सिर, सुन्दर दाढ़ी तथा पीले दुपट्टे ने चित्त पर विचित्र प्रभाव डाला। मैं उनके सामने न जाना चाहता था। मैं समझता था, वे बड़े आदमी हैं, मैं एक नगण्य लघुवयस्क बालक सा हूँ, भला वे मुझसे काहे को बात करेंगे, वे तो मुझे मेरे अभिवादन-प्रणाम-नमस्ते का प्रत्युत्तर भी न देंगे। इसी द्विचित्ती में मैं था कि मुझे एक माननीय माननीय वृद्ध आर्य ने कहा—"हे ब्रह्मचारी जी! महात्मा जी के दर्शन किये।" मैंने कहा, "नहीं, मुझे भय लगता है।" वे हँसकर बोले "बिना देखे डरने लगे हैं। आप मेरे साथ चलिये। डर की कोई बात होगी, तो हम रक्षा करेंगे।" मैं वृद्ध जी के उपहासमिश्रित व्यंग्य को समझ गया, और साहस करके मैं उनके सामने चला ही गया। ज्यों ही मैंने उनके दर्शन किये, तत्काल प्रणाम किया। उन्होंने बहुत प्रीति से मुझसे नमस्ते कह कर पास बिठा लिया, और मेरा कुशल पूछकर मुझे बातें करने लग गये। उनके इस व्यवहार ने मुझे मन्त्र-मुग्ध कर लिया। मैं हैरान था। किन्तु आज समझता हूँ, उनके नेतृत्व का रहस्य ही उनका यही गुण था। वे किसी भी मनुष्य को तुच्छ न समझते थे।

मैं उस समय आर्यसमाज मे नवप्रविष्ट था। मैं अपना भावी कार्यक्रम सोचने

की चिन्ता में था। उत्साह एवं भय दोनों घेरे रहते थे। उनके प्रेम भरे प्रथम-दर्शन ने मुझे उत्साहित किया।

दूसरी बार उनके पुण्य दर्शनों का सौभाग्य मुझे उनके गुरुकुल काँगड़ी (गङ्गा के उस पार) में उनके आवास-स्थान में प्राप्त हुआ। मैं गुरुकुलोत्सव देखने को काँगड़ी गया हुआ था। वहाँ जाकर सीधा उनके बंगले पर गया। उनकी गङ्गा-तीरस्थ कुटिया बंगला कहलाती थी। वे वहाँ कार्य-व्यस्त थे। मेरे आने की आहट पाकर सिर उठाकर मेरे प्रणाम करने से पूर्व ही उन्होंने प्रेम से मुझे नमस्ते किया। मैं उस समय संन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो चुका था। मेरे काषाय-वस्त्र देख कर कहने लगे **'यह क्या'**? मैंने कहा—'आप ऐसे बूढ़े जब संन्यासी न हों तो अनुपात पूरा रखने के लिए मुझ जैसों को ही संन्यासी बनना पड़ता है।' मेरे इस वचन पर वे खिलखिला कर हँस पड़े। कहने लगे—'भाई! तुम्हारा उपालम्भ शीघ्र उतार देंगे। मैं चुप हो दिल में लज्जित हुआ। मुझे जल-पान कराकर कहा—"भोजन के समय आ जाना। मेरे साथ भोजन करना।' यह घटना संवत् १९६० की है।

मैं चकित था। मैं समझता था, तीन-चार वर्ष पूर्व देखे हुये एक तुच्छ से व्यक्ति को ऐसा महान् महात्मा कैसे स्मरण रख सकता है। किन्तु देखते ही उनका मुझे मेरे पुरातन नाम से पुकारना, मेरा इतना दिनों का वृत्त पूछना, संन्यास होने के हेतु की जिज्ञासा—उनकी इन सारी बातों ने मुझे उनका भक्त बना डाला।

उस दिन मैं उनके आदेशानुसार भोजन के समय न पहुँचा, मैं कुछ उलूल-जुलूल-सा आदमी हूँ। मैं उत्सव-मण्डप में न जाकर जाह्नवी तीर पर जिधर वह जा रही है, उधर ही चला गया। कुछ दूर जाकर मैं एक स्थान पर बैठ गया। मैं भोजन की बात भूल गया। मैं कोई चार बजे लौटा। मुझसे उनके सेवक ने कहा कि महात्मा जी को आज तुम्हारे कारण उपवास करना पड़ा है। मेरी आँखों में आँसू आ गये। साथ ही हृदय में भय का संचार भी हुआ। मैं चला उनसे क्षमा माँगने। जब सामने गया और हाथ जोड़ कर क्षमा माँगने लगा तो मेरे हाथ पकड़ कर कहने लगे—"भाई! उत्सव के दिनों में ऐसी गड़बड़ न करो।" मैं चुपचाप उनका मुख निहार रहा था। वहाँ मुझे क्रोध, क्षोभ न दीखे। दिल ही दिल में मैंने उन्हें प्रणाम किया। अगले दिन उनका सेवक मुझे भोजन के समय पकड़ लाया।

आज सोचता हूँ, श्रद्धानन्द की महत्ता के हेतु की घटक ये छोटी-छोटी घटनाएँ ही हैं।

भागलपुर में होने वाले हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वे सभापति मनोनीत हुये। महामना मान्य मदनमोहन मालवीय जी ने उस सम्बन्ध में मुझे उनकी सेवा में गुरुकुल भेजा और कहा, साथ ले आना। मैं उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। वे उस दिन कारणवश न चल सकते थे, मुझे वापिस भेज दिया, अगले दिन गुरुकुल से रवाना हुए। बनारस छावनी स्टेशन पर कई महानुभाव उनके दर्शनों के लिये आये थे। भागलपुर के सम्मेलन में अभी दो-तीन दिन थे, अतः आग्रह करके उन्हें उतार लिया

गया। उनके आने की सूचना पाकर स्थानीय ऋषिकुल के अधिकारी उनकी सेवा में उपस्थित हुये। उनका शरीर कुछ ढीला था। किन्तु उनकी प्रार्थना पर महात्मा जी ने उनके उत्सव पर बोलना स्वीकार किया। जब ऋषिकुलाधिकारी चले गये तो प्रसिद्ध देशभक्त बाबू शिवप्रसाद गुप्त जी ने कहा, "आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं है, वहाँ भी आपको अधिक कार्य करना पड़ेगा, आप कहें तो मैं उन्हें (ऋषिकुलियों को) निषेध कर भेजूं।' यह सुनकर कहने लगे—"वचन कैसे तोड़ा जाये और बाबूजी मुझ पर तो ब्रह्मचर्य प्रचार का भूत सवार है। मरते हुए भी इसका प्रचार करना चाहता हूँ।"

स्वामी जी के उस व्याख्यान ने ऋषिकुल की डगमगाती अवस्था को संभाल दिया। उस समय उनका आतिथ्य मेरे जिम्मे था। मैंने सूक्ष्मरीति से देखा। वे चार बजे उठकर शौच-स्नान से निवृत्त होकर घंटा डेढ़ घण्टा ईश्वरोपासना किया करते थे।

गुरुकुल-प्रवास की अमिट स्मृतियाँ

—पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

महात्मा मुंशीराम जालन्धर में वकालत करते थे। उनका रहन-सहन सरदारों जैसा था और मिजाजखोरी भी उन्होंने सरदारी ही पाई थी। उनकी फरशी (एक प्रकार का हुक्का) बड़ी कीमती थी। उसमें तम्बाकू डालकर वे अपनी जगह पर बैठकर गुड़गुड़ाया करते थे।

महर्षि दयानन्द ने उनके जीवन को बदल दिया, इसलिए वे सरदार से संन्यासी बन गये। गंगा के पार कांगड़ी गाँव में गुरुकुल था। आश्रमों आदि गुरुकुल की इमारतें बड़ी सीधी-सादी थीं और अध्यापकों के रहने के लिये भी झोपड़ियाँ ही थीं। मैं सन् १६०८ में गुरुकुल जाकर चित्रकला के शिक्षक के रूप में नियुक्त हो गया। इन्हीं में से एक झोंपड़ी में मैं भी रहने लगा और गुरुकुल के ब्रह्मचारियों को चित्रकला सिखाने लगा।

उस समय के गुरुकुल सचमुच ऋषियों के आश्रम के समान थे। रात के समय गुरुकुल में बाघ आते थे। जंगली हाथी भी अनेकों बार आते थे। सियारों का आना-जाना तो रोज की मामूली बात थी। ब्रह्मचारीगण लाठियों से बाघों को भगाया करते थे।

ब्रह्मचारी सवेरे चार बजे उठते थे। जंगल जाकर स्नानादि से निबटकर वेदपाठ करते थे। संध्याहवन सूर्योदय के करीब होता था। वेदघोष से प्रातःकाल का वातावरण गूंजा करता था।

मुझे यह जीवन-चर्या बड़ी पसन्द आई, पर धनपति से भिक्षुकपति होना मेरी पत्नी को पसन्द नहीं आया। पर वह करती भी क्या? अतः मन मारकर वह भी वहाँ आनन्द से रहने लगी और फिर किसी भी तरह से उसने अपना असमाधान व्यक्त नहीं किया।

मेरा एक लड़का था। उसका नाम नारायण था। वह भी हमारे साथ ही था। गुरुकुल में आकर अब मैं आश्रमवासी हो गया और शहर का मेरा रहन-सहन पूरी तरह से छूट चुका था, अतः मैंने नारायण को भी गुरुकुल में भर्ती करा दिया। उसकी शिक्षा भी गुरुकुल के दूसरे ब्रह्मचारियों के साथ शुरु हो गई।

उन दिनों गुरुकुल में भी स्वतन्त्रता का वातावरण बना हुआ था। सारे पंजाब में महात्मा मुंशीराम का बड़ा भारी प्रभाव था। उन्होंने गुरुकुल खोला और दौरा करके उन्होंने सारे पंजाबियों का मन गुरुकुल की तरफ आकर्षित कर लिया था। गुरुकुल वार्षिकोत्सव में बड़े-बड़े धनपति भी आकर फूस की झोंपड़ी में दो-तीन

दिन रहते थे। लाख-लाख रुपये गुरुकुल को दान देते थे। उस समय गुरुकुल वार्षिक-उत्सव का दृश्य बहुत आकर्षक होता था।

सरकारी अधिकारी और पुलिस अधिकारी भी उत्सव में आते थे। पर महात्मा मुंशीराम उनके लिये कोई खास सुविधा नहीं करते थे। दूसरे यात्रियों की तरह वे भी फूस की झोंपड़ी में रहते थे। महात्मा जी कहते थे—कि "यह आश्रम है, अतः यहाँ राजा और गरीब बराबर हैं।"

महात्मा मुंशीराम कभी भी सरकारी अधिकारी को गुरुकुल में बुलाते नहीं थे और बिना बुलाये राज्यपाल अथवा राजप्रतिनिधि गुरुकुल में आ नहीं सकते थे। इसी तरह कुछ साल तक चलता रहा। पर महात्मा जी ने किसी को बुलाया नहीं। आखिरकार संयुक्त-प्रान्त (उत्तर-प्रदेश) के राज्यपाल ने स्वयं लिखा कि "मैं गुरुकुल देखने के लिये आना चाहता हूँ।" इसका उत्तर यही देना पड़ा कि "आइये, स्वागत है।" लेफ्टिनेंट गवर्नर आये और उन्हें केले के पत्ते में लपेट कर मान पत्र दिया गया और तुलसी की चाय पीने के लिये दी गई। उन्हें खाने-पीने के सब पदार्थ आश्रम-वासियों की तरह दिये गये। जाते समय उन्होंने कहा कि वाइसराय गुरुकुल देखना चाहते हैं, उन्हें आप निमन्त्रण दें। संयुक्त-प्रान्त के राज्यपाल की इस बात को सुनकर मुंशीराम चुप ही रहे। पर आखिरकार वाइसराय को निमन्त्रण भेजना ही पड़ा। वे आये, उनका उत्तम रीति से स्वागत हुआ। उन्हें भी मानपत्र केले के पत्ते में लपेटकर दिया गया। वाइसराय का भाषण उत्तम हुआ। तुलसी की चाय सबको पिलाई गई। जाते समय गुरुकुल में टांगने के लिये वाइसराय ने इंगलैण्ड के राजा-रानी का चित्र दिया। उस चित्र को पुस्तकालय में टांगना ही पड़ा। इस तरह अनेकों ढंग से अंग्रेज उपाय-योजना करते थे और गुरुकुल के आचार्य भी, जहाँ तक संभव होता वहाँ तक, अपने स्वातन्त्र्य की सुरक्षा करते थे।

अंग्रेज अधिकारियों को इस बात का सन्देह था कि गुरुकुल में राजद्रोही नौजवान तैयार किये जाते हैं। यह सन्देह राज्यपाल एवं राजप्रतिनिधि के दिल में भी था। इस बात की तहकीकात करने के लिये राजप्रतिनिधि ने रेव एण्ड्रयूज को गुरुकुल में रहने के लिये भेजा। उन्होंने वहाँ आने का बहाना बनाया कि "मैं गुरुकुल में ब्रह्मचारियों को अंग्रेजी सिखाने आया हूँ।" वे ब्रह्मचारियों के बीच में ही रहते थे। वे सिखाते तो अंग्रेजी थे, पर आये थे जासूसी के लिये। गुरुकुल में सालभर रहे, अन्त में उन्होंने रिपोर्ट दी कि गुरुकुल में राजद्रोह की सीख नहीं दी जाती। इस कारण अंग्रेजों का सन्देह थोड़ा मिट गया। तथापि गुरुकुल में पुलिस के बार-बार आने-जाने से कष्ट तो होते ही थे, पर महात्मा जी की चतुराई के कारण वे कष्ट भी नष्ट हो जाते थे।

इन्हीं दिनों बंगाल में बम तैयार करने वाले नौजवानों का एक दल अपने रंग पर था। उस दल के कार्यकर्ता चारों ओर के प्रान्तों में फैल गये थे। हरिद्वार में भी उनका एक अड्डा था। उस अड्डे से उन नौजवानों के संकेत और अन्य

साहित्य गुरुकुल के ब्रह्मचारियों तक पहुँच गये थे। उनकी कोशिशें बेमिसाल होतीं थीं। यद्यपि महाविद्यालय के सभी तरुण उस दल में शामिल नहीं थे, फिर भी दस-पाँच विद्यार्थियों तक बम बनाने के तरीके बताने वाले सभी ग्रन्थ पहुँच चुके थे।

यह बात पुलिस के कानों से जा टकराई। गुरुकुल के विद्यार्थियों को यह सूचना मिल गई थी कि किसी भी दिन एकदम छापा मारकर निरीक्षण किया जा सकता है। जिसप्रकार गुप्त पुलिस के जासूस हमारे बीच में रहकर अपना काम करते थे, उसीप्रकार हमारे भी कुछ हितचिन्तक गुप्त पुलिस के कार्यालयों में थे। इसलिये अगले चार-पाँच दिनों में जो होने वाला होता, उसकी खबर गुरुकुल तक उड़ती हुई चली आती और ब्रह्मचारीगण अपने कमरों को साफ-सूफ कर देते थे। इसीप्रकार जो सन्देहास्पद अध्यक्ष थे, उन्हें भी समय-समय पर सूचना मिल जाया करती थी। मैं भी सन्देहास्पद अध्यापकों में से एक था। मुझे अच्छी तरह याद है कि एक रात हमने बम तैयार करने की पद्धति बताने वाले सब ग्रन्थ जमीन में गाड़ दिये थे और सब कमरे साफ कर दिये थे।

ब्रह्मचारी शूर, राष्ट्रसेवी और उत्तम काम करने में हमेशा आगे रहने वाले थे। जंगल में रहने के कारण वे निडर भी थे। एक बार सिन्ध की तरफ के एक अध्यापक आये थे। एक बार छुट्टी के दिन उन्हें साथ में लेकर ब्रह्मचारियों सहित हम जंगल में घूमने निकल गये। सबेरे ९–१० का समय रहा होगा। गुरुकुल से ३-४ मील की दूरी पर स्थित एक घने जंगल में हम जा पहुँचे। जंगल में वहुत ऊंची-ऊँची घास उगी हुई थी। एक छोटी-सी पहाड़ी पर घास में एक बाघ छिपकर बैठा हुआ था। दुर्भाग्यवश ये सिन्धी अध्यापक महाशय उसी तरफ जा निकले और बाघ यमदूत के समान इन महाशय के सामने आकर खड़ा हो गया। बेचारे अध्यापक अकेले ही बाघ के सामने आ गये थे। इसलिये उनके डर की कोई सीमा ही नहीं थी। वे अपने प्राण बचाने के लिये पास के ही पेड़ पर किसी तरह चढ़ गये। पैरों में जो जूते थे वे पैरों में से निकल कर गिर गये। ऊपर अध्यापक और नीचे बाघ। ऊपर बैठे-बैठे अध्यापक महोदय "बाघ-बाघ" कह कर चिल्लाने लगे। किसी ब्रह्मचारी ने उनकी पुकार सुनी और थोड़ी-सी देर में ही सब ब्रह्मचारी लाठी लेकर वहाँ पहुँच गये और उन्होंने बाघ को मार कर भगा दिया। उन अध्यापक की आँखों के आगे बाघ ही बाघ चमक रहे थे। उन्हें चारों ओर बाघ ही बाघ नजर आ रहे थे। ब्रह्मचारियों ने उन्हें नीचे उतारा, तब भी वे "बाघ-बाघ" चिल्ला रहे थे। पूरे दो घण्टे बाद महाशय होश में आये। उनकी चिकित्सा हुई। वे बेहोशी की अवस्था में भी "बाघ-बाघ" चिल्लाते थे। गुरुकुल के ब्रह्मचारी कैसे निर्भीक थे और शहरी अध्यापक कैसे डरपोक थे, उसका यह एक नमूना है।

गुरुकुल कांगड़ी से ४ मील दूर गंगा के बीच में सप्ततीर्थ नामक एक स्थान है। स्थान बहुत रमणीय है। ४०–५० ब्रह्मचारियों के साथ मैं वह स्थान देखने गया। जाते हुये हम पैदल ही गये थे। उस स्थान पर हम करीब १० बजे पहुँचे और

शाम तक वहाँ रहे। वहीं खाया-पिया। शाम को ५ बजे के करीब वहाँ से लौट चले। गर्मी के दिन थे। गंगा बढ़ने लग गई थी और सबेरे जहाँ जमीन थी, वहाँ शाम को बड़े-बड़े जल-प्रवाह चल रहे थे और वे प्रवाह बराबर बढ़ते चले जा रहे थे। गंगा में तैरने का अभ्यास मुझे नहीं था। मेरे जैसे ही दूसरे भी ३–४ अतिथि थे। हम सब हताश होकर बैठ गये। पर ब्रह्मचारी बोले—"डरिये मत। हम आप सबको उस पार पहुँचा देंगे।" ब्रह्मचारी गंगा की बाढ़ में तैरने वाले थे। अतः दो-दो ब्रह्मचारी एक-एक हाथ से तैरने लगे और एक-एक हाथ से हम जैसों को सम्भालते हुए नदी पार करने लगे। करीब एक मील का नदी का पाट था, पर प्रवाह के कारण उसे पार करना सरल नहीं था। यदि ब्रह्मचारी न होते तो हमारे लिये वह काल "अन्तकाल" ही साबित होता।

एक बार हम गुरुकुल में थे। भादों का महीना। पानी बरस रहा था। कनखल के पास एक सरकारी बाँध टूट गया। पानी गुरुकुल के चारों ओर भरने लगा। चारों तरफ मानों समुद्र ही उछाल लेने लगा था। वह पानी भरता ही जा रहा था। गुरुकुल की इमारत भी पानी में ढह गई। फिर भी ब्रह्मचारी बड़े प्रसन्न थे। वे तैरकर उस पार जाने के लिये तैयार बैठे थे। आठ-दस घण्टे के बाद बरसात बन्द हो गई, बाढ़ भी उतरने लगी और सब कुछ ठीक हो गया। पर ऐसी संकट-कालीन स्थिति में भी ब्रह्मचारियों का उत्साह अविचलित रहा।

इसप्रकार चेतना से भरे हुए आश्रमों से युक्त गुरुकुल में मेरा मन रमने लगा, प्राकृतिक सम्पत्ति से भरपूर इस स्थान में अपनी चित्रकला को और अधिक मार्मिक, उद्‌बोधक और आकर्षक बनाने के लिये मुझे अनेक शुभ संयोग प्राप्त हुये। उसी-प्रकार अपनी वेदविद्या की प्रौढ़प्रज्ञा से तरुण पीढ़ी को तेजस्वी बनाने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ। महात्मा मुंशीराम जी के कथनानुसार मैंने अपनी तूलिका से कांगड़ी के अनेक सुरम्य चित्र उतारे और तूलिका से उतरे चित्रों के प्रतिचित्र गुरुकुल के विद्यार्थी बनाया करते थे। महर्षि दयानन्द का एक बड़ा तैल-चित्र मैंने गुरुकुल के लिये विशेष रूप से तैयार किया था। इसीप्रकार महर्षि दयानन्द के गुरु स्वामी विरजानन्द जी का भी एक बड़ा-सा तैल-चित्र बनाया था। मेरा सारा दिन प्राणायाम, ध्यान, धारणा, स्वाध्याय, चित्रकला और ब्रह्मचारियों के साथ समरस जीवन इन्हीं कार्यों में बीत जाता था।

इसप्रकार आनन्द से बीतने वाले जीवन को प्रचण्ड वायु का धक्का लगा। गुरुकुल में रहते हुये मैंने **'वैदिक प्रार्थनाओं की तेजस्विता'** शीर्षक से एक लेख लिखा, जो प्रो० विजापुरकर के द्वारा संपादित एवं कोल्हापुर से प्रकाशित होने वाले 'विश्ववृत्त' नामक मासिक पत्र में छपा। छपते ही उसकी तरफ बम्बई सरकार का ध्यान आकृष्ट हुआ। इस लेख के कारण मेरे नाम से वारंट निकला। यह देखकर गुरुकुल के व्यवस्थापकों को अच्छा नहीं लगा। मैं गुरुकुल से निकल पड़ा।

कुछ समय बाद पुनः गुरुकुल जाने का विचार मेरे मन में आया। निश्चय करके मैं कलकत्ता होता हुआ गुरुकुल जा पहुँचा। वहाँ पहुँच कर स्वामी श्रद्धानन्द जी से मिला, सभी को आनन्द हुआ। पर गुरुकुल में आकर पत्र बाँटने वाले पोस्टमैन ने—जो सरकारी जासूस था—मेरे आने की सूचना कलेक्टर को दे दी। उसके द्वारा जारी किये गये वारंट को लेकर ३०० सिपाही, १० घुड़सवार और ५० बन्दूकधारी पुलिस के आदमी आये और उन्होंने चारों ओर से गुरुकुल को घेर लिया, स्टेशन रोड पर स्टेशन तक सिपाही खड़े कर दिये गये। दोपहर १ बजे के करीब गुरुकुल को पूरी तरह से घेर कर उनका मुख्य घुड़सवार गुरुकुल में आया और गुरुकुल के संचालकों से बोला कि पंडित जी को मेरे कब्जे में दे दो। यह सब इतनी शीघ्रता से हुआ कि सबको आश्चर्य हुआ। मेरे आने के ४८ घण्टे के अन्दर ही अन्दर यह सब कांड हो गया। गुरुकुल के सभी विद्यार्थी तरुण और राष्ट्रीय वृत्ति के थे। उन्होंने कहा कि हम पंडित जी को नहीं देंगे। यह सब नीचे चल रहा था और मैं ऊपर आराम कर रहा था। वहीं से मैंने पुलिस और घुड़सवारों को देखा। इसी बीच में मुझे मालूम पड़ा कि मेरी खोज करने के लिये ही सरकार की इतनी बड़ी तैयारी है। मैंने गुरुकुल के ब्रह्मचारियों से कहा कि "मैं स्वयं पुलिस के हवाले होता हूँ, तुममें से कोई भी पुलिस को न रोके।" उन्होंने मेरी बात मान ली और मैं पुलिस के हवाले हो गया।

सन् १९१५ और १९१६ में महात्मा गांधी जी दो बार गुरुकुल आये और दो-दो दिन तक रहे। उस समय उनकी रात-दिन सेवा करने का काम मुझे सौंपा गया था। इस कारण मेरी उनसे बहुत सी बातें हुईं। उस समय महात्मा जी लोगों से कहा करते थे कि "गुरुकुल जैसी संस्थाएँ स्थापित की जानी चाहिये ताकि तरुण पीढ़ियों में नये विचारों को भरा जा सके। क्योंकि जब तक तरुणों को नये विचारों से ओतप्रोत नहीं किया जाएगा तब तक राष्ट्र उन्नत नहीं हो सकेगा।" ●

महात्मा मुंशीराम से मेरा परिचय

—राजा महेन्द्रप्रताप

मैं इन प्रसिद्ध महाशय से केवल एक बार ही मिला हूँ। परन्तु मैं उस दिन को कभी नहीं भूलता। मैं इसको किसी से मिलना नहीं कहता कि कहीं कभी किसी को किसी सभा में देख लिया। यह एक बार ही हुआ कि मैं उनके स्थान पर जाकर उनका अतिथि बना।

मुझे गुरुकुल आने को कई बार कहा गया परन्तु कुछ रुकावट रास्ते में आई और मैं न जा सका। उस दिन मैं पहुँचा और महात्मा जी के निवास स्थान के निकट ही एक कोठी में ठहरा। मुझे आज उनका वह स्वरूप याद है। लम्बे थे, दाढ़ी वाले थे, साधुओं की तरह एक दुपट्टा भी कन्धे पर पड़ा था। पर अभी साधु नहीं बने थे। मेरी भेंट महात्मा मुंशीराम जी से हुई, स्वामी श्रद्धानन्द जी से नहीं।

सायंकाल साथ भोजन पाया, बातें हुईं। मैंने अपने विचार प्रकट किये, महात्मा जी के विचार सुने। मेरे बहुत से आर्यसमाजी मित्र थे। मैं बहुत-सी आर्यसमाज की सेवाओं का आदर करता था, परन्तु मैं कभी आर्यसमाजी नहीं बना और न हीं आर्यसमाजी हूँ। जैसे आज मैं अपनी ही रागिनी अलापता हूँ, उसी-प्रकार उस समय भी अपनी ही कुछ बातों पर दृढ़ रहता था। यहाँ तक कि यत्न यह करता था कि पूजनीय पण्डित मदनमोहन मालवीय जी से भी और माननीय स्वामी नित्यानन्द जी से भी अपनी ही बात मनवाऊँ। उस रात मैंने ऐसी ही कुछ चेष्टा की कि महात्मा जी हमारे प्रेम महाविद्यालय की शिक्षाप्रणाली को स्वीकार करें और संस्कृत अधिक न पढ़वाकर आजकल की विद्याओं को अधिक सिखायें।

वह १९१४ की बात है। उस दिन की दो बातें और यहाँ उल्लेखनीय हैं। उसी दिन सबसे पहले और सबसे पीछे प्रसिद्ध श्री गणेशशंकर जी विद्यार्थी से भेंट हुई थी। उस रोज उन्होंने हम सबके सामने यह बतलाया कि वे हिन्दी में एक पत्र निकालना चाहते हैं। उस समय कुछ लोगों ने शंका की और कुछ लोगों ने हंसी उड़ायी, परन्तु बाद में श्री विद्यार्थी जी का पत्र निकला और समस्त भारतवर्ष में प्रसिद्ध हो गया। दूसरी बात यह हुई कि महात्मा मुंशीराम जी के सुयोग्य बड़े पुत्र श्री हरिश्चन्द्र जी ने निश्चय किया कि वे मेरे सेक्रेटरी

होकर कुछ दिन मेरे साथ रहेंगे और बाद में **'निर्बल सेवक'** पत्र के सम्पादक बनकर कम से कम तीन वर्ष सहयोग देंगे।

उस समय गुरुकुल कांगड़ी में एक मेरे मिलने वाले साइन्स के प्रोफेसर थे। उनका नाम है श्री महेशचरणसिंह। उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी में साइन्स विभाग की बड़ी उन्नति की थी। उनके विभाग का निरीक्षण करके मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। गुरुकुल कांगड़ी उस समय अपने ढंग का निराला विद्यालय था और आज तक अपूर्व निरालेपन को सुरक्षित रखे हुये है।

●

अविस्मरणीय संस्मरण

—पं० ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज छाछ के बहुत प्रेमी थे और कहा करते थे कि यदि भोजन के पश्चात् छाछ न पियूं तो ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने भोजन ही नहीं किया है। मिर्चों से उनको घृणा थी। हमारे यहाँ का भोजन बड़ी रुचि से करते थे, क्योंकि हमारे यहाँ मिर्च का प्रयोग बिल्कुल नहीं होता था। एक दिन हँसकर सुना रहे थे कि "एक स्थान पर भोजन के लिए जिस व्यक्ति ने कहा उसे पहले ही बतला दिया कि मैं मिर्च नहीं खाया करता हूँ। परन्तु जब भोजन करने लगे तो शाकों में बहुत मिर्च थी। इस पर जब मैंने निमन्त्रक से कहा कि मैंने आपसे मिर्चों के लिये मना किया था तो वे बोले— अच्छा आप बिल्कुल ही मिर्च नहीं खाते।"

× × ×

आर्यसमाज बच्छोवाली (लाहौर) का वार्षिकोत्सव था। नगर-कीर्तन का मैं अधिष्ठाता था। मैंने ठहरने के स्थान नियत करके भजन-मंडलियों को कह दिया था कि इन स्थानों के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर खड़ा नहीं होना है। श्री स्वामी जी भी देखने के लिये बाजार में एक दुकान पर बैठ गये, परन्तु वहाँ ठहरने का स्थान न था। जब भजन-मण्डली आती तो पास के लोग चिल्लाते कि ठहर जाओ, स्वामी जी यहाँ बैठे हैं, परन्तु कोई भी भजन-मण्डली न ठहरी। कोई दूसरा होता तो शायद अपना अपमान समझता कि हमारी अवहेलना की गई, परन्तु स्वामी जी ने पत्र में नगर-कीर्तन के प्रबन्ध की बहुत प्रशंसा की और इस बात का स्पष्ट वर्णन किया। ●

हुतात्मा की अन्तिम कामना

—श्री स्वामी चिदानन्द जी

दिसम्बर १९२३ ई० की २२ तारीख का दिन है। दिन के १२ १/२ बजे हैं। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के सेवक धर्मसिंह ने आकर कहा—'स्वामी जी ने आपको याद किया है'। मैंने पूछा—क्यों। 'इसका उत्तर तो वे ही देंगे' धर्मसिंह ने कहा। मैंने तुरन्त काम छोड़ा और स्वामी जी के कमरे में पहुँचा। स्वामी जी उस समय अपनी रुग्ण-शय्या पर तकिये के सहारे बैठे हुए थे। मुझे देख कर कुछ मुस्कराये और कहा—"स्वामी चिदानन्द जी! सभा का आवश्यक काम (उन दिनों शुद्धि सभा का चौथा वार्षिक हिसाब चैक किया जा रहा था) छुड़ा कर एक अत्यावश्यक काम के लिए आपको यहाँ आने के लिए कष्ट दिया गया है।" मैंने कहा—'स्वामी जी कष्ट कैसा? आप उस आवश्यक काम के लिए आज्ञा कीजिए, जिसके लिए मुझे याद किया गया है।

स्वामी जी ने कहा—'सेवा कुछ नहीं। आपकी सभा के सभापति आनरेबल सर राजा रामपालसिंह जी के० सी० आई० ई० का यह टेलीग्राम आया है। इसमें मेरी बीमारी के सम्बन्ध में पूछा है और सर्वथा नीरोग होने की कामना प्रकट की है। आप उनको मेरी ओर से इस आशय की एक चिट्ठी लिख दीजिये—"मैं आपकी शुभकामना का बहुत आभारी हूँ। इस समय यद्यपि मैं कुछ स्वस्थ हूँ, किन्तु मेरा यह शरीर इस योग्य नहीं रहा कि जिससे कोई काम ले सकूं। इसलिए अब तो मेरी यह कामना है कि इस पुराने शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करूं और फिर भारत में आकर शुद्धि के द्वारा देश व जाति की सेवा करूं।"

स्वामी जी की आज्ञानुसार पत्र लिख दिया और सर राजा रामपालसिंह जी के नाम भिजवा दिया गया। इसके बाद मैंने स्वामी जी पूछा—'और कोई आज्ञा?' उत्तर में स्वामी जी बोले कि "स्वामी चिदानन्द जी, देखो मैं रहूँ या न रहूँ, किन्तु मेरे पश्चात् शुद्धि का काम बन्द न होने पाये। शुद्धि आर्य हिन्दु जाति के लिए अमर बूटी है, इसे बराबर सींचते रहना। पता नहीं कल क्या हो? आप मेरी इस बात को खूब याद रखना कि हिन्दुओं का जोश पानी के बुलबुले जैसा है। मैंने अमृतसर सिक्ख आन्दोलन में जेल-यात्रा के पश्चात् १९२३ ई० में—जब कि आगरा के आस-पास मुस्लिम मुवल्लिगों ने मलकानों में बड़ा ऊधम मचा रखा था, शुद्धि के काम को बड़े उत्साह के साथ आरम्भ किया था। उस समय आर्य हिन्दुओं का जोश शुद्धि के पक्ष में बेताह उबल पड़ा था और ऐसा प्रतीत होता था मानों हिन्दुओं से करोड़ों नौमुस्लिम बने हुए भाइयों को कुछ दिनों में ही शुद्ध करके हिन्दु उन्हें अपने में एक रस मिला लेवेंगे। किन्तु वह जोश पानी के बुलबुले जैसा ही साबित हुआ।

इसलिए मेरा कहना है कि आर्य हिन्दुओं में शुद्धि के लिए उस समय तक बराबर जोश भरते रहने की आवश्यकता है जब तक कि हिन्दुओं से बने करोड़ों नौ—मुस्लिम भाई पुनः अपनी पुरानी आर्य जाति में पूर्ण शामिल नहीं हो जाते।''

यह थी हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द की अन्तिम कामना, जो आज भी उसी तरह कानों में गूंज रही है। पर प्रश्न होता है कि क्या हमने, हमारे सहयोगियों ने और सम्पूर्ण आर्य-जाति ने श्रद्धेय स्वामी जी की कामना को पूरा करने के निमित्त कोई कदम आगे बढ़ाया ? क्या हमने उस अमर हुतात्मा के आदेश रूप शुद्धि को अपनी अन्तरात्मा की तुष्टि के लिए, आर्य जाति के संगठन एवं उसकी उन्नति के लिए, भारत देश के हित के लिए और समस्त विश्व की सुख-शान्ति के लिए सच्चे हृदय से अपनाया और उसके प्रति अपने कर्तव्य का पालन किया है ? ●

एक सुन्दर स्मृति

—शास्त्रार्थ महारथी पं० रामचन्द्र देहलवी

स्वर्गीय श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज आर्यसमाज के एक अनुपम रत्न थे। शारीरिक रूप में जिस तरह बड़े और प्रभावशाली थे वैसे ही अपने कामों में भी थे। जब तक जीवित रहे, आर्यसमाज को बहुत बड़े नेता के होने का अभिमान रहा। उनके स्थान की पूर्ति नहीं हो सकी और समय-समय पर उनके अभाव को समाज बड़े उत्कट रूप में अनुभव करता रहा है। स्वामी जी आर्यसमाज को कोई समुदाय नहीं समझते थे। उनकी दृष्टि विशाल थी। प्रत्येक धर्म की भली बात को भली समझते थे और आपत्ति आने पर उनकी सहायता के लिए उद्यत हो जाते थे। परन्तु धर्म और सचाई के मामले में किसी से भी समझौता करना नहीं चाहते थे। हमेशा देश-काल के अनुकूल उनका व्यवहार रहा और कभी भी उन्होंने किसी ऐसे मौके को जिससे आर्यसमाज को या सर्वसाधारण को लाभ हो, खाली नहीं जाने दिया। वे बड़े कर्मण्य थे। अपने जीवन में आयु भर आर्यसमाज के सिद्धान्तानुकूल कार्य करके दिखलाते रहे। उनके जीवन की तरह उनकी मृत्यु ने भी सारे भारतवर्ष में बड़ा प्रभाव डाला। वे लोग जो आर्यसमाज से कम सहानुभूति रखते थे या बिल्कुल नहीं रखते थे, उनके दिल में भी नजदीकी और सहानुभूति उत्पन्न कर दी। हिन्दु धर्म के तमाम सम्प्रदायों में आर्यसमाज के प्रति एक प्रेम की लहर पैदा कर दी।

एक बार किसी अपने व्याख्यान में उन्होंने अन्य धर्मों के आर्यसमाज से शास्त्रार्थ पर कुछ टीका की। मुझे उसकी सूचना मेरे मित्रों ने दी। मैं इस बात को सहन न कर सका और मैंने आर्यसमाज सीताराम बाजार के वार्षिकोत्सव के समय जो नजदीक ही होने वाला था—एक इश्तिहार द्वारा स्वामी जी को चैलेंज दे दिया कि वे शास्त्रार्थ करने को शास्त्र या युक्ति के विरुद्ध सिद्ध करें। तारीख, समय एवं स्थान इश्तिहार में दे दिया गया था। श्री स्वामी जी महाराज दिये हुए समय पर नहीं पधारे तो मैंने न्यायशास्त्रानुकूल व युक्ति से शास्त्रार्थ की उपयोगिता जनता के सामने व्याख्यान द्वारा कह सुनाई। पहले तो जनता ने समझा कि शायद मैं स्वामी जी के विरुद्ध कुछ उलटा-सीधा बोलूंगा, परन्तु जब उन्होंने मेरा व्याख्यान सुना तो सब प्रसन्न हुए कि मैंने स्वामी जी को अपने व्याख्यान में बड़े आदर से याद किया और कोई बदनीयती का दोष उन पर नहीं लगाया।

यह बात तो खत्म हो गई, परन्तु कुछ दिनों बाद जब कि मलकानों की शुद्धि का दौरदौरा चल रहा था, स्वामी जी महाराज मेरे घर पर पधारे। मेरे दिल

को उन्होंने इस तरह आकर मोह लिया और मुझसे कहने लगे कि "आप शास्त्रार्थ के लिए आगरा चले जायें। वहाँ आपको वह ग्राम बता दिया जायेगा, जहाँ शास्त्रार्थ होना है"। मैंने स्वामी जी से कहा कि "आप तो शास्त्रार्थ के विरुद्ध हैं। फिर मुझे क्यों शास्त्रार्थ के लिए भेज रहे हैं?" उन्होंने हँस कर कहा कि "आपके शास्त्रार्थ के विरुद्ध नहीं हूँ। मैं तो उनके विरुद्ध हूँ, जो शास्त्रार्थ करना नहीं जानते। उन लोगों से लाभ के स्थान पर हानि होती है।"

●

महात्मा मुंशीराम जी

—श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज

महात्मा मुंशीराम जी एक बहुगुणी, प्रभावशाली, प्रेममूर्ति और वीर पुरुष थे। उनका आकार-प्रकार सभी मनोमोहक था। उनकी मन्द और मधुर मुस्कराहट में एक प्रकार की मोहनी शक्ति थी, जिससे वे समागत सज्जन को आकर्षित कर लेने में तुरन्त सफल हो जाया करते थे।

महात्मा मुंशीराम जी का वार्तालाप करने का ढंग भी बहुत बढ़िया था। वे जब अपनी अद्‌भुत स्मरण शक्ति के पुस्तकालय से पुरानी और बीती हुई बातें सुनाया करते थे तो एक निराला सा समां बांध दिया करते थे। उनकी बोलने की भाषा बड़ी मीठी, परिमार्जित, संस्कार-सम्पन्न और उक्तियों से अलंकृत तो होती ही थी, परन्तु साथ-साथ उनके जो हाव-भाव उसमें मिश्रित हो जाया करते थे वे उनकी वार्ता को रसिक, स्वादु और सुरोचक बनाने में बहुत ही सहायक हो जाते थे। वे किसी व्यक्ति को बात सुनाते समय, किसी किसी समय, उसकी आकृति का चित्र चित्रित करते हुए उसकी वाणी, ध्वनि तथा उसके स्वर तक का अनुकरण कर जाया करते थे। उनके प्रेमी उनके अनेक रस-समन्वित संलाप को अतिस्वाद सहित सुनते रहते थे।

महात्मा मुंशीराम जी के मेल-मिलाप में भी एक अनोखी मिठास हुआ करती थी। वैसे तो वे विशालमूर्ति, दिव्यदेही, सदा गम्भीराकार ही रहा करते थे परन्तु कभी-कभी उनमें कुछ ऐसा तरंग आ जाता था कि आने वाले की आव-भगत, उतावली से आगे तक जाकर किया करते थे। स्नेही सखा के सदृश मिलते हुए वे बड़े ही भले लगा करते थे। जब वे प्रेमियों को वात्सल्य प्रदर्शन करते हुए मिलते थे तो उनके मुखमण्डल पर मधुरता और नयनों में रसीलापन झलकने लग जाता था। समागत के लिये आदरातिथ्य करने में वे पूरे सज्जन देखे जाते थे। उनका मिलने-जुलने का, उठने-बैठने का तथा बात-चीत का शिष्टाचार अनुकरणीय हुआ करता था। जब कभी वे अपने दोनों हाथों को परस्पर मलते हुए सहज-स्मिति सहित, किसी स्नेही सज्जन को मिलने के लिये अपना दाहिना हाथ आगे बढ़ाया करते थे तो आगन्तुक को मोह ही लिया करते थे। मेल-जोल में उनका खिलखिलाकर हँसना बड़ा स्वाभाविक तथा सुन्दर प्रतीत हुआ करता था।

महात्मा मुंशीराम जी अपने मान्य जनों को मान-दान में कभी कंजूस नहीं देखे गये। आदरणीय व्यक्तियों को आगे करके चलना, दक्षिण करके चलना तथा बैठने के समय औरों को उच्च स्थान पर बैठाकर फिर स्वयं बैठना आपके जीवन का उज्ज्वल अंग था। वे अपने से बड़ों को पुराने खत्रियों की रीति से आगे झुककर

और उनके घुटने स्पर्श कर नमस्कार किया करते थे। प्रेमियों से वार्तालाप करते समय वे अपनी पुरानी कथा बिना संकोच कहने लग जाया करते थे। उस समय ऐसा ही जान पड़ा करता था कि इनका भीतर, प्रेम तरंगों के संग उछल-उछल कर आप ही आप बाहर आ रहा है। प्रेमी-जन के मिलने तथा जाने के समय उनकी लम्बी आँखों के कोनों में सरल और सच्चे स्नेह के अश्रुविन्दु, बहुत बार ढलकते हुए देखे गये। दुःखी को देखकर दयार्द्र हो जाना उनमें स्वाभाविक था। वे दुःखियों की सेवा स्वयं करने लग जाते थे। ऐसा प्रतीत होता था कि उनके अन्तःकरण की कोमलता भी बहुत ही ऊँचे पद की थी।

महात्मा मुंशीराम जी आर्यसमाज की महात्मा पार्टी के सर्वश्रेष्ठ नेता थे। एक प्रकार से वे इसके आधारभूत थे। महात्मा दल में सर्वत्र उन्हीं की चला करती थी। उनकी 'हाँ' के सामने 'न' करना किसी के भी साहस से बाहर की बात थी। उनके 'सद्धर्म प्रचारक' पत्र में किसीके अनुकूल चली हुई उनकी लेखनी उसको ऊँचा चढ़ा देती थी और किसी के प्रतिकूल निकला हुआ लेख उसको नीचे गिराकर ही छोड़ता था। इसी कारण उनके लेखों को लोग किस्मत के कड़छे कहा करते थे। इसका कारण यही था कि वे एक प्रबल समालोचक भी थे। दूसरे के दोषों को भूलना भी उन्हें खूब आता था।

महात्मा मुंशीराम जी उस समय बड़े मुख्य और प्रभावशाली वक्ता थे। उनके व्याख्यानों में अलंकारों की रचना, भावों का बहुल, भाषा का सौन्दर्य और वाक्य योजना का रस बहुत ही अच्छा पाया जाता था। उनके व्याख्यान आवेशजनक भी अधिक होते थे। कभी-कभी तो उनकी गम्भीर गर्जना की वक्तृता सुनते हुए श्रोताओं में आवेश लहरें लेने लग जाया करता था। उनकी ध्वनि लोगों के हृदयों पर सीधी बसती जाती हुई जान पड़ा करती थी। उनका स्वर सरस, गम्भीर, ऊँचा और मीठा था। उनके भाषणों को सुनने के लिये जनता सदा उत्सुक रहा करती थी।

महात्मा मुंशीराम जी एक शोभित व्यक्ति थे। उनको देखने मात्र में मनुष्य प्रसन्नता माना करते थे। सभाओं में बहुत से उनके भक्त उनको एक टक देखते थे। उनकी लम्बी दाढ़ी उनकी छाती को छूती हुई बहुत ही सुहावनी लगा करती थी। वें जब वकील थे तो उनका पहरावा उत्तम कोटि का स्वच्छ, सुन्दर अद्यवत् (Up-to-date) था। उस वेष में वे बड़े अच्छे प्रतीत होते थे। जब वे महात्मा कहे जाने लगे तो उनका नंगा सिर, लम्बा कुरता, गले के इर्द-गिर्द लिपटा पीला दुपट्टा और धोती यह सब खूब ही सजते थे। उनका आकार ही कुछ ऐसा था कि वे प्रत्येक पहराव में शोभा पाते थे और सब अवस्थाओं में भले लगा करते थे। ●

युगपुरुष स्वामी श्रद्धानन्द

—डॉ० अविनाशचन्द्र बोस

मुझे सन् १९२० में, जब मैंने एम० ए० का अध्ययन अभी समाप्त ही किया था, कलकत्ता में श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के दर्शन, उनके साथ संभाषण और उनके व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कलकत्ता आर्यसमाज के आचार्य श्री पं० अयोध्याप्रसाद जी ने कृपा करके मुझे १९ कार्नवालिस स्ट्रीट कलकत्ता में स्वामी जी से मिलने के लिये कुछ अन्य प्रतिष्ठित सज्जनों के साथ निमन्त्रित किया। उन दिनों मुझे हिन्दी का अभ्यास न था, किन्तु स्वामी जी ने मुझे अंग्रेजी में बातचीत करने की अनुमति दी। मैंने स्वामी जी की सेवा में निवेदन किया कि बंगाल में शिक्षा के क्षेत्र में एक संकटापन्न अवस्था उत्पन्न हो चुकी है, क्योंकि शिक्षित व्यक्तियों को अपना भविष्य अत्यन्त अनिश्चित तथा संदिग्ध प्रतीत होता है और उन से प्रश्न किया कि आप इसका क्या प्रतीकार बता सकते हैं। उन्होंने अपने गुरुकुल काँगड़ी, वहाँ की शिक्षाप्रणाली और उन प्राचीन शिक्षा विषयक आदर्शों का प्रतिपादन किया, जिनके अनुसरण का वे गुरुकुल द्वारा प्रयत्न कर रहे थे। यह पूछे जाने पर कि क्या उस संस्था को सरकार की स्वीकृति प्राप्त है, स्वामी जी ने कहा कि नहीं। किन्तु साथ ही उन्होंने कहा कि सरकार ही सब शिक्षितों को काम नहीं दे सकती, उसके बाहर भी उपयोगी और लाभदायक कार्य के लिये विशाल क्षेत्र विद्यमान है। उन्होंने गुरुकुल के एक स्नातक के विषय में जिसने शिल्प-उद्योग में विशेष नैपुण्य प्राप्त किया था, बताया कि उसने एक ऐसे यंत्र का आविष्कार किया है, जो जल और स्थल दोनों में घूम सकता है। हमारी बातचीत में एक वृद्ध सज्जन के कारण, जो कमरे के द्वार पर खड़े होकर बंगाली में कुछ बोल रहे थे--बाधा पड़ गई। स्वामी जी ने मेरी ओर मुड़ कर कहा कि तुम ही यहाँ एक मात्र ऐसे व्यक्ति हो, जो पता लगा सकते हो कि वह क्या चाहता है। मैंने ऐसा ही किया और उस आदमी को, जो कुछ आर्थिक सहायता चाहता था, उपस्थित सज्जनों में से कुछ सहायता देकर विदा कर दिया गया और तब हमारी बातचीत निर्विघ्न रूप से चलती रही।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अगले दिन इण्डियन असोसियेशन भवन में आयोजित एक सभा में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली पर अंग्रेजी में भाषण दिया। राष्ट्रीय विद्यालयों और महाविद्यालयों की असफलता के विषय में स्वामी जी ने कहा कि इसका कारण विश्वास की न्यूनता थी। उन्होंने बताया कि राष्ट्रीय-शिक्षा के एक प्रमुख नेता ने अपने पुत्र को सरकार द्वारा स्वीकृत संस्था में शिक्षार्थ प्रविष्ट किया।

मुझ पर स्वामी जी के ऊँचे और सीधी भव्य देह का, उनकी विशुद्ध आर्य

आकृति तथा लक्षणों का, उनकी तेजोमय तीक्ष्ण आँखों का और उनकी लोगों के साथ बातचीत करते हुए दयापूर्ण दृष्टि का विशेष प्रभाव पड़ा। वे सदा शान्त रहते थे। वे धीरे-धीरे किन्तु बड़े प्रभावजनक रूप में संभाषण करते थे। अतः उनकी ओर सहसा सबका ध्यान आकृष्ट हो जाता था।

इस घटना के लगभग एक वर्ष पश्चात् मैं गुरुकुल के वार्षिक दीक्षान्त समारोह के अवसर पर वहाँ उपस्थित था। प्राचीन भारत को पुनरुज्जीवित होते हुये देखकर एक विशेष प्रसन्नता का अनुभव होता था। एक अत्यन्त आनन्ददायक दृश्य था। पीले चोले पहने हुए कुछ स्नातकों ने भी सभा में भाषण दिये। कई बड़े प्रमुख राजनैतिक नेता भी उत्सव में सम्मिलित हुए थे। पं० मोतीलाल नेहरू जी भी वहाँ उपस्थित थे और उन्होंने शुद्ध उर्दू में भाषण दिया। मेरे मित्र ने मुझको बताया कि कौमी तालीम का अर्थ राष्ट्रीय शिक्षा होता है। ला० लाजपतराय जी के भाषण में उर्दू के कुछ शब्दों के साथ-साथ शुद्ध संस्कृत के शब्दों का अच्छा मिश्रण था, जिनको मैं सुगमता से समझ सकता था। हमने लाला जी से दक्षिण भारत में आर्यसमाज के कार्य के विषय में बातचीत की, क्योंकि कोल्हापुर से आये हुए हम लोग दक्षिण भारत का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। मैंने उनसे प्रश्न किया कि क्या निरन्तर बढ़ती हुई राजनैतिक प्रवृत्तियाँ धार्मिक कार्य में बाधक नहीं हैं। लाला जी ने उत्तर दिया कि यह इस बात पर निर्भर है कि कार्य किस भावना से किया जाता है। लाला जी जी ने कहा कि आर्यसमाजियों में कुछ कम सैनिकता वा उग्रता होनी चाहिये।

मैं भाई परमानन्द जी से मिला, जो उन्हीं दिनों अण्डमान से छूट कर आये थे। मैं एक संस्कृत सम्मेलन में भी सम्मिलित हुआ और अपने मित्र ठाकुर मलखानसिंह जी के निर्देश पर मैंने उस सम्मेलन के प्रधान जी से संस्कृत में अतिरिक्त समय में बातचीत की। किन्तु, यह देख कर कि मैं अंग्रेजी में संभाषण कर सकता था, वे भी उसी भाषा में बातचीत करने लगे। गुरुकुल के वार्षिकोत्सव से सम्बद्ध प्रत्येक कार्य में स्वामी श्रद्धानन्द जी का प्रमुख नेतृत्व था। एक सभा में वर्मा से प्राप्त एक लाख से अधिक रुपये के दान की घोषणा की गई। एक कमरे में जहाँ पं० मोतीलाल जी, अन्य सज्जनों के साथ बैठे हुए थे, एक वृद्ध सज्जन ने आकर कहा कि अंग्रेज सरकार ने मुझे कोई हानि नहीं पहुँचाई और कोई कारण मुझे प्रतीत नहीं होता कि उनके साथ मैं असहयोग करूँ। बड़ी शक्ति किन्तु दृढ़ता के साथ पं० मोतीलाल जी ने इसका उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि न केवल यह कि अंग्रेज सरकार ने मुझे कोई हानि नहीं पहुँचाई, बल्कि मेरा बड़ा मान किया है। लाट साहब हमारे घर पर आये थे। मेरे पुत्र जवाहरलाल के बारे में सोचो। वह इतने वर्ष इंगलैण्ड में रहा और वहीं उसने शिक्षा पाई। यह बिल्कुल अंग्रेजों जैसा है, तो भी वह अंग्रेज सरकार से असहयोग कर रहा है। यह देश की भलाई के लिए है" । तब वृद्ध सज्जन ने स्वीकार किया कि यह असहयोग देश की भलाई के लिये है।

हमने राजनैतिक नेताओं को स्वामी श्रद्धानन्द जी के साथ बातचीत करते हुए

देखा । हम जानते थे कि हमारा देश बड़े-बड़े काम कर रहा है और वे देश के चोटी के नेताओं में से थे । महात्मा गांधी जी के भी आने की आशा थी, किन्तु वे किन्हीं अनिवार्य कार्यों के कारण न आ सके ।

अगली और अन्तिम बार जब मैंने स्वामी श्रद्धानन्द जी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त किया, वह उनके कोल्हापुर में आने के अवसर पर था । मैं राजाराम कालेज में प्रोफेसर के रूप में उन दिनों कार्य करता था । उन्होंने कोल्हापुर आर्य-समाज की ओर से (जिसके प्रधान डा० बालकृष्ण जी एम० ए०, पी-एच. डी थे) व्याख्यान दिया । स्वामी जी ने उन सुन्दर और सरल संस्कृत शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग करते हुए हिन्दी में भाषण दिया, जिससे मराठी, गुजराती, बंगाली इत्यादि भगिनी समान भाषा-भाषियों के लिये उसको समझना सुगम हो गया । उनके भाषण का विषय 'समाज सुधार और स्त्रियों तथा दलितों का उद्धार' था । उन्होंने विधवाओं पर किये जाने वाले अत्याचारों का वर्णन किया और उदाहरण के रूप में उन्होंने बताया कि बंगाल में विधवाओं को अपने सामान्य भोजन का परित्याग करना पड़ता है और सार्वजनिक स्थानों में अपने सामान्य वस्त्र आभूषणादि के बिना आना पड़ता है तथा उनका दर्शन अमंगलकारी समझा जाता है ।

धार्मिक सुधारों के विषय में बोलते हुए उन्होंने एक बात कही, जो मेरे हृदयपटल में स्थायी रूप से अंकित हो गई । कुछ सुधार विषयक बातों से संकट उत्पन्न होने की संभावना का निर्देश करते हुए उन्होंने कहा "सिवाय परमात्मा के मैं किसी से नहीं डरता" । उनके ये शब्द आज तक मेरे कानों में गूंज रहे हैं । ये शब्द मुझे स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन और चरित्र की कुंजी के रूप में प्रतीत होते हैं । स्वामी जी निर्भयता की मूर्ति, तेजस्वी, सरल, अपनी इच्छा में अधृष्य और आत्मा में अदम्य थे, उनकी आत्मा अजेय थी और उन्होंने भारत को पुनः आत्मसम्मान, आत्मविश्वास और अपने प्राचीन उज्ज्वल गौरवपूर्ण उत्तराधिकार को प्राप्त करने में सहायता दी ।

उनकी हत्या के समाचार से सबको प्रबल आघात पहुंचा । डॉ० बालकृष्ण जी कोल्हापुर आर्यसमाज तथा स्वामी जी के प्रशंसकों ने कोल्हापुर राज्य की सहायता से श्रद्धानन्द भवन का निर्माण करके उनकी स्मृति को चिरस्थायिनी बनाया । स्वामी जी की स्मृति समस्त भारतीयों के हृदय में उनकी सत्य के प्रति वीरतापूर्ण भक्ति तथा मातृभूमि की सेवा में प्रकट उनके प्रेम और साहस के लिये सम्मान के कारण सदा अमर रहेगी ।

●

मेरे संस्मरण

—आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री

पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी से मेरा सर्वप्रथम परिचय काशी में सन् १९२३ में हुआ था। उस समय में काशी हिन्दु विश्वविद्यालय में अध्यापक था और स्वामी जी अखिल भारतीय हिन्दु महासभा का पुनरुद्धार करने के लिये काशी आये हुये थे। उस समय कामच्छा में रणवीर संस्कृत पाठशाला के सुभव्य भवन में उनके भाषण का आयोजन किया गया था। श्री पं० मालवीय जी प्रधान बनने वाले थे। मालवीय जी ने अपने सभापति अभिभाषण में लगभग तीन घंटे का समय ले डाला और जनता को यह देखकर अत्यधिक निराशा हुई कि निद्रा से युद्ध करने पर भी उनको स्वामी जी का भाषण २०–२५ मिनट से अधिक समय तक सुनने को नहीं मिला। स्वामी जी के तत्कालीन भाषण से पता चलता था कि यह घटना उनको भी अच्छी नहीं लगी।

मेरा परिचय उसी भेंट में स्वामी जी से पर्याप्त घनिष्ठ हो गया था। उस समय स्वामी जी ने भारतीय साधु समाज के विषय में निराशा सी प्रकट करते हुये अपना एक अनुभव सुनाया। उन्होंने कहा—"१९१४–१८ वाले महायुद्ध का समय था। मैं रेलगाड़ी में बैठा हुआ एक स्थान को जा रहा था। गाड़ी में एक युवक साधु समाज की बड़ी तीव्र शब्दों में आलोचना कर रहा था। उसने मेरी ओर संकेत करते हुये कहा कि मेरा वश चले तो मैं सभी साधुओं को पकड़-पकड़ कर लड़ाई में भर्ती करा दूं। मैंने मन में सोचा कि बेचारा बात तो ठीक कह रहा है। उसका क्या पता कि इस वेश में मैं वैसा साधु नहीं हूँ। मुझे अगले स्टेशन पर ही उतरना था। भीड़ मेरा स्वागत करने को स्टेशन पर उपस्थित थी। उसने गाड़ी पहुँचते ही 'स्वामी श्रद्धानन्द की जय' की उच्च ध्वनि से सारे स्टेशन को गुंजा दिया। जब उस युवक को पता चला कि जिस व्यक्ति की ओर उसने संकेत किया था वह स्वामी श्रद्धानन्द थे तो उसको बड़ी लज्जा आई। वह भीड़ को चीरता हुआ मेरे पास आया और मेरे चरणों में पड़ कर क्षमा मांगने लगा। मैंने उससे कहा कि भाई तुमने तो तत्त्व की बात ही कही थी। अधिकांश साधु समाज की दशा तो वास्तव में गिरी हुई ही है। तुमको क्या पता था कि मैं वैसा साधु नहीं हूँ।

इस घटना के बाद कई वर्ष बीत गये। मैंने काशी को छोड़ कर दिल्ली को अपना निवास स्थान बना लिया और यहाँ एक कालेज में अध्यापकी मिल जाने पर भी अध्यापकी छोड़ कर अपनी आजीविका ग्रन्थ-लेखन द्वारा करने लगा। दिल्ली में स्वामी जी के पास मेरी पर्याप्त बैठक रहा करती थी। मैं प्रत्येक व्यक्तिगत मामले में उनसे परामर्श किया करता था, तब मैंने उनसे अपने लेखन-वृत्ति अपनाने की

बात कही तो उन्होंने मुझे अपना एक उर्दू ग्रन्थ दिया। उसका नाम था—'मुस्लिम साजिश का इंकशाफ'। स्वामी जी ने इस ग्रन्थ में मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं को मुसलमान बनाने के षड्यंत्र का विस्तृत विवरण दिया था। उन्होने मुझसे अनुरोध किया कि मैं उसका हिन्दी अनुवाद कर दूँ। मैंने कुछ ही समय में उस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद करके स्वामी जी को दे दिया। स्वामी जी ने प्रथम वह अनुवाद लाला देशबन्धु जी गुप्त को दिखलाया और उनके पसन्द करने पर उन्होंने उसको अखिल भारतीय शुद्धि सभा की ओर से छपवा दिया। उसका नाम मैंने रखा था—'मुहम्मदी षड्यंत्र का रहस्य भेद'।

स्वामी जी ने ग्रन्थ छपते ही मुझे उसके एक संस्करण का पारिश्रमिक दे दिया। आज मुसलमानों की पाकिस्तान की आवाज का मुकाबला करने के लिये स्वामी जी का उक्त ग्रन्थ बड़ी सहायता करेगा।

महामान्य अमर श्रद्धानन्द

—डॉ० सत्यपाल

भगवान् के भक्तों, परमात्मा के प्यारों व प्रभु के पुजारियों में और सामान्य पुरुषों में यह अन्तर है कि जहाँ मुझ जैसे देहधारी जो कुछ करते हैं उसमें अहंकार का प्रबल भाव दीख पड़ता है, वहाँ महात्माओं के जीवन का सारा उद्देश्य प्रभु-चरणों में अपने आप को अर्पण करना होता है। वह अपनी हर शक्ति को परमात्मा के सुपुर्द कर देते हैं, जीते हुये या मरने के समय उनके सामने केवल प्रभु की प्रसन्नता का ध्यान रहता है। भगवान् दयानन्द की जब जीवन-यात्रा समाप्त होने का क्षण आ पहुँचा, तो महाराज ने और जीने की इच्छा प्रकट नहीं की, न ही अपने पिता से यह प्रार्थना की। चाहा, तो बस यह चाहा कि प्रभु की इच्छा पूर्ण हो! माँगा, तो बस यह कि प्रभु अपनी दया का स्रोत बहा दे। एक हम हैं कि जो इस संसार का सारा भार अपने पर निर्भर समझते हैं। ऐसा विचार करते हैं कि हमारा यह कार्य अधूरा रह गया, वह बात असमाप्त रह गई। एक पूज्य श्रद्धानन्द से वीर व प्रभु-प्रेमी हैं कि जो गोली खाने पर भी भगवान् का धन्यवाद करते हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जिसने जीवन प्रदान किया है, यह उसीका अधिकार है कि वह अपनी इच्छानुसार इसे लौटा ले, हम कौन हैं जो इसमें मीन-मेख निकाल या अपनी इच्छा को प्रभु-इच्छा से अच्छा जानें।

बीज के स्वाहा हुये बिना वृक्ष के दर्शन नहीं होते, धर्म का वृक्ष अपने प्यारों के हँस-हँसकर रक्त बहाये बगैर कभी ऊँचा नहीं हो सकता। महाराज दयानन्द एक विशेष क्रान्ति के लिये इस भूमि पर अवतीर्ण हुये थे। आपने सारी आयु धर्म की पताका को उज्ज्वल रीति से फहराने में व्यतीत की। अन्त में अपने प्राणों को भी अपने प्रिय धर्म के लिये दे दिया। ऐसा करके अपने भक्तों को धर्म-सेवा की राह दिखा गये।

स्वर्गीय पं० लेखराम ने धर्म के कल्याण के लिये अपने रक्त को प्रेम से बहा दिया। घातक का छुरा ज़ाहिर में पंडित जी को समाप्त कर गया, पर उसका यह काम आर्यसमाज को असीम सहायता दे गया।

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी की सारा जीवन एक यज्ञ है, जिसमें आपने बड़ी-बड़ी आहुतियाँ दीं और यज्ञ की समाप्ति अपने प्राणों की पूर्ण आहुति से की। मैं जब महाराज जी के जीवन पर विचार करता हूँ, तो मुझे पता लगता है कि किस तरह प्रभु के पुजारी अपने जीवन को सफल किया करते हैं। मैंने आपके पहले-पहल तब दर्शन किये जब कि मैं कालेज में पढ़ता था। मेरे पिता जी दृढ़ आर्यसमाजी थे। उन्हें स्वामी जी के साथ बहुत प्रेम था। तब स्वामी जी अपने सुप्रसिद्ध नाम

महात्मा मुंशीराम से जाने जाते थे। आप गुरुकुल के लिये धन इक्कठा कर रहे थे। आपने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक ३० हजार रुपया जमा न हो जाये, तब तक आप जालन्धर वापस न जायेंगे। महात्मा जी पर उस समय लोग यह कटाक्ष करते थे कि यह जंगलों में लड़कों को रख कर उन्हें बनमानस बना देंगे। यह उस गुरुकुल की बाबत लोग कहते थे, जो आज दूर-दूर विख्यात है। स्वर्गीय लाला लाजपतराय कॉलेज-पार्टी के स्तम्भ थे, इसलिये आपने महात्मा जी का जी-भर कर विरोध किया। जहाँ-जहाँ महात्मा जी पहुँचते थे, लालाजी वहाँ जाकर उनका काम बिगाड़ते थे। व्याख्यानों में महात्मा जी पर हर तरह के हमले करने से सन्तुष्ट न होकर लोगों को चन्दा देने से रोकते थे। मैं तो महात्मा जी का भक्त था, इसलिये मुझे लालाजी का यह कार्यक्रम बहुत बुरा मालूम होता था। मैं देखता था कि लालाजी महात्मा जी को असफल बनाने में कोई कसर बाकी नहीं रख रहे हैं। लाला जी में यह बात थी कि जिसका वह विरोध करते फिर उसमें कोई कमी नहीं रहने देते थे। जहाँ जो उनका हो गया, उसे वह आधी दुनिया दे देते थे, वहाँ जिससे उनका मत-भेद हुआ, उसे कुचल डालना वह अपना कर्तव्य समझते थे। मगर महात्मा मुंशीराम जी कोई साधारण व्यक्ति तो थे नहीं, कॉलेज-पार्टी के सब सदस्यों के सब तरह के जोर लगाने पर भी वह चट्टान की तरह खड़े रहे। उन दिनों की बातें याद करके मुझे बहुत दुःख होता है। शायद ही कोई इलज़ाम हो, जो उन पर न लगाया गया हो। पर गुरुकुल की नींव रख ही दी गई। लाला जी के इस सलूक के साथ जब मैं महात्मा जी के उस सलूक का मुकाबला करता हूँ, जो आपने उस वक्त लाला जी के साथ किया जब उनको देश निकाला मिला था, तो मैं भारी अन्तर पाता हूँ। उस कॉलिज-पार्टी ने जिसके लिये लाला जी ने इतने कष्ट सहन किये थे, जब ऐसे मौके पर लाला जी को अपनाने से इनकार किया और सरकार से डर कर जब उनसे बहुत रुखाई का सलूक किया, तो उस समय महात्मा जी सारी पुरानी बातें भूल गये और आपने अपने विख्यात उर्दू साप्ताहिक पत्र 'सद्धर्म-प्रचारक' में ऐसे-ऐसे जोरदार लेख लिखे कि इनकी धूम मच गई और सबको यह ख्याल हो गया कि महात्मा जी को भी जेल में डाल दिया जायेगा। मेरी आँखों के सामने वह दृश्य अब तक उपस्थित है जब कि आर्यसमाज लाहौर के उत्सव पर आपने एक प्रभावशाली व्याख्यान दिया। वह आपकी आकर्षक आकृति, वह आपका तेज, वह आपकी तकरीर सब की सब मेरे हृदय पर अंकित है। मैं देख रहा हूँ कि आप कितने निर्भय थे और कितने हौंसले से आपने सरकार की दमन-नीति पर अपने विचार प्रकट किये।

लाला जी को महात्मा जी ने गुरुकुल के उत्सव पर निमन्त्रित किया और आप बहुत ही सम्मान से पेश आये। महात्मा जी ने लाला जी को दिखाया कि वह संस्था जिसे इतना बुरा माना जाता था कितनी सफल हो रही है।

१९२१ में लाला जी को महात्मा गांधी के प्रोग्राम के अनुसार इस बात की घोषणा करनी पड़ी कि आधुनिक कॉलेज बन्दीखाने हैं। आपने चाहा था कि

डी० ए० वी० कॉलेज का रंग-ढंग बदल दिया जाये, यह वास्तविक रूप से स्वदेशी हो जाये। पर इसमें लाला जी को सफलता प्राप्त नहीं हुई। यह उज्ज्वल यश महात्मा मुंशीराम को ही मिल सका है कि उन्होंने ऐसी संस्था चलाई जो किसी रूप में हुकूमत से सम्बन्ध नहीं रखती और वास्तविक रूप में देश के गौरव को बढ़ाने वाली है। महात्मा मुंशीराम जी के हृदय में सहानुभूति का स्रोत सदा जोरों पर रहता था। जब रालेट-ऐक्ट-आन्दोलन चला, तो आपने उस आन्दोलन में बहुत भाग लिया। कौन भारतवासी यह भूल सकता है कि आप सीना तान कर गोरखों की गोलियों का स्वागत करने के लिये खड़े हो गये थे और फिर कौन हिन्दुस्तानी उनकी उस महान् सेवा को भूल सकता है जो आपने हमारे प्रान्त वालों की उस समय की जब कि वह (प्रान्त) असह्य दुःख में ग्रसित था।

मुझमें इतनी शक्ति कहाँ कि मैं महाराज की उन सारी बातों का वर्णन कर सकूँ जिन्होंने उनको अमर कर दिया है। सांसारिक भाषा में वह भले ही परलोक-गामी कहलायें, पर वास्तव में ऐसे महान् पुरुष मर कर और भी अमर हो जाते हैं। मैं अपने नवयुवक मित्रों से कहूँगा कि वह ऐसे पुण्य आत्मा को अच्छी तरह से जानने का प्रयत्न करें और अपना जन्म सफल करने के लिये उनकी तरह अपने जीवन को देश और धर्म के लिये भेंट देने की फ़िकर करें। जब तक लोग अपने आपको देश और धर्म के लिये मिटा देने से डरते हैं तब तक आगे बढ़ना कठिन ही नहीं, प्रत्युत असम्भव ही है। ●

उत्तर के सुमेरु स्वामी श्रद्धानन्द

—आचार्य चतुरसेन शास्त्री

उन्नीसवीं शताब्दी के अपराह्न में पंजाब में चार महापुरुष ऋषि दयानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में पंक्ति में आ खड़े हुये। इनमें एक थे महात्मा हँसराज, दूसरे थे महात्मा मुंशीराम (पीछे स्वामी श्रद्धानन्द), तीसरे थे लाला देवराज और चौथे थे लाला लाजपतराय। महात्मा हंसराज ने लाहौर में डी० ए० वी० कालेज, महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल कांगड़ी और लाला देवराज ने जालंधर में कन्या महाविद्यालय की स्थापना की तथा लाला लाजपतराय ने देश में स्वतन्त्रता की धूम मचाई। इन तीनों संस्थाओं का तथा इन चार मंगल मूर्तियों का उत्तर भारत में ऐसा सांस्कृतिक प्रभाव पड़ा कि उसका मूल्य किन्हीं भी शब्दों में नहीं आंका जा सकता।

महात्मा हँसराज और लाला लाजपतराय ने जब लाहौर में, डी० ए० वी० कालेज की स्थापना की तब देखते ही देखते यह कालिज आधुनिक पद्धति पर सहस्र-सहस्र युवकों को ज्ञान-दान देने लगा और उनके हृदय में आर्य संस्कृति तथा वैदिक सभ्यता का बीजारोपण करने लगा।

इन दिनों स्त्रियों को पढ़ाना-लिखाना पाप समझा जाता था और लोगों में यह विश्वास था कि पढ़ी-लिखी लड़कियाँ जल्दी विधवा हो जाती हैं। स्त्री-शिक्षा के हिमायतियों को लाठी खानी पड़ती थी। ऐसी अवस्था में लाला देवराज ने जालन्धर में कन्या महाविद्यालय की स्थापना की, जिसने पंजाब में स्त्रियों के जीवन की कायापलट कर दी। परन्तु उत्तर भारत में जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य हुआ वह हुआ स्वामी श्रद्धानन्द के द्वारा गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना के रूप में। यह ऐसा विद्यामन्दिर था, जहाँ यूनिवर्सिटियों और पाश्चात्य शैलियों का सर्वथा त्याग किया गया। वैदिक संस्कृति और वैदिक धर्म का भारत में प्रचार करना इस विद्यामंदिर का मूल मन्त्र था। यहाँ के विद्यार्थियों को प्राचीन भारतीय गुरुकुल प्रणाली पर ब्रह्मचारी वेश में अनागरिक वृत्ति से रहना पड़ता था। यह एक नवीन परिपाटी थी, जिसने बड़ी शीघ्रता से समस्त उत्तर भारत का ध्यान अपनी ओर खींच लिया। संपूर्ण उत्तर भारत में स्वामी श्रद्धानन्द के इस सु-उद्योग का सुफल अंकुरित हुआ। लोगों के हृदयों में स्वप्न से जागे हुओं की भाँति अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपने देश के प्रति श्रद्धा के भाव उत्पन्न हुये। इस विद्या-केन्द्र के स्नातक प्रथम श्रेणी के लेखक सिद्ध हुए, जिन्होंने साहित्य को विचार, विज्ञान और प्रगति से ओतप्रोत कर दिया। एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि आज के जागृत उत्तर भारत के मूलप्रेरक स्वामी श्रद्धानन्द थे और उन्हें 'उत्तर भारत का सुमेरु' कहना सर्वथा उपयुक्त है। इन्हीं स्वामी श्रद्धानन्द के बारे में प्रस्तुत हैं मेरे अपने व्यक्तिगत संस्मरण।

पहली और अन्तिम भेंट

कुछ ऐसे कारण थे कि उनसे मिलते हुए मैं हिचकता था लेकिन

डा० युद्धवीर सिंह उस दिन मुझे उनके पास घसीट ले गये। किसी सार्वजनिक संस्था को कुछ रुपयों की आवश्यकता थी। प्रातःकाल का समय था और स्वामी जी स्नान करके स्वस्थ चित्त बैठे थे। प्रसन्न मुद्रा में थे। हमने संक्षेप में अपना अभिप्राय कह सुनाया। उन्होंने चुपचाप सुना। एक-एक गिलास ताजा दूध आग्रहपूर्वक पिलाया, इधर-उधर की बातें पूछी और एक हजार का चेक हस्ताक्षर करके हमारे हवाले किया। आश्चर्य और प्रसन्नता से हम लोग अभिभूत हो गये। लखपति, करोड़पति साहूकार भी इतनी आसानी से अंटी ढीली नहीं कर सकते। क्षण भर के लिए स्वामी जी का ध्यान दूसरी ओर गया तब मैंने डाक्टर साहब की बंगल में टहोका मारकर आहिस्ते से कहा—"यह तो बड़ा मालदार साधु है। कुछ और ज्यादा क्यों न वसूला जाये।" त्यों ही वह वज्रदृष्टि मेरी ओर घूमी। एक गूढ़ मुसकान ओठों में भर कर वह बोले—"आज आप कैसे निकल पड़े? आप तो कहीं आते-जाते नहीं।"

जिस बात से डर रहा था वही सामने आई। समझ गया अब खैरियत नहीं। ये हजार रुपये और उनका सूद अभी वसूल किया जायेगा। मैंने धीरे से कहा -- "डाक्टर साहब खींच लाये।"

"यही मेरा ख्याल है, परन्तु आप एक उदीयमान साहित्यकार हैं और साहित्यकार एकान्तप्रिय होते हैं। परन्तु अधिक एकान्त में यह दोष पैदा हो जाता है कि साहित्यकार की दृष्टि में कल्पना प्रधान हो जाती है। सत्य पीछे छूट जाता है। जहाँ तक भावना का प्रश्न है, इससे उतनी हानि नहीं होती, पर जब घटनाओं का प्रश्न आता है और उनसे किसी व्यक्ति का सम्बन्ध स्थापित होता है और दुर्भाग्य से वह व्यक्ति यदि सार्वजनिक होता है तब कभी-कभी बहुत भद्दी भूलें हो जाती हैं, जो पीछे किसी मूल्य पर परिमार्जित नहीं की जा सकतीं।"

मतलब मैं स्पष्ट ही समझ रहा था। पर स्वामी जी कोई बात अधूरी छोड़ते नहीं थे, कोई बात उधार खाते डालते नहीं थे। उन्होंने बिना इस बात की परवाह किये तनिक कठोर भाषा में कहा—"अब आप इस कहानी की ही बात लीजिये जिसमें मुझे और मेरे पुत्र को आपने एक पात्र बनाया है, एक बहुत गंभीर आरोप आपने उसमें मेरे ऊपर लगाया है। मैं नहीं जानता कहाँ से ये तथ्य आपको मिले और उनमें आपने कितना कल्पना का सहारा लिया, परन्तु मैं तो अभी जीवित था, यहीं इसी नगर में रहता था, आप यदि मेरे पास आते तो आपको मेरे पास तो सत्य की ही उपलब्धि होती और तब शायद आप की यह कहानी कुछ दूसरा ही रूप धारण कर लेती।

मुझमें शक्ति नहीं थी कि इस महापुरुष से विवाद करता या जबाव देता। असल बात यह थी कि उस कहानी में कुछ अत्यन्त गुप्त रहस्यों का उद्घाटन हुआ था, जिनके कुछ आधारों के सम्बन्ध में एक शब्द भी कह नहीं सकता। वह एक अति भयानक राजनीतिक कहानी थी और उसमें भारत में घटित एक अत्यन्त महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी घटना का संकेत था, जिसका सम्बन्ध दिल्ली के कुछ फांसी प्राप्त

क्रान्तिकारियों से भी था। कहानी "चाँद" में छपी थी और उसके कारण "चाँद" की तीन हजार की जमानत जब्त हो चुकी थी। स्वामी जी उस कहानी को बख्शेंगे नहीं यह मैं जानता था और इसी कारण उनकी आँखों के आगे आने के सब अवसरों से बचता रहता था। पर अब तो आमना-सामना हो चुका था। मैं नीचे सिर झुकाये निरुत्तर बैठा रहा। एक शब्द भी मैंने नहीं कहा।

स्वामी जी ही बोले—"अभी आप नवयुवक हैं। खून आपका गर्म है। पर कभी आप मेरी उम्र को भी पहुँचेंगे, किन्तु कदाचित् आपका जीवन उस भयानक बवंडर में न फंसे, जिसमें मुझे फंसना पड़ा, क्योंकि आप तो साहित्यिक हैं, सामाजिक कार्यकर्ता नहीं। विरोधी सत्ताओं के शक्ति सन्तुलन का कदाचित् आपको अवसर मिले ही नहीं। ऐसी अवस्था में आप अपनी भूल को कभी समझ न सकेंगे। परन्तु मैं तो यह समझता हूँ कि साहित्यकार को समाज के समूचे ढाँचे को उसीप्रकार ठीक-ठीक जान लेना आवश्यक है जिसप्रकार एक चिकित्सक को शरीर की भीतरी-बाहरी पेंचीली बनावट, साथ ही जीवन-क्रिया के मूलाधारों को जान लेना आवश्यक है। इसके लिए साहित्यकार ही रहना चाहिए।"

मैंने तो इस पर भी कोई उत्तर नहीं दिया। जब हम चले तब वह चेक और वह दूध बहुत बोझिल हो रहा था और जीने से नीचे उतरते हुए मेरे पैर लड़खड़ा रहे थे। परन्तु वे वज्रवाक्य तो जैसे तप्त-शलाका से मेरे हृदय-पटल पर लिख दिये गये। आज चालीस बरस बीत जाने पर भी वे ज्यों के त्यों मेरे अन्तरतल पर अंकित हैं।

और जब कत्ल हो गये

इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद मुझे अप्रत्याशित रूप में जल्दी-जल्दी उस जीने की सीढ़ियों पर चढ़ना पड़ा। अच्छी तरह मुझे उस दिन की प्रत्येक बात याद है—खारी बावरी में मैं दाल-चावल खरीद रहा था। एक आदमी दौड़ता हुआ जा रहा था और जोर-जोर से चिल्ला रहा था—"स्वामी जी कत्ल हो गये। स्वामी जी कत्ल हो गये।"

बाजार में हलचल मच गई और मैं तत्काल ही लपकता हुआ नये बाजार की ओर दौड़ा। कुछ आदमी सड़क पर भीड़ बना कर खड़े थे, कुछ जीने पर चढ़ रहे थे। भीड़ चीरकर जब मै ऊपर पहुँचा तब देखा सेवक धर्मसिंह की जांघ से रक्त बह रहा था, पर वह दीवार का सहारा लिए खड़ा था। पलंग पर स्वामी जी लहूलुहान पड़े थे। तीन गोलियाँ उनके सीने के पार हो चुकी थीं। स्नातक धर्मपाल ने कातिल को अपनी बलिष्ठ बाहों में दबोच लिया था और वह भाग निकलने को छटपटा रहा था। रिवाल्वर अब भी उसके हाथों में था। स्वामी जी का प्राणान्त हो चुका था। उनका मुँह और उनकी आंखें आधी खुली थी और इन्द्र जी उनके ऊपर झुके हुये थे। नीचे और ऊपर अब भीड़ बढ़ गई थी। शोर भी बहुत हो रहा था। कोई एक व्यक्ति चाकू हाथ में लेकर कातिल को कत्ल कर डालने को जोर कर रहा था और लोग उसे पकड़ रहे थे। पुलिस आई और उसने कातिल को कब्जे में किया। लाला

दीवानचन्द्र आये और आँखों में आँसू भरकर स्वामी जी का सिर गोद में लेकर बैठ गये। डाक्टर अंसारी और डा० अब्दुल रहमान भी आ गये थे। पर अब क्या हो सकता था। डाक्टर अंसारी की आँखें गीली थीं। कातिल अधेड़ उम्र का मुंशी जैसा आदमी था। जब पुलिस ने उसे हथकड़ी पहना कर खड़ा किया तब मुसकरा दिया और कहा "डाक्टर साहब, आदाबर्ज।" इससे भीड़ में बहुत उत्तेजना फैल गई और डा० अंसारी पुलिस के संरक्षण में वहाँ से चले गये।

और फिर दिल्ली के इतिहान में अभूत-पूर्व उनकी शवयात्रा हुई। दिल्ली और पंजाब के तरुणों का उछलता हुआ रक्त जोश मार रहा था। अनगिनत भजन-मंडलियाँ भजन गाती जाती थीं। उनमें से एक मैं भी सम्मिलित था। आप कदाचित् विश्वास न करें, मैं स्वयं चीख-चीख कर गा रहा था, कुछ अपने ही द्वारा रची गई पंक्तियों को।

उसके बाद एक सभा कम्पनी बाग में हुई, जहाँ लोगों के सिर ही सिर नजर आते थे। उस सभा की एक बड़ी घटना मुझे याद है—लाला लाजपतराय का भाषण। लाला जी भाषण नहीं दे रहे थे, वह तड़प रहे थे। कह रहे थे—"श्रद्धानन्द, तुम्हारे जीवन पर भी मैंने सदा रश्क किया और मौत पर भी रश्क करता हूँ। भगवान् मुझे भी ऐसी ही मौत दे तो मैं इतना समझूं कि मैं तुमसे आगे न बढ़ सका तो पीछे भी न रहा।" और झर-झर आँसू उस नरशार्दूल की आँखों से बह रहे थे।

एक संस्मरण

—पं० शंकरदेव विद्यालंकार

बड़ौदा-नरेश श्रीमन्त महाराजा सयाजीराव जी बड़े शिक्षाप्रेमी, शिक्षण-प्रेमी, प्रजा-हितैषी, समाज सुधारक और देशभक्त थे । उनको शिक्षण प्रसार की विशेष लगन थी । भारत और विदेशों की शिक्षण-संस्थाओं को वे बड़ी दिलचस्पी से निहारते थे कि अपने यहाँ शिक्षा प्रसार और विद्योन्नति किसप्रकार की जाये ? वे अछूतों के परम उद्धारक थे । जब पू० गांधी जी दक्षिण अफ्रीका में ही काम करते थे, उस समय इस शताब्दी के प्रथम दशक में अपने राज्य में अछूतोद्धार का कार्य किया हुआ था । अछूतों के लिये पाठशालाएँ और छात्रावास स्थापित थे । प्रत्येक गाँव में पुस्तकालय और वाचनालय खुलवाये । आर्यसमाज के तत्कालीन एक बड़े संन्यासी स्वामी श्री नित्यानन्द जी महाराज को वे इन कार्यों के लिये गुरु मानते थे । तब कट्टर सनातनधर्मी लोग इन अछूतों की पाठशालाओं में काम करने को राजी नहीं थे । कोई सवर्ण कार्यकर्ता उनके लिये प्राप्त नहीं होता था । स्वामी श्री नित्यानन्द जी ने महाराजा सयाजीराव जी को सलाह दी कि उत्तर-भारत से आर्यसमाजी कार्यकर्ता बुलाइये, वे ही आपको इस पवित्र कार्य में सहायक सिद्ध होंगे । तब श्री स्वामी नित्यानन्द जी की प्रेरणा से सयाजीराव महाराज ने उत्तर-भारत से आर्यसमाज के विद्वान् नेता और कार्यकर्ता पं० आयाराय जी अमृतसर को अछूतोद्धार का कार्य करने के लिये आदरपूर्वक बुलाया और उनके प्रयत्नों से बड़ौदा राज्य में अनेक स्थानों में अछूतों की पाठशालाएँ और छात्रावास सफलता के साथ चलने लगे ।

श्री महाराजा सयाजीराव जी को सामान्य शिक्षा-प्रसार और विद्योन्नति की बड़ी चाह रहती थी । जहाँ कहीं शिक्षण-क्षेत्र में नये प्रयोग होते थे वहाँ स्वयं जाते थे और प्रेरणा पाते थे अथवा अपने राज्य के शिक्षा-शास्त्रियों और विद्वानों को विविध शिक्षण-संस्थाओं का सूक्ष्म अवलोकन करने को भेजते थे ।

सन् १९१४ के आस-पास की बात है, महाराजा श्री सयाजीराव जी ने अपने राज्य के प्रसिद्ध शिक्षणाधिकारी तथा राज्य में पुस्तकालय-वाचनालय आदि के परिचालक श्रीमान् मोती भाई अमीन को गुरुकुल कांगड़ी (हरिद्वार) भेजा और कहा उस संस्था की सारी दिनचर्या. पढ़ाई की पद्धति, संचालन शैली आदि का अवलोकन करके उसकी रिपोर्ट प्रस्तुत करें ।

श्रीमान् मोती भाई अमीन अपने दो सहकर्मियों सहित गुरुकुल कांगड़ी में आये । कई दिनों तक वहाँ रहे और संस्था का बारीकी से अवलोकन किया । उस समय गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य पू० महात्मा मुंशीराम जी थे । आचार्य जी

ने अमीन महाशय को गुरुकुल की प्रत्येक कार्य शैली का परिचय दिया। दिनचर्या दिखाई। छात्रों की उस तपस्या पूर्ण दिनचर्या को निहार कर अमीन महाशय ने कहा कि "यह तो अद्‌भुत जीवन-पद्धति है। यह तो स्पार्टा (ग्रीस देश) के अनुसार सहिष्णुता का नमूना है। इसे देखकर तो अंग्रेज सरकार चकित और शंकित हो उठेगी कि यहाँ सच्चे चरित्र का निर्माण हो रहा है। इसप्रकार की दैनिक-चर्या को निहार कर सरकार के मन में शंका हो जायेगी कि वे जंगल में रहकर देश के युवकों को ऐसी तालीम दे रहे हैं कि वे सरकार-द्रोही, शासन-विरोधी और स्वाधीनता की भावना से भरे सच्चे देश सेवक बन रहे हैं। अवश्य ही सरकार आपकी संस्था को कड़ी नजर से देखती रहेगी।"

महात्मा जी ने कहा "अमीन भाई, हम तो स्वदेश, स्वधर्म और स्व-संस्कृति की रक्षा के लिये नम्र प्रयत्न कर रहे हैं। हमारा राजनीति से कोई सरोकार नहीं है। हाँ, हम अपने बालकों को राजनीति-शास्त्र, नागरिकशास्त्र और इसी देश की सामाजिक-प्रवृत्तियों से पूरा परिचित कराते हैं। अपनी प्राचीन विद्याओं और शास्त्रों का अध्ययन भी कराते हैं। हम इन्हें विज्ञान, रसायन-शास्त्र, भौतिक-शास्त्र, कृषि-विद्या और अंग्रेजी साहित्य भी सिखाते हैं। हम प्रयत्न करते हैं कि वे शरीर से मजबूत, तपस्वी, मन से दृढ़, परिश्रमी, बुद्धि में तेजस्वी और प्रगल्भ तथा चरित्र की हानि से पवित्र और सदाचारी बने। देश-प्रेम और मनुष्य-सेवा की शिक्षा भी हम देते हैं। सरकार चाहे कुछ भी समझे, हम तो अपने ऋषि-दुनियाँ की आवाज़ को उठा रहे हैं"।

मध्याह्नकालीन भोजन का समय हो गया। सो आचार्य जी अमीन महाशय को भोजनालय में ले गये। अमीन महाशय, उनके साथी तथा आचार्य जी ने भी ब्रह्मचारियों के साथ ही भोजन किया। प्रथम छात्रों ने अन्न देवता की स्तुति के मंत्र पढ़े और आचमन करके भोजन लेना प्रारम्भ किया। परोसने आदि की सारी व्यवस्था छात्र ही चला रहे थे। अमीन महाशय ने स्वच्छ, सात्विक, पौष्टिक भोज्य वस्तुओं की मात्रा निहार कर कहा कि इतना भोजन देना तो आपको महंगा पड़ता होगा। बालकों के भरण-पोषण के लिये जो द्रव्य आप उनसे ले रहे हैं उसके मुकाबले तो यह सब बहुत ही समृद्ध और व्ययसाध्य है। प्रजा के दान पर चलने वाली इस संस्था में आपको आर्थिक कष्ट सहना पड़ेगा।"

'महात्मा जी ने कहा "अमीन महाशय, इस उमर में पूरा बौद्धिक और शारीरिक श्रम और तप करने वाले युवकों को चौबीस घंटे में कितनी मात्रा में कितनी बार भोजन-नाश्ता आदि देना चाहिये इसकी पूरी पूछताछ और जानकारी प्राप्त करके हमने यह आहार तालिका बनाई है। प्रायः संध्या-प्रार्थना के पश्चात् गाय का दूध या मीठे चावल, दही, चपाती आदि का नाश्ता दिया जाता है। मध्याह्न में पूरा भोजन दिया जाता है। दोपहर बाद तीन बजे के करीब पुनः दुग्ध-पान, खजूर, मोसमी फल आदि और रात में पुनः पूरा भोजन। रविवार को

छुट्टी के दिन छात्रों को मिष्ट-भोजन (बूंदी, हलवा, दूध या खीर, मीठे चावल, पूरी, परोंठा, रायता, पुदीने की चटनी, जलजीरा) दिया जाता है। इन बढ़ती उमर के युवकों को शारीरिक और बौद्धिक पोषण की दृष्टि से चौबीस घंटे में कितनी मात्रा में, कितनी बार, कैसा आहार देना चाहिये—इसके लिये मैंने लखनऊ विश्वविद्यालय के मेडिकल कालेज के आहार-शास्त्र के विशेषज्ञ डॉक्टर त्रिलोकीनाथ से पूरी तालिका बनवा ली है। दूध, शाक भाजी, प्रोटीन (दाल), लवण आदि की मात्रा पूछ ली है। मौसम के फल आदि तो हम इन्हें अतिरिक्त देते हैं। हमारी वाटिका में हमारे कृषिशास्त्र के छात्र फल और शाक-भाजी की खेती करते हैं। अमीन भाई, इस उमर के बालकों को जितना और जो आहार मिलना चाहिये, वह देने का हमारा पूरा प्रयत्न रहता है। जिस दिन ऐसा आहार देने की क्षमता हमारे पास नही रहेगी हम संस्था बंद कर देंगे।"

एक दिन मध्याह्न के भोजन के पश्चात् छात्र अपना कटोरा, लोटा आदि साफ करने के लिये नलकूप पर गये हुये थे। एक बालक अपने पात्र मांजकर वाटिका के प्रवेशद्वार की पुलिया की मुंडेर पर बैठा था। आचार्य जी अमीन महाशय के साथियों के संग उधर से आ निकले। समीप आने पर पूज्य-जनों को बालक ने झुककर प्रणाम किया और मौन खड़ा रहा। आचार्य जी ने कहा "कहो बेटा, कैसे हो, किस श्रेणी में पढ़ते हो, तुम्हारा वतन कहाँ है? तुम्हें कोई कष्ट तो नहीं?" बालक, शायद लजीला होने से या संकोच-शील होने से कुछ बोला नहीं। दुलार करने पर भी मौन ही रहा।

इस पर महात्मा मुंशीराम जी (आचार्य) ने कहा—"अमीन महाशय, देखिये मैं इसका आचार्य तो बन गया हूँ: पिता नहीं बन पाया। मुझमें ही कोई कमी होनी चाहिये। यह बालक, मुक्त भाव से, सहज भाव से, खुले हृदय से, स्नेह से मेरे साथ बात क्यों नहीं कर रहा? अपने को मुझ पर उन्मुक्त क्यों नहीं कर पाता? आत्मीयता पूर्वक स्पष्टता से बोलता क्यों नहीं?"

महात्मा जी के वचन सुनकर अमीन महाशय विस्मय विमूढ़ हो गये। कैसी उदार भावना लेकर, जीवन की कैसी गरिमा तक, अपनी साधना की पूर्ति के लिये ये तपस्वी प्रयत्नशील हैं।

अमीन महाशय ने कहा "धन्य महात्मा जी, आपका आदर्श और आपकी तपस्या धन्य है। मैं एक अनोखी सृष्टि निहार रहा हूँ। आप जैसी ध्येय के प्रति पूरी समर्पण की वृत्ति आज तक मैंने कहीं नहीं देखी। हम लोग आपकी साधना और आदर्श का आदर करते हैं। मैं श्रीमंत महाराजा सयाजीराव से विनती करूंगा कि आप गुरुकुल को स्वयं निहारिये—वे तपस्वी गुरु लोग और तपस्वी बालक एक अद्भुत साधना को उठाये हुये हैं।"

एक महान् क्रान्तिकारी आदर्श नेता

—श्री रामनारायण यादवेन्दु

फर्वरी सन् १९२५ में मथुरा नगर में आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द की प्रथम जन्म शताब्दी बड़े समारोह और अपूर्व उत्साह के साथ मनाई गई। इन पंक्तियों के लेखक को इस महान् एवं अपूर्व धार्मिक समारोह में सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था इसी शताब्दी समारोह में वर्तमान लेखक ने स्वामी श्रद्धानन्द जी के भव्य और सौम्य व्यक्तित्व के प्रथम और अन्तिम दर्शन किये थे।

स्वामी श्रद्धानन्द के अनुपम व्यक्तित्व की वर्तमान लेखक के मानस-पटल पर जो छाप पड़ी वह आज तक भाग्य रेखा के समान अमिट है। उनके पवित्र दर्शन और उनके मुखारविन्द से अमर सन्देश को ग्रहण कर मुझे जो अपार आनन्द प्राप्त हुआ वह अवर्णनीय है।

शताब्दी समारोह में मैंने भारत के भविष्य की जो सुखद कल्पना अनुभूत की, उससे मुझे उत्साह, बल और स्फूर्ति मिली। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि वह दिन दूर नहीं जब कि भारत पुनः अपने पूर्ण गौरव को प्राप्त कर विश्व को आर्य बनाने के पवित्र संकल्प को सिद्ध करने में सफलता प्राप्त करेगा। मुझे ऐसा लगा कि भारत में फिर धर्म का राज स्थापित होगा और देश में सुधार, निरीश्वरवाद, पाखण्ड तथा पाप का खात्मा होकर उनके स्थान पर न्याय और धर्म का राज्य होगा। इसी समय से मेरी स्वामी जी में गहरी श्रद्धा हो गई और मैंने ऐसा अनुभव किया कि इस अनुष्ठान के लिये ईश्वर ने स्वामी श्रद्धानन्द को माध्यम चुना है।

इसप्रकार अपने हृदय पर स्वामी श्रद्धानन्द और उनके द्वारा आयोजित इस बृहद् अपूर्व धार्मिक समारोह का सुखद प्रभाव लेकर मैं मथुरा से विदा हुआ।

× × ×

अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द एक महान् क्रान्तिकारी समाज-सुधारक और धार्मिक उन्नायक थे। भारत में स्वराज्य के लिये एक योजना के साथ कार्य कर रहे थे। स्वामी श्रद्धानन्द भारत में एक ऐसी नवीन समाज व्यवस्था की प्रतिष्ठा करना चाहते थे, जिसमें मानवकृत जात-पांत का कोई भेदभाव न हो, सब एक-दूसरे के साथ बन्धुत्व का व्यवहार करें और इसप्रकार एक वर्ग-विहीन समाज की स्थापना हो जाये। वे स्वराज्य की सफलता के लिये ब्रह्मचर्य और सच्ची राष्ट्रीय एकता का

परम आवश्यक समझते थे। इसीलिये उन्होंने ब्रह्मचर्य जीवन की साधना हेतु गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार की स्थापना की और इसप्रकार एक ऐसे युग में सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा का शिलान्यास किया, जबकि भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ें बड़ी शक्तिशाली थीं।

× × ×

सन् १९१९–२० में भारत के राजनीतिक क्षितिज में एक नवीन तारे का उदय हुआ। वह भारत में स्वराज्य के संदेश को लेकर अवतीर्ण हुआ और उसने इसके लिये सत्य एवं अहिंसा के प्रबल अस्त्र भारतीयों को सौंपे। परन्तु महात्मा गांधी भी स्वराज्य के लिये राष्ट्रीय एकता और आत्मशुद्धि को परम आवश्यक समझते थे। गांधी जी ने राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यक्रम में अस्पृश्यता-निवारण के प्रश्न को महत्त्वपूर्ण स्थान देकर जनता को एक नूतन मार्ग दिखलाया। इस आन्दोलन के प्रचार व संगठन के लिये कांग्रेस-समिति ने एक उपसमिति नियुक्त की, जिसमें स्वामी श्रद्धानन्द जी, श्रीमती सरोजनी नायडू, श्री देशपांडे और श्री याज्ञिक सम्मिलित थे। इस उपसमिति को २ लाख रुपये का चन्दा करके अपना कार्य आरम्भ करने का आदेश मिला। स्वामी श्रद्धानन्द जी को इस समिति का संयोजक नियुक्त किया गया।

स्वामी श्रद्धानन्द जी चाहते थे कि उन्हें कम से कम ५ लाख रुपये इसके व्यय के लिये मिलें, जिसमें से १ लाख रुपये नकद कांग्रेस की निधि में से मिले। परन्तु कांग्रेस-समिति इससे अधिक व्यय नहीं करना चाहती थी। इसलिये उसने श्री देशपांडे को समिति का संयोजक बना दिया और कार्य आरम्भ कर दिया। स्वामी जी ने इससे असन्तुष्ट होकर उपसमिति से त्यागपत्र दे दिया। २३ जुलाई १९२२ को स्वामी जी ने अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के प्रधानमंत्री पं० मोतीलाल नेहरू को अपने त्याग-पत्र में यह लिखा कि "अमृतसर और मियांवाली जेलों में मेरे अनुभव तथा वहाँ मुझे जो ज्ञान उपलब्ध हुआ उसने मेरी यह धारणा और भी सुदृढ़ कर दी है कि जब तक प्राचीन आर्य आदर्श के अनुसार ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा नहीं की जायेगी तथा भारतीय समाज से अस्पृश्यता के अभिशाप को न मिटाया जायेगा तब तक कांग्रेस को स्वराज्य-प्राप्ति के प्रयत्नों में सफलता नहीं मिलेगी और चूंकि राष्ट्रीय आत्मबोध एवं ओजस्वी जीवन स्वराज्य के बिना असंभव है इसलिये मुझे एक संन्यासी के रूप में अपने जीवन के शेष दिन इस पवित्र अनुष्ठान को समर्पित कर देने चाहिये।"

स्वामी जी ने राष्ट्रीय एकता के लिये देहली में दलितोद्धार सभा की स्थापना की। वे स्वयं उसके संचालक एवं अध्यक्ष थे। यही नहीं, जो लोग दूसरे धर्मानुयायियों ने बलपूर्वक अपने धर्मों में दीक्षित कर लिये थे उन्हें पुनः आर्य-धर्म, वैदिक धर्म में वापस लाने के लिये अखिल भारतीय शुद्धि-सभा को जन्म दिया। इसप्रकार स्वामी जी

वास्तव में हिन्दु समाज के अन्तर्गत सच्ची सामाजिक समता एवं एकता का विकास करना चाहते थे और वे राष्ट्रीय एकता के लिये वैदिक धर्म के विस्तार एवं उसकी व्यापकता को परम आवश्यक मानते थे। इसप्रकार राष्ट्रीय शिक्षा, दलितोद्धार तथा शुद्धि-आन्दोलन द्वारा वे राष्ट्रीयता को शक्तिशाली आधार पर स्थिर कर देना चाहते थे।

परन्तु यह देश का दुर्भाग्य था कि दयानन्द जन्म शताब्दी उत्सव के एक वर्ष बाद ही वे देहली में रुग्णावस्था में एक मतान्ध मुस्लिम की गोली के शिकार बने और इस बलिदान से भारत का सबसे महान् क्रान्तिकारी आदर्श नेता धर्माचार्य हमारे बीच से सदा के लिये उठ गया। ●

प्राचीन भारत के उदात्त आदर्श

—प्रो० एस. आर. शर्मा

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के अमर बलिदान के कुछ ही महीने पूर्व उनके दर्शनों का सौभाग्य मुझे मिला था। वे मेरी जन्मस्थली मंगलूर में पधारे थे। उस दिन उन्होंने जो भविष्यवाणी की थी वह अब भी मेरे कानों में गूंज रही है—'एक दिन मेरी मौत किसी धर्मान्ध के हाथों ही होनी है।' ये शब्द उन्होंने एक सार्वजनिक भाषण के दौरान कहे थे। खेद, वह भविष्यवाणी उतनी जल्दी सत्य होने को थी। लेकिन उस लोकोत्तर आत्मा की स्पिरिट उसके द्वारा कांगड़ी ग्राम में संस्थापित संस्था के कण-कण में अब भी व्याप रही है। गुरुकुल श्री स्वामी जी की निजी देशभक्ति और सृजनात्मक प्रतिभा का तथा उन सब वैदिक आदर्शों का कीर्तिस्तम्भ है, जिन्हें स्थिर रखना उसका ध्येय है।

मैं कभी भुला न सकूंगा कि श्री स्वामी जी ने मेरी पुस्तिका 'स्वामी रामतीर्थ: व्यावहारिक वेदान्त के कवि देवदूत' की प्रस्तावना लिख देने की मेरी कामना कितनी खुशी के साथ पूरी की थी। यह पुस्तिका आज से तीस वर्ष पहले छपी थी। यह थी मेरी तुच्छ श्रद्धांजलि अपने उस महान् गुरु (श्री स्वामी रामतीर्थ जी) के चरण-कमलों में, जो कि मेरे प्रारम्भिक तरुण जीवन के निराशामय संघर्षों में मेरे लिये आशा के एकमात्र ज्योतिःपुंज थे। इस पुस्तिका की प्रस्तावना लिख देना मेरे लिये श्री स्वामी जी का अमोघ आशीर्वाद था। इसके लिये मैं सदा उनका ऋणी रहूँगा।

श्री स्वामी जी से व्यक्तिगत परिचय पाने का सौभाग्य मुझे पं० धर्मदेव जी सिद्धान्तालङ्कार विद्यावाचस्पति के सौजन्य से मिला। मेरे लिये पं० धर्मदेव जी गुरुकुल में दीक्षित ब्रह्मचारियों की आदर्श निष्ठा और चारित्रिक दृढ़ता के जीते जागते नमूने थे। आर्यसमाज के उदात्त ध्येयों के प्रति पंडित जी की जो निराडम्बर और साधनामय निष्ठा है, उसका निदर्शन मंगलूर का आर्यसमाज और समाज-मन्दिर हैं। उन्होंने मेरे अन्तर में यह उत्कट अभिलाषा अंकुरित की कि मैं उस महान् संस्था का अपनी आँखों दर्शन करूँ, जिसमें उन्होंने दीक्षा पाई। इसीलिये चाहे बहुत थोड़े समय के लिये ही सही गुरुकुल की पुण्यभूमि पर अपने को पाकर मुझे अपार आनन्द हुआ। मेरे लिये तो यह मानों एक तीर्थ-यात्रा के पुराने संकल्प की सुखद पूर्ति थी।

जो सौभाग्यशाली कार्यकर्ता गुरुकुल-संचालन के गौरवपूर्ण काम को सम्पन्न कर रहे हैं, उनकी योग्यता के विषय में कुछ भी लिखने की क्षमता मुझ में नहीं है। मैं उनकी प्रशंसा अवश्य करूँगा और उनके इस सौभाग्य पर ईर्ष्या भी करूँगा।

मेरा यह सौभाग्य रहा है कि मैं भी एक शिक्षा-संस्था से सम्बद्ध हूँ, जो गुरुकुल की तरह ही आदर्श-निष्ठ है और जिसका इतिवृत्त गुरुकुल से भी अधिक लम्बा है। यह संस्था पूना की दक्खन शिक्षा-समिति है। बीस वर्ष तक इसकी यथाशक्ति सेवा करने के बाद आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि हमारी संस्था को अपनी हरिद्वार स्थित सहयोगी संस्था से बहुत कुछ सीखना है।

मेरी हार्दिक इच्छा है कि जो व्यक्ति शिक्षा के द्वारा भारत की सेवा करने के अभिलाषी हैं, वे उस नमूने का मनन करें जिसे श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी हमारे सन्मुख प्रतिष्ठित कर गये हैं; उसके प्रशस्त स्वरूप का अनुकरण करें। ●

जीवन का एक पृष्ठ

—श्री प्रेमचन्द बी. ए.

यों तो श्री स्वामी श्रद्धानन्द ने देश और समाज के हितों की रक्षा के लिये अपना जीवन ही अर्पित कर दिया था, पर उनमें सबसे बड़ा गुण जो था वह उनकी अपूर्व शालीनता थी। उन्होंने जाति सेवा के लिये जो मार्ग निश्चित किया था उसमें अन्य मत वालों से मतभेद होना अनिवार्य था, लेकिन सिद्धान्तों के भेद को उन्होने कभी अपने सौजन्य पर आधिपत्य न जमाने दिया। यही कारण है कि मुसलिम नेताओं में भी शायद ही कोई ऐसा हो जिसने मुक्त कंठ से आपकी कीर्ति का अनुमोदन न किया हो। हिन्दुओं की कलम से अब तक आपके गुणानुवाद और शोक में हजारों लेख निकल चुके हैं, लेकिन एक सच्चे सहृदय मुसलिम की कलम से इस विषय में जो लेख निकला है वैसा अब तक किसी हिन्दु ने नहीं लिखा। लेख क्या है एक भक्त की श्रद्धांजलि है, जिसके एक-एक शब्द में लेखक के विशुद्ध भाव झलक रहे हैं। यह लेखक दिल्ली निवासी श्री आसफअली, बार-ऐट-ला हैं। आपका लेख जनवरी-फरवरी १९२७ के 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में छपा है। उसको पढ़ने से ज्ञात होता है कि राष्ट्रवादी मुसलिमों को भी आपसे कितना प्रेम था और उस प्रेम का कारण यही था कि स्वामी जी की स्वाभाविक मृदुता, सौम्यता और शालीनता कभी उनका साथ नहीं छोड़ती थी, उनका हृदय निष्कपट था, उसमें क्षुद्रता के लिये स्थान ही न था। श्री आसफअ़ली स्वामी जी के सामाजिक और धार्मिक कृत्यों का उल्लेख करने के बाद लिखते हैं :—

"सन् १९१८ में जब दिल्ली में पहली बार कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो स्वामी जी स्वागत-कारिणी समिति के उपप्रधान चुने गये थे। मैं भी सहकारी मंत्री था और मुझे स्वामी जी के साथ काम करने का उस समय बहुत अवसर मिला। आपकी स्नेहमय अपूर्व सज्जनता, नम्रता और निष्कपट मैत्री ने शीघ्र ही मुझे वशीभूत कर लिया। उनकी गुरुजन सुलभ सौम्यता और स्नेह और मेरी ओर से भक्ति और सम्मान के भावों ने हमारे बीच में एक ऐसा प्रगाढ़ सम्बन्ध उत्पन्न कर दिया जो अनेक विषयों पर हममें तात्विक विरोध होने पर भी अन्त समय तक बना रहा।

सन् १९२२ में मियाँवाली जेल में मेरी स्वामी जी से फिर भेंट हुई, जिनकी सजा के अब थोड़े ही दिन और बाकी रह गये थे। ज्यों ही मुझे मालूम हुआ कि स्वामी जी वहाँ हैं, मैं उनकी कोठरी की ओर बेतहाशा दौड़ पड़ा। स्वामी जी ने दोनों बाँहें फैलाकर मेरा अभिवादन किया और बड़े स्नेह से मुझे गले लगाकर अपने पास बैठा लिया।

मियांवाली जेल में भी स्वामी जी गीता, रामायण या दर्शन पर उपदेश

दिया करते थे । कैदियों को जिस सत्संग का शुभ अवसर और कहीं न मिल सकता था वह इस जेल में हाथ आता । प्रेमियों की एक मंडली रोज जमा हो जाती थी। मौलाना आसफअली ने स्वामी जी से गीता-रहस्य माँग कर पढ़ा और जब कभी उन्हें कोई शंका होती स्वामी जी बड़े हर्ष से उसका समाधान कर देते थे । कभी राजनीति पर बात चल पड़ती, कभी दर्शन पर और कभी फारसी साहित्य पर । स्वामी जी फारसी साहित्य के बड़े अच्छे मर्मज्ञ थे । मौलाना रूम की मसनवी से आपको बहुत प्रेम था ।

मौलाना आसफअली का स्वास्थ्य उन दिनों कुछ अच्छा न था । शरीर में रक्त की कमी थी । चेहरा पीला पड़ गया था । स्वामी जी को उनकी दशा देखकर चिन्ता हुई । वाह ! कितना सच्चा वात्सल्य भाव था । खुद जेल में थे, सभी प्रकार के कष्ट सह रहे थे, पर मौलाना आसफअली की यह दशा देखकर आपने उनके लिये एक दूसरी कोठरी चुन दी, जिसमें धूप और प्रकाश स्वच्छन्द रूप से मिल सकता था । उनके आहार के सम्बन्ध में भी जेलर से सिफारिश कर दी, जो स्वामी जी का बहुत लिहाज करता था । यह सद्व्यवहार था, यह सज्जनता थी, जो परिचितों को भी उनका भक्त बना देती थी ।

●

लेख-माला

स्वामी श्रद्धानन्द का कला-प्रेम

—पं० धारेश्वर

स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण एवं उपेक्षित पहलू है उनका ललित कलाओं के प्रति नैसर्गिक प्रेम। इस कलाप्रियता का आभास मुझे तब दृष्टिगोचर हुआ जब गुरुकुल की आदि स्थापना-स्थली (वर्तमान में जो परित्यक्ता भूमि कहलाती है) का मुझे बाल्य-कालोपरांत पुनर्निरीक्षण करने का सुयोग मिला। तब मुझे दिखाई दिया कि यह भूमि-खण्ड कितना रमणीक और मनमोहक है। यह सुयोग मुझे अनेक बार मिला। सत्य तो यह है कि मैंने यहाँ पूरे वर्ष भर एकान्त वास किया। मुझे यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य ने अभिभूत कर दिया। प्रकृति अपना सौन्दर्य अपने तीन अंगों द्वारा व्यक्त करती है। पर्वत शिखर, जलाशय और हरे-भरे जंगल। ये तीनों ही अंग यहाँ अपनी सुषमा को बड़ी उदारता से बखेर रहे थे। जंगल-सम्राट् सिंह अथवा शैल तुल्य कायाधारी गज तथा उनके दरवारी भालू, वन्य शूकर, नाना जाति के मृग, शृगाल और जंगली पक्षियों का भी यहाँ जमघट था। शरद्-ऋतु में कांस के फूल, कोहरे से ढकी नदी की धार, हेमन्त में लाल-पीली आभा लिये वृक्षों पर लदे बेरों के ढेर, बरसात में काले-काले जामुन, वसन्तागमन पर पलाशद्रुमों पर टेसुओं की रंगीन वहार खिल उठती थी। पर्वत शिखर पर उदित सूर्य प्रातःकाल अपनी सौवर्ण किरणों की बौछार कर देता था और फिर हँस उठता था। वर्षाकाल में सुदूर समुद्र-तल से उठकर मेघ आते थे, वर्षा का प्रसाद वितरण करके पर्वत-शिखरों पर ही आसन जमा कर बैठ जाते थे, गगन-पट पर नाना आकृतियों का वेष बनाकर आते-जाते थे, प्रकट हो जाते थे और लुप्त हो जाते थे। गुरुकुल भूमि से विदा हो जाने के बाद मन इन बाल्यकालीन दृश्यों को पुनः देखने के लिये तरस उठा। यह संयोग था कि मुझे नवीन गुरुकुल स्थली में पुनर्वास करना पड़ा और अवकाश मिलते ही प्राचीन गुरुकुल-भूमि के प्राकृतिक सौन्दर्य का उपभोग कर सका। इस परिस्थिति में मेरे मन ने पहचाना व अनुभव किया कि गुरुकुल के संस्थापक महात्मा मुंशीराम ने गुरुकुल की स्थापना के लिये इस रम्य भूमि-खण्ड का चयन करके यह बता दिया कि वे प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति रुचि रखते थे। कला में उनकी अभिरुचि उनके दैनिक व्यवहारों में, वेशभूषा में, अपने आवास स्थान को सज्जित करने में स्पष्ट रूप से भासित होती थी।

ब्रह्मचारियों में भी कलाओं के प्रति प्रेम उदित हो इसके लिये दो शिक्षकों को नियुक्त किया गया था। एक अध्यापक चित्रण-कला के विशेषज्ञ थे। उन्होंने ब्रह्मचारियों को चित्रण कला में दक्ष बनाने के लिये बहुत लगन से काम किया था। ब्रह्मचारियों द्वारा बनाये गये चित्र अध्यापन-कक्षों की भित्तियों पर टांग दिये जाते

थे। वार्षिकोत्सव पर आये दर्शकगण उन चित्रों को देखकर बहुत प्रभावित होते थे। चित्रकला में ब्रह्मचारी कितने निपुण हो गये थे, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि सन् १९१२ में एक अखिल भारतीय कला प्रदर्शनी का आयोजन इलाहाबाद में हुआ था। इस कला-प्रदर्शनी में गुरुकुल कांगड़ी विद्यालय के ब्रह्मचारियों द्वारा बनाये गये आठ चित्रों को भी सम्मिलित किया गया था। एक चित्र महाराणा प्रतापसिंह का था। यह चित्र ब्रह्मचारी श्वेतकेतु का बनाया हुआ था और इसे प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था। द्वितीय चित्र पीला दुपट्टा ओढ़े हुए आचार्य एवं महात्मा मुंशीराम जी का था। यह भी ख्याति प्राप्त चित्र था। इस पर भी एक पुरस्कार मिला था।

दूसरे अध्यापक हिन्दी भाषा के सुलेख के अध्यापक थे। देवनागरी के अक्षरों को पूर्ण सुघड़ रूप प्रदान करने में, उनको नये-नये कलापूर्ण रूप प्रदान करने में सिद्धहस्तता प्राप्त कर रखी थी। उन्होंने एक वैज्ञानिक लेखन-शैली का आविष्कार किया था। ब्रह्मचारियों में यह शैली बहुत लोकप्रिय थी। इस शैली से बनाये गये रंगीन कागज के वेदमन्त्रों के अक्षरों को रंगीन वस्त्र-पट्ट पर जड़ देने की एक नयी परम्परा चल पड़ी। छोटी श्रेणियों के छात्र भी वेदमन्त्रों के रंगीन कागज के अक्षरों को वस्त्रपट्ट पर चिपका कर अपने-अपने आवास-कक्षों की दीवारों को सुशोभित करने लगे। देश की कई आर्यसमाजें छात्रों द्वारा निर्मित वेदमन्त्र-खचित वस्त्रपट्टों को गुरुकुल कांगड़ी से खरीद कर ले जाया करती थीं।

ब्रह्मचारियों की रुचि गायन-कला में भी बढ़े, इसके लिये शास्त्रीय गायन-वादन के आचार्य श्री विष्णु दिगम्बर जी को आमन्त्रित किया गया। वे गुरुकुल में दल-बल सहित पधारे और अपनी शास्त्रीय गायन-कला का भी प्रदर्शन किया। इस प्रदर्शन के बाद सितार-वादन में छात्रों की रुचि बढ़ी। कई छात्रों ने सितार-वादन में दक्षता प्राप्त की। कुछ उत्साही छात्रों ने गुरुकुल के मिस्त्रीखाने में जाकर हारमोनियम-यन्त्र का निर्माण अपने हाथों से किया। स्वामी जी ब्रह्मचारियों को ऐसे कार्यों के लिये बहुत उत्साहित करते थे। उनकी प्रेरणा से छात्रों का एक बैंड-दल भी तैयार हो गया था। इनके लिये स्कौट लैंडीय मिलिटरी परम्परा के पाइप आरगन, छोटे ड्रम और एक बड़ा ड्रम भी मंगवाया गया था। इस बैंड-दल का उपयोग प्रति वर्ष दीक्षान्त समारोह पर किया जाता था। प्रति वर्ष ही ब्रह्मचारियों का नवीन बैंड-दल तैयार होता रहता था। यह परम्परा वर्षों तक चलती रही और सम्भवतः आज तक भी यह धरोहर के रूप में विद्यमान है।

स्वस्थ अभिनय-कला के प्रति भी अभिरुचि पैदा की गई थी। नाटक खेलने का आयोजन प्रतिवर्ष किया जाता था। अधिकारी-गण एवं अध्यापक दल भी ब्रह्मचारियों का साथ दिया करते थे। नाना प्रकार की वेषभूषा के लिये इन गुरुओं के परिवार ही वस्त्र-भण्डार का काम करते थे। पण्य-क्रय निमित्त धनराशि के लिये भी ये परिवार ही धन-स्रोत थे। इसप्रकार नाटक खेलने के आयोजन में सम्पूर्ण

कुलवासियों का योगदान रहता था। इनसे लोगों का मनोरंजन भी होता था और शिक्षा भी मिलती थी।

सरस्वती के उपासक ब्रह्मचारियों को विद्या-दान दिया जाता था और उनसे आर्यजगत् यह अपेक्षा करता था कि वे संसार में आर्य-संस्कृति का प्रचार करें। इसलिये वे भाषण-कला में तथा लेखन-कला में भी निपुण हों, यह आवश्यक समझा जाता था। इसके लिये हस्तलिखित मासिक पत्रिकाएँ भी प्रकाशित की जाती थीं। पत्रिकाओं में चित्रकला का भी प्रदर्शन किया जाता था और कविताएं भी प्रकाशित होती थीं। सामाजिक विषयों पर अथवा धार्मिक मन्तव्यों पर वादविवाद या भाषण प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाता था। संस्कृत एवं हिन्दी की अखिल भारतीय भाषण प्रतियोगिताओं में गुरुकुल के ब्रह्मचारी सदा ही विजयी होते थे। इसी सबका परिणाम है कि जब से हिन्दी पत्रकारिता में गुरुकुल के स्नातकों का प्रवेश हुआ तब से हिन्दी भाषा का रूप परिमार्जित हो गया है। यह सब स्वामी श्रद्धानन्द जी के हृदयस्थ कला-प्रेम, उनकी प्रेरणा एवं उत्साहवर्धन का ही परिणाम था। ●

एण्ड्रूज एवं मुंशीराम : पत्रों के झरोखे से

--डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार

फरवरी १९११ की बात है। महात्मा मुंशीराम जी दिल्ली के एक महाविद्यालय में 'ब्रह्मचर्य का महत्त्व' विषय पर व्याख्यान देने गये थे। उस महाविद्यालय में श्री सी० एफ० एण्ड्रूज भी पढ़ाते थे। व्याख्यान के बाद वे महात्मा जी से मिलने आये और प्रथम भेंट में ही उन पर मुग्ध हो गये। इसके बाद श्री एण्ड्रूज इंगलैण्ड चले गये। जब वे कुछ समय बाद पुनः भारत आये तो उन्होने महात्मा-मुंशीराम जी को २१ जनवरी १९१३ को एक पत्र लिखकर उनके पास आने की इच्छा व्यक्त की :

"मेरे प्यारे महात्मा जी, जब से हम दिल्ली में मिले हैं तब से मैं आपसे पुनः मिलने के लिये अत्यन्त लालायित हूँ। हालांकि मैं इस समय अस्वस्थ हूँ, पर मुझे विश्वास है कि आपके साथ मैं पूर्ण स्वस्थ एवं प्रसन्न रहूंगा।"

इस पत्र को पाते ही महात्मा मुंशीराम जी ने श्री एण्ड्रूज को गुरुकुल आने का औपचारिक निमन्त्रण भेज दिया। तदुपरान्त श्री एण्ड्रूज और सेंट स्टीफेन्सन कॉलेज दिल्ली के प्रिंसिपल श्री सुशीलकुमार रुद्र का सुपुत्र सुधीर रुद्र गुरुकुल पधारे और कुछ दिन वहाँ निवास किया।

इस निवास-काल में श्री एण्ड्रूज महात्मा मुंशीराम जी और गुरुकुल से इतने अधिक प्रभावित हुये कि महात्मा जी को अपने संपर्क में आये भारतीयों में सर्वोत्कृष्ट और उनके दृष्टिकोण को असाधारण रूप से कहीं अधिक व्यापक मानने लगे थे। इस विषय में उन्होंने श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर को लिखे एक पत्र में अपने उद्‌गार इसप्रकार प्रकट किये थे : "मैं कुछ सप्ताह से हरिद्वार गुरुकुल में रह रहा हूँ। महात्मा मुंशीरामजी अब तक मेरे संम्पर्क में आये भारतीयों में सर्वोत्कृष्ट हैं और उनका दृष्टिकोण आर्यसमाज के सामान्य आदर्श की अपेक्षा असाधारण रूप से कहीं अधिक व्यापक है। यही कारण है कि उनके साथ रहने की मेरी उत्कण्ठा--जिसका कि मैं ऊपर उल्लेख कर चुका हूँ—अधिक प्रबल हो गयी है। दूसरी एक सामान्य-सी बात यह हुई है कि मैं अब विशुद्ध शाकाहारी हो गया हूँ और इससे मुझे बहुत अधिक लाभ भी हुआ है। शाकाहारी न होने के कारण स्वास्थ्य खराब रहने की जो समस्या उग्र रूप में आ खड़ी होती थी, वह संभवतः अब समाप्त हो गयी है। मैंने यह सब महात्मा जी, आप और श्री विल्ली पीयर्सन के अलावा अन्य किसी को नहीं बताया है, हालांकि श्री रुद्र इस बारे में थोड़ा-बहुत जानते हैं।"

गुरुकुल-निवास-काल में महात्मा मुंशीराम जी के प्रेमपूर्ण व्यवहार और गुरुकुल के वातावरण ने श्री एण्ड्रूज के मानस-पटल पर ऐसा घर कर लिया कि

गुरुकुल से लौटने के बाद भी वे उसे याद करते रहे और उन्होंने महात्मा जी के प्रति अपना आभार प्रकट करने के लिये २० अप्रैल १९१३ को एक पत्र लिखा, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इसप्रकार हैं :

"मैं आज सारे दिन आपको याद करता रहा और अब शाम के समय आपको विशेष रूप से स्मरण कर रहा हूँ। प्रिय महात्मा जी, मैं बता नहीं सकता कि मैं आपको कितना अधिक प्यार करता हूँ, परन्तु आप इसे बिना कहे ही समझ सकते हैं। मैं कह नहीं सकता कि यह महान् प्रेम कहाँ से उत्पन्न हुआ है; वस्तुत: यह परमात्मा की देन है और इसके लिये मैं उसका धन्यवाद करता हूँ, क्योंकि यह उसके हाथों से अब तक प्राप्त उपहारों में सर्वश्रेष्ठ है।"

प्रिंसिपल रुद्र के पुत्र सुधीर पर भी गुरुकुल के रहन-सहन आदि का अमिट प्रभाव पड़ा था। जब वह गुरुकुल से वापस लौटा तो एक दिन सायंकालीन भ्रमण के दौरान उसने अपने मनोभावों को श्री एण्ड्रूज के सम्मुख प्रकट किया, जिनसे श्री एण्ड्रूज ने महात्मा जी को भी अवगत कराना आवश्यक समझा। अत: २१ अप्रैल १९१३ को उन्होंने महात्मा जी को एक पत्र लिख कर सुधीर की गुरुकुल विषयक प्रतिक्रिया को जिन शब्दों में व्यक्त किया उनका आशय कुछ इसप्रकार है :

"सुधीर ने मुझे बताया है कि गुरुकुल-निवास के दौरान वहाँ के वातावरण ने उसके मन पर जो अमिट छाप छोड़ी है, वैसी उसके संपूर्ण जीवन में किसी अन्य चीज से नहीं पड़ी। उसके हृदय में मातृभूमि के लिये प्रेम की जो चिनगारियाँ अस्फुट रूप से निकल रही थीं, गुरुकुल जाकर वे ज्वाला रूप में प्रकट हो गईं। गुरुकुल के आदर्शों तथा आपके प्रति श्रद्धा का जो ज्वार उसके हृदय में उमड़ पड़ा है, वह वर्णनातीत है। अभी तक उसके मन की यह अवस्था है, यद्यपि परीक्षाएँ निकट हैं तथापि उसका हृदय उन्हीं दिव्य अनुभूतियों में ऐसा ओतप्रोत है कि वह उनके अतिरिक्त अन्य किसी बात में अभिरुचि नहीं दिखलाता। सुधीर को आपके शिष्यों से जो स्नेह और पवित्र संवेदन मिला, यह उसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर पाता।"

महात्मा मुंशीराम जी ने इस पत्र का २५ अप्रैल १९१३ को निम्न उत्तर दिया :

प्रिय मित्र एण्ड्रूज,

आपका २१ अप्रैल का पत्र पाकर मुझे वह प्रसन्नता हुई जो पिछले २८ वर्ष के कार्यकाल में कदाचित् ही हुई होगी। शायद आपको नहीं मालूम कि मैं होश संभालने के बाद ९ वर्ष तक नास्तिक था। तब ईश्वरीय कृपा से एक दिन अकस्मात् महर्षि दयानन्द के दिव्य दर्शन ने मेरी अंधकारपूर्ण अंतरात्मा को नया प्रकाश दिया। मैंने अपने संशय ऋषि दयानन्द के सामने प्रकट किये। ऋषि ने मुझे तर्क से चुप कर दिया, किन्तु मेरे हृदय का संशय न मिट सका। जब मैंने कहा—"मेरा मन अब भी संशयालु है" तो ऋषि ने उत्तर दिया—"तुमने प्रश्न पूछे थे, मैंने प्रश्न का उत्तर दे

दिया । मैंने यह नहीं कहा था कि तुम्हारे हृदय में विश्वास पैदा कर दूंगा । विश्वास की ज्योति जगाना तो प्रभु का ही कार्य है । उसकी कृपा होगी तो वह तुम्हारे हृदय में श्रद्धा की ज्योति जगायेगा ।"

और सचमुच अब वह समय आ गया कि मेरे मन में प्रभु के प्रति जो असीम श्रद्धा है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकती । संघर्ष मेरे जीवन का अंग बन चुका है । आर्यसमाज के कार्य-क्षेत्र में मेरा जीवन पूर्णतया संघर्षमय हो गया है । दिव्य जगन्माता को ही मालूम है कि पिछले २८ वर्षों में मुझे कितने कठोर प्रहारों से जूझना पड़ा । आपके पवित्र हृदय से निकले शब्दों ने भी मेरे २८ साल के संतप्त हृदय पर मरहम का काम किया है । मेरी आत्मा को आपके निश्छल स्नेह से असीम सात्विक आनन्द प्राप्त हुआ है । यह भी जगन्माता का आशीर्वाद है । आज मैं फिर यह मानता हूँ कि मेरी २८ वर्ष की तपस्या सार्थक हुई है ।

महात्मा जी के इस पत्र के उत्तर में श्री एण्ड्रूज ने अपने स्नेहोद्गार निम्न-प्रकार अभिव्यक्त किये :

मेरे प्रियतम मित्र,

आशा है आप मुझे इस संबोधन का अधिकार देंगे । इन शब्दों से आपको संबोधित करते हुये मेरा हृदय अपार आनन्द प्राप्त करता है । सुधीर को आपकी निकटता से जो नवीन दृष्टि मिली है, उसे पाकर वह बहुत प्रसन्न है और स्वयं को सौभाग्यशाली मानता है। कितनी ही बार उसने मेरे सामने उस अनुभव को दोहराया है। उसने यह भी कहा—"गुरुकुल यात्रा की वह स्मृति मेरे लिये इतनी आह्लादकारी बन गई है कि यदि मैं परीक्षा में हजार बार भी फेल हो जाऊँ तो भी उस स्मृति का सुखद प्रकाश धुंधला नहीं होगा" ।

मेरा विश्वास है कि आपके हृदय में प्रभु की ज्योति का जागरण उन नन्हें बालकों के प्रेम से ही हुआ है जिन्हें आप पिता बनकर पाल रहे हैं । मैंने देखा है कि अपने आश्रम के नन्हें बच्चों के साथ आपका कितना प्रगाढ़ प्रेम है । मुझे भी अपने हृदय में कई बार बड़े रूखेपन का आभास होता है । किन्तु आपके निकट आते ही मुझे हृदय में नयी ताजगी और नये प्राण संचार की अनुभूति होती है । जीवन में आनन्द का परम क्षण वही है, जब साक्षात् प्रेममूर्ति प्रभु का संकेत पाकर आप मुझे मुग्ध हृदय से अपनी स्नेह भुजाओं में आबद्ध करते हैं और पूरे विश्वास के साथ मुझे अपने आनन्द का भागी बनाते हैं । उस समय मुझे भी आपकी समीपता से प्रभु-दर्शन का आनन्द मिलता है । जब से आपके पास रहकर वापस आया हूँ तब से कई बार कई प्रकार की परेशानियों ने दुःखित किया है । किन्तु वह दुःख मन में ही दब जाता है । मेरा अंतर्मन आज भी आपकी पवित्र स्नेहस्मृति के प्रकाश में खिल उठता है । इस दिव्य अनुभूति के लिये धन्यवाद का कोई भी शब्द पर्याप्त नहीं है । यही कह सकता हूँ कि मैं भी, जैसे भी संभव हो, गुरुकुल की योग्य सेवा करने में अपने को धन्य मानूंगा । इस पत्र के जिन शब्दों में मैंने जो भाव व्यक्त किये हैं, वे केवल हृदय

के क्षणिक उद्‌गार नहीं है, बल्कि गहरे और स्थायी विचार हैं। समय उसका साक्षी होगा।…

"उन दिनों की सुखद स्मृति आज भी मेरे हृदय को नयी ताजगी से भर देती है"

महात्मा मुंशीराम और श्री एण्ड्रूज का यह पत्राचार यहीं समाप्त नहीं हो गया, वरन् इसके बाद भी निरन्तर चलता रहा। स्नेह घनिष्ठता में बदलता गया। इसीका परिणाम था कि एण्ड्रूज दुनियां के चाहे किसी भी कोने में रहे, महात्मा जी को वे बराबर याद करते रहे। उनके पत्र पूर्ण अपनत्व से भरे हुए होते थे। महात्मा जी पत्र की शुरूआत 'माई डियर चार्ली' से और समाप्ति 'युअर डियर राम' से करते थे, जब कि श्री एण्ड्रूज 'माई डियर राम' से शुरु करके 'युअर डियर चार्ली' से समाप्त करते थे।

महात्मा मुंशीराम के पत्र को पाकर श्री एण्ड्रूज कितने अधिक आनन्दविभोर हों जाते थे, यह उनके निम्न पत्रांश से ज्ञात होता है :

"ओह! आपका वह पत्र मेरे लिए कितना अधिक बहुमूल्य था। इसका शब्द-शब्द आपके प्रेम से अनुप्राणित था; आपके प्रेमपूर्ण भाव इससे स्पष्ट झलक रहे थे और मेरे भावों के साथ मिल गये थे। मैंने बार-बार प्रार्थना की कि मैं स्वयं को आपके महान् प्रेम के योग्य बना सकूं।"

श्री एण्ड्रूज कुछ सप्ताह के लिए शान्तिनिकेतन गये थे। वहाँ भी वे अपने 'राम' के प्रेम को नहीं भूले।

"मैं आपको अपना बड़ा भाई मानता हूँ और अनुभव करता हूँ कि आप भी मुझे उसी तरह प्यार करते है जिस तरह एक बड़ा भाई छोटे को प्यार करता है। आपका यह प्यार वस्तुत: मां के प्रेम की तरह अनमोल है।………उस रात जब मुझे बुखार था, आपकी सेवा-सुश्रूषा से मुझे ऐसा महसूस हो रहा था कि मानों मेरे कष्ट-निवारण और सान्त्वना देने के लिए मेरी अपनी मां मेरे बिस्तर के पास खड़ी हुई हो"।[1]

सन् १६१३--१४ में दक्षिणी अफ्रीका में महात्मा गांधी के नेतृत्व में वहाँ रहने वाले भारतीयों को अधिकार दिलवाने के लिए एक सत्याग्रह-आन्दोलन छेड़ा गया था। यह सत्याग्रह गोरे दक्षिणी अफ्रीका-निवासियों द्वारा बरती जाने वाली नृशंस भेदभाव की नीति के विरोध में चलाया गया था। भारत में जब इस आन्दोलन का समाचार पहुंचा तो श्री गोपालकृष्ण गोखले ने धन-संग्रह के लिए एक अपील निकाली। इस अपील ने जहां भारतीय जनता के दिलों को झकझोर दिया, वहीं भारत में रहने वाले अनेक विदेशी भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। उनमें एक दीनबंधु एण्ड्रूज भी थे, जो इस अपील को पढ़कर घोर व्यथा अनुभव

---

*२३ जुलाई १६१३ के पत्र का अंश,

करने लगे थे। उन्होंने २८ अक्टूबर १९१३ को अपने मित्र मुंशीराम जी को एक पत्र लिखकर अपनी मनोव्यथा का चित्रण किया था :

"मैं आपको बता नहीं सकता कि कैसे दिन-रात वह अपराध-बोध मेरी अन्तरात्मा को प्रताड़ित कर रहा। है पिछली रात मैं उसके भयावह परिणामों पर सोच-सोच कर जागता रहा। मैं ट्रांसवाल-कारावास की भयावहता का बहादुरी से सामना कर रही उन हिन्दु वीरांगनाओं के बारे में सोचता रहा……पहले-पहल मेरी समस्त नव-अर्जित शान्ति आक्रोश के तूफान में लुप्त होती प्रतीत हुई……… और तदुपरान्त इस सबके आश्चर्यजनक परिणाम मेरे सामने आये; अंशत: ये श्री गोखले के उच्च प्रेरणादायी विचारों के माध्यम से मुझ तक पहुँचे, जिन्होंने उन भुक्तभोगियों के शौर्य की ऐसी सुसंतुलित तस्वीर सामने रखी कि मैंने सच्चे भारत की, आर्य भारत की, उपनिषदों और गीता के भारत की उस चेतना के सामने आभार के साथ अपना सिर झुका लिया………वह चेतना जो आज भी जीवित है और कमजोर, तिरस्कृत गिरमिटिया कुलियों तक में सांस ले रही है।

केवल धार्मिक और परम्परागत इसाइयत की परतें एक-एक करके गिरती जा रही हैं और मैं ईसा के पहले से कहीं अधिक निकट होता जा रहा हूँ और यह भावना मेरे अन्दर आदर्श हिन्दु भारत के दिनों दिन निकट होने के फलस्वरूप आई है. जिसे मैं जब कभी भी इसके वास्तविक रूप में प्रदर्शिति हुआ देखता हूँ…… और यही वह चेतना है जिसने रवीन्द्रनाथ और उनके सरल और उदार आदर्श जीवन को मेरे लिए इतना मूल्यवान् बना दिया………और जिसने मुझे भारत के लोगों को एक नई दृष्टि से देखने का अवसर दिया……मैं हृदय से इच्छा करता हूँ अपने वर्तमान देशवासियों के समस्त रूढ़ियों से मुक्त होने की, ताकि मैं एक ऐसे संपूर्ण स्वतन्त्रता के मार्ग का अनुमरण कर सकूं जहाँ केवल सत्य ही अग्रणी रहे।"

जनवरी १९१४ में श्री एण्ड्रूज ने अफ्रीका के लिए प्रस्थान किया। वे २ जनवरी १९१४ को डरबन पहुँचे। बन्दरगाह पर उनके स्वागत के लिए श्री हेनरी पोलक, महात्मा गांधी आदि अनेक गण्यमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। श्री एण्ड्रूज ने गांधी जी को पहले कभी नहीं देखा था. अत: उन्होंने श्री पोलक से पूछा कि क्या गांधी जी भी आये हैं। इस पर श्री पोलक ने उनका गांधी जी से परिचय कराया। महात्मा गांधी के इस दर्शन का वृत्तांत एण्ड्रूज ने श्री मुंशीराम जी को इसप्रकार लिखा :

"उन्होंने (पोलक ने) तपस्वियों को तरह की एक ऐसी आकृति की ओर इशारा करके बतलाया कि 'गांधी जी ये हैं, जिसका सिर मुंडा हुआ था, जो ऐसे मोटे कपड़े का सफेद धोती-कुर्ता पहने थी जैसा कि कोई गिरमिटिया श्रमिक पहनता है और जो ऐसी दिखलाई पड़ रही थी मानो शोक में हो। मैं तत्काल सहज भाव से

झुक गया और उनके (गाँधी जी के) चरण स्पर्श कर लिये । इस पर उन्होंने मन्द स्वर में कहा कि "कृपया ऐसा न करें, यह मेरे लिए अपमानजनक है।"*

इस प्रथम भेंट के साथ ही श्री एन्ड्रूज और गाँधी जी में एक-दूसरे के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो गया और मैत्री स्थापित हो गई। यही नहीं, महात्मा गाँधी जी ने तो उन्हें अपना परामर्शदाता भी मान लिया और अफ्रीकी सत्याग्रह के बारे में भावी रणनीति का निर्धारण उन्हीं की सलाह से करने लगे। यद्यपि श्री एण्ड्रूज अफ्रीका में गांधी जी के निकट संपर्क में आते जा रहे थे और उनके मन में अपने इस नये मित्र के प्रति श्रद्धा और प्रेम भी उत्पन्न होता जा रहा था, पर अभी उस सीमा तक नहीं पहुँच पाया था जितना कि गुरुदेव रवीन्द्रनाथ, सुशील रुद्र और महात्मा मुंशीराम के प्रति था। यही कारण था कि वे सशरीर अफ्रीका में रहते हुए भी चिन्तन एवं कल्पनालोक में हर पल अपने से हजारों मील बैठे अपने मित्रों टैगोर तथा 'राम' के साथ ही विचरण किया करते थे। उन्हीं के शब्दों में "मुझे इतनी अधिक घर की याद इससे पूर्व कभी भी नहीं आई······मैं प्रतिदिन प्रातःकाल ३.३० बजे से ६ बजे तक का समय आपके साथ व्यतीत करता हूँ।" यह है उस पत्र का एक अंश जिसे उन्होंने १५ जनवरी १९१५ को महात्मा मुंशीराम जी को लिखा था। इस पत्र में आगे श्री एण्ड्रूज ने गांधी जी द्वारा अफ्रीका में चलाये जा रहे सत्याग्रह के उद्देश्य तथा गांधी जी के प्रति अपने मनोभावों को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया था :

"श्री गांधी वस्तुतः (अपने लिए) कोई विशेष सुविधा प्राप्त करने के लिये नहीं लड़ रहे थे, वे इस अधिकार के लिये संघर्ष कर रहे हैं कि मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखा जाना चाहिये, न कि गुलामों के रूप में। मैं बता नहीं सकता कि मैं उनके प्रति कितनी श्रद्धा रखता हूँ। अभी तक मैं यह नहीं कह सकता कि मैं उनसे उतना ही प्रेम करता हूँ जितना कि आप से, गुरुदेव से और सुशील (रुद्र) से करता हूँ, हालांकि यह उत्पन्न हो सकता है। परन्तु मैं उनका अब तक ज्ञात व्यक्तियों में सर्वाधिक वीर पुरुष के रूप में समादर करता हूँ।" श्री एण्ड्रूज डरबन में ही थे और गांधी जी एवं अफ्रीकी सरकार के मध्य समझौता करवाने का प्रयास कर रहे थे। उनकी माँ इंगलैण्ड में बीमार थीं और उन्होंने उनसे वायदा किया था कि वे हर हालत में अप्रैल से पूर्व ही उनके पास पहुंच जाएंगे। अतः वे चाहते थे कि जल्दी से जल्दी समझौता हो जाये ताकि वे अपने वायदे के अनुसार माँ के पास पहुंच सकें। समझौता हो गया और वे प्रिटोरिया से समझौते का सुखद समाचार लेकर डरबन पहुंचे। वे स्टेशन पर भारतीय जनसमुदाय से घिरे खड़े थे कि उन्हें किसी व्यक्ति ने उनके भाई का एक पत्र दिया, जिसमें यह सूचित किया गया था कि मृत्युशय्या पर पड़ी उनकी माँ जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रही हैं। इस आकस्मिक सूचना से श्री एड्रूज हतप्रभ-से हो गये और उन्हें सारा स्टेशन घूमता-सा नजर

---

*४ जनवरी १९१४ को डरबन से लिखे पत्र का एक अंश

आने लगा । पर वे अपनी पूज्या माँ के दर्शन नहीं कर पाये, क्योंकि इंगलैण्ड के लिये प्रस्थान करने से पूर्व ही उन्हें उनके स्वर्गवास का समाचार मिल चुका था, जिससे उन्होंने २३ जनवरी १९१४ को 'केवल' द्वारा भारत में अपने अभिन्न मित्र महात्मा मुंशीराम जी को भी-अवगत करा दिया था ।

श्री एण्ड्रूज को भारत से इतना अधिक प्रेम हो गया था कि वे भारत-भूमि को अपनी मातृ-भूमि मानते थे और उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन भारत और भारत-वासियों के लिये समर्पित करने का निश्चय कर लिया था :

"......आपके माध्यम से मुझ में इस अपनी प्यारी मातृ-भूमि के प्रति अत्यधिक गहन प्यार उत्पन्न हो सके; क्योंकि अब वास्तव में यह मेरी है और जीवन-मृत्यु पर्यन्त इसके प्रति समर्पित हूँ । मैं कभी-कभी सोचता हूँ, परम दयालु परमात्मा ने मेरे अन्दर कभी भी विवाह करने की इच्छा उत्पन्न नहीं की और मैं अपना संपूर्ण प्यार इस प्यारी मातृ-भूमि को दे सकता हूँ ।"*

यही नहीं, वे अपनी पूज्या माँ की मृत्यु के बाद उनकी आत्मा का वास भी भारत में ही मानने लगे थे । मां को श्रद्धांञ्जलि अर्पित करने के लिये प्रिटोरिया से इंगलैण्ड जाने से पूर्व २८ जनवरी १९१४ को महात्मा मुंशीराम जी को लिखे पत्र में श्री एण्ड्रूज ने एतद्विषयक अपने मनोभाव इस प्रकार अभिव्यक्त किये थे :

"मैं पूज्या माँ के चरणों में अपना दुःख प्रकट कर सका तथा उस ईश्वर-प्रदत्त शांति को जान सका जिससे ज्ञान की प्राप्ति होती है । प्रियतम, उस समय आप अपने अकथनीय बहुमूल्य प्यार के साथ मेरे पास आये और मुझे सान्त्वना दी । तभी से शांति बनी हुई है...मुझे आनन्द की प्राप्ति हुई है ।......मुझे इलहाम हुआ है कि भारत पहिले से भी अधिक गहरे अर्थों में मेरी मातृ-भूमि है और भारतमाता के प्रति अपने प्रेम के द्वारा ही मैं अपनी स्वर्गीय माता की आत्मा को सन्तुष्ट कर सकूँगा । मैं पिता जी से मिलने के लिये इंगलैण्ड जा रहा हूँ और वहाँ अपनी माता की कब्र पर फूल चढ़ाऊंगा, परन्तु उसकी आत्मा तो वहाँ न होगी । वह तो भारत में है, जो भारत लौटने पर बड़े प्रेम के साथ मेरा स्वागत करेगी ।"

श्री एण्ड्रूज इंगलैण्ड जाकर बर्मिघम में अपने पिता से मिले, जो पत्नी-वियोग के दुःख मे अभिभूत होने के कारण अत्यधिक वृद्ध लगने लगे थे । तत्पश्चात् इस विश्वास के साथ उन्होंने भारत वापस लौटने का निश्चय कर लिया कि वे मातृभूमि (भारत) में अपनी स्वर्गीया माँ का अनवरत सान्निध्य प्राप्त कर सकेगें । १ अप्रैल १९१४ के मध्य में उन्होंने भारत-भूमि में पदार्पण कर लिया । भारत आने पर वे अत्यधिक अस्वस्थ हो गये, जिस कारण चिकित्सा हेतु उन्हें मई के प्रथम सप्ताह में शिमला जाना पड़ा । वहाँ पहुंचने पर उन्होंने पाया कि वायसराय हार्डिग और निजी सचिव सर जेम्स बॉले के अलावा शेष ईसाई-समाज में उन्हें उपेक्षा की नजर से देखा जा

---

*७ अगस्त १९१३ को महात्मा मुंशीराम जी को संबोधित पत्र का एक अंश

रहा है। इतना ही नहीं बल्कि उन्हें जाति-बहिष्कृत भी कर दिया गया। इस सबका कारण उनका ईसाई-पादरी बने न रहना था। श्री एण्ड्रूज को कुछ खिन्नता तो हुई पर किसी प्रकार का पछतावा नहीं हुआ। आपने १८ मई १९१४ को महात्मा मुंशीराम जी को एक पत्र के माध्यम से इस स्थिति से अवगत कराते हुए लिखा था "उन्होंने मुझे जाति से बहिष्कृत कर दिया है और अस्पृश्य व्यक्ति बना दिया है, परन्तु मैं इस 'सम्मान' के लिये उनका अत्यधिक आभारी हूँ।"

इसके बाद जब श्री एण्ड्रूज पंजाब विश्वविद्यालय की फैलोशिप से त्याग-पत्र देने तथा विश्वविद्यालय के परीक्षकत्व का अंतिम कार्य सम्पन्न करने लाहौर गये तो वहाँ भी ईसाई-धर्मावलम्बियों ने उनके साथ यही व्यवहार किया। उन्हीं के शब्दों में, "मैंने लाहौर के कैथीड्रल में एक धर्मोपदेश दिया, परन्तु इससे स्थिति और बिगड़ ही गई। उन्होंने कहा कि 'यह कोई घोषणा नहीं है, हम इससे भी अधिक कुछ चाहते हैं।' मुझे निश्चय है कि इस बारे में कुछ भी नहीं किया जाना चाहिये, बल्कि मौन रहना चाहिये।······यदि मेरे कार्य ईसाइयों जैसे नहीं हैं तो केवल शब्दों से स्वयं को ईसाई कह कर मैं कभी भी ईसाई नहीं बन सकता।"

सितम्बर १९१४ में श्री एण्ड्रूज पुनः गंभीर रूप से अस्वस्थ हो गये और उन्हें शिमला के वाकर हॉस्पिटल में प्रवेश लेने का परामर्श दिया गया। अक्तूबर के प्रथम सप्ताह में वे शिमला पहुँच गये। इस बार भी उनके पुराने मित्र लार्ड हार्डिग तथा बिशप लिफ्रॉय आदि तो उनसे मिलने आये, पर अन्य लोगों ने—यहाँ तक कि कुछ घनिष्ट मित्रों ने भी—उनके प्रति पूर्ण विमुखता प्रदर्शित की। इसके साथ ही उन्हें इंगलैण्ड से अपने पिता का भी दुःख एवं नाराजी से भरा पत्र मिला, जो एण्ड्रूज के पादरी न रहने से अत्यन्त क्षुब्ध थे। अपनी उस समय की मनःस्थिति का उल्लेख करते हुए श्री एण्ड्रूज ने ३ अक्तूबर के आसपास महात्मा मुंशीराम जी को एक पत्र लिखा, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:

"यहाँ आने पर मुझे मालूम हुआ कि जब से मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट की है, तब से बिशप और दूसरे लोग मुझ से बहुत असन्तुष्ट हैं। उनका कहना है कि मैंने ईसाइयत को त्याग दिया है। मैंने उनको कह दिया है, कि मैं पहिले की अपेक्षा अधिक सच्चा ईसाई बन गया हूं। यही मैं बनना चाहता था। इंगलैण्ड से भी इस सम्बन्ध में बहुत पत्र आये हैं। उनमें मेरे पिता जी का पत्र सबसे अधिक दुःख पूर्ण है। यह जान कर कि मैं पादरी नहीं रहा, उनका हृदय टूट गया है। वे बहुत वृद्ध हैं। इन बातों को वे नहीं समझ सकते। मैंने उनको बहुत दुःख पहुँचाया है। मैं स्वयं इसके लिये दुःखी हूँ। परन्तु मैं जानता था कि यह सब तो होगा ही और उसको सहन भी करना होगा। मुझे आप के अन्यतम प्रेम का पूरा भरोसा है।"

इसी बीच श्री एण्ड्रूज को पता चला कि मुंशीराम जी अस्वस्थ हैं। इस वृत्त से उन्हें हार्दिक दुःख हुआ और उन्होंने तत्काल अपने मित्र को भावुकता एवं विषाद से भरा एक पत्र लिख कर अपनी सहानुभूति व्यक्त की :

"यह सब बहुत ही आश्चर्यजनक है, परन्तु कभी-कभी······मुझे यह सोच कर सान्त्वना मिलती है कि ये वही कष्ट हैं' जो जननी (मातृभूमि) को अपनी सन्तान के उद्धार और अपनी पावन भूमि के उत्थान के लिये उठाने पड़ते हैं। यह वही है सभी दुःखों को झेलने वाली माँ जो विभिन्न देशों में कष्ट उठाती है और हमें भी–जो कि उसकी सन्तान हैं—इसी रूप में उसके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करना चाहिये। इस समय मेरी मेज पर श्री मोहनदास गांधी, श्री गोपालकृष्ण गोखले, श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर और आपके पत्र रखे हुए हैं, और वे सभी कष्टों से भरे हुये हैं [इस समय सभी बीमार थे]। इस सबका क्या मतलब है? इसका मतलब यह होना चाहिये कि यह सब आवश्यक है तथा दिव्य माँ ने स्वयं हमें यह पवित्र अवसर प्रदान किया है।"*

एक बार जब श्री एण्ड्रूज को पता चला कि मुंशीराम जी को कतिपय कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है तो उन्होंने उन्हें पत्र लिखकर यह आग्रह किया कि "क्योंकि हम दोनों (चार्ली और मुंशीराम जी)भाई हैं इसलिये हमें एक दूसरे के कष्ट में भागीदार बनना चाहिये।······मेरे प्रियतम भाई, इस सतत विपत्ति के समय मेरी सहानुभूति आपके साथ है, जिसका कि आपको सामना करना पड़ रहा है—यह जननी (मातृभूमि) का भार है जिसे वह स्वयं सहन कर रही है और जिसमें भागीदार बनने के लिये उसने आप से कहा है।······यह मृत्यु से अमरता तक, अंधकार से प्रकाश तक हर समय आपके साथ है।"

इस प्रकार श्री एण्ड्रूज और महात्मा मुंशीराम व्यक्तिगत संपर्क एवं पत्रों के माध्यम से एक दूसरे के सुख-दुःख में भागीदार बनते रहे, परस्पर अमित स्नेह बरसाते रहे तथा विचारों का आदान-प्रदान करते रहे। यहाँ पर केवल कुछेक पत्रांश नमूने के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं, पत्रों की वास्तविक संख्या तो १०० से अधिक है। इन दोनों महापुरुषों के बीच हुए इस पत्राचार का न केवल व्यक्तिगत महत्व है, वरन् ऐतिहासिक दृष्टि से भी ये अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यही कारण है कि सुप्रसिद्ध पत्रकार एवं विद्वान् पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी के सौजन्य से ये पत्र नई दिल्ली के राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित हैं तथा इनसे अनेक लेखकों को श्री एण्ड्रूज का जीवन-चरित्र लिखने की प्रेरणा भी प्राप्त हुई है। ●

---

*६ नवम्बर १९१४ के पत्र का कुछ अंश।

महर्षि दयानन्द सपूत : स्वामी श्रद्धानन्द

—श्री धर्मदेव वेदवाचस्पति एम० ए०

असतो मा सद् गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्माऽमृतं गमय ।।

महात्मा बुद्ध ने चार प्रकार के मनुष्य बताये हैं— तमः —तमः प्रधान (जन्म से मृत्यु पर्यन्त अन्धकार में डूबे हुए मनुष्य), 'ज्योतिः—ज्योतिः प्रधान' (जन्म से मृत्यु पर्यन्त विवेकमय शुभ्र जीवन व्यतीत करने वाले पुरुष), 'ज्योतिः—तमः प्रधान' (पवित्र कुल में जन्म लेकर विषयी जीवन में आसक्त हो जाने वाले पुरुष)। अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द महाराज को हम चतुर्थ श्रेणी के पुरुष कह सकते हैं। अपनी आत्मकथा (कल्याण मार्ग का पथिक) में उन्होंने स्वयं इस सचाई को निःसंकोच भाव से स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है। अपने आरम्भिक जीवन में सामान्य मनुष्य के समान वह मद्य-मांस-मदिरा आदि व्यसनों में डूबे रहे। परन्तु बरेली में महर्षि दयानन्द सरस्वती के अल्पकालिक संपर्क से जो ज्ञान की ज्योति प्रच्छन्न रूप से अन्तःकरण में प्रविष्ट हो गई थी, वही ज्योति कालान्तर में उज्ज्वलतर प्रकाशपुञ्ज का रूप धारण करती गई, जिससे वह प्रेय मार्ग के गर्त से निकल कर श्रेय मार्ग के (कल्याण मार्ग के) पथिक बन गये। एक दुर्गन्धमय काला कोयला एक ऐसा चमकीला हीरा बन गया, जिसे अपने शीर्ष पर धारण करने के लिये बड़े-बड़े लोग भी लालायित होने लगे। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'—उन की यह लालसा पूर्ण हुई। वह न केवल स्वयं एक उज्ज्वल रत्न बन गये, प्रत्युत एक विशाल प्रकाश-स्तम्भ भी सिद्ध हुए। अपने आचार्य महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन व उपदेशों पर गहन दृष्टि डालते हुए उसे अपने जीवन में उतारने का सतत प्रयत्न किया। आर्यसमाज में प्रविष्ट होने के बाद लाहौर की आर्यसमाज में उनका जो सर्वप्रथम प्रवचन हुआ उसमें उन्होंने इसी बात पर विशेष बल दिया कि अपने को आचार्य ऋषि दयानन्द का शिष्य या अनुयायी कहने वाले हम सब व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि हम केवल ऋषि के गुणगान करके ही अपने को कृतार्थ न समझें, प्रत्युत उनकी शिक्षाओं व विचारों के अनुरूप अपना जीवन बनायें और हिन्दू समाज को ऋषि के विचारों में दीक्षित करने का व्रत लें। इसके लिए केवल खण्डन-मण्डन या बौद्धिक तर्क का ही सहारा न ले, प्रत्युत अपने व्यक्तिगत जीवन में और समाज में ऋषि की शिक्षाओं को साक्षात् जीवंत रूप प्रदान करें। इसी भावना से उन्होंने अपने जीवन में क्रान्ति लाने का दृढ़ संकल्प किया और आर्यजाति में विद्यमान धार्मिक अन्धविश्वासों तथा सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिये आर्य प्रतिनिधि सभा के माध्यम से पंजाब में योजनाबद्ध प्रचार कार्य

किया । अस्पृश्यता-निवारण, जात-पात खण्डन, नारी शिक्षा, अनाथालयों व विधवाश्रमों का स्थापन और समाज सुधार आदि कार्यों को जन्म दिया । उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप इन सुधार कार्यों में पंजाब प्रदेश भारत के अन्य सभी प्रदेशों का सिरमौर रहा है ।

इसके अतिरिक्त गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को इस युग में पुनः प्रचलित करने के विचार में भी ऋषि दयानन्द की शिक्षाओं को साकार रूप देने की भावना ही काम कर रही थी । अत्यन्त विरोध व बाधाएं उपस्थित होने पर भी उन्होंने सन् १९०२ में गङ्गापार गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना करके अपने पवित्र संकल्प को पूरा कर दिखाया और तब तक अपने घर में कदम नहीं रखा जब तक वह संकल्प पूरा नहीं हो गया । 'जब तक दम में दम है, मनुष्य को बेदम नहीं होना चाहिए'—इस अपने वचन को पूरा कर दिखाया ।

ऋषि के अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' के अध्ययन से उनके मन में यह विचार बद्धमूल हो गया था कि निस्तेज तथा हीन-दीन दशा से पीड़ित हिन्दू समाज का उद्धार तब तक संभव नहीं, जब तक प्राचीन वैदिक मर्यादा के अनुसार मनुष्य का बाल्यकाल नगरों के दूषित वातावरण से दूर रह कर तपस्या, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय व साधना का जीवन न बन जाये । इसी विचार से गुरुकुल कांगड़ी में ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना करते हुये उन्होंने अपने आप को भी उसी प्रकार की दिनचर्या में ढाला । वह नित्य प्रातः काल ४ बजे उठ कर, स्नान-संध्या-हवन एवं वेदभाष्य तथा उपनिषदों का स्वाध्याय करके गुरुकुल के सब विभागों का नियम पूर्वक निरीक्षण करते ।' छोटे-बड़े सभी का कुशलमंगल पूछते, कोई सेवक भी यदि रोगी हो जाता तो उसके घर जाकर हाल-चाल पूछते थे । सभी कर्मचारी उन्हें पिता के समान मानते थे । उनके श्रीमुख से निकले मधुर वचन व आशीर्वाद के लिये लालायित रहते थे । वह उनके लिए माता-पिता दोनों ही थे । उनके हृदय में सबके लिये स्नेह का स्रोत बहता रहता था ।

गुरुकुल में इस आदर्शोन्मुख तपोमय जीवन से उनका व्यक्तित्व उत्तरोत्तर निखरने लगा और तन-मन-धन से गुरुकुल के निर्माण की साधना के फलस्वरूप गुरुकुल काँगड़ी की ख्याति देश-विदेश में फैलने लगी । आर्य जगत् को अपने पर गर्व अनुभव होने लगा । इस ख्याति के कारण न केवल उत्तर प्रदेश के गवर्नर मेस्टन तथा भारत के तत्कालीन वायसराय गुरुकुल देखने के लिये लालायित हुये, प्रत्युत विदेशों से आये विद्वान् तथा राजनैतिक पुरुष भी गुरुकुल का दर्शन किये बिना अपनी भारत यात्रा को अधूरा समझते थे । महात्मा गांधी ने भी दक्षिण अफ्रीका से भारत में आने से पूर्व अपने आश्रम के छात्रों को कुछ मास गुरुकुल में स्वामी जी की छत्रछाया में रखना उपयुक्त समझा ।

इस तपोनिष्ठ साधना ने उन्हें एक दिव्य पुरुष का रूप प्रदान किया । ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य श्री रैम्जे मैकडानल्ड, जो बाद में इंग्लैंण्ड के प्रधानमन्त्री भी बने,

ने उस प्रांशु-काय भव्य मूर्ति महात्मा मुंशीराम में (जो बाद में स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से विख्यात हुये) साक्षात् ईसा मसीह तथा मध्यकालीन सेन्टपीटर की प्रतिकृति के दर्शन किये।

हम कुलवासियों के लिये उनके उपदेश और अपने मध्य उपस्थिति मात्र भी प्रेरणाप्रद होते थे। ऐसे अनेक प्रसंग आज भी आँखों के सामने मूर्तरूप हैं। कुल-वन्दना और कुलगीत, जो विविध प्रसंगों में गाये जाने की परिपाटी मात्र प्रतीत होते थे, स्वामी जी के अपने मध्य उपस्थित होने पर उनका एक-एक शब्द संदेशवाहक बन कर कान में गूँजने लगता था। तब हम अपने आपको एक दिव्य स्थिति में अनुभव करने लगते थे। उनकी इच्छा का संकेत भी मिल जाये तो विद्यार्थी बड़े से बड़े श्रमसाध्य कार्य में भी प्रसन्नतापूर्वक जुट जाते थे। उनके चरण छूने, उपदेश सुनने व आदेश पाने में एक मधुर सुख की अनुभूति होती थी। मथुरा शताब्दी में उनके संकेत पाते ही हम सब तुरन्त पण्डाल में स्वयंसेवक बनकर तैनात हो गये।

हम बालक ही नहीं सम्पूर्ण आर्यजनता उनका आदेश पाने तथा चरणस्पर्श के लिए लालायित रहती थी। समाज सुधार, दुर्भिक्ष सहायता कार्य, शुद्धि आन्दोलन, अमृतसर कांग्रेस का अधिवेशन, देहली का स्वराज्यान्दोलन आदि सभी प्रसंगों पर स्वामी श्रद्धानन्द जी की अपील ने आर्यसमाज व राष्ट्र में अपूर्व उत्साह का संचार करके एक प्रबल आन्दोलन को जन्म दिया। उस समय की सरकार तथा नेता भ इस तथ्य को भली-भाँति अनुभव करते थे।

मुझे १९२४ का वह वार्षिकोत्सव पूरी तरह स्मरण है कि जब आगरा शुद्धि आन्दोलन के लिए स्वामी जी की अपील पर जनता ने दान देने की होड़ लगा दी थी और माताओं ने अपने हाथ के कंगन तथा अन्य आभूषण उतार कर दान करना शुरू कर दिया था, जिसे देखकर बाद में स्वामी जी को कारणवश इस प्रवाह को रोकना पड़ा।

इस महान् व्यक्तित्व के पीछे उनके कुछ विशेष गुण थे, जिन्होंने उन्हें राष्ट्र का एक शीर्षस्थ नेतृत्व का रूप प्रदान किया। वे थे—ईश्वर पर अटूट विश्वास, कथनी-करनी में एकरूपता, निर्भयता, साहस, उत्साह, वीरता, लोकहित कामना तथा अपने अभीष्ट कार्य में प्राणपन से जुट जाने की स्वाभाविक वृत्ति। इन्हीं गुणों के बल पर वे महान् आन्दोलनों में सदा सफलता प्राप्त करते रहे। "तमसो मा ज्योतिर्गमय'—आत्मोत्थान का यह उपनिषद् वचन उनके जीवन का लक्ष्य था। उस लक्ष्य प्राप्ति में ईश्वर में अटूट विश्वास व श्रद्धा तथा सत्य के प्रति पूर्ण आस्था थे उसके साधन। 'सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्येन पन्था विततो देवयान:'—ये शास्त्र वचन उनकी अन्तरात्मा की अनुभूति के विषय बन चुके थे। इसी कारण वह सदा स्पष्टवादी और निर्भीक बन कर सब कार्य करते रहे। इस सत्य के पालन करने के लिये व्रतनिष्ठ होना परम आवश्यक है—यह बात उनके हृदय का एक-एक कण बोलता था। इसी-

लिए उन्हें वेद के निम्न मन्त्र अत्यन्त प्रिय थे। अतः वे सदा अग्निहोत्र के पश्चात् इन मन्त्रों का पाठ करके अपने संकल्प को दृढ़ किया करते थे। एक मन्त्र था—

"व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमप्यते ॥ यजु० ।"

दूसरा मन्त्र था—

"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयम् ।
तन्मे राध्यताम् । इदमहृसनृतात् सत्यमुपैमि ॥" यजु०० ।

आर्यसमाज, गुरुकुल कांगड़ी तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन से सम्बद्ध सभी कार्यों में सफलता पूर्वोक्त गुणों के कारण रही। उनके लोकहितकारी ये कार्य सदा अनुकरणीय है। परन्तु इनसे भी अधिक अनुकरणीय है, उनके आत्मिक उदात्त गुण जिनके कारण उनका विलासमय जीवन उत्तरोत्तर विकसित होता गया और अन्त में देश व जाति के हित में बलि हो गया और जिससे वह अमरशहीद पदवी प्राप्त हुआ।

चाहे आजकल के राजनैतिक पुरुष उनके प्रति कृतज्ञता अनुभव न करे, परन्तु भारत की अन्तर्रात्मा को समझने वाले श्री अरविन्द घोष, कवीन्द्र रवीन्द्र ठाकुर, गोपालकृष्ण गोखले, महात्मा गांधी, मदनमोहन मालवीय, सरदार पटेल और बाबू राजेन्द्रप्रसाद आदि महापुरुष उनके गुणों के प्रशंसक थे और उन्हें भारत का गौरव समझते थे।

अतः भारतीय संस्कृति के प्रेमी प्रत्येक आर्यबन्धु का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उनके गुणों, शिक्षाओं व कार्यों से प्रेरणा प्राप्त करते हुए अपने कर्तव्य का पालन करे।

कुलभूमि पर स्वामी श्रद्धानन्द का अन्तिम दृष्टिपात

—श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

सन् १९२६ के वसन्त का एक प्रभात ।

भागीरथी जहाँ शिवालक की पहाड़ियों से उतर कर मैदान में पहुँचती है, उस पुण्यस्थल हरिद्वार से केवल ३ मील नीचे, दूसरी ओर ढाक और खैर के घने वनों के बीच एक ऊँची पक्की इमारत की छत पर तपः पूत वयोवृद्ध संन्यासी श्रद्धानन्द अकेले खड़े होकर चारों ओर दृष्टिपात कर रहे हैं। ऊँचा कद, विस्तृत ललाट, उन्नत नासिका, भेदती हुई-सी पैनी दृष्टि और तेजपूर्ण चेहरा, जिस पर इतनी गहरी गम्भीरता छाई है, जो उदासी की सीमा तक जा पहुँचती है ।

पूर्व में शिवालक की मनोरम श्रेणियाँ हैं, जिनके ऊपर आकाश में उषा का अत्यन्त हलका, पर दिव्य प्रकाश चमकने लगा है। इस प्रकाश का परस पाकर शिवालक की गोद के सघन वन जैसे और भी श्यामल हो उठे हैं। इन वनों के किनारे कांगड़ी गाँव के खेत हैं, जो इस समय लगभग अन्धकारमग्न हैं। इन खेतों से लगी हुई गंगा की एक धारा है, जिसका जल और जिसकी रेता इतनी दूर से भी चमकते से और श्वेतिमापूर्ण दिखाई दे रहे हैं। संन्यासी की दृष्टि के सम्मुख पिछली एक चौथाई सदी जैसे मूर्तिमान सी आ खड़ी हो जाती है ।

आज से २५ वर्ष पूर्व जब मैं यहाँ आया था, यह धारा नहीं थी, बल्कि इस की जगह एक बरसाती नाला भर था। नाले के इस ओर पलाश और खैर का घना वन था। इसी वन को चीरते हुये हम लोग यहाँ पहुँच पाये थे। कुछ ही दूरी पर वह जो २०–२५ बंगले दिखायी दे रहे हैं, इन की जगह भी तब घना जंगल था, जिसमें चीते और शेर तक चक्कर लगाया करते थे। आज इन बंगलों में यहाँ के प्रोफेसर और शिक्षक रहते हैं।

वह पास ही यज्ञशाला की टीन की मन्दिराकार छत चमक रही है। आज से एक चौथाई सदी पूर्व ठीक इसी जगह हम लोगों ने अपना प्रथम पड़ाव डाला था। आज यज्ञशाला के चारों ओर घास से मढ़ा खुला और स्वच्छ मैदान है, उन दिनों इस स्थान पर बिल्व वन था। उनमें से केवल चार ही बिल्व वृक्ष वह सामने अपना मस्तक ऊँचा किये खड़े हैं। इसी बिल्व वन में तब फूँस की कुछ झोपड़ियाँ बना दी गई थीं, जिनमें अपने कुछ सहयोगियों और कुछ बालकों के साथ आकर मैंने निवास किया था। वह पहली रात आज भी मुझे अच्छी तरह याद है। अन्धकारपूर्ण घने जंगल के स्वच्छीकृत कुछ भाग में फूँस की वे ३–४ झोंपड़ियां। शेर के डर से हम लोगों ने चारों ओर चार हरीकेन तो रख दिये थे, पर साँपों से बचाव करना एक

समस्या बन गया था और यहाँ साँप थे भी तो कितने। सभी किस्मों के अधिक से अधिक ज़हरीले साँप दिन या रात के किसी भी समय देखे जा सकते थे।

पहली सारी रात विद्यार्थियों की सुरक्षा के विचार से मैं जागता ही रहा था। एक पहर रात बीते, पास का जंगल एकाएक सैंकड़ों-हज़ारों गीदड़ों की चिल्लाहट से गूंज उठा था। उसके बाद एक विचित्र ढंग की रोती-सी आवाज सुनाई दी थी। उस आवाज में सिहरन उत्पन्न करने की शक्ति थी। एकाएक जंगल में सन्नाटा छा गया था। मेरे पहरेदार ने बताया कि कांकड़ा रो रहा है। शेर के निकट आने का सबसे पहले उसे ही आभास होता है। वह रोता है, तो वन के सब प्राणियों को शेर के आगमन की सूचना मिल जाती है। कांकड़ा रोया तो सम्पूर्ण वन में सन्नाटा-सा छा गया। यह सन्नाटा और भी अधिक भयोत्पादक था। कुछ ही समय बाद हमारी एक झोंपड़ी के ऊपर वाले बिल्व वृक्ष के ऊपर निशीथ पक्षियों का क्रन्दन सुनाई देने लगा। पहरेदार ने बताया था कि शायद कोई साँप उनके घोंसले तक पहुँच गया है। सारी रात इसी तरह बीती थी और दूसरे दिन हम लोग अपनी झोंपड़ियों के चारों ओर आग जला कर रखने लगे थे। एक दिन वह भी था, जब संसार से पृथक् जंगल की उन कच्ची झोंपड़ियों में रहते हुये मेरे साथियों को यह चेतना भी हुई थी कि कहीं वे सदा के लिये सारे संसार से पृथक् तो नहीं हो गये।

पर राबिन्सन क्रूसो की तरह हम लोग इस जंगल को आबाद करने में लग गये थे। सबसे पहले यहीं यज्ञशाला बनाई गई थी। उसके बाद इस यज्ञशाला को केन्द्र बनाकर चारों ओर आश्रम के कच्चे-पक्के कमरे बनने लगे। वे साधना के दिन थे। हम सब पर एक नशा-सा छाया रहता था। बहुत शीघ्र हमने पाया कि हम अकेले नहीं हैं। देश भर से भारतीय दर्शन और साहित्य के विद्वान् यहाँ आने लगे। उत्तर भारत भर में एक तहलका-सा मच गया। उत्तरप्रदेश, पंजाब और यहाँ तक कि सुदूर सीमा प्रान्त और बलोचिस्तान के गाँव-गाँव से इस नई शिक्षण संस्था के लिये धन आने लगा। यह देखकर मुझे विशेष प्रसन्नता हुई कि गुख्यतः यह धन देश के पूँजीपतियों से नहीं, अपितु सर्वसाधारण जनता से आता था। निम्न मध्य श्रेणी ही के नहीं, अपितु निर्धन व्यक्ति भी पूर्ण श्रद्धा और विश्वास की भावना से प्रेरित होकर चवन्नी-चवन्नी एकत्र कर गुरुकुल को भेजने लगे।

सैंकड़ों आर्य घरों में मातायें और बहनें जब भोजन बनाने बैठती थीं तो एक मुट्ठी भर गेहूं या आटा गुरुकुल में पढ़ने वाले अपने अज्ञात शिशु के लिये पृथक् करके रख लेती थीं। यह अन्न अथवा इसकी बिक्री से जो कुछ प्राप्त होता था, वह सब यहाँ भेज दिया जाता था। इस तरह यह गुरुकुल सच्चे अर्थों में भारतीय आर्य जनता का अपना शिशु बन गया था। वार्षिकोत्सव पर दूर-दूर से सहस्रों नर-नारी गुरुकुल पहुंचने लगे और हम सबने पाया कि हम अकेले नहीं हैं, सारा देश हमारे साथ है।

बड़ी शीघ्रता से यहाँ यह उपनिवेश-सा बसने और बढ़ने लगा। दक्षिण में

वह जो हस्पताल है, उसकी एक-एक ईंट सेवा-भावना और लगन का इतिहास छिपाये हुये है। दूर पर खैर के उस सघन वन की सीमा तक जितनी इमारतें हैं, वे गंगा की पिछली बाढ़ से आज ध्वंसप्राय अवश्य हो गई हैं, पर वे निर्धन होते हुये भी दृढ़-संकल्प भारतीय जनता की स्वभावगत त्याग भावना का प्रतीक हैं।

पश्चिम दिशा में वह सामने मेरा बंगला है। अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ भाग मैंने भागीरथी के तट पर निर्मित इसी छोटे से बंगले में बिताया है। इसी बगले में रहते हुये मैंने वह साधना की थी, जिसकी बदौलत मैं एक बहुत बड़े जन समुदाय का हार्दिक विश्वास मैं अनायास ही प्राप्त कर सका था। गुरुकुल के विद्यार्थी, मेरे बच्चे, मेरे पास आते थे और अपना जी खोलकर रख देते थे। कितते ही डाकुओं और अपराधियों ने यहाँ आकर मेरे सम्मुख अपने पिछले पाप कर्मों के लिये आँसू बहाये हैं और अपने जीवन की दिशा बदली है। संसार के बड़े-बड़े दार्शनिक, विचारक, लेखक और राजनीतिक नेता इसी बंगले में मेरे मेहमान बनकर आते रहे हैं। इसी बंगले में रहते हुये अत्यन्त विस्मय और हर्ष से मैंने पाया था कि गुरुकुल द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति का यह नया परीक्षण इतना शक्तिशाली हो उठा है कि विदेशी साम्राज्यवादियों के लिये वह दिल्ली से लन्दन तक चिन्ता का विषय बन गया है। ओह, उन दिनों कितनी दौड़ धूप हुई थी।

सूरज के प्रकाश से पृथ्वी का यह भाग जगमगा उठा है। उत्तर दिशा में वह विशाल पलाशवन आज भी उसी तरह विद्यमान है। प्रभातकालीन सूर्य की किरणों का स्पर्श पाकर हजारों-लाखों फूलों से लदे हुये ये पलाश वृक्ष आग की लपलपाती ज्वालाओं के सामने दिखाई दे रहे हैं। यह मेरे गुरु का अत्यन्त भव्य रूप है। प्रति वर्ष इस दिव्य दृश्य से हम लोग अजस्र प्रेरणा प्राप्त करते रहे हैं। इस पलाश वन तक कितनी ही छोटी-बड़ी इमारतें बन गई हैं। वह ध्वस्तप्राय मकानों की लम्बी पंक्ति, जिसे हम लोग 'टिनशेड' कहते थे। उसके निकट के घास से मढ़े विस्तृत मैदान, जिन्हें हम लोगों ने बड़ी मेहनत से बनाया था, ऊँची व्यायाम-शाला, अतिथि-गृह, गोशाला, स्नानागार, महाविद्यालय का भव्य आश्रम—जनता के सहयोग से एक-एक कर सभी कुछ यहाँ बनता चला गया था। आज गंगा की बाढ़ ने इन इमारतों के बड़े भाग को ध्वस्त कर दिया है, पर यह पलाश वन जैसे और भी अधिक यौवन पूर्ण बन गया है। ये इमारतें नश्वर थीं, पर माँ प्रकृति का यह वैभव तो अमर है, उसमें निरन्तरता है। मेरे गुरुकुल का भी यही वास्तविक गौरव था।

गुरुकुल की स्वामिनी सभा ने यह निश्चय किया है कि गुरुकुल का दूसरे स्थान पर ले जाया जाये। मैं तो आज भी गुरुकुल की आत्मा के दर्शन इसी पुण्य भूमि में कर रहा हूँ। पर मैं समाज का एक अंश हूं, इस के बहुमत के सामने सिर झुकाता हूं।

कुल देवी तुम्हें प्रणाम। तुम्हारा श्रद्धानन्द सदा के लिये तुम से विदा लेता है।

मुंशीराम नास्तिक से आस्तिक कैसे बने ?

—श्री यशपाल आर्यबंधु

महर्षि दयानन्द के संपर्क में आने से पूर्व भौतिक पर्यावरण में पला, आधुनिक युग का प्रतिनिधि नवयुवक मुंशीराम घोर नास्तिक था और नास्तिक भी ऐसा कि जिसे अपनी नास्तिकता पर गर्व और अभिमान था। धर्म और ईश्वर को वह एक ढकोसला मात्र ही समझता था। धर्म और ईश्वर की उस समय जो रूढ़िवादी अवधारणा प्रचलित थी, वह तर्क और विज्ञान की कसौटी पर खरी नहीं उतर रही थी। अतः पढ़े-लिखे नई रोशनी के नवयुवक उनका उपहास उड़ाना अपना परम कर्तव्य समझते थे। मुंशीराम उनके अगुवा थे। उनके जीवन का उद्देश्य भी खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ ही था। सभी रईसी कुटेव उनके अन्दर विद्यमान थे। यद्यपि उनके पिता भी इसी भौतिकता-प्रधान जीवन का आनन्द ले रहे थे, तथापि वे अपने पुत्र के नास्तिक तथा कुटेवी हो जाने से अत्यधिक चिन्तित थे और चाहते थे कि मुंशीराम इस अन्धकारमय वातावरण के बाहर निकल आये। पर उन्हें कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। धर्म और ईश्वर का भय मानव को पतित होने से बचाता है। पर जो इस भय से सर्वथा उन्मुक्त हो सर्वथा निरंकुश हो जाये, तो फिर उसे पतित होने से कौन बचा सकता है? सौभाग्य से बरेली में उन दिनों महर्षि दयानन्द सरस्वती का आगमन हुआ। मुंशीराम जी के पिता जो वहाँ नगर कोतवाल थे, महर्षि दयानन्द के व्याख्यानों में शान्ति-व्यवस्था स्थापना में संलग्न थे। इसी व्यवस्था के निरीक्षण हेतु जब वे सभा स्थल में पधारे तो महर्षि दयानन्द सरस्वती का व्याख्यान हो रहा था। महर्षि के व्याख्यान को सुन कर कोतवाल साहब के मन में आशा की किरण उपजी और वे सोचने लगे कि मुंशीराम यदि इस महात्मा के प्रवचन को सुन ले तो निश्चय ही उसके संशयों की निवृत्ति हो सकती है और नास्तिकता के गढ़े से वे ऊपर उठ सकता है। वे घर आये और मुंशीराम से बोले कि बेटा वेद-शास्त्र के ज्ञाता एक महान् तार्किक विद्वान् यहाँ बरेली में पधारे हुये हैं, बहुत अच्छा तर्कसम्मत एवं युक्ति-युक्त व्याख्यान देते हैं। अतः कल शाम को तुम भी उनका व्याख्यान सुनने के लिये चलना। मुंशीराम ने सहज स्वभाव से चलने की स्वीकृति दे दी। पर मन ही मन सोचने लगे कि केवल संस्कृत भाषा का कोई ज्ञाता बुद्धि-सम्मत एवं तर्क-संगत बात कैसे कर सकता है। दूसरे दिन निश्चित समय पर पिता जी ने चलने को कहा। मुंशीराम चल तो दिये पर मन में वही शंका बनी रही कि संस्कृत का ज्ञाता बुद्धि, तर्क और युक्ति की बात कैसे कर सकता है? सभा स्थल पर पहुँचने पर जब उन्होंने कई एक अंग्रेजों को तथा अन्य देशीय शिक्षित लोगों को बैठे देखा तो मन में कौतूहल उत्पन्न हो गया। जब महर्षि दयानन्द सभा मंच

पर पधारे और उनकी दिव्य मूर्ति को देखा तो कुछ श्रद्धा और उमड़ी । किसी विद्वान् का यह कथन यथार्थ ही है कि महापुरुष की पहचान ही यही है कि जिसे देखने से ईश्वर की याद आ जावे । महर्षि दयानन्द सही अर्थों में महापुरुष थे । उनको देखते ही एक नास्तिक हृदय में श्रद्धा के भाव उमड़ आना इसी बात का परिचायक है । और जब व्याख्यान सुना तो दंग रह गये । स्वामी श्रद्धानन्द जी अपनी आत्मकथा (कल्याण मार्ग के पथिक) में इस तथ्य को स्वीकारते हुये सुस्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि "अभी दस मिनिट वक्तृता (व्याख्यान) नहीं सुनी थी कि मन में विचार किया यह विचित्र व्यक्ति है जो केवल संस्कृतज्ञ होते हुये ऐसी युक्ति-युक्त बातें करता है कि विद्वान् दंग रह जाये । व्याख्यान परमात्मा के निज नाम ओम् पर था । वह पहले दिन का आत्मिक आह्लाद कभी भूल नहीं सकता । नास्तिक रहते हुये भी आत्मिक आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि आत्मा का ही काम था ।" ऋषि का जादू अपना काम कर चुका था । एक नास्तिक भी कुछ सोचने को बाध्य हो चुका था । उसके नीरस शुष्क मन में भी आनन्द का संचार होने लग गया था । क्या अद्भुत दृश्य था ?

महर्षि दयानन्द के उपदेशों से मुंशीराम जी इतने प्रभावित हुये कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती । श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि "यद्यपि आचार्य दयानन्द के उपदेशों ने मुझे मोहित कर दिया था, तथापि मैं मन में सोचा करता था कि यदि ईश्वर और वेद के ढकोसले को पंडित दयानन्द स्वामी तिलांजलि दे दें तो फिर कोई भी विद्वान् उनकी अपूर्व युक्ति और तर्कना शक्ति का सामना करने वाला न रहे । मुझे अपने नास्तिकपन का उन दिनों अभिमान था, एक दिन ईश्वर के अस्तित्व पर आक्षेप कर डाले । पाँच मिनट के प्रश्नोत्तर में ऐसा घिर गया कि जिह्वा पर मुहर लग गयी । मैंने कहा — महाराज आपकी तर्कना बड़ी तीक्ष्ण है । आपने मुझे चुप करा दिया परन्तु विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती है । दूसरी बार फिर तैयारी करके गया, परन्तु परिणाम पूर्ववत् ही निकला । तीसरी बार फिर पूरी तैयारी करके गया, परन्तु मेरे तर्क को फिर पछाड़ मिली ।" सत्य है—

"जादू है कि तिलिस्म है तेरी जुबान में ।
कायल हुये क्या बात है, तेरी जुबान में ।।"

और अन्त में इस नास्तिक नवयुवक ने हथियार डाल दिये, घुटने टेक दिये । अब वह नास्तिक नहीं रहा, आस्तिकता का प्रबल प्रचारक बन चुका है और बड़े आत्मतोष और आत्मविश्वास के साथ लिख रहा है कि जिस जादूगर के चंगुल से बचने के लिये बनारस में माता जी उन्हें घर से बाहर नहीं निकलने देती थीं आज उसी के जादू के चंगुल में बुरी तरह जकड़ चुका है । उनके अपने शब्दों में--"माता जी को क्या मालूम कि उनके देहान्त के पीछे उनका प्यारा बच्चा उसी जादूगर के उपदेश से प्रभावित होकर उसका अनुयायी बन जायेगा ? सत्य है--

किसी की आँख में जादू, किसी की जुबां में है ।

यद्यपि मुंशीराम जी स्वामी दयानन्द के उपदेशों से अत्यधिक प्रभावित हो चुके थे। तथापि उनके संशयों की निवृत्ति अभी पूर्णरूपेण नहीं हो पाई थी। स्वल्प सत्संग से यह सम्भव भी कैसे हो सकता है ? मुंशीराम जी ने कहा कि महाराज आप ने मेरी जुबां तो बन्द कर ही दी पर ईश्वर का विश्वास मेरे हृदय में नहीं जमाया। इस पर महर्षि का कथन था कि मैंने कब यह प्रतिज्ञा की थी कि आपका ईश्वर में विश्वास जमा दूँगा। आप ने प्रश्न किये मैंने उत्तर दिये, यह युक्ति की बात थी। अरे ! ईश्वर में आपका विश्वास तो तब जमेगा जब ईश्वर स्वयं आप पर कृपा करेंगे और एक दिन वह कृपा की घड़ी भी आन उपस्थित हुई। तब जब कि वे येन-केन-प्रकारेण महर्षि दयानन्द का अनुपम ज्ञान कोष सत्यार्थप्रकाश की एक प्रति प्राप्त करने में सफल हो सके। सत्यार्थप्रकाश पा कर मुंशीराम जी ने ऐसा अनुभव किया कि मानो एक बहुत बड़ा कोष अथवा खजाना हाथ लग गया हो।

काया पलट

महर्षि दयानन्द के अमर ज्ञान-कोष सत्यार्थप्रकाश ने मुंशीराम की काया ही पलट डाली। ज्यूँ-ज्यूँ इस ग्रन्थ को पढ़ते गये, संशयों की निवृत्ति होती गयी। और अन्त में नास्तिकता के गढ़े से निकल कर बाहर आ खड़े हुये। महर्षि के इस ग्रन्थ से मुंशीराम जी की काया कैसे पलटी इसे भी उन्हीं के अपने शब्दों में देखना अधिक समीचीन होगा। स्वामी जी लिखते हैं कि—"सम्वत् १९४१ का माघ मास और आदित्यवार का दिन है। नास्तिकपन के गढ़े से मैं निकल चुका हूँ। धर्म-विषयक गहरे आन्दोलन के पश्चात् सत्यार्थप्रकाश का पाठ दिन-रात आरम्भ कर चुका हूँ। अनारकली के पास रहवत खाँ के अहाते में एक तीन कमरों वाली कोठी के बाईं ओर के कमरे में मैं प्रातः ६ बजे कुरसी पर बैठा हूँ। सत्यार्थप्रकाश का आठवाँ समुल्लास सामने खुला पड़ा है, किन्तु मैं हाथ पर सिर रखे किसी गंभीर विचार में निमग्न हूँ। इतने में कमरे का द्वार खुला और मेरे मित्र सुन्दरदास जी ने अन्दर प्रवेश किया। उनके पैर की आहट ने मुझे विचार-निद्रा से जगा दिया। .... सुन्दर दास भी जानते थे कि आस्तिक बनने के पश्चात् मेरा अधिक झुकाव ब्रह्मसमाज की ओर हो रहा है। उन्होंने पूछा--किस चिन्ता में हैं, कहिये कुछ निश्चय हुआ ? मेरी ओर से उत्तर मिला—"पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने फैसला कर दिया, आज मैं सच्चे दिल से आर्यसमाज का सभासद् बन सकता हूँ।"

महर्षि दयानन्द ने मुंशीराम जी से कहा था कि ईश्वर पर विश्वास तभी जमेगा जब ईश्वर की कृपा होगी। अब जब ईश्वर की कृपा हुई तो वह मुंशीराम जो कभी महर्षि दयानन्द के प्रत्यक्ष साक्षात्कार से भी पूर्ण आस्तिक अथवा आर्य नहीं बन पाया था, आज उसी के विचार-पुंज के स्वाध्याय से आर्यसभासद् होने की घोषणा करता है। कैसा सुखद आश्चर्य है ? महर्षि दयानन्द की लेखनी, महर्षि दयानन्द की वाणी, महर्षि दयानन्द का व्यक्तित्व सभी कुछ अद्भुत चमत्कारी था, पर वैसा चमत्कारी नहीं

जैसा कि आजकल के ढोंगी अपना चमत्कार दिखाने में लगे हैं। ऋषि के चमत्कार का ही फल है कि आज संसार अवैदिक मान्यताओं के प्रति चिपटा रहने पर भी अन्दर से उनके खोखलेपन का कायल हो चुका है। इसी चमत्कार के प्रभाव से मुंशीराम तथा गुरुदत्त सरीखे अनगिनत नास्तिक आस्तिक शिरोमणि बन कर आस्तिकता के प्रवल प्रचारक वन गये। ऐसा था जादू ऋषि दयानन्द सरस्वती का जो नास्तिक मुंशीराम को प्रबल आस्तिक ही नहीं, प्रथम महात्मा मुंशीराम और फिर स्वामी श्रद्धानन्द बना देता है।

●

अमर संन्यासी श्रद्धानन्द

—श्री अमीरचन्द खन्ना जरनलिस्ट
(हाफिजाबादी)

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज अपने समय के अद्वितीय निर्भीक दण्डधारी संन्यासी थे। निडर और निर्भीक होना प्रत्येक के भाग में नहीं आया। श्री स्वामी जी महाराज निर्भयता और निडरता के क्षेत्र में स्वयं ही उदाहरण थे, और यही एक गुण है जो संन्यासी में प्रगट रूप में होना चाहिए। स्वामी जी महाराज यथार्थ में संन्यासी और दण्डधारी थे। आप सच्ची और बेलाग बात हर एक के मुख पर कहने में सदैव उद्यत रहते थे। सचाई और यथार्थता के बयान करने में आप अपनी ऊँची आवाज और ओजस्वी लेखनी से कार्य लेते थे। स्वामी जी के जीवन से परिचित हर व्यक्ति को कहना पड़ता है कि श्री स्वामी जी महाराज को उसी समय सुख मिलता था जबकि आपकी अनुभूत सचाई संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक विद्युत् की तरह फैल जाती थी। स्वामी जी महाराज के जीवन में सबसे उत्तम प्रकट बात, जो महाराज को अन्य नेताओं से भिन्न करती है, यही निर्भयता और निर्भीकता थी। स्वामी जी महाराज ने एक समाज सुधारक की भाँति किसी समय इस गुण में न्यूनता नहीं दिखलाई। समाज सुधारक को वहुधा परे परे होना पड़ता है, झुकना पड़ता है, परन्तु स्वामी जी महाराज दरमियानी रास्ता निकालना और ग्रहण करना जानते ही न थे। स्वामी जी के सामने अन्य जातीय समाज सुधारक वहुत कम प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध या साधारण व्यक्ति हैं। इन समाज सुधारकों की प्रतिष्ठा इसी वात निर्भर है कि वह स्थानीय अफसरों, तत्कालीन शासन और समाज के प्रभावशाली व्यक्तियों और ज़ोर वाले अफसरों से मेल रखें।

इस सम्बन्ध में स्वामी जी के सामने ईसाई पादरी हैं। इन लोगों के जीवन विशेषतया स्थानीय अधिकारी, सामयिक शासन यन्त्र और प्रभावशाली या ज़ोरदार व्यक्तियों से मिले रहते हैं या उनका हो कर रहने में ही बस है। स्वामी जी दूसरे हम असर मुहम्मदी प्रचारक या रिफ़ारमर ईसाई पादरियों से भी चार पग आगे हैं। क्योंकि, मुहम्मदी समाज सुधारक न केवल शासन राजभक्त हैं, वरन् शासन को प्रसन्न करने में घृणित से घृणित कार्य करने के लिए उद्यत रहते हैं। जिसका प्रत्यक्ष समाचार पत्र-संसार के सन्मुख भलीभांति हो चुका है। परन्तु स्वामी जी महाराज इस सम्बन्ध में निर्दोष, अटल और अद्वितीय प्रमाणित् हुये हैं, कदाचित् ही ऐसा कोई होगा। श्री स्वामी जी महाराज उस महापुरुष के शिष्य हैं जिसने किसी पुरुष के सामने झुकने से निषेध कर दिया था और जिसने अपने कालके अन्य समाज सुधारकों

की तरह शासन से सहयोग रखने में कोई लाभ नहीं देखा था। श्री स्वामी दयानन्द जी महाराज के समकालीन जितने समाजसुधारक थे वह भी निर्भयता और निर्भीकता के गुण से शून्य थे और खुशामद, चापलूसी आदि घृणित कार्य से वे लथपथ थे। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज इस अद्वितीय निर्भीक पुरुष के शिष्य होते हुए अपने समय के अद्वितीय भयहीन व्यक्ति थे।

धुन के पक्के

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज जहाँ निर्भय व्यक्ति थे वहाँ दृढ़ निश्चय के भी अद्वितीय स्वामी थे। महाराज यथार्थ और अर्थ में अपनी लग्न के पूरे थे। आप के जीवन चरित्र के स्वाध्यायी परिचित हैं कि स्वामी जी महाराज जिस बात पर अड़ जाते थे और जिस सिद्धान्त के महत्त्व को आप एक बार स्वीकार कर लेते थे, आप उसको अपने ही तक सीमित नहीं रखते थे वरन् उसे चतुर्दिक देश में फैलाने के इच्छुक रहते थे। आपने आज से लगभग २५ वर्ष पूर्व एक अनुभव किया था कि भारत में प्राचीन शिक्षण-शैली होनी चाहिये। बस इस ही धुन में आपने अन्यान्य त्याग किया। तन, मन, धन यहाँ तक कि सर्वस्व आपने इसी के प्रचार में लगा दिया। आपने अपनी शानदार वकालत से संचित धन, जायदाद, सांसारिक प्रचलन सबको तिलाञ्जलि दे बन की राह ली और जंगल में कर मंगल दिया। गुरुकुल कांगड़ी की नींव डाली। उनके इस सिद्धान्त के आगे आज संसार अपना शिर झुकाता है। केवल इस सिद्धान्त से प्रभावित होकर अत्यन्त पक्षपाती और संकीर्ण हृदय मुहमदी सर अब्दुल रहीम ने भी आपके उस परिश्रम की प्रशंसा की जो आपने इस सिद्धान्त के प्रचार के लिए की। संसार का श्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर आपके पग पर चले और शान्तिनिकेतन में वही शिक्षण-पद्धति स्थापित की जिसे आपके निर्मल दूरदर्शी मस्तिष्क ने २५ वर्ष पूर्व अनुभव किया था। जिस समय आपने इस सिद्धान्त को संसार के सामने रखा सर्वसाधारण ने किसी अंश में आपको निराश किया, परन्तु आपने किंचित भी साहस नहीं छोड़ा।

आज संसार देखता है, आपके सिद्धान्त को सर्वांश में यथार्थ मानता है। स्थान-स्थान पर गुरुकुल खुल रहे हैं। स्वयं ईसाई और मुसलमान भाई भी इस सिद्धान्त के कायिल हैं। यथपि इनकी संस्थाएँ इन गुरुकुलों से कहीं भिन्न हैं, परन्तु ढंग वहीं है। स्वामी जी ने इस सिद्धान्त को इस संसार और विरोधी जगत् में चलाने के लिये २५ वर्ष घोर तपस्या की। तभी तो आज संसार कह रहा है कि स्वामी जी अपनी धुन में पक्के थे और इसके लिए हर प्रकार का त्याग, परिश्रम और कष्ट सहने के लिये अपार साहस रखते थे।

ईश्वर की सृष्टि का सेवक

स्वामी जी महाराज प्राचीन आर्य सभ्यता के प्रेमी होते हुए भी स्वामी दयानन्द संरस्वती के उद्भट शिष्य होते हुए, हिन्दू घराने में जन्म लेते हुए और हिन्दू संस्कारों में पलते हुए ईश्वर सृष्टि के सेवक थे। पक्षपाती संकुचित सृष्टि आपमें

थी ही नहीं । आप सबके साथ प्रेम का व्यवहार करते थे । आप में छल-कपट डिप्लोमेसी नाममात्र को भी न थी । आपका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष एक था । आप बदला या इन्तकाम या किसी को कष्ट पहुँचाने के विचार तक के विचार से घृणा करते थे । आपके विरोधी भी इसी बात के कायल और प्रशंसक थे । आप जिस बात को अनुभव करते थे वही कहते थे, लीपापोती और बनावट से आपको घृणा थी, आपने कभी मुसलमानों का विरोध उनके मुसलमान होने के ढंग पर नहीं किया। और तो और आपने उस समय जबकि जातीयक वैमनस्य ही अग्नि प्रचंड थी, अपनी जान का रखवाला डा० अन्सारी को माना हुआ था । सच तो यह है कि डॉ० अन्सारी भी इस सम्बन्ध में बहुत उच्च और श्रेष्ठ कोटि के व्यक्ति हैं । प्राचीन आर्य सभ्यता के प्रेमी होते हुए हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के हामी थे, मुस्लिम स्वराज्य के अमूल्य रत्न की प्राप्ति की आपकी महती इच्छा थी । आपने जीवन भर ऐसा शब्द नहीं निकाला जो गैर ज़िम्मेदाराना हो, जिससे किसी का हृदय दुःखी हो, जिससे किसी जातिगत वैमनस्य की गन्ध आई हो, हाँ शुद्धि के सम्बन्ध में आपका सिद्धान्त स्पष्ट था । आप अनुभव करते थे कि आर्य धर्म का द्वार प्रत्येक के लिये खुला है और जो चाहे आर्य धर्म, वैदिक धर्म के शुद्ध पवित्र स्रोत में अपनी प्यास बुझाये । आपने इस भावना के अनुसार अपने घातक को तत्काल अन्दर आने की आज्ञा दी, जबकि डाक्टरों ने अपने प्रेमियों, भक्त शिष्यों और सेवकों सबसे वार्तालाप करने के लिये निषेध हुआ था । वैदिक धर्म की भांति स्वामी जी के दरवाजे भी हर एक कामना रखने वाले के लिये खुले थे । मित्र, शत्रु, घातक, सेवक, शिष्य और अनार्य सभी के लिये स्वामी जी का दरवाजा खुला था । स्वामी जी महाराज सेवा क्षेत्र में जातपाँत, रंग-रूप का भेद पाप समझते थे । मेरा दावा है कि अदूरदर्शी, पक्षपाती मुल्लाओं को भी स्वामी जी के इस गुण का समय व्यतीत होने पर कायल होना पड़ेगा । समय था कि इस गुण के कारण ही स्वामी जी महाराज को भारत की सबसे बड़ी मसजिद की वेदी (मिम्बर) पर उपदेश करने के लिये निमंत्रित किया गया और मुसलमानों ने उसे अपना सौभाग्य समझा । वह सब ऐसा होना प्रकट करता है कि स्वामी जी महाराज ईश्वरीय सृष्टि के सेवक थे ।

अभिमन्यु की वीरता

महाभारत के पाठक मानते हैं कि अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु ने महाभारत में जो वीरता दिखलाई वह किसी और ने नहीं दिखाई । श्री स्वामी जी महाराज ने भी प्रत्येक जीवन-पथ और कठिनाई में अभिमन्यु की सी वीरता प्रदर्शित की है ।

शासन से टक्कर लेने अपने भाई बन्धुओं से सामाजिक सुधार करने में जिस अटूट साहस और अपार वीरता का प्रदर्शन स्वामी जी महाराज ने अपने सारे जीवन में किया है वह भी अद्वितीय है । सन् १९१९ में जबकि शासन की बन्दूकें, तोपें प्रत्यक्ष रूप से देश के पुत्रों के रक्तपात के लिये कलंकित हो चुकी थीं उन तोपों, बन्दूकों और संगीनों के भी स्वामी जी महाराज ने अपनी निधड़क, निडर वज्र-समान

छाती को नग्न करके दांत खट्टे कर दिये थे । सच है, तैराक की मृत्यु जल में होती है । गोलियों की बौछार में छाती फैला बैठने वाले, निर्भय और निधड़क होकर रहने वाले तथा सब को समान दृष्टि से देखने वाले के लिये आवश्यक था कि वह छाती में गोलियाँ खाकर शूरवीर की भांति सिपाही की मृत्यु प्राप्त करें । दृढ़ छाती रखने वाले को निमोनिया का रोग संसार से उठा ले, यह असम्भव था । स्वामी जी ने अभिमन्यु की मौत का स्वागत किया । हर खतरे में पड़ते रहे, आग में उछलते रहे, आपत्तियों को अपने सिर लेते रहे, अकाली मोर्चों को अपना मोर्चा समझा, उस आग में भी आकूदे और परमात्मा की लीला देखिये कि इन दिनों जबकि गोलियों और तोपों की भयानक ध्वनि का अभाव है तब भी अपने समय को वीरता का अभिमन्यु गोलियों का शिकार होता है ।

सर्वोपरि प्रिय व्यक्ति

श्री स्वामी जी महाराज का कत्ल हुआ, देश के इस स्वच्छ वायु मण्डल के होते हुए भी हा हाकार मच गया । प्रत्येक ने महाराज के बलिदान पर श्रद्धा के पुष्प भेंट किये । वृद्धावस्था और बलिदान परमात्मा ने आज तक किसी को भी दान नहीं किये, इस बलिदान की हर एक इच्छा करता है । व्यक्तिगत वैमनस्य की अग्नि प्रचण्ड होते हुए भी स्वामी जी की अर्थी के साथ अनन्त संख्या में शोक मनाने वालों का भाग लेना प्रकट करता है कि स्वामी जी महाराज अपने काल के सर्वोपरि प्रिय व्यक्ति थे । स्वामी जी विशाल हृदय, विचार के पवित्र तथा बनावट से घृणा करने वाले यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति महाराज को प्यार करता है । श्री स्वामी जी महाराज सबके थे और यही कारण है कि महाराज के उठ जाने पर हर व्यक्ति शोक के आँसू बहाता है । मगर स्वामी जी तो अमर हैं । उनका कार्य शानदार था, उनका सेवा भाव अद्वितीय था । परमात्मा करे कि उनके द्वारा स्थापित कार्य अधिक वेग से चले ।

स्वामी श्रद्धानन्द का हत्यारा कौन ?

—पं० गंगाराम

१९१७ ई० में महात्मा मुंशीराम स्वामी श्रद्धानन्द बने। उन्होंने वानप्रस्थ त्याग संन्यास लिया। राट्र सेवा से उठ विश्व सेवा करने बढ़े, "वसुधैव कुटुम्बकम्" की साधना करने के लिए कांगड़ी की कामना त्याग दिल्ली आ बैठे। तब दिल्ली राजधानी बन चुकी थी। दिल्ली को डॉ० अन्सारी, हकीम अजमल खाँ के साथ-साथ एक अच्छा नेता और मिला–स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में। स्वामी श्रद्धानन्द तो आर्यसमाज द्वारा संसार का उपकार करने आये थे, इन नेताओं ने राष्ट्रीय समस्याएँ हल करने के लिए उन्हें मिला लिया कांग्रेस में। कांग्रेस उस समय एकमात्र बड़ी राजनीतिक पार्टी थी।

राष्ट्रीय कांग्रेस मृतप्राय हो चुकी थी, जलियांवाला बाग में हुए अंग्रेजी अत्याचार से उसके निष्प्राण शरीर में चेतना लाने कांग्रेस महासभा का अधिवेशन अमृतसर में करने का निश्चय हुआ। उसके आयोजन की जिम्मेदारी लेने के लिए देश का कोई नेता तैयार नहीं था तब सब की निगाहें पड़ी स्वामी श्रद्धानन्द पर। स्वामी जी को मना लिया उस समय के नेताओं ने स्वामी जी के कारण १९१९ में अमृतसर सेशन बड़ा ही सफल रहा। इसकी सफलता ने स्वामी श्रद्धानन्द जी को कांग्रेसियों का एक बड़ा नेता सिद्ध कर दिया।

खिलाफत आंदोलन को कांग्रेस ने जोड़ लिया देश की आजादी की लड़ाई के के साथ, हिन्दू-मुस्लिम एकता के नाम पर। उस समय दिल्ली स्वामी श्रद्धानन्द जी के हाथों में थी। इस आन्दोलन को अंग्रेज संगीनों से कुचलना चाह रहा था। तब सीना ताने सामने आये स्वामी श्रद्धानन्द। स्वामी जी के साहस व नेतृत्व को देख अंग्रेज की संगीनें झुक गईं। चांदनी चौक की इस घटना ने चार चाँद लगा दिए स्वामी श्रद्धानन्द जी के यश व कीर्ति को। इससे देश का बैठा मनोबल उठा और अंग्रेजों का साहस छूटा। इससे लाभ पहुँचा मुसलमानों को। वे बड़े प्रसन्न हुए। वे अपने कन्धों पर उठा स्वामी जी को जामा मस्जिद लाये और मिम्बर पर खड़ा कर उनके वेद प्रवचन बड़ी ही श्रद्धा व भक्तिभाव से सुने। उनकी जय जयकार की। इस्लाम के इतिहास में यह पहली घटना थी, जब कि ईश्वर की वाणी को मस्जिद में बैठ कर मुसलमानों ने सुना था।

राष्ट्रीय स्तर पर एक काम और किया स्वामी जी ने। वह था देश के उन लाखों करोड़ो मुसलमानों का जिनके पूर्वज चगेज, तैमूर, खिलजी, तुगलख, औरंगजेब आदि की तलवार के डर से मुसलमान बने थे। जब आतंक जाता रहा तो वे हिन्दू बनने का प्रयत्न करने लगे। इसमें खोजा, मैमन, मलकाने आदि मुसलमान ऐसे थे

जो खान-पान, बेटी-व्यवहार, रीति-रिवाज, धर्म-कर्म से हिन्दू ही थे। हिन्दू समाज उन्हे वापिस लेने में हिचक रहा था। उन्होंने सुन रखा था कि आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने जन्म के ईसाई मुसलमानों तक को अपने पवित्र हाथों से शुद्ध कर आर्य बनाया था। वे लोग यह भी जानते थे कि आर्य समाज ने उस काम को जारी रखा हुआ है। इसी ज्ञान के कारण ही वे आश्वस्त हुए। वे पहुँचे आर्यसमाज के पास। स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा हंसराज जी के कुशल नेतृत्व में इस काम को आरम्भ किया गया। परिणामस्वरूप ८ लाख मुसलमान हिन्दू समाज में घुल-मिल गए। इस काम को सतत जारी रखने के लिए शुद्धि सभा की स्थापना स्वामी जी ने की।

राष्ट्रीय स्वर की एक समस्या और भी थी। वह थी छूत-छात की। यह विदेशी शासकों द्वारा फैलाई गई बीमारी थी, जिससे करोड़ों व्यक्ति अछूत माने जाने लगे थे। आर्यसमाज जन्म के आधार पर छूत-अछूत को नहीं मानता। आर्यसमाज की इस बात को देश मानने को तैयार नहीं था, मौलाना मोहम्मद अली प्रधान के नाते कांग्रेस की ओर से हल बताया कि इन ७ करोड़ अछूतों को हिन्दू और मुसलमानों को आधे-आधे बाँट लें। इस बात का जोरदार विरोध किया स्वामी श्रद्धानन्द ने। उन्होंने बताया कि अछूत समान दर्जे के अधिकारी हैं। उन्हें जालिमों ने दलित बना दिया है। उनके उत्थान के लिए काम होना चाहिए। स्वामी जी ने "दलितोद्धार सभा" बनाई और काम आरम्भ कर दिया। स्वामी जी ही के प्रयत्नों से अछूत कहे जाने वाले करोड़ों व्यक्ति विधर्मी बनाये जाने से बच गए और आज तक वे अपने पूर्वजों के धर्म पर टिके हुए हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द जी के कारण ही आज देशभक्ति, शुद्धि, दलितोद्धार आदि काम आर्यसमाज के प्रबल अंग बने हुए हैं।

कांग्रेस, खिलाफत, शुद्धि और दलितोद्धार के कामों से करोड़ों व्यक्तियों का विश्वास स्वामी श्रद्धानन्द पर जमा। देश ने स्वामी जी को सबसे बड़ा गौरव और सम्मान दिया। यह बातें हैं सन् १९२१-२२ की। उस समय नेता समझे जाते थे महात्मा गाँधी, अली ब्रदर्स, मोतीलाल नेहरू, अब्दुल कलाम आजाद आदि। अपने साहस, कुशलता, तप और त्याग द्वारा स्वामी श्रद्धानन्द का इस प्रकार राष्ट्रीय मैदान मारना, इन नेताओं को नहीं भाया। ये नेता तिलक और जिन्ना को उग्रवादी लाला लाजपतराय, एनी बीसण्ट, मालवीय जी आदि को हिन्दूवादी कहकर पीछे ढकेले थे। वे उपाय करने लगे कि कैसे स्वामी श्रद्धानन्द जी के उभरते व्यक्तित्व को पीछे फेंका जाए।

उधर अंग्रेज भी चिंतित था आर्यसमाज की असंदिग्ध देशभक्ति और बेजोड़ राष्ट्रीय सेवाओं से। आर्यसमाज के नेताओं को वह देख चुका था। लाजपतराय को जलियांवाला बाग में, स्वामी श्रद्धानन्द को चांदनी चौक में, लाठियों, गोलियों और संगीनों के सामने सीना ताने। चौरीचौरा में उसके द्वारा हुई हिंसा का प्रतिकार भी

वह देख चुका था। गांधी जी ने चौरीचौरा ग्राम के लोगों के प्रतिकार को हिंसा नाम दे, देश भर में चल रहे असहयोग आन्दोलन बन्द करने को कहा, युवकों ने गांधी जी की नहीं मानी और अंग्रेज से सहयोग करने से इंकार कर दिया। हिंसा का प्रतिकार हर संभव उपायों से किया जायेगा ऐसा युवकों ने व्रत लिया। उनका नेतृत्व कर रहे थे आर्यसमाज के युवक रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद, सरदार भगतसिह आदि।

अंग्रेज ने देखा कि देश छोड़ने के दिन समीप आ रहे हैं। उसने यह भी देखा कि आर्यसमाज किसी भी मूल्य पर उससे समझौता नहीं कर सकता। तब उसने एक योजना बनाई। हिन्दू मुसलमानों को लड़ाने की। उसने मुसलमानों को थपथपाया। फिर क्या था? देखते ही देखते देश भर में और विशेष कर मालाबार आदि में मुसलमान दंगे मचाने लगे। १९२२-२३ में इन दंगों से हिन्दुओं को अपार क्षति पहुँची। स्वामी श्रद्धानन्द चाहते थे कि कांग्रेस अंग्रेज और दंगाइयों का भण्डा फोड़े, ताकि जनता को सही ज्ञान हो। वह इनकी सहानुभूति न करें और दंगे समाप्त हों। स्वामी श्रद्धानन्द जी की बात बहरे कानों में पड़ी। गांधी जी ने कहा कि मालाबार के अत्याचारों के पीछे अंग्रेजों का हाथ था--मुसलमानों का क्या दोष?

कांग्रेस ने एक समिति बनाई १९२३ में दंगों के कारणों को जानने के लिए। समिति के अध्यक्ष बने थे मोतीलाल नेहरू और उनके सदस्यों में एक थे मौलाना अब्दुल कलाम आजाद। मोतीलाल नेहरू ने रिपोर्ट दी की हिन्दू मुसलमानों के दंगों के कारण है—स्वामी श्रद्धानन्द।

इस रिपोर्ट को लेकर फिसादी मुसलमान, सत्ता के भूखे नेता और अंग्रेज अधिकारी तीनों ने मिल कर शोर मचाना आरम्भ कर दिया। इनके निरन्तर गन्दे प्रचार से स्वामी श्रद्धानन्द जी की उभरती छवि विकृत बन गई। पागल अब्दुल रशीद ने उनकी हत्या कर दी। प्रकट रूप से अब्दुल रशीद को सजा दी गयी। परन्तु इसके पीछे "कातिल दिमाग हत्यारा कौन?" यह प्रश्न आज भी खड़ा का खड़ा है। ●

गुरुकुल-भक्त मुंशीराम

—प्रोफेसर महेशचरण सिन्हा

[कांगड़ी गुरुकुल में विज्ञान के अध्यापक प्रो० महेशचरण सिन्हा गुरुकुल आने से पूर्व अमरीका में कार्य करते थे । वहाँ एक दिन उनकी भेंट पजाब-निवासी एक व्यक्ति से हुई, जिसका नाम मुंशीराम थ और जो प्रोफ़ेसर जी का नाम सुनकर उनसे मिलने आया था । मुंशीराम आर्यसमाज और गुरुकुल का अटूट भक्त था । उसमें आर्यसमाज एवं गुरुकुल के लिए कार्य करने की ललक थी । वह भारत में रहता हुआ अपनी फौज की नौकरी से मुक्त होकर गुरुकुल में कोई सेवा-कार्य करने की इच्छा से वहाँ आया था, पर कार्य न मिलने से निराश होकर अमरीका चला गया था । उसने अपना तन-मन-धन सब कुछ गुरुकुल पर न्योछावर कर रखा था और उसे सोते-जागते गुरुकुल का ही ध्यान लगा रहता था । उसके पास जो कुछ बचता था, वह सब गुरुकुल को ही अर्पण होता था । यहाँ तक कि, उसने अपने से उधार लेने वालों को भी यह निर्देश दे रखा था कि जब कभी वे उसका उधार चुकायें तो उधार की धनराशि सीधे गुरुकुल को ही भिजवा दें । मरते दम तक उसकी यही इच्छा रही कि पुनर्जन्म होने पर वह गुरुकुल में ही शिक्षा प्राप्त करेगा । यही नही, उसने अमरीका में अपने संपर्क में आने वाले शिक्षित भारतवासियों के मन में गुरुकुल के प्रति प्रेम उत्पन्न करने की चेष्टा की । प्रो० सिन्हा का गुरुकुल आना वस्तुतः उसी की प्रेरणा एवं अनुरोध का परिणाम था । आइये सुने, प्रोफेसर जी की ही जबानी इस गुरुकुल भक्त मुंशीराम से भेंट की कहानी ।]

एक दिन अमरीका के सियेटल नगर में एक विशाल भवन की छत पर मैं एक महिला के साथ बैठा बातचीत कर रहा था । उस महिला के साथ मेरी मित्रता थी । घर का स्वामी अभी तक लौटा नहीं था । रात के नौ बज गये थे, तब भी हम जागते हुए बातचीत में समय बिता रहे थे । अमरीका के पुराने निवासियों का जिक्र हो रहा था । कैसे वे धीरे-धीरे एक जगह से दूसरी जगह खदेड़े गये ; कैसे वे न्यूयार्क के पूर्वी कोने से ओरेगौन के पश्चिमी कोने को भगाये गये; किस तरह वे संख्या में इतने अधिक थे और मक्खियों की तरह सारे स्थान को घेरे हुये थे ; किस तरह थोड़े से नवागत लोगों ने अपनी बुद्धिमत्ता और साहस से सब नीग्रो लोगों को मार भगाया और उनकी संख्या इतनी थोड़ी कर दी कि अब वे अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं । हम ये बातें कर ही रहे थे कि किसी के दरवाजा खटखटाने की आवाज आई ।

एक नौकरानी ने उसी समय जाकर द्वार खोला । लौटकर उसने कहा—"महाशय, आप के देश का एक आदमी आया है, वह आपसे मिलना चाहता है ।"

मैं नीचे उतरा और जाकर दर्शक को नमस्ते की । उसका शरीर सुडौल और रंग गोरा था और उसकी आँखों से उत्साह और आवेश टपकता था, उसका नाम मुंशीराम था ।

मैं उसे ड्राइंगरूम में ले गया, जहाँ हम अकेले अच्छी तरह बात कर सकते थे। पूछने पर पता लगा कि मुंशीराम पंजाब से आया है, जहाँ उसने फौज में बहुत देर तक सिपाही का काम किया था और फिर आर्यसमाजी होने के कारण निकाल दिया गया था या त्यागपत्र देने के लिए बाधित किया गया था। वह लोगों को इकट्ठा करके आर्यसमाज, समाजसुधार और दयानन्द के मिशन की बातें सुनाया करता था। वह अपने मित्रों को निर्धन लोगों के साथ सहानुभूति करने, स्वदेशी चीजें खरीदने और अपने देश तथा देशवासियों के साथ प्रेम करने की प्रेरणा किया करता था। ऐसे आदमी की देसी फौज में कोई जरूरत नहीं थी। मैंने पूछा—"आप अमरीका क्यों आये हैं ?" उसने उत्तर दिया—"यह बड़ी लम्बी कहानी है। नौकरी छोड़ने के पीछे मेरी इच्छा गुरुकुल कांगड़ी की सेवा करने की थी, मैं गुरुकुल गया और वहाँ जाने से पता लगा कि वहाँ मेरे योग्य कोई काम नहीं है, गुरुकुल को आप जैसे लोगों की जरुरत है, मेरे जैसे लोगों की नहीं। मैं अनपढ़ और अशिक्षित हूँ, मैं वहाँ क्या कर सकता था।"

मैंने पूछा—"गुरुकुल क्या है, उसके विषय में कुछ और बतलाइये।"

"यह क्या ? क्या आप गुरुकुल के विषय में कुछ भी नहीं जानते। बड़ा आश्चर्य है। हमारे गुरुकुल के लोग पंजाब से बाहर के शिक्षित लोगों तक पहुँने का कुछ भी यत्न नहीं करते। पर वे बेचारे भी क्या-क्या करें। उन्हें इतने काम रहते है। रुपया भी उन्हें ही इकट्ठा करना पड़ता है और लड़कों को भी वे ही पढ़ाते हैं, मैं उनको दोषी न ठहराऊँगा। पर यह बड़ा आश्चर्य है कि युक्त प्रान्त के लोग गुरुकुल के विषय में कुछ भी नहीं जानते।"

तब एक बार आवेश भरे शब्दों में उसने कहना शुरू किया—"गुरुकुल अद्भुत संस्था है। केवल गुरुकुल ही भारत के दुःखड़ों को दूर करने वाला है। ब्रह्मचारियों के बाहर निकलते ही नई शक्ति उत्पन्न होगी। गुरुकुल से ब्रह्मचर्य रूपी सूर्य के चढ़ते ही भारतवर्ष का कोना-कोना प्रकाशित हो जायेगा और संसार का कोई भी ऐसा स्थान न होगा जहाँ इसकी पवित्र किरणें न पड़ेंगी। केवल एक गुरुकुल ही है, जहाँ लड़के ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। हमारे देश की उन्नति इसलिये रुक रही है कि हमारे विचार और आचार एक जैसे नहीं है। ब्रह्मचारी सत्य पर दृढ़ रहेंगे और किसी से भी न डरेंगे। आजकल भारतवर्ष के विद्वान् और धनी लोग डर के मारे अपने धार्मिक और सामाजिक विचारों को प्रकट नहीं करते। उनके अन्दर साहस नहीं है। पर ब्रह्मचारी परमात्मा के बिना किसी से भी न डरेंगे। ये ही भारतवर्ष का ही नहीं, सारे संसार का उद्धार करेगे।

यह पहला ही अवसर था कि मैंने गुरुकुल का ऐसा आवेशपूर्ण वर्णन सुना था, इसलिए मुझे आश्चर्य हुआ। आश्चर्य का अधिक कारण यह था कि ये बातें कहने वाले के दिल से निकलती थीं। उसकी आँखों से आग निकलती थी, उसका सारा

शरीर अधीरता से कांप रहा था और उसके चेहरे से पता लगता था कि वह समालोचना या विरोध को सहन नहीं करेगा। मैंने पूछा—"पर आपने देश छोड़ा कैसे ?" उसने उत्तर किया—"मैंने पत्रों में पढ़ा था कि जापानी रूसियों से लड़ रहे हैं और जापानी भारतवासियों के साथ समानता रखते हैं। मैंने उन्हें सहायता देने का निश्चय किया और जापान पहुँचा। टोकियो पहुँचने पर मैंने फौज में भरती होने और लड़ाई में भेजे जाने का प्रार्थनापत्र दिया। एक टर्क ने भी मेरे साथ ही निवेदन पत्र दिया, पर जापानियों ने मेरे निवेदन को अस्वीकार करके मुझे चिढ़ा दिया। उन्होंने विदेशी सहायता लेने से इन्कार किया। वे समझते थे कि ऐसी विजय से कोई लाभ नहीं जो विदेशी लोगों और मुसलमानों की सहायता के बिना बौद्ध स्वयं प्राप्त नहीं कर सकते। गुरुकुल में मैं काम करने के अयोग्य था और जापान युद्ध में जान देने की मुझे आज्ञा न मिली, इसलिए कुछ समय के लिये मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। जब मैं इस अवस्था में जापान घूम रहा था, तब मैंने आपका नाम सुना। व्यापारी और विद्यार्थी आपकी अमरीका में उच्च स्थिति का जिक्र किया करते थे। इसलिए मैं आपके पास आया हूँ। मैं रुपया कमाना चाहता हूँ। मुझे कुछ काम ढूंढ दीजिए।"

दूसरे दिन मैंने मुंशीराम का मि० एडवर्ड होल्टन जेम्स से परिचय करा दिया। वह सियेटल का बड़ा धनी प्रसिद्ध अटर्नी था और वह हिन्दुओं के साथ बड़ी सहानुभूति किया करता था। उसी के घर में मैं रहता था। वह स्वामी रामतीर्थ का पक्का भक्त था और उस महापुरुष द्वारा प्रतिपादित वेदान्त में विश्वास रखता था। मि० जेम्स ने पूछा—तुम कहाँ से आते हो और क्या करना चाहते हो ?" मुंशीराम ने पूर्व की ओर इशारा करके कहा—"मैं आर्य हूँ और मेरा घर पूर्व में है।"

मि० जेम्स ने मुझ से कहा—"यह आदमी अंग्रेजी नहीं जानता। मुझे आश्चर्य है कि यह इतनी दूर कैसे चला आया।" इस अवसर पर मुंशीराम ने हिन्दी में कहना आरम्भ किया और मुझ से उसका अनुवाद साहब को सुनाने की प्रार्थना की—"महाशय मैं आर्य हूँ। मैं पंजाब से आया हूँ। मेरा उद्देश्य आर्यधर्म को फैलाना है। मैं इस देश में रुपया कमा कर गुरुकुल भेजना चाहता हूँ।"

मि० जेम्स आर्य धर्म और गुरुकुल के विषय में कुछ अधिक न समझ सका, पर उसने मुझ से कहा कि जब तक मुंशीराम थोड़ी अंग्रेजी न सीख लेगा तब तक अमरीका में काम चलना कठिन है। साथ ही उसने मुंशीराम को अपने बाग का रखवाला रख लिया और उसके बदले में रोटी कपड़ा देना नियत किया। मुंशीराम इस पर राजी हो गया और उसी समय काम आरम्भ करने के लिए आज्ञा मांगने लगा। मि० जेम्स ने इतनी यात्रा के पीछे एक दो दिन का विश्राम लेने के लिये कहा, पर उसने कहा कि विश्राम की मुझे जरूरत नहीं, मुझे अभी काम चाहिये।

मि० जेम्स को कचहरी जाने की जल्दी थी और उसने यह बात दूसरे दिन के लिये छोड़ दी। मुंशीराम निराश हो गया और उसने कहा कि यदि मुझे कल काम न मिल जायेगा तो मैं कहीं और चला जाऊँगा। वह भिखारी नहीं था, किसी का भार नहीं बनना चाहता था। मि० जेम्स के घर कुछ न कर के रहने की अपेक्षा जंगल में सो रहना पसन्द करता था।

इस बात से मुझे चिन्ता लग गई और मैंने उसे बतला दिया कि यह भारतवर्ष नहीं है, जहाँ जंगल में रह सकें और यदि यहाँ ऐसा करोगे तो या जेल का द्वार देखना पड़ेगा, अन्यथा आवारागर्दी में पकड़ कर देश से बाहर कर दिये जाओगे। पर उस का निश्चय इतना दृढ़ था कि वह किसी की युक्ति या भिड़ंत की परवाह न करता था।

इस अवसर पर श्रीमती जेम्स कमरे में आ गई और वह मुंशीराम से बातें करने लगीं। मुंशीराम हिन्दी बोलता था जिसे श्रीमती जेम्स न समझ सकती थी। पर वह धीरतापूर्वक गुरुकुल और आर्यसमाज का वर्णन सुनती रहीं। मुंशीराम को ये ही बातें प्यारी थीं। श्रीमती जेम्स बोस्टन की शिक्षित महिला थीं और हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के उपाध्याय जेम्स की पुत्री थीं जिसकी मनोविज्ञान की पुस्तक से भारतवासी विद्यार्थी परिचित हैं। वह स्वयं भी कवि और नाटककार थीं और उन्होंने नृत्य, गायन और अभिनय की पेरिस में विशेष शिक्षा पाई थी। बाद में वह महिला मुंशीराम का खूब ध्यान से अनुशीलन किया करती थीं। जब कभी समय मिलता था वह मुंशीराम से गुरुकुल और आर्यसमाज के विषय में बातें किया करती थीं और भाषा के बिना केवल इशारों से कितना समझा जा सकता है, यह देखा करती थीं।

अन्त में वह इस परिणाम पर पहुँची कि मुंशीराम की आत्मा ऊँचे विचारों से पूर्ण है और उसके हृदय में गुरुकुल के लिये जोश भर रहा है। मुंशीराम के इस जोश ने श्रीमती जेम्स पर भी असर किया और एक बार उसने अपने पति से भारतवर्ष चल कर गुरुकुल देखने का प्रस्ताव किया, जिसका नाममात्र एक समझदार पुरुष के हृदय को उत्साह से उल्लसित कर देता है। उन्होंने स्वयं मुंशीराम को अंग्रेजी सिखाने की चेष्टा की, पर मुंशीराम अमरीका अंग्रेजी सीखने नहीं आया था। दो चार शब्द और वाक्य सीखने से अधिक उसने कोई उन्नति न की।

इस प्रशंसागत बात को छोड़कर पहले दिन पर आइये। दूसरे दिन काम मिलने की प्रतिज्ञा मात्र से मुंशीराम संतुष्ट न हुआ। वह देरी को सर्वथा सहन न कर सका था। मुंशीराम ने मि० जेम्स के आने से पहले श्रीमती जेम्स से कुछ काम मांगा। उन्होंने गुलाब पर से मक्खियों को दूर करने के लिये राख छिड़कने का काम दे दिया। मुंशीराम ने वह काम दो घंटों में कर डाला और फिर और काम मांगा। उसने बाग में पानी देने का काम दिया और उसे भी उसने सूर्यास्त से पहले पूरा कर दिया।

श्रीमती जेम्स ने अपने पति से मुंशीराम की प्रशंसा की और उसका परिणाम यह हुआ कि मि० जेम्स ने मुंशीराम को अपने बाग का अध्यक्ष बना दिया और उसे सब बातें बता दीं। मुंशीराम ने दो दिन काम करके कह दिया कि काम पर्याप्त नहीं है। मि० जेम्स मुंशीराम के काम से इतना प्रसन्न था कि वह उसे और कठिन काम नहीं देना चाहता था। पर मुंशीराम अधीर था, इसलिये श्रीमती जेम्स ने चूल्हे के लिये लकड़ी काटने का काम दिया। मुंशीराम ने एक ही दिन में टाल खड़ा कर दिया और फिर काम मांगा। अन्त में मि० जेम्स ने उसे तपाने का काम दिया। मुंशीराम को चार बजे बायलर तपाना पड़ता था और घर के लोगों के उठने से पहले भाप से सब कमरे गर्म करने पड़ते थे।

इस काम से मुंशीराम संतुष्ट हो गया। सभी लोग मुंशीराम के काम से प्रसन्न थे। वे कहा करते थे कि हम भारतवासियों को विचारक ही समझते थे, पर मुशीराम ने सिद्ध कर दिया है कि वह अमरीकावासी की तरह काम कर सकता है और भारतवासी की तरह बोल सकता है।

उसे वहीं छोड़ कर मैं कारवालिस के कालिज में चला गया। कुछ दिनों के पीछे मुंशीराम ने मुझे लिखा कि मैं सियेटल से चला जाऊँगा, क्योंकि मैं भी अमरीका-वासियों की तरह कठिन काम कर सकता हूँ और प्रतिदिन कम से कम ६ रुपये कमाना चाहता हूँ। मुंशीराम विचार करते ही काम कर डालता था। शीघ्र ही वह कारवालिस चला आया और उसी समय काम मांगने लगा। उन दिनों काम बड़ा मद्धम था, काम ढूंढने में दो दिन लग गये। फिर उसने जगल में जाकर वृक्ष के नीचे सो रहने का प्रस्ताव किया। पर शीघ्र ही एक खेत में उसे साढ़े चार रुपये रोज पर काम मिल गया। मुंशीराम पूरे ६ रुपये कामना चाहता था। वह इससे भी सन्तुष्ट न हुआ और इस काम को छोड़ कर जाने की सोचने लगा।

इसी बीच में उसे अपने एक पंजाबी मित्र की चिट्ठी आई, जिसमें लिखा था कि टेनियर लम्बर फैक्टरी में काम मिल सकता है। मुंशीराम कारवालिस छोड़कर अपने मित्र के पास चला गया। वहाँ साड़े सात रुपये रोज पर काम मिल गया और मुंशीराम इस काम से सन्तुष्ट हो गया।

यहाँ उसने एक घर किराये पर ले लिया और भारतीय आश्रम स्थापित किया। हिन्दू, मुसलमान, पंजाबी, हिन्दुस्तानी, बंगाली चाहे कोई भी हो, पर हो भारतवासी, उसके लिये इस आश्रम का द्वार सदा खुला रहता था। हाँ, उन्हें मुंशीराम का सर्मन सुनने का धैर्य जरूर सीखना पड़ता था। वह प्रत्येक दर्शक को गुरुकुल का महत्त्व समझाया करता था और जब तक किसी तरह गुरुकुल की सहायता करने की प्रतिज्ञा न ले लेता था तब तक पीछा न छोड़ता था। उसका घर निर्धनों, बेकारों और रोगियों का आश्रम बन गया था। उसका हृदय प्रेम से और सहानुभूति से इतना भरपूर था कि जिसने उससे सहायता माँगी वह खाली न गया। जो लोग

गुरुकुल के काम को अधिक महत्त्व न देते थे, वे भी मुंशीराम की ईमानदारी, उत्साह और उदारता की प्रशंसा किया करते थे। उसकी अपनी आवश्यकताएं बहुत थोड़ी थीं। निरामिष-भोजी होने के कारण वह रोटी और मक्खन से ही गुजारा किया करता था। अपनी शेष कमाई को निर्धन भारतवासी विद्यार्थियों के लिये व्यय करता था।

वह जिस किसी को भी रुपया उधार देता था, उससे प्रतिज्ञा करवा लिया करता था कि यह रुपया उधार लेने वाले की सुविधा के अनुसार गुरुकुल में पहुँच जायेगा।

अमरीका से लौटने से पहले मैं रेनियर में मुंशीराम से मिला और भारतवर्ष में वापिस आने के विषय में पूछा। उसने उत्तर में कहा—"यह शरीर अब भारतवर्ष न लौटेगा। मुझे खींचने वाली चीज केवल गुरुकुल है। मैं स्वयं गुरुकुल की सेवा करने के अयोग्य हूँ, इसलिये अपनी आय और सेवा करने के योग्य कुछ लोगों को गुरुकुल भेजने का प्रयत्न करूंगा। मैं अब मृत्यु की तैयारी कर रहा हूँ। फिर जन्म लेकर भारतवर्ष की सेवा करूंगा। जितना ही मैं अमरीका को अधिक देखता हूँ उतना ही मेरी आत्मा इस शरीर के उड़कर और फिर नया जन्म लेकर, अमरीका की खुशहाली को भारतवर्ष में फैला देने के लिए व्यग्र हो रही है। मुझे विश्वास है कि दो तीन ही साल में मैं फिर जन्म लूंगा और अधिक योग्यता से अमरीका से सीखी बातों को कार्य में परिणत कर सकूंगा। पर जब तक जीऊँगा, गुरुकुल की सफलता की प्रार्थना करूंगा। मेरी इच्छा है कि किसी दिन ब्रह्मचारियों का एक दल अमरीका आवे, यहाँ के लोगों को वैदिक शिक्षा देकर और अमरीका से विज्ञान ले जाकर स्वामी दयानन्द के उद्देश्य को पूरा करे।"

मुंशीराम अपने वचन पर पक्का रहा। जब तक वह अमरीका में रहा तब तक भारतवासियों और अमरीका-वासियों में गुरुकुल का प्रचार करता रहा। वह अपने मित्रों से सदा कहा करता था कि मेरा दिया हुआ सब उधार गुरुकुल में पहुँच जाना चाहिए। दो वर्ष के पीछे तपेदिक से मुंशीराम का देहान्त हो गया। डॉक्टरों ने इसका कारण निर्बलता और उसके मित्रों ने दो वर्ष बाद पुनर्जन्म लेने की भविष्यवाणी को बतलाया।

चाहे कुछ हो गुरुकुल देखने से पहले देश से बाहर मैंने मुंशीराम जैसा गुरुकुल का भक्त और उसका हितचिन्तक दूसरा आदमी नहीं पाया।

जब वह जीवित था तो गुरुकुल में उसे कोई नहीं जानता था और मृत्यु के बाद वे लोग भी उसे भूल गये हैं, जो अमरीका में उसे जानते थे। पर क्या यह कम बात है कि अब भी जब कभी अमरीका से लौटे हुए भारतवासियों में अमरीका की बात चलती है तो मुंशीराम और उसकी गुरुकुल के प्रति भक्ति के बिना वह पूरी नहीं समझी जाती।

मैंने सुना है कि जिन लोगों ने मुंशीराम से उधार लिया था वे वह रुपया किसी अपनी प्रिय संस्था को देना चाहते हैं। पर मेरी सम्मति में उस रुपये का अधिकारी केवल गुरुकुल ही है। इसी रीति से मुंशीराम की आत्मा संतुष्ट हो सकती है। इस धन के साथ कुछ और चन्दा इकट्ठा करके मुंशीराम की स्मृति में एक स्थिर छात्रवृत्ति निश्चित की जा सकती है।

मुंशीराम अब इस पृथ्वी पर नहीं है। जब तक वह जीवित रहा उसने कभी प्रशंसा पाने की चाह नहीं की, इसलिए उसकी स्मृति को स्थिर करने से हम अपनी ही प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं।

महात्मा मुंशीराम जी की अनुमति से ब्रह्मचारियों द्वारा भूत-बाधा-हरण

—डॉ० सुखदेव

दो सप्ताह हुये कि मुख्याधिष्ठाता जी ने स्वामी सदानन्द जी को आसपास के ग्रामों में प्रचारार्थ भेजा। प्रचार करते-करते वह कौलसी नामक ग्राम तक जा पहुँचे। वहाँ प्रचार किया। परन्तु वहाँ एक विचित्र घटना उनके सामने आई। लोगों से पता लगा कि उसी ग्राम में एक डोम के घर में प्रति दिन पत्थर पड़ते हैं और ऐसे हलके पड़ते हैं कि जैसे पास ही से किसी ने फेंक दिया हो। परन्तु उन में रहस्य की बात यह है कि वह पत्थर लगता किसी को नहीं था।

इस घटना की पहाड़ में स्वाभाविक चर्चा भी यही थी कि उस डोम के घर में भूत है या किसी ने जादू कर दिया है। इसीलिये इस बारे में किसी प्रकार की जांच-पड़ताल की उन लोगों ने आवश्यकता न समझी। साधु सदानन्द जी को भी कहा गया कि आप अपनी आँखों से देख लें। इस पर वह देखने के लिये गये। वे जैसे ही उनके घर पहुँचे कि पत्थर आने लगे। साधु जी हैरान की हो गये। वह घर के बाहर आये, इधर-उधर देखने लगे तो फिर पत्थर सामने। जब वे भी बड़े आश्चर्यचकित हुये, तब ग्राम वालों के अचम्भे की सीमा न रही। कहने लगे कि आप ही बतलाइये कि सिवाय भूतों के और कौन ऐसा चालाक है कि दिन दहाड़े सामने पत्थर फेंके, पर उसका पता न लगे और बराबर ३ माह से ऐसा कर रहा हो।

स्वामी जी ने यह सारी कथा गुरुकुल में आकर सुनाई और कहा कि कुछ पता नहीं चलता कि पत्थर कहाँ से आता है। अतएव अष्टमी के एक दिन पहले महाविद्यालय के कुछ ब्रह्मचारियों ने श्री मुख्याधिष्ठाता जी (महात्मा मुंशीराम जी) से आज्ञा चाही कि उन्हें उस ग्राम में जाने का अवकाश दिया जाये, वे भूत का पता निकाल लायेंगे। महात्मा जी ने १५ ब्रह्मचारियों के साथ मुझे उसी प्रातः यहाँ से रवाना कर दिया और एक भृत्य को भी हमारे साथ कर दिया। हम सब ८ या ९ बजे प्रातः वहाँ से रवाना हुये। गर्मी का कष्ट सहते हुये नंगे पाँव १२ बजे लालढांग पहुँच गये, वहां पहुँच कर वैदिक धर्म के उत्साही सेवक तथा गुरुकुल के प्रेमी महाशय गिरधारीलाल जी ने ब्रह्मचारियों के लिये भोजन तैयार कराया। भोजन के उपरान्त कौलसी ग्राम के रास्ते का पता लिया गया और पूछा गया कि कितनी दूर पर होगा तो एक पहाड़ी आदमी ने कहा कि कोई १२ मील है। इसलिये निश्चय हुआ कि चार बजे चल पड़ना चाहिये ताकि ८ या ९ बजे रात्रि को वहाँ पहुँचा

जा सके। अतः ४ बजे ठीक लालढांग से प्रस्थान किया गया। भिन्न-भिन्न विषयों पर वार्तालाप करते-करते रास्ता कटता जाता था। सात बजे लैम्प रोशन कर दिया गया। जब चौधरी धर्नसिंह जी से पूछा कि अब कितना मार्ग शेष रह गया तो उन्होंने उत्तर दिया कि अभी तो आधा मार्ग भी नहीं समाप्त हुआ। हमारी इस यात्रा का यह मार्ग विचित्र प्रकार का था। पानी की सुविधा की दृष्टि से यह मार्ग बहुत ही सुखप्रद था, क्योंकि सारे मार्ग में जल हमारे साथ ही साथ रहा। जब चाहते थे, पानी के दो घूंट ले लेते थे। परन्तु मार्ग की दृष्टि से यह एक कठोर मार्ग था, विशेष कर रात्रि हो जाने पर तो और भी कठिन हो गया, क्योंकि कहीं-कहीं तो मार्ग की लीक का पता भी नहीं चलता था। बड़े-बड़े पत्थरों में ठोकरें खानी पड़ती थीं। परन्तु इस पर बड़ी सुगमता मार्ग की यह थी कि यह मार्ग सारा पहाड़ी नाले के बीचों-बीच जाता था। अतः हमने नाले के दोनों ओर की पहाड़ी दिवारों को अपना पथदर्शक बनाया। यद्यपि एक लैम्प और एक छोटा सा बिजली (electric) लैम्प हमारे साथ था जो ठोकरों से बचने के लिये कहीं-कहीं उपयोग में लाते थे, परन्तु साधारण रीति से हमारी पथ-प्रदर्शक वह पहाड़ की दोनों ऊँची-ऊँची दीवारें थीं।

सारांश यह कि उस अंधेरी काली रात में हमारा यात्री-दल भजन गाता, वेद-मन्त्रों का उच्चारण करता और श्लोकों का गान करता हंसते-खेलते हुये ठीक एक खुले मैदान में पहुँचा, जहाँ छोटी सी पंचकी का छप्पर था, परन्तु वहाँ मनुष्य-प्राणी का नाम तक न था। हाँ इस तिमिरमय रात्रि के समय ऊपर आसमानी छत के तले तारा-गण और नीचे स्वच्छ जुगनुओं की जगमगाहट ने उस मैदान में विशेष आकर्षण शक्ति उत्पन्न कर दी थी। हमारा सारा मण्डल उस भूमि से प्रभावित हुये बिना न रह सका। सबने एक स्वर से कहा कि भाई अब अपनी रात्रि को इस सौन्दर्यपूर्ण पृथ्वी तल के अर्पण करो। यद्यपि किसी कदर मच्छरों का भय था, किन्तु कुछ कदम आगे बढ़ कर हमारी मण्डली ने डेरे डाल दिये और संध्या से निवृत्त हो सोने का प्रबन्ध किया। जंगली जानवरों से रक्षा के लिये दो-दो का पहरा एक-एक घंटे के लिये लगा दिया। सर्दी की यह दशा थी कि थके-मांदों को भी चैन न लेने देती थी। अंत में बहुत सी लकड़ियाँ सुलगाई गईं और सबके सब उस अग्नि के चारों ओर तारों की छाया में सो गये और पहरेदार बारी-बारी से पहरा देने लगे। इस सुनसान पहाड़ी जंगल में यदि कोई शब्द कान में पड़ते थे तो भौंरों और अन्य पक्षी-गण की मीठी ध्वनि थी जो एक प्रकार से कह रही थी कि थके-मांदे यात्रियों सो और आनन्द से सो। सवेरे ४ बजे से ब्रह्मचारी उठने आरम्भ हुये। शौचादि से निवृत्त हो अपनी शेष यात्रा के लिये तैयार हुये। ठीक पाँच बजे प्रातः फिर यात्रा आरम्भ हुई। ताजादम ब्रह्मचारी किन्तु निराहार दिल। नाना प्रकार के पहाड़ी दृश्यों से दिल बहलाते जाते थे और ठंडे-ठंडे समय अपनी यात्रा को काटते थे। कुछ देर बाद उस स्थान पर पहुँचे जहाँ पर अपनी शान्तिदायक शीतल

जल धारा को विदा करना पड़ा। इस समय ६ बज गये थे। विचार यह हुआ कि विदा करने के पूर्व इस धारा में स्नान कर अपनी थकावट को अवश्य मिटा लेना चाहिये। अतः वृक्ष की छाया में बैठ कर विश्राम के उपरान्त स्नान किया और सन्ध्या से निवृत्त हो चलना आरम्भ किया। अब आगे का मार्ग किसी कदर विकट था, क्योंकि एक तो चढ़ाई थी और दूसरे इन्द्र देवता भी अपने किरण रूपी बाणों को तीक्ष्ण कर रहे थे, इस पर भी पानी का अभाव। यह अन्त का चार मील का दोपहर का सफर क्या था, मानों ब्रह्मचारियों के साहस की परीक्षा थी। क्योंकि ब्रह्मचारियों ने पहले दिन केवल एक बार ही लालढांग में भोजन किया था, रात फाकामस्ती में काटी थी, फिर २२ मील से सफर भी कम न था। अब जब कि केवल दो मील शेष रह गये, भूख-प्यास दोनों ने सताना आरम्भ कर दिया। इतने में मार्ग में एक जंगली पौधा दीख पड़ा, जहाँ पर एक पहाड़ी उसके फल तोड़-तोड़ कर खा रहा था। उससे पूछा गया कि इस फल का नाम क्या है ? उसने उत्तर दिया कि इसे "हिस्सी" कहते हैं। ब्रह्मचारी उस बूटे पर टूट पड़े। परन्तु उससे मन को शान्ति क्यों कर हो सकती थी, क्योंकि इस पेड़ पर फलों की अपेक्षा काँटे दार झाड़ियाँ अधिक थीं। एक फल के तोड़ने में कई काँटों से हाथ को परोना पड़ता था। यद्यपि यह फल स्वादु था, पर बहुत छोटा ओर थोड़ी मात्रा में मिलता था। उसमें मिष्ठान्न तथा फल का भाग इतना होता था कि मुश्किल से गले तक पहुँचता था। लालसा ही लालसा शेष रह जाती थी। अंत में उस पेड़ को नमस्कार कर अपना मार्ग लिया और साढ़े ग्यारह बजे धनसिंह जी के ग्राम कांढी में पहुँचे, जो कौलसी के पार्श्व में कोई आधा मील पश्चिम की ओर है। चौधरी धनसिंह जी ने एक पृथक् छप्पर में ठहराया। ग्राम में न तो दूध इस समय मिल सकता था ओर न खाने को कोई ऐसी वस्तु मिल सकती थी कि जिससे ब्रह्मचारी अपनी दग्ध करने वाली तत्कालिक क्षुधा को शान्त कर सकते। न कोई दुकान थी, जहाँ ये कुछ खरीद कर खा सकते। अंत में दो गुड़ की बड़ी भेलियाँ मंगाई गईं। आनकी आन ब्रह्मचारियों ने इन भेलियों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और ढाक के पत्तों के कटोरे बना कर उसमें गुड़ डाल दिया, थोड़ा-थोड़ा पानी डालते जाते थे और गुड़ को भिगो पीते जाते थे। जो शेष बचा उसको वैसे चबा गये। उसके बाद महाशय धनसिंह जी ने रसद हमारे रसोइये के आधीन की। वह भोजन बनाने में लग गया और ब्रह्मचारी विश्राम करने लगे। चार-पाँच विद्यार्थियों के हृदय में उमंग उठी कि जब तक भोजन तैयार होता है चलो तब तक पत्थर पड़ते देखें, क्योंकि बताया गया था कि दुपहर को पत्थर पर पत्थर पड़ते हैं। भला उनमें धैर्य कहाँ। मैं तो पीछे रह गया। वे महाशय धनसिंह और दो एक और ग्रामीणों को साथ लेकर उस व्यक्ति के घर पहुंचे, जहाँ पत्थर पड़ते थे। अभी पत्थरों के विषय में पूछ ही रहे थे कि फूटी दीवार के पीछे से एक पत्थर ब्रह्मचारियों के सामने आ पड़ा, जिसे एक ब्रह्मचारी ने तत्काल देख लिया और झट पत्थर फेंकने वाले भूत को पकड़

लिया। वह भूत उस घर वाले की स्त्री थी, जिसने फूटी दीवार के पीछे से मौका पाकर दीवार से पत्थर उठा चालाकी से फेंक दिया था। झट दीवार के पीछे से हट सामने आकर कहने लगी कि देखो यह पत्थर था। ब्रह्मचारी ने कहा यह तो तुमने फेंका है। अभी तुम वहाँ से आई हो? पत्थर भी उसी काली दीवार का है जहाँ तुम खड़ी थीं। इस पर वह मुस्कराती हुई अपने घर के भीतर चली गई और उसके सारे घर वालों ने कहा कि अभी फिर पड़ेगा। हम ने भी कहा, देखना चाहिये। उस स्त्री पर विशेषकर अन्य घर के आदमियों पर साधारणतया पहरा लगा दिया गया। घण्टे भर तक कोई भी पत्थर न पड़ा तो घर के आदमी ने कहा कि जब-जब यह स्त्री पानी भरने जाती है तो उस पर पत्थर पड़ते हैं और जब-जब यह घर में होती है तो भी पत्थर पड़ते हैं, अन्यथा नहीं। हमने कहा कि जब पानी भरने जाये तो हम साथ जायेंगे। वह उसी समय पानी भरने चली तब दो आदमी हमारे और एक महाशय धनसिंह जी उसके संग गये। आधे घंटे तक वह बहुतेरे बहाने ढूंढती रही, पर पत्थर उठाने और फेंकने का उसे अवसर न मिला। पानी भर कर जब वह वापस आई तब पूछा गया कि क्यों भूत ने पत्थर फेंका तो खिलखिला कर हँसने लगी। तब २ बजे उसके पति ने कहा कि अब भूत का समय ढल गया है, चार बजे के लगभग फिर पत्थर पड़ेंगे और टोंकरियों पड़ेगें। तब ब्रह्मचारी गरम भोजन के लिये अपने ठिकाने पर चले गये।

इस सफलता पर वहाँ खूब चर्चा चली। ग्रामवासी भी इकट्ठे होने लग गये और भूत-प्रेतों के अतिरिक्त आर्यसमांज के दूसरे सिद्धान्तों पर कुछ बातचीत हुई। एक ब्राह्मण महाशय भी आ गये तो क्षत्रियों ने कहा कि यह ब्राह्मण होकर मांस-शराब का सेवन करते हैं। इस पर ब्रह्मचारियों ने उन्हें ऐसा न करने के विधान में शास्त्रों से प्रमाण दिये। सब ने स्वीकार किया कि निःसन्देह मांस का सेवन पाप है और वेद शास्त्र के विरुद्ध है। भूतों के सम्बन्ध में एक बात और उन ग्रामीणों ने बड़े मजे की कही। वह यह है कि जब दिल्ली में बम्ब फूटा था तो आधा किसी पहाड़ के किसी ग्राम में आकर पड़ा था और उसका सबूत यह दिया कि अमुक स्थान पर शीशे के टुकड़े पाये गये। ऐसी कई विचित्र-विचित्र बातें करते रहे। इस प्रकार मनोरंजन के लिये ग्रामीणों के वार्तालाप से पर्याप्त सामग्री मिल गई। इतने में भोजन भी तैयार हो गया। इस समय के भोजन में पुराने कद्दू का शाक तथा उर्द साबित थे, साथ में थोड़ा-थोड़ा गुड़ भी था। इतने श्रम तथा भूख के बाद पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि इस समय से छात्रों को कितना आनन्द आया होगा। एक ब्रह्मचारी के मुख से अकस्मात् यह शब्द निकल पड़े : "सांसारिक पदार्थों के भोग का आनन्द भी श्रमी पुरुष के लिये है अभागा श्रमहीन मनुष्य थाल में परोसे ३६ पदार्थों को भी केवल देखने मात्र का पात्र है"। इधर खाने-पीने से छुटकारा पाया, उधर ४ बजने का समय आ गया। सब ब्रह्मचारियों ने भूत के घर में धावा किया और जाते ही उस घर की तलाशी ली। एक कोठरी

के एक ओर छोटे-छोटे पत्थरों का ढेर पाया गया, उसको अपने कब्जे में रखा और आस-पास पत्थरों को इकठ्ठा करके दूर फेंक दिया। फिर ऐसे मोर्चा जमाया कि कोई भी प्राणी अन्दर या बाहर का निगाह से न चूके। ६ बजे रात तक बराबर यह कड़ा पहरा पहरा जारी रहा। अंधेरी रात होते हुये भी जहाँ टोकरों पत्थरों के बरसने का दावा किया जाता था, एक कंकड़ तक भी न गिर सका। अंत में घर वाले ने स्वयं कह दिया कि अब पत्थरों के बरसने का समय व्यतीत हो गया है और उसने हाथ जोड़ कर हम सब का धन्यवाद किया। मैंने उसे बताया कि इन पत्थरों के बरसाने वाला भूत कोई बाहर का नहीं, वरन् वह तुम्हारे घर में रहता है और वह भूत नहीं भूतनी है। वह तुम्हारी अपनी छोटी स्त्री है (उसके दो स्त्री थीं)। वह बोला कि महाराज मैं ३ माह से तंग आ गया हूँ और २५ रुपये के लगभग खर्च भी कर चुका हूँ, परन्तु मेरे घर से भूत नहीं जा सका। आप लोगों ने महती कृपा की कि मुझे इसका भेद बताया और अब मैं ऐसी को घर में रखकर क्या करूँ ?" मैंने उसे समझाया कि "अब की इसको क्षमा कर दो और आगे शायद यह ऐसा न करेगी।" उसने कहा—"एक मास तक और देखूँगा, यदि फिर भी इसने कोई उपद्रव मचाया तो लाचार हो निकालना ही पड़ेगा।" वह बिचारा दो बकरियों का बलिदान भी दे चुका था।

इधर-उधर के पोप भी बहुतेरा उसे चूस चुके थे। जब तक पहरा रहा तब तक भिन्न-भिन्न प्रकार की किम्वदन्तियाँ ग्रामीण लोगों में होती रहीं—कोई कहता था न जाने अब भूत कहाँ चला गया, कोई कहता था कि अरे आर्यों नें मन्त्र मार दिया। भूत तो जरूर था, तीन मास से पत्थर पड़ रहे हें और स्वामी खुद देख गया है। कोई कहता था कि आर्यों ने जादू कर दिया। अरे आर्य सारे पहाड़ को झूठा बना चले। ब्रह्मचारी ऐसे मनुष्यों की मूर्खता पर बड़े आश्चर्ययुक्त होते थे और क्योंकि इस प्रकार के भ्रम को देखने का उनके लिये पहला अवसर था। परन्तु उन लोगों में जो बुद्धिमान् थे वे बात की गात में पहुंच गये और हमसे बार-बार आग्रह करते थे कि यहाँ अवश्य आर्यसमाज का प्रचार किया जाये और पहाड़ी लोगों के भ्रममूलक विश्वासों का विध्वंस किया जाये। विशेष कर संस्कृत की पाठशालाएँ खोलने पर बहुत जोर देते थे।

इस प्रकार भूत-बाधा को हरने के बाद सब १० बजे डेरे पर पहुँचे और उस समय गुड़ के मीठे चावल खाकर सब सो गये। दूसरे दिन साढ़े चार बजे प्रातः निद्रा देवी की गोद से उठ कर प्रस्थान का विचार किया और महाशय धनसिंह जी को जगाया कि वह हम को सीधे मार्ग पर डाल आवें। थोड़ी दूर तक धनसिंह जी हमारे संग चले और सड़क पर पहुंच कर विदाई नमस्ते हुई। हम सबने उस अतिथि सेवा का—जो महाश्य धनसिंह जी ने की—धन्यवाद दिया। उन्होंने भी प्रेम भरे और सज्जनता के शब्दों में आभार व्यक्त किया। ●

पत्राचार

महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के पत्र

महापुरुषों के व्याख्यानों, उपदेशों एवं लेखों का अपना महत्त्व होता है, पर उनमें उनके हृदय के भाव उतने स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित नहीं होते हैं, जितने उनके द्वारा अपने निकट सम्बन्धियों, मित्रों एवं सहयोगियों को लिखे गये पत्रों में। उनके पत्रों में सरलता एवं स्वाभाविकता होती है। उनमें कृत्रिमता लेशमात्र भी नहीं होती है। यही कारण है कि उनके जीवन की यथार्थता एवं उनके आदर्शों को सम्यक् रूप से समझने के लिये इन पत्रों का ही सहारा लेना पड़ता है।

यहाँ हम महात्मा मुंशीराम जी (स्वामी श्रद्धानन्द जी) द्वारा विभिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में और भिन्न-भिन्न अवसरों पर लिखे गये कतिपय महत्त्वपूर्ण पत्र या उनके कुछ अंश उद्धृत कर रहे है, जिनमें त्याग, तप, सत्यनिष्ठा, सदाशयता आदि चरित्रगत गुणों तथा सामाजिक एवं राजनैतिक विचारधारा की एक झलक देखने को मिलती है।

कनिष्ठ पुत्र इन्द्र के नाम

महात्मा मुंशीराम जी को अपने कनिष्ठ पुत्र श्री इन्द्र के प्रति विशेष स्नेह था और उनका पत्राचार भी प्रायः उन्हीं से चलता था। उनके ये पत्र मात्र औपचारिक कुशल-क्षेम तक ही सीमित नहीं होते थे, वरन् इनमें वे अपने हृदय के भावों को पूरी तरह खोलकर रख दिया करते थे। यदि उन्हें अपने बड़े पुत्र श्री हरिश्चन्द्र या किसी अन्य परिवारजन के बारे में भी कुछ कहना होता था तो वे प्रायः इन्द्र जी को ही लिखते थे। इसी तरह के कुछ पत्र नीचे प्रस्तुत हैं।

(१)

ओ३म्

गुरुकुल
२१. १२. ६१ (विक्रमी)

मेरे प्यारे पुत्र,

तुम्हारे पत्र का उत्तर कार्य बाहुल्य के कारण नहीं लिख सका। मेरा स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था, किन्तु अब अच्छा हो रहा हूँ।

तुम्हारे दूर होने से मुझे पता लगता है कि तुम्हारी मुझे कितनी आवश्यकता है। तुम जैसे बिना कहे मेरे हृदय के भाव को समझते हो और कोई नहीं समझता। हरि मुझे बहुत प्यारा है। उसके अन्दर प्रेम का समुद्र भी चलता है, किन्तु फिर भी तुम्हारा साथ रहना मेरे लिये कैसा सन्तोषजनक हो सकता है, यह मैं ही जानता हूँ।

तुम्हारा पत्र आने पर फिर लिखूंगा।

मुंशीराम

(२)

ओ३म्

आ० स० मन्दिर क्वेटा
१२ श्रावण १९७१

मेरे प्यारे इन्द्र,

तुम्हारा पत्र पहुँचा। यहाँ ५ दिनों की झड़ी आज प्रातः खुली है। तुम्हारे स्वास्थ्य की मुझे चिन्ता रहती है, क्योंकि मेरी आशाओं की पूर्ति के केन्द्र एकमात्र तुम्हीं हो।

मैं हरिश्चन्द्र को सीधा नहीं लिखता, क्योंकि सम्भव है उसे मेरा लिखना बहुत चुभे। परमेश्वर ने उसे वह वक्तृत्वशक्ति दी है, जो शायद किसी के भी हिस्से में न आयी हो। संस्कृत का सरल व्याख्यान देकर उसने बूढ़ों तक के हाथों में संस्कृत प्रवेशिका पकड़ा दी थी। आर्यसमाज ने भी उस पर वह विश्वास किया कि अन्तरंग सभा में स्थान दिया। परन्तु उसे अब न संस्कृत में प्रेम, न अध्ययन में अनुराग और न ही जम कर काम करने में दिल लगता है। मेरी सम्मति में न मैं न तुम ऐसी सरल सुन्दर आर्यभाषा लिख सकते हैं, जैसा हरीश लिख सकता है। फिर भी सारी शक्तियाँ व्यर्थ नष्ट हो रही हैं।

यह सब विचार तुम हरिश्चन्द्र के आगे उपस्थित करके यहाँ चले आओ। फिर जब यहाँ से लौटेंगे तो शिमले के स्थान पर एक दिन हरीश के पास चल कर ही सब तय कर लेंगे।

मुंशीराम

(३)

दिल्ली, ८ जनवरी

प्रिय पुत्र इन्द्र,

कल सार्वदेशिक सभा का काम-काज खुल गया। पुस्तकालय के लिये उसी समय रु० २५० जमा हो गया और भी होगा। कुछ उत्तम पुस्तकें भी दान में मिली। श्री स्वामी अच्युतानन्द जी नित्य रात को वेदों की कथा करते हैं, जिसमें ६०वा ७० नरनारी की उपस्थिति होती है। माई देवकी ने यह स्थान अपने पति ज्योतिप्रसाद खिलौने वाले की यादगार में खोला है। यह सब कुछ प्रचारक (सद्धर्म प्रचारक) में दे देना।

२. श्री राम ठाकुरदत्त जी को सख्त निमोनिया हो गया है। परमात्मा उनको निरोग करे।

३. हरिश्चन्द्र को कह दो कि इस पत्र के पहुँचते ही ला० टेकचन्द्र जी को पत्र लिख देवें कि हम सब २ व ३ फरवरी को कलकत्ते पहुँच सकते हैं। यही निश्चय करके वह मेरे नाम पत्र लुधियाने लाला धनीराम बी. ए., एल. एल. बी. वकील द्वारा भेज दें।

४. मैं कल थानेसर रहूंगा। १० जनवरी को साढ़े तीन बजे दिन के लुधियाने पहुँचूंगा। अपने चलने के व्यौरे से लुधियाने धनीराम जी द्वारा सूचना देना।

मुंशीराम

(४)

इण्डियन प्रेस कैम्प
पो० कोरोनेशन दर्बार
११ दिसम्बर १९११

प्रिय पुत्र इन्द्र, नमस्ते।

इसके साथ एक कूपन भेजता हूं। पन्द्रह आने वसूल हो गए। पिछले सब अंक इनको भेज देना।

२. मालूम होता है कि मेरे पत्र शीघ्र नहीं पहुंचते। अस्तु।

३. तुमने दैनिक पत्रों में पढ़ लिया होगा कि महाराणा उदयपुर को महाराज जॉर्ज ने अपने स्टाफ पर लेकर इण्डियन चीफ इन वेटिंग बना लिया है। अर्थात् दरबार के समय इन्डियन चीफ में से वह सर्वोपरि होंगे। जैसे लार्ड क्रयू मिनिस्टर इन वेटिंग हैं। एक और बात लिखना भूल गया था कि महाराणा उदयपुर उतरते ही सम्राट् को मिले किन्तु प्रोसेसन में महाराज की आज्ञा से ही नहीं सम्मिलित हुए। अर्थात् दिल्ली शहर में न जाने की उनकी प्रतिज्ञा भंग नहीं हुई। महाराज जॉर्ज से बड़े छोटे सब प्रसन्न प्रतीत होते हैं।

४. कल की घोषणाओं के विषय में बहुत किंवदन्तियाँ फैली हैं। वंग-विच्छेद में संशोधन तथा दिल्ली को राजधानी बनाना उनमें से एक है। मेरा पत्र पहुँचने पर ही तुम्हें तार द्वारा सब कुछ ज्ञात हो जायेगा।

५. मैं १३ दिसम्बर की रात को अवश्य चल दूंगा और १४ दिसम्बर को प्रातः पहुँच जाऊँगा।

मुंशीराम

(५)

इन्डियन प्रेस कैम्प,
पो० कोरोनेशन दर्बार
६ दिसम्बर १९११

प्रिय पुत्र इन्द्र,

अखबारे आम का सम्पादक पं० हरिकृष्ण मिला। प्रचारक (सद्धर्मप्रचारक) के परिवर्तन के लिये बड़ी मिन्नतें करता है। यह पत्र लिखकर कि सम्पादक हरिकृष्ण की इच्छानुसार परिवर्तन किया जाता है, प्रचारक उनके नाम भेजना आरम्भ कर दो तो अच्छा होगा। अब वह अंकुश में भी रहना स्वीकार करता है।

……पंजाब के लाट के कैम्प जलने का हाल पढ़ चुके होंगे। रात आतिश-

बाजी भी इकट्ठी ही जल गई। इस बात को दबाया जा रहा है। अभी लिखना नहीं।

आर्यवर्तीय सार्वदेशिक सभा के नाम एक विधवा ने १५,००० की जायदाद की रजिस्ट्री कर दी है। उसमें उपदेशक पाठशाला खुल सकती है।

—मुंशीराम

(६)

ओ३म्

गुरुकुल वाटिका
३०. ४. १९७३ विक्रमी

मेरे प्यारे पुत्र,

लेख में क्या लाऊँ? पुत्री विद्या की चिन्ता रही, परन्तु परमात्मा दृढ़ता दे रहा है। विद्या को कहना कि मुझे अपने व्रत पालन में सहायता देने के लिये आत्मबल लगाये।

कल यदि तुम लोग तांगे पर ४ बजे ही चल दो—सुखदेव और सुभद्रा देवी साथ हों—यहाँ ५॥ बजे पहुँच सकोगे। संस्कार आरम्भ होने से पहले आध घण्टे में सब कुछ कह सकूंगा। परमात्मा सारे परिवार की रक्षा करेंगे और सन्मार्ग पर चलायेंगे—यह मुझे विश्वास है।

तुम मेरे ज्येष्ठ शिष्य हो, क्योंकि सबसे ज्येष्ठ शिष्य इस समय प्रवासी है। वह जब आयेगा तो कुल के लिये यश दिलाता हुआ आयेगा। परन्तु इस समय मेरे सब शिष्यों (स्नातकों तथा ब्रह्मचारियों) के ज्येष्ठ भ्राता तुम ही हो। उन सबको बल देने का भार तुम पर ही है। परमात्मा तुमको इस बोझ के उठाने के लिये बल देंगे।

तुम्हारा मंगलाभिलाषी
मुंशीराम

[उपर्युक्त पत्र महात्मा जी ने संन्यासाश्रम में प्रवेश करने से एक दिन पूर्व लिखा था।]

(७)

ओ३म्

लुधियाना
६. ३. १९७४ वि०

मेरे प्यारे इन्द्र,

मेरे सबसे अधिक आज्ञापालक शिष्य तुम रहे हो। इसलिये तुम्हारे साथ प्रेम का अटूट सम्बन्ध है।

उर्दू में जो अपने जीवन-सम्बन्धी लेख था, उससे आगे चलकर उस समय तक पहुँचाने का विचार हुआ था, जब से मैंने आप बीती, जग बीती आरम्भ की

थी। परन्तु अब यह मिथ्याभिमान मात्र प्रतीत हुआ। इसलिये न केवल कुछ लिखा हुआ ही फाड़ दिया प्रत्युत उस सम्बन्ध की फाइल भी जला दी। अब व्यक्तिगत वार्ताओं को छोड़कर जन-कल्याण का कुछ कार्य करना चाहिये। मैं आशा करता हूँ कि मेरे इस कार्य से तुम सहमत होंगे।

धर्मसिंह बड़े प्रेम से सेवा करता है। उपनिषदों का विचार आरम्भ कर दिया है।

सुखदेव को हार्दिक आर्शीर्वाद। कुल के सारे पुत्रों का स्मरण ईश्वरोपासना के पश्चात् किया करता हूँ। परमेश्वर उन सबको निज व्रत में दृढ़ रखें—यह प्रार्थना रहती है।

परमेश्वर तुम्हें तथा तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राता को गृहस्थ के आदर्श पर चलने में सहायता दें—यह मेरी मंगलकामना है।

तुम्हारा मंगलाभिलाषी
श्रद्धानन्द संन्यासी

स्वामी श्रद्धानन्द जी की यह स्पष्ट मान्यता थी कि "सारी बड़ी-बड़ी संस्थायें और विश्वविद्यालय अपने स्नातकों के कन्धों पर ही चलते हैं। किसी भी विद्यालय से जितना प्रेम उसके स्नातकों, वहाँ पढ़े हुये छात्रों को होता है, उतना और किसी को नहीं हो सकता। गुरुकुल का भार भी अन्त को गुरुकुल के स्नातकों पर ही पड़ना चाहिये। वे ही उसके उद्देश्यों को, आवश्यकताओं को और मर्मों को जान सकते हैं।"* इसीलिये उनकी हार्दिक इच्छा थी कि उनके बाद गुरुकुल का कार्यभार इन्द्र जी ही संभालें। पर वे यह भी मानते थे कि गुरुकुल का अधिकारी केवल वही व्यक्ति हो सकता है जो समस्त सांसारिक सुखों को त्याग कर निःस्वार्थ एवं समर्पण की भावना से गुरुकुल की सेवा करे, भले ही वह उनका पुत्र ही क्यों न हो। स्वामी जी ने अपने इन भावों को निम्नलिखित पत्र के माध्यम से व्यक्त किया है।

ओ३म्

गुरुकुल
२६. १२. ६९ विक्रमी

मेरे प्यारे पुत्र,

कल के पत्र में अपनी हार्दिक इच्छा का एक भाग प्रकाशित कर चुका हूं। इस भाग पर हरिश्चन्द्र तथा डाक्टर सुखदेव से भी बातचीत हो चुकी है। किन्तु आज अपना सारा तुम्हारे सामने रखना चाहता हूँ। इस विषय में और किसी से न बात कर सकता हूँ और न करूँगा।

---

*सद्धर्म प्रचारक, १ मार्गशीर्ष सम्वत् १९७०।

मैंने देखा है कि गुरुकुल का काम जितना महान् है, उतना ही महान् बलिदान चाहता है। जिस मनुष्य का कोई भी सांसारिक वा पारमार्थिक अन्य सम्बन्ध हो उसके लिये गुरुकुल की सर्व ओर से रक्षा करना तथा उसे उन्नत करना कठिन है। यही कारण है कि न केवल विवाहित पुरुष ही यहाँ पूरा लाभ नहीं पहुँचा सकते, प्रत्युत वे परिवार-हीन पुरुष भी जिनका कोई और लगन है, यहाँ की सहायता में पूर्णतया कृतकार्य नहीं हो सकने। गुरुकुल को चलाने के लिये अन्य योग्यताएँ भी चाहियें, किन्तु सबसे बड़ी योग्यता यह होनी चाहिये कि यहाँ के ब्रह्मचारियों के अतिरिक्त यहाँ के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता की दृष्टि में और कोई भी बड़े-से-बड़ा आत्मिक उद्देश्य भी कुछ मूल्य न रखता हो।

अब प्रश्न यह है—क्या तुम्हारी रुचि विवाह की ओर है? यदि है तो मैं जानता हूँ कि जो दिल तुम्हें मिला है, उसके अनुसार तुम्हारे प्रेम का बड़ा भाग उधर चला जायेगा। गुरुकुल का गृहपति बनने के लिये आवश्यक है कि गुरुकुल को माता, पिता, भ्राता, धर्म-पत्नी—सबके स्थान पर समझा जाये। क्या इस कठिन आत्मसमर्पण का दृढ़ भाव तुम्हारे अन्दर है? यदि है तो गुरुकुल बड़ा भाग्यशाली होगा—यदि नहीं तब भी गुरुकुल तुम्हारे सदाचार तथा उच्च भावों का अभिमान तो कर ही रहा है।

मेरे प्यारे पुत्र! अपने अन्दर के भाव तुम्हारे सामने रख दिये हैं। यदि तुम इस कठिन प्रश्न पर विचार करके किसी परिणाम पर शीघ्र नहीं पहुँच सकते हो तो मुझे लखनऊ में बाबू गङ्गाप्रसाद वर्मा द्वारा तार दे देना कि अभी दिल्ली न आऊँ। तार १० अप्रैल को प्रातः देना। यदि तुम्हारा कोई तार न आया तो जैसा मैंने लिखा है, १२ को वा १३ अप्रैल को प्रातः ५ बजे मैं दिल्ली पहुँच जाऊँगा।…।

तुम्हारा सदैव सन्तुष्ट पिता
मुंशीराम

प्रतीत होता है कि इस पत्र के उत्तर में श्री इन्द्र ने महात्मा जी को जो कुछ लिखा, उससे उन्हें यह आशा हुई कि उनका पुत्र उनके स्वप्न को साकार करेगा और अविवाहित रहकर गुरुकुल की सेवा करेगा। अतः उन्होंने अपने प्रसन्नता के उद्गार पत्र के माध्यम से निम्न शब्दों में व्यक्त किये :

ओ३म्

गुरुकुल
१३. ५. १९७० वि०

मेरे प्यारे पुत्र,

तुम्हारा पत्र अभी पहुँचा। तुम्हारा पत्र पढ़ रहा हूँ और बराबर आनन्द की अश्रुधारा बह रही है। परमात्मा ने इसी जन्म में मुझे कृतकार्य कर दिया, यह मेरा रोम-रोम इस समय अनुभव कर रहा है। मेरे प्यारे पुत्र, जिस दिन के लिये मैं रातों जाग कर परमेश्वर से प्रार्थना करता रहा, जिसके लिये ही मैं संसार के अपने से

निर्बल आत्मा के लिये असह्य से असह्य दुःखों को सहन करता रहा, वह दिन आज मैंने देखा।

इससे अधिक आज लिखने की कुछ शक्ति नहीं। अभी तो इस आनन्द को ही बार-बार अनुभव करके आनन्दित होने दो, कार्य के साधनों का विस्तृत विचार फिर होगा।

जैसे कि लिख चुका हूँ ३० मई को यहाँ से चलूंगा। यदि तुम भी ३१ मई को लाहौर पहुँचोगे, तो वहाँ सभा के अधिवेशन से निवृत्त होकर दो जून को दिन का बड़ा भाग विचार में ही कटेगा।

तुम्हारा
मुंशीराम

महात्मा गांधी जी के आह्वान पर स्वामी श्रद्धानन्द जी सत्याग्रह-आंदोलन में सम्मिलित हो गये और पूरी तरह से उसकी सफलता के लिये प्रयत्नशील थे। ७ मार्च १९१९ को उन्होंने इसी प्रसंग में दिल्ली में आयोजित सार्वजनिक सभा में प्रथम भाषण दिया और लोगों को सत्याग्रह-आन्दोलन में भाग लेने की प्रेरणा दी। इसके बाद स्वामी जी गुरुकुल के लिये शिल्प-शिक्षा सम्बन्धी योजना बनाने के उद्देश्य से बड़ौदा और बम्बई गये थे। बम्बई में सत्याग्रह समिति का गठन हो चुका था और उन दिनों महात्मा गांधी भी वहाँ पहुँचे थे। स्वामी जी को भी समिति के आग्रह पर वहाँ रुकना पड़ा।

स्वामी जी ने इस आन्दोलन में भाग लेना तो शुरू कर दिया, पर उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि आर्यसमाजी उनके इस कार्य से अप्रसन्न हैं। अतः उन्होंने 'सद्धर्म प्रचारक' के माध्यम से अपनी स्थिति स्पष्ट करना आवश्यक समझा। इसी प्रसंग में उन्होंने बम्बई से अपने पुत्र इन्द्र जी को निम्न पत्र लिखा :

बम्बई
१५. ३. १९

मेरे प्यारे इन्द्र,

आज प्रातःकाल शरीर ठीक है। हमारा कार्य भी बड़ी उत्तमता से चल रहा है। ··· यहाँ गांधी जी मिले। मैं कल बोला भी। 'विजय' बाम्बे क्रानिकदल के नाम भेज दिया करो। मि० हानीमैन कल सभा में मिले थे। आज उन्हें कहूँगा कि एक्सचेंज कर लें।

असहयोग-सत्याग्रह के आन्दोलन में मेरे प्रवेश से कुछ आर्यसमाजी घबरा रहे हैं। तुम मेरी ओर से ठीक समझ कर 'सद्धर्म प्रचारक' में लिख दो कि स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी हैं। उनका किसी आर्य संस्था से विशेष सम्बन्ध नहीं। उनके सत्याग्रह में शामिल होने के अर्थ नहीं कि आर्यसमाज संस्था रूप में इसमें शामिल

हैं। ऐसे आर्यसमाजी होंगे, जो सत्याग्रह को उचित न समझें। मैंबरों में भी सब, जो कुछ करते हैं।

कुछ भीरु लोग तथा ईर्ष्यालु कुछ का कुछ प्रकट करेंगे। इसलिये तुम जो उचित समझो, नोट लिख छोड़ो।

तुम्हारा मंगलाभिलाषी
श्रद्धानन्द

एक समय आया जब महात्मा गांधी का सत्याग्रह-आन्दोलन खिलाफत आन्दोलन का ही अंग बन गया और मुसलमानों का समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से गांधी जी उनकी अनुचित मांगों को भी स्वीकार करने लगे, पर स्वामी श्रद्धानन्द जी को उनकी यह नीति पसन्द नहीं आई और उन्होंने इन आन्दोलनों से अपना हाथ खींच लिया तथा सम्बन्धित समितियों से त्यागपत्र भी दे दिया। अब वे चाहते थे कि भारतमाता के उद्धार के लिये हिन्दुओं का एक संगठन बनना चाहिये, पर हिन्दुओं में एकता के अभाव में तथा पारस्परिक द्वेष-भावना के होते हुये यह संगठन कैसे बने, यही समस्या उन्हें उद्विग्न कर रही थी। इसी समय उन्होंने एक पत्र श्री इन्द्र को लिखा, जो निम्न प्रकार है :

ओ३म्

अकोला
१४. १. २२

मेरे प्यारे इन्द्र,

इस पत्र के साथ मुसलमान नेताओं की अपील तुम्हारे पास भेजता हूँ। इसे ध्यान से पढ़ना। अहमदाबाद में सब्जेक्ट कमिटी की बैठक में प्रश्न हुआ था कि गांधी जी को मुसलमानों के महज़वी मामलों में दखल देने का अधिकार न होगा। उस समय मैंने पूछा था कि हिन्दू-सिक्खादि का कोई जिक्र क्यों नहीं? मैं जो अपील भेजता हूँ, इससे मालूम होता है कि मुसलमान भारतवर्ष और हिन्दुओं को केवल अपनी जत्थादारी की दृढ़ता का एकमात्र साधन बनाना चाहते हैं। उनके लिये भारतमाता पीछे और इस्लामी कल्चर पहले है। क्या हिन्दुओं को अपना संगठन न करना चाहिये। साधारण हिन्दू तो एक-एक से जुदा है। इसलिये यदि कुछ संगठन हो सकता था तो वह केवल आर्यसमाज की ओर से। परन्तु यहाँ भी द्वेषाग्नि ने सारे प्रभाव को भस्म कर रखा है। फिर भी आर्य पथ से जुदा यदि कोई संगठन हो तो शायद कुछ बन सके। इस पर विचार करने तथा इतिहास का कार्य आरम्भ करने की विधि विचारने के लिये मैं दिल्ली और कुरुक्षेत्र से होता हुआ १ या २ फरवरी को कांगड़ी पहुँचूंगा। आशा है कि तुम वहाँ मिलोगे।

१५ को यहाँ का कार्य समाप्त होगा। १६ को अमरावती, १७ को आकोट और १८ को यहाँ से चल कर १६ जनवरी की रात को देहली पहुँचूँगा।

तुम्हारा मंगलाभिलाषी
श्रद्धानन्द

स्वामी श्रद्धानन्द जी सन् १६२२ में गुरु-का-बाग सत्याग्रह के सिलसिले में मियांवाली जेल गये थे। सशरीर तो वे जेल में थे, पर मन से वे आर्यसमाज के इतिहास के लेखन, कन्या गुरुकुल की स्थापना, दलित जातियों के उद्धार और ब्रह्मचर्य के प्रचार आदि कार्यों के लिये चिन्तित थे, इस बात की पुष्टि उनके निम्न पत्र से होती है :

ओ३म्

मियां वाली जेल
६. १२. २२

मेरे प्यारे इन्द्र,

तुम्हारा २ दिसम्बर का पत्र मिला। कुंजी बीच में थी। चेकबुक का सन्देश भी अभी मिला है। ट्रंक तथा चेकबुक मुझे शाम तक मिल जायेंगे। अब अन्य वस्तुओं की आवश्यकता तो न थी, परन्तु जो आ गई हैं उन्हें रख लूंगा।

२. तुम्हारे आने की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ के शान्त जीवन में बाहर के समाचारों से बाधा डालना नहीं चाहता।

३. मेमोरियल हाल की रजिस्टरी हो जायगी यह सुनकर प्रसन्नता हुई।

४. तुम इतिहास का दूसरा भाग चलाओ, मैं अपनी autobiography उस समय तक कल रात समाप्त कर चुका हूँ, जहाँ तक उर्दू में छपी थी। आज उससे आगे चला रहा हूँ। सं० १८८४ ई० तक समाप्त कर लूँ तो आगे हिन्दी प्रचारक में छपी "कुछ आपबीती कुछ जगबीती" जोड़ी जायगी। उससे पीछे यदि यहाँ कुछ भाग प्रचारक के मंगाने दिये गये तो यहाँ लिखूंगा। अन्यथा वहाँ पहुँच कर लिखूँगा। यह काम भी हो जाय तो अच्छा है।

५. इससे अतिरिक्त गुरुकुल का इतिहास और उसके उद्देश्य अपनी दृष्टि से यहाँ ही लिखूंगा।

६. पुराने और अन्दर के नये अनुभवों से मुझे निश्चय हो गया है कि मुझे अपनी सारी शक्ति दलित जातियों के उद्धार और ब्रह्मचर्य के प्रचार में लगा देनी चाहिये। यदि यहाँ ही जीवन समाप्त हुआ तो अन्तिम इच्छा यही होगी कि पुनः भारतवर्ष में जन्म लेकर शेष सेवा द्वारा अपनी निर्वलताओं का प्रायश्चित करूँ। परन्तु यदि जीवन बाकी है तो फिर शेष जीवन इसी में लगेगा :

७. सेठ रग्घूमल जी को कहना कि यदि मेरे बाहर आने पर उन्होंने कन्या

गुरुकुल के लिये इमारत का रुपया एकदम दे दिया तो ६ महीनों में भारतवर्ष का एक चक्कर लगाने के पीछे उसी की पूर्ति के लिये सारा बल लगा दूंगा।

८. सेठ जी, महाशय यमुनादास जी और डाक्टर जी को नमस्ते कहना। लाला ज्ञानचन्द्र आदि सब महाशयों को नमस्ते। देवियों को आशीर्वाद, बच्चों को प्यार।

मेरे पत्र रखते जाना। जो पत्र भेजोगे मुझे पहुँच जायेंगे।

मैं अगला पत्र जनवरी १९२३ को लिखूँगा।

श्री गुरुदत्त और पोषिता कन्या सुमित्रा

यहाँ महात्मा मुंशीराम जी द्वारा गुरुकुल की स्थापना के दौरान अपनी पोषिता कन्या सुमित्रा और उनके पति श्री गुरुदत्त को लिखे कुछ पत्र दिये जा रहे हैं। इन पत्रों में गुरुकुल की स्थापना के लिये महात्मा जी द्वारा किये गये अध्यवसाय, उनकी उस समय की मनःस्थिति तथा गुरुकुल में उनके दैनिक कार्यक्रम आदि की एक झलक देखने को मिलती है।

जालन्धर शहर
३० अक्टूबर १९०१

प्रिय पुत्र गुरुदत्त जी, नमस्ते।

आपका पत्र पहुँच गया, वजह जवाब न लिखने की यह हुई, कि मैं फिर सभा की प्रधान पदवी पर फँस गया हूँ। काम सख्त है, ५ नवम्बर को तो तुम चल ही दोगे, यहाँ कुल बातचीत हो जावेगी। लेकिन मुख्तसिर यह कि मैं प्रधान मुकर्रर हो गया हूँ। गुरुकुल का मुआमला गले पड़ गया है। मुखालफ़त का जोर है। पर अब सब दुनियाबी झगड़ों से अलग होकर काम करने की जरूरत है। पर बाद ३० नवम्बर के सब लड़कियों को अपनी-अपनी जगह भेज दूंगा और गुरुकुल के पीछे लगूंगा। परमेश्वर पर भरोसा करके काम करना है। पर इस हालत में सुमित्रा को भी अन्ता जाना पड़ेगा, अगर माता को रखना हो तो अपने साथ न लाना, वहीं छोड़ आना, ताकि दोबारा खर्च आमदोरफ्त न करना पड़े।

सुमित्रा अच्छी है। लेकिन बदपरहेजी से कभी-कभी तबियत खराब कर लेती है। मैं भी अच्छा हूँ। जरूर सात तक पहुँच जाना। बाकी सब खैरियत है।

मुंशीराम

प्रिय पुत्र गुरुदत्त जी, नमस्ते।

अफसोस कि मैं तुम्हें खत न लिख सका। २२ फरवरी को यहाँ से चल कर ३२ ब्रह्मचारियों को ४ मार्च तक यहाँ ले आया हूं। अब यहाँ जंगल में आनन्द-पूर्वक ब्रह्मचारी पढ़ते हैं। एक पल की मुझे फुरसत नहीं है, यह वजह है कि न तुम्हें

खत लिख सका, न सुमित्रा को जबाब दे सका। जालन्धर से आकर अमृतकला को भी कोई पत्र नहीं लिख सका।

पुत्री का नाम सुमित्रा ने पूछा था, मैंने चन्द्रकला नाम रख दिया है, यही नाम रख देना, यदि अभी तक नामकरण न हुआ हो। मैं दिन-रात काम में रहता हूँ। एक पल का अवकाश नहीं, एक तरफ इमारत बन रही है, दूसरी तरफ ब्रह्मचारियों के भोजन आदि का फिक्र है, तीसरी तरफ उनको तालीम और सारे जग से निराली! ईश्वर की दया से आशा है कि काम चल निकलेगा। इस वक्त मुझे अपने लिये रुपये की जरूरत है, अगर स्पेयर कर सको, तो भेज देना, सुमित्रा को पन्द्रह दिनों तक और पत्र नहीं भेज सकूंगा, फिर लिखूंगा-मुफ़स्सल।

मुंशीराम

कनखल
९. १. १९०२

मेरी प्यारी पुत्री सुमित्रा, नमस्ते।

मैं ६ जनवरी को दोपहर को यहाँ पहुँच गया था, तब से बराबर गुरुकुल के स्थान का काम कर रहा हूँ। आज तक किसी के यहाँ कुछ भी न किया था, अतएव होलियों तक यहाँ गुरुकुल खोलने के लिये बहुत ही परिश्रम करना पड़ेगा। तुम्हें ज्ञात होगा कि गुरुकुल के लिये एक ग्राम मिला है, जहाँ गुरुकुल मन्दिर बनाना है। आज मैं अपना सब सामान लेकर वहाँ चला जाऊँगा। छप्परों में रहना होगा, तथा जंगल का सहवास होगा। यहाँ से वह स्थान २॥ मील दूर है। ईश्वर पर भरोसा करके चला हूँ, वही जगदीश्वर इस कार्य को भी पूर्ण करेंगे, तुम अब अपने स्वास्थ्य का समाचार लिखो, तथा अपनी सम्बन्धिनी का हाल लिखो जिसे तुम अपने साथ ले गई थी। अब उस समय तक, जब तक गुरुकुल यहाँ न खुल जावे, मैं तुम्हें नियम पूर्वक पत्र नहीं लिख सकूंगा, क्योंकि इस समय दौड़-धूप का बड़ा काम है। किन्तु तुम अवश्य अपने तथा परिवारों के समाचार लिखती रहना। गुरुदत्त जी को नमस्ते कह देना, फिर जब अवकाश मिलेगा तो उनको भी जुदा पत्र लिखूंगा।

तुम्हारा शु. चि. पिता—मुंशीराम

गुरुकुल भूमि, कांगड़ी, वाया हरिद्वार
२ फरवरी १९०२

प्यारी पुत्री सुमित्रा, नमस्ते।

तुम्हारा १६ जनवरी का पत्र फिरता-फिराता आज मुझे यहाँ ही फिर आ मिला। इस अन्तर में कितना कष्ट मुझे हुआ और कहाँ कहाँ मैं फिरा, इसके लिखने की आवश्यकता नहीं रही, अब यहाँ आ गया हूँ और यहाँ ही रहूंगा। प्रधान सभा का पद मैंने छोड़ दिया है। केवल गुरुकुल की सेवा में अब जीवन व्यतीत करना

चाहता हूं। यदि आर्य-पुरुषों को स्वीकार हुआ तो ठीक है। नहीं तो अपने परिवार की उन्नति में लगूँगा।

१. अब मेरा स्वास्थ्य अच्छा है। झोंपड़ी का रहना मेरे अनुकूल पड़ेगा।

२. तुम अपना समाचार अब विस्तारपूर्वक लिखो, तुम्हारे शरीर की अवस्था तो गुरुदत्त जी के लेख से अच्छी प्रतीत होती है।

३. मेरा समय विभाग यह है कि ४ बजे प्रातः उठकर २।। घण्टा लेख का काम करता हूं, फिर स्नान संध्या के पश्चात् व्यायाम करके १।। मील परे गुरुकुल मन्दिर का काम देखने जाता हूं। ११ बजे लौटकर भोजन, ३ बजे तक फिर लेख का काम, साढ़े पाँच बजे तक फिर मन्दिर का काम, संध्या भोजन के पश्चात् १० तक फिर लेख का काम, अवकाश नहीं मिलता, तुम अवश्य पत्र लिखा करो।

मुंशीराम

जालन्धर
१६. १०. १९७५ (विक्रमी)

प्रिय पुत्र गुरुदत्त जी, नमस्ते।

आपका पत्र पहुँचा, बड़ी गड़बड़ के पश्चात् अब फिर यही निश्चय किया है कि गुरुकुल की रक्षा के लिये उद्यत होऊं। यदि मैं शीघ्र वहाँ न गया तो उसके टूट जाने की सम्भावना है, अतएव सब कुछ बेच-बाच कर चल देने का निश्चय पक्का हो गया। परमात्मा सहायता करेंगे, इस कारण अब किसी उत्सव पर न जा सकूंगा। आपको प्रयत्न करके छुट्टी लेनी चाहिये, जिससे सुमित्रा को एक बार मिल सकूं तथा सुशीला को भी देख सकूं। सुमित्रा को नमस्ते, सुशीला को प्यार दें। पं० गणपति शर्मा लाहौर के उत्सव के पश्चात् आपके पास रुक सकेंगे। लाला वजीरचन्द्र जी को उस समय भेजने का प्रयत्न करूंगा।

सभा-प्रधान लाला रामकृष्ण जी को

—श्रद्धानन्द

सन् १९२० में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने देश की स्वतन्त्रता के लिये किये जा रहे आन्दोलनों की शृंखला में असहयोग एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलनों का समावेश किया और उनमें भाग लेने के लिये देशवासियों का आह्वान किया। यद्यपि स्वामी श्रद्धानन्द जी के गाँधी जी के साथ सत्याग्रह एवं खिलाफत-आन्दोलन के बारे में कुछ सैद्धान्तिक मतभेद थे, तथापि देश की स्वतन्त्रता की खातिर इन आन्दोलनों को 'धर्मयुद्ध' मान कर स्वामी जी ने उनमें भाग लेना अनिवार्य समझा। पर उस समय वे गुरुकुल के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता के पदों पर कार्य कर रहे थे, जिससे मुक्त होने के लिये गुरुकुल की स्वामिनी सभा आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान लाला रामकृष्ण जी से अनुमति लेना जरूरी था। अतः उन्होंने लाला जी को निम्न पत्र लिखा, जिससे यह व्यक्त होता है कि उनके मन में मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिये कितनी तड़प थी :

गुरुकुल
१० आश्विन १९७७
(२५ सितम्बर १९२०)

श्रीमान् लाला रामकृष्ण जी प्रधान
आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

नमस्ते।

इस समय मेरी सम्मति में "असहयोग" की व्यवस्था के क्रियात्मक प्रचार पर ही मातृभूमि के भविष्य का निर्भर है। यदि यह आन्दोलन अकृत कार्य हुआ और महात्मा गाँधी को सहायता न मिली तो देश की स्वतन्त्रता का प्रश्न ५० वर्ष पीछे जा पड़ेगा। यह जाति के जीवन-मृत्यु का प्रश्न हो गया है। इसलिये मैं इस काम में शीघ्र ही लग जाऊँगा। यदि आपकी सम्मति में इस काम में लगने के लिये मुझे गुरुकुल या आर्यसमाज के अन्य कामों से अलग हो जाना चाहिये तो जैसा पत्र आप तजवीज करेंगे मैं पब्लिक में भेज दूँगा। मैं इस कार्य से रुक नहीं सकता, मुझे यह काम इस समय सर्वोपरि दीखता है।

आपका
श्रद्धानन्द

महात्मा गाँधी के नाम

—श्रद्धानन्द संन्यासी

अगस्त १९२१ को दिल्ली पहुंचने पर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने पाया कि देश में अछूतोद्धार की समस्या दिन-प्रति-दिन गंभीर होती जा रही है और दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्रों में आर्यसमाजियों द्वारा अछूतों के उत्थान के लिए वर्षों से किये जा रहे कार्य का भी कोई सुपरिणाम नहीं निकल रहा है। यही नहीं, उन्होंने यह भी महसूस किया कि दलित वर्ग के अधिकांश लोगों में कांग्रेस और हिन्दू-मुसलमान-समुदायों के प्रति व्यापक आक्रोश है। इस पर स्वामी जी ने जिज्ञासावश दलित वर्ग के कुछ प्रमुख नेताओं (चौधरियों) को बुलाया और उनके आक्रोश का कारण जानना चाहा। चौधरियों का कहना था कि कांग्रेस के नेता यह तो चाहते हैं कि हम अपने में से अधिक से अधिक लोगों को कांग्रेस का चार आना चंदा देने वाला सदस्य बनने की प्रेरणा दें तथा स्वराज्य-प्राप्ति के आन्दोलन में उनकी सहायता करें, पर उनकी नजरों में सार्वजनिक कुओं से पानी न भरने देने से सम्बन्धित हमारी समस्या का कोई महत्व नहीं है। इस जानकारी के प्राप्त होने पर स्वामी जी ने दिल्ली के हिन्दुओं को प्रेरित किया कि वे दलित वर्ग के लोगों को अपने कुओं से पानी भरने दें, पर मुसलमान-कांग्रेसियों ने इसमें बाधा डालने का प्रयास किया। इस स्थिति से स्वामी जी अत्यन्त क्षुब्ध हुए और उन्होंने ९ सितम्बर १९२१ को दिल्ली से ही महात्मा गाँधी जी को एक विस्तृत पत्र लिखा, जिसे उन्होंने बाद में विभिन्न पत्रों तथा स्व-प्रकाशित अंग्रेजी पत्र 'लिबरेटर' में भी भी प्रकाशित करवा दिया ताकि आम जनता भी उनकी उस समय की मनःस्थिति को जान जाये। पत्र निम्न प्रकार है :—

Dated: 9th September 1921

Revered Mahatmaji,

I wired from Lahore that I would apply for financial aid through the Delhi Provincial Congress Committee but on reaching Delhi I found that the uplift of the depressed classes through the Congress was difficult. The Delhi and Agra Chamars simply demand that they be allowed to draw water from wells used both by the Hindu and Muhammadans and that water be not served to them (from Hindu water hooths) throug bamboos or leaves. Even that appears impossible for the Congress Committee to accomplish. Not only this; a Musalman trader of Sadr went to the length of saying that even if Hindus allowed (these men) to draw water from common

wells, the Musalmans would forcibly retrain them from drawing water because they (the chamars) ate carrion.

I know that there are thousands of these chamars who do not either drink wine or eat flesh of any kind and a few of them who eat carrion are being weaned by the Ayrasmajists from that filthy habit. But I ask-do Hindu and Muslim meat-eaters devor flesh of living cattle ? Do they not eat the flesh of the cattle when they are dead ?

At Nagpur you laid down that one of the conditions for obtaining Swarajya within 12 months was to give their rights to the depressed classes and without waiting for the accomplishment of their uplift, you have decreed that if there is a complete boycott of foreign cloth up till the 30th September, Swarajya will be an accomplished fact on the 1st of October. The extension of the use Swadeshi Cloth is absolutely necessary but as long as 6½ crores of our suppressed classes are taking refuge with the British bureaucracy so long will the extension of Swadeshi be impossible.

I now want to engage with my limited energy in the uplift of the depressed classes. I do not understand whether the Swarajya obtained without the so-called untouchable brethren of ours joining us wiil prove salutary for the Indian nation.

I am writing this letter simply to inform you that I cannot, now, apply to the Working Committee for financial aid. Whatever I can do with my limited means I will do.

I want to draw your attention to another urgent matter. You laid stress on purchasing the whole of the Jallianwala site. That was done; I too had small share in the negotiations. With your great influence you got money collected for that purpose. The site has been purchased and about two lakhs and a half is lying for erecting a fitting memorial for the martyrs. But the conditions of the compound of Jallianwala gave me great pain. I was told that when Lord Reading paid a visit to the place, a high European official of the Government said that there did not appear to be any strong resentment amongst Indians for the bloodshed at the place. It was simply the hubbub raised by a few agitators. Will you pay the least heed to that ?

You laid stress on the Jallianwals Memorial. Leaving that halfway you launched non-violent non-co-operation at Calcutta. An overwhelming majority of the nation bowed their head before you decree. By the programme you wanted to paralyse the bureaucratic Goverment. In that connection the first work was to give up titles. That could not paralyes the Government but if we could have succeeded in taking out even half the students attending Government and semi-Government institutions, something could have been achieved. In my humble opinion we have gained nothing by that agitation. In that connection the only remaining work is to give permanece to the newly started national institutions and to prepare a national scheme of study. For that there is no necessity of exciting propagaada. Further if at least 3/4th of Vakils and Barristers had given up their practice, some commotion had taken place. But in that too there was no success. Those high-souled lawyers who gave up practice have done a great deal in raising the political outlook of the nation, but we did not succeed in paralyzing the government even by that.

Then we did not succeed in fulfilling the oonditions which were laid down at Nagpur for obtaining Swarajya. Your triumphal procession dose not allow you to learn the actual condition of things. During the last few days I have talked to some of intermediate Hindu Muslim leaders of the Punjab and the United Provinces. In the hands of these (leaders) is the real rein of the masses. I know that among both the cummunities there is a fall in their mutual trust. The disputes between Brahmans and Non-Brahmans in the South have not been settled and in the absorption of the depressed classes not a single step has been taken. What you have done in this respect-and a great deal have you done—is commendable, but the effect of that has been washed away by the rest of the Non-Co-operators.

Brushing all these aside you proclaimed the boycott of foreign cloth alone to be the means of attaining Swarajya. The All-India Congress Committee again bowed down to your decision. Much has been done in popularizing the Swadeshi cloth during the last few weeks and this has effectively told upon the import of the foreign cloth. Bvt you have again decreed that that if by the 30th of September, 1921, the complete boycott of foreign cloth is not attained then a further period of 12 months will elapse before there is any possibility of attaining Swarajya.

A glance at the above shews you think there is a probability of violence bursting forth if civil disobedience of laws and consequently non-payment of taxes is allowed, and I, also, blieve the same to be a fact. But there is a difference in our viewpoints. You hold that the masses have not been so disciplined as to become non-violent, while I think that, even if the masses become disciplined, the devoted pupils of the bureaucracy will provoke the masses so much that their remaining non-violent will become impossible. Perhaps the Khilafat Conference at Karachi has passed the resolution of establishing a republic which has been supported by Maulana Shaukat Ali at Bombay in the following words······ unless Government settled the Khilafat and Punjab grievances, they would unfurl the banncr of independence at the next session of the Indian National Congress at Ahmedabad. Is this the proper procedure of solving the problem of Swarajya ?

Six and a half crores of so-called untouchables separated from you, the non-Brahmans of all Madras your firm oppositionists, the Monopolists of intellect, the Moderates, not only the supporters of the Government, but ready to go ten steps beyond them– And then the Northerners are quite distinct from the Southerners. Whatever you order must be obeyed without any remonstrance up to the 25th of December, 1921, (a day before the Congress session was to begin). But if on that date the Swarajya, for which the people have made such splendid sacrifice, is not obtained, then you should be ready with your scheme of work for the future. But perhaps your spiritual eye has seen what is hidden from the Common pcople.

Your's Sincerely
Shraddhanand Sanyasi

× × ×

३-५ नवम्बर १९८१ को दिल्ली में हुए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में सामूहिक सत्याग्रह का प्रस्ताव स्वीकृत करते हुये गांधी जी के

परामर्श पर बारडोली में सामूहिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू करने का निर्णय किया गया। महात्मा गांधी जी ने वायसराय को इस निर्णय से अवगत कराने के लिये उन्हें १ फरवरी १९२२ को एक पत्र लिखा जिसमें उन परिस्थितियों पर प्रकाश डाला गया था जिनके वशीभूत होकर समिति को यह निर्णय लेना पड़ा था। साथ ही इस पत्र में कुछ नई मांगें भी प्रस्तुत की गई थीं। यह पत्र तथा वाइसराय द्वारा दिया गया उत्तर विभिन्न पत्रों में भी प्रकाशित हुआ था।

दूसरी ओर, स्वामी श्रद्धानन्द जी दिल्ली में सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू करने के पक्ष में थे, परन्तु दिल्ली प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सभापति डॉ० अंसारी उन्हें ऐसा करने से यह कह कर रोकते रहें कि पहले स्वयंसेवकों का उपयुक्त संगठन तय्यार किया जाय, उसके बाद ही यह आन्दोलन आरम्भ किया जाये। स्वयंसेवकों का संगठन तो बन नहीं पाया, किन्तु दिल्ली की महिलाओं ने स्वामी जी का आशीर्वाद प्राप्त करके युवराज के आने पर दिल्ली में हड़ताल कराने की पूर्ण तय्यारी कर ली। दिल्ली कांग्रेस कमेटी के स्थानीय नेताओं की अकर्मण्यता एवं उदासीनता से स्वामी जी को इतनी अधिक निराशा एवं दुःख हुआ कि उन्होंने कांग्रेस से पृथक् होकर दिल्ली से चले जाने तथा शेष समय 'आर्यसमाज का इतिहास' लिखने में लगा देने का निर्णय कर लिया। अपने इस निर्णय को क्रियारूप में परिणत करने से पूर्व उन्होंने इस विषय में महात्मा गांधी जी को सूचित करना आवश्यक समझा। एतदर्थ उन्होंने ७ फरवरी १९२२ को दिल्ली से महात्मा जी को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने अपने उक्त निर्णय की सूचना देने के साथ-साथ महात्मा जी द्वारा वायसराय को लिखें पत्र (जिसमें ऊपर उल्लेख किया गया है) तथा बारडोली-सत्याग्रह शुरू करनें के बारे में अपने विचार भी व्यक्त किये। पत्र निम्न प्रकार है :

Delhi, 7th February 1922

Revered Mahatmaji,

I am again writing to you today. I read your letter addressed to the Viceroy. If there is not complete preparation for Satyagrah in Bardoli, I do not understand why so much hurry about it. Compared to that Delhi is not the least prepared for mass civil disobedience. I read the reply of the Viceroy also. It is full of fallacious arguments. He has faith in his physical strength.

I will only stay here till the arrival of the Prince. The leaders here do not want to move all. The contracts of spirits and intoxicating drugs were auctioned. it did not move anybody. I have distributed posters on behalf of the Hindu Sabha for complete Hartal, but as long as the Presidents of the District and

Provincial Congress Committees do not give their sanction, nothing can be done.

There is no work here for opposing the repressive policy of the Government. Ladies are going in procession while makes are hiding their faces in their homes. Therefore I cannot be useful in this work. And as for mass civil disobedience, in which the principal item is the readiness for non-payment of taxes, Delhi is neither ready with the propaganda of wearing khaddar, spinning charkhas and weaving on pitlooms nor has the Congress succeeded in removing disgust towards the Untouchables; what to talk of the possibility of a calm atmosphere. Besides this I do not agree with many of the remaining items of non-co-operation.

For these reasons I shall leave Delhi either on 15th or 16th of February, 1922 and retire for writing a history of the Aryasamaj. That God may help you in the attainment of complete Swaraj as He has blessed your efforts in infusing a spirit of Truth, Fealessness and True Liberty in the Indian people, is my humble prayer.

I do not agree in the concluding portion of your letter (to the Viceroy) in which you make new demands. The meaning of it will be that there could be no mutual understanding.

Yours Sincerely
Shraddhanand Sanyasi

●

श्री भवानीदयाल जी संन्यासी के नाम

—श्रद्धानन्द संन्यासी

एक समय था, जब भारतवर्ष में हिन्दू सभ्यता अपने चरम पर थी और ९९ प्रतिशत हिन्दू थे, पर कुछ वर्षों बाद मुगलों और अंग्रेजों के शासन-काल में एक ऐसा समय भी आया जब हिन्दू संस्कृति का ह्रास होना शुरू हो गया और धर्म-परिवर्तन के कारण हिन्दुओं की संख्या उत्तरोत्तर घटने लगी। स्वामी श्रद्धानन्द जी से यह स्थिति देखी नहीं गई, उन्होंने हिन्दू जाति के पुनरुद्धार का बीड़ा उठा लिया तथा शुद्धि-आन्दोलन का सूत्र ग्रहण किया। इसी का सुपरिणाम था कि हिन्दू जाति में पुन: जागृति की लहर दौड़ गई, नव-जीवन का संचार हुआ, आर्य-संस्कृति की रक्षा के लिये चैतन्यता आई और शुद्धि आन्दोलन का शुभारम्भ हुआ। यह १९२३ का वर्ष था। इस आन्दोलन के सूत्रधार स्वामी जी स्वयं ही थे।

इस आन्दोलन के संचालन के दौरान स्वामी श्रद्धानन्द जी ने यह अनुभव किया कि इसकी सफलता के लिये अतुल धनराशि की भी आवश्यकता होगी। एतदर्थ भारत में धन-संग्रह का कार्य जोरों पर चल रहा था। स्वामी ने दक्षिण अफ्रीका में वैदिक मिशनरी श्री भवानीदयाल जी—जो सन् १९२७ में संन्यासाश्रम में प्रवेश के बाद भवानीदयाल संन्यासी के नाम से विख्यात हुये—को भी एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने भारत में विभिन्न शासकों के काल में हिन्दुओं की स्थिति का विवेचन करते हुये बहुत ही मर्मस्पर्शी शब्दों में प्रवासी भारतीयों से इस शुद्धि-आन्दोलन के लिये यथाशक्ति आर्थिक सहयोग देने का अनुरोध किया था। इस पत्र में उनके हृदय के सच्चे भाव अंकित थे। पत्र इस प्रकार है :

प्रिय भवानी दयाल जी, नमस्ते।

आपका पत्र कल ही पहुँचा है—अवकाश कुछ भी नहीं है। फिर भी उत्तर लिखता हूं। तेरह सौ वर्ष हुये जब सम्राट हर्षवर्द्धन थानेश्वर की गद्दी पर बैठा था। वह अपने समय का बड़ा प्रभावशाली शासक था। एक प्रकार से उसने चक्रवर्ती राज्य की ही बुनियाद डाली थी। उस समय चीन का धर्मयात्री "ह्यूनसांग" प्राय: सारे भारतवर्ष में घूमा। उसके निरीक्षण का सारांश यह है कि उस समय तक यहाँ ब्राह्मण और क्षत्रिय सच्चा और सरल जीवन व्यतीत करते थे। न कहीं चोर थे और न कोई झूठ बोलता था, सारे देश में हिन्दुत्व का सितारा चमक रहा था—उस समय तक आर्य सभ्यता का अधिक ह्रास नहीं था।

एक शताब्दि पीछे भारतवर्ष की पश्चिम-उत्तरीय सीमा पर विदेशियों का पदार्पण हुआ। मुहम्मद कासिम ने सिंध पर चढ़ाई की, राजधानी देवल को अपने काबू करके मुसलमानों ने लगभग सब मनुष्यों के सिर काट डाले। एक बौद्ध बिहार को गिरा दिया, जिसमें ६०० कुमारी देवियाँ थी, उनको दासी बनाकर बगदाद में

भेज दिया। फिर राउरगढ़ की लड़ाई में विजयी मुहम्मद कासिम ने ६० हजार स्त्री पुरुषों को लौंडी-गुलाम बनाकर बगदाद भेजा। ६ हजार राजपूतों के सिर काट डाले और हजारों को जबरदस्ती मुसलमान बना लिया गया।

इसी समय में हिन्दुओं की सख्या कम होनी शुरु हुई। ईसा की सातवीं शताब्दि से लेकर बारहवीं शताब्दि तक मुसलमानों के आक्रमण होते रहे। आर्य-संस्कृति के चिन्ह शनैः शनै मिटने लगे। उधर इस्लाम का दरबाजा हिन्दुओं के लिये खुला था और इधर आर्य धर्म का द्वार बाहर से आने बालों के लिये बन्द कर दिया गया। यही नहीं, प्रत्युत हिन्दू समाज से बाहर जाने के लिये द्वार खोल दिया गया और साथ ही जो बाहर निकलने लगे उनकी पीठ पर अपनी ओर से दो चार लाते और लगा दी गईं।

यद्यपि मुसलमानों के शासन-काल में हिन्दू मुसलमान बनते रहे, फिर भी उन नव-मुस्लिमों की संख्या अधिक नहीं बढ़ी थी। परन्तु ईसाई अंग्रेजों के भारतवर्ष में आते ही हिन्दुओं की संख्या बहुत घटनी शुरु हुई। मुसलमान तो आर्य-संस्कृति का सर्वनाश करने में कृतकार्य नहीं हुये थे, उन पर उल्टी बिगड़ी हुई आर्य-संस्कृति का प्रभाव पड़ गया था। ईसाई-अंग्रेजों ने आर्य-संस्कृति की जड़ पर कुल्हाड़ा रख दिया। उनकी देखादेखी मुसलमानों ने भी हिन्दू प्रभावों से मुक्त होने का यत्न किया। जहाँ हर्षवर्द्धन के समय भारतवर्ष में हिन्दुओं की संख्या ९९ फीसदी से कम न थी, वहाँ अंग्रेजों के १५० वर्ष की हुकूमत के पीछे वह संख्या घटकर ६७ फीसदी से भी कम रह गई है।

ऐसी घोर दशा में एक विचित्र घटना दिखाई देती है। अभी पूरे आठ महीने नहीं हुये कि जो अन्दर जाने का दरवाजा हिन्दुओं ने देवढ़ियों के अन्दर-अन्दर बन्द कर छोड़ा था उसे सपाट खोल दिया है और अपने शताब्दियों से बिछुड़े भाइयों को अपने अन्दर मिलाना प्रारम्भ कर दिया है। यह दैवी घटना है, मनुष्य का हाथ नहीं। यह घटना प्रवासी हिन्दू भाइयों से प्रार्थना कर रही है कि वे जहाँ कहीं भी हों प्राचीन वैदिक धर्म का द्वार न केवल बिछुड़े भाइयों के लिये ही प्रत्युत संसार के सब मतमतांतर के लिये खोल दें। भारतवर्ष में जो काम बिछुड़ों को मिलाने का हो रहा है उसके लिये धन की बहुत आवश्यकता है। अतएव प्रवासी भाई यथाशक्ति आर्थिक सहायता भी भेजें।

पाँचसहस्र वर्ष पूर्व सारे भूमण्डल पर एक सनातन वैदिक आर्य-धर्म का राज्य था इसी से मतमतान्तरों की शाखायें फूटीं। अन्धकार के समय में शाखाओं को काटकर वृक्ष से जुदा कर दिया गया। समय आ रहा है कि कटी हुई शाखा फिर वृक्ष पर जा लगें। पुरुष धन्य होंगे जिन्हें इस धर्म-कार्य में सेवा करने का अवसर मिलेगा।

आपका मंगलाभिलाषी
—श्रद्धानन्द संन्यासी

× × ×

स्वामी जी स्वराज्य को भी उतना ही आवश्यक समझते थे जितना कि आर्य संस्कृति की रक्षा को। उनको प्राचीन आर्य जाति का भविष्य बड़ा उज्जवल दिखाई पड़ता था। सन् १९२३ के प्रारम्भ में जब स्वामी जी मथुरा के आसपास के क्षेत्र में शुद्धिकार्य में व्यस्त थे, उन्होंने श्री भवानीदयाल जी संन्यासी को संबोधित निम्न पत्र के माध्यम से प्रवासी भारतियों के लिये जो सन्देश भेजा था वह आज भी प्रत्येक भारतवासी को लिये श्रवण-मनन और हृदयगंम करने योग्य है :

प्रिय भवानीदयाल जी, नमस्ते।

देशान्तरों में प्रवासी भारतियों की जो स्थिति इस समय हो रही है, उसको जानकर प्रत्येक भारतीय के अन्दर प्रेम और सहानुभूति का संचार होता है। प्रवासी भाइयों को यह निश्चय रखना चाहिये कि जब तक स्वदेश को स्वराज्य की प्राप्ति नहीं होती तब तक उनको कष्ट सहना और अपमानित होना ही पड़ेगा। किन्तु मेरी शुभ इच्छा यह है कि सब प्रकार की विपत्तियों को सहन करते हुये भी वह अपने देश के गौरव की हानि न होने दें। यद्यपि वाह्य चक्षु उस आन्दोलन को देखने में सर्वथा असमर्थ है जो स्वराज्य प्राप्ति के लिये इस समय हो रहा है, परन्तु दिव्य-चक्षु द्वारा इस प्राचीन जाति का भविष्य बड़ा उज्जवल दिखाई देता है। अपने प्रिय प्रवासी भाइयों के लिये मेरा अन्तिम सन्देश यह है कि वे अपने अधिकारों की प्राप्ति के पवित्र धार्मिक युद्ध में आर्य-संस्कृति को न भूलें और अपने आचरणों से सिद्ध कर दें कि प्राचीन आर्यावर्त के उच्च भाव उनके अन्दर काम कर रहे हैं। जिस सहस्रबाहु ने इस अत्यन्त प्राचीन जाति को ५ हजारवर्ष से गिरते गिरते बचा रक्खा है उस पर पूर्ण श्रद्धा रखने पर, दो बाहुओं वाले उनका कुछ न विगाड़ सकेंगे।

आपका मंगलाभिलाषी
श्रद्धानन्द संन्यासी

श्रद्धानन्द-गांधी-पत्राचार

—मोहनदास गांधी

सत्याग्रह के सम्बन्ध में*

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने रौलेट एक्ट के विरुद्ध सत्याग्रह को 'धर्मयुद्ध' मान कर उसके प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किये थे और उसमें सक्रिय रूप से भाग लिया था। परन्तु कालान्तर में उनका गाँधी जी के साथ सत्याग्रह के सम्बन्ध में तीव्र मतभेद हो गया। परिणामत: उन्होंने गाँधी जी को सम्बोधित अपने २ मई १९१९ के निम्न पत्र में मतभेद के प्रमुख कारणों पर प्रकाश डालते हुये सत्याग्रह-कमेटी से त्यागपत्र दे दिया :

Before I took the Stayagrah vow proposed by you in connection with the extraordinary measures known as the Rowlatt bills I was preaching not only the strict practice of Ahimsa (non-violence) and satya (Truth) but of other virtues also as described in the yamas and Niyamas I always laid special stress on the observance of the rules of Brahmachary (Sexual purity) and thought it to be the root of all virtue. My idea has been that the practice of Brahmacharya alone can put a stop of the present-day struggle in the world. On taking the Satyagrah vow, I sent round through the Press a message to the Satyagrahis in which the practice of Bramacharya was enjoined as the condition of success.

You know well that I never cared to take part in current politics, much less did I concern my self with the proposed Montagu-chelmsford scheme of reforms. My opinion has always been that the Indian politicians can never hold their own in round table conferences with our rulers, who have always been at the head of world-diplomacy for the last thousand years. The only way of obtaining political rights, in my opinion, was to allow our rulers to work out their own schemes of reforms.

But the Rowlatt bills laid the axe at the root of the first principles of human liberty and jutice and, therefore, when the call came from you, whom. I regard to be the embodiment of our ancient spiritual culture. I responded to the call with my whole heart and soul.

---

*सत्याग्रह के सम्बन्ध में यह पत्राचार 'श्रद्धा' के १२ आषाढ़ संवत् १९७७ तथा १९ आषाढ़ संवत् १९७७ के कोडपत्रों में प्रकाशित हुआ है। पत्र वहीं से उद्धृत किये गये हैं।

One of the Rowlatt bills was passed into law and your command went round for the observance of a day of humiliation and prayer. The whole country responded to you call with a will which will never be surpassed. What occured after that at Delhi on the 30th of March. 1919 is known all over India. Then you were arrested while on your way to Dehli, and the whole country was stirred to its very depths. The consequences of that ill-advised action of the government are known to all

I am at one with your condemning all excesses atrocities committed at Ahmedabad, Viramgam, Amritsar and kasur and by misguided, perverted people. I further express my sense of horror at the burning of public and other buildings, especially that of the christian churches at Amritsar and Gujranwala. The killing of Indian christion religious men and the unprovoked brutal attacks on ladies has given me the greatest shook. and I hope the Hindus and Muhammadans of Amritsar and other places will make some amends by helping the rebuilding of the churches and in showing practical sympathy with the families of one European and Indian brothers who were thus murdered

But I can not join with you in your silence about the wilful provocations which government officials gave at Dehli and some other places and of the horrors perpetrated in the name of law and order in the Punjab. If I have not been able to rise my voice against the excesses of the people and the tyranical doings of Govet. officials, it is on account of the gagging of the public press at Dehii; at the insance of the punjab government and for the indiscriminate censoring of all telegram and letters which are sent from Dehli.

Now, as regards the occasion of my writing this letter to you. I have the highest regard for your person and your saintly character and it gives me great pain to differ from you on any materia point. But if I, conscientiously, differ from you I would be untruel to my self if I do not speak out and take the consequences.

You have suspended the civil breaking of laws temporarily because in your opinion "a crisis has arisen in the country and it was not suited to the occasion". You. however, hope that "when tranquility was restored in the country and the pople had thoroughly imbibed the true principles of it (Satyagrah) it would be started again." Now, I am convinced that no long as the present system of government lasts there is no hope either of tranqulity being restored in the country or of the people at large being allowed to inbilve practically what you call" the true principles of Satyagrah through the singning of sympathy on paper. I am, therefore, convinced that under the present conditions in India the civil breaking of laws, without producing an upheaval among the masses (for which neither you not any Satyagrahi is morally responsible) is impossible, hence consistently with the views you hold the time for the civil disobedience of laws other the Rowlatt Act will never arise in the near future. I am, further, of opinion that when real tranquility is restored in India the Rowalt Act will have gone out and again no occasion for civil disobedince of laws on its account will arise. The result it that the actual reason of my signing the Satyagrah vow formulated by you having disappeared I beg your leave to withdraw my name from the Satyagrah Sabha founded by you. As a Sanyasi I will continue my work of the preaching and practice of the Eternal, principles of Dharma which include, Satya, Ahimsa and Brahmcharya also.

Personally my opinion about the passed Rowlatt Act and the proposed Rowlatt bill remains unchanged and I will think it to my Dharmic duty not to obey orders passed under those laws when they come into force. I will also go on with personal spiritual Sadhans for getting a repeal of those laws. But besides my work of preaching Dharma, my srvices will always be at the disposal of my countrymen in the follwing constructive works :—

(1) Indian Unity i. e., bringing Hindus, Muhammdans, Sikhs, Christains ets. on a commm platfrom and the adjustment of their differences by united Panchayts.

(2) Popularizing the use of Swadesh-made things..

(3) Thd introduction of Hindustani as a national language, and,

(4) The development of a national system of eduction independent of the present government Univesity System.

महात्मा गाँधी जी को स्वामी का उक्त पत्र ५ मई १९१९ को अहमदाबाद में प्राप्त हुआ और इसे पढ़कर तथा स्वामी जी द्वारा सत्याग्रह-कमेटी से त्यागपत्र देने का समाचार जानकर उन्हें हार्दिक कष्ट हुआ। उन्होंने ६ मई १९११ को स्वामी श्रद्धानन्द जी को निम्न पत्र लिखकर अपना मन्तव्य स्पष्ट किया।

भाई साहब,

आपका खत मुझे मिला है, पढ़कर मैं बहुत दुःखित हुआ हूँ। मैं कैसा भी करूँ, मेरी भूल हो जाये तो भी आप अपना प्रण क्यों छोड़ सकते हैं। यदि लोग सत्य, अहिंसा का पालन करने के लिये तैयार न हो जायेंगे तो हम सार्वजनिक सत्याग्रह

छोड़ सकते हैं, किन्तु हम सब क्यों छोड़ सकते हैं ? मैं नहीं जानता हूं कि आपको सब पत्रिका मिल चुकी है या नहीं। एक पत्रिका जिसमें लड़ते किस तरह फिर शुरू हो सकती है उस बारे लिखा गया है। जब तक रोलेट कायदे रद्द नहीं हुये है तब तक हम शान्ति नहीं रख सकते हैं—ऐसा मेरा दृढ़ मन्तव्य है।

दिल्ली में मिलिटरी ने भूल की ऐसा मैंने आपके खत से जान लिया और आपको मालूम है, मेरे व्याख्यानों में इस विषय में मैंने सख्त टीका की थी। पंजाब के बारे में अब तक भी मुझे लालूम नहीं है कि मुख्य दोष किसका है। पंजाब के बारे में मैंने कुछ भी नहीं कहा। अहमदाबाद और वीरमगाम में पोलिस का कोई दोष नहीं था। केवल स्वच्छन्दता ही से लोगों ने बड़ा भारी अत्याचार किया था। प्रजा के साथ-साथ काम करते हुये प्रजा को सीधा रास्ता बताना आपका और मेरा धर्म है, ऐसी मेरी अल्पमति है। मेरी उम्मीद है आप प्रतिज्ञा का ठीक ठीक पालन करेंगे।

आपका

मोहनदास गांधी

महात्मा जी के उपर्युक्त पत्र को पाते ही स्वामी जी ने उन्हें ९ मई १९१९ को पुनः एक पत्र लिखकर अपने पूर्व निश्चय पर (त्यागपत्र देने के सम्बन्ध में) दृढ़ रहने की सूचना दी।

श्री महात्मा गाँधी जी,

आपका ६ मई का पत्र मुझे मिला, उसमें मेरे पत्र का पूरा उत्तर नहीं आया। अपने अपनी नई पत्रिका पढ़ने के लिये मुझे लिखा है। ८ मई के Independent में मैंने आपके दो लेख पढ़े। आप जुलाई के प्रारम्भ से फिर कानून भंग का कार्य आरम्भ करने को लिखते हैं। मेरी सम्मति में इन दो मास के अन्दर सारी जनता में सत्याग्रह के भाव नहीं फैलाये जा सकेंगे और जब तक गवर्नमेंट का इस समय का बर्ताव जारी रहेगा तब तक कभी भी ऐसे उच्च भाव जनता में फैल नहीं सकेंगे। आपको भी इसमें सन्देह है और इसीलिये आप लिखते हैं कि यदि ऐसा न हुआ तो भी सरकार इतनी फौजें लगा देगी कि लोग Violence न कर सकेंगे। इस लेख ने इधर के सब सत्यग्राहियों में असन्तोष फैला दिया है। मेरा निश्चय है कि ऐसी, बेइज्जती को सहन करना सत्याग्रह नहीं, किन्तु सरल जनता को फौजियों के हवाले करना रूपी पाप है। शोक यह है कि जिन सहस्रों आदमियों ने आप में श्रद्धा के भाव से प्रेरित होकर सांसारिक और अपने भविष्य की परवा न करके सांसारिक सब कुछ छोड़ा उनसे कुछ भी सम्मति न लेकर आप एकदम घोषणा पत्र छपवा देते हैं।

रौलट एक्ट के विरुद्ध मेरा वैयक्तिक (individual) सत्याग्रह जारी रहेगा, परन्तु पहले पत्र में जो कुछ मैंने लिखा है उस पर (आपको ६ मई वाले लेख Independent में पढ़कर) मेरा निश्चय और दृढ़ हो गया है।

आपका

श्रद्धानन्द

खिलाफत के प्रश्न पर

यूरोपीय युद्ध में टर्की के जर्मनी के साथ मिलने पर ब्रिटिश सरकार की मुसलमान सेना ने उसके विरुद्ध लड़ने में आनाकानी की। इस पर ब्रिटिश प्रधान सचिव मिस्टर लाइड जार्ज ने स्पष्ट रूप से यह आश्वासन दिया कि "हमें टर्की के साथ केवल इसी कारण लड़ाई करने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है, क्योंकि वह हमारे शत्रुओं से मिल गया है। पर विजयी होने पर भी मुसलमानों के पवित्र स्थान सुरक्षित रहेंगे और टर्की के सुल्तान की वर्तमान सत्ता को किसी प्रकार की आँच नहीं आयेगी।" इस आश्वासन के बाद मुसलमान सेना दिल खोलकर लड़ी और मिस्र की रक्षा एवं मिसेपोटामिया और पेलेस्टाइन की विजय में उसने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। ब्रिटिश सरकार के मित्र-दल की विजय हो जाने पर भारत के मुसलमानों द्वारा तत्कालीन प्रधान सचिव को बार-बार उनके आश्वासन का स्मरण कराया गया, परन्तु उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। परिणामतः १७ अक्टूबर १६१६ को निखिल भारत खिलाफत कमेटी की स्थापना की गई और उसी दिन दिल्ली के मलिका वाले बाग में वृहत् सभा के साथ ही खिलाफत आन्दोलन की शुरूआत हो गई। उस समय स्वामी जी के मन में जो कुछ विचार आया वह उन्हीं के शब्दों में—"जब मेरे भाई दुःखी हैं तो मैं उनके साथ रहता हुआ सुख कैसे भोग सकता हूं। यह एक बात थी। दूसरी बात यह थी कि ब्रिटिश प्रधान सचिव की प्रतिभा स्पष्ट थी। जब वह प्रतिज्ञा टूट सकती है तो फिर इनकी किस बात पर विश्वास किया जा सकेगा। तब तो पग-पग पर विश्वासघात होंगे।* इन विचारों से प्रेरित होकर स्वामी जी भी खिलाफत आन्दोलन में सम्मिलित हो गये, सभा में भाषण दिया तथा खिलाफत कमेटी के उप-सभापति भी चुने गये। परन्तु बाद में गुरुकुल के कार्यों में व्यस्त रहने के कारण उप-सभापति पद से त्यागपत्र दे दिया।

कालान्तर में स्वामी श्रद्धानन्द जी के मन में इस आन्दोलन के बारे में कुछ शंकाएँ उत्पन्न हुई। वे इस आन्दोलन का नेता महात्मा गांधी को ही मानते थे, अतः शंकाओं के निवारण के लिये उन्हीं को पत्र लिखना उचित समझा। यहां स्वामी जी द्वारा गांधी जी को लिखा गया पत्र तथा गांधी जी द्वारा उसके उत्तर में लिखा पत्र दोनों उद्धृत किये जा रहे हैं। ये पत्र 'श्रद्धा' के २ ज्येष्ठ संवत् १६७७ के अंक में स्वामी जी की विस्तृत टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुये थे। पत्र निम्न प्रकार हैं :

श्रीमान् महात्मा गांधी जी,

मुझे ठीक पता नहीं है कि आप सिंहगढ़ में हैं या और कहीं, इसलिये आश्रम के पते से ही पत्र भेजता हूँ। आशा है कि जहाँ कहीं आप होंगे मेरा पत्र वहाँ पहुँच जावेगा।

मैं समाचार पत्रों में खिलाफत के सम्बन्ध में आपके सम्भाषणों का सारांश

---

*श्रद्धा, २६ वैशाख सम्वत् १६७७, पृ० ३।

और मिस्टर शौकत अली के व्याख्यानों का हाल पढ़ता रहा हूँ। अपने मुसलमान भाइयों की जो न्यायनुकूल माँग है उसके न पूरा होने पर आपने अपनी गवर्नमैंट के साथ सहयोगिता का क्रमशः त्याग बतलाया है। यहाँ तक तो मैं आप के साथ सहमत हूँ कि हिन्दू-मुसलमानों को न्यायानुकूल निपटारा न होने पर उपाधियाँ त्याग देनी चाहिये, औनरेरी कामों से भी फिर किनारा करना चाहिये। परन्तु प्रश्न यह है कि यदि आप लाखों सिविल और मिलिटरी के सरकारी नौकरी को उनकी नौकरी से अलग कर लेंगे, और उनकी आजीविका का कोई प्रबन्ध न कर सकेंगे तो जनता के अन्दर कितनी अराजकता फैलेगी। इससे तो रोग और बढ़ेगा, घटेगा नहीं। मैं इसके विरुद्ध नहीं हूँ कि मुसलमानों और हिन्दुओं के सुशिक्षित उच्च पदाधिकारी अपने पदों को छोड़ दें, मेरा मतलब लाखों Civil और Militry चाकरों से है जिनको अजीविका से जुदा करके सत्याग्रह की उच्च मर्यादा पर स्थिर रखना कठिन होगा। मुझे डर है कि जिन मुसलमानों की धार्मिक इच्छाओं को पूरा करने के लिये आप उनके पथ-दर्शक बन रहे हैं कहीं वे ही न कष्ट अनुभव करने लग जावें।

परमेश्वर की कृपा से मुझे कोई उपाधि प्राप्त नहीं, इसलिये उसके त्याग का प्रमाण नहीं दे सकता। कभी चाकरी भी नहीं की, इसलिये उस प्रकार की सहानुभूति भी नहीं दिखला सकता, परन्तु एक ही प्रकार का सत्याग्रह है जिसमें मैं सम्मिलित हो सकता हूँ, अर्थात् यदि जनता के उपाधि तथा नौकरी त्याग करने पर भी गवर्नमैण्ट की आँखें न खुलें, तो मुसलमान भाइयों के साथ स्वयं भी ब्रिटिश साम्राज्य का त्याग कर दिया जावे। यदि आप अगुआ बनें तो कौन न चाहेगा कि आपके पीछे चलकर अपनी आत्मा को सन्तोष दे लेवे। परन्तु प्रश्न यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य को छोड़कर किस राष्ट्र की शरण ली जावे, जहाँ धर्मानुसार जीवन व्यतीत करने का आश्रय मिल सकेगा। समाचार पत्रों में इशारा देखा कि काबुल हम सबको बुला रहा है, परन्तु वहाँ जाकर ब्रिटिश सरकार पर क्या दबाव पड़ सकेगा और सिवाय ब्रिटिश सरकार के साथ भौतिक युद्ध किये कैसे अभीष्ट की प्राप्ति होगी यह समझ में नहीं आता और यदि भारतवर्ष के हिन्दू-मुसलमान भौतिक शब्दों का आश्रय लेकर ब्रिटिश गवर्नमेन्ट से लड़ने को बाधित हुये तो वे सब कहाँ तक सत्याग्रही रह सकेंगे, यह आप ही विचार कर लेवें।

मैं चाहता हूँ कि इस विषय में आपके मन्तव्य के साथ कर्तव्य को बराबर मिलाये रखूं। जब आप आराम कर रहे हैं, तब यह कष्ट देना अनुचित है, परन्तु जहाँ सारी जाति के भविष्य का प्रश्न हो वहाँ ऐसा कष्ट देना अनिवार्य भी हो जाता है।

आपका उत्तराभिलाषी
श्रद्धानन्द

महात्मा जी का उत्तर

२ मई १९२०

भाई साहेब,

आपका पत्र मिला। सरकारी नौकरों को नौकरी छोड़ने को तब ही कहा

जायेगा जब उनके लिये खाने पीने का प्रबन्ध करने की ठीक योजना बन जायेगी। इस बारे में मुसलमान भाइयों के साथ मैं मसलत कर रहा हूँ।

देश त्याग करने की सलाह मैंने तो कोई भी नहीं दी, न मैं दे सकता हूँ। कितने मुसलमान भाइयों का हिजरत करने का अवश्य अभिप्राय है, उनको हम नहीं रोक सकते हैं उनसे भी हिजरत का नतीजा अच्छा नहीं आ सकता है, ऐसा बता रहा हूँ। यदि सत्याग्रह दृष्टि से हम हिन्दुस्तान का त्याग करें तब उसमें सरकार पर कुछ भी दबाव पड़ने का ख्याल नहीं आ सकता है। मगर मेरी राय से हिन्दुओं को हिन्दुस्तान छोड़ने का मौका तो तब आ सकता है जब कोई हिन्दू राजा होगा और प्रजा उनके साथ मिलकर हिन्दू धर्म का पालन ही अवश्य करेगी। यदि सरकार का असहकार करने में इस समय हम असमर्थ होंगे तो उसका अर्थ मैं ऐसा ही निकालूंगा कि मुसलमान की धर्मवृत्ति क्षीण हो गई है। हर कोई भी देख सकता है कि इस खिलाफत के प्रश्न में इसलाम को बड़ा धक्का पहुँचाने की बात है। यदि ऐसे समय पर भी मुसलमान जान-माल की कुरबानी करने के लिये तैयार नहीं होंगे तब तो धार्मिकता का लोप हो गया ऐसा ही कह सकते हैं। यदि ऐसा बुरा परिणाम आ जायेगा तो भी मुझे आश्चर्य नहीं होगा, क्योंकि मैं संसार में भ्रमण करता हुआ कलिकाल की महिमा को देख रहा हूँ। धर्म की भावना हरेक जगह बहुत ही मंद हो गई है और अनेक कार्य जो धर्म के नाम से होते हैं उसमें भी मैं तो अधर्म हो देख रहा हूँ। यदि मैंने जो लिखा है वह स्पष्ट नहीं होगा तो आप मुझे फिर भी पूछेंगे।

गुरुकुल का कार्य अब अच्छी तरह से चलता होगा। मैं आज चार दिन से इस एकान्त स्थान में आया हूँ।

काँग्रेस के महामन्त्री से पत्राचार

—श्रद्धानन्द संन्यासी

अछूतोद्धार के प्रश्न पर

स्वामी श्रद्धानन्द जी की दृष्टि से अछूतोद्धार को समस्या का सर्वाधिक महत्व था और वह चाहते थे कि काँग्रेस अपनी कुछ शक्ति इस समस्या के समाधान में भी लगाये। उन्होंने अपने एतद्विषयक उद्गार काँग्रेस के अमृतसर अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष के रूप में दिये गये भाषण में भी प्रकट किये थे और इसी की प्रेरणा देने के उद्देश्य से वे कलकत्ता के विशेष अधिवेशन में सम्मिलित हुये थे। नागपुर और बारडोली के काँग्रेस-अधिवेशनों में पारित प्रस्तावों में एक शर्त अस्पृश्यता-निवारण की भी रखी गई थी। महात्मा गाँधी उनके इस विचार से सहमत थे और उन्होंने अछूतोद्धार को काँग्रेस के कार्यक्रम का मुख्य अंग बनाया था, पर गाँधी जी के जेल जाने के बाद काँग्रेस के अन्य नेताओं ने इस ओर से आँखें ही मूंद लीं। काँग्रेसी नेताओं के इस रुख से क्षुब्ध होकर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने काँग्रेस के महामन्त्री श्री विट्ठलभाई पटेल को २३ मई १९२२ तथा ३ जून १९२२ को पत्र लिखे जो क्रमशः नीचे दिये जा रहे हैं :

The General Secretary.
A. I. C. C. Bombay

Gurukula Kurukashetra
P. O. Thanesar
May 23rd. 1922

My dear Mr. Patel,

There was a time (Vide Young India dated 25th May 1921) when Mahatmaji put the question of untouchability in the fore front of the congress programme I find. however, that this question of raising the depressed classes has been relegated to an abscure corner, while khadi claims the attention of some of our best workers and a liberal sum (Rs. 17 Lakhs) has been earmarked for it for the year. while a strong sub committee has been appointed to look after national education and a special appeal for fund is to be made for the same, the question of the removal of untouchability has been shelved by making small grants to Ahmedabad, Ahmednagar and Madras. I am of opinion that with a majority of six crores of our brethern set against us by the bureaucracy even the khadi scheme can not succeed completely. The members of the working committee, perhaps, do not know that on this side our depressed brethern are leaving of khaddar and taking to buying cheap foreign

cloth. I want to move the following resolution in the meeting of A. I. C. C which comes off on June 7th next at Lucknow.

"That a sub Committee consisting of three memers of the A. I. C. C. be appointed to give effeet to the resolution about the socalled depressed classes; that a sum of fivel akhs of rupees be placed at their disposal for propaganda work and that in future all applications for grants be referred to the said sub committee for disposal."

Yours Sincerely
Shraddhanand Sanyasi

(2)

Haridwar,
3rd June, 1922

My dear Mr. Patel,

I will leave Haridwar the day after tomorrow reaching Lucknow on the morning of June 6th.

You know that I feel the most for the so-called depressed classes. Even in the Punjab I find that no attention worth the name has been paid to this item of the constructive programme. In the U. P. of course, it will be an up hill work. But there is another very serious difficulty.

The Bardoli programme, in its note under item four lays down that, where prejudice in still strong separate wells and sesarate schools must be maintained out of the congress funds. This leaves a loophole for those congress workers who are either prejudiced against depressed classes or are weak and no work can be done in inducing people to agree to allow the untouchables to draw water from common wells. In the Bijnore District, I learnt, there was no restriction and the untouchables drew water freely from the common wells. But in some places fresh prejudice is being engendered under the aegis of the Bardoli resolution note. In my recent visits to Ambala Cantt, Ludhiana, Batala, Lahore and Amritsar and Jandiala I found that the question of removal of disability of the untouchables is being ignored. In and near Delhi it is the Dalit Uddhar Sabha of which I am the president, rather then the congress, which is doing apreciable work. I think that unless itme 4 of the Bardoli constructive programme is amended in proper form, the work which I consider to be the most important plank in the congress programme, will suffer.

Kindly place the following porposal before the president and if he allows it to be placed before the next meeting of the

A. I. C. C, I shall move it there: Instead of the not under item (4) of the Bardoli resolution, substitute the following Note: the following demands of the depressed classes ought to be complied with atonce. Namely that (a) they are allowed to sit on the same carpat with citizen of other classes (b) the get the right to draw water from common wells and (c) their children get admission into National Schools and Colleges and are to mix freely with students drawn from the socalled higher castes."

I want to impress upon the members of the A. I. C. C. the great importance of this item. I know of cases where the depressed classes are in open revolt against the tyranny of the so called upper castes and unless the above demands are conceded to them they will succumb to the machinotion of the beaurocracy.

Yours Sincerely.
Shraddhanand Sanyasi

स्वामी जी के उपर्युक्त पत्रों को पाकर वर्किंग कमेटी और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने बारडोली के प्रस्ताव पर पुनर्विचार करने के बाद एक उपसमिति गठित की, जिसमें स्वामी श्रद्धानन्द, श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्री गंगाधरराव देशपांडे और श्री इदुन्लाल याज्ञिक को सम्मिलित किया गया था। इस उपसमिति को सम्पूर्ण देश में अछूतों की दशा सुधारने के लिये अपनाये जाने योग्य व्यावहारिक उपाय सुझाने का दायित्व सौंपा गया था। प्रारम्भ में इस उपसमिति का संयोजक स्वामी श्रद्धानन्द जी को मनोनीत किया गया था।

वर्किंग कमेटी और अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी ने यह भी निर्णय लिया था कि इस कार्य के लिये फिलहाल दो लाख रुपया जमा किया जाये। परन्तु स्वामी जी इस प्रस्ताव से सन्तुष्ट नहीं थे। वे दो लाख की जगह पाँच लाख रुपये चाहते थे और उनके मत में एक लाख रुपया काँग्रेस पार्टी के कोष से तत्काल इस कार्य के लिये अलग कर दिया जाना चाहिये। वर्किंग कमेटी उनके विचार से सहमत नहीं थी, परिणामत: स्वामी जी ने अखिल भारतीय काँग्रेस समिति के महासचिव को निम्नलिखित विस्तृत पत्र लिखते हुये उपसमिति से त्यागपत्र दे दिया। इस पत्र में श्री विट्ठलभाई पटेल को पत्र लिखे उपर्युक्त दोनों पत्रों को भी उद्धृत किया गया था।

To

The General Secretary,
All-India Congress Committee,
Camp Delhi

I acknowledge with thanks, receipt of your letters No. 331 and 332 emboding resolutions of the working committee and of the

A. I, C. C. about untouchability. I observe with pain that the A. I. C. C. as at present worded, does not include the whole of what was passed by the Committee.

The facts are these. I sent the following letter to Mr. Vithalbhai Patel (the then General Secretary, on 23rd May, 1922, which was also published by the principal Dailies of the country.

' My dear Mr. Patel, There was a time (vide Young India of 25th My, 1921) when Mahatmaji put the question of untouchability in the forefront of the Congress programme. I find now that the question of raising the depressed classes has been relegated to an obscure corner. While khadi claims the attention of some of our best workers and a liberal sum (Rs. 17 lakhs) has been earmarked for it for the year, while a stong sub-committee has been appointed to look after national education and a special appeal for funds is to be made for the same, the question of the removal of untouchability has been shelved by making small grants to Ahmedabad, Ahmednagar and Madras. I am of opinion that with a majority of six crores of our brethren set against us by the bureaucracy even the Khadi Scheme cannot suceed completely. The Members of the Working Committee, perhaps, do not know that on this side our depressed brethren are leaving off khadi and taking to buying cheap foreign cloth. I want to move the following resolution in the meeting of the A. I. C. C., which comes off on the 7th of June next at Lucknow, that "A sub-committee consisting of three members of the A. I. C. C., be appointed to give effect to the resolution about the so-called depressed classes, that a sum of five lakhs of rupees be placed at their disposal for propaganda work and that in future all applications for grants be referred to the said sub-committee for disposal.''

My proposal was amended by the Working Committee and ran as follows :

"This Committee hereby appoint a committee consisting of Swami Shraddhanand, Mrs. Sarojini Naidu and Messrs G. B. Deshpande and I. K. Yajnik to formelate bettering the condition of the so-called untouchables throughout the country and to place it for consideration before working committee, the amount to be raised for the scheme to be Rs. 2 lakhs for the present.''

Mr. Patel asked me to accept the Working Committee s proposed resolution into toto. I refusud to accept the Working Committee's resolution and in the very first sitting of the A. I. C C., substituted 5 lakhs for **2** lakhs with the condition that one lakh of the same be allotted by the A. I. C. C. out of the funds in cash and an appeal be made for the blance.

Mr. Rajagopalachariar, on behalf of the Working Committee, proposed that instead of fixing the amount to be allotted out of the Congress funds now, it should be provided that when the scheme was accepted by the Working Committee that committee would allot as much as it could then spare for this purpose. I do not recollect the exact words but the purport of the amendment as given above is, to my knowledge, correct.

On this an uproar arose and a query was pressed from all sides that the cash balance in the hands of the A. I. C. C ought to be announced. The president (Hakeem Ajmal Khan) called me aside and told me in confidence that the Congress possessed very little cash balance and if pressed to disclose the true state of affairs it would harm the movement as out siders and even C. I. D. people were present. On this I accepted the amendment of Mr. Rajagopalachariar in spite of protsst from my seconder and supporers. But my surprise was great when I found the resolution in the dailies. as reported by the Associated Press, shorn of Mr. Rajagopalachariar's amendment.

After the above resolution was passed some members suggested that a convener of the sub-committee ought to be appointed. Several members proposed me as the convener On this Mr. Vithalbhai Patel (the then General Secretary) got up and said : "As Swami Shraddhanand s name occurs first. naturally he will be the convener and, therefore, there was no need of moving any fresh resolution at all.

Members from all parts of the country began to give information to me about untouchability in their provinces and pressed me to visit their parts. On this I made some promises. Then I thought that without some cash for preliminary expenses no enquiries on the spot could be made and hence no proper scheme formulated. I also learnt that Rs. 25,000 had been voted by the Working Committee for "the independent" of Allahabad and that and application for the grant of Rs. 100,000 to the Urdu daily "Congress" of Delhi had been placed by Hakeem Ajmal Khan and Dr. Ansari before the Working Committee. So, considering, that after all the congress might not be so hard pressed for cash, I wrote a letter addressed to the President asking him to give the untouchability sub-committee an advance of Rs. 10,000 for preliminary expenses.

After all this, the following resolution of the Working Committee forwarded by your letter No 331 is very interesting reading :—

"Read letter from Swami Shraddhanand dated 8.6.1922 for an advance for drawing up a scheme for depressed class work. Resolved that Mr Gangadhar Rao B. Deshpande be appointed con. vener of the Sub-Committee appointed for this purpose and he be requested to convene a meetting at an early date, and Swami Shraddhanand's letter be referred to the Sub-committee."

This is another matter which is inexelicable. After my first letter had been acknowledged I addressed the following letter from Hardwar on 3rd June 1922.

My dear Mr Patel, I shall leave Hardwar the day after tomorrow and reach Lucknow on the morning of June 6th. You know that I feel the most for the so-called depressed classes. Even in the Punjab I find that no attention worth the name has been paid to this item of the constructive programme. In the U. P., of course, it will be an uphill work. But there is another very serious difficulty.

The Bardoli programme in its note under item 4 lays down that, where prejudice is still strong separate schools must be maintained out of the Congress funds. This leaves a loophole for those Congress workers who are either prejudiced against the depressed classes or are weak and no work can be done inducing people to allow the untouchables to draw water from common wells. In the Bijnore District, I learn, there was no restriction and the untouchables drew water freely from common wells But in some places fresh prejudice is being engendered under the aegis of the Bardoli resolution note. In my recent visits to Ambala Cantt, Ludhiana, Batala, Lahore, Amritsar and Jandiala, I fonnd that the question of disabilities of the untouchables is being ignored. In and near Delhi it is the Dalitoddhar Sabha of which I am the President, rather than the Congress. which is doing appreciable work. I think that unless item 4 of the Bardoli constructive programme is amended in proper from, the work, which I consider to the most important plank in the Congress progrmme, will suffer.

Kindly place the following proposal before the President and, if he allowsit to be placed before the next metting of the A. I. C. C., I shall move it there–"In stead of the note under item 4 of the Bardoli resolution, substitute the following note: The following demands of the depressed classes ought to be complied with at once, namely that (a) they are allowed to sit on the same carpet with citizens of other classes (b) they get the right do draw water from common wells and (c) their childern get admission into National schools and colleges and are to mix freely with students drawn from so-called higher castes." I want to impress upeon the members of the A. I. C. C. the great importance of this item I know of cases where the depressed classes are in open revolt against the tyranny of the so-called upper castes and unless the above demands are conceded to them they will succumb to the machinations of the bureaucracy."

After my first proposals were passed in the A. I. C. C. Meetting. on June 7th, I asked Mr. Patel to put proposed amendment of Note to item (4) of Bardoli resolution before the meeting. He told me that the Working Committee would refer it to sub committee and asked me not to press it there, I agreed But I have not received a copy of any resolution of the Working Committee.

The untouchability question is very acute in and near Delhi and I have to grapple with it at once But the sub-committee cannot begin work off hand because the Working Committee has to take several other political situations in the country into consideration before deciding upon any scheme of practical measures to be adopted for uprooting untouchability on behalf of the Congress. Under these circumstances I cannot be of any use to the sub-committee and beg to resign from membership.

17, Burn Bastian Raad
Delhi
June 30th, 1982

Yours Sincerely,
Shrddhanand Sanyasi

इस विस्तृत पत्र को पाते ही काँग्रेस के तत्कालीन महासचिव पंडित मोतीलाल नेहरू ने स्वामी जी को एक पत्र लिखा और उनसे अपने त्यागपत्र पर पुनर्विचार करने का अनुरोध किया :

Dear Swamiji,

Your letter dated 30th June, 1922, received in my office on the 30th of that month, has by a resolution of the Working Committee passed in Bombay on the 18th instant been referred to me with instruction to explain facts and request you to be good enough to reconsider your resignation from Depressed Class Sub-Committee.

As you are aware, I have no personal knowledge of the facts which happened prior to my release from the jail. but I was present at the meeting of Working Committee which passed the resolution dated 10th Juue 1922, appointing Mr. Deshpande as the Convener of the sub-committee. It was not then mentioned that there was any understading about any particular member acting as the convener of the sub-committee and the whole resolution was passed merely to complete the necessary formalities in regard to the payment of money. It was felt that a formal resolution of the Sub-Committee was necessary before any expenditure could be sanctioned. Mr. Deshpande was accordingly appointed as the convener and a sum of Rs. 500 was voted for the expenses of these preliminary steps By an oversight the resolution as drafted omitted to mention the sanction of Rs. 500 You will thus observe that it was not due to the unwillingness of the Working Committee to sanction Rs 10,000 for untouchability, but the true reason for framing the resolution in the manner it was framed was what I have explained above. Nothing could be farther from the intention of the Working Committee than a desire to underrate the importance of the work your sub-committee was called upon to do or in any way to ignore the valuable advice tendered by you. On your letter being Placed befor the last mitting of the Working Committee the omission of the grant of Rs. 500 was supplied, and I was instructed to communicate with you on the subject. It will be a great pity if the sub-committee is deprived of the benefit of your experience and special knowledge of the whole questsion of untouchability and I will ask you. therefore, in public interest to reconsider your decision and wire to my office at Allahabad withdrawing your resignation from the Sub-Committee. I need hardly add that any resolutions arrived at by your Sub-Committee will recive all the considera-tion they deserve at the hands of the Working Committee.

As to the alteration in the Working Committee's resolution in regard to separate wells and schools the best course would be for your sub committee to recommend the change and for the Working Committee to adopt it.

I am afraid you are ander a misapprehension as regards the grant to "The Independent" of Allahabad and "The Congaress" of Delhi. In refernce to the former, all that has been done it to sanction the application of the U. P. Provincial Committee to advance as a loan of the "Nationalist Journals Limited" Rs. 25,000 from the funds already granted to that Committee and in reference to the latter the application for a grant of a loan was wholly rejected.

Yours Sincerely.
Bombay. Motilal Nehru
July 23rd, 1922 General Secretary

परन्तु स्वामी जी तो दृढ़ निश्चयी थे । उन पर इस पत्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उन्होंने अपने २९ जुलाई १९२२ के निम्न पत्र के माध्यम से सखेद त्यागपत्र वापस लेने से इंकार कर दिया :

Dear Pandit Motilalji,

I received your letter of 23rd July, 1922, addressed from Bomby about my resignation from the Untouchability Sub-Committee. I am sorry I am unable to reconsider it because some of the facts brought out by me, in my first letter, have simply been ignored.

(1) Kindly enquire of Mr. Rajagopalachariar whether I did not first propose that at least one lakh should be given in cash out of the funds in the hands of the A. I. C. C,, whether he did not move an amendment substituting words for the above which purported to promise that when the plan of work formulated by the Sub-Committee was accepted by the Working Committee that committee would allot as much money for untouchability department as it could then spare and whether I did not accept his amendment when the Prasident called me a side and explaind the exact financial position at the time. If this is the fact then why did the amendment not appear with the resolution.

(2) Did you enquire of Vithalbhai J. Patel whether the numbers of the A. I. C. C., did not propose me as the convener of the Sub-Committee and whether he did not then say—"As Swami Shraddhanand's name occurs first, naturally he will be the convener and therefore there was no need of moving any fresh resolution at all." I enquired about this from Dr. Ansari and he wrote back to me on June 17th, 1922, saying I was appointed

convener. Dr. Ansari is with you and you can verify it from him. I hope Mr. Patel has not forgotten all about it.

(3) Then the immediate work among the untouchables here is very urgent, and I cannot delay it for any reason whatever. Kindly have my resignation accepted in the next meeting of the Working Committee, so that I may be free to work out my own plan about the removal of untouchability.

गांधी जी के पत्र महात्मा जी के नाम

—मोहनदास गांधी

सन् १९१३-१४ की बात है, जब महात्मा गांधी ने दक्षिणी अफ्रीका में सत्याग्रह-आंदोलन का शुभारम्भ किया था। यह आन्दोलन अफ्रीका में बसे भारतवासियों के अधिकारों के लिए किया गया था। भारत में श्री गोखले ने इस आन्दोलन हेतु धन-संग्रह की अपील की। इस अपील के प्रत्युत्तर में गुरुकुल के ब्रह्मचारियों ने श्रमदान करके १५०० रुपये जमा किये और श्री गोखले के पास भिजवाये, जिसे उन्होंने गांधी जी के पास अफ्रीका भेज दिया था। उस समय श्री सी० एफ० ऐण्ड्र्यूज ने गांधी को महात्मा मुंशीराम और उनके द्वारा स्थापित गुरुकुल का प्रथम परिचय दिया था तथा सत्याग्रह-आंदोलन हेतु ब्रह्मचारियों द्वारा किये गये त्याग से अवगत कराया था। इसी संदर्भ में महात्मा गांधी ने २१ अक्तूबर १९१४ को मुंशीराम जी को 'महात्मा' शब्द से सम्बोधित करते हुये अंग्रेजी में एक पत्र लिखा था, जिसका भावानुवाद निम्नवत् है।

फोनिक्स, नैटाल
२१ अक्टूबर १९१४

प्रिय महात्मा जी,

श्रीयुत एण्ड्रयूज ने आपके नाम और काम का परिचय मुझे दिया है। मैं अनुभव करता हूँ कि मैं किसी अजनबी को पत्र नहीं लिख रहा हूँ। इसलिए आशा है कि आप मुझे आपको 'महात्मा जी' लिखने के लिए क्षमा करेंगे। मैं और श्रीयुत एण्ड्रयूज आपकी और आपके काम की चर्चा करते हुये आपके लिए इसी शब्द का प्रयोग करते हैं। श्री एण्ड्रयूज ने यह भी बताया है कि आपसे, गुरुदेव से तथा श्री रुद्र से वे किस प्रकार प्रभावित हुये हैं। आपके विद्यार्थियों ने सत्याग्रहियों के लिए जो काम किया है, उसका वर्णन भी उन्होंने मुझसे किया है। गुरुकुल के जीवन का जो चित्र उन्होंने खींचा है, उससे मैं यह पत्र लिखते हुये अपने को गुरुकुल में बैठा हुआ समझता हूँ। निस्संदेह उन्होंने मुझे इन तीनों संस्थाओं को देखने के लिए अधीर बना दिया है। और मैं उनके संचालकों, भारत के तीनों सपूतों के प्रति अपना आदर व्यक्त करना चाहता हूँ।

आपका
मोहनदास कर्मचन्द गांधी

गांधी जी ने अफ्रीका से वापस आने से पूर्व सन् १९१५ में अपने फोनिक्स के

सत्याग्रह-आश्रम के छात्रों और कुछ शिक्षकों को गुरुकुल कांगड़ी भेज दिया था, क्योंकि उस समय तक भारत में अपना आश्रम बनाने के स्थान का निर्णय नहीं हो पाया था। ये लोग कुछ महीनों तक कुलभूमि में रहे थे और उसके बाद अहमदाबाद में साबरमती आश्रम बन जाने पर वहाँ चले गये थे। उनकी निवास-व्यवस्था के लिए आभार प्रदर्शित करते हुये गांधी जी ने निम्न पत्र लिखकर व्यक्तिगत रूप से आभार-प्रदर्शनार्थ किसी भी दिन गुरुकुल पहुँचने की सूचना दी थी।

सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी पूना सिटी
माघ कृष्णपक्ष ८ (फरवरी ८, १९१५)

महात्मा जी,

आपका तार मुझे मिला था। उसका प्रत्युत्तर तार से भेजा था, वो आपको मिला होगा। मेरे बालकों के लिये जो परिश्रम आपने उठाया और उन्हीं को जो प्यार बतलाया उस बास्ते आपका उपकार मानने का मैंने भाई एण्ड्रयूज को लिखा था। लेकिन आपके चरणों में सिर झुकाने की मेरी उम्मेद है। इसलिये बिन आमंत्रण आने की भी मेरी फरज समझता हूँ। मैं बोलपुर से पीछे फीरूं उस बखत आपकी सेवा में हाजर होने की मुराद रखता हूँ।

आपका सेवक
मोहनदास गांधी

इसके बाद ८ अप्रैल १९१५ को महात्मा गांधी गुरुकुल आये और मुंशीराम जी के चरण छूकर प्रणाम किया। उस समय गांधी जी के स्वागत के लिए जो सभा हुई उसमें उन्होंने कहा—"मैं हरिद्वार केवल महात्मा जी के दर्शनों के लिये आया हूँ। मैं उनके प्रेम के लिए कृतज्ञ हूँ। ···ब्रह्मचारियों की सहायता के लिए मैं उनको धन्यवाद देता हूँ। उन्होंने फोनिक्स के विद्यार्थियों के प्रति जो प्रेम दिखाया है, उसको मैं कभी नहीं भूलूगां। मुझे अभिमान है कि महात्मा जी मुझको भाई कहकर पुकारते हैं।" कितनी कृतज्ञता एवं नम्रता से पगे हुये थे गांधी जी के ये भाव। यही नहीं, गुरुकुल से लौटने के कुछ समय बाद उन्होंने पुनः महात्मा मुंशीराम जी को एक कृतज्ञता—भरा पत्र लिखा।

अहमदाबाद
जेठ शुक्ल २ (जून १४, १९१५)

महात्मा जी,

लड़के सब गुरुकुल से आने के बाद में सब व्यवस्था करने की जंजाल में पड़ गया, इसलिये आपको मैं पत्र अगाड़ी न लिख सका। लड़कों पर आपने जो प्रेम बतलाया है वह वे कभी भूल नहीं सकते हैं। मेरे लड़कों और साथिओं को आश्रय देकर मुझको आपका ऋणी बनाया है।

अहमदाबाद में हाल में तो आश्रम खोल दिया है। उसकी नियमावली हिन्दी में बन रही है। तैयार होने से आपका अभिप्राय के लिये भेजी जायेगी।

हरद्वार में फेर आकर आपके साथ कुछ दिन रहने की बात में बिलकुल भूला नहीं हूँ। बखत मिलने से मैं जरूर पहुँचुगा।

आपका कृपाकांक्षी
मोहनदास गांधी के बन्देमातरम्

महात्मा-द्वय का यह स्नेह एवं प्रेम निरन्तर प्रगाढ़ होता गया और परस्पर पत्राचार भी बढ़ता गया। उनके पत्रों का एक-एक शब्द स्नेहसिक्त होता था, गांधी जी के उपर्युक्त पत्र इस तथ्य की पुष्टि कर ही रहे हैं। साथ ही निम्नलिखित पत्र भी इसी का प्रमाण हैं।

जब महात्मा मुंशीराम स्वामी श्रद्धानन्द बने उस समय गांधी जी बेतिया में थे। यह समाचार उन्हें स्वामी जी के पत्र से ही मिला था। उन्होंने तत्काल पत्र लिख कर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की :

बेतिया
वैशाख शुक्ल ५ (अप्रैल २६, १९१७)

महात्मा जी,

आपका खत मिलने से मुझे बहुत आनन्द प्राप्त हुआ है। आपने जो नया नाम धारण किया है बहुत से उचित है।

यहाँ का काम बड़ा भारी हैं। ईश्वर कृपा से अत्याचार दूर होगा। परन्तु चार छः मास तो अवश्य मुझे रहना पड़ेगा। बाबू ब्रीजकिशोर प्रसाद इधर जो सहाय कर रहे हैं वे योग्य पुरुष हैं।

आपका
मोहनदास गांधी

स्वामी जी का पत्र आने में यदि कभी कुछ विलम्ब हो जाता था तो गांधी जी संभवतः अत्यधिक विकल हो जाया करते थे और जब पत्र मिल जाता था तो उनकी प्रसन्नता का पारावार ही नहीं रहता था। ऐसा भी नहीं था कि पत्रों में केवल कुशल क्षेम की ही बात होती हो, वरन् प्रायः हर पत्र कोई न कोई नवीन सूचना देने वाला होता था और गांधी जी की सम्मति में वह उनके लिए प्रेरणा का स्रोत भी होता था। गांधी जी चाहते थे कि स्वामी जी एक बार उनके आश्रम में आयें। इस विषय में उन्होंने ३० मई १९१८ को साबरमती से उन्हें निम्न पत्र लिखा था :

महात्मा जी,

आपका प्रेम पूरित हृदयद्रावक खत मुझे मिला है। वह खत का अभाव के लिये उत्तर देने में विलम्ब हुआ। मैं चि० इन्द्र को दिल्ली में कह रहा था 'क्या महात्मा जी मुझको भूल गये हैं ?' इसके पश्चात् दो-तीन रोज में आपका खत मिला। मैं खूब राजी हुआ। खेड़ा जिल्लाकी रैयत की जमीन खालसा की गई थी,

उसको वापस दे दी है। अब तो लोगों को बहुत आर्थिक हानि नहीं होगी। इस लड़त से लोकों को बड़ा जोर प्राप्त हो गया है। आपका पत्र मुझे बल देता है। मेरे कार्य में आर्थिक त्रुटी आयगी तब आपका स्मरण अवश्य करूंगा।

आपका दर्द अब कमी होगा। ईश्वर आपकी रक्षा करे।

आश्रमवासी सब आपके आने की राह देखते हैं। अवध वीतने से हम सब अधीरे बन जावेंगे।

आश्रमवासी सब आपको नमस्कार कहते हैं।

आपका
मोहनदास गांधी

इसी संदर्भ में गांधी जी ने मोतीहारी चम्पारन से चैत्र कृष्ण ११ को एक पत्र और लिखा था।

महात्मा जी,

आपके दोनों खत मुझे इस जगह पर मिले हैं। आपकी सर्व शुभेच्छा परमात्मा पूर्ण करे, ऐसी प्रार्थना करता हूं। यहाँ के बारे में क्या लिखूं? कब आश्रम पहुँचना होगा, यह कह नहीं सकता हूँ। परन्तु आप आश्रम पर जाओगे, ऐसी उमेद रखता हूँ। आपके जाने से (अक्तूबर में) आश्रम-वासियों का आश्वासन मिलेगा।

आपका
मोहनदास गांधी

गांधी जी का यह प्रेम ही स्वामी श्रद्धानन्द जी को राजनीति में खींच लाया और उन्हें सत्याग्रह-आन्दोलन का प्रमुख नेता एवं महान् स्वतंत्रता-सेनानी बना दिया। इसप्रकार दोनों महात्मा एक पथ के पथिक बन गये। हालांकि कालान्तर में विचार-भ्रातृत्व भाव में किसी प्रकार की कमी नहीं आई, वह ज्यों का त्यों बना रहा।

सन् १९१९ में कांग्रेस ने राष्ट्रीय महासभा का आगामी अधिवेशन अमृतसर में करने का निश्चय किया, पर समस्या यह थी कि स्वागत-समिति का अध्यक्ष कौन हो। कुछ समय पूर्व जलियाँ वाला काण्ड हो चुका था और सब ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी, अतः कोई भी नेता स्वागताध्यक्ष बनने को तय्यार नहीं' हो रहा था। अन्ततः स्वामी जी से अनुरोध किया गया तो उन्होंने स्वीकृति देने से पूर्व गांधी जी की सम्मति प्राप्त करना उचित समझा और उन्हें पत्र लिख दिया। गांधी जी ने उनके पत्र के उत्तर में साबरमती से भाद्रपद शुक्ला १० सम्वत् १९७५ को निम्न पत्र लिखा :

भाई साहेब,

आपका पत्र मिला। मेरा यह विश्वास है कि जब तक हम लोग धार्मिक भावना से राजनीति-क्षेत्र में प्रवेश नहीं करते, तब तक भारत का सच्चा और वास्तविक अभ्युदय नहीं हो सकता। यदि आप स्वागत-समिति के सभापति हो जायेंगे तो आप कांग्रेस में धार्मिक भाव पैदा करने में समर्थ हो सकेंगे। इसलिये

आपको स्वागत-समिति का सभापति होना ही चाहिये । यही सलाह मैं आप को दे सकता हूँ ।

आपका

मोहनदास गांधी

महात्मा गांधी ने ११ अप्रैल १९१९ को बम्बई में चौपाटी-तट पर आयोजित सार्वजनिक सत्याग्रह-सभा में एक भाषण दिया था । इस भाषण में जो बातें कही गई थीं उनमें से कुछ के बारे में किन्हीं सज्जन के मन में कतिपय शंकाएं उत्पन्न हुई, जिनके निवारण के लिये उन्होंने गांधी जी को एक पत्र लिखा था । गांधी जी ने इन शंकाओं का उत्तर स्वामी श्रद्धानन्द जी को लिखे निम्न पत्र के माध्यम से दिया था, जिससे सत्याग्रह और सत्याग्रहियों के बारे में उनका दृष्टिकोण सुस्पष्ट हो जाता है :

आश्रम

साबरमती

अप्रैल १७, १९१९

प्रिय श्रद्धानन्द जी,

मैं यह पत्र अंग्रेजी में लिख रहा हूँ; श्री शुएब चाहते हैं कि जिन लोगों के सामने यह पढ़ा जायेगा उनकी खातिर मुझे अंग्रेजी में ही लिखना चाहिए । जिन प्रश्नों* के उत्तर मुझसे मांगे गये हैं वे संभवत: आपके सामने होंगे । इसलिये यहाँ मैं उनकी क्रम-संख्या ही दूंगा ।

प्रश्न संख्या १* के सम्बन्ध में मेरा उत्तर इस प्रकार है । सत्याग्रहियों के अतिरिक्त जो अन्य व्यक्ति प्रदर्शनों में भाग लेते हैं उन्हें उस अवसर पर सत्याग्रह के नियमों का पालन अवश्य करना चाहिये । इसलिए वे बड़ी से बड़ी उत्तेजनात्मक कार्यवाई किये जाने पर भी बदला न लेने के लिये वाध्य हैं । जिस अवसर पर असत्याग्रही जनता भी यदि आन्दोलन में भाग ले रही हो तो उस समय उनके तथा सत्याग्रहियों के बीच कोई अन्तर नहीं रखा जा सकता । अ—सत्याग्रही भाग तभी ले सकते हैं जब वे वचन दे कि सहयोग माँगा जाने पर वे हमारे सिद्धान्त को अंगीगार करेंगे । इसलिये मेरा ख्याल है कि जिस समय अ-सत्याग्रही हमारे साथ

---

*पाठकों की सुविधा के लिये हम प्रश्न से क्रमशः पाद टिप्पणी में दे रहे हैं ।

* प्रश्न १—आप अपने वक्तव्य में कहते हैं : "जो सत्याग्रह में शरीक होते है उन्हें हर हालत में हिंसा से अलग रहना है । ईंट-पत्थर नहीं फेंकने हैं और न किसी को किसी अन्य प्रकार से चोट पहुंचानी है ।" हम यह जानना चाहेंगे कि 'सत्याग्रह में शरीक होने वाले लोगों में' क्या आप सत्याग्रहियों से सहानुभूति रखने वाले अ—सत्याग्रहियों को भी शामिल करते हैं ? जैसा कि जाहिर है, यदि ऐसा है तो दूसरे पक्ष द्वारा हिंसा प्रारम्भ करने पर क्या वे भी सत्याग्रहियों की तरह चलने के लिये बाध्य हैं ?

काम कर रहे हैं उस समय हम भी उनके कामों के लिए उतने ही जिम्मेदार हैं जितना कि खुद अपने कामों के लिए। मेरा ख्याल है कि यह बात आपको स्पष्ट हो जायेगी कि इस आपसी सद्भाव के बिना सत्याग्रह को अ-सत्याग्रह द्वारा आसानी से प्रभावहीन या व्यर्थ किया जा सकता है। आप परस्पर विरोधी वस्तुओं को मिलायें और विस्फोट न हो ऐसा हो ही नहीं सकता।

प्रश्न संख्या २ ** के लिए मेरा जो जवाब है वह वास्तव में उपर्युक्त बातों से ही निकल आता है। मैं समझता हूँ कि हमें कानून के सामान्य नियमों का अधिक सख्ती से पालन करना चाहिए, क्योंकि हम सत्याग्रही हैं। जो परिणाम औचित्यपूर्वक किसी व्यक्ति के आचरण से निष्पन्न परिणाम सिद्ध किये जा सकते हैं, ऐसा माना जा सकता है कि उन परिणामों को झेलने का उसका इरादा जरूर रहा होगा। मेरा खयाल है कि कम से कम मुझे तो कुछ परिणामों की पूर्व कल्पना कर लेनी चाहिये थी, खासतौर पर यह देखते हुए कि मेरे उन मित्रों द्वारा मुझे पूरी तरह चेता दिया गया था जिनकी सम्मति में सदा मूल्यवान् समझ कर मांगता आया हूँ। परन्तु मैं स्वीकार करता हूं कि मैं जड़मति हूँ। मैं यह मजाक में नहीं कह रहा हूँ। कितने ही मित्रोंने मुझे बताया है कि में अन्य लोगों के अनुभवों से लाभ उठा ही नहीं पाता और हर मामले में खुद आग से होकर गुजरने और कटु अनुभव के बाद ही कुछ सीखता हूँ। इस आरोप में अतिशयोक्ति तो है, परन्तु इसमें सत्य का पुट भी है। किन्तु मेरी यह जड़ता, मेरी दुर्बलता भी है और मेरा गुण भी है। यदि मैंने अपने भीतर इस हठपूर्ण प्रतिरोध को विकसित न होने दिया होता तो मैं सत्य का आग्रह भी न रख पाता। प्रतिरोध का यह गुण बुद्धि से नहीं अनुभव से ही प्राप्त हो सकता है। सत्य की खोज बेशक खतरनाक धन्धा है और खासकर उस समय जब आपको आज जैसे किसी ऐसे वातावरण में काम करना पड़े, जो असत्य से और उससे उत्पन्न होने वाले सभी दोषों से परिपूर्ण हो। अब आप समझ गये होंगे कि मैं ऐसा क्यों

** प्रश्न २—आगे आप कहते हैं—"मुझसे पूछा गया है कि सत्याग्रही सत्याग्रह आन्दोलन से उत्पन्न परिणामों के लिये जिम्मेदार हैं या नहीं। मैंने उत्तर दिया है कि वे जिम्मेदार हैं।" इस सम्बन्ध में हमको यह समझाया जाना चाहिये कि किन-किन परिणामों को सत्याग्रह से निकला हुआ कहा जा सकता है! क्या हमारे साथ हमदर्दी रखने वाले या हमारा विरोध करने वाले अ—सत्याग्रहियों का गैरकानूनी या हिंसापूर्ण आचरण भी "आन्दोलन से उत्पन्न परिणामों में" शामिल है? जो लोग हमारा विरोध करते हैं सो इसलिए कि अधिकारियों के मूर्खतापूर्ण आक्रामक रुख, हिंसा अथवा अपने ही विरोधियों के अपघाती रुख का हमारी ओर से कोई प्रतिकार नहीं होता। यदि यह ठीक है तो सवाल उठता है कि क्या शान्त अ—सत्याग्रहियों पर अधिकारयों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों से निकलने वाले परिणामों के लिए सत्याग्रहियों को उत्तरदायी·ठहराना न्यायसंगत है?

मानता हूँ कि दिल्ली और बम्बई की घटनाओं के लिये जो हमारे दृष्टिकोण के अनुसार बहुत गम्भीर नहीं हैं और अहमदाबाद तथा वीरभगांव की बहुत गम्भीर एवं भर्त्सना के योग्य घटनाओं के लिये हम खुद जिम्मेदार हैं। दिल्ली से बाहर पंजाब में जो हुआ उसके लिए मैं अपने को तथा साथियों को सारे दोष से बरी ठहराता हूँ। यदि किसी अन्य मौके पर डॉक्टर सत्यपाल और डॉ० किचलू गिरफ्तार किये जाते तो ये बातें सत्याग्रह के न होते हुए भी हो सकती थीं। फिर भी मैं इतना और कहूँगा कि पंजाब की घटनायें हमें इसका संकेत देती हैं कि हमारी आगे की कार्यप्रणाली कैसी हो।

प्रश्न सं० ३* का मेरा उत्तर सं० १ के उत्तर में ही आ जाता है। वैसे तो मेरे उत्तर आन्दोलन में ही अन्तर्निहित हैं। सत्याग्रह का अर्थ वह सब है जो मैंने कहा है, इससे कम रत्तीभर भी नहीं। मेरी बताई परिस्थिति को छोड़कर और किसी स्थिति में सफलता प्राप्त होना असंभव।

प्रश्न संख्या ४* का उत्तर : क्या आपको मेरे भाषण का पूरा पाठ मिल गया है? उससे आपको मालूल हो जायेगा कि सत्याग्रह-आन्दोलन को बन्द कर देने की सम्भावना के विषय में मैंने जो लिखा है उसका क्या अभिप्राय है। आपने जो अर्थ लगाया है उस अर्थ में आन्दोलन का त्याग कभी नहीं किया जा सकता। परन्तु हमारे सत्याग्रह को शायद ऐसा मोड़ लेना पड़े, जैसा उसने पहले अहमदाबाद में लिया था; और उसे साधारण भाषा में परित्याग ही माना जायेगा। परन्तु हम कभी नैतिक या राजनीनिक आत्महत्या करने के भागी नहीं बनेंगे। आपने जो करने की सलाह दी

---

*प्रश्न संख्या ३—और आगे चल कर आप कहते हैं—"इसलिए मैं उन्हें कह देना चाहता हूँ कि अगर हम इस लड़ाई को हिंसा से बिल्कुल अलग रह कर न चला सकते हों·········"। क्या 'हम' शब्द में सत्याग्रहियों से सहानुभूति रखने वाले अ—सत्याग्रही भी शामिल हैं? यदि ऐसा है तो फिर वही (१) और (२) में उठाये गये सवाल उठते हैं, और फिर क्या 'हम' शब्द में संख्या (१) और (२) में वर्णित परि-स्थितियों के परिणाम—स्वरूप असत्याग्रहियों का सत्याग्रही आचरण भी शामिल माना जायेगा।

* प्रश्न संख्या ४ : आप संख्या (३) को जारी रखते हुये सुझाव देते हैं कि "तो लड़ाई बन्द करनी पड़ सकती है।" हम इस बात पर खास तौर से और जितना सम्भव है उतना जोर देकर कहना चाहते हैं कि हमारा इस स्थिति में आन्दोलन को बन्द करना नैतिक तथा राजनैतिक दृष्टि से आत्मघात करना ही सिद्ध होगा। हम प्रारम्भ में इस बात की कल्पना कर सकते थे और हमने की भी थी। हमारे विचार में इनका वास्तविक प्रतिकार आन्दोलन का त्याग करना नहीं, बल्कि कुछ समय के लिए कानूनों का तोड़ना स्थगित कर देना है। इस बीच जनता को उचित रूप से सत्याग्रह चलाने का शिक्षण और प्रशिक्षण देकर उसे तैयार करना चाहिये।

है वह हम यहाँ शुरू कर ही चुके हैं। अभी तक तो हमने सत्याग्रह-समिति द्वारा चुने हुए सभी कानूनों का तोड़ना मुल्तवी नहीं किया है; परन्तु दिल्ली में प्रवेश करने की कोशिश करके अपने को पुनः गिरफ्तार कराने की कोशिश मुल्तवी कर दी गई है। अब हम अत्यन्त सक्रिय रूप से, खुले तौर पर ही, बम्बई और अहमदाबाद दोनों स्थानों में सत्याग्रह का प्रशिक्षण दे रहे हैं। और कार्यकर्तागण आशा कर रहे हैं कि वे थोड़े ही समय में आम जनता को अनुशासन और नियन्त्रण में रख सकेंगे। मैंने आज तो कुछ सुना है, उसके कारण शायद एक कदम और आगे बढ़ कर सभी कानूनों का तब तक के लिये तोड़ा जाना मुल्तवी रखना पड़े जब तक हमें एक ऐसा वातावरण बन चुकने का भरोसा न हो जाये जिसमें हम काम कर सकते हों। आशा है कि मैं बम्बई पहुंचते ही एक वक्तव्य प्रकाशनार्थ भेजूंगा। यह शायद कल (शुक्रवार) को बम्बई से एक गम्भीर समाचार मिला है। श्री जमनादास ने अपने पत्र में लिखा है कि उनकी सूचनानुसार मुसलमान भाइयों की एक सभा में जिसमें मैं बोलने को था लेकिन अचानक अहमदाबाद बुला लिये जाने के कारण नहीं बोल सका था, मुसलमान मित्रों ने सत्याग्रह को कमजोर लोगों का अस्त्र माना है। उन्होंने कहा कि जैसे ही मौका हाथ लगेगा, वे निश्चय ही हिंसा का उपयोग करने से नहीं चूकेंगे। मेरे ख्याल में यह एक खतरनाक रुख है। राजनीति ही की दृष्टि से सत्याग्रह की दृष्टि से नहीं, मुझे ऐसा लगता है कि यहाँ कोई भी हिंसापूर्ण आन्दोलन, इस्लाम को फिर से उसे उसका हक दिलाने में सफल नहीं हो सकता। जब कि सच्चा सत्याग्रह यदि आम जनता में प्रविष्ट हो जाये तो वह यह काम एक दिन में करके दिखा सकता है; यह मेराअटल विश्वास है।

सं० ५* : मैं समझता हूं कि इस प्रश्न का उत्तर प्रकारान्तर से उपर्युक्त अनुच्छेदों में आ गया है।

कल आपको एक पत्र भेजा गया था जिसमें कल ही प्राप्त आपके पत्र की बातों के पूरे-पूरे उत्तर दिये गये थे। उस पत्र में दी गई राय को मैं यहाँ संक्षेप में इस तरह व्यक्त किये देता हूँ कि सत्याग्रह तब तक के लिये बन्द रखिये जब तक आपकी समिति की राय में उसे शुरू करने का समय न आ जाये; और जनता के बीच लगातार काम करते रहिये तथा सभी प्रकार की सेवा द्वारा उनमें सत्याग्रह के प्रति निष्ठा भरते रहिये।

आपका
मोहनदास गांधी

---

*प्रश्न संख्या ५ : "लेकिन जो सत्याग्रही नहीं है, जो इस आन्दोलन में शरीक नहीं हैं, अथवा जो इसके विरुद्ध भी हैं, यदि उन्हें कोई क्षति पहुँचेगी तो इसका पाप हर एक सत्याग्रही को लगेगा।" संख्या (१), (२) और (३) की बातें इसके साथ भी उतनी ही अधिक लागू होती हैं और सत्याग्रह के विरोधियों के अपराधों की सजा सत्याग्रहियों को दी जाये, यह तो बेजा जान पड़ता है।

३१ मार्च १९२४ को वाइकोम में अस्पृश्यता-निवारणार्थ एक सत्याग्रह शुरू किया गया था, जिसका उद्देश्य हरिजनों को मन्दिरों में प्रवेश का और सार्वजनिक सड़कों के उपयोग का अधिकार दिलाना था। इस सत्याग्रह का आरम्भ कांग्रेस के कुछ लोगों की ओर से किया गया था, जिनमें के० पी० केशव मेनन, श्री जार्ज जोसेफ आदि सम्मिलित थे तथा इसे महात्मा गांधी जी का भी आशीर्वाद प्राप्त था। स्वामी श्रद्धानन्द जी भी इस सत्याग्रह का निरीक्षण करने वाइकोम गये। वहाँ से लौट कर स्वामी जी ने सत्याग्रह की रिपोर्ट गांधी जी को भेजी और सत्याग्रहियों के लिए आवश्यक सहायता भिजवाने का अनुरोध किया। इस पत्र के उत्तर में गांधी जी ने स्वामी जी को निम्न पत्र लिखा :

आश्विन कृष्ण २ (१४ अक्तूबर १९२४)

भाई साहब,

आपकी चिट्ठी मिली है।.........वाइकोम के बारे में मैं प्रबन्ध कर रहा हूं। और मुझे उम्मीद है कि सत्याग्रहीयों को सहाय पहोंच जायगी। आपकी स्टेटमेंट मैंने ध्यान से पढ़ ली है। उसको मेरे हि पास रखुंगा।

आपका
मोहनदास गांधी

टिप्पणी : गांधी जी को लिखा गया तथा गांधी जी द्वारा श्रद्धानन्द जी को लिखा गया दोनों ही पत्र मूल रूप में अंग्रेजी में थे। यहाँ उनका हिन्दी-रूपान्तर दिया गया है।

स्वामी श्रद्धानन्द की लेखनी से

ऋषि दयानन्द के चरणों में

[ये उद्गार स्वामी जी ने अपनी आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' महर्षि दयानन्द सरस्वती—जिनका उनके जीवन निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान था— को समर्पित करते हुये व्यक्त किये थे।]

ऋषिवर ! तुम्हें भौतिक शरीर त्यागे ४१ वर्ष हो चुके, परन्तु तुम्हारी दिव्य मूर्ति मेरे हृदय-पट पर अब तक, ज्यों की त्यों अंकित है। मेरे निर्बल हृदय के अतिरिक्त कौन मरणधर्मा मनुष्य जान सकता है कि कितनी बार गिरते-गिरते तुम्हारे स्मरण-मात्र ने मेरी आत्मिक रक्षा की है। तुमने कितनी गिरी हुई आत्माओं की काया पलट दी, इसकी गणना कौन मनुष्य कर सकता है। परमात्मा के बिना, जिनकी पवित्र गोद में तुम इस समय विचर रहे हो, कौन कह सकता है कि तुम्हारे उपदेशों से निकली हुई अग्नि ने संसार में प्रचलित कितने पापों को दग्ध कर दिया है ? परन्तु अपने विषय में मैं कह सकता हूं कि तुम्हारे सहवास ने मुझे कैसी गिरी हुई अवस्था से उठाकर सच्चा जीवन लाभ करने योग्य बनाया ?

मैं क्या था, इसे इस कहानी में मैंने छिपाया नहीं। मैं क्या बन गया और अब क्या हूँ ? वह सब तुम्हारी कृपा का ही परिणाम है। इसलिये इससे बढ़कर मेरे पास तुम्हारी जन्म-शताब्दि पर और कोई भेंट नहीं हो सकती कि तुम्हारा दिया आत्मिक जीवन तुम्हें ही अर्पण करूँ। तुम वाणी द्वारा प्रचार करने वाले केवल तत्ववेत्ता ही न थे, परन्तु जिन सचाइयों का तुम संसार में प्रसार करना चाहते थे उनको क्रिया में लाकर सिद्ध कर देना भी तुम्हारा ही काम था। भगवान् कृष्ण की तरह तुम्हारे लिये भी तीनों लोकों में कोई कर्तव्य शेष नहीं रह गया था, परन्तु तुमने भी मानव-संसार को सीधा माग दिखलाने के लिये कर्म की उपेक्षा नहीं की।

भगवन् ! मैं तुम्हारा ऋणी हूँ, उस ऋण से मुक्त होना चाहता हूँ। इसलिये जिस परम पिता की असीम गोद में तुम परमानन्द का अनुभव कर रहे हो, उसी से प्रार्थना करता हूँ कि मुझे तुम्हारा सच्चा शिष्य बनने की शक्ति प्रदान करें। ●

आपबीति

[सवत् १९६९–७० में महात्मा मुंशीराम जी ने 'सद्धर्म प्रचारक' में 'कुछ आपबीति कुछ जगबीति' शीर्षक से अपने जन्म से लेकर सार्वजनिक जीवन में प्रवेश तक (संवत् १९१३ विक्रमी से संवत् १९४८ तक) की घटनाओं को आत्मकथा के रूप में क्रमशः प्रकाशित किया था, जो उनके संन्यासाश्रम-प्रवेश के बाद संवत् १९८१ में 'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई। उद्धृत हैं इसी पुस्तक में से स्वामी जी की अपनी तूलिका से आरेखित कुछ रेखाचित्र।]

मेरे अन्धविश्वास के जीवन की समाप्ति

जहाँ प्रातःकाल गंगास्नान से पहले कुश्ती का फिर प्रारम्भ हो गया था और डलिया झारी लेकर विश्वनाथादि की पूजा-अर्चन करके जलपान करना नित्यकर्म-विधि का एक अंग बनाया गया था, वहाँ सायंकाल भ्रमण के बाद प्रतिदिन ७ बजे विश्वनाथादि के दर्शन करने में रात्रि का व्यालू करता था। पौष १९३२ के अन्त में एक दिन भ्रमण करने ऐसी ओर गया जहाँ से मेरा निवासस्थान समीप न था। दूर चले जाने से लौटना ७॥ बजे हुआ। कुछ आराम करके आठ बजे दर्शनों के लिये चला। विश्वनाथादि के मन्दिर एक ही गली में हैं, जिसके दोनों ओर पुलिस का पहरा रहता था। मैं विश्वनाथ मन्दिर की ओर के फाटक पर पहुँचा तो पहरे वाले ने मुझे रोक दिया। पूछने पर पता लगा कि रीवां की रानी दर्शन कर रही है, उनके चले जाने पर द्वारा खुलेगा। मुझे कुछ खिसियाना सा देख पुलिसमैन ने, जो मेरे पिता की अर्दली में रह चुका था, मोढ़ा बैठने को रख दिया। मैं एक पल के लिये बैठ तो गया परन्तु विचार कुछ उलट गये। इस रुकावट से मेरे दिल पर ऐसी ठेस लगी जिसका वर्णन लेखनी नहीं कर सकती। जी घबड़ा उठा और मैं उलटा चल दिया। पहरे वाले ने बहुत पुकारा, परन्तु मैंने घर आकर ही दम लिया। आहट पाकर भृत्य भोजन लाया तो क्या देखता है कि मैं, कपड़े पहिरे ही बिस्तर पर लेट रहा हूँ। कह दिया कि भोजन नहीं करूंगा। नौकर मेरे आग्रह करने पर स्वयं खाना खाकर सो गया।

मुझे वह रात जागते बीती। मन की विचित्र व्याकुल दशा थी। प्रश्न पर प्रश्न उठते थे—"क्या सचमुच यह जगत् स्वामी का दरबार है जिससे एक रानी उसके भक्तों को रोक सकती है? क्या यह मूर्ति विश्वनाथ की हो सकती है और या वे देवता कहला सकते हैं जिनके अन्दर ऐसा पक्षपात हो। परन्तु मूर्तियों को देवता किसने बनाया? नित्य मेरे सामने संगतराश ही तो मूर्तियाँ बनाते हैं ......"
कभी व्याकुल होकर दस-बीस मिनट टहलता, फिर बैठ जाता। कभी लेट जाता।

फिर दूसरी ओर प्रश्नावली की लहर पर लहर उठी—'जब सांसारिक व्यवहारों में पक्षपात है तो देवताओं के दरबार में उसका दखल क्यों न हो ? क्या मनुष्यों ने भी पक्षपात देवताओं से ही सीखा ? क्या मेरे स्वच्छन्द जीवन ने तो मुझे अविश्वासी नहीं बना दिया" ? गोस्वामी तुलसीदास के दोहे और चौपाइयां याद आने लगीं। जब नीचे लिखे दोहे का स्मरण हुआ तो अश्रुधारा बह निकली—

बार बार वर मांगहूँ, हर्ष देहु सिय रंग।
पद सरोज अनुपायनी, भक्ति सदा सतसंग ॥

एक घण्टे तक आँसुओं का तार बंधा रहा, अपने इष्टदेव महावीर से प्रकाश के लिये प्रार्थना की। परन्तु उस समय बालयति के ध्यान से भी कुछ लाभ न हुआ। अन्त को रोना-धोना बन्द हुआ और प्राचीन यूनान (ग्रीस) और रोम की मूर्ति पूजा के इतिहास पर मानसिक दृष्टि दौड़ गई। पहले जो लेख मूर्तिपूजा में रुचि दिलाते थे, उस पर नया प्रकाश पड़ने लगा। हिन्दू मूर्तिपूजा के विरुद्ध ईसाइयों की जो दलीलें पढ़ी थीं उन्होंने मुझे हिन्दू देवमाला से बेगाना बना दिया और आधी रात पीछे यह निश्चय करके सो गया कि अपने प्रिन्सिपल पादरी ल्यूपोल्ट से संशय निवृत्त करूँगा।

दूसरे दिन पादरी ल्यूपोल्ट को मैंने जा घेरा। वह बहुत प्रसन्न हुये और मुझे अपनी कलीसिया में लाने के लिये बहुत मग़ज़पच्ची की। मेरे तीन दिनों के प्रश्नों से ही पादरी साहब घबरा गये और मुझे निराशाजनक मामला (hopeless case) समझ कर उन्होंने छोड़ दिया। नास्तिकपन से मेरा चित्त अभी तक घबराता था। मुझसे अंग्रेजी पढ़ने बनारस संस्कृत कालेज के एक विद्यार्थी आया करते थे। वह दर्शनों का अभ्यास करते और योग्य विद्वान् थे। अंग्रेजी इसलिये पढ़ते थे कि उसके कारण उनकी छात्रवृत्ति तिगुनी हो सकती थी। इन्होने मुझे लघुकौमुदी पढ़ानी आरम्भ कर दी थी। व्याकरण में भी इनकी अच्छी गति थी। उनसे भी एक दिन स्वभावतः बातचीत हुई। उनकी युक्तियों ने मुझे शान्त तो न किया, उलटी संस्कृत से ही मुझे घृणा हो गई। मैंने पण्डित विद्याधर से कह दिया कि संस्कृत में कोई अक़ल की बात ही नहीं है और इसलिये मैं अब कौमुदी न पढूंगा। परन्तु पण्डितजी मुझसे सरेस की तरह चिपट गये और थोड़ा बहुत व्याकरण का बोध कराके ही मुझे छोड़ा। अस्तु !

यह तो आगे की बात है। सारांश यह कि हिन्दू मूर्तिपूजा से मुझे घृणा हो गई, प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयों की दलीलें पोच मालूम हुई, हिन्दू शास्त्रज्ञ मेरी शान्ति न कर सके, इसलिये कुश्ती और गंगास्नान का नियम स्थिर रहते हुये भी दर्श स्पर्श से मुक्ति मिल गई। परन्तु अश्रद्धा की ओर सर्वथा जाने में भी झिझक बाकी थी।

पूजा दर्शन का अंकुश दूर हो ही चुका था, अब श्रद्धाहीन होने के कारण गंगास्नानों पर क्यों निष्ठा रहनी चाहिये थी। परन्तु नहीं, जो स्वभाव बन चुका था

उसका प्रभाव कैसे दूर होता ? प्रातःकाल का उठना, कसरत कुश्ती और गंगास्नान बराबर जारी रहे ।

महर्षि दयानन्द का प्रथम दर्शन और सत्सङ्ग

१४ श्रावण, संवत् १९३६ के दिन स्वामी दयानन्द बांसबरेली पधारे ३ भाद्रपद को चले गये । स्वामी महाराज के पहुँचते ही कोतवाल साहब को हुकुम मिला कि पण्डित दयानन्द सरस्वती के व्याख्यानों के अन्दर फिसाद को रोकने का बन्दोबस्त कर दें । पिता जी स्वयं सभा में गये और स्वामी जी के व्याख्यानों से ऐसे प्रभावित हुये कि उनके सत्संग से मुझ नास्तिक की संशय निवृत्ति का उन्हें विश्वास हो गया । रात को घर आते ही मुझे कहा—"बेटा मुंशीराम ! एक दण्डी संन्यासी आये हैं, बड़े विद्वान् और योगिराज हैं । उनकी वक्तृता सुनकर तुम्हारे संशय दूर हो जायेंगे । कल मेरे साथ चलना ।" उत्तर में कह तो दिया कि चलूँगा परन्तु मन में वही भाव रहा कि केवल संस्कृत जानने वाला साधु बुद्धि की बात क्या करेगा । दूसरे दिन बेगम बाग की कोठी में, पिताजी के साथ पहुँचा जहाँ व्याख्यान हो रहा था । उस दिव्य आदित्य मूर्ति को देख कुछ श्रद्धा उत्पन्न हुई, परन्तु जब पादरी टी. जे. स्काट और दो-तीन अन्य युरोपियनों को उत्सुकता से बैठे देखा तो श्रद्धा और भी बढ़ी । अभी दस मिनट वक्तृता नहीं सुनी थी कि मन में विचार किया—"यह विचित्र व्यक्ति है कि केवल संस्कृतज्ञ होते हुये ऐसी युक्तियुक्त बातें करता है कि विद्वान् दंग हो जायें ।" व्याख्यान परमात्मा के निज नाम ओ३म् पर था । वह पहले दिन का आत्मिक आह्लाद कभी भूल नहीं सकता । नास्तिक रहते हुये भी आत्मिक आह्लाद में निमग्न कर देना ऋषि आत्मा का ही काम था ।

उसी दिन दण्डी स्वामी से निवेदन किया गया कि टाउनहाल मिल गया है इसलिए कल से व्याख्यान वहाँ शुरू होंगे । स्वामी जी ने उच्च स्वर से कह दिया कि सवारी समय पर पहुँच जाया करेगी तो वह तय्यार मिलेंगे ।

टाउनहाल में जब तक "नमस्ते" "पोप" "पुरानी, जैनी, किरानी, कुरानी" इत्यादिक परिभाषाओं का अर्थ बतलाते रहे तब तक तो पिता श्रद्धा से सुनते रहें, परन्तु जब मूर्तिपूजा और ईश्वरावतार का खण्डन होने लगा तो जहाँ एक ओर मेरी श्रद्धा बढ़ने लगी वहाँ पिताजी ने आना बन्द कर दिया और एक अपने मातहत थानेदार की ड्यूटी लगा दी । २४ अगस्त की शाम तक मेरा समय विभाग यह रहा कि दिनका भोजन करके दोपहर को ही बेगम बाग की कोठी पहुँच ड्योढ़ी पर बैठ जाता । २॥ बजे और ४ बजे के बीच में जब ऋषि का दरबार लगता तो आज्ञा होते ही जो पहला मनुष्य आचार्य ऋषि को प्रणाम करता वह मैं था । प्रश्नोत्तर होते रहते और मैं उनका आनन्द लेता रहता । व्याख्यान के लिये २० मिनट से पहले अब दर्बारी विदा हो जाते और आचार्य चलने की तैयारी कर लेते । मैं अपनी 'बेगनट' पर सीधा टाउनहाल पहुँचता । व्याख्यान का आनन्द उठाकर उस समय तक घर पर न लौटता जब तक कि आचार्य दयानन्द की बग्घी उनके डेरे की ओर

न चल देती। २५, २६, २७ अगस्त को ऋषि दयानन्द के पादरी स्काट के साथ तीन शास्त्रार्थ हुये। विषय प्रथम दिवस पुनर्जन्म, द्वितीय दिन ईश्वरावतार, और तीसरे दिन यह था कि मनुष्य के पाप बिना फल भुगते क्षमा किये जाते हैं या नहीं। पहले दो दिन लेखकों में मैं भी था। परन्तु दूसरी रात को मुझे सन्निपातज्वर हो गया और फिर आचार्य दयानन्द के दर्शन मैं न कर सका। ३० श्रावण से ६ भाद्रपद (१५ से २५ अगस्त) तक ऋषि-जीवन सम्बन्धी अनेक घटनायें मैंने देखीं, जिनमें से उन्हीं कुछ एक को यहाँ लिखूँगा जिनका प्रभाव मुझ पर ऐसा पड़ा कि अब तक वे मेरी आँखों के सामने घूम रही है।

मुझे आचार्य दयानन्द के सेवकों से मालूम हुआ कि वह नित्य प्रातः शौच से निवृत्त होकर, केवल कोपीन पहिरे लट्ठ हाथ में लिये, ३।। बजे बाहर निकल जाते हैं और ६ बजे लौट कर आते हैं। मैंने निश्चय किया कि उनका पीछा करके देखना चाहिये कि बाहर जाकर वह क्या करते हैं। दबदब-ए-केसरी अखबार के एडिटर भी मेरे साथ हो लिये। ठीक ३।। बजे बाहर निकल कर आचार्य चल दिये। हम पीछे हो लिये। पाव मील धीरे-धीरे चलकर वह इस तेजी से चले कि मुझसा शीघ्रगामी जवान भी उन्हें निगाह में न रख सका। आगे तीन मार्ग फटते थे। हमें कुछ पता न लगा कि किधर गये। दूसरे प्रातःकाल हम अढ़ाई बजे से ही घात में उस जगह छिपकर जा बैठे जहाँ से तीन मार्ग फटते थे। उस विशाल रुद्रमूति को आते देखकर हम भागने को तैयार हो गये। वह तेज चलते थे और मैं पीछे भाग रहा था। मेरे पीछे बनिये एडिटर भी लुढ़कते-पुढ़कते आ रहे थे। बीच में एक आध मील की दौड़ भी रुद्र स्वामी ने लगायी। परन्तु वहाँ मैदान था, मैंने भी उनको आँख से ओझल न होने दिया। अन्त में वे पाव मील धीरे-धीरे चल कर एक पीपल के वृक्ष तले बैठ गये। घड़ी से मिलाया तो पूरे ढेढ़ घण्टे आसन जमाये समाधि में स्थित रहे। प्राणायाम करते नहीं प्रतीत हुये, आसन जमाते ही समाधि लग गयी। उठकर दो अंगड़ाइयाँ लीं और टहलते हुये अपने तत्कालीन आश्रम की ओर चल दिये।

एक सनीचर के व्याख्यान के बाद श्रोतागण को बतलाया गया कि दूसरे दिन (आदित्यवार को) नियत समय से एक घण्टा पहले व्याख्यान शुरू होगा। आचार्य ने उसी समय कह दिया कि यदि सवारी एक घण्टा पहले पहुँचेगी तो मैं उसी समय चलने को तैयार रहूँगा। आदित्यवार को लोग पिछले समय से डेढ़ घण्टे पहले ही जमा होने लगे। हाल (व्याख्यान-भवन) खचाखच भर गया, परन्तु आचार्य न पहुँचे। पाव घण्टा, आधा घण्टा भी बीत गया परन्तु बग्घी की घड़घड़ाहट न सुनायी दी। पौन घण्टा पीछे ऋषि दयानन्द की विशाल मूर्ति, उन्हीं वस्त्रों से अलंकृत जो उनके चित्र में दिखाये जाते हैं, ऊपर चढ़ती दिखायी दी। मध्य की डाट के नीचे वाली एक ओर की दीवार में सोंटा टेक कर, ईश्वर-प्रार्थना के लिये बैठने से पूर्व उन्होंने कहा—"मैं समय पर तय्यार था परन्तु सवारी न आई। बहुत प्रतीक्षा के बाद पैदल ही चल दिया। मार्ग में पिछले नियत समय पर ही सवारी मिली।

इसलिये देरी हो गयी। सभ्य पुरुषों! मेरा कुछ दोष नहीं है। दोष बच्चों के बच्चों का है जो प्रतिज्ञा करके पालन करना नहीं जानते।" यह संकेत खजांची लक्ष्मीनारायण की ओर था जिनके आतिथि होकर उनकी बेगम बाग वाली कोठी में स्वामी दयानन्द रहते थे। बाबू लक्ष्मीनारायण सरकारी पाँच खजानों के खजांची थे और बरेली में उस समय करोड़पति समझे जाते थे।

एक व्याख्यान में वह पौराणिक असम्भव तथा आचारभ्रष्ट कहानियों का खण्डन कर रहे थे। उस समय पादरी स्काट, मिस्टर एडवर्ड्स कमिश्नर, मिस्टर रोड कलेक्टर, १५ या २० अन्य अंग्रेजों सहित उपस्थित थे। आचार्य ने अन्य कहानियों में पंचुकुंवारियों की कल्पना पर कटाक्ष किया और एक से अधिक पति रखने वाली द्रौपदी, तारा, मन्दोदरी आदि के किस्से सुनाकर श्रोतागण के धार्मिक भावों को अपील की। स्वामी जी के कथन में हास्यरस अधिक होता था, इसलिये श्रोतागण थकते न थे। साहब लोग हँसते और आनन्द लूटते रहे। फिर आचार्य बोले—"पुराणियों की तो यह लीला है, अब किरानियों की लीला सुनो। यह ऐसे भ्रष्ट है कि कुमारी के पुत्र उत्पन्न होना बतलाते, फिर दोष सर्वज्ञ शुद्ध स्वरूप परमात्मा पर लगाते और ऐसा घोर पाप करते हुये तनिक भी लज्जित नहीं होते। इतना सुनते ही कमिश्नर और कलेक्टर के मुंह क्रोध के मारे लाल हो गये, परन्तु आचार्य का भाषण उसी बल से चलता रहा और अन्त तक ईसाई मत का ही खण्डन होता रहा।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही खजांची लक्ष्मीनारायण को कमिश्नर साहब के यहाँ से बुलावा आया। साहब ने कहा—"अपने पण्डित स्वामी को समझा दो कि सख्ती से काम न लिया करे। हम ईसाई तो सभ्य हैं, वाद-विवाद की सख्ती से नहीं घबराते परन्तु यदि जाहिल हिन्दू-मुसलमान भड़क उठे तो तुम्हारे पण्डित स्वामी के व्याख्यान बन्द हो जायेंगे। 'खजांची जी यह सन्देश आचार्य तक पहुँचाने की प्रतिज्ञा करके लौटे। खजांची जी चाहते थे कि बात छेड़ने वाला कोई अन्य मिल जाये, जिससे वह आचार्य की झाड़ से कुछ-कुछ बच जायें। जब कोई खड़ा न हुआ तो मुझ नास्तिक को आगे किया गया। परन्तु मैंने यह कहकर अपना पीछा छुड़ाया कि खजांची साहब कुछ कहना चाहते हैं क्योंकि कमिश्नर साहब ने उनको बुलाया था। अब सारी मुसीबत खजांची जी पर टूट पड़ी। खजांची साहब कहीं सिर खुजलाते हैं। कहीं गया साफ करते है। पाँच मिनट तक आश्चर्यित रह कर आचार्य बोले—"भाई, तुम्हारा तो कोई काम करने का समय ही नियत नहीं, तुम समय के मूल्य को नहीं समझते। मेरे लिये समय अमूल्य है। जो कुछ कहना हो कह दो।" इस पर खजांचीजी बोले—"महाराज! अगर सख्ती न की जाये तो क्या हर्ज है? इससे असर भी अच्छा पड़ता है। अंग्रेजों को नाराज करना भी अच्छा नहीं—इत्यादि इत्यादि।" बड़ी कठिनाई से अटक-अटक कर ये वचन गरीब के मुँह से निकले। महाराज हंसे और कहा—"अरे! बात क्या थी जिसके लिए गिड़गिड़ाता है। मेरा इतना सम

भी नष्ट किया। साहब ने कहा होगा तुम्हारा पण्डित कड़ा बोलता है, व्याख्यान बन्द हो जायेंगे, यह होगा, वह होगा। अरे भाई ! मैं हौवा तो नहीं कि तुझे खा लूंगा उसने तुझसे कहा, तू सीधा मुझसे कह देता। व्यर्थ इतना समय क्यों गँवाया ?" एक विश्वासी पौराणिकहिन्दू बैठा था, बोला--"देखा ! यह तो कोई अवतार है, मन की बात जानलेते हैं।"

उस शाम के व्याख्यान की कौन सुनने वाला भूल सकता है ? मैंने बड़े-बड़े वाग्विशारदों के व्याख्यान सुने हैं, परन्तु जो तेज आचार्य के उस दिन के सीधे सादे शब्दों से निकल कर सारी सभा को उत्तेजित कर गया उसके साथ किसकी उपमा दूं। उस दिन आत्मा के स्वरूप पर व्याख्यान था। पूर्व दिवस के सब अंग्रेज (पादरी स्काट के अतिरिक्त) उपस्थित थे। व्याख्यान में सत्य के बल का विषय आया। सत्य की व्याख्या करते हुये आचार्य ने कहा—"लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो, कलक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे ! चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।" इसके पीछे एक श्लोक पढ़कर आत्मा की स्तुति की—न शस्त्र उसे काट सके, न आग उसे, जला सके। न पानी उसे गला सके और न हवा उसे सुखा सकें। वह नित्य अमर है। फिर गरजते हुये शब्दों में बोले—"यह शरीर तो अनित्य है, इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यथ है। इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नाश कर दे।"--फिर चारों और तीक्ष्ण दृष्टि डालकर सिंहनाद करते हुये कहा—"किन्तु वह शूरवीर पुरुष मुझे दिखलाओ जो मेरे आत्मा का नाश करने का दावा करे। जब तक ऐसा वीर इस संसार में दिखायी नहीं देता तब तक मैं यह सोचने के लिये भी तय्यार नहीं कि मैं सत्य को दबाऊंगा या नहीं।" सारे हाल मैं सन्नाटा छा गया। रुमाल का गिरना भी सुनायी देता था।

व्याख्यान में कुछ देर हो गयी थी। उठते ही ऋषि दयानन्द ने पूछा—"भक्त स्काट आज दिखायी नहीं दिये।" पादरी साहब किसी व्याख्यान से भी अनुपस्थित न होते थे और अलग भी प्रेम से वार्तालाप किया करते थे, इसलिये ऋषि को उनसे बड़ा प्रेम हो गया था। किसी ने कहा, पास के गिरजे (चेल्प) में आज उनका व्याख्यान था। सीढ़ियों के नीचे उतरते ही ऋषि ने कहा—"चलो, भक्त स्काट का गिरजा देख आवें।"

अभी तीन चार सौ आदमी खड़े थे। वह सारी भीड़ लेकर गिरजा पहुँचे। वहाँ व्याख्यान समाप्त हो चुका था। श्रोता सौ के लगभग थे। पादरी पाहब नीचे उतर आये, स्वामी जी को वेदी (पुलपिट) पर ले गये और कहा कि कुछ उपदेश दीजिये। आचार्य ने खड़े-खड़े ही बीस मिनट तक मनुष्य पूजा का खण्डन किया।

यद्यपि आचार्य दयानन्द के उपदेशो ने मुझे मोहित कर लिया था तथापि मैं मन में सोचा करता था कि यदि ईश्वर और वेद के ढकोसले को पण्डित दयानन्द

स्वामी तिलांजलि दे दें तो फिर कोई भी विद्वान् उनकी अपूर्व युक्ति और तर्कना शक्ति का सामना करने वाला न रहे। मुझे अपने नास्तिकपन का उस दिनों अभिमान था। एक दिन ईश्वर के अस्तित्व पर आक्षेप कर डाले। पाँच मिनट के प्रश्नोत्तर में ऐसा घिर गया कि जिह्वा पर मुहर लग गयी। मैंने कहा—"महाराज ! आपकी तर्कना बढ़ी तीक्ष्ण है; आपने मुझे चुप तो करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती (अस्तित्व) है।" दूसरी बार फिर तैयारी करके गया, परन्तु परिणाम पूर्ववत् ही निकला। तीसरी बार फिर पूरी तैयारी करके गया परन्तु मेरे तर्क को फिर पछाड़ मिली। मैंने फिर अन्तिम उत्तर वही दिया—"महाराज ! आपकी तर्कनाशक्ति बड़ी प्रबल है; आपने मुझे चुप तो करा दिया, परन्तु यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर की कोई हस्ती है।" महाराज पहले हँसे, फिर गम्भीर स्वर से कहा—देखो, तुमने प्रश्न किये, मैंने उत्तर दिये—यह युक्ति की बात थी। मैंने कब प्रतिज्ञा की थी कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर करा दूँगा। तुम्हारा परमेश्वर पर विश्वास उस समय होगा जब वह प्रभु स्वयं तुम्हें विश्वासी बना देंगे। अब स्मरण आता है कि नीचे लिखा उपनिषद्वाक्य उन्होंने पढ़ा था

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न बहुना श्रुतेन।
यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्येष आत्मा विवृणुते तनू स्वांम् ॥"
कठ० १·२·२२ ॥

चाकरी का कटु अनुभव

पिता जी ने समझ लिया कि अब में कालिज में पढ़ने के योग्य नहीं रहा। मुझे पुलिस के काम से घृणा है, यह पिता जी जानते थे। कीमश्नर एडवर्ड्स उनके पुराने मेहरबान थे। उन्होंने मुझसे पूछा कि तहसीलदारी की परीक्षा देकर उस महकमे में काम करना स्वीकार होगा या नहीं। मैंने स्वीकार कर लिया।

मेरे सबसे बड़े भाई तलबन में घर पर भूमि और साहूकारी का प्रबन्ध करते थे। दूसरे और तीसरे भाई पुलिस सब इन्सपेक्टर (थानेदार) बनकर मिर्जापुर और हमीरपुर के जिलों में स्थित थे। चौथा मैं रह गया, जिसको काम में लगाना पिताजी ने अपना अंतिम कर्तव्य समझा। वे कमिश्नर एडवर्ड्स के पास मुझे ले गये। साहब मुझसे अंग्रेजों में बातचीत करके प्रसन्न हुये। न केवल मेरा रौल तहसीलदारी के लिये भेज दिया, प्रत्युत बरेली का नायब तहसीलदार तीन महीनों के लिये नियुक्त कर दिया, क्योंकि पक्का नायब छुट्टी पर जा रहा था। चारों और से इष्ट मित्रों ने बधाई दी और मैंने स्वीकार की।

तहसीलदार मुनीरुद्दीन मेरे पिताजी को अपना बुजुर्ग समझते थे, क्योंकि पहले उनके पिता बरेली में डिपुटी मजिस्ट्रेट थे और संवत् १९१७–१८ में मेरे पिता से उनका बहुत मेल था। उन्होंने मुझे काम सिखाया और में परीक्षा की तैयारी भी करने लगा। बरेली की तहसील और कोतवाली आमने-सामने है, इसलिये भी मुझे

अपनी अवस्था में कुछ भेद न मालूम हुआ। एक महीना भली प्रकार व्यतीत हुआ। फिर १५ दिनों की छुट्टी पर तहसीदार गये। में उनका भी स्थानापन्न हुआ। पिता जी प्रसन्न हुये कि में शीघ्र उन्नति करूँगा। परन्तु उन १५ दिनों में मेरे मन का चित्र ही बदल गया। कलेक्टर और जण्ट मजिस्ट्रेट के वर्ताव को मैंने अपमानसूचक पाया। अन्दर ही अन्दर कुढ़ता रहा और शेख मुनीरुद्दीन के लौटते ही अपना भाव उन्हें बतलाया। उनके उत्तर ने मुझे निराश कर दिया––"अरे भाई अंग्रेज तो बादशाह हैं। काला कितना ही बढ़ जाये, फिर भी महकूम ही हैं। ऐसी उपज की लेने से काम न चलेगा" मेरा बोझ फिर तहसीलदार साहब ने सम्भाल लिया और एक मास मैंने और बिता दिया। अभी नायब साहब के लौटने में पन्द्रह दिन बाकी थे। हमारी तहसील के एक पडाव पर सेना को रात काटनी थी। वह स्थान बरेली से ८ या १० मील पर था। रसद रसानी के लिये में चपरासी जमादार लेकर पहुँचा। फौज गोरो की थी। उन्होंने अण्डेवाले के अण्डे, बिना मूल्य दिये। लूट लिये। मैंने कर्नल के पास शिकायत की और कहा कि यदि अण्डे बेचने वाले गरीब के दाम उसी समय न चुका दिये गये तो मैं सब दुकानदारों को लौटा दूँगा। कर्नल साहब आग बबूला हो कर बोले—"तुम ऐसा करोगे तो नुकसान उठाओगे। तुम्हारी इस गुस्ताखी का मतलब क्या है।" जब मुझे गुस्ताख कहा गया और धकमी दी गयी तो मुझसे भी न रहा गया। मैंने उत्तर दिया "मैं अपने आदमियों को लेजा रहा हूँ। मैं यह अपमान नहीं सह सकता। आप जो कर सकते हों कर लें।" कर्नल आगे बढ़ा वह निहत्था था मेरे हाथ में हण्टर था। मैंने हण्टर संभाला। कर्नल जरा रुका और मैंने भाग कर रिकाब पर पैर रक्खा और जमादार चपरासियों को लौट आने की आज्ञा देकर घोडे को एड़ दी। अन्य दुकानदार अण्डे लुटते ही भाग गये थे। मैंने लौटते ही तहसीलदार को सारी कहानी सुनाई। उनके चेहरे पर हवाइयों उड़ने लग गयी। मैंने रात को सारी रिपोर्ट लिखी। उर्दू में तो तहसीलदार साहब के सुपुर्द कर दी अंग्रेजी की रिपोर्ट लेकर मैं कलेक्ट्रर साहब के बंगले पर पहुँचा। रिपोर्ट होते ही बुलाया गया। कर्नल साहब पहले ही बैठे हुये थे। शिकायत कर चुके थे। कलेक्टर साहब ने मुझे देखते ही क्रोधातुर हो कहा––"कर्नल साहब की क्यों हतक की। तुम्हें कर्तव्य न पालन करने का दण्ड मिलेगा।" मैंने अपनी रिपोर्ट कलेक्टर के हाथ में देकर कहा––"इसे पढ़ लीजिये और फिर न्याय कीजिये।" मुझे बैठने को न कहा गया। मैं खड़ा-खड़ा अन्दर विष घौलता रहा। वे मेरी रिपोर्ट पढ़ कर्नल को लेकर अगल कमरे में चले गये। दस मिनट पीछे दोनों लौटे और कलेक्टर साहब ने कहा कि यदि मैं कर्नल बहादुर से क्षमा माँग लुं तो मेरे विरुद्ध कोई भी महकमे की कार्यवाही न होगी। मेरे मन की दशा तो बहुत टेढ़ी थी, परन्तु रुककर मैंने साहब को सलाम किया और एकदम बाहर निकलकर तहसील की राह ली। वहाँ कमिश्नर साहब का सवार मुझे बुलाने आया था। उल्ट पैरों फिर छावनी को लौटा कमिश्नर साहब मुझे स्थिर करने की फिकर में थे। बाहर की तहसील में स्थान खाली था,

वह देना चाहते थे। मैंने कर्नल वाली सारी कहानी सुनकर निवेदन किया कि सरकारी नोकरी से पेट भर गया, अब मुझे क्षमा कीजिये। मैं उसी दिन विदा चाहता था, परन्तु कृपालु कमिश्नर एडवर्ड्स ने १५ दिन और रोक, कलेक्टर के हुकुम को रद्द करके मुझे बिना किसी दाग के बिदा किया। छुट्टी से लौटे नायब साहब की नियम पूर्वक चार्ज देकर में सदा के लिये अंग्रेजों की चाकरी से मुक्त हो गया।

आर्य समाज में प्रवेश

संवत् १९४१ का माघ मास और आदित्यवार का दिन है। नास्तिकपन के गढ़े से में निकल चुका हूं। धर्म विषयक गहरे आन्दोलन के पश्चात् सत्यार्थ प्रकाश का पाठ दिन रात आरम्भ कर चुका हूँ। अनारकली के पास रहमत खा के अहाते में एक तीन कमारों वाली कोठी के बांई ओर के कमरे में मैं प्रातः ६ बजे कुरसी पर बैठा हूं। सत्यार्थ प्रकाश का आठवी समुल्लास सामने खुला पड़ा है, किन्तु में हाथ पर सिर रखे किसी गम्भीर विचार में निमग्न हूँ। इतने में कमरे का द्वारा खुला और मेरे मित्र सुन्दरदास जी ने अन्दर प्रवेश किया। उनके पैर की आहट ने मुझे विचारनिद्रा से जगा दिया। यह सुन्दरदास जी रावलपिण्डी के राजक्रान्तिक आन्दोलन में फंसे वकील, लाला अमोलकराम के भाई और आर्य जाति की उन्नति के दृढ़ पक्षपाती थे। सुन्दरदास भी जानते थे कि आस्तिक बनने के पश्चात् मेरा अधिक झुकाव ब्राह्म समाज की ओर हो रहा है। उन्होंने पूछा—"किस चिन्ता में हैं, कहिये कुछ निश्चय न हुआ ?" मेरी ओर ओर से उत्तर मिला—"पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने फैसला कर दिया, आज मैं सच्चे विश्वास से आर्यसमाज का सभासद वन सकता हूँ।" इस उत्तर ने सुन्दरदास जी के मुख की कान्ति को ऐसा उज्जवल कर दिया कि उसका तत्काल ही मुझ पर प्रभाव पड़ा। मैं अपने ४० वर्ष के आर्य-सामाजिक जीवन में जब जब किसी संशयात्मक व्यक्ति को संशय-सागर के किनारे पर पहुंचा कर श्रद्धा और विश्वास की रमणीय वाटिका में विश्राम कराने का साधन बना हूँ तब तब कई वार मैंने इस प्रकार के आह्लाद का अपने अन्दर अनुभव किया है।

सुन्दरदासजी को हम सब "भाई सुन्दरदास" कहते थे। यद्यपि उनके नाम के साथ इस शब्द का प्रयोग उनके पित्रों में हँसी-दिलग्गी से किया था, किन्तु जिस प्रेम से वे अपने मित्रों की सेवा किया करते थे और जिस प्रकार का भ्रातृभाव उनके अन्तःकरण को पवित्र का रहा था, उसके बाह्य बर्ताव ने उन्हें सचमुच अपने मित्रों का भाई ही बना दिया था। भाई जी वहाँ जम गये। मेरे स्थान में ही स्नानादि नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर मुझे साथ ले आर्य समाज की ओर चल दिये।

पहली आत्मिक हलचल

पिताजी के अपेक्षाकृत नीरोग होने पर भी मैं तलवन ग्राम में ही ठहर गया

और उनकी सेवा करने लगा। इतने में ज्येष्ठ की निर्जला एकादशी का दिन आ पहुँचा। स्नान-पूजा से निवृत्त होकर पिताजी अपनी बैठक से घर में आये। यहाँ झज्झर पानी से भरकर और उसके ढक्कन पर खरबूजा, मीठा और दक्षिणा रखकर सारे घर को संकल्प पढ़ना था। निर्जला एकादशी के दिन जितना जल हमारे हिन्दू पीते हैं उसे देखकर इस अनोखे नामकरण संस्कार पर हँसी आती है। व्रत तो यह कि एक दिन-रात निराहार, यहाँ तक कि बिना जल के, निर्वाह करेंगे और व्रतियों का आचरण यह कि दिन भर खरबूजे खाकर शरबत पीते-पीते हैजे के शिकार बन जायें। कैसी अद्‌भुत लीला है।

निर्जला एकादशी का दिन मेरी धार्मिक परीक्षा का पहिला अवसर था। पिताजी मेरे साथ अपने सब पुत्रों से अधिक प्रेम करते थे। उनको अपने मन्तव्य में पूर्ण श्रद्धा थी और उसके वह प्रचारक भी थे। जहाँ वह अपने इष्टदेव की भक्ति में कभी आलस्य नहीं करते थे, वहाँ पंजाब के बेसुरे हिन्दुओं को मुसलमानों की कब्रों की पूजा से रोकने में भी तत्पर रहते थे तलवन ग्राम में सैकड़ों को उन्होंने कब्र परस्ती से रोककर ठाकुर जी के मन्दिर का सेवक बना दिया था। पिताजी ने संकल्प के समय मुझे बुलाने को आदमी भेजा। मैं जानता था कि आज परीक्षा का दिन है। उससे बचने के लिये अपनी बैठक में पुस्तक खोलकर पढ़ने बैठ गया था। मैंने समझा था कि आँखें बन्द कर लेने से बला टल जायेगी, किन्तु पिताजी का दूत सिर पर आ सवार हुआ। मैं उठकर पिताजी के पास जाने के लिये बाधित हुआ। उस समय का दृश्य मुझे कभी नहीं भूल सकता। घर में दो मंजिले पर एक लंबा दालान है। उसमें सामने बड़े आसन पर पिता जी बैठे हुए हैं और उनके सामने एक लम्बी पंक्ति में झज्जर सजी रक्खी हैं। सबके सामने मेरे भाई-भतीजे बैठे हैं, जो संकल्प कर चुके हैं और केवल एक झज्झर के सामने का आसन मेरे लिये खाली पड़ा है मैं सामने पहुँच कर खड़ा हो गया और नीचे लिखी बातचीत हुई।

पिताजी—"आओ मुंशीराम। तुम कहाँ थे? हमने तुम्हारी बड़ी प्रतीक्षा करके सबसे संकल्प पढ़ा दिया है। तुम भी संकल्प पढ़ लो, तब मैं भी संकल्प पढ़कर निवृत्त हो जाऊँगा।"

मैं पिताजी से स्पष्ट कहने से डरता था। इसलिये पहला उत्तर यह दिया—"पिताजी। संकल्प तो दिल के साथ सम्बन्ध रखता है, जब आपने संकल्प किया है तो आपका दान है, जिसे चाहें दें। इसलिये मैंने आना आवश्यक नहीं समझा था।"

पिताजी को मेरे आर्य बनने की खबर मिल चुकी थी। पहले तो उन्हें कुछ प्रसन्नता सी हुई थी, क्योंकि उनको केवल इतना ही पता लगा था कि मैं नास्तिक से आस्तिक बन गया हूँ। किन्तु जब जालंधर से मेरे तथा देवराज जी के व्याख्यानों का समाचार उन्हें मिला तो उन्होंने देवराज जी के पिता राय शालिग्राम जी को लिखा था कि हम दोनों को अपने देवी देवताओं की निन्दा करने से रोकना चाहिये। बीमारी

में वह इन सब बातों को भूल गये थे, किन्तु आज सब पुराने संस्कार जाग उठे। पिताजी ने मेरे उत्तर में कहा—

"क्या मेरा धन तुम्हारा नहीं ? फिर उसमें से दान देने का तुम्हें अधिकार क्यों नहीं ? और क्या दिल का संकल्प बाहर निकालना पाप है ? तुम ठीक कारण क्यों नहीं बतलाते ?" इतना कहकर पिताजी ने सीधा वार किया—"क्या तुम एकादशी ब्राह्मणपूजा पर विश्वास नहीं रखते ? क्या बात है ?"

इस स्पष्ट प्रश्न पर निकलने का कोई मार्ग न देख पड़ा, मैंने कहा—"ब्राह्मणत्व पर तो मुझे पूर्ण विश्वास है, किन्तु जिनको आप दान देना चाहते हैं, वे मेरी दृष्टि में ब्राह्मण नहीं है, और एकादशी के दिन में भी मैं कुछ विशेषता नहीं समझता।" मेरा इतना कहना था कि पिताजी आश्चर्ययुक्त होकर मेरी ओर देखने लगे। मैंने आँखें नीची कर लीं। एक क्षण के पश्चात् पिताजी ने दीर्घ श्वास लिया और कहा—'मैंने तो बड़ी आशा देकर तुम्हें बड़ी सरकारी नौकरी से हटा वकालत की ओर डाला था। मुझे तुमसे बड़ी सेवा की आशा थी, क्या उस सबका फल मुझे यही मिलना था ? अच्छा जाओ।" मैं चुपचाप नीचे उतर आया और सारे दिन शोक-सागर में डूबा रहा।

दूसरी आत्मिक हलचल

इसप्रकार, ज्यों त्यों करके मैंने दो मास से अधिक काट दिये, और लाहौर के लिये प्रस्थान का दिन निकट आ गया। नागौरी बैलों से जुती हुई मझोली तैयार हुई, उसके नीचे और पीछे सब असबाब रखवा और बंधवाकर मैं पिताजी की सेवा में प्रणाम करने के लिये उपस्थित हुआ। अपने बनवाये मन्दिर की बड़ी डेवढ़ी के ऊपर उनके रहने के कमरे बने हुये थे। पिताजी तकिया लगाये बड़े कमरे में बैठे थे। उनका निजी सेवक भीमा खड़ा था। मैंने पहुँचकर पैरों पर सिर रखकर प्रणाम किया। पिताजी ने सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। मैं चलने के लिये उठने लगा। आज्ञा हुई कि अभी बैठ जाओ। फिर भीमा भृत्य की ओर इशारा हुआ। उसने एक थाली में मिठाई और उसके ऊपर एक अठन्नी रखकर मेरे सामने की। तब पिताजी ने कहा—"जाओ पुत्र। ठाकुर जी को मत्था टेककर विदा होओ। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र भगवान के पायक हनुमान जी तुम्हारी रक्षा करें। मैं इतना सुनते ही सुन्न हो गया। काटो तो खून नहीं। कुछ उत्तर न बन आता था चुपचाप बैठा था। पिताजी ने मेरे मौन का कारण कुछ और ही समझा। मैं अपने निज के आराम के लिये जहाँ उन दिनों भी अधिक व्यय नहीं करता था वहाँ उदार भी बहुत था। जहाँ दूसरा आदमी दो आने पारितोषिक देकर सन्तुष्ट होता, वहाँ मुझे आने से कम देने में लज्जा आती। पिताजी स्वयं बड़े अच्छे प्रबन्धकर्त्ता थे और उनके गृह का सारा व्यय बड़े नियम से चलता था। पिताजी ने समझा कि मैं आठ आने की भेंट देवता के लिये कम समझता हूँ। भीमा को कहा गया कि अठन्नी उठाकर एक रुपया रख दे। उसने ऐसा ही किया। तब पिताजी ने कहा—"लो पुत्र ! अब ठीक हो गया,

देर होती है । ठाकुर जी को मत्था टेककर सवार हो जाओ ।" तब मुझे अपने ऊपर बड़ा जब्र करके बोलना ही पड़ा । यह नहीं सूझता था कि किस प्रकार बोलूं कि पिताजी को कष्ट न हो । मैंने कहा - "पिताजी यह बात नहीं है, किन्तु मैं अपने माने हुये सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई कार्य कैसे कर सकता हूँ । हाँ, सांसारिक व्यवहार में जो आप आज्ञा दें, उसके पालन के लिये हाजिर हूँ ।" इतना कहकर मैं चुप हो गया। पिताजी के मुख पर कई प्रकार के उतराव चढ़ाव आये और उन्होंने क्रोध भरे शब्दों में कहा—"क्या तुम हमारे ठाकुर जी को धातु पत्थर समझते हो ? ' इस समय मेरे अन्दर घोर संग्राम हो रहा था । न जाने कैसे धृष्टता से मैंने कहा—"परमात्मा से नीचे अपने लिये मैं आपको ही समझता हूँ, किन्तु हे पिता ! क्या आप चाहते हैं कि आपकी सन्तान मक्कार हो ?" यह शब्द बड़े ही करुणापूर्ण स्वर में मेरे अन्दर से निकले थे । पिताजी की जबान भी कुछ लड़खड़ा गई—"कौन अपनी संतान को मक्कार देखना चाहता है ?" मैंने उस समय को जीवन की रक्षा मृत्यु प्राप्ति का समय समझा और कहा—"तब मेरे लिये तो यह मूर्तियाँ इससे बढ़कर कुछ नहीं, और यदि मैं उनके आगे भेंट धर कर सिर झुकाऊँगा तो वह मक्कारी होगी ।" कहने को तो मैंने इतना कह डाला, किन्तु उस पर पिताजी के हृदय-वेधक शब्द सुनकर मुझमें कुछ शक्ति ही नहीं रही । "हाँ ! मुझे विश्वास नहीं कि मरने पर मुझे कोई पानी देने वाला भी रहेगा, अच्छा भगवन् जो तेरी इच्छा ?" मैं मानों धरती में गड़ गया, पैर वहीं के वहीं रहे । दस मिनट तक न मुझे ही कुछ सुध रही और न पिताजी ही कुछ बोले । फिर उन्होंने धीरे से कहा—"अच्छा अब जाओ, देर होगी ।" मैंने चुपचाप प्रणाम किया और नीचे उतर कर मझोली पर सवार हो गया ।

पिता जी पर सत्यार्थप्रकाश का प्रभाव

तलवन में ९ रुपये पाने वाले जो नायब मुदर्रिस थे, उनका का नाम काशीराम था । वह जन्म के ब्राह्मण और संस्कृत पढ़े हुये थे, किन्तु उन दिनों संस्कृत की पूछताछ कहाँ थी ? पण्डित काशीराम का परिवार बड़ा था, क्योंकि "दशास्यां पुत्रान्" की मर्यादा के उल्लंघन की सीमा पर पंडित पहुँच चुके थे, और वेतन कुछ भी नहीं बढ़ा । इसलिये इधर-उधर के मनुष्यों से दान लेकर ही उनका यत्किश्चित् निर्वाह होता था । पिताजी से उन्हें विशेष सहायता मिलती थी, क्योंकि जब से पिताजी की आँखों पर स्तम्ब रोग का आक्रमण हुआ था तब से धर्मग्रन्थों का पाठ उन्हीं से सुना करते थे । लाहोर जाते समय "सत्यार्थप्रकाश" तथा "पंच महायज्ञविधि" ये मेरी दो पुस्तकें पिताजी की बैठक में कमरे में छूट गयी थीं । मैं उन दिनों ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका का स्वाध्याय कर रहा था, इस कारण उन पुस्तकों के अभाव को मैंने अनुभव नहीं किया । पिताजी ने मेरी इन पुस्तकों को देखकर पंडित काशीराम से इनका पाठ सुनाने के लिये कहा । जब पंडित जी सुनाने को उद्यत हुए तो पिताजी ने कहा—"पहले इनकी देखभाल कर लो तब सुनाओ, हम निन्दायुक्त नास्तिकपन के ग्रन्थ सुनना नहीं चाहते ।" पंडित काशीराम जी थे आदमी चतुर, उन्होंने सबसे पहले

ब्रह्मयज्ञ का पाठ अर्थ सहित आरम्भ किया। ज्यों-ज्यों पिताजी सुनते उनकी श्रद्धा बढ़ती जाती, तब पंडित काशीराम ने सत्यार्थप्रकाश का प्रथम समुल्लास सुनाया। पिताजी ने कहा—'पंडित जी हम तो अविद्या में ही पड़े रहे। हमारा मोक्ष कैसे होगा ? हमने तो निरर्थक क्रियाएँ ही कीं, अब से वैदिक संध्या करेंगे।" बस फिर क्या था, पिताजी ने वेदमन्त्र तथा उनके अर्थ कण्ठ करना आरम्भ कर दिया। अब वैदिक संध्या और पंचायतन अर्थात् पांचदेव मूर्तियों की पूजा साथ ही साथ होने लगी।

वकालत और सचाई का मेल दुस्तर

मेरी मुख्तारी का काम इस वर्ष के आरम्भ में खूब चमका। उस समय जालंधर में फौजदारी के प्रसिद्ध धड़ल्लेदार वकील बूढ़े बीची साहब थे। उनकी भी आसपास धूम मची हुई थी। सब अभियुक्त उन्हीं की प्रायः सहायता चाहा करते थे। वे रंगीले चारवाक के चेले थे, इसलिये फौजदारी करने वाली जाट आदि जातियों में यह प्रसिद्ध था कि जो दुनिया के सब भागों में निःशृंखल नहीं है, वह फ़ौजदारी का अच्छा वकील नहीं हो सकता। मैं मद्य, मांसादि का विरोधी होने से फौजदारी के काम से बहुधा वंचित रहता था। अकस्मात् मुझ पर विश्वास रखने वाले जाट सरदार ने मुझे एक मुकदमें में अभियुक्त की ओर से भुगताया। मिस्टर बीची ने मुझे उस मुकदमें में पैरवी करते देखा। उनको मेरा काम पसन्द आया और कुछ दिनों पश्चात् अपने बड़े मुकदमों में सहायता के लिये उन्होंने मुझे अपने साथ रखवाया। बस फिर क्या था, धूम मच गयी और मुख्तारी में ही मेरी आमदनी बहुत से वकीलों से भी बढ़ गयी, क्योंकि मेरे पास दीवानी का भी काम काफी आता था।

किन्तु यह सारी कमाई हुई प्रसिद्धि कुछ महीनों के पश्चात् ही अप्रतिष्ठा में बदल गयी। इसका कारण यह था—मेरे पास एक मुंशी मुकदमा लाया। वही—हिसाब के रूप से १००० रुपये का साधारण दावा करना था। मैंने वही देखी तो १००० रुपये की बाकी पर टिकट न था, इसलिये कह दिया कि उस साक्षी पर दावा नहीं चल सकता। दावा चलने का एक और सीधा ढंग था, वह भी साहूकार महाशय को बतला दिया। उस समय तो साहूकार महाशय चले गये, किन्तु कुछ दिनों के पश्चात् उसी बाकी पर अपनी ओर से टिकट लगाकर अर्जी-दावा लिखवा दायर करवा दिया। पहली पेशी के दिन मेरे मुंशी से मिलकर मुख्तारनामे पर मेरे हस्ताक्षर करा लिये।

इन हस्ताक्षरों की कहानी भी बड़ी मनोरंजक है। यदि प्रातःकाल ही मुझसे हस्ताक्षर मांगे जाते तो मैं बही को देखना चाहता, इसलिये जब मैं कचहरी के लिये बग्घी में चढ़ने लगा तो मुंशी जी ने मुख्तारनामा पेश किया। मैंने पूछा कि बही आदि देखनी चाहिये। मुंशी साहब बोले—"हजूर ! मामूली बही-हिसाब पर १००० रुपये का दावा है। ५० रुपये फीस देता है, २५ रुपये वसूल हो चुके हैं। सिर्फ एक पेशी

का काम है ।" हजूर इस पर क्यों चूं चरा करने लगे थे। जिस मुकदमें में २० रुपये की आशा हो उसमें ५० रुपये मिलें तो सिवाय इसके और क्या हो सकता था कि मुख्तार साहब रासों को हिलाकर बड़ी कचहरी की राह लेते ।

बड़ी कचहरी से काम करके लौटा तो उसी मुकदमें के लिये मेरी प्रतीक्षा हो रही थी । मुन्सिफ अछरुराम साहब मेरे बड़े कृपालु थे, जवाब-दावा मेरे हाथों में देकर कहा कि मैं विवादास्पद विषय नियत कर दूँ । मुद्दालेह का जवाब दावा पढ़कर मुझे सन्देह हुआ । मैंने अपने मुवक्किल मुद्दई के मुंह की ओर देखा और वही का हिसाब निकला । बस निश्चय हो गया कि मुद्दई साहब की सब कारस्तानी हैं । मैंने मुन्सिफ साहब से कह दिया कि मुकदमे में जालसाजी होने के कारण में उसमें पैरवी नहीं करूँगा और मुंशी को आज्ञा दी कि २५ रुपये प्राप्त किये हुये वापिस कर दे । मुन्सिफ साहब ने अंग्रेजी में बहुतेरा समझाया कि इससे मेरी प्रसिद्धि उलटे प्रकार की हो जायेगी और मेरी आर्थिक दशा को हानि पहुँचेगी, किन्तु मैंने एक न मानी और अपना बयान देकर घर लौट आया ।

मेरी इस (सर्व साधारण की दृष्टि में) निर्बुद्धिता का असर दूसरे दिन ही प्रत्यक्ष दिखाई देने लगा । जो मुकदमें वाला मेरे पास आने को तैयार होता, अन्य वकीलों मुख्तारों के मुंशी उसे यह कहकर विचलाते "अबे । अपने मुवक्किलों का गला घुटवाने वाले मुख्तार के पास जाकर क्या करेगा ? चल ऐसा वकील कर जो अपने मुवक्किल के लिये सब फन फरेब खेलने को तैयार हो ।"

आटा फंड और रद्दी फंड का सृजन

लाहौर आर्यसमाज में संवत् १९४३ से 'आटा फण्ड' बड़े जोर-शोर से चला था । लाहौर से ही अन्य आर्यसमाजों ने भी 'आटा फण्ड' चलाने की शिक्षा ली थी । धर्म-कार्यों के लिये इस प्रकार आर्थिक सहायता एकत्र करने की प्रथा यहाँ तक चली कि जब तक आर्य प्रतिनिधि सभा ने गिरते-पड़ते भी अपने बजट से 'आटा-फण्ड' को नहीं काटा । यह आटा-फण्ड कैसे चला ? संवत् १९४२ की गर्मियों में जब लाहौर आर्यसमाज मन्दिर की ड्योढ़ी के ऊपर वाले मकान में साप्ताहिक अधिवेशन हो रहा था, एक साधारण लम्बा दुबला साधु आया और घुटने टेक कर बैठ गया । सत्यार्थ-प्रकाश की कथा समाप्त होते ही उसने एक मर्मस्पर्शी वक्तृता दी और यह प्रस्ताव किया कि प्रत्येक आदित्यवार को आर्यसामाजिक सभासद चुटकी-चुटकी आटा घर-घर से भिक्षा करके लावें और आर्यसमाज का काम चलावें । इसका इतना प्रचार हुआ कि दयानन्द कालिज की आमदनी का यह एक सन्तोषजनक भाग बना । बहुत से घरों में 'धर्म घट' रख दिये गये, गृह-पत्नियाँ प्रातः काल आटा गूंधने से पहले एक मुट्ठी आर्यसमाज के निमित्त निकाल कर धर्म-घट में डालती रही ।

जब साधु बोल चुका तो आरती होने पर वह बड़े प्रेम से मुझ से मिला । लाहौर आर्यसमाज के प्रधान श्री साईं दास जी ने मुझ से साधु जी का नाम पूछा ।

मैंने बतलाया कि "इनका नाम रमताराम है और यह कुछ काल से जालन्धर के श्रीमान् विक्रमसिंह सी० एस० आई० के यहाँ ठहरे हुए हैं। आर्य समाज से बड़ा प्रेम रखते हैं और श्री देवराज जी के और मेरे साथ इनका गहरा धार्मिक सम्बन्ध है।"

यह ठीक है कि धर्म-घट रखने वाले का प्रचार लाहौर में पहले-पहल स्वामी रमताराम जी ने कराया, किन्तु यह विभिन्न विचार सर्वप्रथम श्री देवराज के काल्पनिक मस्तिष्क से निकला था। उन्होंने जालन्धर आर्यसमाज के मन्त्री के अधिकार से अपनी अन्तरंग सभा में सबसे पहले यह प्रस्ताव पास कराया कि सब सभासदों के मकानों में एक-एक घड़ा रखा जाये, जिसमें प्रातः एक मुट्ठी आटा आर्यसमाज के कामों के लिये डाला जाये। इसका नाम देवराज जी ने ही अपनी विचित्र भाषा में 'चाटी सिस्टम' रखा, क्योंकि आटा रखने के बड़े मुंह वाले घड़े को जालन्धर में 'चाटी' कहते हैं। देवराज जी की कल्पना-शक्ति की यहीं तक समाप्ति नहीं न थी। उन्होंने चाटी सिस्टम के साथ 'रद्दी फण्ड' भी खोल दिया। इसका मतलब यह था कि सभासदों के घरों में महीने के अन्दर जितनी रद्दी इकट्ठी हो, वह सब आर्यसमाज का चपरासी उठा कर ले जावे और उसे बेच कर एक धन जमा कर लिया जाये। जहाँ तक मुझे याद है, इसी 'रद्दी फण्ड' की आमदनी से जालन्धर आर्यसमाज के पुस्तकालय के लिये पुस्तकें तथा समाचार-पत्र मंगाये जाते थे।

कन्या महाविद्यालय की स्थापना की प्रेरणा

कन्या महाविद्यालय जालन्धर के संस्थापन की कथा बहुत ही साधारण किन्तु शिक्षाप्रद है। जिस समय का मैं वृत्तान्त लिख रहा हूँ उस समय जालन्धर में एक पहाड़ी में वृद्धा स्त्री रहती थी, जिसे 'माईलाड़ो' कह कर लोग पुकारते थे। जो कुछ भी अक्षराभ्यास हिन्दी का हिन्दू महिलाओं का था, वह इसी माई की कृपा का परिणाम था। मेरी धर्मपत्नी ने भी इसी माई से कुछ पढ़ा था। इस माई को कुछ विशेष लालच देकर ईसाइयों ने अपनी पुत्री पाठशाला में रख लिया। यह अपनी शिष्या स्त्रियों की लड़कियों को लिहाज मुलाइजे के दबाव से ईसाई पुत्री पाठशाला में ले जाया करती थी। इसी प्रकार मेरी बड़ी पुत्री को भी उन्हीं की पाठशाला में बैठाया गया। २ कार्तिक संवत् १९४५ (१९ अक्टूबर १८८८) की डायरी में लिखा है ···" कचहरी से लौट कर जब अन्दर गया' तो वेदकुमारी दौड़ी आयी और जो भजन पाठशाला से सीखकर आयी थी, सुनाने लगी—'इकबार ईसा, ईसा, बोल, तेरा क्या लगेगा मोल। ईसा मेरा राम रसिया, ईसा मेरा कृष्ण कन्हैया'···इत्यादि। मैं बहुत चौकन्ना हुआ। तब पूछने पर पता लगा कि आर्य जाति की पुत्रियों को अपने शास्त्रों की निन्दा करनी भी सिखायी जाती है। निश्चय किया है कि अपनी पुत्री पाठशाला अवश्य खोलनी चाहिये।"

तीसरे दिन आदित्यवार था। आर्य समाज के साप्ताहिक अधिवेशन में राय बहादुर बख्शी सोहनलाल प्लीडर भी सम्मिलित थे। हम दोनों घर को इकट्ठे

लौटे । मैंने बख्शी जी से आर्य पुत्री पाठशाला की बात छेड़ी, वे पहले ही से तैयार मिले, क्योंकि उनको भी पता लग चुका था कि उनकी लड़की को क्या पढ़ाया जाता है । फिर क्या था, मैंने उसी रात बैठकर एक अपील लिखी और दूसरे दिन से ही चन्दा लिखाना शुरू हो गया । मेरी डायरी में पता लगता है कि मध्य कार्तिक (अक्टूबर के अन्त) तक मैं बराबर चन्दा इकट्ठा करता रहा । १७ कार्तिक (३ नवम्बर, दिवाली) को ऋषि दयानन्द का मृत्युदिवस था । मैंने उसी दिन प्रातः काल अपने घर में बृहत् हवन कराया । ४० महाशय उपस्थित थे । वहाँ कन्या पाठशाला के लिये फिर अपील की गयी ।

सद्धर्म प्रचारक का जन्म

जालन्धर आर्य समाज के तीसरे वार्षिकोत्सव से पहले ही समाज के बढ़ते हुए काम को देखकर अपना एक प्रेस खोलकर समाचार पत्र चलाने का विचार हो रहा था । उन दिनों जालन्धर और होशियारपुर के आर्य सामजियों का भाई चारे का सम्बन्ध था, इसलिये महाशय रामचन्द्र भी हमारे विचार के साथ सहमत थे । उन्होने मुझे लिखा कि यदि आर्य समाज की ओर से समाचार पत्र चलाने के लिये कोई कम्पनी बनायी जावे तो एक हिस्सा वह भी लेंगे, इस पर मैंने दो हिस्से स्वयं लेकर कुल १६ हिस्से (पच्चीस रुपये) के स्थिर किये । श्री लाला रामकृष्ण (वर्तमान प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब) जालन्धर में वकालत करने आ चुके थे और स्थानीय समाज के उपप्रधान नियत हो चुके थे । वे भी हिस्सेदार हुए । लाला देवराज और शालीग्राम वैश्य (प्रसिद्ध भंडारी, गुरुकुल कागड़ी), कपूर्थले के लाला शरणामल इत्यादि ने भी हिस्से लिये ।

प्रश्न तो पहले से ही हो रहा था, किन्तु जब लाला देवराज जी चले गये तब सभासदों को और भी अधिक जोश आया । २ फाल्गुन संवत् १९४५ (१४ फरवरी १८८९) को हिस्सेदारों की एक बैठक हुई । कपूर्थल से लाला गोविन्द सहाय को बुलाया गया था । इन्हीं के द्वारा प्रेस आदि का सौदा हो रहा था । उसी शाम को सब कुछ निश्चित होकर गोविन्दसहाय जी को ५० रुपये बयाना दिया गया ।

निश्चय हुआ कि प्रेस का नाम 'सद्धर्म प्रचारक' रखा जाये और प्रथम वैशाख संवत् १९४६ विक्रमी से सद्धर्म प्रचारक' नामक डेमी छोटे आठ पृष्ठों का एक उर्दू साप्ताहिक पत्र निकालना शुरू किया जाये । लाला देवराज और मैं सम्पादक नियत हुए । कचहरी में प्रकाशन-पत्र (डिक्लेरेशन) देने का काम मेरे सुपुर्द हुये, इसलिये मैं मैंनेजर नियत हुआ । इस समय से चैत्र संवत् १९४६ के अन्त तक सब प्रबन्ध होता रहा और १ वैशाख १९४७ को प्रचार का पहला अंक निकला ।

मेरी हरिद्वार और मेरठ यात्रा की स्मृतियाँ

श्री बालकराम जी की अकाल मृत्यु ने मेरी धर्म-पत्नी को बहुत उदास कर दिया था, इसलिये सितम्बर की छुट्टियों में उन्हें दोनों पुत्रियों तथा हरिश्चन्द्र को

साथ लेकर मैं सितम्बर १८८९ को एक दिन मेंह बरसते में हरिद्वार पहुँचा। हरिश्चन्द्र की आयु उस समय दो वर्ष की थी। हम कपूर्थले की हवेली में उतरे थे। हमारे आंगन के सामने ही गंगा बहती थी। हरिश्चन्द्र ने कुंजियों का गुच्छा खेलते-खेलते जोर से गंगा में फेंक दिया। जब ढूंढ़ पड़ी तो गंगा की ओर बेपरवाही से हाथ बढ़ा कर बोला "बह गयीं, कुंजियाँ बह गयीं।" हम सब हँस पड़े और घर लौटने पर हमें सब ताले तुड़वाने पड़े। हरिश्चन्द्र की निरपेक्षता बहुत पुरानी है। मेरे 'आर्यसमाज' नाम रूपी वज्र प्रहार पर भी पंडा जी ने आ ही घेरा। हमारा पंडा था भलामानस, बोला : "मुझे तो सेवा करनी है, चाहे कुछ देना या न देना।" पंडे यात्रियों को चारपाई पर सोने से मना किया करते थे। हमारे पंडे ने चारपाईयाँ ला दीं। नित्य घर से बांस का आचार तथा दही लाकर देने लगा। पाँच दिन इतना सुख पहुँचाया, जो २० रुपये व्यय करने पर भी न मिल सकता था। मैंने चलते समय ५ रुपये भेंट किये, जिसे उन्होंने प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार कर लिया। मैंने तो समझा कि पण्डा जी घाटे में रहे, परन्तु पण्डानी जी ने मेरी धर्म पत्नी के पास पहुँच कर पाँच रुपये और वसूल कर किये।

अब तो पण्डा जी का हौसला बड़ा बढ़ गया। उन्होंने खोलकर बही सामने रख दी और बोले—'यजमान ! आप आर्यसमाजी हैं तो हम भी आप से मूर्ति-पूजा के लिये नहीं कहते, परन्तु यह तो लिख दीजिये कि इस यात्रा में मैंने आपकी सेवा की थी। मैंने लिख दिया—"हरिद्वार में सैर के लिये आया, यदि यहाँ पण्डे और बन्दर न हों तो स्थान बड़ा रमणीय, और निवास के योग्य है।" उस समय पण्डा जी ने बड़ी प्रसन्नता से समझा कि मैदान मार लिया है, परन्तु जब पीछे से किसी से पढ़वाया होगा (क्योंकि प्रायः पण्डों के लिये काला अक्षर भैंस बराबर होता है, (तो मुझे खूब सुनायी होगी।

मैं अपने एक वृद्ध सम्बन्धी को साथ लाया था, जिनके साथ परिवार को अपने ग्राम तलवन पहुँचाने भेज दिया और मैंने मेरठ की ओर प्रस्थान किया। डॉक्टर रामचन्द्र जी मेरे पुराने परिचित तथा सम्बन्धी भी थे। उनके यहाँ मैंने डेरा किया। इसी समय रामचन्द्र वैश्य (लाला का बाजार, मेरठ) से मिला। इनका नाम, लाला का बाजार से अलग, समझ में ही नहीं आ सकता था। शोक कि यह महाशय अब मर चुके हैं। उस समय वह देवसमाजी गुरु अग्निहोत्री के बड़े चेले थे। डॉक्टर भी उन्हें अग्निहोत्री कह कर पुकारते थे। मुझसे मिलकर वह आर्यसमाज की ओर झुक गये और उसके पश्चात् दूसरे वर्ष ही अपनी धर्म-पत्नी सहित पंजाब में दौरे के लिये आये थे। मेरठ में पहुँचकर मैंने २३ भाद्रपद (८ सितम्बर आदित्यवार) को स्थानीय समाज मन्दिर में "अमर जीवन" विषय पर उपदेश दिया। बड़ा चबूतरा था, जिस पर दरियाँ बिछ गयीं। चारों तरफ लैम्पों की रोशनी भी हो गयी। उपस्थिति २५ की थी, एक-एक की लाइन बन गयीं। स्थान ४०० तक का समेट लिया और केवल २२ बैठे। अन्य लैम्प तो बड़े उत्तम थे परन्तु उपदेशक की

चौकी पर एक बड़ी मैली पुरानी लालटेन थी, जिसके शीशों पर मिट्टी चढ़ी हुई थी और अन्दर धुन्धला सा दिया जल रहा था। जब लैम्प लाने को कहा गया तो उत्तर मिला—'यह श्री स्वामी दयानन्द जी के समय की लालटेन है, यह न बदलेगी' अस्तु। एक नये पण्डित नौकरी के लिये बुलाये गये थे, उनकी परीक्षा होनी थी। वह ईश्वरोपासना के लिये बैठाये गये। उनको परीक्षा देनी थी, इसलिये एक-एक शब्द व्याकरण की रीति से सिद्ध करते करते उन्होंने बहुत समय ले लिया। तत्पश्चात् मैंने अपना कथन कह डाला। भजनों का कोई प्रबन्ध न था। अन्त में एक वेदमन्त्र बोलकर अधिवेशन समाप्त हुआ करता था। परन्तु उस समय नये पण्डित जी किसी कार्य के लिये चले गये थे। सब एक दूसरे का मुंह ताकने लगे। तब एक भद्रपुरुष ने कहा—चन्द्रभान जी ! आप भी तो ब्राह्मण हैं, मन्त्र बोल दीजिये। तब पता लगा कि सभा विसर्जन का मन्त्र ब्राह्मण कुलोत्पन्न को ही बोलना चाहिए। इससे पाँच मास पश्चात् यही लीला मैंने राजा साहब मण्डा के यहाँ देखी, जो सांयकाल की संध्या के लिये उस समय तक नहीं उठा करते थे, जब तक पंडित विद्यासागर जी विशेष श्लोक चेतावनी का न बोल देते थे।

मेरा उपदेश सुनकर युवकों ने आग्रह किया कि मैं व्याख्यान दूं, परन्तु कठिनाई यह हुई कि बिना अन्तरंग सभा की आज्ञा के मेज कुर्सी लगाकर व्याख्यान नहीं हो सकता था। इसलिये यह ठहरी कि मैं अपने भाई साहेब से, जो बहादुरगढ़ में थानेदार थे, मिलने चला जाऊँ और लौटते हुए व्याख्यान दूँ, तब तक अन्तरंग सभा का जलसा हो चुकेगा।

बहादुरगढ़ में भी भाद्रपद २८, २९ (१३ और १४ सितम्बर) को व्याख्यान देकर मैं फिर मेरठ लौटा और ३० भाद्रपद (१५ सितम्बर) को फिर वहाँ उपदेश दिया। मैंने चाहा कि भजन-कीर्तन की प्रथा यहाँ चला दूं, इसलिये एक युवक को हारमोनियम बजाने पर राजी भी कर लिया, परन्तु समय पर उसको इतने तानें मिले कि उसने बजाने में लज्जा प्रकट की। डॉक्टर रामचन्द्र जी को साथ ले मैंने वैसे ही भजन गाया। तब कुछ और भाई भी सम्मिलित हो गये। जब इससे तीन चार साल बाद उत्सव पर नगर-कीर्तन कराया गया था, उस समय भी मेरठ के बाजारियों ने खूब फब्तियाँ उड़ायी थीं। इस बार तो मेज-कुर्सी भी लग गयी और अढ़ाई-तीन सौ की उपस्थिति में दो व्याख्यान देकर जालन्धर लौट आया। ●

गुरुकुल का आदर्श

कुलपिता अमर महात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी ने महर्षि दयान्द सरस्वती की जन्म-शताब्दी के अवसर पर सन् १९२५ में इस लेख के माध्यम से गुरुकुल किसे कहते हैं, उसके आचार्य एवं गुरुजनों में क्या-क्या गुण होने चाहिए. गुरुकुल के लिए कैसा स्थान चुनना चाहिए आदि विषयों पर अपने विचार प्रकट किये थे । गुरुकुल की स्थापना के समय भी उनके समक्ष ये ही आदर्श उपस्थित थे और उन्होंने इनके क्रियान्वयन का प्रयास भी किया था । ये विचार आज के सदर्भ में भी उतने ही महत्त्वपूर्ण है जितने कि ५९ वर्ष पूव थे, बशर्ते कि गुरुकुलों के सचालक एवं आर्यनेता इन पर मनन करें और इन्हीं के अनुरूप गुरुकुलों एवं अन्य आर्य-शिक्षा-संस्थाओं का सचालन करें । अतः इस लेख को अविकल रूप में यहाँ उद्धृत किया जा रहा है ।]

आचार्य और शिष्य दोनों के मिलाप से 'आचार्य-कुल' अथवा 'गुरुकुल' बनता है । उस कुल में माता सावित्री और पिता आचार्य हैं । मनुस्मृति में लिखा है :—

> मातुरग्रेऽधि जननं, द्वितीयं मोञ्जिबन्धने ।
> तृतीयं यज्ञदीक्षाया, द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ।।
> तत्र यद् ब्रह्म जन्मास्य, मोज्जिबन्धन चिन्हितम् ।
> तत्रास्य माता सावित्री, पितात्वाचार्य उच्यते ।।

प्रथम जन्म माता-पिता से होता है, दूसरा जन्म आचार्य-कुल में होता है और तीसरा यज्ञ दीक्षा से । मनु महाराज कहते हैं कि माता-पिता तो जीवन विद्या के ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण कामवश होकर भी सन्तानोत्पत्ति कर देते हैं, परन्तु वह जन्म अजर और अमर है जो ब्रह्मचारी को विद्या के गर्भ में रख कर आचार्य देता है । यतः विद्या आचार्य से मिलती है, अतः जन्मदातृ माता की अनुपस्थिति में माता का स्थान भी उसी को ग्रहण करना पड़ता है । अथर्ववेद, काण्ड ११. अध्याय ३. सूक्त ५ के मन्त्र ३ में आचार्य का लक्षण और उसका कर्तव्य इस प्रकार बतलाया है :—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टमभिसंयन्ति देवाः ।।

'ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा रखने वाले ब्रह्मचारी को आचार्य अपने समीप कर के उसे गर्भ रूप से धारण करता है, उस को तीन रातों तक उसी गर्भ में रखता है, तब उसके उत्पन्न होने (द्वितीय वार आत्मिक जन्म लेने) पर उस को देखने के लिये विद्वान् आते हैं ।

वे तीन रात्रियें क्या हैं ? २४ वर्ष का ब्रह्मचर्य पूर्ण कर वसु ब्रह्मचारी

आचार्य के सामने बद्धाञ्जलि खड़ा होता है । आचार्य घर जाने की अनुमति देता है । श्रद्धा से पूरित 'वसु' ब्रह्मचारी कहता है : भगवन् ! अभी एक रात्रि ही समाप्त हुई है, केवल उत्तम गुणों का अपने अन्दर धारण करना ही सीखा है, अभी अपरिपक्व हूं, प्रलोभन मुझे सत्य मार्ग से विचलित कर सकते हैं, मुझे विशेष साधन सम्पन्न होने का अवसर दीजिये ।' शिष्य की असीम श्रद्धा को देख कर गुरु के हृदय से वचन निकलता है : एवमस्तु ।

३२ वर्ष की आयु तक तप पूर्वक विद्याभ्यास करता हुआ नैष्ठिक ब्रह्मचारी 'रुद्र' संज्ञा का अधिकारी बनता है । उस समय वह ऐसा शक्ति-सम्पन्न होता है कि विषय, पाप वासनायें तथा सम्पूर्ण दुर्वृत्तियें उसकी बनावट से टकरा टकरा कर छिन्न-भिन्न हो जाती हैं । आचार्य फिर घर लौटने की अनुमति देता है । शिष्य फिर दोनों हाथ जोड़ कर आर्त्तस्वर से निवेदन करता है : भगवन् ! अभी अंधियारी तीसरी रात सामने हैं, आक्रमण पर आक्रमण हो सकते हैं, अभी स्वरूप से तेज धारण नहीं कर सका हूं कुछ काल और आश्रम-निवास की आज्ञा दीजिये ।

तीसरी रात भी समाप्त हुई । हृदय के अन्दर तेज ही तेज है । मुख की कान्ति आदित्य ब्रह्मचारी बनने की साक्षी है । सावित्री के गर्भ से बाहर निकल कर आचार्य को प्रणाम करता है । ब्रह्मचारी के मस्तिष्क को सूर्य की भाँति देदीप्यमान देख कर आचार्य आशीर्वाद देते हैं :— तू अब 'आदित्य' है, तेरा प्रकाश स्थिर होगा, अन्धकार का साहस न होगा कि तेरे मार्ग को काट सके । जा, देव मण्डल में सम्मिलित हो जा । तब देव मण्डल उसका प्रेम पूर्वक स्वागत करता है ।

आचार्य कैसा होना चाहिये, यह ऊपर के प्रमाणों से कुछ २ समझ में आने लग गया है । परन्तु एक बात स्पष्ट प्रतीत होती है। शान्त बत्ती को जलती हुई बत्ती से ही जला कर प्रकाशमय बना सकते हैं । बुझी हुई बत्ती से चिराग नहीं जल सकता । इसीलिये उक्त सूक्त के १७वें मन्त्र में कहा है :—

'आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ।'

आचार्य को पूर्ण ब्रह्मचारी होना आवश्यक है । इतना ही नहीं, उसके लिए यजुर्वेद में कहा है :—

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावा पृथिवी अनेहसा ।
पूषा नः पातु दूरिता ऋतावृधो रक्षा माकिर्नो अघशँस ईशत ॥

अध्याय २९ । मं० ४७ ।

(सोम्यासः) उत्तम, आनन्द कारक गुण धारक (ऋतावृधः) सत्य को बढ़ाने वाले (पितरः) रक्षक, पालक (नः) हमारे लिये (अनेहसा) सदैव रहने वाले (द्यावा पृथिवी) प्रकाशयुक्त तथा अप्रकाशित लोक (शिवे) कल्याणकारी हों । (पूषा) पुष्टि कारक बल प्रदाता परमात्मा (नः) हमारी (दुरिता) दुर्व्यसनों, दोषों से (पातु) रक्षा करे । (नः) हम पर (अघशंस) पाप के प्रशंसक (माकिः ईशत) मत समर्थ हों ।

यह भाव है जो हृदय में धारण करके ब्रह्मचारी आचार्य के सम्मुख जाने का साहस करे और गुरुकुल में प्रवेश करते समय गुरु से नीचे लिखी प्रार्थना करे :—

ऋजीते परिवृङ्ग्धि नोऽश्माभवतु नस्तनूः । सोमो अधिब्रवीतु
नोऽदितिः शर्मयच्छतु ।। ऋ० २६ । म० ४६ ।

'पूज्य आचार्य ! अपने तेज से हमारे मानसिक और शारीरिक रोगों को सब ओर से दूर कीजिये । हमारा शरीर पत्थर के तुल्य दृढ़ हो । हमें मृत्यु और अमृत का रहस्य समझाइये और हमारे लिये कल्याण का विधान कीजिये ।'

आचार्य कौन होना चाहिये ?

(१) जिसमें न केवल रक्षक पिता के ही गुण हों, प्रत्युक्त जो माता के तुल्य शिष्य के सब भावों को समझ कर अपने प्रेम की गोद उसके अपर्ण कर सके । माता जिस प्रकार अपनी सन्तान पर अपने आपको न्योछावर कर सकती है और जिस प्रकार वह सन्तान के गुह्य से गुह्य भाव को समझ कर उस का संशोधन कर सकती है उसी प्रकार आचार्य में भी वह योग्यता साधारण बन जानी चाहिये । जिस विद्वान् गृहस्थ पर अपनी सन्तान की माता के अभाव में दोनों बोझ पड़ चुके हैं और जो उस परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुका हो वही ब्रह्मचारी को अपनी ओर आकर्षित करने का साहस कर सकता है ।

(२) जो स्वयं आदित्य पद को प्राप्त होकर स्वभावतः अन्धकार को दूर नहीं कर सकता वह आचार्य का कर्तव्य पूर्णतया पालन नहीं कर सकेगा । ब्रह्मचारी के सम्पूर्ण अंगों और प्रत्यंगों का निरीक्षण प्रतिदिन करना आचार्य का कर्तव्य है । उसके अन्दर ऐसा दृढ़ संकल्प होना चाहिये जिससे बिना प्रयास के ब्रह्मचारी के व्यसन दूर हो सकें ।

(३) आचार्य के इस तेज के ही प्रभाव से ब्रह्मचारी के मानसिक और शारीरिक रोग दूर हो सकते हैं । आचार्य के हृदय मन्दिर के कपाट ब्रह्मचारी के लिये हर समय खुले रहने चाहिये ।

(४) ब्रह्मचारी अपने शरीर को चट्टान की तरह दृढ़ बनाना चाहता है । आचार्य का शरीर और मन अपने शिष्य के लिये अडोल होना चाहिये । उसको इतना साधन-सम्पन्न होना चाहिये कि ब्रह्मचारी की आवश्यकताओं के अतिरिक्त और कोई चिन्ता उसे अपनी ओर खींच न सके ।

(५) मानसिक शिक्षा तो वर्तमान सांसारिक विद्यालयों में अच्छी से अच्छी मिल सकती है । संसार का दिखलावा उससे पूरा हो सकता है । परन्तु गुरुकुल में यदि कोई विशेषता है तो यही कि ब्रह्मचर्य की रक्षा से ब्रह्मचारी सम्यक ज्ञान प्राप्त करने का बल लाभ करता है । 'आदित्य' आचार्य शिष्य के अन्दर ऐसा प्रकाश भर देता है कि बिना परिश्रम के सहज में ही जीवन और मृत्यु के प्रश्न उसके लिये हल हो जाते हैं, अतः आचार्य, वेद तथा वेदांग का रहस्य सहित ज्ञाता होना आवश्यक है ।

सारांश यह है कि राष्ट्र का कल्याण इतना राष्ट्रपति और उसके आमात्यों की शक्ति पर निर्भर नहीं होता, जितना कि राष्ट्र के आचार्यों के सदाचार और तपोबल पर। जब तक ऐसा आचार्य न मिले और जब तक ब्रह्मचारियों के साथ उस का निर्विघ्न सम्बन्ध न रहे तब तक गुरुकुल का ढोंग मात्र ही रहता है। यदि किसी गुरुकुल को आदर्श तक पहुँचाना हो तो आचार्य और उपाध्यायों के अन्दर ये उच्च भाव अवश्य आने चाहिये।

स्थान और सामग्री

जब आचार्य वास्तविक गुण-सम्पन्न मिल गया तब एकान्त स्थान में गुरुकुल भवन का निर्माण होना चाहिये। वेद में कहा है :—

'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धियो विप्रा अजायत'

सम्यक ज्ञान की प्राप्ति के लिये हिमगिरि की उदार, प्रशान्त और प्रभावशाली शोभा से बढ़ कर और कौन-सा दृश्य हो सकता है ? देव नद के किनारे से बढ़कर आत्मचिन्तन के लिये प्रकृति का सूक्ष्म रूप से अध्ययन करने के लिये और कौन सा दिव्यतम स्थान हो सकता है ? पुराने मन्दिरों, जलाशयों और नदी के किनारों को देखो, भक्त जनों की संध्या के लिये वैसे अपूर्व शिलायुक्त आसन बनाये हुये हैं ! जहाँ एक और प्राकृतिक शुद्ध सौन्दर्य विप्र उत्पन्न करने में सहायक होते हैं, वहाँ वर्तमान गिरे हुये सांसारिक वायुमण्डल से ब्रह्मचारियों की रक्षा करना ही ब्रह्मचर्याश्रम की कृतकार्यता का मूल मन्त्र है।

ऐसे एकान्त शान्त देश में वृक्षों का बाहुल्य होना चाहिये, जिनकी छाया के नीचे ब्रह्मचारी विद्याध्ययन कर सकें। सिवाय उन दो चार मकानों के जिनमें पुस्तकों को सुरक्षित रखने और पदार्थ विज्ञान की शिक्षा का प्रबन्ध हो, शेष सब निवास और पढ़ाई के स्थान बहुत सादे होने चाहिये। भोजन पुष्टिकारक और सात्त्विक अवश्य हो परन्तु वस्त्र सादे और इतने कम होने चाहिये कि ब्रह्मचारी में आलस्य और प्रमाद का समावेश न हो सके।

गुरुजनों का कर्तव्य

गुरुकुल के आचार्य के आधीन जितने उपाध्याय और अध्यापक हों सबको सादे जीवन और सदाचार में उसी के प्रतिनिधि बनना चाहिये। कृष्ण भगवान् ने कैसा उत्तम उपदेश दिया है। निष्कामता के मर्म को समझाते हुये अर्जुन से भगवान् कहते हैं : हे अर्जुन ! मुझे तीनों लोकों में कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा है परन्तु मैं फिर भी वैदिक कर्म करता हूँ, यदि मैं कर्म छोड़ दूँ तो संसार में उल्कापात हो जाये, क्योंकि जिस मार्ग का अनुसरण नेतागण करते हैं जनता उसी के पीछे चलती है।

माता-पिता जो काम करते हैं, सन्तान उसी का अनुसरण करती है। यदि गुरुजन कँघी, पट्टी और शौकीनी करेंगे तो अपने ब्रह्मचारी पुत्रों को उनसे वंचित कैसे कर सकते है ? अनुभव की बात है कि गृहस्थ में जो साधारण उचित भोग

समझे जाते हैं उनमें फंसे रहकर गुरुजन शिष्यों का कल्याण नहीं कर सकते। जब गुरु मिर्च, मसाले आदि खाता है तो वह ब्रह्मचारियों को तपस्वी कैसे बना सकता है? गुरु को शिष्य का मार्ग दर्शक बनने के लिये गुरुकुल रूपी अभिनय का नायक बनना आवश्यक है। परन्तु शहरों के अभिनय से इस अभिनय का बड़ा भेद है। शहरों का अभिनय बनावटी होता है। गुरुकुल की नाट्यशाला वास्तविक है। इसी लिये गुरुजनों को वास्तविक नायक बनना चाहिये।

गुरुकुल का शिक्षा-क्रम

आजकल गुरुकुलों के कुछ संचालकों में शिक्षा-क्रम मतभेद हो रहा है। ऋषि दयानन्द ने वैदिक शिक्षा के सर्व विषय गिना दिये हैं। उनका परिज्ञान प्राप्त करने के लिये शिष्यों की बुद्धि-भेद से समय भेद होता ही रहेगा। संसार की अवस्था के परिवर्तन के कारण उसके क्रम में भी भेद आता रहेगा। यह सब गौण बातें हैं। मुख्य बात यह है कि शुद्ध आर्ष-ग्रन्थों की शिक्षा और विषमय अनार्ष ग्रन्थों का त्याग। ग्रन्थ गौण है, ग्रन्थों में लिखे शब्द और उनका सम्बन्ध गौण है। मुख्य तो शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा को समान शिक्षा है शिक्षा सार्वदेशिक होनी चाहिये, न कि एक देशी। गुरुकुल में चौबीसों घण्टे आचार्य को दृष्टि ब्रह्मचारियों पर रहनी चाहिये। संध्या अग्निहोत्र, शारीरिक व्यायाम खेलों का मैदान, भोजन-शाला और विद्यालय सब कामों में आचार्य के साथ सब गुरुजन ब्रह्मचारियों को नमूना बन कर दिखलायें।

आर्थिक स्थिति का प्रभाव

आज कल सब संस्थायें—चाहे वे शिक्षा सम्बन्धी हों व अन्य—भीखा के आश्रय चल रहीं है। तब इस वर्तमान लोक मर्यादा से गुरुकुल के आचार्य कैसे मुक्त हो सकते हैं? प्राचीन काल में आचार्य-कुल राजाओं और श्रीमानों को बल से अपनी ओर आकर्षित करता था। वे बिना मांगे गुरुकुल का कोष भर देते थे। आज आचार्य धन-संचय के लिये दर-दर मारा फिरता है, व्यभिचारियों और दुराचारियों से धन प्राप्त करने के लिये उनकी खुशामदें करता है और गुरुकुल में लौट कर ब्रह्मचारियों को सत्य मार्ग पर चलाना चाहता है। परन्तु अक्खड़ कवि की उक्ति को भूल जाता है :—

'जिन्ह के अगुआ भये भिखारी, उनकी वाट गुर्सय्यन भारी'।

जो धन झूठ, फरेब और अन्य पाप द्वारा कमाया गया है वह गुरुकुल के लिये कैसे कल्याणकारी हो सकता है? जिस प्रकार के मनुष्यों से आचार्य धन-संग्रह करेगा उसी प्रकार के प्रभाव उस पर पड़ेगें। वह धन मांगा हुआ भी बड़ी ऐंचातानी से मिलता है। भक्त कबीर कह गये हैं :—

सहज मिले सो दूध सम, मांगा मिले सो पानी।
कह कबीर वह रक्त सम, जामें ऐंचा तानी।।

इस प्रकार के रक्त-समान धन को लेकर गुरुकुल का क्या कल्याण हो सकता है ?

तब आवश्यकता क्या है ?

(क) आचार्य सर्वगुण सम्पन्न बन कर अपने अनुकूल उपाध्याय और अध्यापक इकट्ठे कर ले।

(ख) कोई धर्मात्मा धनाढ्य पुरुष श्रद्धा से प्रेरित हो पर्याप्त धन स्थिर कोष के लिये दे दें ।

(ग) वैदिक उपदेश से प्रेरित ब्रह्मचारी, कुल में प्रविष्ट होकर अपने परिश्रम से उसके भरण पोषण का उपाय करें । सादे मन्दिर स्वयं बनावें, फल-भाजी स्वयं उत्पन्न करें, खेती का काम भी कृषिकारों की सहायता से स्वयं करावें, कपड़ा स्वयं बनावें, सारांश यह कि गुरुकुल का सारा काम इस प्रकार से चलावें जिससे कि मांगने को आवश्यकता न रहे।

(घ) तब किसी ऐसे स्थान की तलाश न रहेगी जहाँ हिन्दु यात्रियों से धन खींचा जा सके। वहाँ प्रति वर्ष उत्सव रचा संसार के प्रलोभनों को जमा करके ब्रह्मचारियों के हृदय डावाँडोल भी न हुआ करेंगे ओर मूर्ख श्रीमानों से धन बटोरने के लिये उनकी हाँ में हाँ भी न मिलानी पड़ेगी।

(ङ) ब्रह्मचारियों पर संसार के प्रभाव भी अचानक न पड़ेगे प्रत्युत शनैः शनैः गुरुजन ही उनको संसार में प्रविष्ट करें, यहाँ तक कि अन्तिम तीन चार वर्षों में वे स्वतन्त्रता से जनता में मिल कर भी शुद्ध हृदय रह कर जनसाधारण को अपने पीछे चला सकेंगे।

यह एक मधुर स्वर्णीय स्वप्न है, जिसका कभी-कभी ध्यान आ जाता है। वे सज्जन धन्य होंगें जिन्हें यह स्वप्न जागृत में परिवर्तित हुआ दिखाई देगा।

जिस तत्ववेत्ता ऋषि दयानन्द की प्रेरणा से यह आनन्दमय स्वप्न हृदय के अन्दर उठता रहा है उसकी जन्म शताब्दी पर कई प्रकार की भेंटे लेकर आर्य-सन्तान पहुँचेगी। ऋषि के ज्येष्ठ शिष्य आत्मानन्द सरस्वती ने मुझे बतलाया था कि चित्तौड़गढ़ की उच्च अटारी पर खड़े होकर चारों ओर मैदान में दृष्टि डाल ऋषि दयानन्द ने कहा था—यहाँ सच्चे क्षत्रिय गड़ने के लिये गुरुकुल खुलना चाहिये'।

जब वर्तमान भूमि पर गुरुकुल खुला तब मुझे ऐसा भान हुआ कि मानों हरिद्वार के कुम्भ से चल कर ऋषि दयानन्द ने इसी स्थान पर समाधि लगा सच्चे ब्राह्मण उत्पन्न करने का संकल्प किया था। इसीलिये इस भूमि ने मुझे अपनी ओर खींच लिया। इस कल्पना को जाने दीजिये, परन्तु क्या कोई उच्च आत्मा ब्रह्मचारियों को दूसरा जन्म देने के साधन इकट्ठे करने का साहस न करेगा ? मेरा हृदय कहता है कि जन्म शताब्दी के समय ऋषि की आत्मा इसी भेंट को सर्वोत्कृष्ट समझेगा।

मेरे कुछ असिद्ध स्वप्न

[गुरुकुल कांगडी की स्थापना के साथ ही महात्मा मुंशीराम जी वे अपने मन में उसके बारे में विभिन्न योजनाओं एवं कार्यक्रमों को लेकर एक कल्पना-चित्र बनाया था, जिसे वे मूर्तरूप देना चाहते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि हमारे देश का भविष्य एवं प्रगति राष्ट्रीय शिक्षा के संघटित होने पर निर्भर है और इसी विश्वास को लेकर वे गुरुकुल का विकास करना चाहते थे, पर किन्हीं परिहार्य/अपरिहार्य परिस्थितियों के कारण वे वैसा नहीं कर सके, जिसका दुःख उन्हें जीवन भर सालता रहा और इसी से निराश होकर उन्होंने गुरुकुल छोड़ने का निश्चय किया। उसी समय उन्होंने सद्धर्म प्रचारक में 'मेरे कुछ असिद्ध स्वप्न' शीर्षक से एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होंने अत्यन्त मार्मिक शब्दों में आर्य जनता के समक्ष अपनी मनोव्यथा को व्यक्त करते हुए यह बताया था कि उनके कौन-कौन से 'स्वप्न' अपूर्ण रह गये। इस लेख का न केवल गुरुकुल कांगड़ी, बल्कि समस्त गुरुकुलों के संदर्भ में आज भी उतना ही महत्त्व है. जितना कि उस समय था। इसी दृष्टि से इसे अविकल रूप में यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।]

स्वप्नावस्था में ही जागृत की सारी तैयारी होती है। इसी अवस्था में योगी परमात्मा की सृष्टि का सौन्दर्य देखना आरम्भ करता है और इसी साधारण पुरुष का मन कर्म-काण्ड की तैयारी करता है।

गुरुकुल के लिये जिस दिन धन एकत्र करने के लिये मैं घर से निकला था (१२ भादों १९५६ वि० तदनुसार २६ अगस्त १८९९) उसी दिन रेलगाड़ी में बैठते ही कुछ विशेष कल्पनाएँ, गुरुकुल सम्बन्धी कार्यक्रम की, मैंने कर ली थीं। फिर जब कार्तिक सम्वत् १९५८ में मुझे आर्य-प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से आज्ञा मिली कि शीघ्र कांगड़ी ग्राम में कुछ अस्थिर मकान बनवा गंगातट पर गुरुकुल खोल दिया जाये, तब भी २२ फाल्गुन १९५८ की शाम तक गुरुकुल भूमि में पहुँचने से पहिले मेरे मन में बहुत से संकल्प उठे थे। उस समय से सब संकल्प स्वप्नवत् ही थे। उन में से कुछ तो जागृत में परिणत हो आशा से बढ़ कर पूरे हुये असिद्ध रहकर अब भी स्वप्नावस्था में ही पड़े हुये हैं। स्वप्नावस्था में पड़े हुये असिद्ध संकल्पों का वर्णन इसलिये कर देता हूँ कि शायद कोई उन्हें सिद्ध करने वाला कर्मवीर निकल आवे और अपने व्यक्तित्व के प्रतिकूल अवस्थाओं के कारण जो मैं न कर सका, उस में वह कृतकार्य हो जावे।

प्रथम आर्थिक दशा सम्बन्धी कुछ स्वप्न थे जो पूरे न हो सके। आरम्भ में मेरा विचार यह था कि ५० लाख रुपयों का स्थिर कोष जमा करके उसके सूद से ही गुरुकुल का काम चलाया जावे। परन्तु ब्रह्मचारियों को कांगड़ी में ले जाते ही ऐसा चौमुखी युद्ध करना पड़ा कि धन एकत्र करने के लिये बाहिर जाना मेरे लिये कठिन हो गया और जिनका इस संस्था को चलाना कर्तव्य था उनमें बहुधा उसको

तोड़ने के लिये ही कमर बाँध बैठे। तब धन कौन लाता ? फिर शनैः-शनैः यह भाव स्थिर हुआ कि रुपयों के स्थिर कोष के स्थान में आमदनी का स्थिर यत्न किया जाये, जिससे यह शिक्षणालय आर्थिक दृष्टि से अपने पैरों पर खड़ा हो सके। इसके लिये मैंने नीचे लिखे साधन सोचे थे—

(क) एक वर्कशॉप (कारखाना) खोला जाये जिसमें एंजन लगा कर कई प्रकार के व्यवसाय का काम हो। कांगड़ी ग्राम और उसके आस-पास के जंगल में खैर के वृक्ष बहुत हैं। एक कारखाना कत्था बनाने का खोला जाये। अपने जंगल में ढाक के वृक्ष बहुत हैं उनसे लाख पैदा की जाये, और उन्ही के फूलों (टेसू) से रंग बनाया जावे। सेंभल की रुई इकट्टी करके बेची जायें। पास के जंगल से शीशम और तुन की लकड़ी सस्ती मिल सकती है। उन लकड़ियों से मेज कुर्सी आदि सामान गनवा कर बेचा जाये। इनके अतिरिक्त और भी व्यवसाय के कार्य जारी हो सकते थे। स्वामिनी सभा के अधिकारियों से जब बातचीत की तो उन्होंने विरोध ही किया। शिवालिक की पड़ोसी पहाड़ियों पर औषधियाँ बहुत होती है और बिना मूल्य मिल सकती हैं। वैद्य के आने पर सभा से आज्ञा चाही गई कि चरक, सुश्रुत में दिये नुस्खों के अनुसार औषधियाँ बनाकर वैद्यों के हाथ बेचने की आज्ञा दीजिये। हुकुम हुआ कि ना मंजूर।

अब सभा ने ऐसी बेरुखी दिखाई तो मैंने एक धनाढ्य पुरुष को व्यवसाय के कामों के लिये धन देने को तैयार कर लिया। धामपुर के रईस रायबहादुर चौधरी रणजीतसिंह जी गुरुकुल देखने आये। कारखाने की बातचीत आते ही उन्होंने मुझसे पूछा कि पूरा कारखाना बनाने के लिये क्या व्यय होगा। मैंने एक लाख का अनुमान बतलाया। उक्त महोदय ने प्रतिज्ञा की कि ५० हजार रुपये वह देंगे, शेष इकट्ठा करने का मैं यत्न करूं। परन्तु जहाँ घर में कलह हो और उल्टी माला फेरी जाती हो वहाँ बाहर से क्या सहायता मिल सकती है। श्रीमान् चौधरी रणजीतसिंह जी गुरुकुल से घर लौटकर दस पन्द्रह दिनों के अन्दर ही अचानक मृत्यु के ग्रास हुये। यह विचार दिल का दिल में ही रह गया। यदि यह स्वप्न जागृत में परिवर्तित होता तो जहाँ एक ओर गुरुकुल चलाने के लिये स्थिर आय होती, वहाँ ब्रह्मचारियों के आर्थिक भविष्य का प्रश्न भी शायद किसी हद तक हल हो जाता।

(ख) कांगड़ी ग्राम की भूमि १२०० पक्के बीघों के लगभग है। उनमें से केवल अनुमानतः १७५ बीघे में खेती होती है। ३२५ बीघे के लगभग में नाला आदि है। १०० बीघे भूमि गुरुकुल की इमारतों के नीचे होगी। शेष ६०० बीघे में से ४०० बीघे को नौतोड़ किया जा सकता है। मैंने कृषि विभाग इसीलिये खोला था कि उस विभाग के ब्रह्मचारी तो कृषि का सारा काम सीखेंगे परन्तु जो काम (नलाई. कटाई, जुताई इत्यादि) केवल मजदूरी सम्बन्धी होंगे वह गुरुकुल के अन्य ब्रह्मचारियों

से, उनके खाली समय में, कराया जावेगा। पैदावार बढ़ाने के लिये ग्राम में एक कूप लगवाया था। विचार था कि दानियों को प्रेरित करके दस बारह कूप लगवा कर खेती की पैदावार बढ़ाई जावे। मेरा अनुमान था कि यदि ४०० बीघे और नौतोड़ हो जाये तो वर्ष भर में से नो महीनों के लिये अनाज यहीं से निकल आया करेगा। ब्रह्मचारियों में जोश भी पैदा कर दिया गया था। कृषि विभाग से विभिन्न ब्रह्मचारी भी आश्रम की बाटिकादि में काम करने लग गये थे। परन्तु प्रबन्धकर्तृ सभा के अधिकारियों की असहानुभूति के कारण यह काम भी न चल सका।

(ग) एक बार ब्रह्मचारियों में यह उत्साह हुआ कि इमारत का काम वे स्वयं (मिस्तरी की सहायता से) कर लिया करें। एक कमरे की तैयारी में बहुत कुछ काम उन्होंने किया भी, परन्तु उनके मार्ग में इतने विघ्न डाले गये और इतना निरुत्साहित किया गया कि उनका जोश ठन्डा पड़ गया और फिर उन्हें इस काम के लिये किसी ने उत्साहित नहीं किया।

(घ) कांगड़ी ग्राम के जंगल से एक वर्ष ईंटों के भट्टे के लिये लकड़ियाँ कटवाई गई। उस वर्ष जंगल की आमदनी तीन हजार से बढ़ गई। मैंने बजट में वह रकम ग्राम की उन्नति के लिये स्वीकार करवाई। साथ ही उपाध्यायों तथा अध्यापकों के लिये निवासस्थान उसी भूमि में बनवाने का विचार किया, जहाँ नया आदर्श ग्राम बनाया जाना था। मैं कई कारणों से गुरुकुल से अलग जा बैठा। मेरे उत्तराधिकारियों ने जहाँ उपाध्याय-गृह गुरुकुल के समीप बना लिये, वहाँ ग्राम के लिये स्वीकार की हुई रकम बिना व्यय हुई ही, वर्ष के अन्त में, लिप्त हो गई और उसकी पुनः स्वीकृति न मिली। यदि कृषिकारों के जीवन का सुधार हो जाता तो पैदावार बहुत बढ़ जाती और गुरुकुल का यश भी अधिक विस्तृत होता। एक बार फिर विचार उठा कि स्थिर धन-राशि को जमीन पर लगाना चाहिये। पचास हजार में एक ग्राम बिकता था। उनका नक़दी लगान इतना वसूल होता था कि ४० पैसे सैकड़ा मासिक का सूद फैल जाता। नगर का पानी लगता था। यदि उन्नति की जाती तो पैदावार और बढ़ सकती थी। कुछ एक आर्य पुरुषों का पालन भी हो सकता था। परन्तु इस विषय को सभा में पेश करने से ही अधिकारियों ने इंकार कर दिया। गुरुकुल को तो ५० हजार में ही ग्राम मिलता था। पीछे उसका मूल्य ६० हजार से भी बढ़ गया।

इन सब प्रस्तावों का उत्तर अधिकारियों की ओर से यही था कि यदि इन कामों की आज्ञा लाहौर से दूर दी गई तो साधारण सभासद् यह समझेंगे कि सारी शक्ति कांगड़ी को जा रही है। मुझे कहा जाता था कि मेरी बदनामी इस प्रकार की जायेगी कि जो थोड़ी बहुत सेवा धन या तन से मैंने की है उसके बदले मैं अपनी शक्ति बढ़ाना चाहता हूँ। अब यतः ऐसा आक्षेप नहीं हो सकता इसलिये वर्तमान कार्यकर्त्ताओं की आय बढ़ाने के लिये उपरोक्त साधनों को प्रयोग में लाने का यत्न करना चाहिये, यदि वे इसे उचित समझें।

दूसरे ब्रह्मचारियों के शारीरिक स्वास्थ्य तथा उन्नति सम्बन्धी कुछ विचार थे जो स्वप्नावस्था में ही विलीन हो गये। गतकर, फरी, घुड़सवारी और अन्य देशी खेलों का शिक्षक अर्जुनसिंह बहुत उत्तम मिला था। कई कारणों से वह अलग किया गया। कई ड्रिल मास्टर आये और चले गये। अन्त में चैत्र, १९७३ को सरदार फतेहसिंह को रखा गया जो दिल से काम कर रहे हैं। खेलों में तो ब्रह्मचारी अनुराग से सम्मिलित होते हैं और उससे उनकी शारीरिक दशा औरों की अपेक्षा बहुत उत्तम रहती है, परन्तु प्रातःकाल का, नसों को संगठित करने तथा शरीर को दृढ़ करने वाला, व्यायाम ठीक प्रकार नहीं होता। मुझे आशा थी कि शनैः शनैः गुरुकुल के स्नातक ही अध्यापन के काम में लग जायेंगे और व्यायाम के स्वयं अभ्यासी ब्रह्मचारियों के प्रातःकाल के व्यायाम को ठीक कर देंगे। परन्तु न तो गुरुकुल और उसकी शाखाओं में पढ़ाने के लिये अधिकतः गुरुकुल के स्नातक ही मिले और न ही अन्य सब अध्यापक ऐसे आये जो स्वयं भी व्यायाम के प्रेमी हों।

(क) जिस प्रकार पहिले कुछ वर्षों के अध्यापक स्वयं खूब व्यायाम करते थे और अब भी कोई-कोई ऐसा करते हैं, इसी प्रकार इस समय की सर्वशाखाओं तथा मुख्य गुरुकुल के अध्यापक और उपाध्याय स्वयं व्यायाम को अत्यन्त आवश्यक समझ कर ब्रह्मचारियों के साथ व्यायाम किया करें, तब मेरा स्वप्न फलीभूत होगा।

(ख) शारीरिक शिक्षा तथा शरीर रक्षा और उन्नति के सम्बन्ध में बड़ा विचार मैं यह लेकर गुरुकुल में आया था कि रात की पढ़ाई विद्यार्थियों को न करनी पड़ें। परमेश्वर ने दिन शरीर और इन्द्रियों से काम लेने को बनाया है और रात इन सबको आराम देने के लिये। यदि अध्यापक ऐसे मिलें जो दिन की पढ़ाई के समय ही विद्यार्थी को सब कुछ उपस्थित करा दें तो रात में पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती और दिन के अन्य समयों में मानसिक परिश्रम का कोई प्रयोजन नहीं रहता। तब आँखों और दिमाग को कमजोरी की शिकायत भी नहीं हो सकती। आरम्भ में दो वर्ष तक तो कुछ यह क्रम चला, शायद इसलिये कि उस समय सर्व नियत विषयों की पढ़ाई का प्रबन्ध न था, परन्तु आगे चलकर जब बड़े-बड़े अध्यापक और प्रोफेसर जमा हो गये तो जितना परिश्रम मैं इस आदर्श को ले जाने में करता उतनी ही रात को पढ़ाई अधिक होती जाती। शायद इसमें मेरी ही भूल हो, परन्तु यदि गुरुकुल के संचालकों को मेरे प्रस्ताव में कुछ सार दिखाई दे तो आशा है कि वे इस ओर फिर ध्यान देंगे।

तीसरी कुछ कल्पनायें मानसिक शिक्षा सम्बन्धी थीं। उनमें से बड़ी कमी उचित पाठ्यपुस्तकों की है। आज कल के सभ्यताभिमानी देशों की युनिवर्सिटियों के पास अपना प्रेस होना अत्यन्तावश्यक समझा जाता है। गुरुकुल की शिक्षाप्रणाली (इस युग के लिये) नई, उसका पाठ्यक्रम नया, उसकी उमंगें नई-फिर पुस्तकों का संशोधन तथा निर्माण इस शिक्षणालय का एक मुख्य अंग होना चाहिये था। यही

सोचकर मैंने गुरुकुल के अर्पण सद्धर्म्म-प्रचारक प्रेस का सारा सामान कर दिया था। इसी आवश्यकता को लक्ष में रखकर गुरुकुल कोष से सहस्रों रुपये व्यय करके प्रिन्टिग मशीन, एन्जन तथा टाइप का विस्तृत सामान भी मंगाया था। आधुनिक संस्कृत साहित्य की पाठ्य पुस्तकों में से अश्लील तथा अनुचित भाग निकाल कर पुस्तकें तैयार की गई, वैदिक मेगजीन आदि की सारी अपनी छपाई गुरुकुल में होने लगी; गुरुकुल का यन्त्रालय इन प्रान्तों में केवल इण्डियन प्रेस, प्रयाग, से दूसरे दर्जे पर पहुँच गया था, पर अकस्मात् प्रेस-भवन में आग लग गई और दस बारह हजार का सामान जलकर राख हो गया। प्रेस के जलने के साथ पाठ्य पुस्तकें छपवाने का प्रश्न भी फिर खटाई में पड़ गया। फिर प्रेस दिल्ली में गया, उसका बड़ा भाग ६५०० रुपये में बेचा गया, और कुछ हैन्डप्रेस और कटिंग मशीन आदि बचाकर फिर से गुरुकुल प्रेस की बुनियाद पडी। उसके पश्चात् दो बार मैंने सभा से कुछ स्वीकृति प्रेस को बढ़ाने के लिये माँगी, परन्तु मुख्य अधिकारियों के कटाक्ष पर कि मैंने सहस्रों रुपये प्रेस में बरबाद करा दिये हैं, मैं अपने प्रस्ताव पर जोर नहीं देता रहा।

प्रेस का कार्य बढ़ाने से बहुत से अन्य लाभ भी हैं, इसलिये जब वर्तमान मुख्याधिष्ठाता जी की कार्यकुशलता तथा धन रक्षा की योग्यता पर पूरा भरोसा है तो आशा है कि सभा उनको आठ दस हजार रुपया व्यय करके प्रेस को बढ़ाने की आज्ञा देगी।

गुरुकुल विश्वविद्यालय और उसकी शाखाओं के लिये उत्तम साहित्य मुद्रित करना तो गुरुकुल यन्त्रालय को विस्तृत करने का फल होगा ही किन्तु उसके साथ ही उससे स्थिर आय भी खासी हो जायेगी।

(ख) गुरुकुल के स्नातकों के लिये आजीविका का प्रबन्ध करने के विचार से ही नहीं, प्रत्युत उनको जाति और राष्ट्र के लिये अधिक से अधिक फलदायक बनाने के लिये, गुरुकुल की आरम्भिक शिक्षाप्रणाली में ही आयुर्वेद, कृषि और व्यापार शिक्षा का ध्यान रक्खा गया था। कब से मैं इन विषयों के लिये बल देता रहा हूँ और किस प्रकार की रुकावटें उस प्रयत्न के मार्ग में खड़ी होती रही हैं—इस कहानी से यहाँ कुछ लाभ न होगा। मैंने कृषि शिक्षा का कार्य आरम्भ भी किया परन्तु कई कारणों से उसमें अब तक वह कृतकार्यता प्राप्त न हुई जो सहज में ही हो सकती थी। मेरे सामने तो कृषि विभाग का जीवन ही सन्दिग्ध था, परन्तु अब फिर कृषि विभाग को योग्य उपाध्याय मिल गये हैं। यदि इस विभाग को तोड़ने का प्रयत्न न हुआ तो जहाँ ब्रह्मचारियों को कार्यशील बनाने में सहायता मिलेगी वहाँ कुछ वर्षों के पीछे इससे आय भी अच्छी होने लग जायेगी।

फिर आयुर्वेद के लिये भी कुछ वर्षों से मैंने प्रस्ताव कर रक्खा था। जिस वर्ष गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर कविराज योगेन्द्रनाथ सेन एम० ए० आये थे, उसी वर्ष बहुत से धन की भी, आयुर्वेद विभाग खोलने के लिये, प्रतिज्ञायें हुई थीं कुछ

धन वसूल भी हुआ था, और योग्य वैद्य भी मगां लिये गये थे। परन्तु शासक सभा के अधिकारियों ने उस विभाग को खुलवाना उचित न समझा। मेरा निश्चय है कि यदि आयुर्वेद विभाग के साथ ही, एक योग्य डाक्टर रख कर अनाटमी, सर्जरी आदि की शिक्षा का भी प्रबन्ध कर दिया जाता तो शायद इस समय तक गुरुकुल के स्कूल ऑफ मेडिसिन को गवर्नमेन्ट का चिकित्सा विभाग प्रमाणित भी कर देता। अब बड़ी प्रसन्नता की बात है कि आयुर्वेद विभाग के खोलने का प्रस्ताव गुरुकुल की शासक सभा में स्वीकार कर लिया है और यदि इस समय कोई योग्य डाक्टर भी अपनी सेवा गुरुकुल के अर्पण कर दे तो आशा है कि जहाँ गुरुकुल के स्नातक कलकत्ता, मद्रास आदि भटकते फिरने से बच जायेंगे वहाँ बाहर के विद्यार्थी भी इस विभाग से पूरा लाभ उठा सकेंगे।

यह भी सुनने में आया है कि व्यापार तथा महाजनी की शिक्षा के लिये भी पाठविधि तैयार हो रही है। परमेश्वर शासक सभा को बल प्रदान करें जिससे अधिकारीगण इन कार्यों के चलाने में आलस्य न कर सकें।

आत्मिक शिक्षा सम्बन्धी जो दिव्य स्वप्न देखकर मैं गुरुकुल में गया था, उनका निरन्तर १६ वर्षों तक काम करते हुये, स्मरण नहीं आता था। उनके संस्कार तो प्रबन्ध के द्वन्द्व युद्ध से मुक्त होने पर ही पुन: जागे हैं। गुरुकल भूमि में पग धरा था यह दृढ़ प्रतिज्ञा करके की सात वर्षों तक वेदांगों में परिश्रम कर तथा आत्मिक साधनों द्वारा बल प्राप्त करके ऋषि दयानन्द की बतलाई प्रणाली पर वेदाध्ययन में ब्रह्मचारियों की स्वयं सहायता करूँगा और तब आचार्य कहलाने का अधिकारी बनूँगा। गया था अभ्यासी बनने और आत्मिक शक्तियाँ सम्पादन करने, परन्तु गुरुकुल भूमि में प्रवेश करते ही घोर संग्राम में फँसना पड़ा। जहाँ प्रकृति प्रत्येक प्रकार से अनुकूल थी, जहाँ वेदाज्ञा के अनुकूल हिमालय के पवित्र चरणों में जाह्नवी के किनारे डेरा डालकर आशा थी कि ब्रह्मचर्याश्रम के बड़े बोझ को उठाने के लिये बल मिलेगा, वहाँ मानवी हृदयों की उठाई अशान्ति ने पूर्व के साधनों से प्राप्त बल को भी शिथिल करने के लिये आक्रमण कर दिये। इस विषय में मनुष्यों के प्रति, वाणी या लेखनी द्वारा, कुछ बतलाया नहीं जा सका। जो कल्पनाओं का मनोहर तथा शान्तिप्रद उद्यान हृदय भूमि पर बनाया था वह अब स्मरण में आ रहा है। आत्मिक अवस्था को उच्चासन पर ले जाने और वैदिक ज्ञान को क्रियात्मक बनाने का अवसर, परमेश्वर की कृपा से, अब मिलेगा और इस जन्म की तैयारी आगामी जन्म में अवश्य काम आवेगी—इस आशा पर ही मैं काम कर रहा हूँ। परन्तु अपनी मृत्यु के पहिले यदि एक बार यह दृश्य देख लूँ कि गुरुकुल विश्वविद्यालय के आचार्य पद पर एक ऐसे विद्वान् स्थित हैं जो वेद ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को आचरणों में डालते हुये ब्रह्मचारियों को मनुष्य के परम पुरुषार्थ की ओर ले जा रहे हैं, तो मैं बड़े सन्तोष से आने वाले जन्म की तैयारी कर सकूँगा।

ब्रह्मचारियों के आत्माओं पर निःस्वार्थ भाव की मोहर [illegible] अंकित करने

तथा उन्हें धर्म और जाति सेवा के लिये तैयार करने का बड़ा भारी साधन यह समझा गया था कि उनके संरक्षकों पर उनकी पढ़ाई एवं उनके पालन-पोषण का कुछ भी बोझ न पड़े । गुरुकुल की आरम्भिक शिक्षा-विधि की तैयारी के समय से ही मैं इस पर बल देता रहा और इसीलिये नियम धारा ६ के नीचे नोट दिया गया था—'जब कुछ समय में पर्याप्त धन एकत्रित हो जायेगा तो समस्त ब्रह्मचारियों का शिक्षा-दान तथा उनका पालन पोषण बिना किसी व्यय लिये किया जायेगा ।' मैंने बहुत बार हाथ-पाँव मारे कि पर्याप्त धन (५० लाख रुपये) जमा हो जावे, परन्तु उसके लिये परिश्रम करने का मुझे समय और अवसर ही न मिला । फिर जब संवत् १९६७ में कई कारणों से मैं मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य पद से त्याग-पत्र देकर अलग हुआ तो कुछ सज्जन मित्रों ने मेरी हार्दिक इच्छा को जानकर सर्वथा शुल्क मोचन पर बल दिया और उनका प्रस्ताव स्वीकृत भी हो गया । फिर जब मुझे पुनः गुरुकुल की सेवा के लिये लौट आने के लिये बाधित किया गया तो शुल्क लगाने का प्रश्न फिर उठ खड़ा हुआ । उस वर्ष तो पुराने प्रस्ताव को ही सभा से दृढ़ता मिली, परन्तु उससे दूसरे वर्ष इस प्रश्न को फिर सभा में रक्खा गया । यह देख कर कि कुछ काम करने वाले बिना गुरुकुल के ब्रह्मचारियों पर शुल्क लगवायें काम करना छोड़ देंगे, मैंने उस अधिवेशन में सम्मिलित होने से ही बचना चाहा, परन्तु शुल्क के पक्षपातियों की ओर से श्री प्रधान जी ने विश्वास दिलाया कि आठ श्रेणियों तक कोई शुल्क लगाने का विचार नहीं; उससे ऊपर शुल्क लगाने का निश्चय है । मैं तो इस समझौते पर चुप रहा परन्तु प्रस्तावकर्ताओं ने पूर्ववत् सब श्रेणियों के लिये शुल्क स्वीकार करा लिया । मैंने अपनी निज प्रतिज्ञानुसार मौन धारण किये रक्खा और सम्मति भी कुछ न दी ।

इस समय बिना शुल्क के गुरुकुलों को चलाना असम्भव सा ही हो गया है, क्योंकि जहाँ प्रबन्ध उत्तम है और अपने कर्तव्य को समझने वाले संचालक है वहाँ धन पर्याप्त नहीं, और जहाँ शुल्क न लेने का आडम्बर रचा जाता है वहाँ ब्रह्मचारी तो साधारण भोजनों के लिये भी तरसते हैं और गुरुकुल भक्त सांसारिक भोगों का आनन्द लूटने हैं । मेरा यह स्वप्न भी इस जीवन में पूरा होता नहीं दीखता ।

गुरुकुल के सम्बन्ध में मेरी एक और प्रबल इच्छा थी जो अपूर्ण रह गई। मेरा विचार था कि प्रत्येक नगर के पास और प्रत्येक पाँच ग्रामों के समूह के मध्य स्थान में प्रारम्भिक शिक्षा के लिये पाठशालाएँ खोल दी जायें, जिनमें बालक गुरुकुल के लिये तैयार किये जायें । चार वर्ष की पाठविधि हो । जनता की सभाएँ बना कर अनिवार्य शिक्षा का प्रचार किया जायें, जिससे उस ओर का कोई भी बच्चा (लड़की हो या लड़का) अशिक्षित न रह जाये । गुरुकुकों के सम्बन्ध में तो कई कारणों से मैं इस विचार को अमली सूरत न दे सका, परन्तु यह प्रबल इच्छा अवश्य है कि आर्यसमाज का इतिहास समाप्त करके, धर्म प्रचार करता हुआ, आर्यभाषा पाठशालाएँ खुलवाने का यत्न करता रहूँ । इन पाठशालाओं में साधारण ज्ञान देने

के अतिरिक्त प्रत्येक आर्य बालक और बालिका को वैदिक-धर्म का आवश्यक ज्ञान भी कराया जावे। इस काम के लिये ऐसे धर्मवीरों की आवश्यकता होगी जो वर्तमान समय के अनुचित भोगों को तिलांजली देकर तप का जीवन व्यतीत करने के लिये तैयार हों। स्वर्गीय महात्मा गोपालकृष्ण गोखले को इस काम के लिये उत्तेजित करने का मैंने प्रयत्न किया था, परन्तु वह कई बार इच्छा प्रकट करके भी मेरी प्रार्थनानुसार एक सप्ताह गुरुकुल में निवास न कर सके और इसलिये हमारी स्कीम पक न सकी।

गुरुकुल सम्बन्धी और भी बहुत सी मेरी आकांक्षाएँ थी जो पूरी नहीं हुई, उनके वर्णन से इस समय लेख को बढ़ाना उचित नहीं है। मैंने इन सब असिद्ध स्वप्नों में असफलता का कारण यही समझा था कि गुरुकुल का प्रबन्ध एक ऐसी कार्यकारिणी सभा के आधीन है जिसके सभासदों का गुरुकुल के साथ सीधा सम्बन्ध बहुत कम रहता है। प्रथम तो आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा में सभासद लिये ही किसी अन्य भाव से जाते हैं, फिर बहुत से गुरुकुल के सच्चे हितैषी (अधिक दान देने वाले, स्नातक, ब्रह्मचारियों के संरक्षक तथा अन्य विद्वान्) इसके नियन्त्रण में भाग नहीं ले सकते और सबसे बढ़कर कमी यह है कि शासक सभा की बैठकें गुरुकुल से दूर होने के कारण उसकी आवश्यकताओं को सभासद दृष्टि में नहीं रख सकते। मैंने गुरुकुल की भलाई इसी में समझी थी कि उसके लिये एक पृथक् नियन्त्रण-परिषद् बनाई जावे जिसमें दानियों, स्नातकों तथा अन्य गुरुकुल प्रेमियों के प्रतिनिधि भी लिये जा सकें। मैंने ऐसा प्रस्ताव दस, ग्यारह वर्षों से कर रक्खा है। परन्तु ऐसा नियम-संशोधन का प्रस्ताव आर्य प्रतिनिधि सभा के उस अधिवेशन में पेश हो सकता है जिसमें सभासदों की उपस्थिति दो तिहाई से कम न हो। एक बार उपस्थिति (कोरम) ठीक हो भी गई और बहुपक्ष अनुकूल भी था, परन्तु सम्मति लेना दूसरे दिन पर रोका गया और दूसरे दिन कोरम न रहा।

सारा सभ्य संसार इस समय अनुभव कर रहा है कि शिक्षा प्रणाली पर ही संसार की वर्तमान अशान्ति की औषधि आर्यपुरुषों ने समझ रक्खी है। बाह्य संसार के कुछ शिक्षक भी इस विषय में आर्यों के साथ सहमत हो चुके हैं। तब गुरुकुल की रक्षा और उन्नति के लिये जो भी उपाय उचित हों उनसे आर्य जनता को उपेक्षा नहीं करना चाहिये। इसीलिये मैंने आर्यजनता की सेवा में अपने उद्गार उपस्थित करने का यत्न किया है।

●

एक उद्बोधन

आर्य युवको ! नेता नहीं, सेवक बनो

[७ अक्टूबर १९१३ को दिल्ली में अखिल भारतीय आर्यकुमार सम्मेलन का चौथा अधिवेशन हुआ था, जिसकी अध्यक्षता महात्मा मुंशीराम जी ने की थी। इस अधिवेशन में महात्मा जी ने आर्य युवकों को संबोधित करते हुए जो ओजस्वी व्याख्यान दिया था वह न केवल आर्य युवकों के लिये, वरन् संपूर्ण युवक समुदाय एवं देशवासियों के लिये आज भी उतना ही उद्बोधक एवं प्रेरक है जितना कि उस समय था। अतः उस व्याख्यान के कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं।]

जाति कां भविष्यत् आशाओ ! आज मुझे आपने जो सेवा का अवसर दिया है, उसके लिये आपका अत्यन्त धन्यवाद करता हूँ। एक कवि के अनुसार मुझे कहना पड़ता है—"न हि विद्या न हि बाहु बल न हि खर्चन को दाम"। न मुझमें विद्या है, न बाहु बल है, न धन बल है। तब भी आपने मुझे सभापति क्यों बनाया है ? आशाओं से भरे नवयुकों के समाज में एक नवयुवक सभापति अधिक अनुकूल होता। इस समय मुझे पच्चीस वर्ष की पुरानी एक घटना याद आती है। पच्चीस वर्ष हुए मैंने सद्धर्म प्रचार निकाला था। उस समय मेरी आयु ३२ वर्ष की थी। उस समय जो लोग मुझे मिलने आते थे वे आश्चर्यित होते थे। वे कहा करते थे कि आप के लेखों को पढ़कर हम आपको वृद्ध समझते थे। परन्तु आप अभी नौजवान हैं। आज मेरे बाल श्वेत हो गये हैं, तथापि आर्यसमाज के वृद्ध सेवकों में, काम करते हुए नेताओं में नवयुवकों से नवयुवक हृदय से अधिक मैं अपने हृदय को नवयुवक पाता हूँ। चाहे आप इसे अभिमान समझें, पर मैं इस एक अभिमान का दोष अपने सिर पर लेने को तैयार हूँ। मुझे हर्ष है कि युवक सम्मेलन का सभापति बनाकर आपने मेरे इसी गुण पर ठप्पा लगा दिया है। दूसरा कारण मुझ यह प्रतीत होता है कि मैंने पिछले १२ वर्षों में ६ वर्ष से लेकर २५ वर्ष तक के युवकों के हृदयों में उतराव-चढ़ाव देखे हैं।

आपने जो काम मुझे सौंपा है वह बड़ा कठिन है। बूढ़े अनुभवियों के सामने बात करना सुलभ है, परन्तु युवकों को मार्ग दिखाना बड़ा कठिन है। भूल होने पर बूढ़े अनुभवी अपने अनुभव से टोकरों से बच सकते हैं और अपने पथ-दर्शक को भी रास्ता दिखा सकते हैं। परन्तु जहाँ उत्साह के साथ हृदय की सरलता मिली हो, वहाँ मार्ग-दर्शक की उत्तरदायिता बहुत बढ़ जाती है। मार्ग दिखलाने में यदि एक भी भूल हो गई, यदि उनमें एक भी दाग लग गया तो बड़ी हानि हो सकती है। परन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं आपकी सेवा सच्चे दिल से करूँगा।

आप पूछ सकते हैं कि मैं आपको आज क्या संदेसा देने आया हूँ; मैं आपको

क्या संदेसा दे सकता हूँ, हाँ मेरे हृदय में जो भाव हैं उन्हें मैं आपके सन्मुख रखना चाहता हूँ। जिस और आशाएँ होती हैं, उसी और हृदय का स्रोत बढ़ता है। बूढ़े अपना काम कर चुके अब आप पर ही हमारी भविष्यत आशाएँ हैं। एक बार जर्मनी का एक सम्राट अपने मन्त्री के साथ घूमने जा रहा था सम्राट ने एक बालक को टोपी उतार कर सलाम की। वजीर के पूछने पर सम्राट ने कहा कि "तुझे सलाम क्या करूं; तूने जो कुछ बनना था सो बन चुका। तू मेरे वजीर होने से और कुछ अधिक नहीं हो सकता। इस बालक में न जाने क्या-क्या भरा है; इसीलिये मैंने इसे सलाम किया है।" कौन जानता था कि कार्सिका की गली में खेलने वाला एक बालक, सारे देश के सम्राटों का अधिपति होगा और संसार को हिला देगा। कौन कह सकता है कि आपके अन्दर कौन सी शक्तियाँ विलीन पड़ी हैं; अब हमारी आशाओं के केन्द्र आप ही हैं।

किसी काम को छोटा न समझें

सबसे पहिला मेरा यह निवेदन है कि नवयुवकों को कोई भी काम छोटा न समझना चाहिये। शिखर पर पहुँचने के लिये पहिली सीढ़ि पर चढ़ना जरूरी है। एक बार अमरीका के उम्मेदवार प्रधान की ओर इशारा करके एक अमरीकन ने ताने के तौर पर कहा था" तुम्हारे नाम वाला एक लड़का मेरे बूट सिया करता था, क्या तुम्हारा उसके साथ कोई सम्बन्ध है;" उम्मेदवार प्रधान ने अभिमान से कहा हाँ महाराज, मैं ही वह लड़का हूँ। जूते गाँठने के साथ मैं ही बूट पर पालिश भी किया करता था। परन्तु जाकर पूछो, जिसने मुझसे एक बार जूता गंठवाया, उसे दूसरी जगह जाने की आवश्यकता न पड़ी। महाशय, जिस ईमानदारी से मैं जूते गांठा करता था उसी ईमानदारी से आप के देश का राज्य करूंगा।" प्यारे युवको, हमारे देश को इस समय ऐसे कार्य-कर्त्ताओं की जरूरत है जो छोटे से छोटे काम करने के लिये तैयार हों। और मेरा विश्वास है कि वे ही कार्य-कर्त्ता बड़े काम कर सकेंगे।

दूसरा संदेसा, जो मैं आप तक पहुँचाना चाहता हूँ, वह उपनिषदों के शब्दों में नहीं में पहुँचाया जा सकता। कई महानुभावों का मत है कि उपनिषदें लड़कों के हाथ में न देनी चाहिये। उनकी प्रतिष्ठा करते हुए भी मुझे उनसे मतभेद प्रकट करना पड़ता है। मेरी सम्मत्ति में उपनिषदें लड़कों के लिये बड़ा लाभदायक स्वाध्याय है। कई लोग योग को भी लड़कों के लिये खतरनाक समझते हैं। मैं कहता हूँ कि यदि माता के गले से लिपटना खतरनाक है, तो योग भी खतरनाक है। युवावस्था में ही धर्मशील बनो, कौन जानता है कि इसी समय मृत्यु हो जाये। बालक, वृद्ध, युवा सबको इसी समय धर्म में लग जाना चाहिये। मुझे निश्चय है कि आर्य युवक केवल रोटी के लिये नहीं पढ़ रहे हैं। मैं समझता हूँ कि वे अपने हृदय के अंधकार को दूर करने के लिये पढ़ रहे हैं। अशान्तावस्था, शांतस्वरूप के दर्शन के

बिना कभी दूर नहीं हो सकती है, मैं चाहता हूँ कि उपनिषद का निम्नलिखित वाक्य प्रत्येक युवक के हृदय पर अंकित हो—

सत्येन लभ्यस्तपसाह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।

यह आत्मा सत्य से मिलता है, सत्य तप से मिलता है, सम्यक् ज्ञान के बिना कठिन और ब्रह्मचर्य के बिना सम्यक् ज्ञान असम्भव है । ब्रह्मचर्य सब धर्मों का मूल है, इसलिये प्यारे युवको, उस ब्रह्मचर्य का पालन यत्न से करो ।

सेवक बनने का यत्न करो

अन्त में मैं आपसे एक निवेदन करना चाहता हूँ कि मैं उपदेश नहीं देता, क्योंकि मैं उपदेश देने के योग्य नहीं हूँ । हम वृद्ध आपको किस मुंह से उपदेश दें; बूढ़ों का यह कहना था कि वे आर्य धर्म रूपी फुलवाड़ी की रक्षा के लिये काँटे बन जाते और शत्रुओं से इस की रक्षा करते । परन्तु कहते शोक होता है कि हमने काँटे बन कर रक्षा करने की जगह एक दूसरे को चुभना शुरू कर दिया । नवयुवकों, हम अपने कर्त्तव्य से च्युत हुए हैं, तुम इस फुलवाड़ी के ऐसे फूल बनो जिसकी महक से सारी फुलवाड़ी महक जावे । मत देखो कि मुंशीराम या तुलसीराम क्या करता है । सेवक बनने का यत्न करो, क्योंकि लीडरों की अपेक्षा आर्य जाति को सेवकों की बहुत अधिक आवश्यकता है । जब कभी आपका पैर डगमगाने लगे तो राम के सेवक हनुमान का स्मरण कर लिया करो । लंका की विजय करके महाराजा रामचन्द्र अयोध्या लौटे । राजगद्दी के मिलने के पीछे विभीषण, अंगद आदि सभी विदा होने लगे । उस समय माता-सीता ने सभी को कुछ पुरस्कार दिया । सीता का हनुमान के साथ सबसे अधिक प्रेम था । माता ने अपना मोतियों का बहुमूल्य हार हनुमान को दिया । हनुमान ने हार लेकर एक मोती को तोड़ना आरम्भ किया । सीता के पूछने पर हनुमान ने कहा - "माता, मैं देखता था कि इन मोतियों के अन्दर राम का भी नाम है या नहीं; राम के नाम के बिना मैं इन मोतियों को क्या करूं; "नवयुवकों, मैं पूछता हूँ, क्या तुममें से कोई भी दयानन्द रूपी राम का पायक हनुमान बनने का यत्न न करेगा; महावीर के बिना दयानन्द का काम अधूरा पड़ा है । मुझे पूरी आशा है कि दयानन्द के काम को पूरा करने के लिये, पाप की लंका का विध्वंस करने के लिये तुम्हीं में से महावीर निकलेंगे ।

क्या तुम मर्यादा पुरुषोत्तम राम के वंशज हो ?

[७ कार्तिक सम्वत् १९७७ के 'श्रद्धा' से उद्धृत]

कैकई ने राजा दशरथ से अपने दो वर मांग लिये—भरत के लिये अयोध्या का राज्य और राम के लिये चौदह वर्ष का वनवास, रात को राम पिता की आज्ञा पा राज्याभिषेक की तैयारी करके सो गये। प्रातः उठते ही सुमन्त कैकई के गृह में उन्हें लिवा ले गये। दशरथ भूमि पर बेसुध पड़े हैं। हा राम ! हाय राम ! कह कर कैकई के पैर पकड़ने चले—

न जोवितं मेऽस्तिकुतः पुनः सुखं विनात्मजेनात्मवतां कुतो रतिः ।
ममाहितं देवि न कर्तुमर्हसि स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद में ॥

राजा पुत्र के वियोग के भय से व्याकुल स्त्री के पैर छूने नीचे हुये और उस अविद्याग्रस्त दुष्टा ने पैर खींच लिया। पैर न मिलने पर, हाँ राम कह भूमि पर गिर पड़े। राम बाहर से बुलाते, हिलाते हैं। पर वहाँ तो राम अन्दर-विराजमान हैं, राजा बोले कैसे ? माता से पूछते हैं—हे माता ! पिता अप्रसन्न क्यों हैं ?" उत्तर मिला है कि तुम्हारे भय से नहीं बोलते मेरा भय क्यों ! मैं तो पिता की आज्ञा से आग में कूद पड़ूँ। हर्ष से विष ग्रहण कर लूँ, समुद्र में कूद पड़ूँ, हे देवी मुझे स्पष्ट बतलाओ 'रामो द्विर्नाभिभाषते'—राम दो बात नहीं कहता। विमाता स्वकहानी सुना देती है उसका राम पर क्या प्रभाव पड़ता है ? कविवर वाल्मीकि लिखता है—

न वनं सन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम् ।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥

"राज त्याग कर वन को जाते हुये राम के मन में वसुन्धरा छोड़ने का कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ, जैसे संसार को छोड़ते हुये वीतराम पुरुष के चित में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता"

राम चल दिये देवी सीता भी साथ हो लेती है। जब पति चल दे तो धर्मपत्नी, पीछे कैसे रह सकती है ? उसने तो सप्तपदी में यह प्रतिज्ञा की थी कि पति के साथ छायावत रहूँगी। राम वन के भय दिखाते हैं, सास ससुर की सेवा की याद दिलाते हैं। परन्तु वहां से उत्तर मिलता है—"दोनों लोक में नारी की गति एक पति है—न पिता, न भ्राता, न माता, और न सुखीजीवन। यदि तुम अभी भयंकर वन के लिये प्रस्थान करोगे तो मैं तुम्हारे आगे घास और काटों को हटाते हुये चलूँगी। यदि तुम्हारे बिना स्वर्ग भी निवास को मिलेगा तो भी उसमें मेरी रुचि न होगी। तुम अपने पिता का वचन पालन करने चले हो—मेरे पिता की आज्ञा यह थी कि छायावत तुम्हारे साथ लागी रहूँ फिर अपने पिता की आज्ञा का उलंघन मैं कैसे करूँ।

राम क्या उत्तर दे सकते थे, सीता को साथ ले लिया। विचित्र पति पत्नी के पवित्र सम्बन्ध का दृश्य है। फिर भाई का प्रेम लक्ष्मण भागे आते हैं और साथ चलने को तैयार हैं। भाई के नाते से नहीं, सेवक के नाते से–लक्ष्मण राम के समझाने पर उत्तर देते हैं—

गुरुपितु मातु न जानउं काहू ।
कहउं सुभाउ नाथ पति आहू ।।
जहलग जगत सनेह सगाई ।
प्रीति प्रतीति निगम निजुगाई ।।
मोरे सबइ एक तुम स्वामी ।
दीनबंधु उर अन्तर जामी ।।

राम निरुत्तर हो गये—जाओ माता से पूछ आओ, आज्ञा दें तो साथ चलो। माता सुमित्रा क्या आज्ञा देती हैं ?—

"रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ।"

ये तीनों तो वन को चल दिये। राम से बिछुड़ कर राजा प्राण कैसे रखते। 'बिना राम के मेरा जीवन नहीं—यह दिखलावे की बात न थी। उधर सुमन्त्र खाली रथ ले कर लौट आया और घर महाराज ने प्राण त्याग दिये। भरत और शत्रुघन ननसाल में थे। दूत उन्हें वहाँ से अयोध्या लाया। अचानक सारा राजपाट मुट्ठी में आता है। अपना उसमें कुछ दोष नहीं परन्तु भरत उसे ठोकर मार कर अलग कर देते हैं। सारे अवध को साथ लेकर और राज्याभिषेक का सामान इकट्ठा कर राम के पीछे चल देते हैं। माताएं, गुरुजन, नगर निवासी सभी वन को अयोध्या बना देते हैं। जनक भी सेवा सहित आ पहुँचे हैं। दिनों तक विचार रहता है, परन्तु कोई प्रलोभन राम को हिला नहीं सकता। राम अडोल स्थिति में है। अयोध्या निवासियों को अभीष्ट यह था कि वे राम को लौटा ले चलें, परन्तु जब राम दृढ़ रहे तो उनकी मासिक दशा क्या थी। आदि कवि वाल्मीकि कहते हैं—

"तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्यराधवे सम जनो हर्षमवापदुःखितः ।
न यात्ययोध्यामितिदुःखितोऽभवत् स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः ।।

राम की दृढ़ता देख कर सब को हर्ष और शोक हुआ। शोक इस लिये कि राम अयोध्या नहीं लौटते और हर्ष इस लिये कि वह अपनी प्रतिज्ञा में स्थिर है।

राम की इस अपूर्व कहानी और राघव मण्डल के इस विचित्र चरित्र ने, गिरे से गिरे हुए समय में भारतियों के चरित्र संगठन में सहायता दी है। क्या इस समय उस से बढ़ कर कोई सहारा भारत निवासियों को मिल सका है ? हम सब राम की ही सन्तान तो हैं। भारतवर्ष की ७ करोड़ मुसलमान प्रजा में से कितने है जो भारत में विभिन्न देशों से लाकर बसे हैं और फिर क्या वे भी उन ही आर्यों की औलाद नहीं जिनने ईरान (आर्य देश) और अरब को जा बसाया था। कितने ईसाई हैं जो बाहर से आकर बसे हैं ? और उन में से भी कौन यूरोपियन है जो आर्य वंशज होने से इन्कार कर सकता है। सीता, राम, लक्ष्मण और भरत इन सब के ही तो पूर्वज थे। श्री राघवेन्द्र की जीवनी से उपदेश लेने क्या इन सब का ही अधिकार है।

स्वदेश. की इस समय विचित्र दशा है। अन्दर और बाहर दोनों ओर से आक्रमण हो रहे हैं। स्वार्थ तो विदेशी नौकरशाही और व्यापारियों को अन्धा कर रहा है और वे विविध प्रकार की धमकियां हमें गुलामी की जंजीरों में अधिकत: जकड़ने के लिये तैयार हैं। वे जानते हैं कि यदि राष्ट्र रूपसिंह सचमुच सावधान होकर जाग उठा तो उनके हाथ से यह कामधेनु रूपी भूमि सदा के लिये छिन जायगी और भय अन्दर के खुशामदी भाइयों को भयतीत कर रहा है। वे समझ रहे हैं कि यदि बृटिश नौकरशाही का विजय हुआ तो उनको हड्डियाँ चूसने को मिलती ही जायेगी और यदि अन्त को भारत का आत्मिक विजय हुआ तब धर्मात्मा विजयी उनको भाई समझ कर हिस्सेदार बना लेंगे।

ऐसे नाजुक समय में यदि मातृभूमि के सपूत, जिन्होंने माता को गुलामी से आजाद कराने का बीड़ा उठाया है, दृढ़ प्रतिज्ञ रहे और कैद, हवाई जहाज और मशीनगनों की धमकी से न डरे तो जहाँ नौकरशाही को हजारों काट कर भी हार माननी पड़ेगी वहाँ भयभीत खुशामदी भाइयों के हौसले भी बढ़ जायेंगे और वे भी भारत माता के सपूत सिद्ध हो जायेंगे। हे राम ! जो सहस्रों वर्षों से इस पवित्र भूमि के एक एक रोम रोम में रम रहे हैं फिर से इस जाति के अन्दर जीवन डाल दो जिससे डांवाडोल हृदय स्थिर हो जाये और आर्यवर्त वही पुरानी पवित्र भूमि बन जाय जिसके सुपुत्रों के चरणों पर सारे भूमंडल के लोग चरित्र संगठन की शिक्षा लिया करते थे।

अस्पृश्यता प्रगति में बाधक है

—स्वामी श्रद्धानन्द

[स्वामी श्रद्धानन्द जी ने सन् १९२४ में "हिन्दू संगठन" नाम से एक पुस्तिका लिखी थी। प्रस्तुत लेख इसी पुस्तिका का अंश है। अस्पृश्यता की समस्या आज भी उतने ही ज्वलन्त रूप में विद्यमान है, जितनी कि उस समय थी। अतः इस लेख का वर्तमान में भी समान महत्त्व है, जब कि देश के कोने-कोने से हिन्दुओं के धर्म परिवर्तन की घटनाएँ, प्रायः रोज सुनने में आ रही हैं।]

हिन्दुओं में प्रचलित अस्पृश्यता का अभिशाप उनके सम्मान पर एक बट्टा है और उनके इस पाप का दुष्परिणाम सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र भुगत रहा है। जब कभी हमारे राजनीतिक नेता स्वराज्य की माँग पेश करते हैं तो उनके सामने उनके पापों को रखकर उनका मुंह बन्द कर दिया जाता है। जो लोग अपने ही समाज के एक तिहाई लोगों को गुलाम बनाये हुये हों और उन्हें पैरों तले कुचल रहे हों, उन्हें विदेशियों द्वारा किये गये अत्याचारों के विरुद्ध शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये अस्पृश्य अथवा अछूत कौन हैं? क्या वे दक्षिणी अफ्रीका के जुलु लोगों के देश से आये थे अथवा नरक की जलती हुई अग्नि में से बाहर धकेल दिये गये थे? कम से कम वे स्वर्ग से नहीं ही गिराये गये, वह तो उनकी अवस्था से भली-भाँति प्रकट है। यदि थोड़े धैर्य से और पक्षपातशून्य होकर खोज की जाये तो यह अच्छी प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि अछूतों के और तो और भंगियों और घेड़ों के भी—गोत्र वही हैं जो तीन उच्चवर्गी कहे जाने वाले सवर्ण हिन्दुओं के हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इनका भी मूल उदगम स्थान वही है जहाँ से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य प्रकट हुए हैं। बहुत सम्भवतः उनके नैतिक पतन के कारण उन्हें सामाजिक दृष्टि से भी निम्न वर्ग में धकेल दिया गया। यदि वे रहन सहन को सुधार लेते हैं और नैतिक दृष्टि से ऊपर उठने लगते हैं तो उन्हें अपनी पुरानी स्थिति प्राप्त करने से कोई नहीं रोक सकता। यह एक सीधा-सादा सत्य है जिसकी हिन्दुओं ने शताब्दियों से उपेक्षा की है। महाप्रभु चैतन्य, कबीर, नानक, दादू, गुरु गोविन्द तथा कुछ अन्य सुधारकों ने हिन्दुओं के इस पाप के विरुद्ध आवाज उठाई परन्तु उनकी वाणियां बहरे कानों में पड़ी। तब एक बाल ब्रह्मचारी का प्रादुर्भाव हुआ और उसने गुंजायमान शब्दों से हिन्दुओं में कर्तव्य की भावना उत्पन्न की और सम्पूर्ण आर्य-जगत् की हड्डियों तक को कंपा दिया। यह सुधारक था महर्षि दयानन्द सरस्वती प्रत्येक मनुष्य के समानाधिकार का दावा किया और समाज को गुण कर्म के अनुसार चार वर्णों में विभाजित करने की आवाज उठाई। जब यह महान् आचार्य कार्यक्षेत्र में उतरा तब हिन्दुत्व धाराप्रवाह रूप में **ईसायत** में विलीन होता चला जा

रहा था। उसने एक बुलन्द और आध्यात्मिक आवाज में रुकने का आदेश दिया और प्रवाहित होती धारा एकदम रुक गई। पथप्रष्ट लोगों को पथ का निर्देश किया, देहरादुन के मुंशी मुहम्मद उमर को पुनः ग्रहण करके अलखधारी नाम रखा। इसके बाद तो उन सैकड़ों हिन्दुओं का—जो कि लालच आदि द्वारा सार्वजनिक वैदिक अक्षय वृक्ष की छाया से दूर हटा दिये थे—पुनः आर्यधर्म में खींच लिया।

परिणामतः उच्च वर्ग के हिन्दुओं का विरोधी धर्मों में प्रवेश एक भूतकालीन वस्तु हो गई। जब महर्षि दयानन्द ब्राह्मधाम को प्रस्थान कर गये तब आर्यसमाज ने अपने आचार्य को काम के उठाबा। तब ईसाई मिशन के दुराग्रही हिन्दुओं द्वारा पीड़ित अछूत वर्ग को पॉल के धर्म में परिवर्तित करने को सोचा। यह एक सरल और सीधा-सादा कार्य था। एक बार रामचरण चमार की चोटी कटी, उसके माथे पर पानी से क्रॉस के चिन्ह बनाये गये, उसने गोमाँस खाना शुरू कर दिया, उसका नाम पीटर जॉन अथवा पॉल रख दिया गया, उसे उसी कालीन पर बैठने का अधिकार प्राप्त हो गया, उसी कुएँ से पानी खींचने का अधिकार मिल गया जिनका उपयोग सवर्ण हिन्दू करते हैं और तो और वह ब्राह्मणों से हाथ भी मिलाने लगा। चमार, धेड़, डोम और पारसी हजारों की संख्या में ईसाइयत को अपनाने लगे। तब इस समस्या की ओर आर्यसमाज का ध्यान आकृष्ट हुआ और आर्यसमाज ने इन पथभ्रष्ट लोगों को इनके पथ पर लाना शुरू किया तथा आर्यसमाजियों ने लोगों को प्रश्रय और अभय देना, अपने धर्म को छोड़कर जाने वाले दलितों को शुद्ध करना आरम्भ कर दिया।

इस शुद्धि आन्दोलन का कट्टर हिन्दुओं द्वारा प्रबल विरोध किये जाने के कारण यह प्रतीत होने लगा कि अछूतोद्धार का कार्य लगभग असम्भव हो जायेगा। परन्तु आर्यसमाज ने हलपर अपना दृढ़ हाथ रखकर भूमि के सुधार के बीज बोये जा सकने योग्य बनाना नहीं छोड़ा। सबसे प्रथम रहतियों की सामूहिक शुद्धि की गई। यह सिक्खों का एक वर्ग था, परन्तु खालसा लोग भी इन्हें अपने साथ दरी पर बैठने का अधिकार नहीं देते थे। सिक्ख धर्म के संस्थापक श्री गुरु गोविन्दसिंह ने स्वयं इस वर्ग को "कृपाण" द्वारा तैयार अमृत पिलाकर सिक्ख धर्म में दीक्षित किया था। सन् १८९६ के मध्य में इस वर्ग के लोगों ने अपनी शुद्धि के लिये प्रार्थना की और अगले कुछ ही मासों में एक हजार से भी अधिक व्यक्ति आर्यसमाज में भाइयों के रूप में प्रविष्ट कर लिये गये। इन लोगों को पूर्ण सामाजिक और धार्मिक अधिकार प्रदान किये गये। पहले-पहले तो आर्यसमाजियों को अनेक कष्ट दिये गये, और आर्यसमाजियों का सामाजिक एवं जाति बहिष्कार किया गया। परन्तु १८९८ के अन्त तक यह विरोध-भाव समाप्त हो गया और लगभग एक हजार रहतिये हिन्दू समाज में खपा लिये गये।

१९०२ में आर्यसमाज ने स्यालकोट (पंजाब) में मेघों के उद्धार का प्रश्न अपने हाथ में लिया। इन मेघों को भी अछूत समझा जाता था। पहले तो यहाँ भी

इस कार्य का तीव्र विरोध किया गया। हिन्दुओं द्वारा इन नये आर्यसमाजियों को पीड़ित करने के कार्य में मुसलमान भी सम्मिलित हो गये थे, परन्तु जब डेढ़ लाख से अधिक व्यक्ति अन्य कार्यों के समान अधिकार भोगने लगे तो यह विरोध अपनी प्राकृतिक मृत्यु से मर गया और तब मुजफ्फरगढ़ और मुलतान जिले के ओड, पंजाब के पहाड़ी प्रदेशों के डोम हजारों की संख्या में शुद्ध किये गये। एवं मेघों के उद्धार के लिये जम्बू और काश्मीर रियासत में तथा अन्यत्र आन्दोलन किया गया। परिणाम ४० हजार से भी अधिक आर्यसमाज में प्रविष्ट हो गये और अब तक वे आते जा रहे हैं। इसप्रकार पंजाब पथ प्रदर्शन करता रहा है और पिछली सैंसर रिपोर्ट (१९२१) से पता चलता है कि संयुक्त प्रान्त के आगरा और अवध का ईसाई मिशन इस बात की शिकायत करने लगा है कि उनके द्वारा संचालित धर्म-परिवर्तन के कार्य में आर्य-समाजियों द्वारा रुकावटें डाली जाती हैं।

दिल्ली तथा उसके आस-पास, आर्यसमाज उन सैकड़ों अछूतों को पुनः हिन्दू-धर्म में ले आया जो केवल नाम-मात्र के ईसाई थे। हजारों धनकों, चमारों, रहगड़ों और भंगियों तक को भविष्य में ईसाइयों के होने वाले आक्रमणों से बचा लिया। ईसाई मिशनरियों ने तो निराश होकर यह धर्म परिवर्तन का कार्य ही छोड़ दिया होता, यदि उन्हें अप्रत्याशित रूप से सहायता न मिल गई होती।

हिन्दुओं के सामूहिक रूप से धर्म-परिवर्तन के लिये अत्यधिक उत्साही होते हुये भी मुसलमानों को अपना यह काम छोड़ देना पड़ा और उनका यह कार्य भाग्य के सहारे और अति सूक्ष्म ढंग से होने लगा। सेंसस रिपोर्ट से यह स्पष्ट हो जाता है कि १९११ से पंजाब में तथा अन्यत्र मुसलमान भंगियों की संख्या कम हो गई है, जबकि अनुपात से हिन्दू भंगियों की संख्या बढ़ गई है। संयुक्त प्रान्त के सम्बन्ध में १९११ की सेन्सस रिपोर्ट के पृष्ठ ५४ पर कहा है—इस्लाम में धर्म परिवर्तन के उदाहरण इतने विरल हैं कि उनकी उपेक्षा की जा सकती है, परन्तु असहयोग आन्दोलन के पूर्ण यौवन के दिनों में जब महात्मा गाँधी ने स्वराज्य प्राप्त करने की शर्तों में एक शर्त यह भी रख दी कि अछूत वर्ण को हिन्दुओं में पूर्ण रूप से मिला लिया जाये और उनका उद्धार किया जाये तो मुसलमान नेताओं ने इसे एक स्वर्ण अवसर समझा और अछूतों को इस्लाम में दीक्षित करने का एक आयोजन प्रारम्भ कर दिया।

मेरे लिये तो अस्पृश्यता के अभिशाप को उखाड़ फेंकना भारतीय राष्ट्रीयता की सुरक्षा के लिये एक आवश्यक शर्त है। अखिल भारतीय महासभा (काँग्रेस) के ३४ वें अधिवेशन की स्वागत समिति के अध्यक्ष पद से २७ दिसम्बर १९१९ को अमृतसर में बोलते हुये मैंने राष्ट्रीयता को संकट में से निकालने के लिये राष्ट्रीय शिक्षण और अस्पृश्यता-निवारण इन दो साधनों पर बल दिया था। अस्पृश्यता-निवारण के सम्बन्ध में मैंने कहा था—

"राष्ट्र में एक वस्तु की कमी है। वह क्या है? मुक्ति सेना (साल्वेशन आर्मी) के जनरल बूथकर ने "सुधार योजना-समिति" के सम्मुख अपने वक्तव्य में कहा था कि साढ़े छः करोड़ भारतीय अछूतों को विशेष सुविधा दी जानी चाहिये, क्योंकि वे ब्रिटिश सरकार के आधार-स्तम्भ हैं। मैं आपसे निवेदन करूँगा की आप इस वक्तव्य के अन्तस्तल में घुसकर जानने का प्रयत्न करें कि वे साढ़े छः करोड़ अछूत सरकार के आधार स्तम्भ कैसे बन सकते हैं? जबकि आप इस पवित्र पण्डाल में इकट्ठे हुये हैं तो मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप यह शपथ उठायें कि इन अछूतों के प्रति आपका व्यवहार इसप्रकार का हो कि उनके बच्चे आपके बच्चों के साथ कालेज और स्कूलों में पढ़ सकें, आप उन्हें अपने परिवारों में उसीप्रकार घुलने-मिलने दीजिये जिस प्रकार आप स्वयं अपने परिवारों में घुलते-मिलते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि वे आपकी राजनीतिक और प्रगति में आपके साथ अपने कन्धे भिड़ाकर चल सकेंगे। देवियों और सज्जनो? आप मेरे साथ मिलकर हृदय से प्रार्थना कीजिये कि मेरा यह स्वप्न सत्य सिद्ध हो—"

अमृतसर के काँग्रेस अधिवेशन के बाद मैंने गुरुकुल का कार्य संभाल लिया, परन्तु जब काँग्रेस का कलकत्ते में विशेष अधिवेशन हुआ तो मैं केवल मात्र इस कारण उसमें सम्मिलित हुआ, क्योंकि मैंने स्वागत समिति को एक प्रस्ताव भेजा हुआ था, जिसमें उस महान् राष्ट्रीय असेम्बली से यह प्रार्थना की गई थी कि काँग्रेसी प्रोग्रामों की सूची में अछूतोद्धार के कार्यक्रम को सम्मिलित कर ले। परन्तु दुर्भाग्य से उस प्रस्ताव पर विषय-समिति तक में विचार करने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

नागपुर के काँग्रेस अधिवेशन से पूर्व महात्मा गांधी मद्रास गये थे। वहाँ दलित-जाति के लोगों ने अपनी स्थिति के सम्बन्ध में इसप्रकार के प्रश्न गांधी जी से किये कि वे हकला गये और उसके बाद स्वराज्य प्राप्ति के लिये यह भी शर्त लगा दी कि १२ मास के अन्दर-अन्दर अस्पृश्यता दूर कर दी जानी चाहिये।

मैंने दिल्ली में दलितोद्धार सभा का संगठन किया और महात्मा गांधी को कार्यसमिति से आर्थिक सहायता दिलाने के लिये तार दिया। परन्तु बाद में मुझे पता लगा कि काँग्रेस इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कर सकती है। ९ सितम्बर १९२१ को एक पत्र हिन्दी में महात्मा जी को लिखा था। उसका कुछ भाग इस प्रकार है—

मैंने लाहौर से तार दिया था कि मैं चाहता हूं कि प्रान्तीय काँग्रेस कमेटी द्वारा आर्थिक सहायता दी जाये। परन्तु दिल्ली पहुँचने पर मुझे ज्ञात हुआ कि कांग्रेस के लिये अछूतोद्धार कार्य के लिये व्यय करना असम्भव है। दिल्ली और आगरा के चमारों की केवल मात्र यह माँग थी कि उन्हें कुंओं से पानी भरने दिया जाये, जिनसे हिन्दु और मुसलमान दोनों पानी भरते हैं और उन्हें पानी पत्तों द्वारा न पिलाया जाया करे। मैं अनुभव करता हूँ कि कांग्रेस कमेटी के लिये केवल इस मांग को पूरा कर सकना सम्भव नहीं। केवल इतना ही नहीं, मैंने जिस कांग्रेसी मुसलमान से इस कार्य के लिये सहायता माँगी, उसने उत्तर दिया कि यदि सार्वजनिक कुंओं से

हिन्दुओं ने अछूतों को पानी भरने की आज्ञा भी दी, तो मुसलमान उन्हें बल-प्रयोग द्वारा कुंओं से भगा देंगे क्योंकि चमार मुर्दा पशुओं का माँस खाते हैं। मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि इन चमारों में से हजारों शराब और माँस को छूते भी नहीं हैं और जिन्हें मुर्दा माँस खाने की लत पड़ भी गई है अब वे भी आर्यसमाज के प्रचार के परिणामस्वरूप अपनी इस आदत को छोड़ते जा रहे हैं। मैंने यह पत्र आपको केवल सूचना देने के लिये लिखा है कि अब मैं काँग्रेस कार्यसमिति से आर्थिक सहायता के लिये प्रार्थना नहीं कर सकता। मैं अपने समिति स्रोतों के अनुसार जो कुछ कर सकता हूँ, वह सब करूंगा।"

एक अवसर और उपस्थित हुआ जब मैंने लखनऊ में होने वाले काँग्रेस के अधिवेशन के समय यह प्रयत्न किया कि काँग्रेस सच्चे हृदय से अस्पृश्यता निवारण के प्रश्न को अपने हाथ में ले ले, परन्तु इस पत्र व्यवहार का कुछ परिणाम नहीं निकला। इस पत्र-व्यवहार को मैंने "माइ पार्टिंग एडवांइस" के नाम से कुछ समय पूर्व प्रकाशित कर दिया था और वहाँ देखा जा सकता है।

पुत्रो ! सदाचारी बनो

[कुलपिता महात्मा मुंशीराम जी द्वारा सन् १९१४ में गुरुकुल के द्वितीय दीक्षान्त के अवसर पर नवस्नातकों को दिया गया उपदेश ।]

पुत्रों ! आज मैं तुम्हें उन बन्धनों से मुक्त करता हूँ, जिनके अनुसार गुरुकुल में चलना तुम्हारे लिये आवश्यक था । पर यह न समझना कि अब तुम्हारे लिये कोई बन्धन नहीं है । प्राचीन काल से हमारे ऋषियों ने कुछ बन्धन बांध रखे हैं, उन्हें मैं आज तुम्हें सुनाना चाहता हूँ । इन बन्धनों के पालन करने में किसी का तुम पर दवाब नहीं इसीलिये, ये बन्धन और कड़े हैं । ये बन्धन उन उपनिषद वाक्यों में वर्णित हैं, जिन्हें आज से हजारों वर्ष पहले इस पवित्र भूमि में प्रत्येक आचार्य अपने स्नातकों को विद्या-समाप्ति के समय सुनाया करता था उन्हीं पुराने आचार्यों का प्रतिनिधि होकर मैं तुम्हें वे वाक्य सुनाता हूँ ।

पुत्रों ! परमात्मा सत्यस्वरूप है । उसके प्यारे बनने के लिये अपने जीवन को सत्यस्वरूप बनाओ । तुम्हारे मन में, तुम्हारी वाणी में और तुम्हारी क्रिया में सत्य हो । धर्म मर्यादा का उल्लंघन मत करो । इस मर्यादा का साक्षी अन्तःकरण ही है । बाहर से कोई धर्म बतलाने वाला नहीं है । जो हृदय परमात्मा का आसन है, वह तुम्हें धर्म की मर्यादा बतलायेगा । अपनी आत्मा की वाणी को सुनो और उसके अनुसार चलो । स्वाध्याय से कभी मुख न मोड़ो । वह तुम्हें प्रमाद से बचायेगा ।

जिस आचार्य ने तुम्हारी इतने दिनों तक रक्षा की इसके प्रति तुम्हारा जो कर्तव्य है, उसे अपने हृदय से पूछो । यह तुम्हारा आचार्य है । मैं नहीं जानता कि तुम इसे क्या दक्षिणा देना चाहते हो । मैं तुमसे केवल एक ही दक्षिणा मांगता हूँ । मैं चाहूँगा कि तुम्हारा ऐसा कोई काम न हो, जिससे तुम्हें अपनी आत्मा और परमात्मा के सामने लज्जित होना पड़े ।

तुममें से अब कोई गृहस्थ में प्रवेश करेंगे । उनसे मैं कहता हूँ कि पाँचों यज्ञों के करने में कभी प्रमाद न करना । माता, पिता, आचार्य और अतिथि ये तुम्हारे देवता हैं, इनकी सदा सुश्रूषा करना धर्म समझो ।

पुराने ऋषि बड़े उदार और निरभिमान थे । वे कभी पूर्णतया दोषरहित होने का दावा नहीं करते थे । उन्हीं का प्रतिनिधि होकर मैं तुम्हें कहता हूँ कि हमारे अच्छे गुणों का अनुकरण करो और दोषों को छोड़ दो । इस संसार की अंधियारी में किसी को अपना ज्योति स्तम्भ बनाओ । पढ़ा-पढ़ाया कुछ अंश तक पथप्रदर्शक होता है, पर सच्चे पथप्रदर्शक वे ही महापुरुष होते हैं जो अपना नाम संसार में छोड़ जाते हैं । वे जीवन-समुद्र में ज्योति-स्तम्भ का काम देते हैं । ऐसे आत्मत्यागी सत्य-

वादी और पक्षपातरहित महापुरुषों के पथ पर चलो। चाहे वे जीवित हों या ऐतिहासिक।

लेना तो सभी संसार जानता है। तुम इस योग्य हो कि अपनी बुद्धि और विद्या में से कुछ दे सको जो तुम्हारे पास है, उसे उदारता से फैलाओ, हाथ खुला रखो, मुट्ठी को बन्द न होने दो। जो सरोवर भरता है वह फैलता है, यह स्वाभाविक नियम है।

जिस भूमि की मिट्टी से तुम्हारा देह बना है, जिसकी गंगा का तुमने निर्मल जल पिया है और जिसके गौरव के सामने संसार का कोई देश ठहर नहीं सकता, उस पवित्र भूमि भारत में रहते हुये तुम उसके यश को उज्ज्वल करोगे, इसकी मुझे पूरी आशा है। इसके साथ ही जिस सरस्वती की कोख में तुमने दूसरा जन्म लिया है उसे मत भूलना। किसी भी काम को करते हुये सावित्री माता की उपासना से विमुख न होना।

यह मैंने संक्षेप से उन वाक्यों का सारांश सुना दिया है जो कि सहस्रों वर्षों से इस पवित्र भूमि में गूंजते हैं। इन्हें गुरुमन्त्र समझो और अपना पथदर्शक बनाओ।

इसके अतिरिक्त मेरा भी तुम्हारे साथ कई वर्षों का सम्बन्ध रहा है। मैं तुमसे गुरुदक्षिणा नहीं मांगता। गुरुदक्षिणा देना तुम्हारा धर्म है, मांगना मेरा धर्म नहीं। मैं तुमसे यह भी नहीं पूछता कि तुम्हारे राजनीतिक, सामाजिक या मानसिक विचार क्या-क्या है ? मैं केवल तुमसे यही पूछता हूँ कि क्या तुम्हारे सब काम सत्य पर आश्रित हैं या नहीं। स्मरण रखो, यह संसार सत्य पर आश्रित है। सत्य के बिना समाज के नियम पददलित करने योग्य हैं। यदि सत्य तुम्हारे जीवन का अवलम्बन है, तो मुझे न कोई चिन्ता है और न ही कुछ मांगना है। ●

ऋषि के ज्ञान-तत्त्व को हृदयगंम करो !

['कल्याण-मार्ग का पथिक' की प्रस्तावना का एक अंश]

अभी ५० वर्ष भी पूरे नहीं हुये कि भारतवर्ष के नवयुवक सिवाय खाने, पीने भोगने और उसके लिये धन-सञ्चय करने के अलावा और कुछ कर्तव्य नहीं समझते थे। गुलामी में वह जन्म लेते थे और उस दासता की अवस्था को अनिवार्य समझ कर गन्दगी के कीड़ों की तरह उसी में मस्त रहते थे। उन्हें मालूम न था कि उनके पुरूरवा भी किसी समय में सभ्यता का स्रोत थे। उन्हें यही बतलाया गया था कि भारतीय अर्ध-सभ्य हैं, उनकी कोई संस्कृति थी ही नहीं और यदि वह गिरी हुई अवस्था से उठना चाहते हैं तो योरोपियन सभ्यता की शरण में जाना चाहिये।

आचार्य ऋषि दयानन्द ने आर्य्यावर्त की प्राचीन संस्कृति का सप्रमाण चित्र खींच कर न केवल आर्य-सन्तान के अन्दर ही आत्म-सम्मान का भाव उत्पन्न किया प्रत्युत योरोपियन विद्वानों को भी, उनकी कल्पनाओं की असारता दिखलाकर, चक्कर में डाल दिया। हिन्दू युवक अपने प्रत्येक आचार-व्यवहार को दूषित और योरोपियनों के गिरे से गिरे अत्याचार और दुराचार को भी आदर्श समझा करते थे। मैंने भी उसी विद्यालय में शिक्षा पाई थी जिसने हिन्दू युवकों को अपनी प्राचीन संस्कृति का शत्रु बना दिया था।

आजकल की भारतीय जनता ५० वर्ष पूर्व का इतिहास पढ़ कर उस समय के भारतीय लेखकों को तुच्छ दृष्टि से देखती है और उनके अज्ञान पर आश्चर्य करती है और यह समझ बैठी है कि अज्ञान से ज्ञान की ओर आने के बीच में कोई भी मञ्जिल तय नहीं करनी पड़ी। इसी भूल को दूर करने के लिये मैंने अपनी जीवन-यात्रा की कहानी सविस्तार लिख दी है। इसमें सन्देह नहीं कि मेरी गिरावट की कहानियाँ बहुत से श्रद्धालु हृदयों को ठेस लगायेंगी, परन्तु मुझे विश्वास है कि इस आत्मकथा के पाठ से बहुत से युवकों को संसार-यात्रा में ठोकरों से बचने की शक्ति भी मिलेगी।

एक और बात भी है जिसकी ओर विशेष ध्यान दिलाना चाहता हूँ। ऋषि दयानन्द के लेखों का तत्त्व उन आर्यसमाजियों की समझ में पूर्णतया नहीं आता, जिन्होंने आर्यसमाज के यौवनकाल में उसके अन्दर प्रवेश किया है।

अपनी निर्माण की हुई पाठविधि में आचार्य दयानन्द ने 'सर्व भाषा ग्रन्थ' त्याज्य लिखे हैं। इस पर सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में इस प्रकार प्रश्नोत्तर हैं :—

प्रश्न—'क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं ?

उत्तर—'थोड़ा सत्य तो है, परन्तु इसके साथ बहुत-सा असत्य भी है इससे ······जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है वैसे यह ग्रन्थ है।'

आचार्य का यह लेख रहस्य-पूर्ण है। आजकल कुछ ऐसे आर्यसमाजी भी हैं जो यह समझते हैं कि किसी भाषा-ग्रन्थ को भी पढ़ना न चाहिये। यह उनकी भूल है। ऋषि ने उनमें यत्किञ्चित् सत्य भी माना है किन्तु बाल्यावस्था में शिक्षा ग्रहण करने के लिये संकेत कर दिया है कि वेदशास्त्रानुकूल नये भाषा-ग्रन्थों का निर्माण करना चाहिये। परन्तु जिस प्रकार गृहस्थों के लिये आचार्य ने आज्ञा दी है कि सत्य का मण्डन और असत्य मत का खण्डन सीख कर सदाचारपूर्वक विदेश में जाने से कोई हानि नहीं उसी प्रकार गुरुकुलों तथा राष्ट्रीय विद्यालयों में भी शिक्षा समाप्त करने के पीछे पुराने भाषा-कवियों के ग्रन्थ पढ़ने से लाभ ही होगा। ··· आर्य संस्कृति के गिरे से गिरे समय में भी तुलसीदास आदि की कविताओं ने आर्य संस्कृति को लुप्त होने से बचाया है।

किसी प्रकार क्रमशः धार्मिक दासता से उत्तरोत्तर हिन्दू समाज को मुक्ति मिलती गयी और अपनी राजनीतिक दासता का भी उनको परिज्ञान हुआ, इसके समझने के लिये युग-विधाता आचार्य दयानन्द के जीवन-चरित्र का पाठ गहरी दृष्टि से करने की आवश्यकता है। परन्तु उस परिवर्तन के बहुत से मर्म तभी मालूम हो सकते हैं जबकि ऋषि के वे अनुगामी जिन्होंने स्वयं उनका सहवास किया है अपने अन्तःकरण के परिवर्तनों को खोलकर जनता के सामने रख दें। ❀

शुद्धि एवं हिन्दू-संगठन

[देश में लाखों हिन्दुओं को धर्म परिवर्तन द्वारा मुसलमान एवं ईसाई बनाया जाता देख और इससे हिन्दुओं की संख्या में उत्तरोत्तर संभावित कमी की कल्पना करके स्वामी श्रद्धानन्द जी अत्यधिक चिन्तित हो गये और उन्होंने इसे रोकने के लिए व्यापक आंदोलन चलाने का निश्चय किया। उनका मत था कि सर्वप्रथम जो लोग पुन. हिन्दू धर्म में वापस आना चाहें, उन्हें शुद्ध करके आज भी अनुमति दी जानी चाहिए। इसके लिए उनकी अध्यक्षता में 'भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा' की स्थापना की गई। इसके साथ ही स्वामी जी हिन्दुओं को संगठित करने के लिए 'हिन्दू संगठन' की स्थापना के पक्ष में भी थे। इस विषय में सन् १९२४ में उन्होंने अंग्रेजी में हिन्दू संगठन : सेवियर ऑफ ए डाइंग रेस' नाम से एक पुस्तक भी लिखी थी। उसी पुस्तक का एक अंश नीचे दिया जा रहा है। यह अंश आज के सन्दर्भ में—जब कि आये दिन हिन्दुओं के धर्म परिवर्तन की घटनाएं सुनने में आती हैं—भी उतना ही प्रासगिक है, जितना उस समय था।]

"आजकल वह प्राचीन महान् आर्य जाति मृतक सी समझी जाती है। यह भावना इस कारण नहीं है कि इसकी संख्या घट रही है, अपितु यह सम्पूर्ण रूप से असंगठित है। व्यक्तिशः इस जाति का प्रत्येक बौद्धिक और शारीरिक दृष्टि से अद्वितीय है, मानव जाति की कोई भी अन्य शाखा इस जाति का नैतिकता में मुकाबला नहीं कर सकती, तो भी यह जाति अपने विभिन्न उपवर्गों के कारण और अपनी एकांगी प्रवृत्ति के कारण नितान्त दुर्वल सिद्ध हो रही है।

हमारी जाति के चुने हुए लाखों व्यक्तियों को बाधित होकर इस्लाम स्वीकार कर लेना पड़ा है, और हजारों ईसाइयत को स्वीकार करने को बाधित हुए हैं, परन्तु थोड़ा-सा भी यह प्रयत्न नहीं किया गया कि 'इस निकासी को रोका जाये अथवा हिन्दुओं से पृथक् हुए भाइयों को पुनः अपने में सम्मिलित कर लिया जाये। नौ-मुस्लिम ब्राह्मण, वैश्य, राजपूत, जाट बहुत बड़ी संख्या में गत दो शताब्दियों से, बल्कि इससे भी अधिक समय से, अपने हिन्दू भाइयों की ओर इस विश्वास और उत्कण्ठा से देखते रहे हैं और अपनी प्राचीन हिन्दू भावनाओं और विश्वासों को इस आशा से जीवित रखते हैं कि किसी दिन उन्हें पुनः उनकी प्राचीन बिरादरी में वापिस ले लिया जायेगा। केवल-मात्र एक घटना ने हिन्दुओं की आँखं खोल दीं। राजपूत महासभा ने पूर्ण बाजे-गाजे के साथ यह घोषणा कर दी कि ४५ लाख मुसलमान राजपूत हिन्दू होने को तैयार हैं। यह भ्रमात्मक और नाटकीय घोषणा करने के बाद राजपूत महासभा पता नहीं कहाँ सो गई। इस घोषणा को भ्रमात्मक इसलिये कहता हूँ, क्योंकि मलकाना राजपूतों के प्रबल बहुमत ने व्यवहार और विश्वास में कभी इस्लाम को स्वीकार नहीं किया। हाँ, हिन्दू तो सो गये, परन्तु मुसलमान एक जीवित जाति होने के कारण एकदम क्रियाशील हो उठे हैं और उनके प्रचारकों के झुण्ड के झुण्ड इस कार्य में जुट गये हैं और उनकी आजीविका तथा प्रचार के लिए रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा है।

अन्ततोगत्वा, इसने हिन्दू जनता को जागृत कर दिया है और अब सभी स्थानों से यही ध्वनि सुनाई देती है कि हमारे उन पीड़ित भाइयों को वैदिक धर्म की शरण में लिया जाये तथा उन्हें हिन्दुओं में सम्मिलित कर लिया जाये। इसलिए "भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा' के नाम से एक संस्था संगठित की गई है और उसका यह उद्देश्य है कि जो लोग हिन्दू धर्म में पुनः लौटना चाहते हैं उन्हें लौटा लिया जाये। इस संस्था की प्रबन्ध समिति में हिन्दुओं की सभी जातियों में से प्रमुख व्यक्ति लिये गये हैं।"

उपर्युक्त अपील २३ फरवरी १९२३ से दैनिक पत्रों में प्रकाशित होनी शुरु हुई और २५ फरवरी को मलकानों का प्रथम जत्था शुद्ध किया गया। ये मलकाने ग्राण्ड ट्रंक रोड पर स्थित 'रंभा' गाँव के थे जो आगरा से १३ मील पर है। यह मेरा भाग्य था कि अकस्मात् मुझे प्रथम बार उन तथाकथित मुस्लिम राजपूतों के सच्चे हिन्दू घरों को देखने का सौभाग्य मिला और उनके रहन-सहन की हिन्दू पद्धति मेरे हृदय पर अंकित हो गई।

बाहर से आये हुए हजारों अभ्यागतों की उपस्थिति में मलकानों को उनके हिन्दू भाइयों ने पुनः हिन्दू जाति में लिया, और इन अभ्यागतों ने शुद्ध किए मलकानों द्वारा तैयार भोजन भी ग्रहण किया। मेरे सामने यह तथ्य पुनः मूर्त रूप में आकर खड़ा हो गया कि ये वही वीर और शुद्ध आत्माएँ हैं जिन्हें शताब्दियों तक जाति-बहिष्कृत रखा गया हैं और आज उन्हीं आत्माओं से प्रायश्चित्त कराया जा रहा है। उसी दिन सायंकाल एक और गांव कुठाली के मलकाने शुद्ध किये गये और हजारों तथाकथित नौ मुस्लिम पुनः हिन्दू धर्म में वापस ले लिये गये।

शुद्धि का यह कार्य आगरा तथा निकटस्थ जिलों तक ही सीमित नहीं था, परन्तु भारत के अन्य प्रान्तों में भी यह कार्य सुचारू रूप से चल रहा था। विभिन्न प्रान्तों में शुद्ध होने वालों की जाति आदि का नाम भेद अवश्य था, परन्तु उनका अपने हिन्दू भाइयों से जो सम्बन्ध था वह ठीक एक ही प्रकार का था। मलकाने, मूले, मूल-ई-इस्लाम, अध्वर्य आदि नौ-मुस्लिमों का चाहे जो नाम भेद रहा हो, परन्तु उनके आचार-व्यवहार और रीति-रिवाज बिल्कुल उनके हिन्दू भाइयों जैसे ही थे। मेरे अनुमान से प्रारम्भिक शुद्धि से लेकर फरवरी १९२३ के अन्तिम सप्ताह तक दो लाख से कम व्यक्ति शुद्ध नहीं किये गये थे, परन्तु अभी तो एक करोड़ से भी अधिक नौ-मुस्लिम हिन्दू जाति के क्षेत्र से बाहर पड़े हैं। इनके अतिरिक्त लगभग ४० लाख नौ-ईसाई ऐसे हैं जो कि नामतः तो ईसा के अनुयायियों में गिने जाते हैं परन्तु जो कि वस्तुतः आचार व्यवहार और धार्मिक संस्कारों की दृष्टि से पूर्णरूप से हिन्दू हैं और केवलमात्र उन दिनों की प्रतीक्षा कर रहे हैं जबकि कट्टर हिन्दू अपने द्वार खोल देंगे और वे हिन्दू क्षेत्र में प्रवेश कर जायेंगे। दक्षिण भारत में ऐसे ब्राह्मण ईसाई देखे जा सकते हैं जो कि यज्ञोपवीत धारण करते हैं, माथे पर टीका लगाते हैं, आयरों और आयंगरों की भाँति बड़ी-बड़ी चोटियाँ रखते हैं, और मांसाहारी ईसाइयों

के साथ कभी भोजन नहीं करते। उनके ईसाई होने का केवलमात्र चिन्ह यह है कि वे प्रत्येक रविवार को रोमन कैथोलिक गिरजों में जाते हैं। ये सभी प्रकार के लोग अभी अपनी पुरानी बिरादरियों में लिये जाते हैं।

हिन्दू महासभा के आदेश के अनुसार प्रत्येक ईसाई, मुसलमान और यहूदी बिना किसी बाधा के हिन्दुत्व में दीक्षित हो सकता है। हिन्दू जाति की इसप्रकार सामूहिक रूप से नैतिक स्वीकृति देने के बाद शेष कार्य सुधारकों का है, परन्तु कार्य बहुत दुष्कर है। पर्याप्त आर्थिक सहायता और उत्साही कार्यकर्ताओं के बिना कार्य मन्दगति से हो रहा है। इसलिये, इसका प्रथम उपचार यह है कि भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा को एक जीवित संस्था बनाया जाये और कार्य को सभी दिशाओं से प्रेरणा एवं द्रुतगति देने के लिए एक लाख रुपया इकट्ठा किया जाये तथा विशुद्ध विचारों के एवं निःस्वार्थ व्यक्तियों को इस संस्था में लाया जाये, जो कि हिन्दुओं को यह प्रेरणा दें कि वे अपने पीड़ित भाइयों को अपने हृदयों में स्थान देकर पुनः अपने में मिला लें।

दूसरा उपचार यह है कि प्राचीन आश्रम धर्म को सुदृढ़ आधार पर पुनर्जीवित किया जाये। हिन्दू सभा ने पुरुषों की विवाह योग्य न्यूनतम आयु १८ वर्ष निर्धारित की है और लड़कियो की १२ वर्ष। यह आंशिक सुधार अपर्याप्त है। विवाह योग्य आयु पुरुषों के लिये न्यूनतम २५ वर्ष और कन्याओं के लिये १६ वर्ष ही होनी चाहिये और हिन्दू समाज को इस वैज्ञानिक नियम के पालन के लिये कठोरता से व्यवहार करना चाहिये। उच्च तीन वर्गों के विधुरों का विवाह कदापि किसी कुमारी से नहीं होना चाहिये, कोई विधुर प्रथम पत्नी की मृत्यु के बाद ब्रह्मचर्य का जीवन नहीं व्यतीत कर सकता तो उसे किसी विधवा से विवाह कर लेना चाहिये।

हिन्दू संगठन की ओर प्रथम पग

स्वभावतः अब यह प्रश्न उठता है कि हिन्दू संगठन की ओर प्रवृत्त होने के लिये प्रथम पग क्या उठाया जाये? मैंने अपने सम्पूर्ण भारत के भ्रमण में यह अनुभव किया है कि आज के शिक्षित एक दूसरे से मिलने के लिए नितान्त उदासीन रहते हैं। उसका प्रमुख कारण यह है कि उनके पास मिलने के लिये तथा सभा आदि के आयोजन के लिये कोई सार्वजनिक स्थान नहीं है। उनके जातिगत मन्दिरों में इतना भी स्थान नहीं है कि वहाँ सौ या दो सौ व्यक्ति इकट्ठे बैठ जायें। दिल्ली में जामा मस्जिद और फतहपुरी मस्जिद को छोड़कर, जहाँ कि २५ से ३० हजार मुस्लिम श्रोता एक-साथ बैठ सकते हैं, और भी पुरानी मस्जिदें विद्यमान हैं जहाँ कि हजारों की संख्या में लोग एक साथ बैठ सकते हैं। परन्तु हिन्दुओं के लिए एक केवलमात्र एक ही लक्ष्मीनारायण की धर्मशाला है जहाँ पर कि कठिनाई से ८ सौ व्यक्ति बैठकर बन्द स्थान में अपनी सभा कर सकते हैं। इस पर भी विशेषता यह है कि मुसलमानों की प्रत्येक सभा नितान्त शब्द शून्य होती है जबकि धर्मशाला में यात्रियों के शोर के कारण वक्ताओं की आवाज कठिनाई से सुनाई देती है।

इस कारण मेरा सर्वप्रथम सुझाव यह है कि प्रत्येक नगर और शहर में एक हिन्दू-राष्ट्र मन्दिर की स्थापना अवश्य की जानी चाहिए जिसमें एक-साथ २५ हजार व्यक्ति समा सकें। इन स्थानों पर प्रतिदिन भगवद्गीता, उपनिषद्, रामायण व महाभारत की कथा होनी चाहिये। इन राष्ट्र-मन्दिरों का प्रबन्ध स्थानीय सभा के हाथ में रहना चाहिये और वह इन स्थानों के अन्दर अखाड़े, कुश्ती, गतका आदि खेलो का भी प्रबन्ध करें। जवकि हिन्दुओं के विभिन्न साम्प्रदायिक मन्दिरों में उनके इष्ट देवताओं की पूजा होगी, इन उदासीन हिन्दू मन्दिरों में तीन मातृशक्तियों की पूजा का प्रबन्ध होना चाहिये और वे हैं—

(१) गोमाता, (२) सरस्वती माता और, (३) भूमि माता।

वहाँ कुछ जीवित गौएँ रखी जानी चाहिये जो कि हमारी संस्कृति की द्योतक हैं। उस मन्दिर के प्रमुख द्वार पर गायत्री मन्त्र लिखा जाना चाहिये जो कि प्रत्येक हिन्दू को उसके कर्तव्य का स्मरण करायेगा तथा अज्ञान को दूर करने का संदेश देगा। मन्दिर के बहुत ही प्रमुख स्थान पर भारतमाता का एक सम्पूर्ण नक्शा बनाना चाहिये। इस नक्शे में उसकी विशेषताओं को विभिन्न रंगों द्वारा प्रदर्शित किया जाये और प्रत्येक भारतीय प्रतिदिन मातृभूमि के सम्मुख खड़ा होकर उसे नमस्कार करें और इस प्रतिज्ञा को दोहराये कि वह अपनी मातृभूमि को प्राचीन गौरव के उस स्थान पर पहुँचाने के लिए प्राणों तक की बाजी लगा देगा जिस स्थान से उसका पतन हुआ था।

मैंने स्नेह और नम्रता पूर्वक जो दिशा बताई है यदि उसका श्रद्धा और विश्वास के साथ अनुगमन किया जाये तो मैं समझता हूँ कि सभी सुधार धीमे-धीमे हो जायेंगे और मानव समाज के कल्याण के लिए एक बार फिर प्राचीन आर्यों की सन्तान सामने आकर खड़ी हो जायेगी। ●

भाव-प्रसून

[गुरुकुल वृदान्वन में संवत् १९७० में दिये गये भाषण का अंश]

✓ मैंने शीघ्र ही आपकी मुख्य और पुरानी गुरुकुल कांगड़ी को देखा और उसी समय आपके नेताओं और मित्रों में से बहुतों से परिचय-लाभ किया। इसी समय महात्मा मुंशीराम जी से मेरा परिचय हुआ। मुझे विश्वास है कि उनका विनय मेरे लिये प्रबल हेतु है कि उक्त नामी सज्जन के विषय में जो सम्मति मैंने स्थिर की है, उसे मैं प्रकट करूँ। पर उनके भावों का सत्कार करते हुये निःसंकोच इतना अवश्य कहूँगा कि एक मिनिट भी उनके साथ रहते हुये उनके भावों की सत्यता और उनके उद्देश्यों की उच्चता को अनुभव न करना असम्भव है। दुर्भाग्यवश हम सब मुंशीराम नहीं हो सकते हैं।

—सर जेम्स मेस्टन (संयुक्त प्रान्त के छोटे लाट

× × ×

श्रद्धानन्द वीर संन्यासी वीर स्वामी था। वीर और संन्यासी शब्द सुन कर आश्चर्य होता है, परन्तु वैदिक आदर्श यही है। कलियुग में हमारे सौभाग्य हैं कि स्वामी श्रद्धानन्द ने इस आदर्श को पूरा किया। लोगों को वीर और संन्यासी शब्द बाधक प्रतीत होते हैं, परन्तु दोनों सहायक हैं। तीन दिन से स्वामी जी के मृत शरीर पर रो-रो कर फूल चढ़ा रहे हैं, परन्तु स्वामी जी के शरीर में से जो आवाज आ रही है उसे सुनिये। वह आवाज है कि इस अनार्यपन को दूर करो। रोना अनार्यपन है। रोना बन्द करो। अब तो उद्यम होना चाहिये। स्वामी श्रद्धानन्द के कतरे से, उनकी हड्डियों से दरख्त उगेगा। जिसकी जड़ें पाताल में जायेंगी। मित्रो ! रोना-धोना समाप्त करो। प्राइवेट रिश्तों में हम तमाम उमर रोयेंगे। यह समय रोने का नहीं है। यह समय यह दिखाने का है कि जिसने यह समझा था कि स्वामी जी का खून कर शुद्धि बन्द होगी, वह वृक्ष स्वामी जी के खून से सींचा जाकर, भारत में बढ़ और फैल कर संसार भर में फैलेगा। किसी शख्स ने लिखा था कि स्वामी जी की अरथी यमुना में बहेगी। परन्तु याद रखना चाहिये कि यमुना इतनी निर्दयी नहीं है। यमुना शुद्धि की अरथी को बहाती नहीं। मित्रो ! बाज हल्कों में यह कहा जाता है कि स्वामी जी की मृत्यु कम्यूनलिज्म का नतीजा है। जो आदमी ऐसा कहता है वह स्वामी जी की हतक इज्जत करता है।

स्वामी जी पोलिटिकल कम्युनलिज्म के सदा से बखिलाफ रहे हैं। कोई भी हिन्दू नेता पोलिटिकल कम्युनिज्म को नहीं चाहता। स्वामी जी यही चाहते थे कि हम भी ईसाई और मुसलमानों की तरह अपने धर्म का प्रचार करें। मैं हिन्दू मुसलिम एकता का हामी हूँ, परन्तु धर्म-प्रचार को बन्द कर एकता नहीं कराना चाहता। हम जानते हैं कि स्वामी श्रद्धानन्द देर से मौत के निशाने बने हुये थे और भी कई लोग

आज उनकी गोलियों के निशाने बने हुये हैं। परमात्मा! हमें बल दे कि हम छाती पर गोलियाँ सह कर धर्म प्रचार करें।

हिन्दू बालकों! खड़े हो जाओ। हमारा धर्म 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' है। निर्भयतापूर्वक काम करना चाहिये। धर्म हमको जाति और देश की सेवा करना सिखाता है। हमारी जाति में केवल जागीरदार नहीं, गरीब से गरीब अबला माता हमारी जाति में शामिल हैं। अबला स्त्री हमारी सिरताज हैं। शहीदों के खून से नये शहीद पैदा होते हैं। आर्य माताओं को चाहिये कि वह दूध के साथ बच्चों को (बलिदान) का पाठ पढ़ायें। स्वामी श्रद्धानन्द ने जिस वृक्ष को लगाया है, उसको पानी देना तुम्हारा काम है। परमात्मा से प्रार्थना है कि वह हमें बल और सामर्थ्य दे।

—लाला लाजपतराय

× × ×

मैं और मुंशीराम जी सहपाठी थे। हमारे सम्बन्ध बहुत ही ममतापूर्ण थे। वे जब बोलते या लिखते थे तब शब्द बहुत तौल-तौल कर इस्तेमाल करते थे। वे किसी से डरते नहीं थे। उन्होंने देश सेवा की थी और वे गम्भीर जोखिमें उठाते थे। वे विधवा-विवाह के पक्ष में थे। उनकी मृत्यु और हत्या से मुझे सख्त आघात लगा है। ऐसे मामलों में बदला लेने का कोई अर्थ नहीं है। अलबत्ता खूनी को उचित दण्ड मिलेगा, परन्तु हम इतने से सन्तोष न करें। उनकी मृत्यु से झगड़ालू मानस वाले पाठ लें, अपनी-अपनी दुश्मनी भूल जायें और एक हो जायें।

—पं० मोतीलाल नेहरू

× × ×

उनका (स्वामी जी का) मुख्य कार्य उनके धर्म-संगठन के सम्बन्ध में था और उस बारे में शंका नहीं की जा सकती। फिर भी इतना तो सही है ही कि वे जिसे अपना धर्म मानते थे, उसके लिये काम करने में उन्होंने उल्लेखनीय लगन दिखायी थी। उनकी हिम्मत के बारे में शंका ही नहीं थी। साहस और शौर्य के वे मिश्रण थे। गोरखों की संगीनों के सामने अपनी छातीखोल देने वाले उस बहादुर देश-प्रेमी का चित्र अपनी नजर के सामने रखना मुझे बहुत अच्छा लगता है। ऐसी उम्दा मौत के मिलन से उन्हें तो कुछ नहीं लगता, मगर हमारे लिये यह महान् दुःखदायक घटना है।

—मौलाना मुहम्मदअली

× × ×

हमारे परम देशभक्त और हिन्दू जाति के परम सेवक श्रद्धानन्द जी का देहान्त एक पतित पुरुष के हाथ से हुआ है। स्वामी जी इस देश के एक चमकते तारे थे। इनका देश-प्रेम ४० वर्ष से सरकार को विदित है। पहले तो वे वकालत करते थे। २० वर्ष पहले इन्होंने गुरुकुल स्थापित किया और उस संस्था को अपना सर्वस्व अर्पण

कर दिया। इनकी देश-भक्ति कैसी थी, इसका स्मरण कराने की जरूरत नहीं। आपको पता ही होगा कि दिल्ली में छाती खोलकर वे बन्दूकों के सामने खड़े रहे थे। हिन्दू महासभा के काम में वे बड़ा भाग लेने वाले थे। शुद्धि के तो वे आचार्य ही थे। हजारों मलकानों को उन्होंने हिन्दू बनाया था। स्वामी जी को शुद्धि और संगठन की चिन्ता थी। ७१ वर्ष की उम्र के ऐसे स्वामी को कोई मार डाले, यह लज्जा और शोक की बात है।

स्वामी जी के लिये तो यह बड़ी बात थी, क्योंकि उनकी ऐसी मृत्यु हिन्दू-धर्म के मृत शरीर में नया प्राण-मन्त्र फूँकने जैसा है। ······ इस प्रकार दिल्ली में हमारे एक प्रधान नेता ने धर्म की खातिर अपने प्राण दिये हैं। स्वामी श्रद्धानन्द भी ऐसे ही दूसरे शहीद हुए हैं। ये किसी धर्म के साथ वैर नहीं रखते थे। हिन्दुओं की सेवा करते थे।

इससे हमें क्या सीखना है? जैसे तेगबहादुर की मृत्यु से हिन्दू-जाति में जागृति आयी थी और औरंगजेब का जोर टूटा था, वैसे ही हमें यह चीज सीखनी है कि हिन्दू-जाति का प्रत्येक मनुष्य शुद्धि और संगठन के काम में लग जाये।

स्वामी जी का दूसरा उपदेश यह है कि ऐसे काम में किसी भी प्रकार का डर न रखा जाये। उन्होंने शुद्धि के काम में डर नहीं रखा। इतना ही नहीं, परन्तु जरा भी अन्याय नहीं किया। वे कहते थे कि मुसलमान को हिन्दू बनाने का प्रत्येक हिन्दू को अधिकार है। मैं तो कहता हूँ कि यह तबलीग (धर्म परिवर्तन या भ्रष्ट करने का आन्दोलन) सर्वथा बन्द हो जाये। ईसाई भी यह काम बन्द कर दें। मगर जब हजारों मुसलमान और ईसाई हिन्दुओं को धर्म-भ्रष्ट करने को बैठे हैं, तब कोई हमें यह नहीं कह सकता कि हिन्दुओं को शुद्धि नहीं करनी चाहिये। अलबत्ता ऐसा करने में हम किसी के प्रति अन्याय न करे, यह बात स्वामी जी हमेशा करते थे और यह भी कहते थे कि यह आन्दोलन राष्ट्रीय एकता का विरोधी नहीं होना चाहिये। घोर पाप होता हो तो भी हिन्दू अपने धर्म में दृढ़ रहे और बदला लेने का पाप न करें। भविष्य में किसी दिन हिन्दू-संतान की निन्दा हो, ऐसा नहीं होना चाहिये।

स्वामी जी के शोकयुक्त अवसान का स्मारक किस ढंग से बनाये? एक दिन नियत किया जाये, जब सभी मिलें और उनके नाम से एक कोष बनाया जाये। उनके जाने से उनके साथ का हमारा सम्बन्ध टूट नहीं गया। वे अभी जिन्दा हैं।

—पं० मदनमोहन मालवीय

× × ×

स्वामी जी वीरों में अग्रणी थे। स्वामी जी ने अपनी वीरता से भारत को आश्चर्यचकित किया था। उन्होंने अपनी देह को भारतवर्ष के लिये कुर्बान करने की प्रतिज्ञा ली थी, इसका मैं साक्षी हूँ।········· स्वामी जी अनाथ-

बन्धु थे, अनाथों के सहायक थे। स्वामी जी ने अछूतों के लिये जो कुछ किया, उससे अधिक किसी और पुरुष ने भारत में नहीं किया। उनका अस्पृश्यों के प्रति प्रेम इतना अधिक था कि एक बार उन्होंने मुझ से कहा था कि "कांग्रेस अछूतों के लिये कितना ही काम करे, तरन्तु जब तक महासमिति का प्रत्येक सदस्य कम-से-कम एक अस्पृश्य नौकर अपने घर में रखने की प्रतिज्ञा न ले, तब तक कांग्रेस की सेवा कोई बड़ी नहीं कही जायेगी।" भले ही कोई व्मवहारज्ञ मनुष्य आज स्वामी जी के इस सुझाव को अव्यावहारिक कहे, परन्तु यह सुझाव उनका अस्पृश्यों के प्रति असाधारण प्रेम बताता है। किन्तु स्वामी जी जैसे वीर देशभक्त, ईश्वर के अनन्य भक्त और सेवक की हत्या देश के लिये जैसे फायदेमन्द है, वैसे ही उसका दुःख होना भी स्वाभाविक है।

······आज श्रद्धानन्द जी की मौत के लिये आंसू बहाने का समय नहीं है। आज तो क्षत्रियता बताने का अवसर है। क्षत्रियता क्षत्रिय का विशेष गुण है भले ही हो, परन्तु ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र सब क्षत्रियता बता सकते हैं। खास तौर पर आज का स्वराज्य-युग हम सबके लिये क्षत्रियता का युग है। इसलिये रोने की बात छोड़ दें और श्रद्धानन्द जी के बलिदान से, रशीद द्वारा की गयी हत्या से जो पाठ मिलता है, उसे हृदय में धारण करें।

—महात्मा गाँधी

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द का जीवन बहुत महान् था। धर्म, देश और हिन्दू जाति के लिये उन्होंने जो कुछ किया, आगामी संतति उसके सामने श्रद्धा के साथ सिर झुकावेगी। तप-युक्त उनकी वीरता और उनके साहस के सामने उस समय देश भर स्तम्भित रह गया जब उन्होंने दिल्ली के निवासियों की अरक्षित देहों पर लक्ष्य करने वाली सरकारी तोप के सामने अपनी छाती अड़ा दी थी। वे हर तरह से महान् थे और ऐसे महान् थे कि हमें भासित होता है कि देश की इस सबसे बड़ी समस्या को हल करने के लिये अर्थात् धर्मान्धता और मोह की भावनाओं की अन्त्येष्टि-क्रिया करने के लिये विधि की गतियों ने इस अवसर पर उनसे बढ़ कर दूसरा और कोई बलिदान का पात्र ही नहीं पाया। अत्यन्त विनय के साथ उनके चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि चढ़ाते हुये हम उनकी अमर आत्मा और उतनी ही अमर कीर्ति के नाम पर देश भर से प्रार्थना करते हैं कि इस महान् बलिदान से इस देश में धर्मान्धता का नाश और धर्म और त्याग के सच्चे भाव का उदय हो।

—गणेशशंकर विद्यार्थी

× × ×

✓ हमारे देश में जो सत्य-व्रत को ग्रहण करने के अधिकारी हैं एवं इस व्रत के लिये प्राण देकर जो पालन करने की शक्ति रखते हैं, उनकी संख्या बहुत ही कम होने के कारण हमारे देश की इतनी दुर्गति है। ऐसी अवस्था जहाँ है, वहाँ स्वामी

श्रद्धानन्द जैसे इतने बड़े वीर की इस प्रकार मृत्यु से कितनी हानि हुई होगी, इसका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु इसके मध्य एक बात अवश्य है कि उनकी मृत्यु कितनी ही शोचनीय हुई हो, किन्तु इस मृत्यु ने उनके प्राण एवं चरित्र को उतना ही महान् बना दिया है।

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी की याद आते ही १९१९ का दृश्य मेरी आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। सरकारी सिपाही फायर करने की तैयारी में हैं। स्वामी जी छाती खोल कर सामने जाते हैं और कहते हैं, 'लो, चलाओ गोलियाँ।' उनकी उस वीरता पर कौन मुग्ध नहीं हो जाता ? मैं चाहता हूँ कि उस वीर संन्यासी का स्मरण हमारे अन्दर सदैव वीरता और बलिदान के भावों को भरता रहे।

—सरदार बल्लभ भाई पटेल

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने जीवन का पिछला हिस्सा देश की राजनैतिक सेवा के लिये अर्पित किया, उनका पहला भाग केवल धार्मिक था। उनका इससे भी बड़ा काम हिन्दू जाति की प्राचीन सभ्यता की रक्षा के लिये हमारी सभ्यता, धर्म और जातीयता के अदजहा (अजगर) की तरह हड़प करने वाली शिक्षाप्रणाली के बुरे प्रभाव को दूर करने के लिये गुरुकुल प्रणाली को जारी करना था। मेरी सम्मति में हिन्दू जाति को स्वामी श्रद्धानन्द के प्रति कृतज्ञ होना चाहिये था, यदि केवल मात्र गुरुकुल चलाना ही उनका काम होता। उन्होंने संन्यासी बन कर तथा राजनीति में आकर भी अपनी उसी स्पिरिट को आगे बढ़ाया। देहली या अमृतसर में जो गोली का सामना किया या जेल में निडरता दिखाई वह ऐसी घटनाये हैं जिन्हें सब भली प्रकार जानते हैं, मुझे उन्हें दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

मुझे तो सिर्फ इतना ही कहना है कि राजनैतिक आन्दोलन में सब से आगे कदम रखते हुये स्वामी जी ने अपनी प्राचीन सभ्यता और धर्म के प्रेम को ही प्रधानता दी। जब उन्हें हिन्दू जाति संकटापन्न प्रतीत हुई तो वह पहिले पुरुष थे जो शुद्धि के खतरों से भरी हुई रणभूमि में कूद पड़े।.........उनके पिछले जीवन का हरेक क्षण धर्म के लिये बलिदान का क्षण था। यदि उनकी मृत्यु वैसे ही सामान्य रूप से हो जाती तो साधारण जनता को इस सचाई का अनुभव न हो पाता। मुझे तो हर्ष है कि एक कातिल ने अपने इस कार्य से सारी दुनिया को दर्शा दिया कि स्वामी जी का जीवन ऐसे ही बलिदान का जीवन था जैसी कि उनकी मृत्यु हुई।

—भाई परमानन्द

× × ×

स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी आर्य समाज की महात्मा-पार्टी के नेता थे। वह स्वयं उच्च वर्ण के हिन्दुओं में से थे। परन्तु उन्होंने दलित जातियों को उच्च जाति के अत्याचारों से मुक्त कराने में किंचिन्मात्र भी संकोच नहीं किया। उन्होंने अपना सारा जीवन मनुष्य-मात्र की सेवाओं में अर्पित किया हुआ था। वह सच्चे हिन्दू थे। उन्होंने अस्पृश्यता और सामाजिक विषमता जैसी उन अहिन्दू दुर्भावनाओं तथा रीतिरिवाजों को, जो कि मध्यकाल के ब्राह्मणों के अज्ञान के कारण पैदा हो गये थे, अपने हृदय से निकाल दिया था।

कुछ समय के लिये उन्होंने कांग्रेसमेन के रूप में भी काम किया। परन्तु अन्त में उन्होंने अपना सारा जीवन हिन्दू-जाति के सामाजिक और धार्मिक सुधार करने में लगा दिया। वह वैदिक संस्कृति के प्रकाश-स्तम्भ थे। उन्होंने अपने जीवन का चरम भाग दलित-जाति के उद्धार के काम में अर्पित किया था। उनका वैदिक धर्म में अटूट और अदम्य विश्वास था। वह वैदिक धर्म के निर्भीक प्रचारक थे।

पौराणिक मूर्तिवाद के प्रचारकों ने हिन्दू-समाज में छुआ-छूत की प्रथा को प्रचलित कर दिया था। यह छुआछूत का धर्म घृणा का धर्म है। ऐसा धर्म वैदिक धर्म की पवित्र भावनाओं के प्रतिकूल है। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने छुआछूत के धर्म की जी-जान से निन्दा की। वेद सार्वभौम मानव-धर्म के स्रोत हैं। उन्होंने वैदिक धर्म की विश्वव्यापी शोभा तथा आभा को संसार में स्थापित करने के लिये भगीरथ प्रयत्न किया और अन्तिम क्षण तक इस उद्देश्यपूर्ति में लगे रहे। इसी महान् उद्देश्य के लिये अन्दोलन करते हुये प्रत्येक हिन्दू को उनके इस पवित्र बलिदान-यज्ञ में अपना-अपना भाग समर्पित करना चाहिये जिससे स्वामी श्रद्धानन्द जी की स्मृति सदा चिरजीवी रहे।

—लाला हरदयाल

× × ×

श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान वर्तमान समय में सब से बड़ा बलिदान है। यह बलिदान हिन्दू जागृति का सब से बड़ा साधन बनेगा। स्वामी जी का जीवन हिन्दू मात्र के लिये अमूल्य था। आर्यसमाज और वैदिक धर्म की जो सेवा उन्होंने की है उसका निर्देश करना मानो सूरज को दीपक दिखाना है। स्वामी जी का हृदय इतना विशाल था कि उसमें मुसलमान, इसाई जैन मतमतान्तर वालों के लिये स्थान था। स्वामी जी सब से प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दू होते हुये भी जुमा मसजिद में मुसलमानों को धर्म का उपदेश दिया था। उनकी सर्वप्रियता का इससे बढ़ कर और क्या सबूत हो सकता है। परन्तु वैदिक धर्म का प्रेम जो उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था, उसको मुसलमानी असहिष्णुता सहन न कर सकी। वैदिक धर्म के प्रेमी इस बलिदान से एक नये जीवन और उत्साह को प्राप्त करेंगे। वैदिक धर्म मुसलमानी मत का सबसे बड़ा उद्धारक है। इसी धर्म के निरन्तर प्रचार से मुसलमानों का अन्ध विश्वास तथा उनकी संकीर्णता दूर हो सकती है। अतः इसके

प्रचार के लिये हम सब को कटिबद्ध हो जाना चाहिये । यही स्वामी जी महाराज के जीवन का सबसे बड़ा आदर है ।

—प्रोफेसर सुधाकर एम० ए०

× × ×

स्वामी जी निर्भय थे, धुन के पक्के थे और अपने विचारों को बहुत स्पष्टतया प्रगट करने वाले थे । स्पष्टवादिता के कारण वह कितनी ही बार अपने साथी मित्रों और अनुयायी भक्तों को भी रुष्ट कर दिया करते थे ।

स्वामी जी का कार्य-क्षेत्र सीमाबद्ध न था । वह एक ही साथ अनेक भिन्न रूप क्षेत्रों में कार्य आरम्भ कर देते थे और तन्मयता से सभी को पूरा करते थे । शिक्षा, सम्पादन, सामाजिक सुधार, आर्य संस्कृति की रक्षा, नारी-हितों का संरक्षण, आध्यात्मिक उन्नति, धार्मिक विचारों में स्वातन्त्रय, देशहित, नवयुवकों की अभिभावुकता, संगठनशक्ति और दलितों का उद्धार इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों में स्वामी जी ने बहुत कार्य किया है और प्रायः सभी जगह वह सफल भी हुये । प्रायः लोंगो का जीवन काल ही किसी कार्य का सहायक हुआ करता है, पर स्वामी जी का मरणकाल तो जीवन से भी अधिक जाति के अभ्युदय का साधन बन गया ।

—नेकीराम शर्मा

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी का जीवन प्रारम्भ से लेकर अन्त तक आर्य धर्मियो की उन्नति में ही व्यतीत हुआ । जिसमें भी गुरुकुलों की स्थापना, शुद्धि संगठन के कार्य से तो हिन्दुओं में नवजीवन सा आ गया । जाति के जीवन के लिये जन-संख्या तथा योग्यता दोनों की ही वृद्धि होनी आवश्यक है । स्वामी जी ने दोनों और ही कार्य प्रारम्भ कर रक्खा था । यदि हम उनकी यादगार रखने के योग्य अपने को दिखाना चाहते हैं तो उनके प्रारम्भ किये हुये कार्य को तेजी के साथ आगे बढ़ाते जाने से ही उनकी यादगार है ।

—जुगुलकिशोर बिरला

+ ×

श्री स्वामी श्रद्धानन्द का नाम हिन्दू जाति की नसों में नये रक्त का संचार करने वाला है । अपने जीवन के मध्यकाल में वे आर्यसमाज के उच्च कोटि के नेता थे और मैं उस समय सनातन धर्म का जोरों से प्रचार कर रहा था । उस समय हमें यह भान न होता था कि हम दोनों कन्धे से कन्धा मिला कर एक "मिशन" के लिये एक मन होकर काम करेंगे । किन्तु हिन्दुओं की करुणाजनक दशा को देखकर स्वामी जी का आर्द्र हृदय पिघल उठा और वे बड़ा उदार भाव लेकर अपने जीवन के सन्ध्या-काल में हिन्दू-महासभा के नेता बने । उस समय हमें कई वर्ष तक साथ काम करने का अवसर मिला और मुझे याद है कि जाति हित की दृष्टि से कई बार उन्होंने मेरे अनुरोध का पालन कर अपने भावों की उदारता दिखाई । उनके हृदय में अनाथ हिन्दू जाति का दर्द भरा था और इसी कारण हिन्दु

सभा के क्षेत्रों में मेरा उनके साथ अच्छा सहयोग रहा। उन्होंने आर्यसमाज के लिये नहीं, किन्तु हिन्दू जाति, आर्यभूमि और आर्य-संस्कृति-रक्षा के व्रत में अपने प्राणों की आहुति दी है। वह पक्के कर्म-योगी थे। गुरुकुल कांगड़ी उनकी कर्मनिष्ठा का प्रबल उदाहरण है।

—दीनदयाल शर्मा

× × ×

यों तो स्वामी जी प्राचीन आर्य आदर्शों के पूर्ण रूप से प्रवर्तक थे, पर मेरे विचार में राष्ट्रीय शिक्षा के पुनरुत्थान में उन्होंने जो काम किया है उसकी कोई नजीर नहीं मिलती। ऐसे युग में जब अन्य बाजारी चीजों की तरह विद्या बिकती है, यह स्वामी श्रद्धानन्द जी का ही दिमाग था जिसने प्राचीन गुरुकुल प्रथा में भारत के उद्धार का तत्त्व समझा।……समय उनके अनुकूल न था, विरोधियों का पूछना ही क्या, चारों तरफ बाधायें ही बाधायें। पर वे जितने आदर्शवादी थे, उतने ही हिम्मत के धनी थे। किसी बात की परवाह न करते हुये गुरुकुलों की स्थापना कर दी।

—उपन्यासकार प्रेमचन्द बी० ए०

कल्याण मार्ग के पथिक स्वामी श्रद्धानन्द जी की सेवा अपनी दृष्टि से अपूर्व है। राष्ट्रीय शिक्षण, धर्म, जागृति, समाज सेवा आदि अनेक क्षेत्रों में उन्होंने भारतवर्ष को एक नया ही रास्ता दिखाया है। श्रद्धा के बल से ही वे यह सब कर सके। जिस दिन उन्होंने अपने प्रिय पुत्रों को लेकर गुरुकुल की स्थापना के संकल्प से गङ्गा के तट पर निवास किया, वह दिन भारतवर्ष के वर्तमान इतिहास में महत्त्व का था। उस दिन उन्होंने हिन्दू जाति के उद्धार की नींव डाली, ऐसा कहा जा सकता है। जिस दिन उन्होंने अन्त्यज बालकों को अपनाया, उसी दिन हिन्दू जाति को उन्होंने संगठित किया और जिस समय उन्होंने पत्थर, गोली और खन्जर की तरफ तुच्छता की नजर से देखा, उसी दिन भारतवर्ष को उन्होंने निर्भय किया। अपनी अतुल श्रद्धा से उन्होंने अपना दीक्षा-नाम कृतार्थ किया। सचमुच श्रद्धानन्द राष्टमूर्ति थे। ऐसा समय जरूर आयेगा कि जब उनके द्वेषी और विरोधी भी स्वीकार करेंगे कि यह भारतवर्ष का आधुनिक संन्यासी मित्र की नजर से ही सभी की तरफ देखता था।

—काका कालेलकर

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन का मूल आधार श्रद्धा थी। जिस काम को भी उन्होंने अपने हाथ में लिया, श्रद्धा से उसे पूरा कर दिखाया। श्रद्धा तब तक पैदा नहीं हो सकती, जब तक त्याग न हो और त्याग के बिना श्रद्धा का कोई अर्थ नहीं। इसलिये स्वामी जी ने संन्यास लेते हुये अपना नाम श्रद्धानन्द रखा। उनका सारा जीवन त्याग का जीवन था। न केवल इस दृष्टि से कि उन्होंने अपना सर्वस्व धर्म पर

न्योछावर कर दिया था, बल्कि इसलिये भी कि उनका जीवन बहुत सादा था। उनकी आवश्यकतायें साधारण थीं। वे श्रद्धा और त्याग की मूर्ति थे। जिस काम में वे पड़े, पूरी लगन से पड़े। संदेह नहीं कि उनकी गतिविधियों का क्षेत्र बदलता रहा, किन्तु आर्यसमाज से उनका प्रेम कम नहीं हुआ। दूसरे क्षेत्रों में काम करने के बाद वे आर्यसमाज में लौट आये। उन्होंने कहा भी कि जो आनन्द आर्यसमाज की सेवा में है, किसी दूसरे काम में नहीं। उन्होंने यौवन काल में आर्यसमाज का पल्ला पकड़ा और आयु-भर उसके ही बने रहे। क्या मजाल जो उनकी श्रद्धा में तनिक भी अन्तर आया हो। उन्होंने अपना सर्वस्व आर्यसमाज पर न्यौछावर कर दिया।

—महाशय कृष्ण

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने जिसे सत्य माना उस पर वे अन्त तक टिके रहे। इतिहास के यदि नहीं तो कम-से कम वर्तमान जगत के सब से बड़े सत्याग्रही हमात्मा जी से भी उनका कई बातों में मतभेद था। किन्तु वे उनके मुकाबले में भी अपनी बात पर डटे रहते थे। यही सत्याग्रह की खूबी है। यह जरूरी नहीं कि आप जिस बात को सत्य मानें उसे मैं भी मानूं। पर जरूरी है कि आप अपनी सच्चाई का पालन करें, मैं अपनी सच्चाई पर डटा रहूँ। फिर भी हम एक-दूसरे को समझने का यत्न करें और जब तक दोनों का सत्य मिल न जाये तब तक एक-दूसरे को सहन करें। स्वामी जी और महात्मा जी के प्रेम और सद्भाव के अन्त तक टिके रहने का कारण यह है कि दोनों में सत्य की साधना सर्वोपरि है। सत्य का तेज तब मलिन होने लगता है जब सत्य-साधक मूढ़ बन जाता है।……स्वामी श्रद्धानन्द जी अन्त तक वीर और तेजस्वी बने रहे, यह उनकी सत्योपासना का ही फल है।

—हरिभाऊ उपाध्याय

× × ×

स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी के त्याग, लगन और देश-भक्ति की मुझ पर बड़ी गहरी छाप पड़ी है। उनकी मुझ पर बड़ी कृपा थी। ऐसे अनेक प्रसंग मुझे याद हैं जिन पर अगर लिखने बैठूं तो एक ग्रन्थ बन जाय, पर लेखक कहाँ हूँ। स्वामी जी को मैं एक आदर्श संन्यासी मानता हूँ। उनका जीवन शुरू से अखीर तक कर्ममय था। अगर आजकल के साधु-संन्यासी उनके समान बन जायें, तो हमारे देश को कितना लाभ हो।

—जमनालाल बजाज

× × ×

इस जीवन में बहुत कम ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें मैं उतना प्रेम करता हूँ जितना स्वामी श्रद्धानन्द जी को करता था। हमारी स्वच्छ, निर्मल तथा प्रगाढ़ मैत्री में कदाचित् ही धुन्धलापन आया हो। उनके उच्च चरित्र की ही महत्ता थी जिसने उनके प्रति मेरे प्रेम को सच्चा और गहरा बनाया था। यह जानकर मैं बहुत प्रसन्न

होता था कि स्वामी जी मुझ से प्रेम करते हैं।······स्वामी श्रद्धानन्द एक अत्यन्त स्निग्ध और उदार हृदय रखते थे। जब कभी गरीबों, दुःखियों और दलितों के नाम पर उनके हृदय को अपील की जाती थी तो वह अपील उनके लिए अपरिहार्य हुआ करती थी। इसलिये जब-जब बलिदान जयन्ती आये तब-तब उनके सच्चे प्रेमियों का ध्यान गरीबों की ओर, जिन्हें वह प्यार करते थे, जाना चाहिये और उन गरीबों को भी परमात्मा के बच्चे समझना चाहिये।

—सी० एफ० एंड्रूज़

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज देश की उन महान् विभूतियों में से थे जिनका जीवन निरन्तर त्याग, बलिदान, देश-भक्ति तथा राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली के प्रसार में लगा रहा। संकीर्णता उन्हें छू भी नहीं गई थी। साम्प्रदायिकता से परे स्वामी जी जातीय सद्भाव, हिन्दू-मुस्लिम-सिक्ख एकता एवं राष्ट्रीय गौरव के पक्षधर थे। भारत के छः करोड़ अछूत और दलित वर्ग ने स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में अपने मुक्तिदूत के दर्शन किये।

—महात्मा आनन्द स्वामी

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी से प्रथम परिचय का सौभाग्य मुझे भागलपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के समय प्राप्त हुआ। उस समय तक स्वामी जी ने संन्यास नहीं लिया था और महात्मा मुंशीराम जी के नाम से ही प्रसिद्ध थे। गुरुकुल की स्थापना करके राष्ट्रीय-पद्धति से शिक्षा देना उन्होंने बहुत पहले ही आरम्भ कर दिया था और गुरुकुल का काम शान से चल रहा था। आप के हिन्दी प्रेम और हिन्दी सेवा को देखकर ही सम्मेलन ने सभापति के पद पर आपका निर्वाचन किया था। सम्मेलन को जिस उत्तमता के साथ आपने निभाया, वह हमें आज भी अच्छी तरह याद है। पर स्वामी जी के गुणों को भारतवर्ष ईसवी सन् १९१९ और उसके बाद ही पूरी तरह से जान सका। स्पष्टवादिता और निर्भीकता के वे मूर्तिमान स्वरूप थे। उनकी निर्भीकता, साहस व स्पष्टवादिता के गुणों को अंग्रेजी सरकार अच्छी प्रकार जानती थी। परन्तु इन गुणों को उनके स्वदेशवासी सहयोगी कार्यकर्ता भी तीव्रता से अनुभव करते थे। जो लोग काले कानून के विरोधी आन्दोलन के समय दिल्ली के चाँदनीचौक में मौजूद न भी थे, उनके हृदय-पट पर भी स्वामी जी की वह निर्भीक मूर्ति अमिट रूप से चित्रित है। उस समय स्वामी जी ने अंग्रेजों की गोलियों और संगीनों के सामने अपना सीना खोल कर हृदय की निर्भीकता तथा उच्चता का प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित किया। उनकी उस शुद्ध तथा उच्च भावना ने जामा मस्जिद के मिम्बर पर से उनसे उपदेश करवाया और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का मनोरम दृश्य दिखाया

और उसी दृढ़ता, सत्यनिष्ठा, स्पष्टवादिता और निर्भीकता के कारण आततायी के हाथों से शहादत प्राप्त की। भारत के आधुनिक इतिहास में स्वामी जी का स्थान प्रथम सांस्कृतिक पथप्रदर्शक का है। जिनको स्वामी जी के साक्षात् दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, उनके लिये स्वामी जी के जीवन वृतान्त को पढ़ना ही मनुष्य को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने वाला है। स्वामी जी ने गुरुकुल की स्थापना करके ब्रह्मचारियों के शिक्षण का ही प्रबन्ध नहीं किया, प्रत्युत उनका सारा जीवन ही देश के लिये एक महान् गुरुकुल का काम कर रहा है और करता रहेगा।

—राजेन्द्रप्रसाद

× × ×

विशुद्ध शारीरिक साहस का अथवा किसी भी शुभ कार्य के लिये शारीरिक कष्ट सहन करने एवं उस कार्य के लिये मृत्यु तक की परवाह न करने वाले गुणों का मैं सदा से प्रशंसक रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि हम सभी व्यक्ति ऐसे अद्भुत साहस की प्रशंसा करते ही हैं। स्वामी श्रद्धानन्द में इस प्रकार का निर्भीकता-पूर्ण साहस आश्चर्यजनक मात्रा में विद्यमान था। वृद्धावस्था में भी उनकी उन्नत सीधी आकृति तथा संन्यासी वेश में उच्च भव्यमूर्ति, लम्बा कद, शाहाना शकल, चमकती हुई अन्तर्भेदिनी आँखें और कभी-कभी दूसरों की निर्बलताओं पर मुख पर आ जाने वाली झुंझलाहट की झलक—इस सजीव मूर्ति को मैं कैसे भूल सकता हूँ? प्रायः यह तस्वीर मेरी आँखों के सामने आ जाती है।

—पं० जवाहरलाल नेहरू

× × ×

मेरी स्मृति और मेरे अनुराग के आराध्य देवता स्वामी श्रद्धानन्द वर्तमान संतति सम्मुख एक ऐतिहासिक मूर्ति के रूप में विराजमान हैं। मैं सदैव अनुभव करती हूँ कि स्वामी श्रद्धानन्द भारत के वीरकाल की एक दिव्य विभूति थे। अपनी भव्य मूर्ति और ऊँचे व्यक्तित्व के द्वारा वह अपने साथियों में देवता की नांई रहा करते थे। वह अपने जीवन की शहादत की अन्तिम घड़ियों तक साहस और कर्मयोग की अनुपम मूर्ति रहे और भारतीय जीवन के धार्मिक व आध्यात्मिक क्षेत्र में और राष्ट्र-सुधार के कार्यों में इन गुणों का सुन्दर परिचय देते रहे। मानव-समाज की सेवा के सम्बन्ध में उनके उच्च भावों का मैं बहुत आदर करती हूँ।

—श्रीमती सरोजिनी नायडू

× × ×

प्रातः स्मरणीय स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान को अनेक वर्ष हो गये। गुरुकुल की स्थापना कर और उसमें हिन्दी को मुख्य स्थान देकर उन्होंने शिक्षा-सम्बन्धी दूरदर्शिता और सच्ची राष्ट्रीयता का रास्ता तथा प्राणिमात्र के लिये सच्चा प्रेम दिखाया था। उनकी सात्विक सरलता सिद्धान्तों में दृढ़ता देश मानव समाज

और स्वाभाविक निर्भयता आदि गुणों की छाप आज भी मेरे हृदय पर अंकित है और मेरे जीवन की सुरक्षित सम्पत्ति है।

—पुरुषोत्तमदास टण्डन

× × ×

मुझे तो स्वामी जी के अनेक गुणों में उनका असीम साहस सबसे अधिक आकर्षित करता रहा है। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक साहस व उत्साह से वह जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त कार्य करते रहे। उनका सात्विक हठ बहुत ही प्रिय था। उनका सारा जीवन वीरोचित था और अन्त में भी उन्हें वीरगति ही मिली। ऐसे ही महापुरुष हमारे देश का सिर इस गिरी अवस्था में भी उन्नत किये हुये है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं, श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं, मम तेजोंऽशसंभवम्॥

—श्री प्रकाश

× × ×

इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि हमारे श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्द जी ने हिन्दू-जाति पर तथा हिन्दुस्तान की बलि-वेदी पर अपने जीवन की आहुति दे दी। उनका सम्पूर्ण जीवन विशेषकर उनकी शानदार मौत हिन्दू-जाति के लिये एक स्पष्ट सन्देश देती है।………हिन्दू-राष्ट्र के प्रति हिन्दुओं का क्या कर्तव्य है—इसे मैं स्वामी जी के अपने शब्दों में ही रखना चाहता हूं। सन् १९२६ के २९ अप्रैल के "लिबरेटर" पत्र में वे लिखते हैं—

"स्वराज्य तभी सम्भव हो सकता है जब हिन्दु इतने अधिक संगठित और शक्तिशाली हों जाएँ कि नौकरशाही तथा मुस्लिम धर्मोन्माद का मुकाबला कर सकें।"

उपर्युक्त उद्धरण से हिन्दू जाति की तीव्र माँग का पता चल सकता है और विशेषकर ऐसे नाजुक समय में जबकि इस पर चारों ओर से आघात और आक्रमण हो रहे हों।

विनायक दामोदर सावरकर

× × ×

जब मैं स्वामी जी के जीवन का, उनके उत्तम विचारों का, उनके भाव एवं सेवा का ख्याल करती हूँ तो ऐसा मालूम देता है कि वह आज भी जीवित है। यद्यपि शरीर नहीं, लेकिन भारत में उनकी आत्मा पूर्णतः नजर आती है।

वह हरिजनों की उमड़ती लहरें, वह मन्दिरों का खुलना, वह गली-गली में भगवान की कथाओं का होना, उन कथाओं में हरिजनों का सम्मिलित होना, मन्दिरों में हँस-हँसकर जाना और हाथ बांधकर भगवान् के सामने खड़े होकर यह शिकवा करना कि भगवान् ! क्या पाप हमसे हुये हैं ? क्या हम तुम्हारे जीव नहीं, क्या हम

इतने दरिद्र थे, जो तुम हमसे छिपे बैठे थे। आज इतने अरसे बाद तुमने दर्शन दिये।

वे सारे दृश्य जब आँखों के सामने से गुजरते हैं, तो एक बार स्वामी जी की शिक्षा व उपदेश स्मरण हो आते हैं।

स्वामी जी का एकमात्र सन्देश यही है कि हम हरिजनों को इन्सान समझकर उनका सुधार करें, जाति-भेद को मिटाने की कोशिश करें, आपस में प्रेम व एकता का भाव पैदा करें और अन्त में सारी शक्ति को मिलाकर देश-सेवा में लगा दें। यही उनका उपदेश है यही उनकी आत्मा चारों कोनों से कह रही है।

—श्रीमती उमा नेहरू

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द !
वे लक्ष्य पर पहुँचे !
उन्होंने सब कुछ पाया !
वह अपना काम इतिहास में बहुत गहरा अंकित कर गये !
उन्हें मेरी श्रद्धाञ्जलि !
प्रत्येक जीवन का कोई चिह्न होता है। उनके जीवन का चिह्न था 'सेवा' !
उनकी स्मृति नये जीवन को जगा देवे राष्ट्र के युवकों में नई रूह फूंक देवे !

दीन दलितों की इस सेवा के लिये, जो धर्म और आजादी दोनों का दिल है, हम से अलग होकर भी वे मरे नहीं !

वे तो अब भी बोल रहे हैं !

और उन सबको जिन्हें मैं सुन सकता हूँ, उस शहीद का वह सन्देश सुनाना चाहता हूं जो इस क्षण मुझे याद आ रहा है !

यह वह सन्देश है जिसमें प्राचीन नवीन का अभिनन्दन करता है—"धन्य है वह जीवन जो बलि में प्रज्वलित हो।"

—टी० एल० वासवानी

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी भारत के उन महापुरुषों में हैं, जिनका देश के इतिहास में शाश्वत स्थान है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास की कहानी अधूरी ही रह जायेगी यदि उसमें, शिक्षा, सामाजिक सुधारणा, धार्मिक पुनरुत्थान और वेद धर्म की सेवा के क्षेत्र में की गई स्वामी जी की सेवाओं का उचित अंकन न किया जाये। आर्य ऋषियों की दो विशेषताओं-आदर्शवादिता और त्याग की भावना का स्वामी जी में सुन्दर समन्वय हुआ था। वे स्वाधीन भारत के निर्माताओं में अनन्यतम हैं।

—माधव श्रीहरि अणे

× × ×

स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी की तपस्या, स्वार्थ, त्याग, समाज-सेवा ये सब बहुत ही उज्जवल है जब-जब उनकी स्मृति जागृत होती है तब-तब उनकी धीरोदात्त, भव्य और गम्भीर मुद्रा मानो आंखों के सामने उपस्थित हो जाती है।

—गणेश वासुदेव मावलंकर

× × ×

स्वामी जी की पुण्य स्मृति को निरन्तर देश और समाज के सामने जीवित और जागृत रखना उपयोगी और आवश्यक है। स्वामी जी का स्थान हमारे देश की सर्वश्रेष्ठ विभूतियों में है और सदैव रहेगा। उनका देश प्रेम, भारतीय-संस्कृति और सभ्यता के प्रति अगाध श्रद्धा और विश्वास, अदम्य साहस और वीरता, असाधारण त्याग, निर्बल और दलितों के प्रति आन्तरिक प्रेम व सहानुभूति और पुनीत सदाचार भारतीय पुरुषरत्नों के इतिहास में सदैव अंकित रहेंगे। उनके यशस्वी जीवन के प्रधान गुण-त्याग और सेवा से आज हम भारतवासियों का मस्तक गर्व से ऊँचा है।

—गोविन्द बल्लभ पन्त

× × ×

पूज्य प्रातः स्मरणीय श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी की पवित्र पुण्यस्मृति राष्ट्र की बुझी हुई आत्मा में जीवनज्योति जागृत करे, एकमात्र कामना है। वे मरकर भी अमर है। महान् पुरुषों का भौतिक शरीर पहले ही तिरोहित हो जाये परन्तु उनका आत्मा विश्व के लिये प्रकाशस्तम्भ बन जाता है।

जिये तो जान लड़ाते रहे वतन के लिये,
मरे तो हो गये कुरबान संगठन के लिये।

—हरिशंकर शर्मा

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द एक पवित्र आत्मा वाले महान् पुरुष थे। उनकी मौत राष्ट्रीय हानि है। उनका कत्ल राष्ट्रीय महापाप है और राष्ट्र को इसके प्रायश्चित के लिये बहुत कुछ भुगतना पड़ेगा। यह लोग पछताकर अपना सिर धुनेंगे जिनकी बदनीयती और बद हौंसलों ने वह वातावरण उपस्थित किया कि खूनी उन्माद उबल उठा और यह घृणित घटना घटित हुई। बेवकूफ़ कातिल केवल मात्र उन लोगों के हाथों की कठपुतली था जिन्होंने पर्दे के पीछे बैठकर इस घृणित नाटक को खिलाया। यह शोक जनक बलिदान उस प्राणघातक रोग का लक्षण है जिससे कि सारे भारत का राष्ट्र पीड़ित है।

स्वामी श्रद्धानन्द का व्यक्तित्व सारे भारत की सम्पत्ति था। अपनी योग्यता और विद्वत्ता से उन्होंने भारत के उत्थान में भाग लिया जैसे कि बहुत कम लोगों ने लिया होगा। उनकी निर्भयता और स्वार्थ त्याग ने, उनको ऐसे समय में स्वयमेव

सर्वोपरि नेता बना दिया जबकि दिल्ली और वस्तुतः समस्त उत्तरी भारत राजनैतिक थपेड़ों से उथल-पुथल हो रहा था उन्होंने अपनी व्यवहार कुशलता, सहन-शीलता और शांत प्रकृति के द्वारा दिल्ली में ऐसे समय में भीषण रक्तपात होते-होते रोका जबकि क्रान्ति का दौर-दौरा अपने जीवन पर था। इनके कार्य सदैव चिरस्थायी और क्रियात्मक रहे हैं। लोग प्रायः इनको समझने में भूल करते हैं। परन्तु आजन्म त्याग पूर्ण वृत्ति, सत्य की लगन तथा सीधा सच्चापन सदैव उनके कामों पर मंडराने वाली अविश्वास की घनघोर घटाओं को छिन्न-भिन्न करता रहा। स्वामी जी कभी पालिसीबाज न रहे। वह ऐसे स्पष्ट वक्ता पुरुष थे, जो अपने देश को प्यार करते थे, जिनकी श्रद्धा भक्ति उस प्राचीन सभ्यता और शिक्षा में अटूट थी जिसके कारण भारत संसार के आध्यात्मिक गुरु की पदवी पर विराजमान था और अपने सिर पर गौरव और बड़प्पन का मुकुट धारण किये हुये था। वह आर्य जाति के प्रेमी थे। परन्तु साथ ही मुसलमानों को भी प्रेम दृष्टि से देखते थे। यद्यपि मुसलमान स्वयं इससे अनभिज्ञ थे। उनका उद्देश्य केवल मात्र एक था कि सुख और शान्ति के मार्ग में से रोड़े हटा दिये जावें जिससे एक विशाल और शान्त राष्ट्र खड़ा हो जावे, भगवान् करे यह भारत भूमि अनेक श्रद्धानन्द पैदा करे।

—रायसाहिब हरिविलास शारदा

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी के दर्शन मैंने केवल एक बार किये थे, यानी जब वे शान्ति-निकेतन पधारे थे। उससे पूर्व उन्होंने पंडित तोताराम जी के नाम से लिखी मेरी पुस्तक "फिजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष" की सहानुभूति-पूर्ण समीक्षा 'सद्धर्म प्रचारक' में कर दी थी। दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज स्वामी जी को बड़े भाई की तरह पूज्य मानते थे और गुरुकुल काँगड़ी की प्रथम यात्रा संभवतः उन्होंने १९०७ में की थी। १९१३ में एण्ड्रूज साहब ने दक्षिण अफ्रीका से बहुत से पत्र स्वामी जी की सेवा में भेजे थे, जिन्हें स्वामी जी ने एक फाइल में इकट्ठा कर लिया था। जब स्व० सत्यदेव जी विद्यालंकार ने स्वामी जी की जीवनी लिखी तो वह फाइल उनके हाथ आ गई। भाई सत्यदेव जी ने काम निकाल लेने के बाद वह फाइल यह कहते हुये मुझे सौंप दी, 'चूंकि आप दीनबन्धु के परमभक्त हैं, इसलिये आप इस बहुमूल्य दस्तावेज की विधिवत् रक्षा करें।" मैंने वह फाइल राष्ट्रीय अभिलेखाभार को सौंप दी। इस शर्त पर कि वह उसकी तीन फोटोस्टेट कापी तैयार कराये। राष्ट्रीय अभिलेखागार ने वैसा ही किया और उसमें से एक प्रति आगरा विश्वविद्यालय के चतुर्वेदी व्रज केन्द्र में सुरक्षित है।

उस फाइल के पत्र इतने महत्वपूर्ण हैं कि उनको पढ़ने के बाद लंकास्टर विश्वविद्यालय (इंगलैंण्ड) के प्रोफेसर श्री टिकरे साहब ने दीनबन्धु का एक नया जीवन चरित्र लिखने का निश्चय कर लिया और Ordeal of Love के नाम से छपा भी

दिया। आवश्यकता इस बात की है कि एक विस्तृत भूमिका के साथ उन पत्रों के अनुवाद छपा दिये जावें।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने निर्भीकता के जो उदाहरण अपने जीवन में उपस्थित किये, वे युग-युगान्तर तक भारतीय जनता के लिये प्रेरणा के स्रोत बने रहेंगे।

—पं० बनारीदास चतुर्वेदी

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी के दृष्टिकोण का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह था कि जहाँ वे भारत के अतीत संस्कृति एवं गौरव पर इतना बल देते थे वहीं वे उनके वर्तमान तथा भविष्य की तरफ भी उतने ही जागरूक थे। इसीलिये गुरुकुल शिक्षा प्रणाली में उन्होंने अतीत और वर्तमान, पूर्व और पश्चिम का अद्भुत समन्वय किया और गुरुकुल कांगड़ी को हिन्दी शिक्षा का माध्यम बनाया।

स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दू (आर्य) जाति के महान् उद्धारक थे। उनका जीवन केवल आर्यसमाज के लिये ही नहीं अपितु समस्त देशभक्त भारतीय जनता के लिये महान प्रेरक और प्रेरणास्रोत था।

सत्य के प्रति निष्ठा का आदर स्वामी श्रद्धानन्द इस दुर्बल देश को दे गये। अपनी साधना-परिचय के उपयोगी जिस नाम को उन्होने ग्रहण किया था, वही सार्थक हुआ। सत्य में उन्होंने श्रद्धा की थी। इसी श्रद्धा के मध्य सृष्टि शक्ति है। सत्य के प्रति श्रद्धा के इस श्रद्धानन्द को उनके चरित्र के मध्य आज तक हम सार्थक रूप में देख रहे हैं।

आज देश के अन्दर इस्लामीकरण और इसाईकरण की जो आंधी चल रही है, उससे हमें इस शुद्धि आन्दोलन के जन्मदाता की याद ताजा हो जाती है, जिसने धर्म और जाति की रक्षा के लिये अपना जीवन बलिदान किया।

—लाला रामगोपाल शालवाले

× × ×

प्रातः स्मरणीय पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने शुद्धि की बूटी पिलाकर तथा अपना बलिदान करके कोटि-आर्य जाति को विधर्मी होने से बचाया था, यह इतिहास के पन्नों में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। स्वामी जी एक निर्भीक, कर्मयोगी, कर्मवीर और धर्मवीर महापुरुष थे। उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी जैसी संस्था स्थापित करके महर्षि स्वामी दयानन्द की वैदिक शिक्षाप्रणाली का देश-विदेश में शंखनाद किया। हर्ष का विषय है कि आज उनके हजारों कुलपुत्र (स्नातक) भिन्न-भिन्न प्रकार से भारत जननी की सेवा कर रहे हैं।

मैं भारत-माता की उस महान् विभूति के चरणों में अपने श्रद्धा-सुमन

अर्पित करता हूँ तथा आर्य नर-नारियों से अपील करता हूं कि वे तन-मन-धन से शुद्धि और संगठन के कार्य में जुट जायें। यही स्वामी जी के प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जली होगी।

—वेदपथिक धर्मवीर आर्य झंडाधारी

× × ×

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने भारतीय समाज में जो चेतना उत्पन्न की, महर्षि स्वामी दयानन्द के बाद देश को और समाज को इतना बड़ा आशीर्वाद और कहाँ प्राप्त हुआ। स्वामी जी के चरणों में मेरे विनम्र प्रणाम।

—अक्षयकुमार जैन

× × ×

राष्ट्र और राष्ट्रभाषा के प्रति स्वामी श्रद्धानन्द की सेवायें मुझे सदा अनुप्राणित करती रहीं। दिल्ली में बरतानवी संगीनों के सामने छाती खोलकर वे ही खड़े हो सकते थे। उनकी सेवाओं का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है।

—विष्णु प्रभाकर

काव्य-कुसुमाञ्जलि

कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द के प्रति

—श्री वुद्धदेव विद्यालंकार

[प्रस्तुत गीत कवि ने कुलपिता महात्मा मुंशीराम जी द्वारा संन्यासाश्रम में प्रवेश करके स्वामी श्रद्धानन्द वन जाने पर उन्हीं को संबोधित करके लिखा गया था।]

दिलों के राजा दिलों के स्वामी।
फले व फूले तुम्हारी आशा।।
इक आँख आँसू ढलक रही है
इक आँख जय जय पुकारती है।
इधर धड़कती है धीमी छाती
उधर उभरती छबीली आशा।।१।।
उधर चरण में यह जाती आती
इधर ये खेती है लहलहाती।
ये मिल तुम्हारे ही गीत गाती
फले व फूले तुम्हारी आशा।।२।।
चले हो हँसते पहिन के बाना
ये केसरी अब दिखाने जौहर।
रुला चले हो जिन्हें यहाँ पर
भला लगावें वे किस पै आशा।।३।।
न कल्पना भी जहाँ थी जाती
वहाँ तो आसन जमा चुके थे।
वह कौन सी अब रही है चोटी
जहाँ लगाई है आज आशा।।४।।
रंगा था बाना जो खूँ से उसने
कराल विष का पियाला पी के।
वह आज कन्धों पै ठीक उतरा
बँधी है भारत! तुम्हारी आशा।।५।।
खुशी का दिन क्यों न हम मनावें
मुकुट तुम्हारे जो सिर से उतरा।
उतर के सिर से वह पैरों आया
नयी बढ़ी है हमारी आशा।।६।।

ओ पासबाँ शहीद

—श्री प्रियव्रत विद्यालंकार

तेरी सी कौन कर सके ओ पासवाँ शहीद ।
तू शेरे नरे हिन्द था ओ पासबाँ शहीद ।। ध्रुव ।।
जब तन गई अदा से यूँ संगीन सामने ।
सीना तना तभी तेरा ओ पासबाँ शहीद ।।१।।
मुर्दा दिलों में फूँक के यूँ रुह शान से ।
शैदा वतन तू बन गया ओ पासवां शहीद ।।२।।
गूँजी आवाज़ गुंबज़ों पै मस्जिदों पै जब ।
तू बन गया रसूल यूँ ओ पासबाँ शहीद ।।३।।
जब काँप गई गोलियों से अमर वाटिका ।
रह बर तू बन के आ गया ओ पासवाँ शहीद ।।४।।
आफत को देख कौम की रहता तू किस तरह ।
तू बाँध कफ़न आ गयाओ पासवाँ शहीद ।।५।।
तू मर्द था मैदान का परदे नशीं न था ।
ज़ाहिर हैं जौहर हर तरह ओ पासबाँ शहीद ।।६।।
उँगली जहाँ उठी तेरी मैदा फ़तेह हुआ ।
सिक्का जमा जहान में ओ पासबाँ शहीद ।।७।।
आँखों में तेरे नूर था दिल में सरूर था ।
तू हिन्द का ज़हूर था ओ पासबाँ शहीद ।।८।।
बेकल फ़कीर क़ौम के ओ शाह हिन्द के ।
"प्रेमी" के दिल में आ बसो ओ पासबाँ शहीद ।।९।।

स्वामी का स्वामी से मिलाप

—श्री पं० नारायण प्रसाद 'बेताब'

मरते मरते भी हमें मरना सिखाकर चल दिये ।
यह अमर जीवन का नुसख़ा था बताकर चल दिये ।।१।।
आपकी हस्ती थी या तस्बीरे इस्तकलाल थी ।
गोलियाँ पिस्तौल की सीने पै खाकर चल दिये ।।२।।
कब तमंचे से कलेजे में हुए सूराख चार ।
चार आश्रम को निभा और दिखाकर चल दिये ।।३।।
लग गई अब खून की धारों से पक्की दाग़बेल ।
वीर पुत्रों के लिये रास्ता बनाकर चल दिये ।।४।।
केस शुद्धि का न अब तनसीख के काबिल रहा ।
फैसिले पर खून की मुहरें लगाकर चल दिये ।।५।।
अब चलीं शुद्धि के पौदे की जड़ें पाताल को ।
खूने दिल से बाग़वाँ पानी लगाकर चल दिये ।।६।।
हासिदों को था शराकत और असालत पर गरूर ।
आज़माना था उन्हें बस आज़मा कर चल दिये ।।७।।
देखकर कातिल को अपने महज़ बुज़दिल, ज़न ख़िलास ।
हथकड़ी की चूड़ियाँ कर में पिन्हा कर चल दिये ।।८।।
मुद्दआ यह था न औरों पर पड़े गर्दो गुबार ।
धर्म के पथ में लहू अपना बहाकर चल दिये ।।९।।
कोई माँ का लाल हो अब आये सज्जादा नशीं ।
आप तो मठ में पवित्रासन बिछाकर चल दिये ।।१०।।
देख लो आशा का लाशा और मनोरथ का विमान ।
चार दिन जो मोहिनी मूरत दिखाकर चल दिये ।।११।।
आ गया था बन के अग्नी-बाण अग्नी का पयाम ।
यूँ शरण में अग्नि की आनन्द पाकर चल दिये ।।१२।।
हो गये "बेताब" श्रद्धानन्द स्वामी जब शहीद ।
धैर्य और सन्तोष सब दामन छुड़ा कर चल दिये ।।१३।।

श्रद्धाञ्जलि

—बा० हीरालाल जी सूद बी. ए.

(प्रस्तुत कविता लेखक (श्री बा० पूर्णचन्द्र जी एडवोकेट के ज्येष्ठ भ्राता तथा कोटा राज्य के राजकवि ने स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदान के तत्काल बाद लिखी थी और लम्बी भूमिका के साथ पुस्तिका रूप में प्रकाशित की थी। कवि ने अपने दुःखित हृदय के भाव इस कविता के माध्यम से व्यक्त करके स्वामी जी के चरणों में अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित किये है।)

[१]

श्रद्धा के अवतार शुद्ध श्रद्धा की मूरत।
श्रद्धा के आधार अटल पर्वत की सूरत॥
श्रद्धा के अद्वैत भक्त श्रद्धा व्रतधारी।
श्रद्धा हित बलिदान हुये स्वामिन्! बलिहारी!!

[२]

दयानन्द का काम किया श्रद्धा से तूने।
अपने गुरु का नाम किया श्रद्धा से तूने॥
भारत को सुख धाम किया श्रद्धा से तूने।
दुःख का काम तमाम किया श्रद्धा से तूने॥

[३]

वीर भूमि पंजाब ग्राम तलवन-जालंधर।
यह थी तेरी जन्मभूमि है धर्म धुरंधर!
खत्री कुल में जन्म लिया था तूने स्वामी!
इसी हेतु हो गया शूर वीरों में नामी॥

[४]

पढ़ कर बना वकील और जो द्रव्य कमाया।
वह सब तूने सत्य धर्म के हेतु लगाया॥
तन, मन, धन सर्वस्व तजा, बन कर संन्यासी।
अब जीवन तक त्याग दिया है सुरपुर वासी!

(५)

गुरुकुल का संकल्प किया तूने घर छोड़ा।
त्रास और उपहास सहे पर मुख नहिं मोड़ा॥
जब गुरुकुल बन गया मातु गंगा के तट पर।
तूने वेद-प्रचार किया भारत में डट कर॥

[६]

गायत्री से शुद्ध किया यवनों के दल को ।
स्वामिन् ! तूने नष्ट किया शत्रु के बल को ॥
हिन्दू जाति को किया संगठित भगवन् ! तूने ।
उसका शुभ पुरुषार्थ बढ़ाया दिन दिन तूने ॥

[७]

मुसलमान भयभीत हुये मुल्ला घबड़ाये ।
तेरे सम्मुख धर्म-युद्ध की ताव न लाये ।
धमकी देने लगे तुझे जाहिल मुल्ला ने ।
बोले हरगिज शुद्ध न कर मुसलिम मलकाने ॥

[८]

मलकाने क्या राजपूत मेवाती गूजर ।
शुद्धी होने लगी सभी जातों को घर-घर ॥
हवनकुंड से उठी विश्व-संशोधक ज्वाला ।
जिसने सारा देश शुद्ध क्षण में कर डाला ॥

[९]

गो-रक्षक बन गये घड़ी भर में गो-भक्षक ।
वेद प्रचारक बने वेद के कट्टर निंदक ॥
मुसलिम कहने लगे हुयी क्या आफत नाजिल ।
कहाँ लोप हो गये हमारे आलिम फाजिल ॥

[१०]

अरब देश को हिला रहा है भारतवासी ।
मक्के तक मशहूर हो गया यह संन्यासी ॥
इस काफिर का कोप सहें हम कब तक यारो ।
इसका यही इलाज इसे गोली से मारो ॥

[११]

सुन कर यह आवाज उठा कमबख्त कसाई ।
जिसको कहें "रशीद" दुष्ट के मुसलिम-भाई ॥
बोला ऐसे कयी मिले जो बोली मारें ।
अब वे आगे आये उसे जो गोली मारें ॥

[१२]

स्वामी श्रद्धानन्द नहीं साधारण योधा ।
जिसने अपना स्वास्थ्य कड़े संयम से शोधा ॥
जिसके जैसा परम धीर अद्‌भुत लासानी ।
हमने देखा नहीं खाक दुनिया की छानी ॥

[१३]

उसका साहस देख कत्ल उसका है मुश्किल ।
उसके आगे शेर बबर होते हैं बुज़दिल ।।
अगर उसे बीमार और निर्बल मैं पाऊँ ।
उसे मार कर स्वर्ग-प्राप्ति का फल मैं पाऊँ ।।

[१४]

इसी घात में रहा क्रूर कायर हत्यारा ।
वह अब्दुल शैतान भ्रष्ट लानत का मारा ।।
पहलू में पिस्तौल लिये फिरता था कायर ।
जब मौका मिल जाय करें स्वामी पर फायर ।।

[१५]

स्वामी जी को रोग हुआ अत्यन्त भयंकर ।
जिसका चरचा फैल गया भारत में घर-घर ।।
कहते थे सब भक्त आयु सत्तर से ऊपर ।
फिर निमोनिया रोग दया कीजे परमेश्वर ।।

[१६]

उनका बिल्कुल छुट गया था खाना-पीना ।
कहते थे सब लोग बहुत मुश्किल है जीना ।।
आत्म-शक्ति से रहे मगर स्वामी जी निश्चल ।
रोग हो गया दूर रह गये केवल निर्बल ।।

[१७]

उनको दुर्बल देख दाव घातक ने पाया ।
वह स्वामी के द्वार कपटमुनि बनकर आया ।।
बोला मैंने सुना आपका वैदिक डंका ।
छोड़ूंगा इसलाम दूर करदो कुछ शंका ।।

[१८]

लेकिन पहले मुझे पिलादो थोड़ा पानी ।
तब फिर मुझे सुनाव वेद की अमृत बानी ।।
अरे अधम ! थी तुझे रक्त की प्रबल पिपासा ।
तू मत रखना कभी स्वर्ग जाने की आशा ।।

[१९]

स्वामी जी ने कहा धर्मसिंह जल्दी जाओ ।
इस प्यासे के लिये अभी ठंडा जल लाओ ।।

धर्मसिंह का भक्ति भाव था जगत् उजागर।
आज्ञा पालन हेतु गये कमरे के बाहर ।।
[२०]
कमरे में रह गया वेद का भक्त अकेला ।
देखो कैसा दाव क्रूर घातक ने खेला ।।
रोगी दुर्बल वृद्ध पास हथियार न साथी ।
च्यूँटी के बस आज पड़ा ऐरावत हाथी ।।
[२१]
कातिल ने पिस्तौल उठा छाती पर मारा ।
दो फायर कर दिये और भागा हत्यारा ।।
सुन गोली का नाद धर्मसिंह दौड़े अन्दर ।
पकड़ वधिक का हाथ कहा ओ कपटी कायर !
[२२]
यह तूने क्या किया कुटिल कमबख्त कमीने ।
खून पी गया नीच चला था पानी पीने ।।
कातिल ने फिर एक बार पिस्तौल चलाया ।
धर्मसिंह के लगा जखम उनके भी आया ।।
[२३]
धर्मसिंह हैं धैर्यवान् बलवान् अनुपम ।
दो झटकों में तोड़ दिये कातिल के दम-खम ।
घायल खुद हो गये मगर उसको नहीं छोड़ा ।
उसे भूमि पर पटक दिया, उसका बल तोड़ा ।।
[२४]
हवालात में पड़ा हुआ है सत्यानासी ।
संभव है हो जाये उसे कुछ दिन में फांसी ।
आओ हम सब स्वामिभक्त उससे मुख मोड़े ।
जगदीश्वर के अटल न्याय पर उसको छोड़ें ।।
[२५]
गोली जिस दम लगीं प्राण स्वामी ने त्यागे ।
स्वामी जी सो गये, भाग्य भारत के जागे ।।
स्वामी जी ने कहा अन्त में अन्तरयामिन !
मेरी अन्तिम टेर आप सुन लीजे स्वामिन !
[२६]
मुझको अगला जन्म आर्यकुल में फिर दीजे ।
यवन शुद्धि का काम आप मुझसे फिर लीजे ।।

भारत क्या संसार मात्र हो वैदिक धर्मी ।
पृथिवी से हो जायें लोप सब पंथ कुकर्मी ।।

[२७]

हम सब मिलकर आज पिता से यह वर मांगें ।
नगर-नगर क्या ग्राम-ग्राम अरु घर-घर माँगें ।।
हे प्रभु ! पूरण करो आप स्वामी की इच्छा ।
भगवन् ! करदो सफल स्वर्गवासी की इच्छा ।।

[२८]

आर्य हिन्दू का भेद मिटे हम सब मिल जावे ।
बनें आर्य हम आप जगत को आर्य बनावें ।।
मानवकुल हो शुद्ध सत्य वेदों की जय हो ।
नाना पंथ कुपंथ मिटे झूठों का क्षय हो ।।

[२९]

स्वामी श्रद्धानन्द परम योगी की जय हो ।
स्वामी श्रद्धानन्द स्वर्गभोगी की जय हो ।।
स्वामी श्रद्धानन्द जगत नेता की जय हो ।
स्वामी श्रद्धानन्द यवन जेता की जय हो ।।

परिशिष्ट

स्वामी श्रद्धानन्द जी पर प्रकाशित साहित्य

(जीवन-चरित्र (हिन्दी)

१. अमर धर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द : धर्मदेव विद्यावाचस्पति, राजपाल एण्ड-संस दिल्ली, १९५०:

२. अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द : स्वामी स्वतन्त्रानन्द, दयानन्द संस्थान दिल्ली, १९७६.

३. अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द—मेरे पिता : इन्द्र विद्यावाचस्पति, सरस्वती विहार दिल्ली,

४. अमर सेनानी स्वामी श्रद्धानन्द : जगदीश विद्यार्थी, आर्य कुमार सभा किंग्सवे दिल्ली, १९६९.

५. अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द : सत्यकाम विद्यालंकार, राजपाल एण्ड संस दिल्ली, १९७६.

६. धर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द : हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड दिल्ली, २०११ विक्रमी.

७. महान् देशभक्त स्वामी श्रद्धानन्द : राजकुमार अनिल, आर्य प्रकाशन मंडल दिल्ली, १९७३.

८. मेरे पिता : इन्द्र विद्यावाचस्पति, वाचस्पतिपुस्तक भण्डार दिल्ली, १९५७.

९. वीर संन्यासी श्रद्धानन्द : रामगोपाल विद्यालंकार, वैदिक पुस्तकालय कलकत्ता, १९२९.

१०. शहीद श्रद्धानन्द : द्वारिका प्रसाद गर्ग.

११. शहीद श्रद्धानन्द संन्यासी : विश्वम्भर प्रसाद शर्मा, श्रद्धानन्द पुस्तक माला-२.

१२. संघर्ष मूर्ति स्वामी श्रद्धानन्द : शिवकुमार विद्यालंकार.

१३. स्वामी श्रद्धानन्द : विद्याभास्कर शुक्ल, छात्र हितकारी पुस्तक माला-२२.

१४. स्वामी श्रद्धानन्द : आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली.

१५. स्वामी श्रद्धानन्द : रामगोपाल विद्यालंकार, वेदप्रकाश-माला.

१६. स्वामी श्रद्धानन्द : त्रिलोक चन्द्र विशारद, आर्यचरित माला-४.

१७. स्वामी श्रद्धानन्द : रघुनाथ प्रसाद पाठक, भारतवर्षीय वैदिक सिद्धान्त परिषद् अलीगढ़, २०२७ विक्रमी.

१८. **स्वामी श्रद्धानन्द** : सत्यदेव विद्यालंकार, विजय पुस्तक भण्डार दिल्ली, १९३३.

१९. **स्वामी श्रद्धानन्द का धर्म बलिदान** : गंगा प्रसाद उपाध्याय, आर्यसमाज चौक प्रयाग.

२०. **स्वामी श्रद्धानन्द की जीवन झाँकी** : वेणी प्रसाद जिज्ञासु, हिन्दी साहित्य स्मारिका परिषद् कनखल, १९७६.

२१. स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज (एक शिक्षादायक जीवनी) गुरुकुल कांगड़ी, १९५८.

जीवन-चरित्र

1. **Swami Shraddhananda** : K. N. Kapur Aya Pratinidhi Sabha Punjab Jullandur, 1974.

2. **Swami Sbraddhanande-His life and Ca:uses** : J. T. F. Jordens, Qxford University Pess Delhi, 1981.

स्फुट ग्रन्थ

१. **ऊषा वेला के प्रतीक** : ओमप्रकाश सपड़ा, आर्य कुमार सभा किंग्सवे दिल्ली, १९७७.

२. **शहीद संन्यासी** (नाटक) : किशनचन्द जेबा, लाजपतराय एण्ड संस लाहौर, १९२७.

३. **श्रद्धानन्द दर्शन** : नारायणदत्त एवं धर्मवीर वेदालंकार, अखिल भारतीय श्रद्धानन्द स्मारक ट्रस्ट दिल्ली, १९९३ विक्रमी,

४. **श्रद्धानन्द बलिदान** (नाटक) : गो० हा० कलकत्ता.

५. **श्रद्धापुरी व श्रद्धानन्द** : मेघारथी स्वामी,

६. **श्री स्वामी श्रद्धानन्द** (नाटक) : टाटाचार्य शैदा, द्वारका प्रसाद अत्तार शाहजहाँनपुर, १९२७.

७. **श्री स्वामी श्रद्धानन्द उपदेशमाला** : वीरेन्द्र एम. ए., आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब जालन्धर, १९७७.

८. **श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज का बलिदान** : सत्य भण्डार पुस्तकालय बरेली, १९२७.

९. **स्वामी जी का बलिदान और हमारा कर्तव्य** : हरिमाऊ उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल अजमेर.

१०. **स्वामी श्रद्धानन्द और उनका दिव्य संदेश** : धर्मानन्द सरस्वती, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब जालन्धर.

११. **स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या और इस्लाम की शिक्षा** : देवेश्वर सिद्धान्तालंकार, वैदिक पुस्तकालय कलकत्ता, १९२७.

काव्य-कृतियाँ

१. **अमर बलिदानी स्वामी श्रद्धानन्द** : राजेन्द्र वर्मा

२. **अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द जी का शाखा** (आल्हा रूप में वर्णन) : मनोहरसिंह, स्वाधीन अजमेर, १९२७.

३. **श्रद्धाञ्जलि** : लोकनाथ तर्कवाचस्पति

४. **श्रद्धाञ्जलि** : हीरालाल सूद

५. **श्रद्धानन्द चित्रकाव्य** : बृहद्दल शास्त्री

६. **स्वामी श्रद्धानन्द गुणगान** : प्रकाशचन्द्र कविरत्न, प्रकाश साहित्य सदन अजमेर, २०३३ विक्रमी.

७. **स्वामी श्रद्धानन्द दैहिक बलिदान** : रामसिंहासन तिवारी, डायमण्ड जुबली प्रेस अजमेर, १९२७.

कतिपय संस्मरण-लेखक

अभयदेव विद्यालंकार (स्व०) : २ जुलाई १८९६ को चरथावल (मुजफ्फरनगर) में जन्म। गुरुकुल में कुलपिता स्वामी श्रद्धानन्द जी की छत्रछाया में शिक्षा, प्राप्त कर सन् १९१९ में विद्यालंकार किया। सन् १९२१ में स्वामी जी की प्रेरणा से गुरुकुल में वेदोपाध्याय, तदनन्तर कई वर्ष तक वहीं के आचार्य। वेदों के ख्यातिप्राप्त विद्वान् तरंगित हृदय, वैदिक विनय, ब्राह्मण की गौ, वैदिक ब्रह्मचर्य गीत आदि पुस्तकों का प्रणयन। महात्मा गांधी के रचनात्मक कार्यों के लिये सतत् प्रयत्नशील, सन् १९२१ में चरथावल में असहयोग आंदोलन का संचालन, सन् १९३० के राष्ट्रीय आंदोलन के सिलसिले में जेलयात्रा। श्री अरविन्द की योग-प्रणाली के अन्यतम साधक, चरथावल में 'श्री अरविन्द निकेतन' की स्थापना। ९ जनवरी १९७० को चरथावल में निधन।

अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार (स्व०) : २२ मार्च १९०७ को दानापुर (पटना) में जन्म। १९२८ में विद्यालंकार उपाधि प्राप्त। सफल पत्रकार एवं ख्यातिप्राप्त लेखक। वर्षों तक आर्य (लाहौर) एक दैनिक नवयुग के प्रधान संपादक दैनिक हिन्दुस्तान एवं दैनिक नवभारत के संयुक्त संपादक तथा साप्ताहिक नवयुग के संपादक। मृत्यु पर्यन्त स्वतन्त्र लेखन में व्यस्त रहे। सरल अर्थशास्त्र, पंचवर्षीय सिंचाई-बिजली योजना, सामुदायिक योजना, हमारे राष्ट्रपति राधाकृष्णन, मालवीय जी भारतज्ञान कोष (वार्षिक), विश्व ज्ञान कोश आदि पुस्तकों के लेखक। १९३०-३१ में बिहार कांग्रेस कमेटी तथा दानापुर कांग्रेस कमेटी के प्रमुख कार्यकर्ता, दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संस्थापकों में प्रमुख, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की स्थायी समिति के प्रतिष्ठित सदस्य, दिन्दी साहित्य परिषद् दिल्ली के संस्थापक। २८ फरवरी १९८६ में दिल्ली में निधन।

आत्मानन्द विद्यालंकार : १६ मार्च १८९५, डेरागाजीखां में जन्म। गुरुकुल में महात्मा मुंशीराम जी की छत्रछाया में विद्याध्ययन और सन् १९१७ में गुरुकुल से विद्यालंकार। गुरुकुल मुलतान के मुख्याधिष्ठाता, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की पाठशालाओं के निरीक्षक, इन्द्रप्रस्थीय संस्कृत परिषद् के सदस्य। दार्शनिक दृष्टि और उसका व्यावहारिक जगत् में उपयोग विषय पर चिन्तन में विशेष अभिरुचि, अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित। पता—ए ३४ डिफेन्स कालोनी, नई दिल्ली।

आनन्दप्रिय : २८ मई १८९९, अमृतसर में जन्म। प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल गुजरानवाला में, तत्पश्चात् बी० ए० (आगरा), एल-एल० बी० (प्रयाग)। वर्षों तक सिटी मजिस्ट्रेट के पद पर कार्यरत। समाजोद्धार के कार्य करने की लालसा के

कारण सरकारी नौकरी से त्यागपत्र। सन् १६२१ में आर्यकुमार महासभा बड़ौदा की स्थापना। आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा का संचालन। गुजरात में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के आद्यप्रणेता। आर्यसमाज की गतिविधियों में सक्रिय योगदान, गुजरातप्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान। टंकारा ट्रस्ट के मंत्री। पता—

इन्द्र विद्यावाचस्पति (स्व०) : महात्मा मुंशीराम जी के पुत्र। परिचय 'कुटुम्बिजन : एक परिचय' के अन्तर्गत पृष्ठ २८ पर है।

इन्द्रसेन जेतली आयुर्वेदालंकार : २३ जुलाई १६०८ को भेरा (सरगोधा) में जन्म। सन् १६२८ में आयुर्वेदालंकार, तदनन्तर बी० ए० (पंजाब), हिन्दी प्रभाकर (पंजाब), एम० बी० बी० एस० (पंजाब, डी० टि० एम० (कलकत्ता), काव्यतीर्थ) (कलकत्ता)। पंजाब आयुर्वेदिक कालेज, गुरुकुल कांगड़ी आयुर्वेदिक कालेज और मस्तनाथ आयुर्वेद कालेज अस्थलवोहर में अध्यापन, सेना में चिकित्सक, मलाया में जापानी आंदोलन में सक्रिय योगदान और कम्पनी कमान्डर के रूप में कार्य, पंजाब सरकार की चिकित्सा सेवा में चिकित्सक एवं सिविल सर्जन तथा हरियाणा विद्युत् परिदद् में मुख्य चिकित्साधिकारी। वर्तमान में स्वाध्याय एवं स्वतन्त्र लेखन में व्यस्त। रसधारा, सूक्तिधारा, हृदयहर धारा, करुण धारा, रंजन धारा, राजधारा, उद्गार धारा, मनोहर धारा, मनोरम धारा, जेतली जी का छन्दोज्ञान, आर्यसमाज का गीतिकाव्य आदि काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन। आजाद हिन्द फौज में सक्रिय कार्यकर्ता, १६४२–४५ के दौरान प्रिजनर ऑफ वार, गुरुकुल कांगड़ी में वनस्पति वाटिका की स्थापना। पता—१३२७, २२ बी० चंडीगढ़।

ओमानन्द सरस्वती (आचार्य भगवानदेव) : नरेला (दिल्ली) में जन्म। शिक्षा दयानन्द वेद विद्यालय दिल्ली और गुरुकुल चित्तौडगड़ में। सन् १६४२ से गुरुकुल झज्जर के मुख्याधिष्ठाता एवं आचार्य। आर्य शिक्षा-प्रणाली एवं आर्य संस्कृति के प्रसार में व्यस्त। कन्या गुरुकुल नरेला के लिये भूमिदान। ४ अप्रैल १६७० को संन्यासाश्रम-प्रवेश। संस्कृति सम्मेलनों में भारत सरकार के प्रतिनिधि। परोपकारिणी सभा अजमेर के प्रधान। ताम्रपत्रों पर 'सत्यार्थप्रकाश' उत्कीर्ण करवाने का संकल्प। पता—कन्या गुरुकुल, नरेला (दिल्ली)।

ओमप्रकाश विद्यालंकार : अगस्त १६०५, शिकारपुर (मुजफ्फरनगर) में जन्म। सन् १६२७ में गुरुकुल से विद्यालंकार। छात्रावस्था में स्वामी श्रद्धानन्द जी के निर्देश पर उन्हीं के साथ कांग्रेस के अधिवेशनों में स्वयंसेवक के रूप में कार्य। स्नातक बनने के बाद से मुजफ्फरनगर, मेरठ आदि में स्वतन्त्र व्यवसाय। पता—४७२ पश्चिमी न्यायालय मार्ग, मेरठ।

गंगाप्रसाद (चीफ जस्टिस) (स्व०) : सन् १८७१, मेरठ में जन्म। एम० ए० (आगरा) एम० आर० ए० एस० मेरठ कालेज में अंग्रेजी के प्रोफेसर, उत्तर प्रदेश शासन में डिप्टी कलक्टर, गुरुकुल वृन्दावन के आचार्य एवं मुख्याधिष्ठाता, टिहरी रियासत (गढ़वाल) में चीफ जज। ज्योतिष चन्द्रिका, ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्,

आकृष्णेन रजसा, वैदिक धर्म का विकास, गरुड़ पुराण की आलोचना, मेरी आत्मकथा, धर्म का आदि स्रोत, मैं और मेरा भगवान्, वैदिक धर्म का विकास, मनुष्य विचार, फाउण्टेन हैड ऑफ रिलीजन, केन तथा कठ उपनिषदों के अंग्रेजी अनुवाद आदि के लेखक आर्य सिद्धान्तों का व्यापक अध्ययन। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के कई वर्षों तक प्रधान एवं परोपकारिणी सभा अजमेर के प्रतिष्ठित सदस्य। बाल्यकाल से ही स्वामी श्रद्धानन्द जी से घनिष्ठ परिचय एवं उनसे पत्र-व्यवहार, तत्कालीन लेफ्टि० गवर्नर सर जेम्स मेस्टन को महात्मा मुंशीराम जी और गुरुकुल का सर्वप्रथम परिचय इन्होंने ही दिया था। आर्यसमाज के प्रति की उल्लेखनीय सेवाओं के कारण उत्तरप्रदेश आ० प्र० सभा की ओर से मथुरा में 'दयानन्द दीक्षा शताब्दी' के अवसर पर डॉ० राजेन्द्रप्रसाद (तत्कालीन राष्ट्रपति) द्वारा अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट। निधन १३ जनवरी १९६९ को जयपुर में।

घनश्यामसिंह गुप्त (स्व०) : २२ दिसम्बर १८८५, दुर्ग (म० प्र०) में जन्म। बी० एस० सी० (प्रयाग विश्वविद्यालय)। महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के निमन्त्रण पर गुरुगुल कांगड़ी में विज्ञान के प्राध्यापक, सी० पी० और बरार असेम्बली के सदस्य, म० प्र० विधानसभा में कांग्रेस पार्टी के नेता, म० प्र० विधानसभा के अध्यक्ष देश के राष्ट्रीय जागरण, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में उल्लेखनीय सेवाएं। छत्तीसगढ़ की जनता के सामाजिक उत्थान और शैक्षणिक जागृति में महत्त्वपूर्ण योगदान। वर्षों आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश के प्रधान। तुलाराम आर्य कन्या पाठशाला दुर्ग के संचालक। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के अनेक वर्ष तक प्रधान। समाचार-प्रेषण करने वाली संस्था 'हिन्दुस्तान समाचार' के प्रथम अध्यक्ष। 'विधान निर्मात्री परिषद्' के सदस्य तथा विधान के हिन्दी रूप के निर्माण के लिये गठित समिति के प्रतिष्ठित सदस्य। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा गठित सार्वदेशिक भाषा स्वातन्त्र्य समिति' के अध्यक्ष। निधन १४ जून १९७६ को।

चतुरसेन शास्त्री (स्व०) : २६ अगस्त १८९१ चांदोख (बुलन्दशहर) में जन्म। आयुर्वेद में शास्त्री एवं आचार्य (जयपुर)। सिकन्दराबाद में चिकित्सा-कार्य, दिल्ली में सेठ रग्घुमल द्वारा कटरा मेदगरान में संचालित औषधालय का संचालन, डी० ए० वी० कालेज द्वारा संचालित आयुर्वेदिक कालेज लाहौर में प्रोफेसर, बम्बई में स्वतन्त्र चिकित्सा-व्यवसाय. दिल्ली में वैद्यक का स्वतन्त्र व्यवसाय। हृदय की परख, अन्तस्त, वैशाली की नगरवधू, वयं रक्षामः, निरोग जीवन, स्वास्थ्य रक्षा, आदर्श भोजन आदि के लेखक,। ख्यातिप्राप्ति उपन्यासकार। प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल सिकन्दराबाद में। आर्यसमाज के कार्यकलापों से पूर्णतः प्रभावित। निधन २ फरवरी १९६० को।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार : परिचय 'कुटुम्बीजन : एक परिचय' में पृष्ठ ३२ पर है।

चन्द्रमणि विद्यालंकार (स्व०) : १६ सितम्बर १८९१, जालन्धर में जन्म। सन् १९१४ में गुरुकुल से विद्यालंकार, तत्पश्चात् लंका से पालिरत्न। गुरुकुल कांगड़ी में वेदोपाध्याय कुछ समय आवागढ़ राज्य में कार्य, देहरादून में भास्कर प्रेस की स्थापना एवं संचालन। निरुक्त भाष्य (दो भाग), महर्षि पतंजलि व तत्कालीन भारत, धम्मपद, आर्ष मनुस्मृति ऋषि दयानन्द के सत्य-अहिंसा के प्रयोग, वेदार्थ की विधि, स्वामी दयानन्द और वैदिक स्वराज्य, जिन चरितम्, वाल्मीकि रामायण (३ खण्डों में अनुवाद) आदि के लेखक। आर्यसमाज एवं कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्ता एवं पदाधिकारी रहे, स्वतन्त्रता-संग्राम के दौरान अनेक बार जेलयात्रा।

चन्द्रशेखर शास्त्री (स्व०) : ११ अगस्त सन् १९०० को बिजनौर जिले के लालढांग गांव में जन्म शास्त्री (काशी विद्यापीठ)। हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में अध्यापन, दिल्ली के एक कॉलेज में अध्यापन, आगरा से 'स्वतन्त्रता' नामक दैनिक का प्रकाशन, 'नवभारत टाइम्स' 'हिन्दू समाचार' 'फिल्म चित्र' तथा 'वैश्य समाचार' में संपादन कार्य, राजस्थान समाचार सेवा से सम्बद्ध। ५२ प्रकाशित एवं १२ अप्रकाशित, रचनाएँ प्रमुख है : न्याय बिन्दु, श्रेणिक बिम्बसार, भारतीय आतंकवाद का इतिहास, हिटलर महान्, प्यारा पटेल, भीष्म प्रतिज्ञा, भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास, शिशुनाग वंश का इतिहास, पंच प्रसून, जंगल में जीवन झांकी, आदि। स्वामी श्रद्धानन्द जी की विचारधारा से प्रभावित तथा उनके सम्पर्क में। हिन्दी, उर्दू, संस्कृत और अंग्रेजी भाषा में प्रवीणता। निधन २६ फरवरी १९६५ को।

स्वामी चिदानन्द संन्यासी (स्व०) : मई सन् १९२३ तक भारतवर्षीय साधु महामण्डल के मन्त्री पद पर सार्वजनिक कार्य करते थे। स्वामी श्रद्धानन्द जी की प्रेरणा से जून १९२३ में शुद्धि के क्षेत्र में पदार्पण किया तथा सर्वप्रथम कन्नौज क्षेत्र में शुद्धि कार्य के अधिष्ठाता बनाये गये। दो-तीन मास के भीतर ही ऐसा उत्तम शुद्धि कार्य किया कि इनके क्षेत्र के साथ फर्रुखाबाद, मैनपुरी और शाहजहांनपुर भी सम्मिलित कर दिये गये। इनके अधीन लगभग ड़ेढ़ दर्जन कार्यकर्ता थे। सन् १९२५ में भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा के मन्त्री निर्वाचित हुए और अर्थमन्त्री का काम सौंपा गया, साथ ही शुद्धि-समाचार का संपादक भी नियुक्त किया गया। मई १९२६ में ये शुद्धि सभा के इंचार्ज निर्वाचित हुए। इस सारे काल में ये स्वामी श्रद्धानन्द जी—जो शुद्धि सभा के प्रधान थे—के निर्देशन में तथा उनसे कंधे-से कंधा मिला कर शुद्धि का कार्य करते रहे और जीवन पर्यन्त इसे आगे बढ़ाने में लगे रहे। स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदान के बाद शुद्धि-सभा का सम्पूर्ण दायित्व इन पर आ गया और जनवरी १९२७ में शुद्धि सभा के प्रधानमन्त्री निर्वाचित हुये। अप्रैल १९२८ में शुद्धि समाचार में 'इस्लामी सिद्धान्तों की समालोचना' शीर्षक लेख प्रकाशित होने के कारण २७ दिसम्बर १९२८ को कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर गिरफ्तार किये गये और ६-६ मास की सख्त सजा हुई।

जनमेजय विद्यालंकार (स्व०) : ३ मार्च १९०३ को कानपुर में जन्म। सन् १९२२ में गुरुकुल से विद्यालंकार, शास्त्री (पंजाब), एम० ए० (आगरा)। कई वर्षों तक लाहौर में अध्यापन-कार्य, डी० ए० वी० कालेज कानपुर में संस्कृत विभाग में अध्यापन। अभिनवकाव्यम् (उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत), सामाजिक क्रान्ति, संस्कृत शिक्षा विधि (तीन भाग), वैदिक वर्णव्यवस्था। नामक पुस्तकों के लेखक।

जनार्दनदेव विद्यालंकार : पटियाला स्टेट में जन्म। सन् १९२८ में गुरुकुल कांगड़ी से विद्यालंकार। गुरुकुल कांगड़ी के विद्यालय विभाग में अंग्रेजी के अध्यापक, सप्रति सेवानिवृत्ति के बाद स्वाध्याय-रत। पता—आर्य वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर (सहारनपुर)।

जयचन्द्र विद्यालंकार (स्व०) : ५ सितम्बर १८९८, किजकोट (लायलपुर) में जन्म। सन् १९१९ में गुरुकुल से विद्यालंकार। वर्षों तक गुरुकुल कांगड़ी, राष्ट्रीय महाविद्यालय सूरत, कौमी कॉलेज लाहौर, बिहार विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, भारतीय विद्याभवन बम्बई में उपाध्याय, अपने समय के ख्यातिप्राप्त भारतीय इतिहासकार, लेखक, समालोचक और शोधकर्ता। भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार, भारत भूमि और उसके निवासी, भारतीय इतिहास की रूपरेखा (दो भाग), इतिहास प्रवेश (दो भाग), हमारी आज की लड़ाई, मनुष्य की कहानी, हमारा भारत, भारतीय कृषि का क ख, पुरखों का चरित्र (तीन पोथी), भारतीय इतिहास की मीमांसा, प्राचीन पंजाब और उसका पास-पड़ोस, गोरखाली इतिहास की मुख्य धाराएँ, राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन, भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न, आदि के लेखक। भारतीय इतिहास परिषद् के संस्थापक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन में इतिहास परिषद् के दो बार सभापति, राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय सहयोग और जेल यात्रा, मंगला प्रसाद पुरस्कार से सम्मानित, पंजाब सरकार द्वारा सराहनीय साहित्य सेवा के लिये सम्मानित, भारतीय संविधान का हिन्दी अनुवाद करने वाली विज्ञसमिति के सदस्य, हिन्दी भवन प्रयाग के संस्थापक।

जयदेव विद्यालंकार (स्व०) : १९९२, अम्बाला में सन् १९१५ में गुरुकुल से विद्यालंकार। पुराणमत पर्यालोचन में आचार्य रामदेव जी के सहायक; जोबनेर (जयपुर) हाईस्कूल, गुरुकुल कांगड़ी एवं गुरुकुल मुलतान में अध्यापन, १५ वर्ष तक वनस्थली विद्यापीठ में संस्कृत के प्राध्यापक, 'आर्यमित्र' व 'आर्यमार्तण्ड' का संपादन। चारों वेदों का हिन्दी भाष्य, विधवा विवाह मीमांसा, मुद्राराक्षस चर्चा, पुराणमत पर्यालोचन, धनुर्वेद का इतिहास, क्या वेद में इतिहास है आदि के लेखक। वेद-सेवा एवं साहित्य-सेवा के कारण गुरुकुल विश्वविद्यालय द्वारा 'विद्यामार्तण्ड' की मानद उपाधि से सम्मानित।

ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य (स्व०) : १८८१, अविभाजित पंजाब के किसी ग्राम में जन्म। 'अमृतधारा' के आविष्कार 'देशोपकारक' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन

(२७ वर्ष तक निरन्तर प्रकाशित) 'अमृतधारा प्रेस' की स्थापना। आयुर्वेद विषयक ६० पुस्तकें प्रकाशित । १९२८-१९२७ विदेश यात्रा, समाज-सुधार के अनेक कार्यों तथा आर्यसमाज के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान, स्वामी श्रद्धानन्द जी के परम भक्त, एवं सहयोगी कन्या गुरुकुल देहरादून के संचालन में बहुमूल्य सहयोग, १९४२ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अबोहर अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष, अनेक वर्षों तक आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान, प्राचीन आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति के उत्कर्ष के लिए अहर्निश प्रयत्नशील, निधन १४ मार्च १९६२ को देहरादून में ।

दीनानाथ सिद्धान्तालंकार : २३ अप्रैल १८९४ को पिण्डी भट्टियाँ (गुजरांवाला) में जन्म । गुरुकुल कांगड़ी से सन् १९२० में सिद्धान्तालंकार । विभिन्न पत्रों में संपादन-कार्य, जिनमें प्रमुख हैं : स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा संपादित 'श्रद्धा' के उपसंपादक; 'अर्जुन 'विधवा बन्धु' (लाहौर) 'राष्ट्रदूत' (बम्बई) आकाशवाणी (जालन्धर), 'आज' (वाराणसी), 'विश्वमित्र' (कलकत्ता), 'वीर अर्जुन' (दिल्ली), 'जीवन-पथ मासिक (दिल्ली) 'जनसत्ता । आदि । वर्तमान में स्वतन्त्र लेखन-कार्य एवं स्वाध्याय आदि में व्यस्त । अमृत पथ, श्री रामचरित्र, उपनिषद् वचनामृत, अध्यात्म योग, यज्ञ प्रसार, ज्वलन्त जीवन, वेद और बाइबिल, श्री डॉ० श्यामा प्रसाद मुकर्जी का जीवन, प्रेरक जीवन कहानियाँ, आर्यसमाज की उपलब्धियाँ, हिन्दू जाति पतन के कगार पर, भारत की प्राचीन नीतियाँ पुस्तकों के लेखक स्वामी श्रद्धानन्द जी के निजी सचिव, भगतसिंह के साथ क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग, १९३० में सत्याग्रह आन्दोलन के सिलसिले में ६ महीने की जेल यात्रा तथा १९३८ में कानपुर नमक-सत्याग्रह में श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के साथ जेल यात्रा, १९२८ में कलकत्ता में मारवाडियों की एक बड़ी सार्वजनिक सभा में विधवाविवाह, शुद्धि आदि पर भाषण देने पर लाठी वर्षा सही, पता—के० सी० ३७/बी अशोक विहार, दिल्ली—५२ ।

देवराज विद्यावाचस्पति (स्व०) : गाजीवाला (बिजनौर) में जन्म । गुरुकुल कांगड़ी से सन् १९१६ में विद्यावाचस्पति । विभिन्न वर्षों में गुरुकुल कांगड़ी, गुरुकुल सोनगढ़, गुरुकुल सूपा, गुरुकुल झज्जर में अध्यापन एवं स्वाध्याय । 'जल चिकित्सा' के लेखक स्वर्गीय पं० मधुसूदन ओझा से वैदिक साहित्य और ज्योतिष पढ़ा, अत्यन्त स्वाध्यायशील, अत्यन्त शान्त प्रकृति के कारण 'मुनि' कहलाते थे, छात्रावस्था में और स्नातक बनने के बाद स्वामी श्रद्धानन्द जी के निकट सम्पर्क में रहे ।

देवव्रत धर्मेन्दु (स्व०) : १३ अप्रैल १९०४, जलालपुर कीकना (जेहलम) में जन्म । जेहलम रेलवे गुडस ऑफिस में कार्य, तत्पश्चात् विभिन्न विद्यालयों मुख्याध्यापक, डी० ए० वी० हायर सेकेण्डरी स्थल चित्रगुप्त रोड़ दिल्ली में धर्माध्यक्ष । प्रमुख रचनाएँ दैनिक यज्ञ प्रकाश, वेद संदेश, वैदिक सूक्ति सुधा, महर्षि दयानन्द वचनामृत, सुनो बच्चो आदि । असहयोग आन्दोलन में भाग, स्वामी श्रद्धानन्द जी के

निर्देशन में आगरा में मलकानों की शुद्धि में योगदान, दिल्ली में अछूतोद्धार का कार्य, हैदराबाद धर्म युद्ध की सफलता के लिये सत्याग्रह समिति के मन्त्री के रूप में अथक परिश्रम, पंचम (१९४४) और नवम (१९६१) सार्वदेशिक आर्य महासम्मेलन के प्रचार मन्त्री, पंजाब हिन्दी रक्षा आन्दोलन में सक्रिय भाग, दिल्ली में आर्य युवक परिषद् की स्थापना और उसके माध्यम से सत्यार्थप्रकाश की परीक्षाओं का संचालन।

देशबन्धु विद्यालंकार : कानपुर में जन्म। सन् १९१८ में गुरुकुल कांगड़ी से विद्यालंकार। कई वर्ष तक दिल्ली क्लॉथ मिल में श्रम कल्याण विभाग में अधिकारी, गुरुकुल में सहायक मुख्याधिष्ठाता (१९४१-४४), दिल्ली में स्वतन्त्र व्यवसाय, आज कल स्वाध्यायरत। योगासन, व्यायाम एवं धनुर्विद्या में निष्णात, इसके प्रदर्शन के लिए अमरीका यात्रा। **पता**—आर्य वानप्रस्थाश्रम, ज्वालापुर (सहारनपुर)

धर्मदत्त विद्यालंकार (स्व०) : २० दिसम्बर १८९४, बेहल (मुलतान) में जन्म सन् १९१७ में गुरुकुल कांगड़ी से विद्यालंकार तदनन्तर मद्रास आयुर्वेद कालेज से आयुर्वेदाचार्य। गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय में चिकित्सक, प्राध्यापक एवं प्रधानाचार्य, तत्पश्चात् जीवन-पर्यन्त कनखल में स्वतन्त्र चिकित्सा कार्य। प्राचीन भारत में स्वराज्य, आयुर्वेदिक इन्टरप्रेटेशन ऑफ मेडिसिन (उ० प्र० शासन द्वारा पुरस्कृत), त्रिदोष विमर्शः (संस्कृत में), आधुनिक चिकित्सा शास्त्र, त्रिदोष संग्रह (उ० प्र० शासन द्वारा पुरस्कृत), ओषधि विज्ञान, हिन्दी गीता और संगीत संध्या के लेखक। आर्यसमाज एवं सर्वोदय-समाज के कार्यों में विशेष रुचि, प्राच्य और पाश्चात्य चिकित्सा पद्धतियों के गम्भीर अध्येता। उ० प्र० वैद्य सम्मेलन द्वारा आयुर्वेद महामहोपाध्याय तथा गुरुकुल विश्वविद्यालय द्वारा विद्यामार्तण्ड से सम्मानित, सन् १९७२ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में सार्वजनिक सम्मान एवं अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट।

धर्मपाल विद्यालंकार : १८९८, बदायूँ में जन्म। सन् १९२१ में गुरुकुल कांगड़ी से विद्यालंकार। स्वामी श्रद्धानन्द जी के निजी मन्त्री, कुछ वर्षों तक दैनिक 'अर्जुन' के प्रबन्धक व सदस्य निदेशक, आ० प्र० सभा उत्तरप्रदेश के प्रधान कार्यालय के संचालक, गुरुकुल वृन्दावन के कुलपति, 'आर्यमित्र' साप्ताहिक के अवैतनिक संपादक, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सहायक मुख्याधिष्ठाता, प्रशासक एवं कुलसचिव, गुरुकुल फार्मेसी के व्यवसायाध्यक्ष, कुछ वर्ष तक आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर के अध्यक्ष। स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदान के समय घातक को पकड़ा। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के वर्षों तक, उपमन्त्री एवं मन्त्री, आर्यसमाज मन्दिर हरिद्वार के निर्माण में सक्रिय योगदान, स्वाध्याय में विशेष अभिरुचि। **पता**—टिकैतगंज, बदायूं।

धर्मानन्द केसरवानी आयुर्वेदालंकार : २ अक्टूबर १०९ को कराची में जन्म। आयुर्वेदालंकार (गुरुकुल, १९२८), एम० डी० (रायल यूनिवर्सिटी, रोम), टी० डी०

डी० (म्यूनिख), जेड० टी० टी० डी० (रोम), जेड० टी० (वियना)। कुछ समय कराची में चिकित्सा, कार्य गुरुकुल सूपा में चिकित्सक देहरादून में स्वतन्त्र चिकित्सा टी० बी० सेनिटोरियम भुवाली में अधीक्षक, इलाहाबाद में अतिरिक्त सिविल सर्जन, स्टेट आयुर्वेदिक कालेज लखनऊ में प्रिंसिपल, जी० के० आयुर्वेदिक कालेज जामनगर में प्रिंसिपल, मूलचन्द खैरातीराम हास्पिटल नई दिल्ली में निदेशक, रोहतक आयुर्वेदिक कालेज में प्रिंसिपल, आयुर्वेद महाविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी में प्रोफेसर, संप्रति दिल्ली में स्वतन्त्र कार्य। क्षय रोग की चिकित्सा के शल्यकर्म में विशेष निपुणता। यूरोप, रूस, स्पेन आदि के २६ से अधिक बड़े अस्पतालों में कार्य। **पता—**

धर्मानन्द सरस्वती (पूर्वनाम धर्मदेव विद्यामार्तण्ड स्व०): १२ फरवरी १९०१ को दुनियापुर (मुलतान) में जन्म। सन् १९२१ में गुरुकुल कांगड़ी से सिद्धान्तालंकार एवं विद्यावाचस्पति। स्वामी श्रद्धानन्द जी की प्रेरणा से दक्षिण भारत में वैदिक धर्म एवं हिन्दी का प्रचार, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के सहायक मन्त्री, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में वेदोपाध्याय, गुरुकुल पत्रिका एवं अंग्रेजी-संस्कृत कोष के संपादक, गुरुकुल विश्वविद्यालय में वैदिक साहित्य के मानद प्रोफेसर। **प्रमुख रचनाएं** वेदों का यथार्थ स्वरूप, धर्मशिक्षा, महर्षि दयानन्द और अन्य वेदभाष्यकार, वैदिक कर्तव्यशास्त्र, भारतीय समाजशास्त्र, स्त्रियों को वेदाध्ययन और वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकार, वैदिक धर्म प्रश्नोत्तरी, आर्य निबन्धमाला, अमर धर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द, वेदों का महत्त्व, उदारतम आचार्य महर्षि दयानन्द, वैदिक ईश्वरवाद और वर्तमान विज्ञान, बौद्ध मत और वैदिक धर्म, साम संगीत सुधा, भक्ति कुसुमाञ्जलि, महर्षि दयानन्द और महात्मा गाँधी, वेदमूलक आर्य राजनीति, एक मन्त्र के अनेकार्थ, हिम्स ऑफ द सामवेद, होली ऋग्वेद—ए कॉमेन्टरी इन इंगलिश ए ऋग्वेद का अंग्रेजी भाष्य), महात्मा बुद्ध ऐन आर्य रिफार्मर, महापुरुषकीर्तनम्, महिलामणिकीर्तनम्, आदि। जीवन पर्यन्त वेदों के प्रचार-प्रसार में व्यस्त। अनेक भाषाओं के ज्ञाता।

नरदेव शास्त्री (स्व०) : २१ अक्टूबर १८८० को शढ़म (हैदराबाद रियासत) में जन्म। शास्त्री (पंजाब), वेदतीर्थ (कलकत्ता)। गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापन, गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में आचार्य, मुख्याधिष्ठाता एवं कुलपति। पत्र पुष्प (दो भाग), आर्यसमाज का इतिहास (दो भाग), गीता विमर्श, ऋग्वेदालोचन, सचित्र शुद्धबोध, यज्ञ में पशुवध वेद-विरुद्ध, देहरादून-गढ़वाल के राजनीतिक आन्दोलन का इतिहास, स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती का संक्षिप्त जीवन-चरित्र, आपबीती-जगबीती आदि कृतियों के लेखक। प्रारम्भिक गुरुकुल के विकास एवं प्रगति में स्वामी श्रद्धानन्द जी को सहयोग देने वाले महारथियों में प्रमुख। २०–२५ वर्ष तक अ० भा० कांग्रेस कमेटी के सदस्य, उत्तरप्रदेश विधान सभा के सदस्य। 'भारतोदय' एवं 'शंकर' (मुरादाबाद से प्रकाशित) का वर्षों तक संपादन। देहरादून में १९२४ में आयोजित अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष। भरतपुर में अ० भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पत्रकार सम्मेलन के

संयोजक, राजनीति, सहित्य और धर्म की त्रिवेणी । निधन २४ सितम्बर १९६२ को ज्वालापुर महाविद्यालय में ।

नारयणदत्त विद्यालंकार : १२ अगस्त १९०१ को दिल्ली में जन्म । गुरुकुल से सन् १९२४ में विद्यालंकार । पानीपत में स्वतन्त्र चिकित्सा कार्य । कुशल एवं पीयूषपाणि वैद्य, आर्यसमाज के प्रभावशाली कार्यकर्ता । **पता**—५६८, मॉडल टाउन । (पानीपत) ।

निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार : सन् १९०३, को बदायूं में जन्म । गुरुकुल से सन् १९२७ में आयुर्वेदालंकार । 'अर्जुन' (दिल्ली), लोकमत (जबलपुर) और जन्म-भूमि (लाहौर) में संपादन कार्य बदायूं में स्वतन्त्र चिकित्सा व्यवसाय वर्षों तक गुरुकुल एवं बरेली आयुर्वेद महाविद्यालय में प्रधानाचार्य, इस समय स्वाध्याय आदि में व्यस्त । प्रमुख हिन्दी कवि, हिन्दी वेणीसंहार, हिन्दी दशकुमारचरित, प्राकृत दोषविज्ञान, प्राकृत अग्निविज्ञान, द्रव्यगुणविज्ञानम्, प्राकृत धातु-मलविज्ञान, आयुर्वेदोपयोगी पदार्थ-विज्ञान के लेखक । **पता**—सत्यज्ञान निकेतन के निकट, ज्वालापुर (सहारनपुर) ।

प्रह्लाददत्त वैद्य : दिल्ली में व्यवसाय, गुरुकुल झज्जर में प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य, गुरुकुल झज्जर में अध्यापन, दिल्ली में औषधालय की स्थापना । हिन्दू महासभा के कार्यों में सक्रिय योगदान । देवतास्वरूप भाई परमानन्द जी से संपर्क । आर्य युवक संघ की स्थापना, आर्य सत्याग्रह (हैदराबाद) में भाग । 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में सम्मिलित । देश-विभाजन के समय स्वयंसेवक के रूप में सेवा-कार्य । पंजाब हिन्दी रक्षा आन्दोलन में दयानन्द मठ रोहतक केन्द्र का संचालन तथा गौ रक्षा आन्दोलन में आर्यसमाज दीवान हाल दिल्ली में सत्याग्रह का संचालन । सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली की अंतरंग सभा के प्रतिष्ठित सदस्य । **पता**—३३/४७४६ डिप्टीगंज, सदर बाजार, दिल्ली ६ ।

प्रेमचन्द (स्व०) : १८८० में लमही (पांडेपुर) में जन्म । बी० ए० । माधुरी (लखनऊ) के संपादक, सरस्वती प्रेस की स्थापना तथा 'हंस' मासिक पत्र का शुभारम्भ एवं संपादन· ख्यातिप्राप्त उपन्यासकार । प्रमुख कृतियाँ हैं : हम खुरमा हम सबाब (उर्दू उपन्यास), सोजे वतन (उर्दू कहानियों का संकलन), सेवासदन, प्रेमाश्रम, गोदान, सप्तसरोज, प्रेम पूर्णिमा, रंगभूमि, गबन, कायाकल्प, निर्मला, मंगलसूत्र, प्रेम पीयूष, प्रेम द्वादशी, वरदान, प्रेमपचीसी, प्रेमप्रसून, समरयात्रा, आदि । अनेक कृतियाँ वास्तविक नाम धनपतराय के नाम से प्रकाशित । गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन के कारण सरकारी नौकरी से त्यागपत्र । निधन ८ अक्टूबर १९३६ को काशी में ।

प्रियव्रत विद्यालंकार (स्व०) : श्रावण वदी १९४६ वि० को ताजपुर (विजनौर) में जन्म । गुरुकुल से १९१६ में विद्यालंकार । गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के प्रथम मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल सूपा के आचार्य एवं मुख्याधिष्ठाता । वर्षों तक गुरुकुल कुरुक्षेत्र के आचार्य एवं मुख्याधिष्ठाता । स्वामी श्रद्धानन्द जी की प्रेरणा पर गुरुकुलों की सेवा के लिए सर्मपित । प्रचारार्थ पूर्वी अफ्रीका की यात्रा ।

बुद्धदेव विद्यालंकार (स्व०) : सन् १९१६ में गुरुकुल कांगड़ी से विद्यालंकार। आर्यसमाज के प्रमुख प्रचारक, गुरुकुल में अध्यापक, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रथम महोपदेशक, बाद में गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य । मनु और मांस, कायाकल्प, पंचयज्ञ प्रकाश, बिखरे फूल, उसकी राह पर (दोनों काव्यसंग्रह), मरुत्, सोम, स्वर्ग, शतपथ में एकपथ, शतपथ ब्राह्मण तथा अथर्ववेद का भाष्य, पणिनीय प्रवेशिका आदि के लेखक । कई वर्ष तक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान, वर्णाश्रम-व्यवस्था के प्रबल समर्थक । प्रभात आश्रम मेरठ के संस्थापक । जीवन पर्यन्त आर्यसमाज और वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में व्यस्त । प्रतिभाशाली कवि एवं उत्कृष्ट वक्ता ।

बृहस्पति शास्त्री (स्व०) : खरड़ (मुजफ्फरनगर) में जन्म । शास्त्री (पंजाब), एम० ए० हिन्दी संस्कृत (आगरा)। गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के आचार्य, मुख्याधिष्ठाता एवं कुलपति । वेदों के विद्वान् । उच्चकोटि के व्याख्याता एवं लेखक ।

ब्रह्मानन्द दीक्षित विद्यालंकार (स्व०) : चैत्र शुक्ला ३ संवत् १९४४ को टेहू (आगरा) में जन्म । सन् १९१५ में गुरुकुल कांगड़ी से विद्यालंकार, कलकत्ता से आयुर्वेदाचार्य एवं भिषगरत्न । गुरुकुल कांगड़ी के आयुर्वेद महाविद्यालय में प्राध्यापक, तत्पश्चात् राजा-मण्डी (आगरा) में 'गायत्री चिकित्सालय' की स्थापना एवं संचालन । मृत्यु पर्यन्त देश-विदेश से आये रोगियों की सफलतापूर्वक चिकित्सा, सन् १९४५ में बोन टी० बी० एवं कुष्ठ पर तथा १९५४ में कैंसर की आयुर्वेदिक पद्धति से चिकित्सा पर अनुसंधान और 'कैंसर अनुसंधान संस्थान' की स्थापना । लगभग १०० कैंसर पीड़ित रोगियों को उनकी चिकित्सा से स्वास्थ्य-लाभ । विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित । निखिल भारतीय स्नातक वैद्य-सम्मेलन के सभापति । हिन्दी-संस्कृत में कविता करने में विशेष रुचि । जापान, बर्मा और रंगून की यात्रा ।

भगवद्दत्त वेदालङ्कार : १० अश्विन १९६९ को नेक (मेरठ) में जन्म सन् १९३५ में गुरुकुल से वेदालंकार, एम० ए० संस्कृत (आगरा)। आ० प्र० सभा पंजाब (लाहौर), और गुरुकुल कांगड़ी में वैदिक अनुसंधान, वेदोपाध्याय, आश्रमाध्यक्ष तथा 'गुरुकुल पत्रिका' के सम्पादक, सम्प्रति स्वाध्याय एवं लेखन । ऋभु देवता, वैदिक स्वप्नविज्ञान (उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत), वैदिक अध्यात्मविद्या, आत्मसमर्पण, विष्णु देवता (उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत), ऋषि रहस्य, वेदविमर्श, ऋषि देव विवेचन आदि के रचयिता पत्र-पत्रिकाओं में शोधपूर्ण लेख प्रकाशित । वेद-सेवा के कारण १९७६ में गुरुकुल विश्वविद्यालय द्वारा 'वेद मार्तण्ड' मानद उपाधि से सम्मानित : पता—द्वारा/गरीबदासीय धर्मशाला, रेलवे स्टेशन के सामने, हरिद्वार (सहारनपुर) ।

भद्रसेन विद्यालंकार : सन् १९२४ में गुरुकुल कांगड़ी से विद्यालंकार, एम० ए० । तत्पश्चात् विभिन्न विद्यालयों में अध्यापन । पता—अड़गड़े की गली, दाल बाजार, लश्कर (ग्वालियर) ।

मनोहर विद्यालंकार : दिल्ली में जन्म—सन् १९३८ में गुरुकुल कांगड़ी से

विद्यालंकार। दिल्ली में स्वतन्त्र व्यवसाय। प्रारम्भ से ही आर्यसमाज की गतिविधियों में रूचि। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के कई वर्ष तक उपप्रधान। गुरुकुल विश्वविद्यालय की विद्यासभा, सीनेट, सिण्डीकेट के सदस्य। गुरुकुल विश्वविद्यालय के ट्रेजरार। गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ एवं कन्या गुरुकुल देहरादून मुख्याधिष्ठाता। गुरुकुल फार्मेसी की व्यवसाय पटल के सदस्य। दर्शन और वेद के अध्ययन में रुचि। वेद-गोष्ठियों और वेद-सम्मेलनों में शोधपूर्ण निबन्धों का वाचन। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं वेद-विषयक लेख प्रकाशित। यात्रा-भ्रमण का विशेष शौक—१९५३ में रानी एलिजाबेथ के राज्याभिषेक में सम्मिलित होने के लिये इंगलैण्ड की यात्रा तथा संपूर्ण यूरोप का भ्रमण, १९५७ में विश्व युवक समारोह में मास्को-यात्रा, १९६१ में टोकियो में आयोजित विश्व सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में शामिल। खेलों में रुचि के कारण डी० डी० सी० ए० तथा एन० एस० सी० आई० (भारत राष्ट्र) क्रीड़ा-संस्थान के आजीवन सदस्य। अनेक व्यावसायिक संगठनों के प्रतिष्ठित सदस्य। पता—५२२, ईश्वर भवन, खारी बावली, दिल्ली-६।

महात्मा नारायण स्वामी (स्व०) : सन् १८६५ में सिकन्दराराऊ (अलीगढ़) में जन्म पहले तत्कालीन प्रथा के अनुसार अरबी और फारसी के मकतब में और बाद में अंग्रेजी एवं हिन्दी का ज्ञान अर्जित। मुराबाद की कचहरी में गुरुकुल वृन्दावन के मुख्याधिष्ठाता। 'आर्यमित्र' साप्ताहिक के सम्पादक। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के संस्थापकों में प्रमुख तथा उसकी स्थापना के बाद के प्रारम्भिक दिनों में स्वामी श्रद्धानन्द जी के साथ मिलकर कार्य किया। मुरादाबाद में 'शुद्धि-आन्दोलन' के कार्य का संचालन। आ० प्र० सभा उत्तरप्रदेश के कई वर्षों तक पदाधिकारी। १९२५ में मथुरा में आयोजित दयानन्द दीक्षा अर्ध शताब्दी के अध्यक्ष, १४ वर्ष तक सार्वदेशिक आ० प्र० के प्रधान। आर्य वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर की स्थापना में विशेष योगदान। १९३९ में निजाम के विरुद्ध हैदराबाद-सत्याग्रह के प्रथम डिक्टेटर। रामगढ़ (नैनीताल) में नारायण-आश्रम की स्थापना। ११ उपनिषदों की हिन्दी-टीका, वेद-रहस्य, योग रहस्य, विद्यार्थी जीवन-रहस्य, गृहस्थ जीवन-रहस्य, आत्म-दर्शन, ब्रह्म-विज्ञान, अमृत वर्षा, आर्यसमाज क्या है, कथा-माला, कर्तव्य-दर्पण. धर्म रहस्य, नारायण उपदेश, वैदिक यज्ञ रहस्य, वैदिक सन्ध्या रहस्य, वैदिक सिद्धान्त, नवीन और प्राचीन समाजवाद, मृत्यु और परलोक, प्राणायाम विधि, आत्मकथा आदि के लेखक निधन १५ अक्टूबर १९४७ को बरेली में।

महाशय कृष्ण (स्व०) : सन् १८८१ में वजीराबाद (अब पाकिस्तान) में जन्म बी० ए०। 'आर्य पत्रिका' (अंग्रेजी) तथा 'प्रकाश' (उर्दू) साप्ताहिक का संपादन 'प्रताप' (उर्दू) दैनिक 'प्रभात' (हिन्दी) दैनिक का प्रकाशन। प्रारम्भ में मुख्यतः उर्दू के माध्यम से ही पत्रकारिता को अपना कर पंजाब में आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलन का प्रचार एवं प्रसार। आर्यसमाज के अनेक सुधारवादी कार्यों में महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के अन्यतम सहयोगी। गुरुकुल कांगड़ी के संचालन में

भी अनन्य सहयोग । आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के वर्षों तक प्रधान । आर्यसमाज की ओर से निजाम हैदराबाद के विरुद्ध किये गये 'आर्य सत्याग्रह' के छठे सर्वाधिकारी । निधन २५ फरवरी १९६३ को नई दिल्ली में ।

राजा महेन्द्रप्रताप (स्व०) : मुरसान (उत्तरप्रदेश) में जन्म । प्रख्यात राजनीतिज्ञ, लेखक, समाज सुधारक । रिलीजन ऑफ लव ऐण्ड वर्ल्ड फेडरेशन के संस्थापक, टेक चेम स्कूल एण्ड कॉलेज के संस्थापक प्रेम महाविद्यालय वृन्दावन के लिये पाँच गाँवों एवं भवनों के ट्रस्ट का निर्माण । सन् १९०७ में विश्व-भ्रमण । सन् १९१५–१८ में भारत की अस्थायी सरकार के राष्ट्रपति । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय लोकसभा के सदस्य (१९५७–६२) । चालीस से अधिक पुस्तकों के लेखक ।

महेशचरण सिनहा (स्व०) : ६ नवम्बर १८८२ को लखनऊ में जन्म बी० ए०, वकालत का अध्ययन, टोकियो विश्वविद्यालय में विषय का अध्ययन, संयुक्त राज्य अमेरिका में उच्चस्तरीय अध्ययन । टोकियो में अध्ययन करते हुये राष्ट्रीयता का बीज अंकुरित तथा इस अनुभूति का जन्म कि जब तक भारत स्वतन्त्र नहीं होगा तब तक वह उन्नति नहीं कर सकेगा । अमेरिका में अध्ययन करते हुये अमरीकी जनता में भारतीय स्वातन्त्रता-संग्राम के प्रति रुचि जागृत की और भारत से अध्ययनार्थ आये भारतीय छात्रों में देश-भक्ति की भावनाएं भरीं । भारत वापस आकर लोकमान्य तिलक की अध्यक्षता में हुये सूरत के काँग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित तथा तिलक की गरम विचारधारा से प्रभावित होकर गरम दल के समर्थक बने । स्वामी श्रद्धानन्द के अनुरोध पर गुरुकुल कांगड़ी में विज्ञान विभाग के अध्यक्ष बने और विज्ञान जैसे गूढ़ विषय को हिन्दी माध्यम से प्रस्तुत करने की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया । विज्ञान के अनेक पक्षों पर जहाँ हिन्दी की पाठ्य पुस्तकों का निर्माण करने में अग्रणी कार्य किया वहाँ उसके लिये गुरुकुल के छात्रों में उचित वातावरण भी तैयार किया । प्रमुख रचनाएं हैं : रसायनशास्त्र, वनस्पति शास्त्र, विद्युत् शास्त्र आदि । निधन सन् १९४२ में ।

मुंशीराम शर्मा 'सोम' : ३० नवम्बर १९०१ को जन्म । बी० ए०, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट् । डी० ए० वी० कालेज कानपुर में अध्यापन, भारत सरकार के नेशनल प्रोफेसर संध्या गीत, श्रीगणेश गीताञ्जली, भक्तितरंगिणी, श्रुति संगीतिका, जीवनगीत. सोम सुधा (सभी काव्य), हिन्दी साहित्य के इतिहास का उपोद्घात, सूर सौरभ, पद्मावत का भाष्य, भारतीय साधना और सूर साहित्य आदि के लेखक । आर्यसमाज की गतिविधियों में विशेष योगदान । वैदिक साहित्य के स्वाध्याय-मनन-चिन्तन में विशेष अभिरुचि । विभिन्न संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत । पता–९/७० आर्य नगर, कानपुर ।

डा० युद्धवीरसिंह (स्व०) : ११ जुलाई १८९७ को जयपुर में जन्म । होम्योपैथी के ख्यातिप्राप्त चिकित्सक । सन् १९२८ में दिल्ली में फ्री डिस्पेन्सरी की स्थापना

एवं उसी के माध्यम से लाखों रोगियों की सेवा। गांधी जी के अनुयायी। गांधी जी के अंग्रेजी पत्र 'यंग इण्डिया' का उर्दू संस्करण 'नवजीवन' तथा हिन्दी पत्रिका 'खादी सन्देश' का प्रकाशन। 'नशाबन्दी सन्देश' के जन्मदाता और दिल्ली के 'नेशनल हेराल्ड' के डायरेक्टर। १९३२ में सविनय अवज्ञा आन्दोलन, १९४१ में व्यक्तिगत सत्याग्रह तथा १९४२ में भारत छोड़ो आन्दोलन के कारण जेल-यात्रा। १९५२ में दिल्ली विधानसभा के सदस्य एवं १९५५ में स्वास्थ्यमन्त्री। दिल्ली महानगर परिषद् के मनोनीत सदस्य। दिल्ली आर्यकुमार सभा के संस्थापक। होम्यपैथी सम्बन्धी दो पुस्तकें प्रकाशित। हिन्दी साहित्य सम्मेलन (दिल्ली) के अध्यक्ष। मोतीलाल नेहरू होम्योपैथिकी मेडीकल कॉलेज, दिल्ली की स्थापना। आर्यसमाज की गतिविधियों में सक्रिय योगदान। हिन्द कुष्ठ निवारण संघ के राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत अध्यक्ष। राष्ट्रीय एवं सामाजिक सेवा के प्रति सम्मान प्रदर्शन करने हेतु भारत सरकर द्वारा १९७६ में पद्मभूषण से अलंकृत।

रघुनाथप्रसाद पाठक (स्व०) : सन् १९०२ में महमूदपुर (बिजनौर) में जन्म। १९२५ से सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की सेवा में, सभा का कार्यालयाध्यक्ष तथा 'सार्वदेशिक' साप्ताहिक के प्रकाशक एवं सहायक संपादक। 'वैदिक लाइट' (अंग्रेजी) मासिक के सम्पादन में भी योगदान। प्रमुख रचनाएँ हैं : सन्ततिनिग्रह, नैतिक शिक्षा, मातृत्व की ओर, वैदिकसंस्कृति, विवाह व विवाहित जीवन (अंग्रेजी से अनूदित), वैदिक टीचिंग, वेद के १०० मन्त्रों की अंग्रेजी व्याख्या। स्वामी श्रद्धानन्द जी के निकट सम्पर्क में रहे।

राजेन्द्र जिज्ञासु : अबोहर में प्राध्यापक। आर्यजगत् के जाने-माने लेखक। विभिन्न आर्य पत्र-पत्रिकाओं में शोधपूर्ण एवं विचारपूर्ण लेख प्रकाशित। समृद्ध पुस्तकालय के स्वामी -- अनेक अमूल्य अप्राप्त पुस्तकें इस पुस्तकालय में उपलब्ध। स्वामी श्रद्धानन्द जी की 'बन्दी घर के विचित्र अनुभव' के संपादक, रक्तसाक्षी लेखराम आदि के लेखक। पता—वेद सदन, नई सूरजनगरी, अबोहर।

रामचन्द्र देहलवी (स्व०) : सन् १८८१ को नीमचनगर में जन्म। प्रारम्भिक शिक्षा डी० ए० वी० स्कूल अजमेर तथा इन्दौर में आर्यसमाज के अद्वितीय वक्ता, शास्त्रार्थ महारथी, इस्लाम एवं ईसाई मत के मर्मज्ञ विद्वान्, प्रत्युपन्नमति। प्रारम्भ में नीमच के स्कूल मे अध्यापन, तत्पश्चात् दिल्ली में रैली ब्रदर्स नामक एक अंग्रेजी फर्म में नौकरी। शास्त्रार्थ-महारथी—१९१० से १९५० तक दिल्ली में फव्वारे पर और गांधी मैदान में ईसाई तथा मुसलमान धर्म-प्रचारकों द्वारा हिन्दू धर्म पर किये गये आक्षेपों का उत्तर देने के लिये व्याख्यान देकर पर्याप्त ख्याति अर्जित। बाड़ा हिन्दूराव दिल्ली में पहली बार मौलवियों से शास्त्रार्थ, तत्पश्चात् मुजफ्फरपुर, फीरोजपुर, दीनानगर, फतहपुर हसुवा, बरेली, पिलखुआ (मेरठ) आदि नगरों में भी मौलवियों से शास्त्रार्थ। निधन ३ फरवरी १९६८ को आर्यसमाज दीवानहाल दिल्ली में।

आचार्य रामदेव (स्व०) : २१ जुलाई १८८१ को, बैजवाड़ा (होशियारपुर)

में जन्म बी० ए०। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के मुखपत्र 'आर्य पत्रिका' में सम्पादकीय विभाग में उप सम्पादक, विक्टर हाईस्कूल जालन्धर में मुख्याध्यापक, रियासत जींद में स्कूल इन्सपैक्टर, गुरुकुल कांगड़ी में मुख्याध्यापक, आचार्य एवं मुख्याधिष्ठाता प्रमुख **रचनाएं हैं** : भारतवर्ष का इतिहास, पुराणमत पर्यालोचन, दयानन्द दिग्विजय। 'वैदिक मैगजीन' के सम्पादक। हिन्दी अंग्रेजी के अच्छे लेखक, उच्चकोटि के विचारक एवं आर्य-सिद्धान्तों के प्रमुख वक्ता। 'वैदिक मैगजीन' में प्रकाशित इनके लेखों को पढ़कर टालस्टाय तथा रोम्यां रोला जैसे अनेक विचारक प्रभावित। १३–१४ वर्ष की आयु में ही महात्मा मुंशीराम से सम्पर्क और उनसे प्रभावित। महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के धर्मपुत्र तथा जीवन-निर्माण में महात्मा जी का महत्त्वपूर्ण योगदान। सन् १९०२ से १९१७ तक महात्मा मुंशीराम जी के साथ कंधे से कंधे मिलाकर गुरुकुल के विकास के लिये कार्य। जीवन का एकमात्र लक्ष्य वैदिक संस्कृति का पुनरुद्धार और वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार। सन् १८९९ में आर्य कुमार सभा की स्थापना एवं उसके प्रधानमन्त्री। कन्या गुरुकुल देहरादून की उन्नति में धन-संग्रह, एवं प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन आदि के द्वारा सहयोग। १९३५ में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान निर्वाचित। १९२५ में गुरुकुल कांगड़ी के लिये धन-संग्रह हेतु अफ्रीका की यात्रा। १९३२–३३ में सत्याग्रह-आन्दोलन में सम्मिलित तथा कांग्रेस के डिक्टेटर की हैसियत से एक वर्ष का कारावास। निधन ९ दिसम्बर १९३९ को देहरादून में।

रामनाथ वेदालंकार : ७ जुलाई १९१४, को फरीदपुर (बरेली) में जन्म। वेदालंकार (गुरुकुल, १९३६), एम० ए० संस्कृत (आगरा), पी-एच० डी० संस्कृत (आगरा)। रूपगढ़ (जयपुर) में ग्राम-सेवाश्रम की स्थापना और उसके प्रधानाध्यापक गुरुकुल कांगड़ी के विद्यालय विभाग में अध्यापक, गुरुकुल विश्वविद्यालय में वेदोपाध्याय, संस्कृत विभाग के अध्यक्ष, रजिस्ट्रार, आचार्य एवं प्रोवाइसचांसलर पंजाब विश्वविद्यालय की महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसन्धान पीठ से प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, सम्प्रति स्वाध्याय एवं लेखन। प्रमुख **रचनाएं हैं** : वैदिक वीर गर्जना, वैदिक सूक्तियाँ, वेदों की वर्णन शैलियाँ, विचार और झांकियाँ (श्री अरविन्द के 'थॉट्स एण्ड ग्लिम्सेज' का अनुवाद), वेद रहस्य १ म भाग नलचम्पू (संस्कृत-हिन्दी-टीका), अग्निहोत्र-दर्पण उ० प्र० शासन की संस्कृत अकादमी द्वारा पुस्तक वेदमञ्जरी, वैदिक नारी, महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कलाकौशल सम्बन्धी विचार (दयानन्दविचारकोश, भाग १), वेदभाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियाएं, वैदिकशब्दार्थविचारः, वैदिक प्रार्थना-पुष्पांजलि। संप्रति सामवेद भाष्य करने में व्यस्त। वेद-उपनिषद् आदि पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में शोधपूर्ण लेख प्रकाशित, विभिन्न विश्वविद्यालयों की शोध एवं पाठ्यक्रम-समिति के विशेषज्ञ-सदस्य, वर्षों तक वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के विशिष्ट परिषद् के सम्मानित सदस्य। **पता**—I/११९ फूलबाग, पन्तनगर (नैनीताल)।

रामनारायण यादवेन्दु (स्व०) : सन् १६०६ में आगरा में जन्म । बी० ए० एल० एल० बी० । 'विश्वमित्र' मासिक (कलकत्ता) का संपादन, 'विश्व दर्शन' मासिक (दिल्ली) का सम्पादन, आगरा में नवयुग साहित्य निकेतन नामक प्रकाशन-संस्था की स्थापना एवं संचालन । प्रमुख रचनाएं हैं : कहानी कला, राष्ट्र संघ और विश्व शान्ति, दाम्पत्य जीवन, आदर्श पत्नी, इन्दिरा के पत्र, समाजवाद गान्धीवाद भारतीय शासन विधान, भारत का दलित समाज, साम्प्रदायिक समस्या, हिटलर की नई युद्धकला, हिटलर की विचारधारा, भारतीय संस्कृति और नागरिक, यदुवंश का इतिहास, अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञानकोश, ग्रामस्वराज्य, आदि । आर्यसमाज और वैदिक धर्म के प्रति अटूट आस्था ।

रुचिराम साहनी (स्व०)—५ अप्रैल १८६३ को, डेरा इस्माइल खाँ (पं पाकिस्तान) में जन्म एम० ए० (एम० एस सी० समकक्ष) । स्वामी श्रद्धानन्द जी के काल में गुरुकुल कांगड़ी में विज्ञान के प्राध्यापक । आर्यसमाज के नेता पं० गुरुदत्त, स्वामी श्रद्धानन्द, लाला हरदयाल आदि से प्रभावित । 'ब्रह्मसमाज' के प्रति रुझान, पजाब में 'ब्रह्मसमाज' के संस्थापक सदस्य तथा संपूर्ण जीवन पंजाब में ब्रह्मवाद के प्रसार में तत्पर । सामाजिक एवं शैक्षिक सुधार सम्बन्धी आन्दोलनों में सक्रिय भाग । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा संचालित देशव्यापी स्वतन्त्रता-संग्राम में महत्त्वपूर्ण योगदान । । 'ट्रिव्यून' के संस्थापक ट्रस्टी । दयालसिंह पब्लिक लाइब्रेरी दयालसिंह कॉलेज लाहौर के अवैतनिक मंत्री । गुरु का बाग सत्याग्रह में सहयोग । १६२६–२६ में पंजाब विधानसभा के सदस्य । पंजाब विज्ञान संस्थान के संस्थापक । १६२६ में अखिल भारतीय समाजविज्ञान सम्मेलन की स्वागत समिति के अध्यक्ष । कई वर्ष तक पंजाब विश्वविद्यालय (लाहौर) के फैलो । १६१४ में विदेशयात्रा । निधन सन् १६५६ में ।

विद्यारत्न:—प्रारम्भिक शिक्षा मुलतान गुरुकुल में । श्री प्रकाशचन्द्र जी वेदालङ्कार के छोटे भाई । आर्य समाज की गतिविधियों में विशेष रुचि । पता-- बी ७६२ श्याम पार्क, शहीद मंगलपाण्डे चौक, साहिबाबाद (गाजियाबाद)

विधुशेखर भट्टाचार्य (स्व०) : १८७८ में हरिश्चन्द्रपुर (मालदह, पं बंगाल) में जन्म । काव्यतीर्थ (कलकत्ता), शास्त्री (बनारस) । विश्वभारती शान्ति निकेतन में संस्कृत के अध्यापक पं कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष । गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के संपर्क से फारसी, जर्मन, तिब्बती और चीनी भाषाओं का अध्ययन तथा पालि भाषा एवं बौद्ध दर्शन का गहन ज्ञान । छात्रजीवन में ही काव्य-रचना में प्रावीण्य । न्याय, दर्शन, व्याकरण, पालि तथा बौद्ध धर्म पर लगभग १७ मौलिक एवं संपादित ग्रन्थों का प्रणयन । संस्कृत वाङ्मय के अनेक लुप्त ग्रन्थों का पुनरुद्धार । हिन्दी को सार्वदेशिक व्यवहार की भाषा बनाने के कट्टर समर्थक । प्रखर वैदुष्य से प्रभावित होकर भारत सरकार द्वारा सन् १६३६ में 'महामहोपा-

ध्याय' की तथा सन् १९५७ में विश्वभारतीय द्वारा 'देशिकोत्तम' की उपाधि से सम्मानित । निधन सन् १९५७ में ।

विश्वनाथ विद्यालङ्कार विद्यामार्तण्ड : मार्च १८९२ में जन्म वजीराबाद (पाकिस्तन) में सन् १९१४ में गुरुकुल कांगड़ी से विद्यालंकार । कई वर्ष तक गुरुकुल कांगड़ी में वेद, दर्शन तथा रसायनशास्त्र के उपाध्याय एवं उपाचार्य, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के वैदिक अनुसंधान विभाग के अध्यक्ष, संप्रति स्वाध्याय एवं लेखन प्रमुख रचनायें हैं : सामवेद भाष्य अथर्ववेद भाष्य, वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा । वीर माता का उपदेश, बाल सत्यार्थप्रकाश, बाल ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, संध्या रहस्य,वैदिक जीवन, वैदिक गृहस्थाश्रम, आदि । गुरुकुल की स्थापना के समय सर्वप्रथम प्रविष्ट होने वाले छात्र । वेदों के उद्भट विद्वान् । दलितोद्धार में प्रमुख भूमिका । आर्यसमाज की गतिविधियों में सक्रिय योगदान । गुरुकुल विश्वविद्यालय की मानद उपाधि 'विद्यामार्तण्ड' से सम्मानित । ९५ वर्ष की आयु में भी सतत लेखन एवं स्वाध्याय में तत्पर । पता—६१ कांवली रोड, देहरादून ।

वेदानन्द तीर्थ--सन् १८९४ में उज्जैन (म० प्र०) में जन्म लाहौर के दयानन्द उपदेशक विद्यालय में मुख्याध्यापक, तत्पश्चात् इसी के आचार्य, खेड़ा खुर्द (दिल्ली के निकट) में विरजानन्द वैदिक संस्थान की स्थापना और उसके माध्यम से वेदों के, स्वाध्याय, लेखन और प्रचार-कार्य में तत्पर स्वाध्याय संदोह, स्वाध्याय संग्रह, सावित्री प्रकाश, स्वाध्याय सुमन, वेदामृत, वेद-प्रवेश, वेदोपदेश, वैदिक धर्म, श्रुतिसूक्ति-शैली, राष्ट्र रक्षा के वैदिक साधन वेद परिचय, आर्यसमाज और राजनीति, संध्यालोक, नैमित्तिक वेदपाठ, पंच महायज्ञ विधि, आदि पुस्तकों के लेखक संन्यासाश्रम में दीक्षित होने के बाद महात्मा मुंशीराम के अनुरोध पर गुरुकुल कांगड़ी में आगमन तथा वहाँ रह कर स्वाध्याय जारी रखना । वेदों के प्रति अगाध निष्ठा । सार्वदेशिक दयानन्द भिक्षु मण्डल के अध्यक्ष । 'वेद पथ' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन । आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान निर्वाचित । अच्छे संगठक, प्रकाण्ड विद्वान् और कुशल लेखक । 'सत्यार्थप्रकाश' का शोधपूर्ण टिप्पणियों सहित एवं मोटे टाइप वाले बृहत् संस्करण का प्रकाशन । निधन २७ नवम्बर १९५६ को दिल्ली में ।

शंकरदेव विद्यालङ्कार स्व०—सन् १९०७ में मलवाड़ा (गुजरात) में जन्म १९२८ में वेदालङ्कार एम० ए० हिन्दी-संस्कृत (आगरा) सूपा गुरुकुल, और गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापक महिला कालेज पोरबन्दर में संस्कृत के प्राध्यापक एवं उपाचार्य तथा कन्या गुरुकुल पोरबन्दर के प्रबन्धक, सेठ नानजी भाई कालिदास मेहता के निजी ट्रस्ट के व्यवस्थापक ट्रस्टी । प्रमुख रचनाएँ हैं : रवीन्द्रकथा (कथा संग्रह), नैवेद्य (गद्य-काव्य), चित्रांगदा (नाटिका), फूलों की डाली (गद्यकाव्य), भूले पंछी (गद्यकाव्य), अंतिम पाठ (कथा संग्रह), प्राचीन भारत के विद्यापीठ, जीवन तथा संस्कृति, आर्यसमाज शिक्षादर्शन (तीनों अभिनन्दन-ग्रन्थों का

संपादन) आदि । नागपुर के विश्व हिन्दी सम्मेलन में अहिन्दीभाषी प्रदेश के प्रकाण्ड हिन्दी-विद्वान् के रूप में सम्मानित । नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी के प्रतिष्ठित सदस्य । विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित । निधन २ अप्रैल १६८१ को बम्बई में ।

शिदयालु : जन्म—सन् १६०० में मेरठ में । पुस्तक विक्रेता के रूप में व्यवसाय । उपनिषद् त्रयी, शतकत्रयी, गायत्री शतक, महान् दयानन्द । लगभग ६५ पुस्तकों एवं पुस्तिकाओं का लेखन । जिनमें प्रमुख हैं सन् १६१६ में मेरठ में कांग्रेस का कार्य जिला कांग्रेस कमेटी के मंत्री तथा प्रधान । प्रान्तीय हिन्दुस्तानी सेवादल के मंत्री । सन् १६३० में हैदराबाद सत्याग्रह आन्दोलन में सक्रिय भाग । सन् १६४० में आचार्य अभयदेव जी के साथ मिल कर तत्कालीन वायसराय को सत्याग्रह का अल्टी मेटम तथा सफलता । सन् १६४२ में 'करो या मरो, आन्दोलन में मेरठ जिला कांग्रेस कमेटी की ओर से डिक्टेटर पद पर नियुक्ति । सन् १६४३ में जेलयात्रा; तीन बार कारावास तदनन्तर कांग्रेस छोड़ कर जनसंघ में सम्मिलित (१६५० में) । 'आर्यमित्र' का संपादन (दो वर्ष तक) । आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के उपमंत्री, मंत्री एवं उपप्रधान । आर्यवीर दल के संयोजक । खाकसार आन्दोलन का सामना करने के लिये पचास हजार आर्यवीर सैनिकों का संगठन ।

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्व०—१६ सितम्बर १८६७ को कोल गांव (महाराष्ट्र) में जन्म । बम्बई के जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट्स से कला की विधिवत् शिक्षा प्राप्त, निजी स्वाध्याय के बल पर वैदिक वाङ्मय का गहन ज्ञान अर्जित । हैदराबाद में चित्रकार के रूप में कार्य, गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापन, औंध (सातारा) के महाराजा के यहाँ चित्रकार, स्वाध्याय मण्डल की स्थापना तथा वैदिक साहित्य के निर्माण तथा प्रकाशन का कार्य, 'वैदिक धर्म' मासिक का संपादन । **प्रमुख रचनाएं हैं** चारों वेदों का भाष्य, वैदिक चिकित्सा, वेद में कृषि विद्या, वेदों में चर्खा, वैदिक सर्पविद्या, वेद परिचय, वेद स्वयं शिक्षक, वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत की टीकाएँ, वैदिक राष्ट्रीय गीत आदि । 'वैदिक राष्ट्रीय गीत' के कारण तत्कालीन ब्रिटिश सरकार रुष्ट तथा २ वर्ष का कारावास । महात्मा मुंशीराम के अनुरोध पर गुरुकल आकर अध्यापन । साहित्य सम्बन्धी विविध सेवाओं को दृष्टिगत करते हुये गुरुकुल विश्वविद्यालय द्वारा विद्यामार्तण्ड', अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मलेन द्वारा 'साहित्य वाचस्पति' तथा भारत के राष्ट्रपति द्वारा 'पद्म भूषण' से सम्मानित । राजधानी में सार्वजनिक अभिनन्दन तथा अभिनन्दनग्रन्थ भेंट । स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय, महात्मा गांधी से घनिष्ठता । निधन ३१ जुलाई १६६८ को पारडी में ।

संतराम—४ फरवरी १८८७, को पुरानी वसी (होशियारपुर) में जन्म बी० ए० । 'उषा' मासिक के संपादक-प्रकाशक, 'भारती' (जालंधर) के संपादक, युगान्तर 'क्रांति' (उर्दू) एवं 'जात-पात तोड़क' (लाहौर) के संपादक, विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान

होशियारपुर में कार्य । ५० से अधिक पुस्तकों के लेखक; प्रमुख पुस्तकें हैं दम्पति-मित्र, एकाग्रता और दिव्य शक्ति, विवाहित प्रेम, काम-कुंज, वीरपेशवा, हमारा समाज, मानव जीवन का विधान, इत्सिग की भारत यात्रा, अलबेरुनी का भारत, दयानन्द, जाति-भेद का उच्छेद आदि । हिन्दी, उर्दू, पंजाबी, संस्कृत, फारसी एवं अंग्रेजी भाषाओं के ज्ञाता । पंजाब में हिन्दी को लोकप्रिय बनाने में सक्रिय योगदान, जात-पात तोड़क मंडल की स्थापना तथा समाज-सुधार विषयक सशक्त साहित्य के रचयिता । स्वामी श्रद्धानन्द जी के साथ शुद्धि एवं दलितोद्धार सम्बन्धी कार्यों में सहयोग । **पता**—द्वारा । श्री बी० एस० चड्ढ़ा, ५१ नवजीवन विहार, नई दिल्ली–१७ ।

सत्यकेतु विद्यालङ्कार—१९ सितम्बर १९०३ को आलमपुर (सहारनपुर) में जन्म विद्यालङ्कार (गुरुकुअ, १९२४), डी० लिट्) (पेरिस) । दैनिक 'अर्जुन' के सहायक संपादक, गुरुकुल कांगड़ी में इतिहास के उपाध्याय, विविध व्यवसाय एवं साहित्य सृजन, 'सरस्वती सदन' नामक प्रकाशन-संस्था की स्थापना, स्तातक निर्वाचन क्षेत्र रुहेलखण्ड से विधान परिषद् के सदस्य (१९६२--६८), गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति एवं मुख्याधिष्ठाता, संप्रति गुरुकुल विश्वविद्यालय के कुलाधपति तथा साहित्य-सृजन में व्यस्त । **प्रमुख रचनायें हैं** : मौर्य साम्राज्य का इतिहास, प्राचीन भारत की शासन संस्थाएँ और राजशास्त्र आचार्य विष्णुगुप्त चाणक्य, यूरोप का आधुनिक इतिहास, सेनानी पुष्यमित्र, एशिया का आधुनिक इतिहास, राजनीतिशास्त्र, भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, मध्य एशिया और चीन में भारतीय संस्कृति, विदेशी राज्यों की शासन विधि, भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, स्वतन्त्र भारत का संविधान, समाजशास्त्र, अन्तर्दाह, होटल मॉडर्न, वसीयतनामा, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, आर्यसमाज का इतिहास आदि । अधिकांश कृतियाँ विभिन्न संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत । साहित्य-सेवा के लिये गुरुकुल विश्वविद्यालय द्वारा मानद उपाधि 'विद्यामार्तण्ड' से सम्मानित । नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी के आजीवन सदस्य तथा अखित भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सदस्य, राष्ट्रीय श्रम-संस्थान के भारत सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य । उच्च शिक्षा के लिये पेरिस-यात्रा, भारत सरकार के शिष्ट-मंडल के सदस्य के रूप में चीन की यात्रा । **पता**—ए १।३२ सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिल्ली–२९ ।

सत्यदेव विद्यालङ्कार—१ अक्टूबर १८९७ को, नाभा (पू० पंजाब) में जन्म विद्यालङ्कार (गुरुकुल, १९२०) । दैनिक 'विजय', (दिल्ली), 'राजस्थान केसरी' (नागपुर), दैनिक 'मारबाड़ी', 'प्रणवीर' (नागपुर), 'नवयुग' (अकोला), दैनिक 'स्वतन्त्र' (कलकत्ता), दैनिक 'विश्वमित्र' (कलकत्ता), दैनिक 'विश्वमित्र' (दिल्ली, 'अमर भारत' (दिल्ली) में संपादन, दैनिक 'हिन्दुस्तान' (दिल्ली) और दैनिक 'नवप्रभात' (उज्जैन, इन्दौर, भोपाल) के आदि संपादक । **प्रमुख रचनायें हैं**—गांधी जी का मुकदमा, दयानन्द दर्शन, जनरल अवारी, आर्यसमाज किस और, स्वामी

श्रद्धानन्द, आर्य सत्याग्रह, जयहिन्द (तीन खण्डों में), लालकिले में, टोकियों से इम्फाल, जीवन संघर्ष (महाशय कृष्ण का जीवन-चरित्र), धुन के धनी (जयनारायण व्यास का जीवन परिचय), बसंतलाल मुरार का स्मृति ग्रन्थ, आज का मध्य भारत, परदा, राष्ट्रधर्म, हमारे राष्ट्रपति, लाला देवराज, राष्ट्रवादी दयानन्द आदि। छात्रावस्था से ही पत्रकारिता के प्रति रुचि होने के कारण गुरुगुल में 'राजहंस', 'अद्भुत', 'विजयदशमी' (दैनिक) तथा 'समालोचक' (दैनिक) हस्तलिखित पत्रों का संपादन। स्वामी श्रद्धानन्द जी के 'सद्धर्म प्रचारक' एवं 'श्रद्धा' में कार्य करते हुये पत्रकारिता की दीक्षा प्राप्त। १९२० में गांधी जी और जमनालाल बजाज के निकट संपर्क में आकर वर्धा-आश्रम में निवास। राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेने के कारण कई बार जेलयात्रायें। १९५४ में प्रज्ञाचक्षु होने के बावजूद भी धुन के धनी होने के कारण अपना लेखन-कार्य निरन्तर जारी रखा और जीवन पर्यन्त इसी में लगे रहे। ३१ मार्च १९३५ को पंजाब सरकार द्वारा 'जय साहित्य' नामक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करके सम्मानित। निधन २५ जून १९६५ को दिल्ली में।

सत्यदेव विद्यालङ्कार—७ अप्रैल १९०४ को सरहाला कलां (होशियारपुर) में जन्म विद्यालङ्कार (गुरुकुल, १९७६), शास्त्री, एम० ए० संस्कृत व हिन्दी (पंजाब) डी० ए० वी० स्कूल मिन्टगुमरी में अध्यापक, डी० ए० वी० कालेज जालन्धर में प्राध्यापक, अन्तर्राष्ट्रीय उपदेशक विद्यालय टंकारा (गुजरात) के आचार्य, संप्रति स्वाध्याय-मनन-चिंतन में व्यस्त। **प्रमुख रचनायें हैं :** प्लेटो तथा शंकराचार्य की तुलना (अंग्रेजी में)। आर्यसमाज व वैदिक धर्म के प्रचार प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान। विविध पत्र-पत्रिकाओं में विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित। पता—शान्ति सदन, १४५/४ सेण्ट्रल टाउन, जालन्धर नगर (पंजाब)।

डॉ० सत्यपाल (स्व०) : जन्म १८८५ में वजीराबाद (पाकिस्तान)। **शिक्षा**—एम० बी० बी० एस० (लाहौर)। **कार्य**—आई० एम० एस० में चिकित्सक (१९३९–४५)। प्रारम्भ से सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भाग। प्रगति शील राष्ट्रवादी नेता। अमृतसर के सुप्रसिद्ध नेता के रूप में रॉलेट-ऐक्ट विरोधी आन्दोलन में सम्मिलित। अमृतसर में हिन्दू-मुसलमान राष्ट्रवादी कार्य-कर्त्ताओं के एक समूह का गठन तथा गांधी जी के नेतृत्व में स्वतन्त्रता-संग्राम में सक्रिय रूप से सम्मिलित। जलियां वाला कांड से ठीक पहले गिरफ्तार। १९१९ में स्वामी श्रद्धानन्द जी के साथ मिल कर अमृतसर कांग्रेस-अधिवेशन को सफल बनाने के लिये अथक प्रयास। स्वतन्त्रता-संग्राम में कई बार जेल-यात्रा। पंजाब विनान-सभा के अध्यक्ष। "कांग्रेस' (उर्दू) नाम से एक समाचार-पत्र का प्रकाशन सिक्स्टी ईयर्स ऑफ कांग्रेस' के सहलेखक। निधन सन् १९४५ में।

प्रोफेसर सुधाकर (स्व०) : सन् १८८९ में राजड़ (खुशाब) में जन्म—एम० ए० (लाहौर)। देहरादून के एक हाई स्कूल में अध्ययन, गुरुकुल कांगड़ी में प्राध्यपक १९१३–२०), दिल्ली के कॉमर्शियल कॉलेज के प्रधान संचालक, 'नेशन' (अंग्रेजी)

के संपादक, महाराजा शाहपुराधीश के पुत्रों के शिक्षक, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री एवं प्रधान, 'सार्वदेशिक' साप्ताहिक के संपादक। **रचानएँ**—मनोविज्ञान (मंगलाप्रसाद पुरस्कार से सम्मानित) बालोपयोगी अनेक पुस्तकें। सन् १९३४ में हैदराबाद में निज़ाम के विरुद्ध सत्याग्रह की सफलता में महत्त्वपूर्ण योगदान, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित। निधन १९ जून १९४८ को।

सुरेशचन्द्र वेदालंकार : १७ अक्टूबर १९१७ को हाटा (गोरखपुर) में जन्म। १९३९ में वेदालंकार, एम० ए० हिन्दी (आगरा), एल० टी० (उत्तर प्रदेश)। गांधी सेवक संघ द्वारा संचालित मजदूर सेवक संघ अहमदाबाद तथा हरिजन सेवक संघ गोरखपुर में कार्य, गुरुकुल महाविद्यालय वैद्यनाथ धाम (बिहार) में अध्यापक एवं प्रधानाचार्य, गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में अध्यापक, गुरुकुल कुरुक्षेत्र में अध्यापक, 'आरोग्य' मासिक का संपादन, डी० बी० कॉलेज गोरखपुर में हिन्दी प्राध्यापक, संप्रति वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार एवं लेखन में व्यस्त। **प्रमुख रचाएँ हैं**—प्रार्थना मन्त्र, मन अपार शक्ति, मातृभूमि वंदना, आकर्षक व्यक्तित्व, यम-नियम, साहसी बनो, सखी की सीख, हँसते-हँसते जीना, माँ की लोरियाँ. भाषा दर्पण, वैदिक राजनीति, सत्यार्थप्रकाश की व्याख्या, प्रभात वन्दन, आर्यसमाज के दश नियम, पंच महायज्ञ का महत्त्व, ईशोपनिषद् लेखमाला, कठोपनिषद् लेखमाला, बालविनोद आदि। **पता**—१७५ जाफरा बाजार, गोरखपुर।

सोमदत्त विद्यालंकार : राहों (जालन्धर) में जन्म। १९२३ में विद्यालंकार कई वर्ष तक गुरुकुल कुरुक्षेत्र के आचार्य, अर्जुन प्रेस दिल्ली के मैनेजर, गुरुकुल कांगड़ी सहारनपुर के मुख्याधिष्ठाता एवं व्यवसायाध्यक्ष, कन्या गुरुकुल देहरादून के सहा० मुख्याधिष्ठाता, विजय प्रेस दिल्ली के मैनेजर, श्री जयदयाल डालमिया के यहाँ बच्चों के संरक्षक व शिक्षक, आर्य प्रचार समिति बम्बई के मन्त्री, उड़ीसा में सीमेंट फैक्टरी के सोशल वेलफेयर ऑफीसर, संप्रति आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों में व्याख्यान, स्वाध्याय आदि व्यस्त। ख्यातिप्राप्त वक्ता, लेखक, विचारक एवं प्रबन्धपटु प्रशासक। **पता**--एच ३११ न्यू राजेन्द्रनगर, नई दिल्ली।

श्रीमती स्वर्णलता : स्वामी श्रद्धानन्द जी की दौहित्री। परिचय 'कुटुम्बीजन' एक परिचय' के अन्तर्गत पृष्ठ ३२ पर है।

हरिदत्त वेदालंकार : सन् १९१७ जम्मू में जन्म। वेदालंकार (गुरुकुल, १९३८), एम० ए० संस्कृत एवं इतिहास (आगरा)। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में तुलनात्मक धर्मविज्ञान के उपाध्याय, इतिहास तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष, गुरुकुल के पुरातत्त्व संग्रहालय के संस्थापक एवं अध्यक्ष पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय में अनुवाद एवं प्रकाशन निदेशालय के निदेशक, संप्रति स्वतन्त्र लेखन में व्यस्त। **प्रमुख रचनाएँ है** : अन्तर्राष्ट्रीय कानून, भारत की सांस्कृतिक दिग्विजय, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, हिन्दू विवाह का इतिहास.

प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, आधुनिक राजनीतिक चिंतन का इतिहास प्रमुख राजनीतिक विचारक, हिन्दू परिवार मीमांसा, कालिदास के पक्षी, भारतस्य सांस्कृतिक दिग्विजय : आदि। अधिकांश कृतियाँ विभिन्न संस्थाओं एवं सरकारों द्वारा पुरस्कृत। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में ऐतिहासिक विषयों पर खोजपूर्ण लेख प्रकाशित। स्नातक होने के बाद वर्धा-शिक्षा-योजना के विशेष अध्ययन के लिये वर्धा-गमन, 'आर्यसमाज का इतिहास' के सहयोगी लेखक। साहित्य-सेवा के प्रति आभार प्रकट करने के लिये गुरुकुल विश्वविद्यालय द्वारा १९७६ में विद्यामार्तण्ड की मानद उपाधि से सम्मानित। **पता**—प्राची, एफ २२० पांडवनगर, दिल्ली—९२।

❂

संदर्भ-साहित्य

अमर धर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द : धर्मदेव वेदवाचस्पति, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, १९५०,

अमर शहीद स्वामी श्रद्धानन्द मेरे-पिता अमर : इन्द्र विद्यावाचस्पति, सरस्वती बिहार, नई दिल्ली

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द : सत्यकाम विद्यालंकार, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, १९७६,

आचार्य रामदेव-जीवन झांकी : यशःपाल सिद्धान्तालंकार, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब लाहौर, १९४६,

आत्मकथा महात्मा नारायण स्वामी : (संपादक डॉ० कपिलदेव द्विवेदी), विश्वभारती अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर, १९८२,

आर्यसमाज का इतिहास (तृतीय भाग) : डॉ सत्यकेतु विद्यालंकार एवं प्रो० हरिदत्त वेदालंकार, आर्य स्वाध्याय केन्द्र नई दिल्ली, १९८२,

आर्यसमाज-शिक्षा-दर्शन : (श्री महेन्द्र प्रताप शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ) : संपादक डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय हाथरस, १९८०,

कल्याण मार्ग का पथिक : स्वामी श्रद्धानन्द, ज्ञानमंडल कार्यालय वाराणसी,

गांधी साहित्य-७ (मेरे समकालीन) : संपादक विष्णु प्रभाकर, सस्ता साहित्य मण्डल दिल्ली,

गुरुकुल के ६० वर्ष : इन्द्र विद्यावाचस्पति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, १९६०,

दिवंगत हिन्दी-सेवी (खण्ड १, २) : क्षेमचन्द सुमन, शकुन प्रकाशन नई दिल्ली, १९८१,

पण्डित सातवलेकर जीवन प्रदाप : पु० पां० गोखले, उषा प्रकाशन पारडी, १९६८,

बलिदान स्मारिका : संपादक विमलचन्द्र विमलेश, दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली, १९७६,

महादेव भाई की डायरी (खण्ड ७) : संपादक चन्दुलाल भगुभाई दलाल, सर्व सेवा संघ प्रकाशन वाराणसी, १९६६,

मेरी आत्मकथा : गंगाप्रसाद एम० ए०, आर्य साहित्य मण्डल अजमेर, १९५४,

मेरी आत्मकथा के कुछ पृष्ठ : आचार्य रामदेव, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब जालन्धर, १९७७,

राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन (अंश १) : जयचन्द्र विद्यालंकार, हिन्दी भवन इलाहाबाद,

वातायन : आचार्य चतुरसेन शास्त्री, भारती प्रकाशन इलाहाबाद, १९५८,

श्रद्धानन्द दर्शन : धर्मवीर वेदालंकार एवं नारायणदत्त, अखिल भारतीय श्रद्धानन्द स्मारक ट्रस्ट दिल्ली, १९९३ विक्रमी,

संपूर्ण गांधी वाङ्मय (खण्ड १३, १५, ३२) : प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय नई दिल्ली, १९६६,

स्नातक परिचायिका : संपादक डॉ० विनोदचन्द्र विद्यालंकार, अखिल भारतीय स्नातक मण्डल दिल्ली, १९७६,

स्मारिका (स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान अर्द्ध शताब्दी) : संपादक डॉ० विजयवीर विद्यालंकार, वैदिक आदर्श कार्यालय, नारायणगुड्डा, हैदराबाद, १९७६,

स्वामी श्रद्धानन्द : सत्यदेव विद्यालंकार, विजय पुस्तक भण्डार दिल्ली, १९३३,

हिन्दी पत्रकारिता के विविध आयाम : डॉ० वेदप्रताप वैदिक, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली, १९७६,

अंग्रेजी-पुस्तकें

Inside Congress : Swami Shraddhanand, Dayanand Sansthan Delhi, 1983.

Swami Shraddhanand : K. N. Kapur, Arya Pratinidhi Sabha Punjab Jullundur, 1978.

The Ordeal of Love—C. F. Andrwes and India : Hugh Tinker, Oxford University Press Delhi, 1979.

Who's Who of Delhi Freedom Fighthers (Vot. I) : Dr. (Mrs.) Prabhea Chopra Gaszetteer Unit, Delhi Administration Delhi, 1974.

पत्र-पत्रिकाएँ

अलंकार (श्रद्धानन्द अंक, जनवरी १९३५) : संपादक अभय विद्यालंकार, अखिल भारतीय स्नातक मण्डल, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,

आर्य (२ पौष २००२ विक्रमी) : स० संपादक जगदीश, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब लाहौर,

आर्य जगत् (बलिदान और स्मृति अंक, २८ दिसम्बर १९८०) : संपादक क्षितीश वेदालंलार, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली,

गुरुकुल पत्रिका (माघ-पौष २००५ विक्रमी, पौष २००६ विक्रमी, माघ-पौष २००८, मार्गशीर्ष २०१० तथा मार्गशीर्ष-पौष २०११) : संपादक रामेश वेदी एवं शंकरदेव विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार,

गुरुकुल पत्रिका (श्रद्धानन्द जन्म-शताब्दी विशेषांक, मार्च १९५७) : संपादक रामेश वेदी एवं शंकरदेव विद्यालंकार, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार,

गुरुकुल पत्रिका (हीरक जयन्ती विशेषांक, चैत्र २०१६ विक्रमी-वैशाख २०१७ विक्रमी) : संपादक धर्मदेव विद्यामार्तण्ड गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार,

D 68 14

गुरुकुल पत्रिका (पौष २०२३) : संपादक धर्मदेव विद्यामार्तण्ड, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार,

जन ज्ञान (मार्गशीर्ष २०४०) : संपादक श्रीमती राकेश रानी, दयानन्द संस्थान वेदमन्दिर दिल्ली,

शुद्धि समाचार (जनवरी फरवरी १९२७ तथा दिसम्बर-जनवरी १९२८) : संपादक स्वामी चिदानन्द, भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा दिल्ली,

श्रद्धा (२ ज्येष्ठ १९७७ विक्रमी तथा १२ आषाढ, १९७७ विक्रमी) : संपादक श्रद्धानन्द संन्यासी, गुरुकुल कांगड़ी,

सद्धर्म प्रचारक (१९७० विक्रमी के विविध अंक) : संपादक महात्मा मुंशीराम, गुरुकुल कांगड़ी,

सार्वदेशिक (सन् १९४२ और १९४५) के विविध अंक : संपादक धर्मदेव विद्यावाचस्पति, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली,

सार्वदेशिक (श्रद्धानन्द अंक, दिसम्बर १९७१) : सह संपादक रघुनाथ प्रसाद पाठक, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली,

———

चित्रावली

वकील से बलिदान तक विविध रूपों एवं अवसरों में

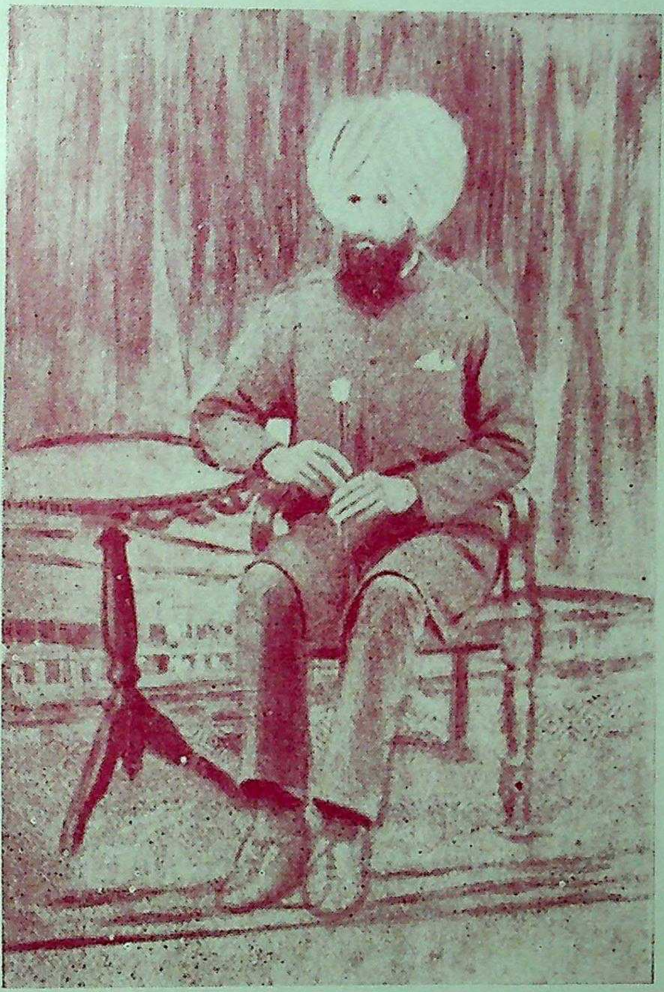

श्री मुंशीराम वकील
(सन् १८८६ में)

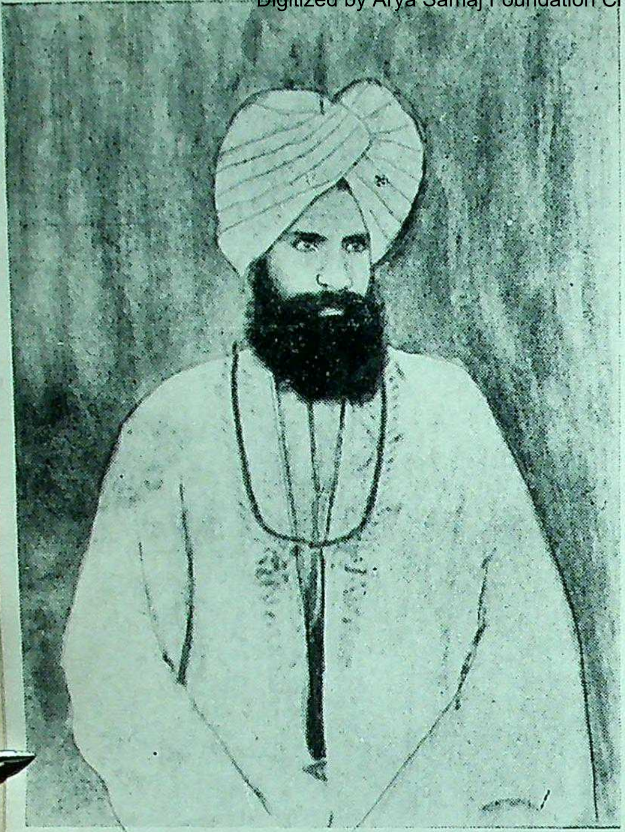

वकील की
वेशभूषा में
लाला मुंशीराम

लाला मुंशीराम
(सन् १८९४ में)

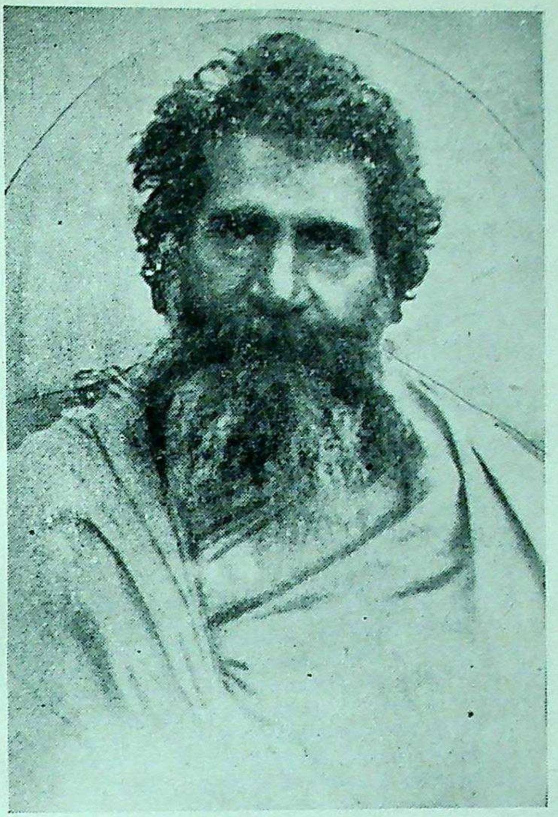

गुरुकुल के आचार्य एवं मुख्याधिष्ठाता के रूप में (सन् १९१० में)

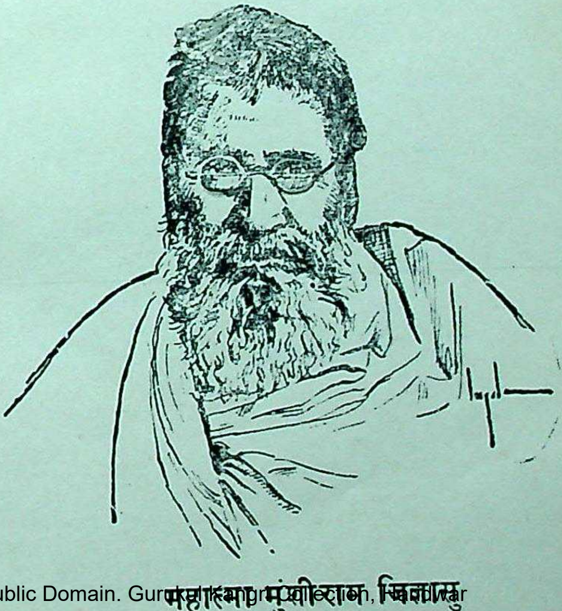

महात्मा मुंशीराम जिज्ञासु

सन् १९१३ में गुरुकुल के प्राध्यापकों के साथ

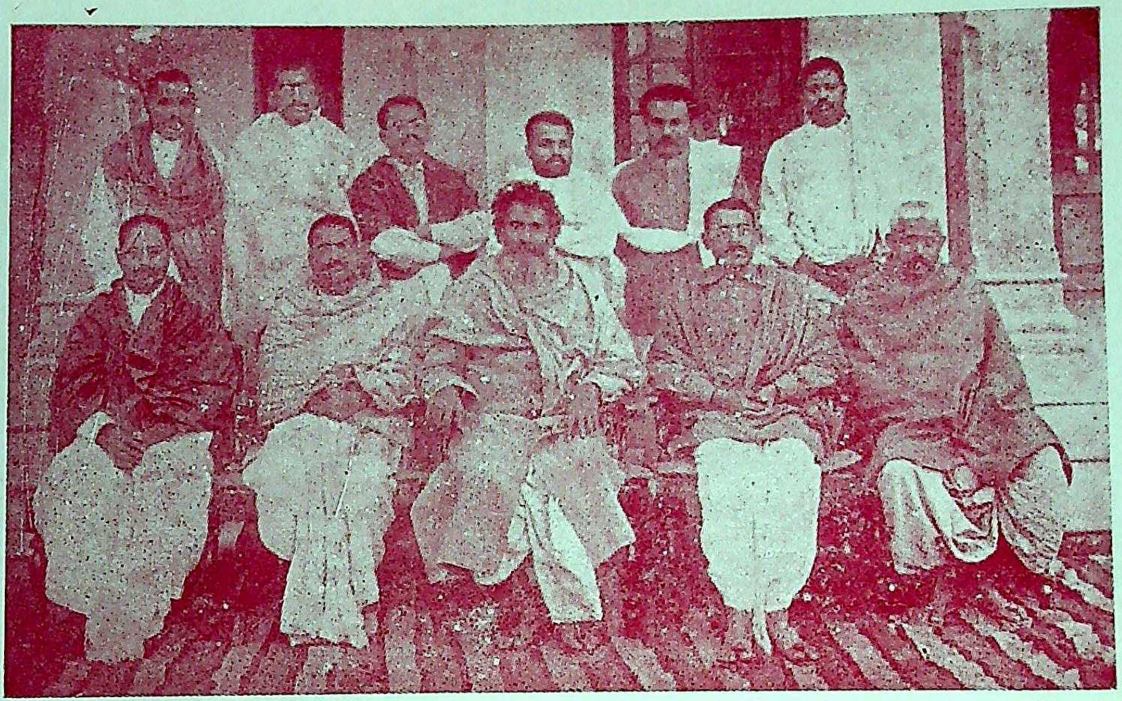

बाईं ओर से बैठे हुए : प्रो० महेशचरण सिन्हा, प्रो० रामदेव,
महात्मा मुंशीराम, प्रो० बालकृष्ण और आचार्य सूर्यदेव

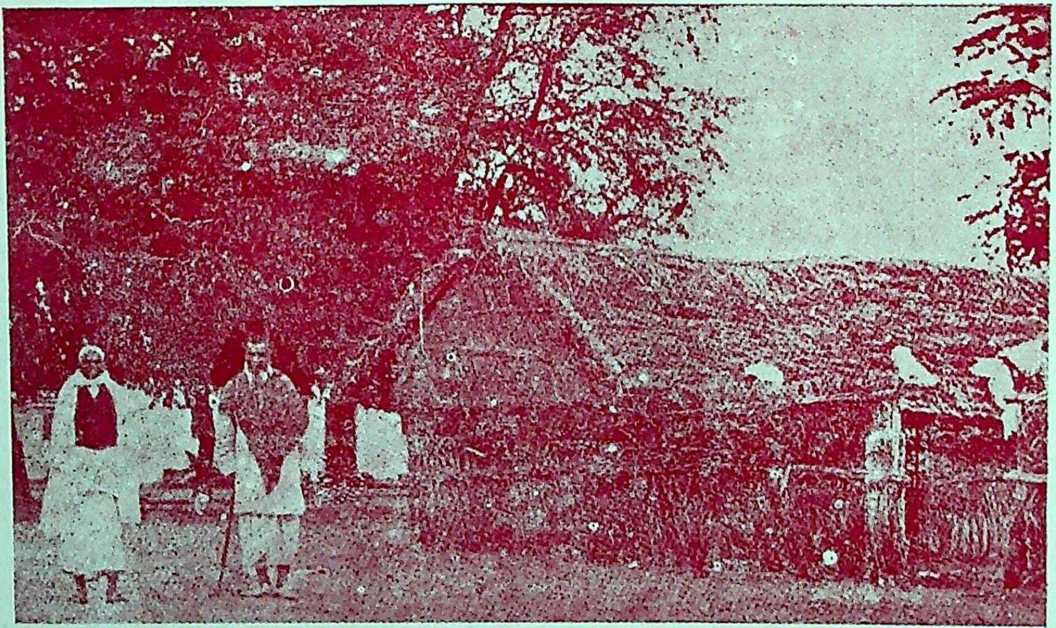

गुरुकुल में सर्वप्रथम (सन् १९०२ में) बनी कुटिया के बाहर
अपने भण्डारी जी के साथ

गुरुकुल में वायसराय लार्ड चम्सफोर्ड के साथ

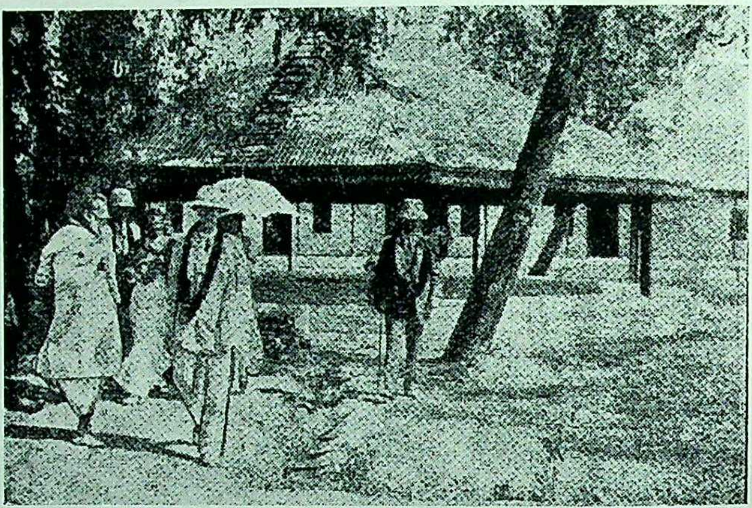

महात्मा मुंशीराम जी वायसराय से बातचीत कर रहे हैं।
सर जेम्स मेस्टन कुछ पीछे की ओर हैं।

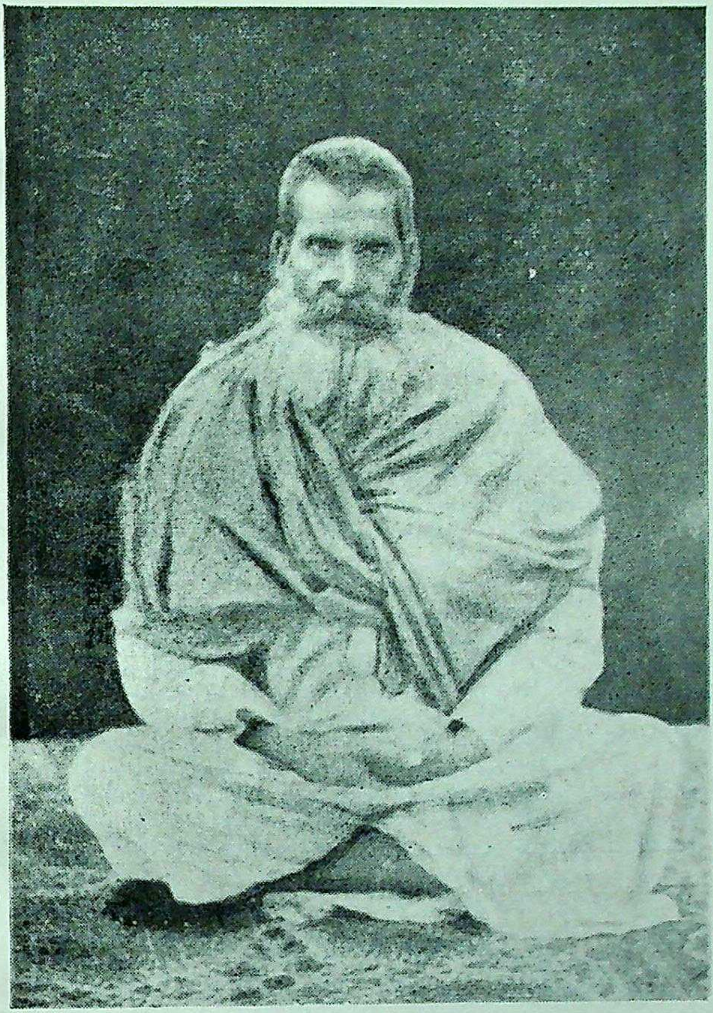

संन्यासाश्रम-प्रवेश से एक दिन पूर्व
(११ अप्रैल १९१७ को)

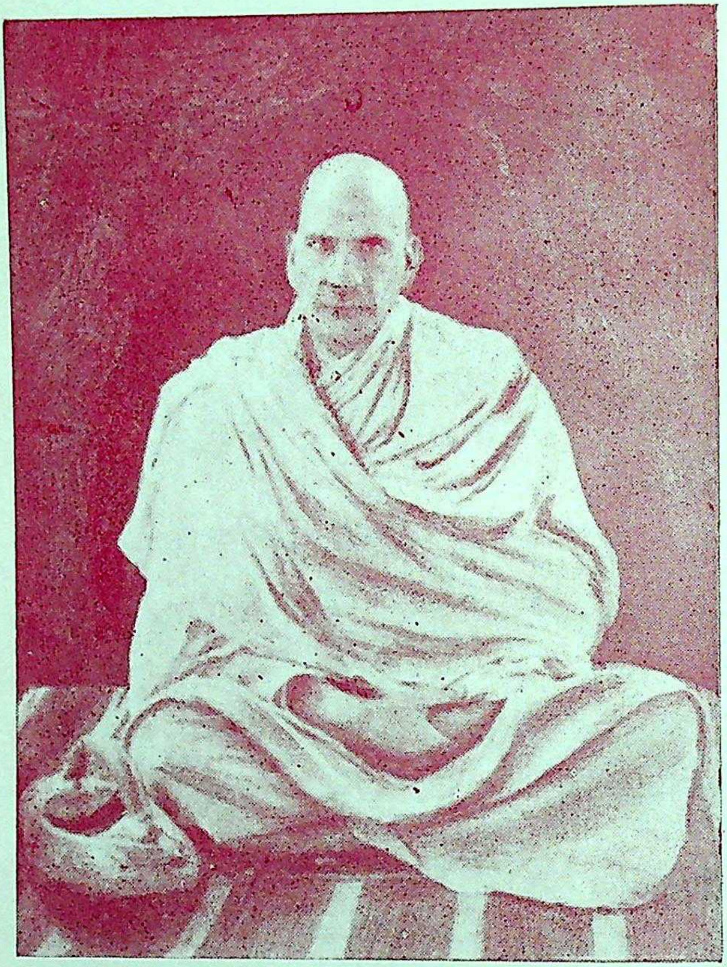

संन्यासाश्रम-प्रवेश के दिन
स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी
के रूप में

संन्यासाश्रम-प्रवेश-यज्ञ के समय यज्ञवेदी पर

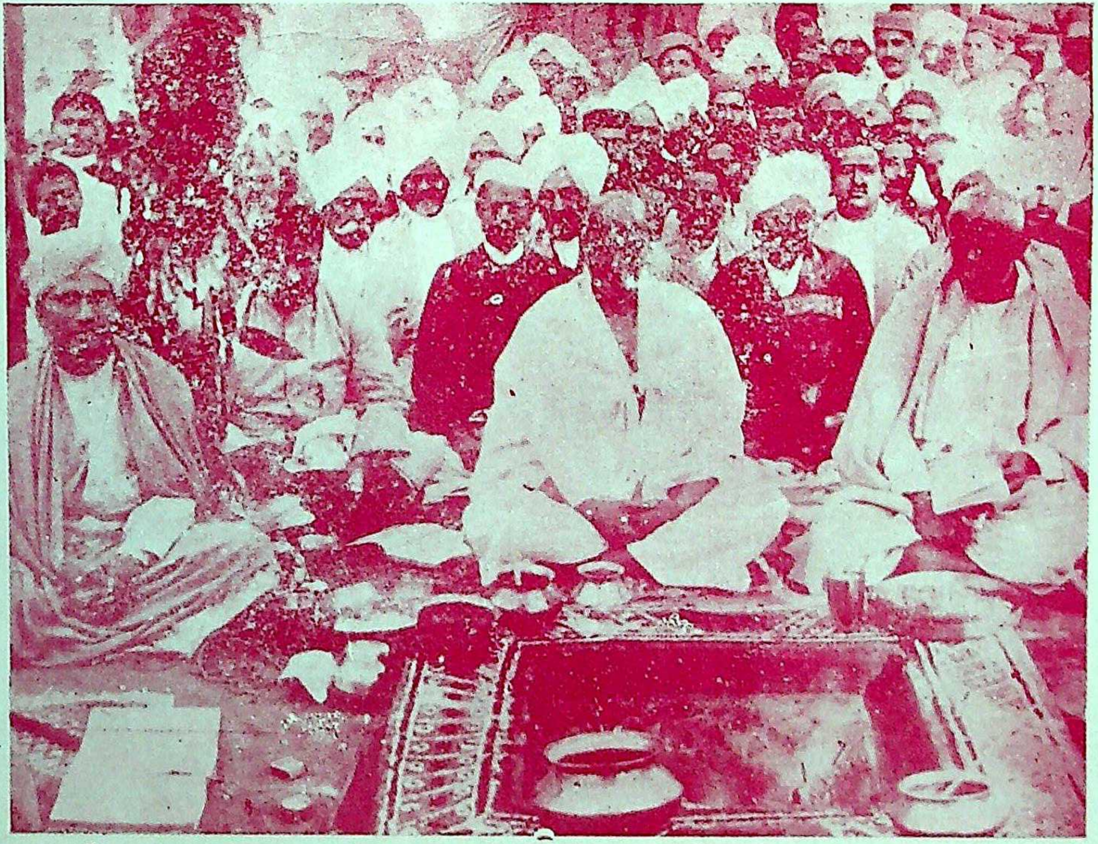

स्वामी सत्यानन्द, श्री जुगलकिशोर बिड़ला, आचार्य सूर्यदेव.
लाला लब्भूराम नैयर तथा अन्य आर्यजनों के साथ

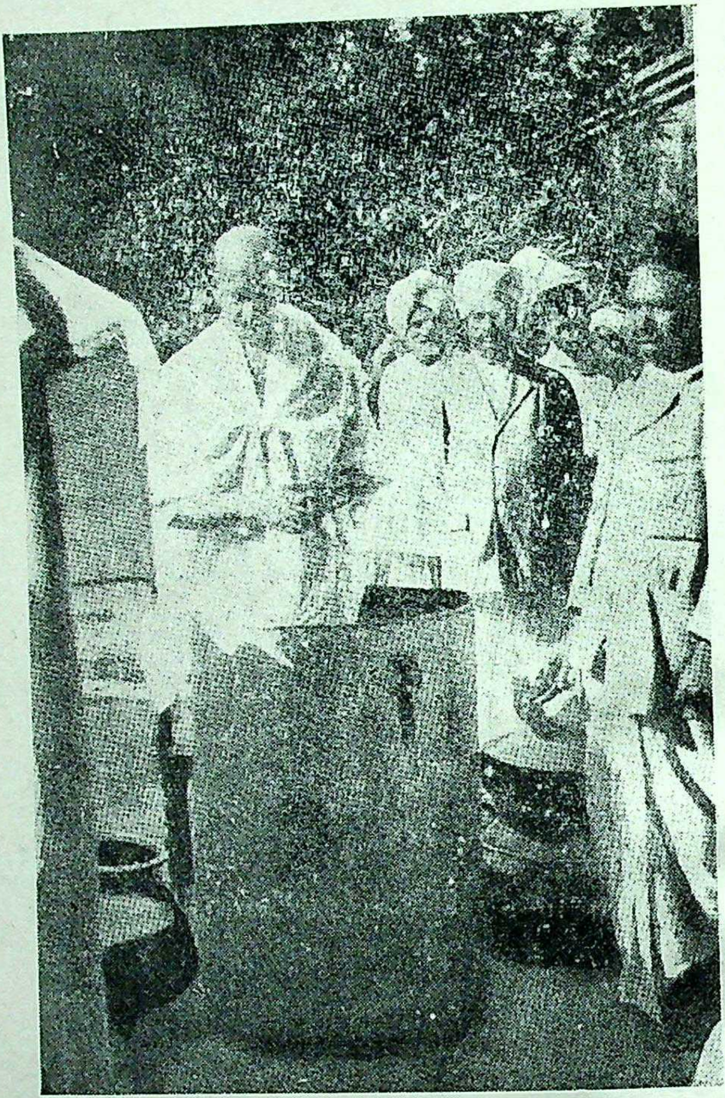

सन्यासाश्रम प्रवेश संस्कार के समय पानी में खड़े होकर बाल तोड़ने की विधि सम्पन्न करते हुए

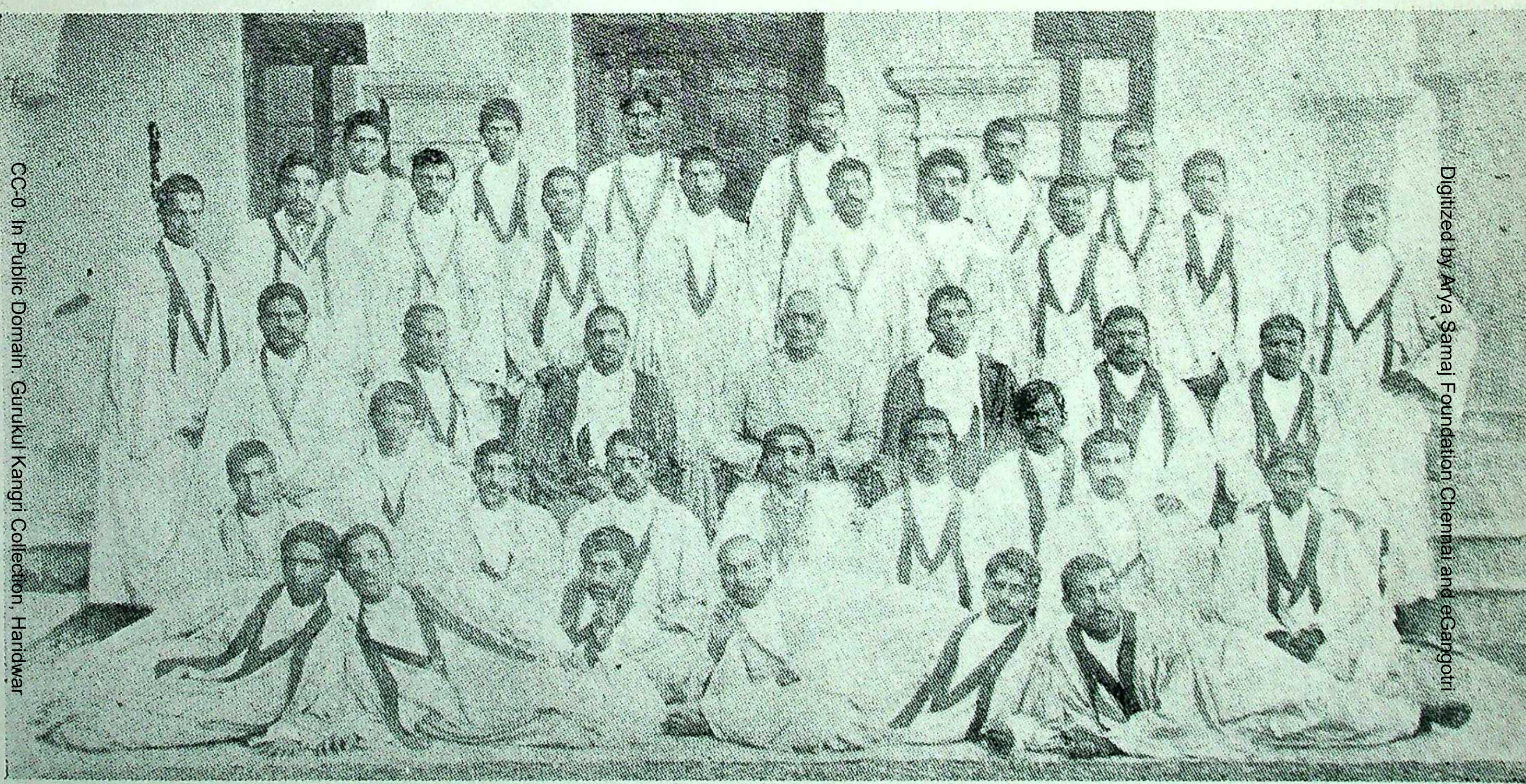

सन् १९२१ (संवत् १९७८) के वार्षिकोत्सव पर उपस्थित स्नातकों के साथ

अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन (१९१९ में)

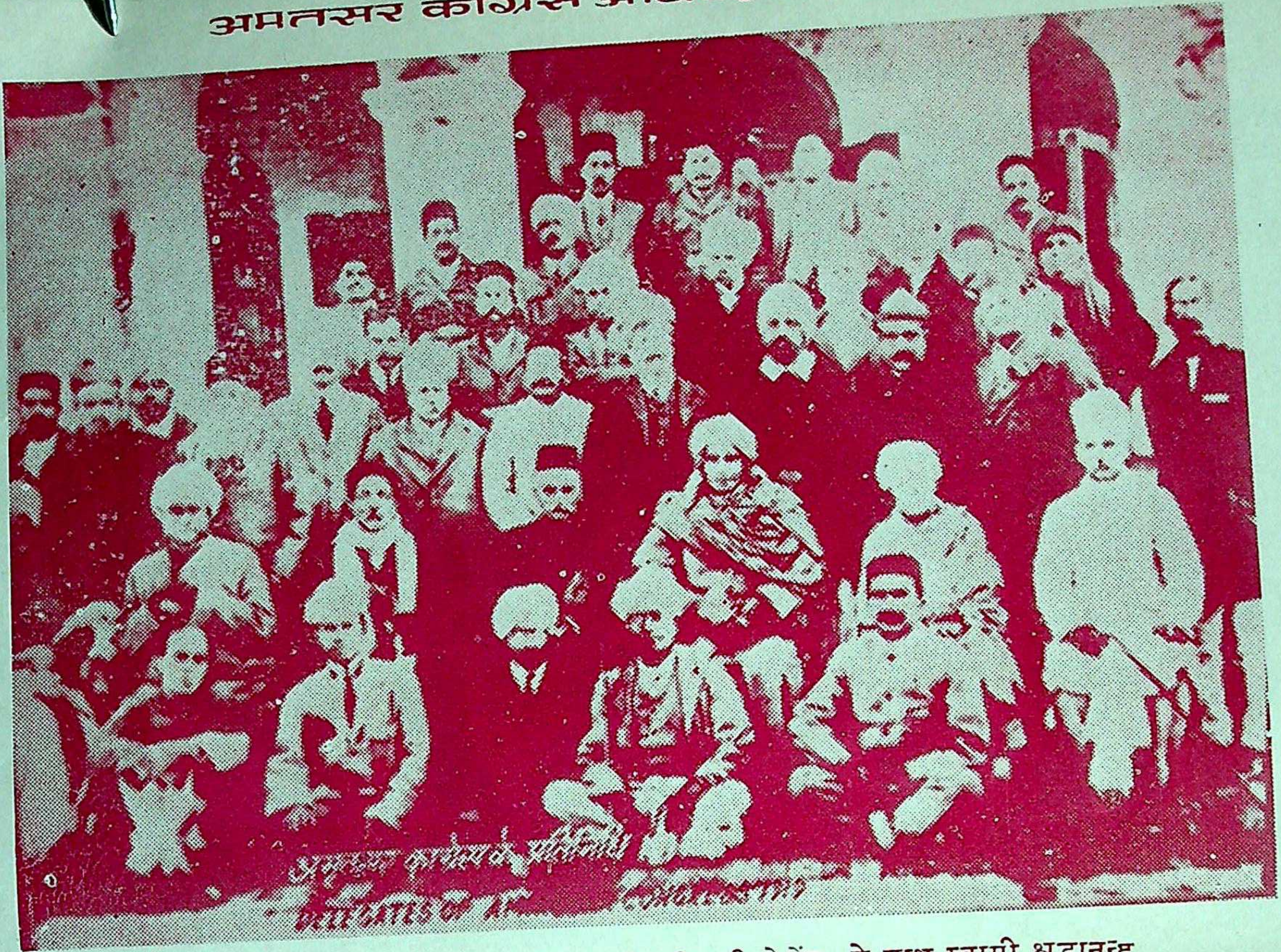
DELEGATES OF A

लोकमान्यतिलक, पं मोतीलाल नेहरू, श्रीमती एनी बेसेंट के साथ स्वामी श्रद्धानन्द

अप्रैल १९२४ में मद्रास-प्रांत की धर्मयात्रा के दौरान

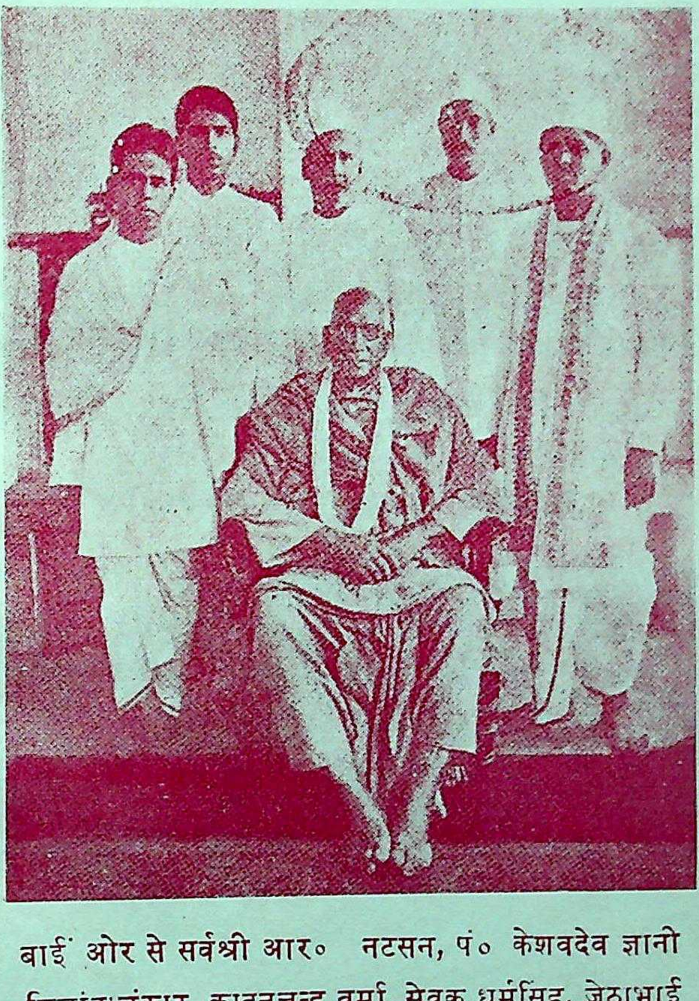

बाईं ओर से सर्वश्री आर० नटसन, पं० केशवदेव ज्ञानी सिद्धांतालंकार, काहनचन्द वर्मा, सेवक धर्मसिंह, जेठाभाई

स्वामी जी अपने साथियों के साथ

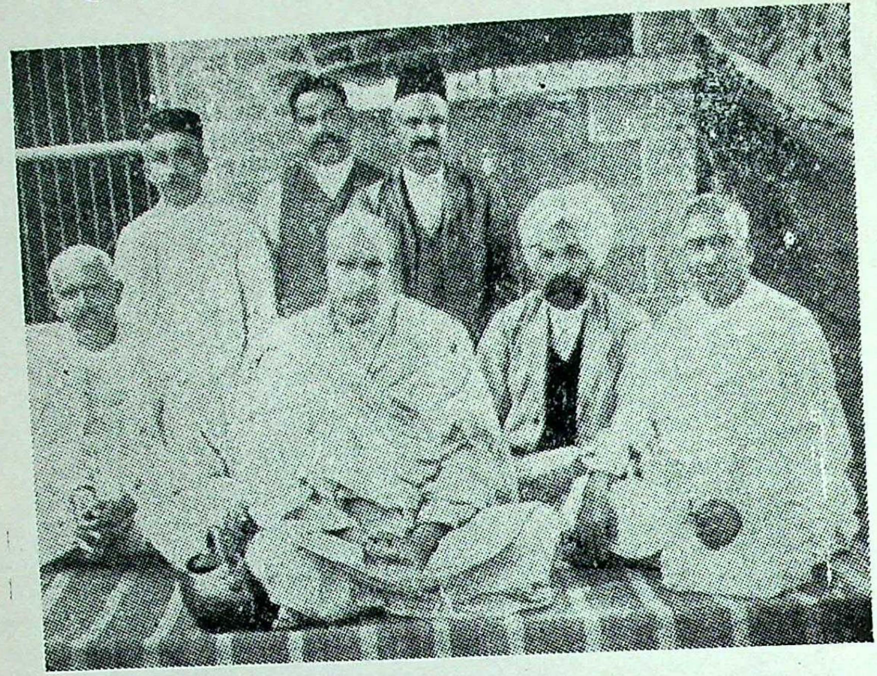

बाएं से दाएं पं० पूर्णानन्द महोपदेशक, लाला रामकृष्ण (प्रधान आ० प्र० सभा पंजाब), लाला लब्भूराम नैयर, डॉ० श्यामस्वरूप, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, प० सूर्यदेव

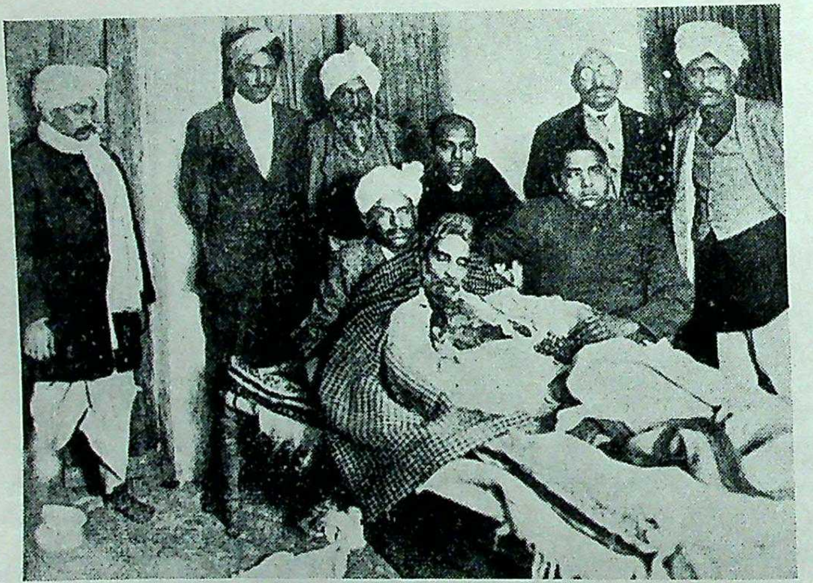

बलिदान के बाद अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्द

स्वामी श्रद्धानन्द के कुटुम्बीजन

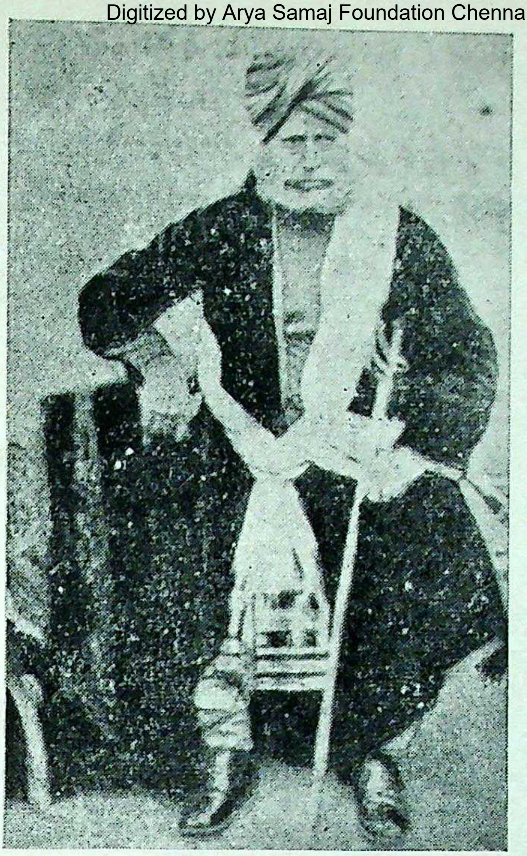

लाला नानकचन्द
(पिता)

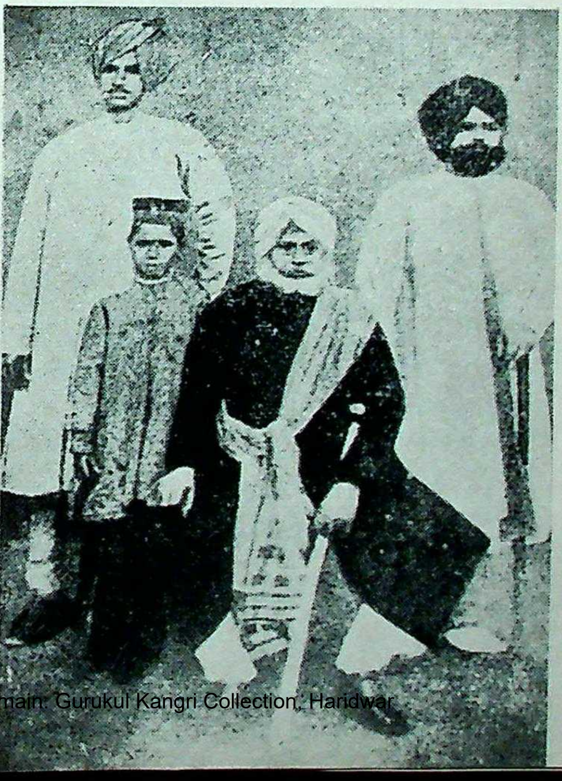

बैठे हुए पिता
लाला नानकचन्द;
खड़े हुए बाईं से दाईं
ओर को बड़े भाई
लाला आत्माराम, स्वयं
लाला मुंशीराम (मुख्तार)
तथा भतीजा रामनाथ

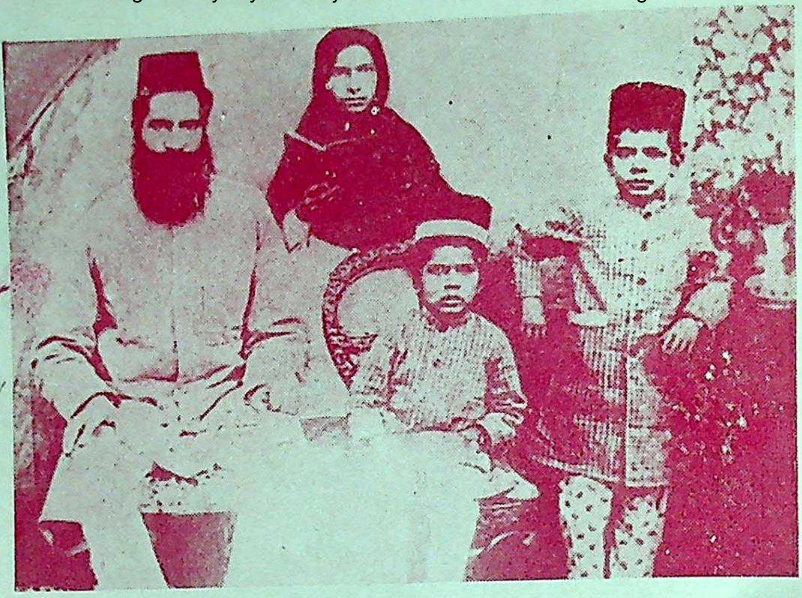

बैठे हुए—लाला मुंशीराम तथा कनिष्ठ पुत्र इन्द्र
खड़े हुए—पुत्री वेदकुमारी तथा ज्येष्ठ पुत्र हरिश्चन्द्र

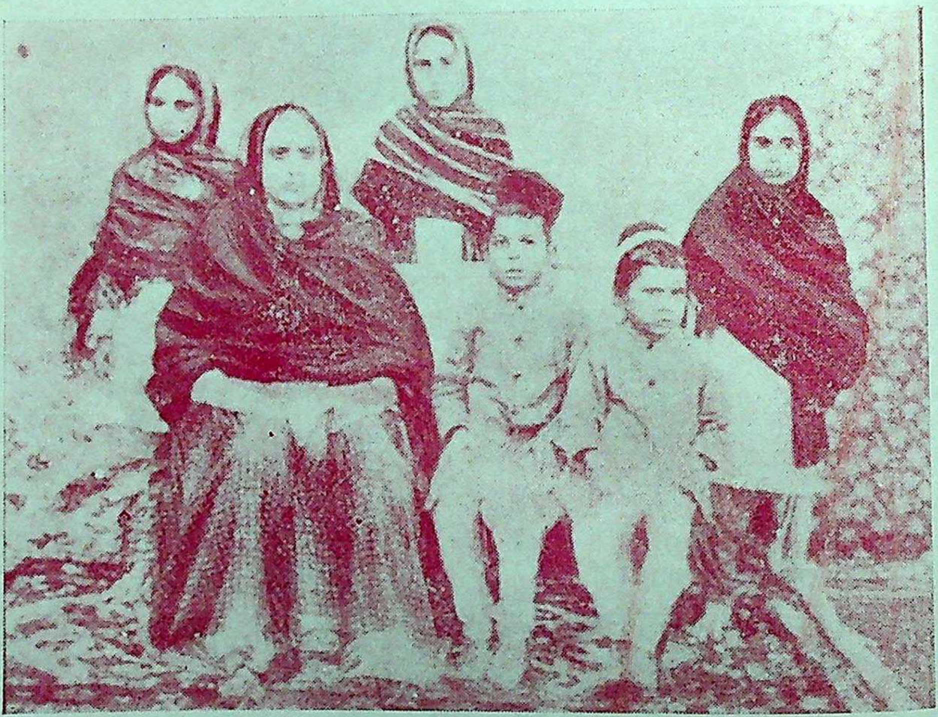

बठे हुए—श्री मुंशीराम जी की भाभी, पुत्र हरिश्चन्द्र और इन्द्र
खड़े हुए—पुत्री अमृतकला, वेदकुमारी और पोषिता कन्या सुमित्रा

हरिश्चन्द्र विद्यालंकार
(ज्येष्ठ पुत्र)

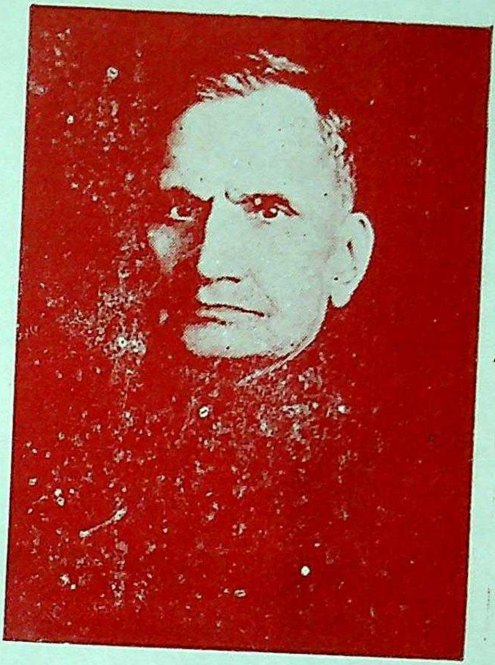

इन्द्र विद्यावाचस्पति
(कनिष्ठ पुत्र)

श्रीमती वेदकुमारी
(ज्येष्ठ पुत्री)

श्रीमती चन्द्रावती
(पुत्र वधू पत्नी श्री इन्द्र)

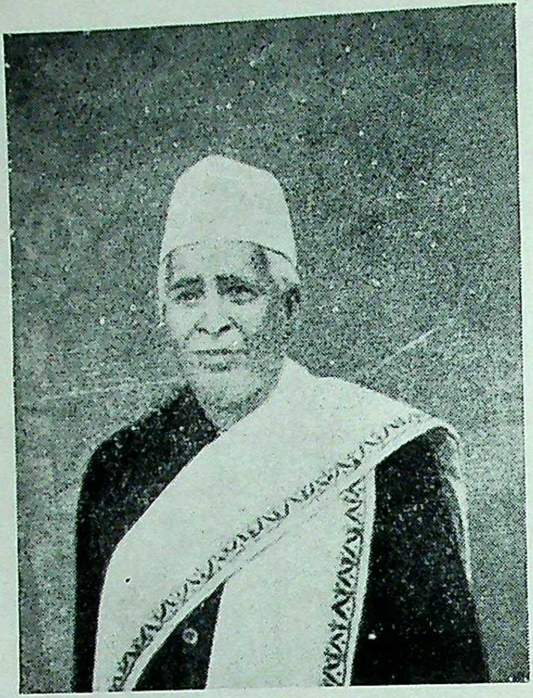

डॉ० सुखदेव
(दामाद)

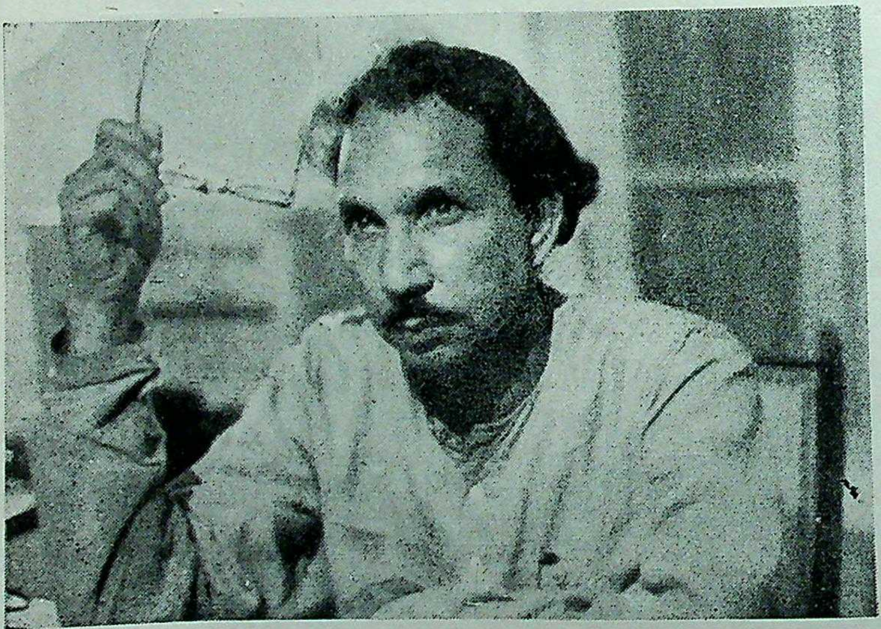

जयन्त वाचस्पति
(पौत्र)

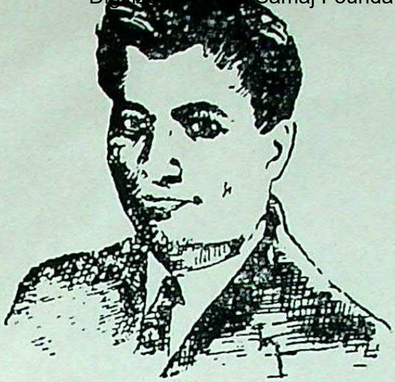

रोहिताश्व
(पौत्र, पुत्र श्री हरिश्चन्द्र)

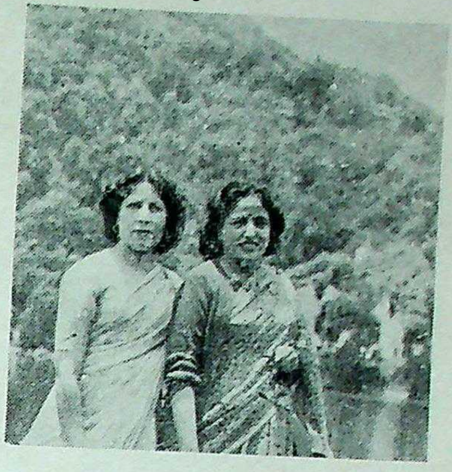

(बाईं ओर) श्रीमती स्वर्णलता
तथा कौशल्या (दाईं ओर)
दोहित्री

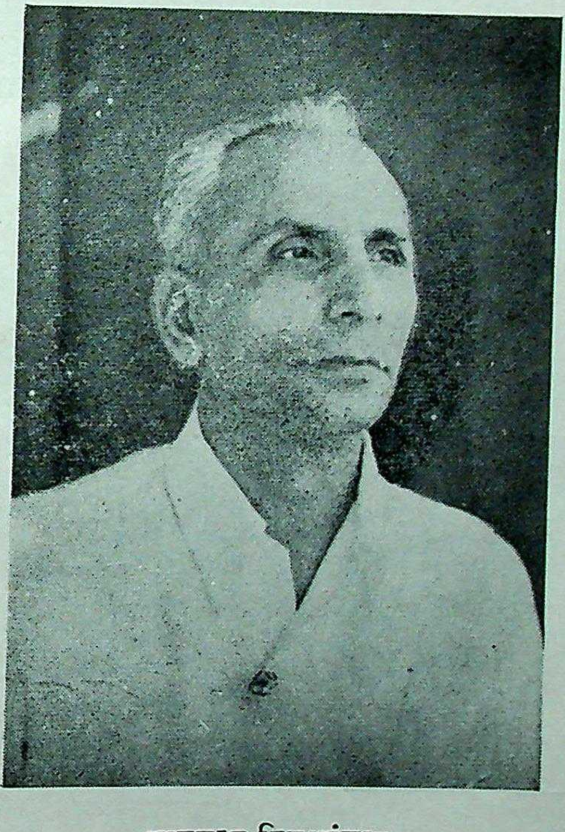

सत्यकाम विद्यालंकार
(दौहित्र)

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
(दौहित्री श्रीमती स्वणलता के पति)

अर्जुनदेव विद्यालंकार
(दौहित्री श्रीमती उषा के पति)

धर्मवीर विद्यालंकार
(पौत्री पुष्पा के पति)

श्री मुंशीराम के कॉलिज के गुरुजन

पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र
(बनारस कॉलिज में अध्यापक)

आदित्यराम भट्टाचार्य
(म्योर कालेज इलाहाबाद में
संस्कृत के अध्यापक)

सहपाठी

पं० अम्बिकादत्त व्यास

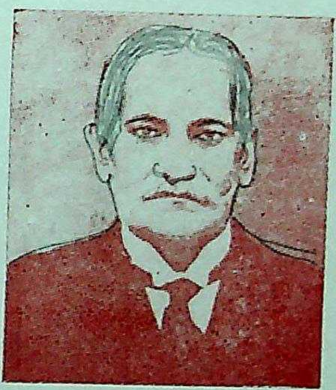

पं० मोतीलाल नेहरू

महात्मा मुंशीराम के अभिन्न मित्र

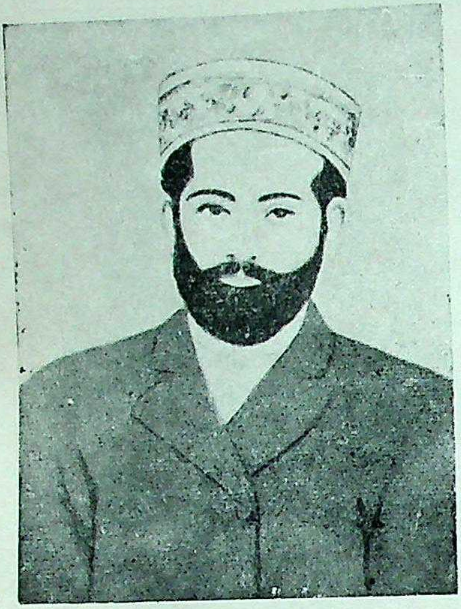

पंडित गुरुदत्त

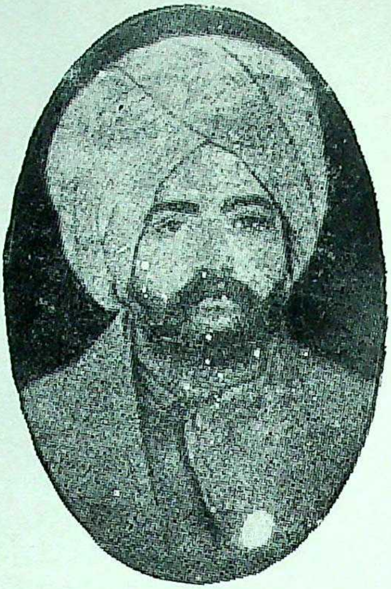

आर्यपथिक पं० लेखराम

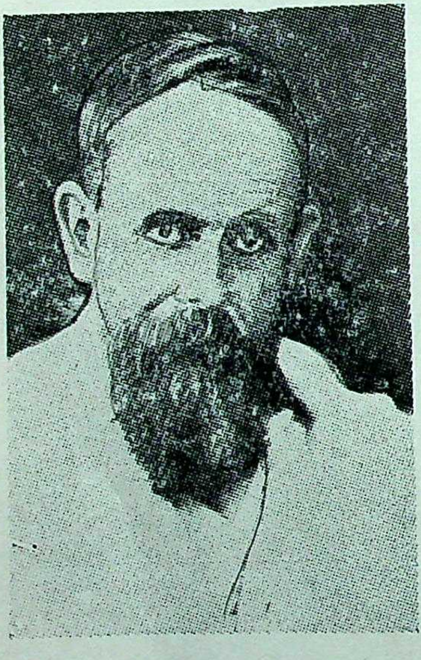

दीनबन्धु सी. एफ एण्ड्रूज

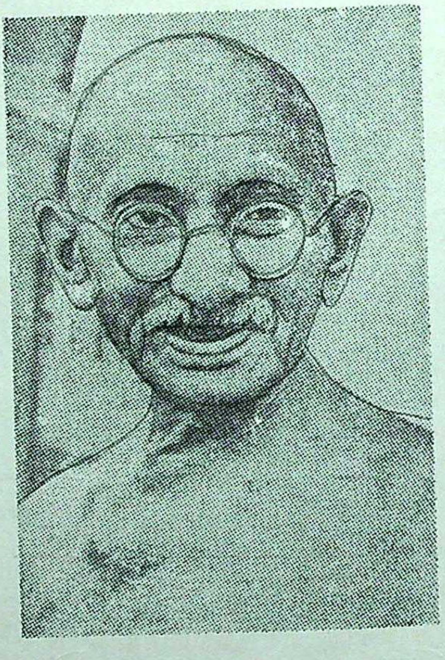

महात्मा गाँधी

आर्यसमाज के कार्यों में पथ-प्रदर्शक एवं प्रेरक

लाला साईंदास

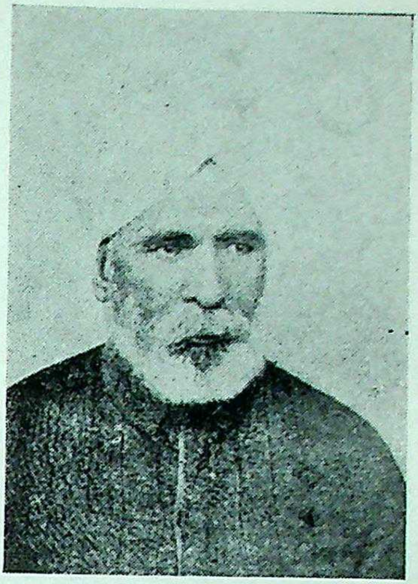

लाला मूलराज

प्रमुख सहयोगी

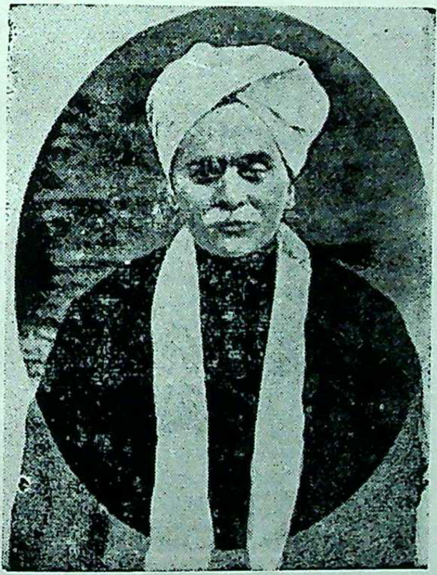

लाला देवराज

रामभजदत्त चौधरी

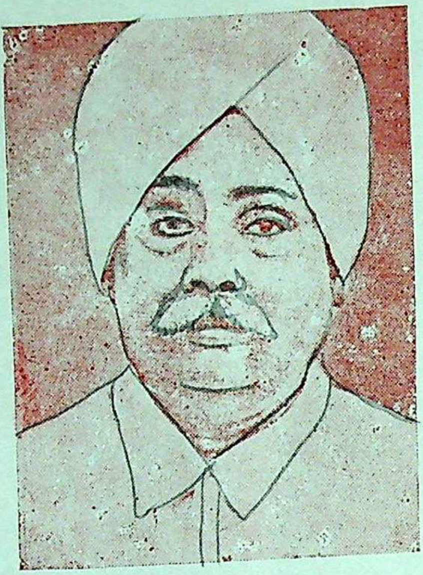

लाला लाजपतराय

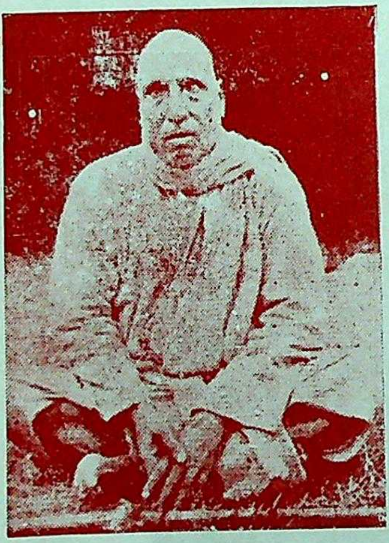

स्वामी स्वतन्त्रानन्द

महाशय कृष्ण

महात्मा नारायण स्वामी

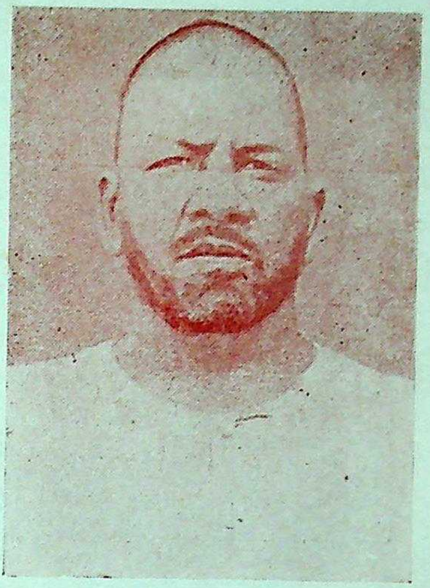

स्वामी वेदानन्द तीर्थ

रघुनाथ प्रसाद पाठक

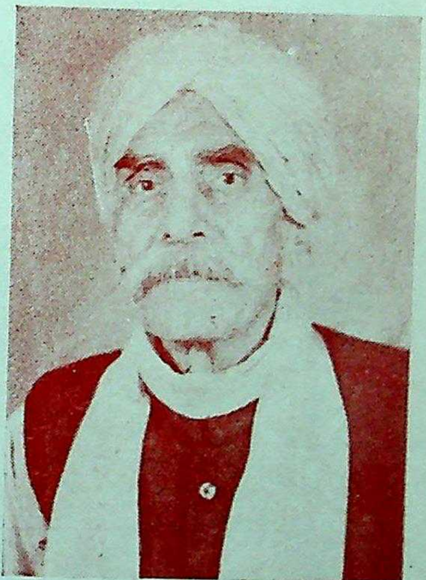

वैद्य प्रह्लाददत्त

प्रिन्सिपल दीवानचन्द

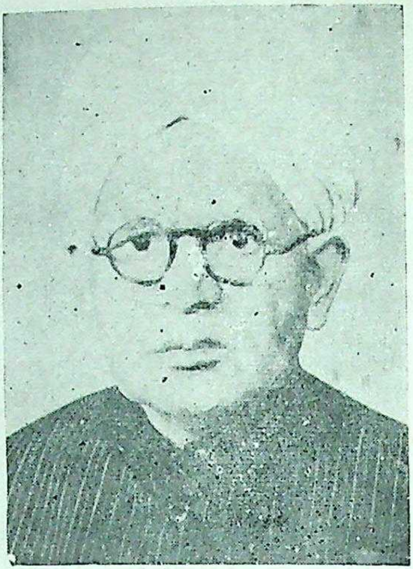

लाला मेहरचन्द

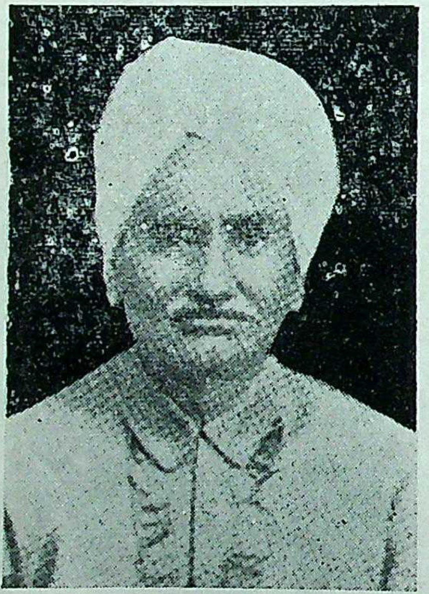

लब्भूराम नय्यड़

लाला राधाकृष्ण

गुरुकुल के विकास में अन्यतम सहयोगी एवं आद्य शिक्षक

आचाय गंगादत्त
(प्रथम आचार्य)

प० भीमसेन शर्मा
(साहित्य के अध्यापक)

पं० नरदेव शास्त्री
(अध्यापक)

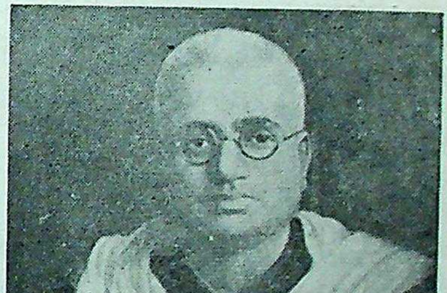

आचार्य रामदेव
प्रथम मुख्याध्यापक, प्रिन्सिपल
एवं आचार्य

पं० पद्मसिंह शर्मा
(साहित्य के अध्यापक)

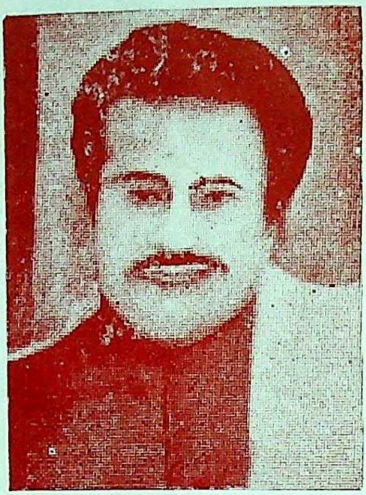

मा० गोवर्धन बी. ए.
(विज्ञान के अध्यापक एवं
मुख्याध्यापक)

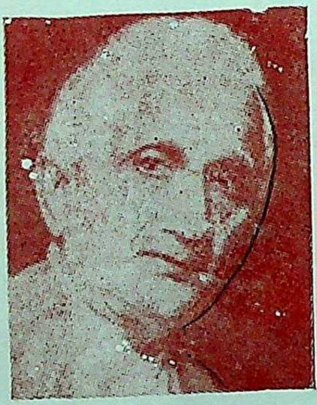

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
(कला के शिक्षक)

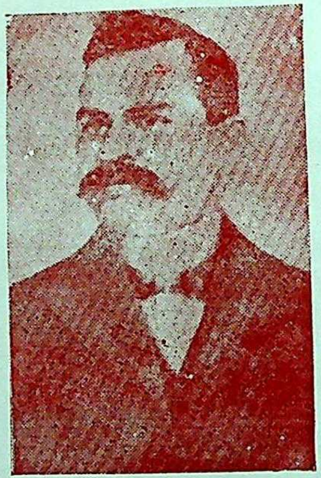

डॉ० चिरंजीव भारद्वाज
(चिकित्सक)

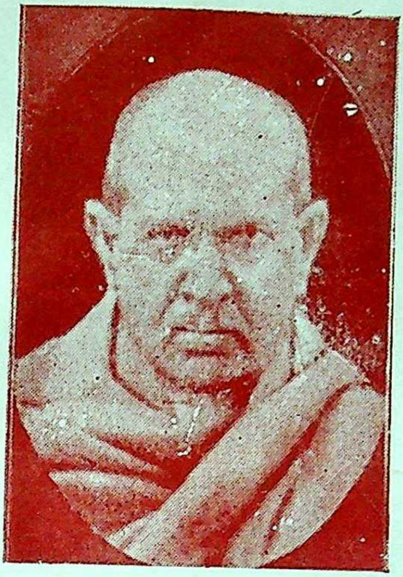

पण्डित शिवशंकर काव्यतीर्थ
(वेदोपाध्याय)

पण्डित विश्वम्भरनाथ
(स्वामी जी के उत्तराधिकारी
मुख्याधिष्ठाता)

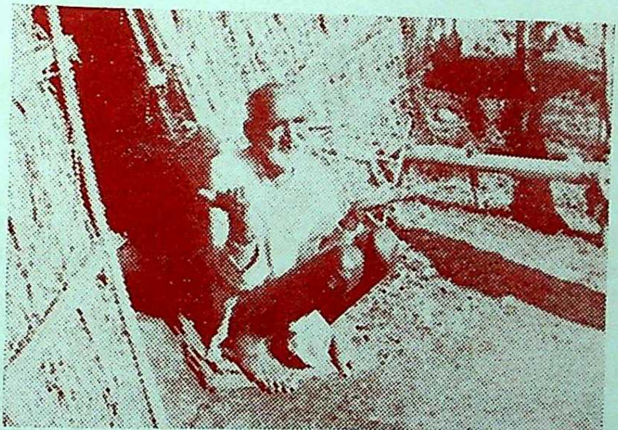

श्री अर्जुनसिंह।
(स्वामी जी के काल में गुरुकुल की गोशाला के मुख्य
संरक्षक)

शुद्धि-आन्दोलन में अनन्य सहयोगी

कुंवर माधवसिंह

जुगलकिशोर विड़ला

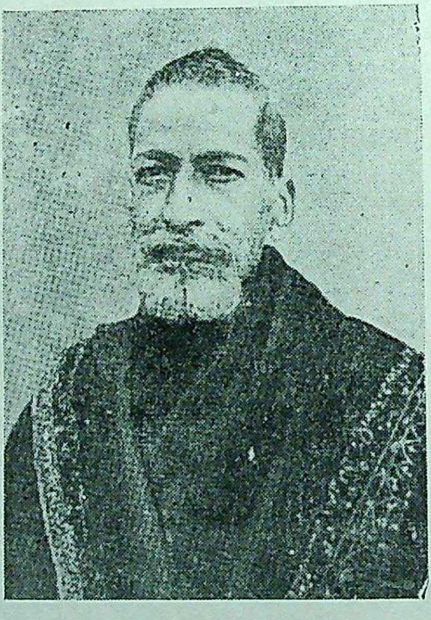

मा० आत्माराम अमृतसरी

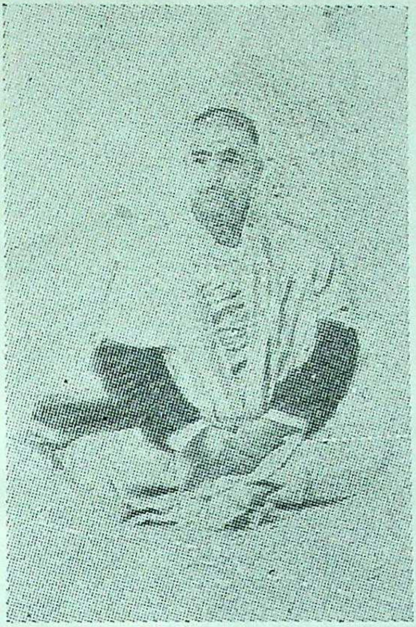

स्वामी चिदानन्द

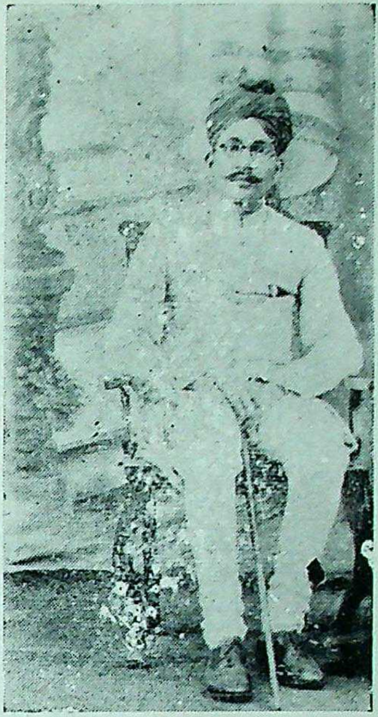

पं० देवव्रत धर्मेन्दु

कुंवर चांदकरण शारदा

सतराम बी. ए.

राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री
(स्वामी ध्रुवानन्द)

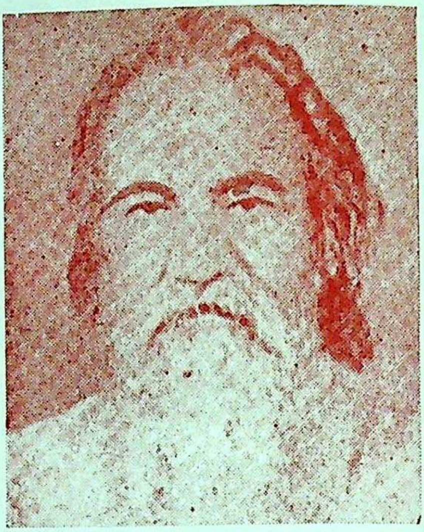

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

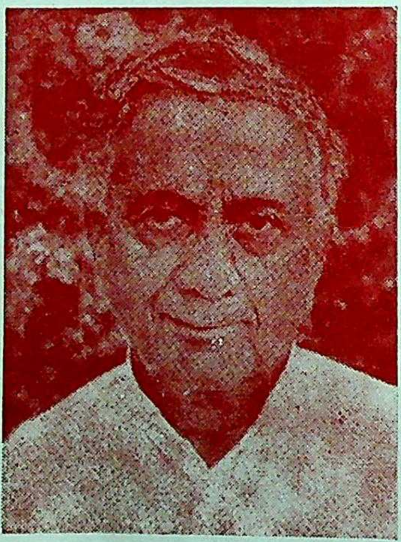

प० आनन्दप्रिय

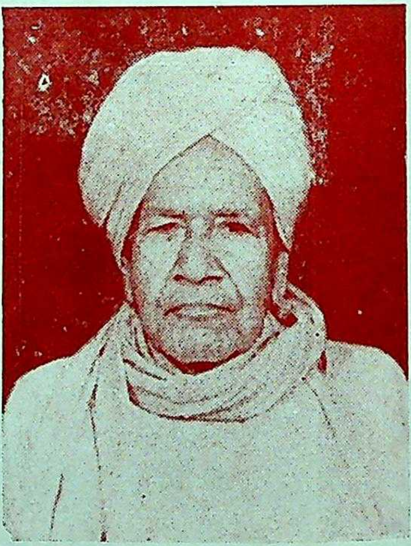

स्वामी भीष्म महाराज

गुरुकुल-वाटिका के प्रथम पुष्प

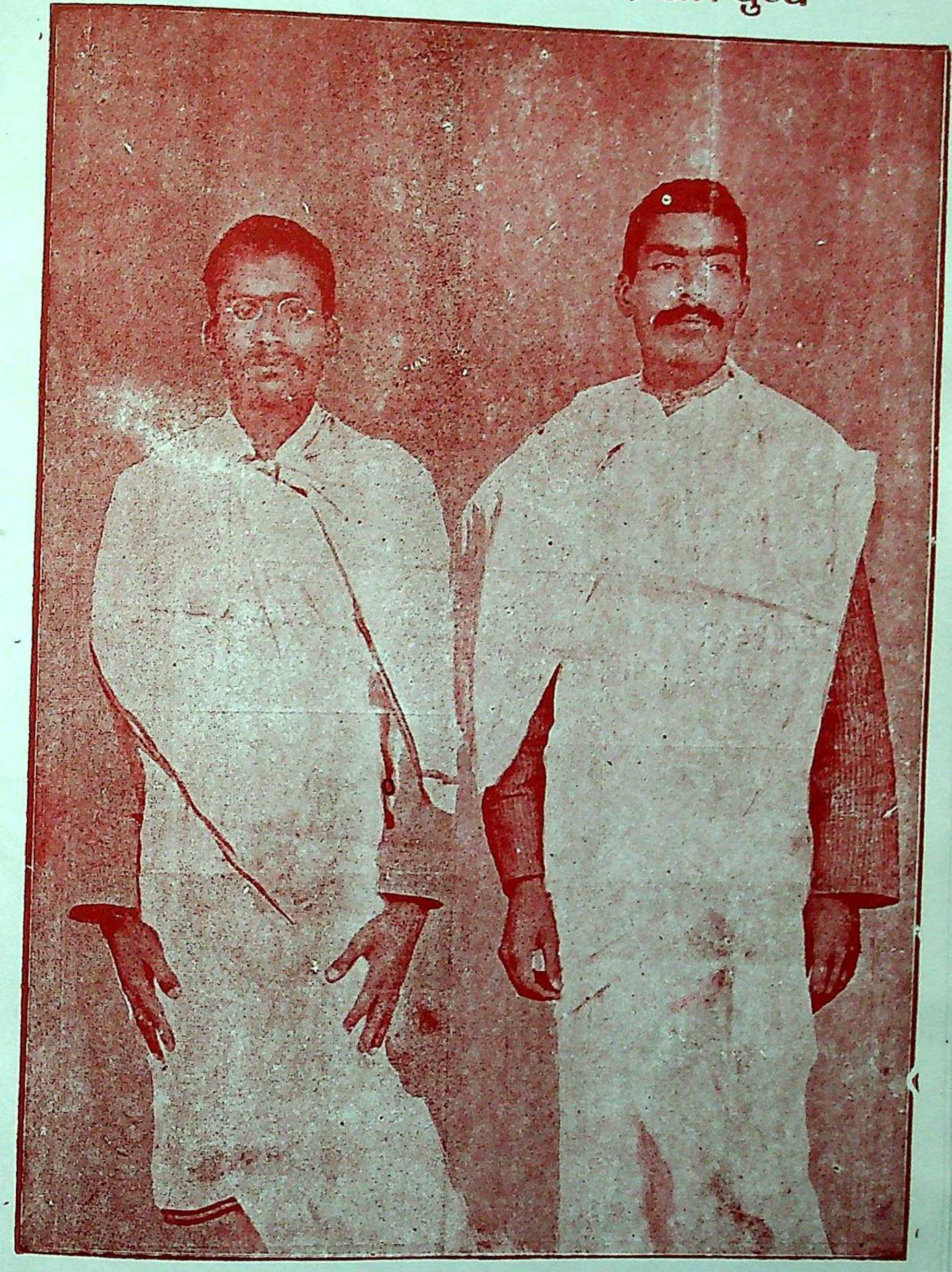

इन्द्र विद्यावाचस्पति एवं हरिश्चन्द्र विद्यालंकार

दीक्षारम्भ से दीक्षान्त तक कुलपिता की गोद में

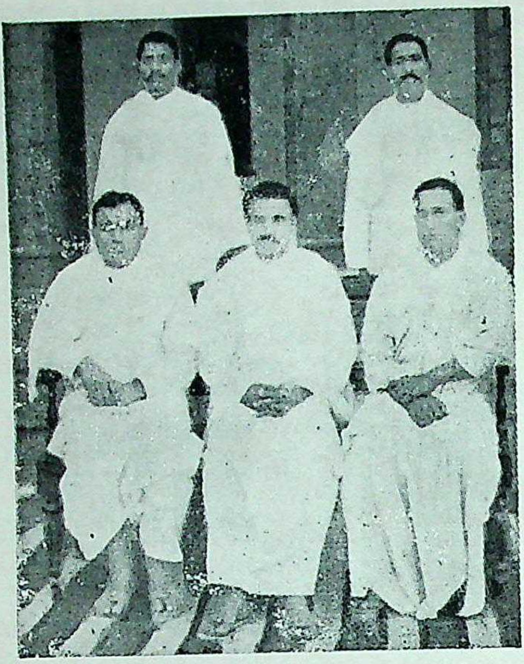

सन् १९१३ के स्नातक : बाईं ओर से बैठे हुए यज्ञदत्त, भारद्वाज, ब्रह्मदत्त; पीछे खड़े हुए चन्द्रमणि और विश्वनाथ।

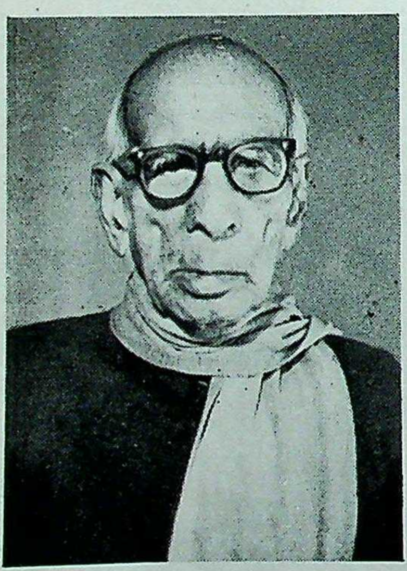

विश्वनाथ विद्यालंकार

प्रियव्रत विद्यालंकार

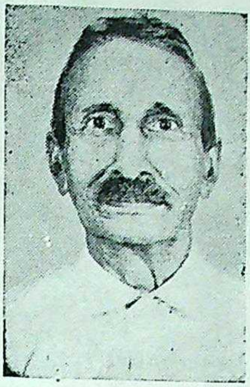

ब्रह्मानन्द विद्यालंकार

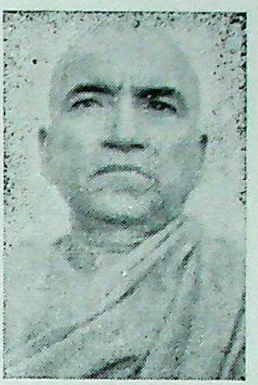

युधिष्ठिर विद्यालंकार
(स्वामी व्रतानन्द)

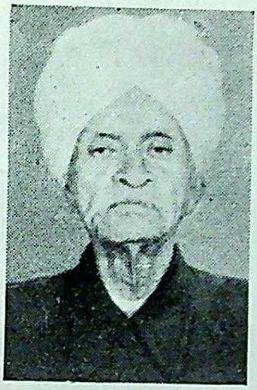

आत्मानन्द विद्यालंकार

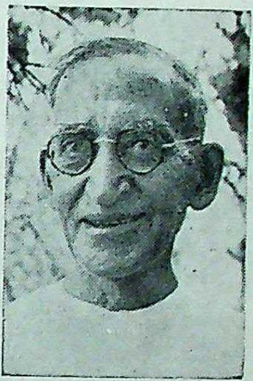

धर्मदत्त विद्यालंकार

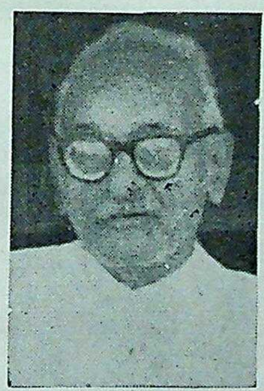

भूदेव विद्यालंकार

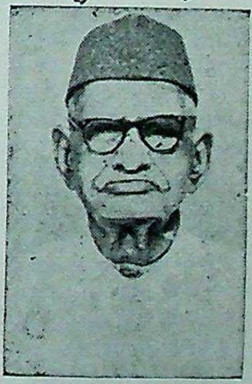

देवराज विद्यालंकार

चन्द्रमणि विद्यालंकार

देवराज विद्यावाचस्पति

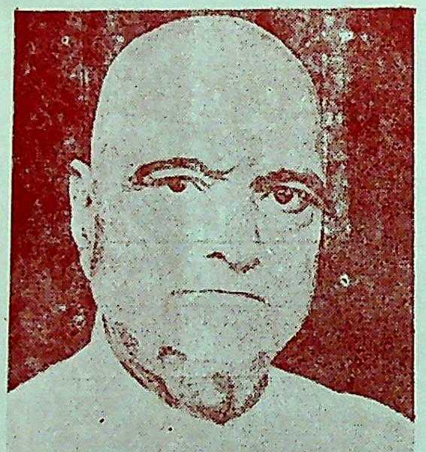

बुद्धदेव विद्यालंकार

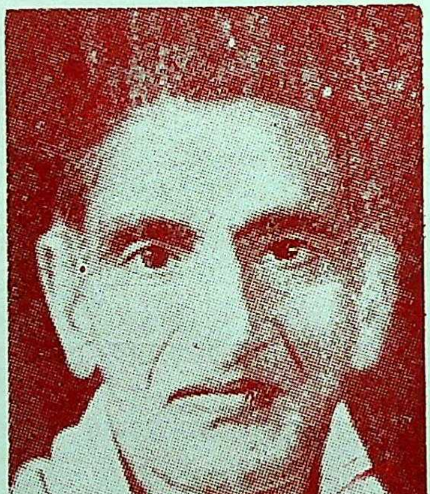

अभयदेव विद्यालंकार

विद्यासागर विद्यालंकार

कृष्णस्वरूप विद्यालंकार

नन्दकिशोर विद्यालंकार

प्राणनाथ विद्यालंकार

जयचन्द्र विद्यालंकार

सुरेन्द्रनाथ वेदालंकार

विद्याधर विद्यालंकार

सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

दीनानाथ सिद्धान्तालंकार

महानन्द सिद्धान्तालंकार

सत्यदेव विद्यालंकार

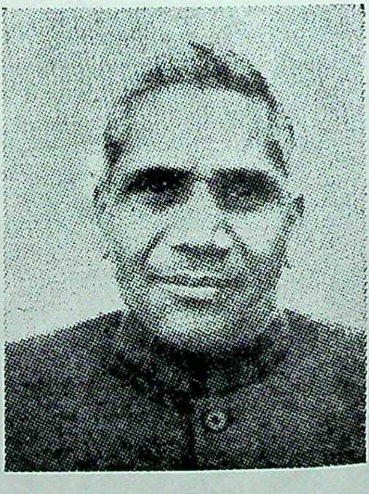

रामगोपाल विद्यालंकार

धर्मपाल विद्यालंकार

धर्मदेव विद्यामार्त्तण्ड

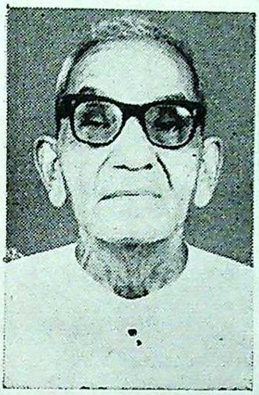

विद्यानन्द विद्यालंकार

मदनगोपाल विद्यालंकार

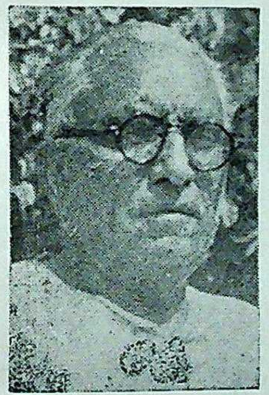

विद्यानिधि सिद्धान्तालंकार

भीमसेन विद्यालंकार

कुलपिता के वात्सल्यभागी

अमोचन्द्र विद्यालंकार

सत्यपाल सिद्धान्तालंकार

अत्रिदेव विद्यालंकार

यशःपाल सिद्धान्तालंकार

नारायणदत्त विद्यालंकार

रामचन्द्र विद्यालंकार

सत्यकेतु विद्यालंकार

कृष्णचन्द विद्यालंकार

धर्मवीर वेदालंकार

प्रियव्रत वेदवाचस्पति

सत्यदेव विद्यालकार

ओमप्रकाश विद्यालंकार

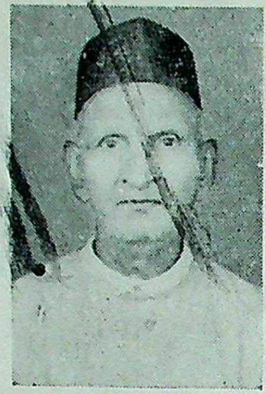

निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार

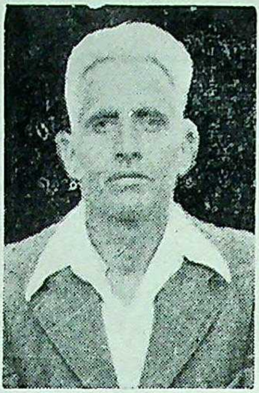

पूर्णानन्द वेदालंकार

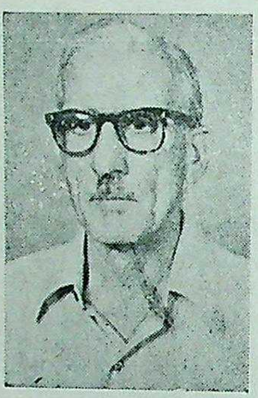

हरिवंश वेदालंकार (कोचर)

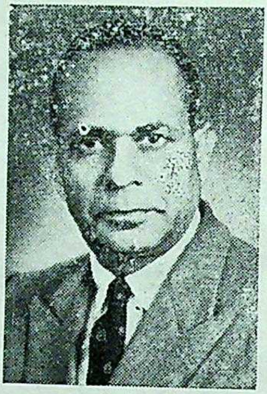

धर्मानन्द आयुर्वेदालंकार
कसरवानी

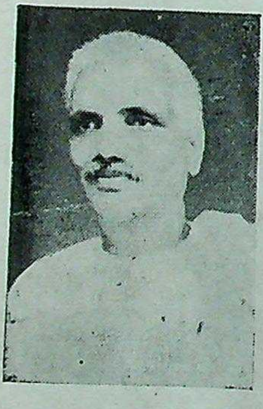

पूर्णचन्द्र विद्यालंकार

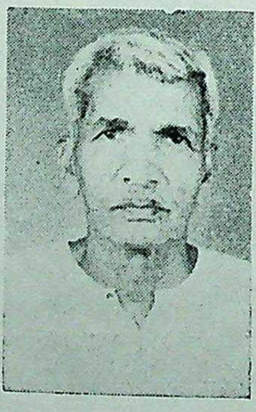

सुरेन्द्रनाथ विद्यालंकार

गौतमदेव सिद्धान्तालंकार

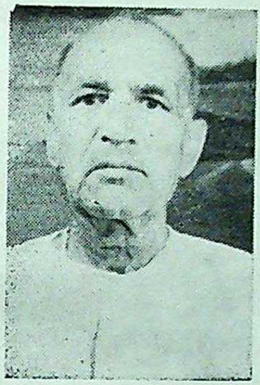

समरसिंह वेदालंकार

वीरेन्द्र विद्यावाचस्पति

राजेन्द्रनाथ विद्यालंकार

देवनाथ विद्यालंकार

परम वीर, जिन्होंने स्वामी जी के हत्यारे को धरदबोचा

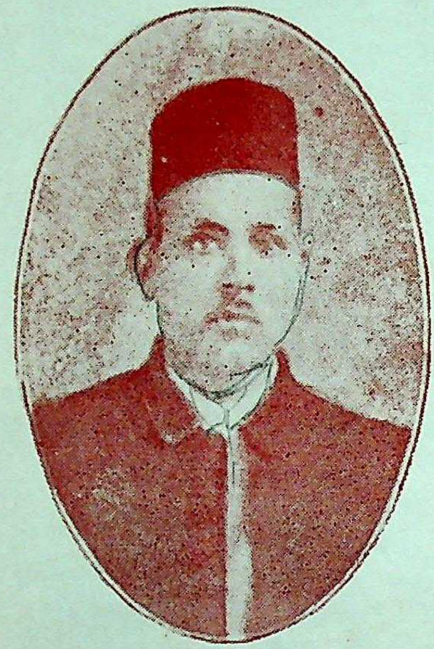

धर्मपाल विद्यालंकार
(निजी सचिव)

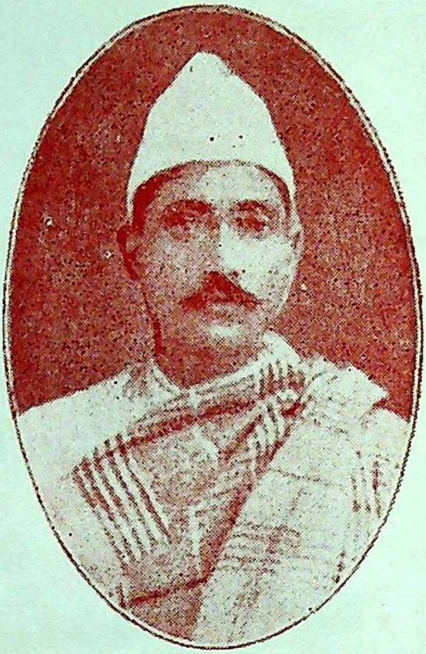

धर्मसिंह
(स्वामीभक्त सेवक)

स्वामी जी द्वारा प्रयोग में लाई गई कतिपय वस्तुएँ

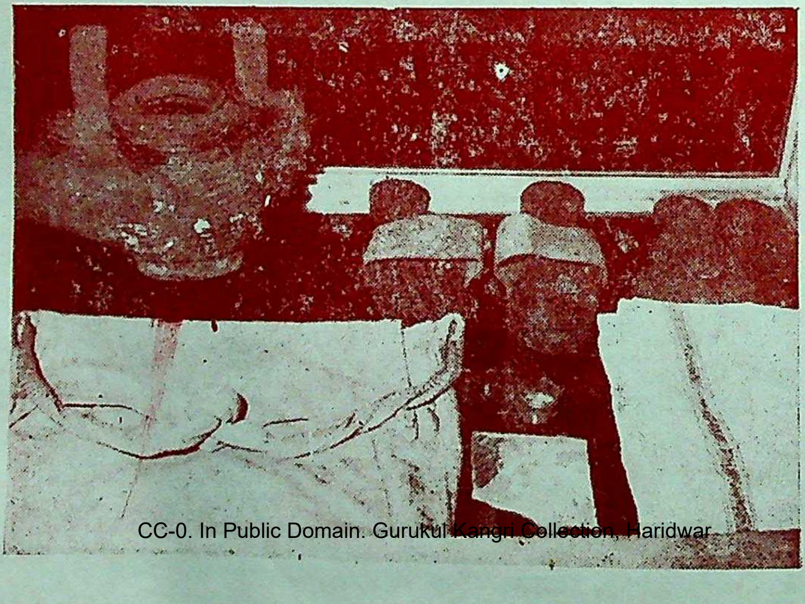

कुलपिता के स्वप्न के अनुरूप आर्यसमाज, गुरुकुल एवं वेद-सेवा के लिए समर्पित

रामनाथ वेदालंकार
[गुरुकुल के भूतपूर्व आचार्य एवं उपकुलपति तथा सर्मपित वैदिक विद्वान् एवं लेखक।

निरूपण विद्यालंकार
[गुरुकुल के भूतपूर्व उपकुलपति एवं वर्तमान आचार्य तथा सुर-भारती उपासक एवं लेखक]

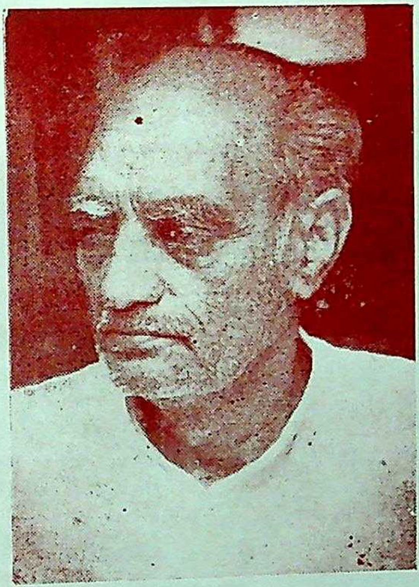

हरिप्रकाश आयुर्वेदालंकार
[गुरुकुल फार्मेसी के भूतपूर्व व्यवसायाध्यक्ष, गुरुकुल क वर्तमान मुख्याधिष्ठाता एवं सर्मपित आर्य नेता]

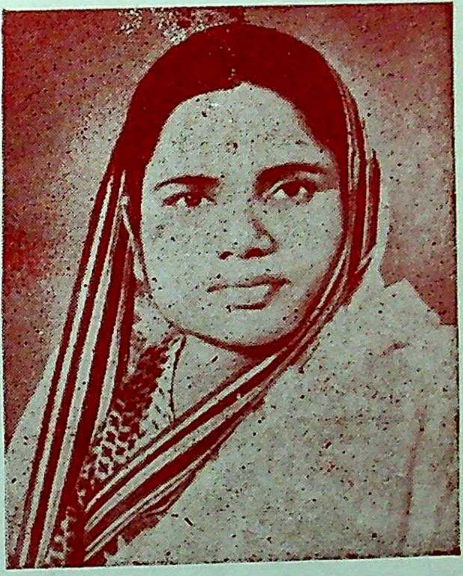

दमयन्ती विद्यालंकृता
[कन्या गुरुकुल देहरादून को आचार्या]

सुरेशचन्द्र वेदालंकार
[आर्य समाज एवं वेद-प्रचार
के लिये समर्पित]

हरिदत्त वेदालंकार
[गुरुकुल के भूतपूर्व उपाध्याय
तथा आर्य समाज का इतिहास
के सहयोगी लेखक]

मनोहर विद्यालंकार
[कन्या गुरुकुल देहरादून के
प्रबन्धक तथा समर्पित वेद-सेवक]

विद्यासागर विद्यालंकार
[आर्य समाज-सेवा]

श्यामसुन्दर स्नातक
[आर्यसमाज एवं वेद-प्रचार]

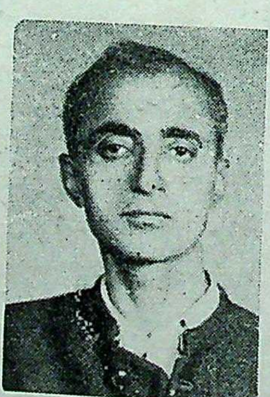

सत्यभूषण वेदालंकार
[आर्यसमाज एवं वेद-सेवामें तत्पर]

बरेली का ऐतिहासिक भवन (टाउन हाल)

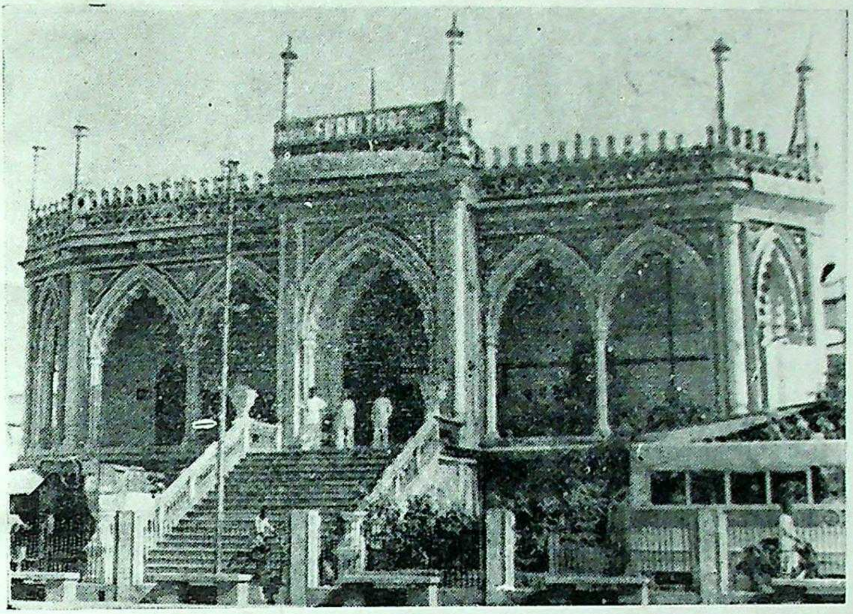

[जहाँ युवक मुंशीराम का महर्षि दयानन्द से प्रथम सत्संग हुआ।
परिणामतः वे अन्धकार से ज्योति की ओर प्रवृत्त हुए

पुण्यभूमि के भवन

जो अतीत का स्मरण कराते हैं

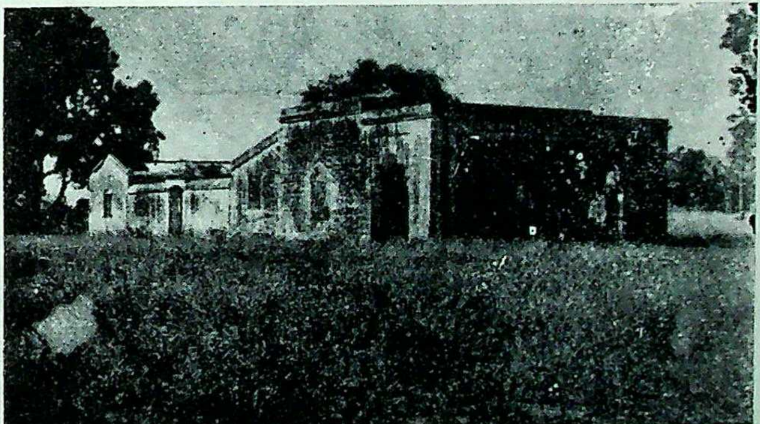

वह कुटी, जिसमें महात्मा गांधी ३ बार ठहरे

D6614

हस्तलिपि का नमूना

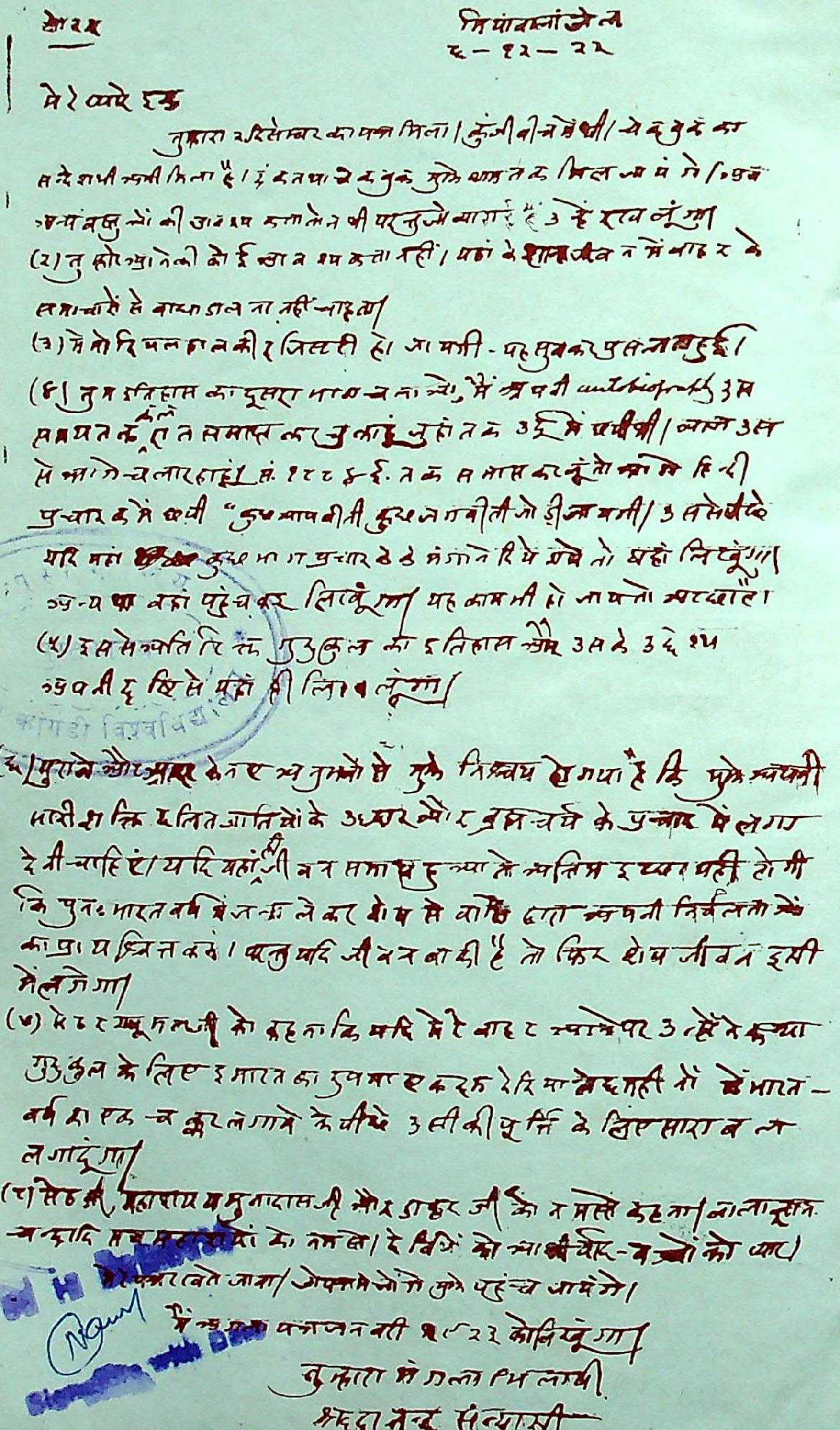

ओ३म्

मियांवाली जेल
६-१२-२२

मेरे प्यारे इन्द्र

तुम्हारा २ दिसम्बर का पत्र मिला। कुंजी बीच में थी। ये वेदों का सन्देश भी अभी मिला है। इन्द्र तथा चन्द्र के बूट मुझे अब तक मिल जायंगे। (१) अन्य वस्तुओं की आवश्यकता तो न थी परन्तु जो आ गई हैं उन्हें रख लूंगा

(२) तुम लोगों के आने की कोई आवश्यकता नहीं। यहां के शान्त जीवन में बाहर के समाचारों से बाधा डालना नहीं चाहता।

(३) मेरे तो दिमाग की रजिस्टरी हो जाती - यह सुनकर प्रसन्नता हुई।

(४) तुम इतिहास का दूसरा भाग चलाओ, मैं अपनी autobiography उस समय तक ले ली समाप्त कर चुका हूं जहां तक के उर्दू में छपी थी। अब उससे आगे चला रहा हूं। सं. १८८४ ई. तक समाप्त कर लूं तो आगे हिन्दी प्रचारक में छपी "कुछ आपबीती कुछ जगबीती" जो ठीक करनी। उसके पीछे यदि यहां ~~[illegible]~~ कुछ भाग प्रचारक के मंगाने दिये गये तो यहां लिखूंगा। अन्यथा वहां पहुंचकर लिखूंगा। यह काम भी हो जाय तो अच्छा है।

(५) इसके अतिरिक्त गुरुकुल का इतिहास और उसके उद्देश्य अपनी दृष्टि से यहां ही लिख लूंगा।

(६) पुराने और अब के नए अनुभवों से मुझे निश्चय हो गया है कि मुझे अपनी शारीरिक शक्ति दलित जातियों के उद्धार और ब्रह्मचर्य के प्रचार में लगा देनी चाहिए। यदि यहां ही जीवन समाप्त हुआ तो अन्तिम इच्छा यही होगी कि पुनः भारतवर्ष में जन्म लेकर दोष से बचता हुआ अपनी निर्बलताओं का प्रायश्चित्त करूं। परन्तु यदि जीवन बाकी है तो फिर शेष जीवन इसी में लगेगा।

(७) सेठ रघुमलजी को कहना कि यदि मेरे बाहर आने पर उन्होंने कृपया गुरुकुल के लिए इमारत का रुपया एकदम दे दिया ~~[illegible]~~ नहीं तो मैं भारतवर्ष का एक चक्कर लगाने के पीछे उसी की पूर्ति के लिए सारा बल लगा दूंगा।

(८) सेठ जी, महाशय यमुनादासजी और डाक्टर जी को नमस्ते कहना। लाला रामचन्द्रादि सब महाशयों को नमस्ते। देवियों को आशीर्वाद - बच्चों को प्यार। इसी प्रकार लिखते जाना। जो पत्र आयेंगे वो तो मुझे पहुंच जायेंगे।

मैं ~~अगला~~ पत्र जनवरी १९२३ को लिखूंगा।

तुम्हारा मंगलाभिलाषी
श्रद्धानन्द संन्यासी

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

Entered in Database
Signature with Date

[illegible]